॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

~~~0~~~
~~~

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अध्याय पहला

हे ओंकारस्वरूप परमेश्वर! आप ही सबके मूल आधार हैं, वेद आपका ही प्रतिपादन करते हैं। मैं आपको नमन करता हूँ। हे आत्मरूप! आपका बोध केवल निजानुभवसे ही हो सकता है। सर्वव्यापक प्रभो! आपकी जय हो, जय हो। परम प्रभु निवृत्तिनाथका यह विनम्र शिष्य प्रार्थना करता है कि हे देव! आप ही सकल अर्थ-ग्रहणकी शक्ति एवं बुद्धिके प्रकाशक गणेश हैं। यह निवेदन आप सभी लोग ध्यानपूर्वक सुनें।

यह समस्त साहित्य आपकी दिव्य प्रतिमा है और उसकी अक्षरात्मक काया निर्दोष भावसे चमक रही है। स्मृतियाँ ही इस प्रतिमाके अवयव हैं, काव्य-पंक्तियाँ ही उन अवयवोंके हाव-भाव हैं तथा अर्थ-सौष्ठव ही उसका सलोना लावण्य है। अठारह पुराण रत्नजटित अलंकार हैं, तत्त्व-सिद्धान्त उन अलंकारोंके रत्न हैं और पद-रचना उन रत्नोंपरका कुन्दन है। उत्तम पद-लालित्य मानो अनेक रंगोंवाले भाँति-भाँतिके वस्त्र हैं। इन वस्त्रोंका साहित्यरूपी ताना-बाना महीन, मनोहर और चित्ताकर्षक है। और यह भी देखिये कि यदि इन काव्य-नाटकोंका रसिकतासे संयोजन किया जाय तो उसमें जो घुँघरू होते हैं, वे अर्थरूपी ध्वनिकी रुनझुन-नाद करते हैं। यदि इन काव्य-नाटकोंके तत्त्व-सिद्धान्तोंका गम्भीरतापूर्वक मनन किया जाय तो उनमें जो मर्मस्पर्शी पद हैं, वे ही घुँघरुओंके रत्न हैं। व्यास आदिका जो प्रतिभारूपी गुण है, वही जरीदार कमरबन्द है और इस कमरबन्दके पल्लेपरकी इन घुँघरुओंकी झालर ऊपरकी तरफ झलकती है। जो छः तत्त्व-सम्प्रदाय हैं, वे ही षड्दर्शन कहलाते हैं, वही इस गणेश-प्रतिमाकी छः

भुजाएँ हैं और जो इन छः सम्प्रदायोंके भिन्न-भिन्न मत हैं, वे ही इस प्रतिमाके छः भुजाओंके परस्पर विध्वंसवादी छः आयुध भी हैं। आयुधोंमें तर्कशास्त्र परशु है, न्यायशास्त्र अंकुश है और वेदान्तशास्त्र सुमधुर मोदक है। न्याय-सूत्रपर वृत्ति करनेवालोंके द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ, परन्तु अपने-आप टूटा हुआ वही खण्डित दाँत, जो बौद्धमतका संकेत है, एक हाथमें है। सत्कारवाद ही आपका वरदायक करकमल है तथा धर्मप्रतिष्ठा ही आपका अभयदाता कर है। महासुखदायक परम आनन्दको देनेवाला निर्मल विवेक ही आपका सरल शुण्ड-दण्ड है। मतभेदोंका निराकरण करनेवाला जो संवाद है, वह आपका अक्षत और शुभ्र दाँत है। उन्मेष अथवा ज्ञान-तेजका स्फुरण ही विघ्नेश्वर श्रीगणेशजीके चमकते हुए सूक्ष्म नेत्र हैं। इसी प्रकार मुझे ऐसा मालूम होता है कि पूर्व एवं उत्तर—ये दोनों मीमांसाएँ इनके दोनों कान हैं और इन्हीं कानोंपर मुनिरूपी मधुप कनपटीसे चूनेवाले बोधरूपी मदरसका पान करते हैं। तत्त्वार्थरूपी मूँगेसे प्रकाशमान द्वैत और अद्वैत दोनों कनपटी हैं और ये दोनों गणेशजीके मस्तकके अत्यन्त सन्निकट होनेके कारण मिलकर प्रायः एक-से हो गये हैं। ज्ञानरूपी मकरन्दसे सम्पृक्त दशोपनिषद् ही सुमधुर सुगन्धिवाले पुष्प-किरीटवत् मस्तकपर शोभायमान हैं। अकार आपके दोनों चरण हैं, उकार विशाल उदर है और मकार मस्तकका महामण्डल है। इन तीनोंके योगसे 'ॐ' निष्पन्न होता है जिसमें सम्पूर्ण शास्त्र-जगत् समाविष्ट होता है। इसीलिये मैं श्रीगुरुकी अनुकम्पासे उस आदिबीजको नमन करता हूँ।

अब मैं उस अखिल ब्रह्माण्ड-मोहिनी सरस्वती माताको प्रणाम करता हूँ जो अपूर्व वाणीकी अधिष्ठात्री, चातुर्य, वागर्थ तथा कलाओंमें प्रवीण हैं। जिन श्रीगुरुने इस संसार-सिन्धुसे पार किया है, वे गुरु समग्ररूपसे मेरे हृदयमें विराजमान हैं। यही कारण है कि विवेकसे मेरा विशेष लगाव है। जैसे नेत्रोंमें दिव्यांजन लगानेसे दृष्टिको अप्रतिम शक्ति प्राप्त होती है और तब मनुष्य जहाँ दृष्टि डालता है, वहीं उसे भूमिगत धनराशियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं अथवा जैसे चिन्तामणिके हाथ लगनेसे समस्त मनोरथ विजयी होते हैं,

अर्थात् समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही श्रीनिवृत्तिनाथजीकी कृपासे मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये हैं; ऐसा ज्ञानेश्वरजी कहते हैं। इसीलिये विवेकी जनोंको गुरुकी भक्ति करके कृतार्थ हो जाना चाहिये; क्योंकि जैसे पेड़के मूलमें पानी डालनेसे अनायास ही शाखाएँ, पत्ते स्वतः सम्पुष्ट होते हैं अथवा जैसे सिन्धुमें अवगाहनमात्रसे (स्नानसे) त्रिलोकीके सम्पूर्ण तीर्थावगाहनका पुण्य प्राप्त होता है अथवा जैसे सुधापान करनेसे सारे रसोंके सेवनका आनन्द मिल जाता है, वैसे ही मैंने श्रीसद्गुरुको बारम्बार पूज्य-बुद्धिसे नमन किया; वे सद्गुरु इच्छित मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं।

अब आपलोग उस गहन विचारोंसे युक्त कथाको सुनें, जो समस्त चमत्कारोंकी (कथाओंकी) मातृभूमि अथवा विवेकरूपी वृक्षोंका एक अद्भुत बगीचा है। इस कथामें परमानन्दका (सर्वसुखका) मूल उद्गम, महासिद्धान्तका बड़ा संग्रह है अथवा नवरसोंका अमृतागार है अथवा यह कथा प्रकट परमधाम, परम गतिका आश्रयस्थान, सम्पूर्ण विद्याओंका आदि पीठ और अशेष शास्त्रोंमें श्रेष्ठ है अथवा यह कथा सभी धर्मोंका पीहर, सज्जनोंका जीवन और माँ शारदाके लावण्य-रत्नोंका भण्डार है अथवा महर्षि व्यासकी बुद्धिमें प्रवेश करके स्वयं सरस्वती देवी उस कथारूपमें त्रिलोकीमें प्रकट हुई हैं। इसीलिये यह कथा सब काव्यों एवं महाकाव्योंकी महारानी और समस्त ग्रन्थोंके आदरका केन्द्र है और इसीसे शृंगारादि नवरसोंको सरसता प्राप्त हुई है। इतना ही नहीं, इस कथाके विषयमें कुछ और भी सुनिये। इसी कथाके शब्दरूपी वैभवसे शास्त्र शुद्ध हुआ है और आत्मज्ञानकी कोमलता इसीसे द्विगुणित हुई है। चातुर्यने इसीसे चतुराई सीखी है, सिद्धान्त इसीसे रुचिर बने हैं, भक्ति-रस इसीसे स्वादिष्ट हुआ है और सुख-सौभाग्यकी वृद्धि भी इसीसे हुई है। माधुर्यको मधुरता, शृंगारको शृंगारिकता और अच्छी बातोंको प्रसिद्धि इसी कथासे प्राप्त हुई है। कलाओंको इसीसे कौशल प्राप्त हुआ है और पुण्यका प्रताप भी इसीसे है। इसीके कारण महाराज जनमेजयके पाप भी नष्ट हो गये। यदि इसके

विषयमें गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया जाय तो निःसन्देह यह मालूम होता है कि इसीने रंगोंको सुरंगताकी बढ़ती शक्ति तथा गुणोंको सद्गुणताका तेज प्रदान किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्यके तीव्र प्रकाशसे तीनों लोक प्रकाशित होते हैं, वैसे ही महर्षि व्यासकी प्रखर प्रतिभासे समस्त जगत् देदीप्यमान हुआ है अथवा जैसे उत्तम भूमिमें बीज बोनेसे वे स्वतः चाहे जैसे फलते-फूलते हैं, वैसे ही इस भारतग्रन्थमें समस्त विषय (चारों पुरुषार्थ) सम्यक् रूपसे सुशोभित हुए हैं अथवा जैसे नगरमें बसनेसे मनुष्य स्वभावतः चतुर हो जाता है, वैसे ही महर्षि व्यासकी वाणीके प्रकाशसे सम्पूर्ण जगत् उज्ज्वल हो गया है। जिस प्रकार यौवनके आरम्भमें स्त्रियोंके शरीरमें सौन्दर्यकी अपूर्व शोभा प्रकट होती है अथवा जैसे वसन्त-ऋतु आते ही प्राकृतिक छटा सर्वत्र स्वतः छा जाती है, जैसे स्वर्णका टुकड़ा देखनेसे उसमें आकारका कोई वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर नहीं होता, पर जब उसके अलंकार बन जाते हैं, तब उसकी वास्तविक शोभा प्रकट होती है। वैसे ही महर्षि व्यासके वचनोंसे अलंकृत होनेके कारण इस कथाको अत्यन्त उत्तमता प्राप्त हुई है और सम्भवतः यही बात जानकर कथाओंने महाभारतका आश्रय लिया है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण पुराणोंने स्वयं सम्मान प्राप्तिकी लालसासे जगत्में अपनी लघुता स्वीकार करके इस भारतग्रन्थमें आख्यानोंका रूप ग्रहण किया है। इसीलिये विद्वानोंने यह कहना शुरू किया कि जो चीज महाभारतमें नहीं है, वह त्रिलोकीमें कहीं नहीं है। सम्पूर्ण त्रैलोक्य व्यासजीका उच्छिष्ट कहा जाता है। यह लोकोक्ति भी है—'**व्यासोच्छिष्टं जगत् त्रयम्।**' इस प्रकार जो यह रसमयी कथा जगत्में प्रसिद्ध है और ब्रह्मज्ञानको जन्म देनेवाली है; परमार्थकी केन्द्र-बिन्दु बन गयी है,वह कथा वैशम्पायन मुनिने महाराज जनमेजयको सुनायी है। अतएव आप सभी सुनिये! यह महाभारत अद्वितीय, उत्तम, अतिपवित्र, निरुपम और श्रेष्ठ मांगल्यका अर्थात् कल्याणकारक स्थान है।

इस भारतग्रन्थरूपी कमलमें गीता-नामका वह प्रकरण निःसंदेह

कमलका पराग है, जिसका संवाद श्रीकृष्णार्जुन-संवादके रूपसे जगत्-विख्यात है अथवा सम्पूर्ण साहित्यको मथ करके व्यासकी मतिने यह परम स्वादिष्ट नवनीत निकाला है और वही नवनीत ज्ञानाग्निपर विवेकपूर्वक तपानेसे परिपक्व हो सुगन्धित घृतके स्वरूपको प्राप्त हुआ है। विरक्त जिसकी कामना करते हैं, सन्त जिसका हर समय साक्षात् अनुभव करते हैं और 'सोऽहम्' भावसे परे (अर्थात् ब्रह्मवेत्ता) जिसमें रमण करते हैं, भक्तोंको जिसका (गीताका) श्रवण करना चाहिए, जो तीनों लोकमें प्रथम नमस्कार करने योग्य है; वो गीता भीष्मपर्वमें प्रसंगानुरोधसे कही गयी है। जिसे लोग '**भगवद्गीता**' कहते हैं, विधाता और महेश जिसकी प्रशंसा करते हैं तथा सनकादिक जिसका प्रेमसे सेवन करते हैं, उस कथाके माधुर्यका श्रोताओंको अपना मन कोमल करके उसी प्रकार अनुभव करना चाहिये, जिस प्रकार चकोरके बच्चे एकाग्रचित्त होकर शरत्कालकी चन्द्रकलाओंके कोमल अमृतकण चुनते हैं। इसकी चर्चा शब्दोंके बिना करनी चाहिये (मनमें ही इसका विचार करना चाहिये) इन्द्रियोंको मालूम हुए बिना इसका उपभोग लेना चाहिये और इसमें प्रतिपादक शब्दोंके पहले ही, उसमें बताये हुए सिद्धान्तको ग्रहण करना अर्थात् समझना चाहिये। मधुप जैसे कमल-पराग ले जाता है और कमलदलोंको इस बातका पता ही नहीं लगने पाता, वैसे ही इस ग्रन्थको सुननेवाले लोग भी इसके तत्त्व-रसका पान करते हैं। केवल कुमुदिनी ही यह बात अच्छी तरहसे जानती है कि किस प्रकार बिना अपनी जगह छोड़े, उगते हुए चन्द्रमाका आलिंगन किया जाता है और किस प्रकार उसके प्रेमका अनुभव किया जाता है। इसीलिये इस प्रकारकी गम्भीरवृत्तिसे निश्चल अन्तःकरणवाला साधक ही गीताका रहस्य जान सकता है। अहो! गीता सुननेके लिये जो लोग अर्जुनके समान योग्य हों, उन्हीं सन्तोंको कृपाकर इस कथाको ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये। सम्भव है, कुछ लोगोंको इसमें मेरी ढिठाई प्रतीत हो, पर ऐसा नहीं है। हे श्रोताओ! आपलोग तो उदारमना हैं, इसीलिये मैंने आपके श्रीचरणोंमें विनम्र निवेदन किया है; क्योंकि माता-पिता अपने

बच्चेकी तुतलाहटसे प्रसन्न और सन्तुष्ट ही होते हैं। इसी प्रकार जब आपलोगोंने मुझे स्वीकार किया है और अपनाया है तो फिर मुझे यह प्रार्थना करनेकी आवश्यकता ही क्या है कि आपलोग मेरी त्रुटियोंको क्षमा करें। किन्तु मुझसे एक दूसरा अपराध भी हो गया है; वह यह कि मैं गीताके अर्थको स्पष्ट करनेका साहस कर रहा हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आपलोग वह स्पष्टीकरण ध्यानपूर्वक सुनें।

गीताका अर्थ करना कितना दुरूह कार्य है, इसे बिना सोचे-समझे मेरे मनने निश्चय ही धृष्टता की है; नहीं तो सूर्यके तेजके समक्ष भला खद्योतकी क्या सामर्थ्य है? मुझ-सदृश ज्ञानहीनका इस कार्यमें तत्पर होना ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार किसी टिट्टिभका अपनी चोंचसे अगाध समुद्रको मापनेका प्रयत्न। यदि कोई आकाशको ढँकना चाहे तो उसे उस आकाशसे भी अधिक बड़ा होनेकी महती आवश्यकता होती है और जब मैं इस बातको सोचता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि यह कार्य जो मैंने अपने हाथमें लिया है, वह मेरी क्षमताके बाहर ही है। जिस समय भगवान् शंकरजी गीताके अर्थकी महत्ताका विचार कर रहे थे, उस समय माता पार्वतीने कुतूहलवश भगवान् शिवसे प्रश्न किया था आप हर समय किसकी विचारणा करते हैं। उस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् शिवने कहा था—"हे भवानी! तुम्हारे नित्य-नूतन स्वरूपकी ही भाँति यह गीता-तत्त्व सदा नवीन एवं अज्ञेय है।" वेदके अर्थका विस्तार जिस आदिपुरुषके खर्राटोंसे हुआ है, उसी सर्वेश्वरने स्वयं इस गीताके रहस्यको भी बतलाया है। अतएव जो कार्य इतना अपार हो, गंभीर हो और जिसमें वेदोंकी मति भी कुण्ठित हो जाती हो, उसमें मुझ-जैसे मतिमंद व्यक्तिका भला कहाँ ठिकाना लग सकता है। इस अपार गीता-तत्त्वका आकलन करना भला कैसे सम्भव है? इस तीव्र एवं दिव्य तेजको (सूर्यको) भला कौन अधिक प्रकाशित कर सकता है! मसककी मुट्ठीमें भला आकाश किस प्रकार समा सकता है? किन्तु ऐसी स्थितिमें भी मुझे एक ऐसा आश्रय प्राप्त है जिसके सहयोगसे मैं स्वयंको सामर्थ्यवान् मानता हूँ और मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि वह आश्रय

यही है कि श्रीगुरुदेव मेरे अनुकूल हैं। यद्यपि सामान्यतः मैं मूर्ख और अज्ञानी हूँ, किन्तु फिर भी सन्तोंका कृपारूपी दीपक तो मेरे सामने तेजपुंज रूपसे जल रहा है। लोहेको सोना बनानेकी सामर्थ्य केवल पारसमें ही है और केवल अमृत ही मृतकको जीवनलाभ दे सकता है। यदि स्वयं वाणीदेवीकी कृपा हो जाय तो मूक भी वाचाल हो सकता है; यह केवल वस्तु सामर्थ्य है अर्थात् (उस परमात्माकी शक्तिसे संभव होता है) अतः इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है अथवा कामधेनु जिसकी माता हो, भला उसे किस वस्तुका अभाव हो सकता है! इसीलिये मैं इस गीता-ग्रन्थका प्रवचन करनेको प्रवृत्त हुआ हूँ।

अतः मैं आपलोगोंसे विनती करता हूँ कि यदि इसमें कोई कमी हो तो उसकी पूर्ति आपलोग कर लें और यदि इसमें कोई विषय बढ़ा हुआ हो तो उसे छोड़ दें। अच्छा तो अब आपलोग इस तरफ ध्यान दें, कारण कि जब आपलोग मुझे बोलनेमें प्रवृत्त करेंगे, तभी मैं बोल पाऊँगा अर्थात् मैं आपलोगोंकी शक्तिसे बोल रहा हूँ। यह बात ठीक वैसे ही है, जैसे कठपुतलियोंका नाचना उसके सूत्रधारके ही अधीन रहता है। उस प्रकार मैं आप लोगोंके कृपापात्रोंमेंसे हूँ और केवल सन्तोंका समाचार देनेवाला डाकिया हूँ। इसलिये जैसा आपलोगोंको रुचिकर लगे, वैसा ही आपलोग मुझे अलंकृत करें। इतनेमें श्रीगुरुदेवजी महाराज बोल पड़े—"बस, रहने दो। ये सब बातें कहनेकी तुम्हें कोई जरूरत नहीं है। अब तुम शीघ्रातिशीघ्र इस ग्रन्थको कहना आरम्भ करो।" श्रीगुरुकी यह बात सुनकर श्रीनिवृत्तिके दास ज्ञानदेवजी अत्यन्त आह्लादित हुए और बोले—"अब आपलोग शान्तचित्तसे ध्यानपूर्वक सुनें"— (१—८४)

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥ १॥

पुत्रस्नेहके कारण मोहपाशमें जकड़े हुए धृतराष्ट्र पूछने लगे—"हे संजय! कुरुक्षेत्रकी घटनाएँ मुझे बतलाओ, जिसे धर्मका स्थान भी कहते हैं, वहाँ मेरे

और पाण्डुके पुत्र युद्धके निमित्त गये हुए हैं। अबतक उन लोगोंने परस्पर क्या-क्या किया? यह बात तुम मुझे शीघ्रातिशीघ्र बतलाओ।" (८५—८७)

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

तब संजयने कहा—पाण्डव सेनाने इस प्रकार उठाव (यानी अपनी सेनाका प्रदर्शन) किया, जिस प्रकार महाप्रलयके समय कृतान्त (महाकाल) अपना मुँह फैलाता है। वह अत्यन्त विशाल सेना उसी प्रकार एक साथ ही उत्तेजित हो गयी (उसे कौन रोक सकता था?), जिस प्रकार 'कालकूट' नामक विष क्षुब्ध होकर सर्वत्र फैल जाता है। फिर भला उसे कौन शमन कर सकता था! अथवा अनेक पंक्तियोंकी व्यूह-रचनासे युक्त वह दुर्धर्ष सेना उस समय उसी प्रकार भयानक जान पड़ती थी, जिस प्रकार महाप्रलयकालकी वायुसे पुष्ट बड़वाग्नि उग्र होकर समुद्रके जलका शोषण करते हुए आकाशतकको छूता है; परन्तु दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाको देखकर उसी प्रकार नगण्य समझा, जिस प्रकार गज-शावकको सिंह तुच्छ समझता है।

इसके बाद दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास पहुँचकर कहने लगा—"आपने देखा कि पाण्डवोंकी सेना कैसे आवेशमें आयी हुई है? उस सेनाके विविध व्यूह चलते-फिरते गिरि-दुर्ग ही जान पड़ते हैं। ये व्यूह उस द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नके बनाये हुए हैं। हे आचार्य! जिसे आपने अपनी विद्याका आश्रय-स्थान (अर्थात शक्तिसंपन्न) बनाया है। देखिये उसी द्रुपद-पुत्रने पाण्डवोंकी सेनारूपी समुद्रका कैसा विस्तार किया है! (८८—९५)

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

इस सेनामें और भी ऐसे असाधारण वीर हैं जो शस्त्र एवं अस्त्रोंकी विद्यामें प्रवीण तथा क्षात्रधर्ममें निपुण हैं। अब मैं उनका प्रसंगानुसार कुतूहलवश

वर्णन करता हूँ जो बलमें, प्रौढ़तामें और पुरुषार्थमें एकदम भीम तथा अर्जुनके समान ही हैं। इस सेनामें शूरवीर युयुधान (सात्यकि) एवं राजा विराट और महारथी वीर शिरोमणि द्रुपद भी उपस्थित हैं। (९६—९८)

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

देखिये चेकितान, धृष्टकेतु, पराक्रमी काशिराज, नृपश्रेष्ठ उत्तमौजा और शैब्य भी यहाँ आये हैं। और देखिये, वे कुन्तिभोज हैं। वे युधामन्यु हैं और ये इधर पुरुजित् आदि अन्य राजालोग भी हैं।'' दुर्योधनने फिर कहा— ''हे आचार्य द्रोण! देखिये, यह सुभद्राको आह्लादित करनेवाला उसका पुत्र अभिमन्यु है, जो देखनेमें दूसरे तरुण अर्जुनकी भाँति प्रतीत होता है। इनके अलावा ये सब द्रौपदीके पुत्र और अन्य अनेक महारथी वीर यहाँ उपस्थित हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती है। (९९—१०२)

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

अब प्रसंगानुसार मैं अपने दलके जो प्रसिद्ध योद्धा एवं प्रधान वीर हैं उनके विषयमें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनिये।

आप-जैसे जो प्रमुख वीर हैं, उनमें ही आपकी जानकारीके लिये एक-दोके नाम बतलाता हूँ। ये गंगानन्दन भीष्म हैं जो प्रतापमें सूर्यके समान तेजस्वी हैं। ये वीरवर कर्ण हैं जो शत्रुरूपी हाथीका विनाश करनेवाले साक्षात् सिंह हैं। इनमेंसे एक-एकके केवल संकल्पमात्रसे जगत्‌की उत्पत्ति और संहार हो सकता है और क्या? यह अकेले कृपाचार्य पूरे नहीं हैं क्या? यहाँ वीर विकर्ण है और देखिये, उधर वे अश्वत्थामा हैं जिनसे महाकाल भी डरता है। संग्रामविजयी

सोमदत्तका पुत्र सौमदत्ति (भूरिश्रवा) इत्यादि और भी अनेक ऐसे वीर हैं जिनके बलका अनुमान स्वयं विधाता भी नहीं लगा सकते। (१०३—१०७)

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९ ॥

जो शस्त्रविद्यामें पारंगत हैं, जो (अस्त्रोंके) मन्त्रविद्याके मूर्तिमान् अवतार हैं, अस्त्रविद्या जिनके कारण जगत्‌में प्रसिद्ध है ये लोग इस संसारमें अद्वितीय हैं, इनमें अद्भुत शौर्य है। इतना होते हुए भी ये सब वीर जीनेकी आशा छोड़कर मेरी तरफ आकर मिले हैं। इस प्रकार इन उत्कृष्ट योद्धाओंको मैं ही सर्वस्व हूँ, ऐसा लगता है। हमारे कार्यके सामने इन लोगोंको अपना जीवन तुच्छ लगता है; ऐसे ये निस्सीम और उत्तम स्वामिभक्त हैं। जिस प्रकार पतिव्रताका हृदय अपने पतिके सिवा किसी अन्यका स्पर्श नहीं करता। ये लोग युद्धकलामें पारंगत हैं और युद्धकौशलसे कीर्तिको जीतनेवाले हैं। अधिक क्या बतावें? क्षत्रियोंके बानेका उद्गम इन्हीं लोगोंसे हुआ है। ऐसे परम प्रतापी शूरवीर हमारे दलमें हैं, भला उनकी गणना कहाँतक की जाय! बस, इतना ही समझिये कि वे अनगिनत हैं। (१०८—११४)

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १० ॥

"क्षत्रियोंके शिरोमणि और जगत्‌में जो परम प्रतापी भीष्म हैं, उन्हें हमारी सेनाका सेनापति होनेका गौरव प्राप्त है। इन्हीं पितामह भीष्मके बलका आश्रय पाकर यह सेना एक दुर्गकी भाँति प्रतीत होती है तथा इसकी तुलनामें यह त्रिलोकी भी अत्यल्प जान पड़ती है। एक तो समुद्र वैसे ही अलंघ्य है, फिर जैसे उसे बड़वाग्निका सहयोग प्राप्त हो जाय अथवा जिस प्रकार प्रलयकालकी अग्नि एवं तीव्र वायुका मिलन हो जाय, उसी प्रकारकी दशा इन गंगानंदन भीष्मके सेनापति बननेसे हो गयी है तो फिर ऐसी सेनाका सामना भला कौन कर सकता है? और फिर पाण्डवोंकी यह सेना हमारी सेनाके सामने तो अत्यल्प ही है, पर फिर भी यह मुझे

बहुत विशाल जान पड़ती है और इस सेनाका सेनापति भी महाबली भीमसेन है।" बस, इतना कहकर दुर्योधन चुप हो गया। (११५—१२०)

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

इसके बाद दुर्योधनने फिर अपने सब सैनिकोंसे कहा—"अब तुमलोग अपनी-अपनी सेनाको तैयार रखो। जिनकी जो अक्षौहिणी सेना आयी होंगी, उन लोगोंको वो अक्षौहिणी सेना युद्धभूमिपर अपने-अपने महारथियोंकी तरफ अलग-अलग विभाग करके सौंप देनी चाहिये। उन महारथियोंको उस अक्षौहिणी सेनाको अपनी आज्ञामें रखना चाहिये और भीष्मकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।"

तदन्तर, दुर्योधन द्रोणाचार्यसे बोला, आप सबका संचालन करें। इन अकेले भीष्मपितामहकी रक्षा करें; इनको मेरे-जैसा मानना चाहिये। इनके कारण ही हमलोगोंकी सेना सक्षम है (हमारी सेनाका सब भार इन्हींपर है।) (१२१—१२४)

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

राजा दुर्योधनके ये वचन सुनकर सेनापति पितामह भीष्मको बहुत सन्तोष हुआ और उन्होंने सिंहनाद किया। वह नाद दोनों सेनाओंमें अद्‌भुत प्रकारसे गूँजता रहा, उस नादकी प्रतिध्वनि आकाशमें न समाती हुई पुनः-पुनः गूँजती रही। वह हमारी सेनाके सामने प्रतिध्वनि गूँज रही थी उसी समय वीरवृत्तिके बलसे स्फुरित होकर भीष्मने अपना दिव्य शंख बजाया। वे दोनों नाद (आवाज) सम्मिलित हो गये तब त्रिलोकीके कान बधिर हो गये। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि, आकाश फटकर नीचे गिरने लगा हो। तत्क्षण आकाशमें आवाज होने लगी, सागर क्षुब्ध हुआ और स्थावर-जंगम जगत् (चैतन्यहीन) बधिर होकर काँपने लगा। इस महाघोषसे गिरि-कन्दराएँतक गूँजने लगीं, सेनाओंमें रणभेरी बजने लगी। (१२५—१३०)

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

अनेक प्रकारके रणवाद्य जहाँ तहाँ इतने भयंकर और कर्कश बजने लगे कि, 'मैं मैं' बोलनेवालोंको भी वो महाप्रलय लगा। नगारे, डंके, ढोल, शंख, बड़ी झाँझ और रणसिंघे और महायोद्धाओंकी भयंकर गर्जना (इन सबकी एकाएक भीड़ हो गयी।) अन्य कितने ही योद्धा आवेशमें आकर ताल ठोंकने लगे, कोई एक-दूसरेको युद्धके लिये ललकारने लगा। उस जगह मदोन्मत्त हाथी कब्जेमें नहीं आ रहे थे, ऐसी दशा हो गयी। ऐसी स्थितिमें कायरोंकी तो बात ही क्या है! कच्चे दिलके लोग फूँस-जैसे उड़ गये; मानो प्रत्यक्ष यमराजको देख रहे हों, उनके पैर ठिकानेपर नहीं लग रहे थे। उनमेंसे कइओंके तो खड़े-खड़े ही प्राण निकल गये। जो धैर्यवान् थे, उनकी बोलती बंद हो गयी और 'मैं मैं' बोलनेवाले नामांकित वीर थर-थर काँपने लगे। युद्धके बाजोंका भयानक शब्द सुनकर विधाता व्याकुल से (भयभीत) हो गये और देवगण कहने लगे कि आज शायद प्रलयकाल ही आ पहुँचा है। (१३१—१३६)

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

वह भयानक कोलाहल सुनकर जब स्वर्गमें इस प्रकारकी चर्चाएँ हो रही थीं, इतनेमें ही इधर पाण्डवोंकी सेनामें क्या हुआ? उसका भी हाल सुनें। जो रथ विजयश्रीका मानो सर्वस्व था अथवा जो महातेजका भाण्डार ही था, जिसमें गरुड़की बराबरी करनेवाले वेगवान् चार घोड़े जुते हुए थे,

और जिसके तेजसे सब दिशाएँ परिपूर्ण थीं, जो दिव्य रथ ऐसा शोभायमान हो रहा था, जैसे कि पंखयुक्त मेरु पर्वत हो। सोच लो, जिस रथपर सारथिका काम करनेवाले प्रत्यक्ष वैकुण्ठके राजा श्रीकृष्ण हैं, उस रथके गुणोंका क्या वर्णन करूँ? रथपर लगाये हुए पताकाके ऊपर जो वानर (मारुति) हैं; वो प्रत्यक्ष शंकर हैं और शार्ङ्गधर श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथी थे। अब देखिये, यह प्रभुकी कितनी अद्भुत बात है। उन परमात्माका अपने भक्तोंके प्रति इतना विलक्षण प्रेम है कि उसी प्रेममें आबद्ध होकर वे अपने भक्त अर्जुनके रथको स्वयं ही हाँक रहे हैं। हृषीकेशने अपने भक्त पार्थको तो अपने पीछे कर लिया और स्वयं उसके आगे होकर लीलासे उन श्रीकृष्णने अपना 'पाञ्चजन्य' नामक शंख बजाया। उसकी वो भयंकर आवाज गम्भीररूपसे घूमती रही। जिस तरह उदित हुआ सूर्य नक्षत्रोंको ढक लेता है। उसी प्रकार कौरवोंकी सेनामें जहाँ-तहाँ डुमडुमानेवाली जो वाद्योंकी आवाज (कोलाहल) थी वह (उस शंखके महानादसे) कहाँ नष्ट हो गयी, उसका कुछ भी पता न लगा। उसी प्रकार बादमें अर्जुनने अति गम्भीर आवाजसे 'देवदत्त' नामक अपना शंख बजाया। उस समय दोनों शंखोंकी ध्वनियाँ परस्पर मिलते ही ऐसी प्रतीत होने लगीं मानो इस ब्रह्माण्डके टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे ऐसा लगने लगा। इतनेमें आवेशमें आकर भीमसेनने महाकालकी भाँति उत्तेजित होकर अपना 'पौण्ड्र' नामक महाशंख बजाया, जिसकी गम्भीर गर्जना प्रलयकालके मेघके समान हो गयी। बस, तत्क्षण राजा युधिष्ठिरने (धर्मराजने) अपना 'अनंतविजय' नामक शंख बजाया। इसी प्रकार 'सुघोष' नामक शंखको नकुलने एवं 'मणिपुष्पक' नामक शंखको सहदेवने बजाया। इन दोनोंकी ध्वनिसे स्वयं यमराज (काल) भी घबरा उठे। (१३७—१५०)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

उस समय युद्धभूमिमें राजा द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महाबाहु काशिराज, अर्जुनपुत्र अभिमन्यु, अजेय सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और विराट इत्यादि बहुत-से राजा उपस्थित थे। उनमें जो प्रधान-प्रधान वीर सेनापति थे, उन सबने नाना प्रकारसे शंख लगातार बजानेको शुरुआत की। उस शंखनादको सुनकर पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनाग एवं महाकूर्म भी इतने व्याकुल हो गये कि वे अपने सिरसे भू भार फेंकनेके लिये तत्पर हो उठे। उस समय त्रिभुवन डाँवाँडोल होने लगे। मेरु तथा मन्दर आदि पर्वत आगे-पीछे डोलने लगे। और-तो-और समुद्रकी लहरें भी कैलासकी ऊँचाईको छूने लगीं। भूतल उलट-पलट होगा, ऐसा लगने लगा। आकाशको झटके लगने लगे उसके कारण नक्षत्र नीचे गिर रहे हैं ऐसा लगने लगा। इतना ही नहीं, सत्यलोकमें भी शोर मच गया कि अब यह सृष्टि ही समाप्त हो गयी और देवताओंका आश्रय जाता रहा। दिन होनेके बावजूद ऐसा लगता था कि मानो सूर्य रुक गया। इस प्रकार तीनों लोकोंमें इतना हाहाकार मच गया कि मानो प्रलयकाल ही आ धमका हो। उस समय यह देखकर आदिपुरुषको भी यह आशंका सताने लगी कि वास्तवमें कहीं इस विश्वका अन्त ही न हो जाय। इसलिये आदि नारायणने उस कोलाहलको शान्त किया, जिससे यह सृष्टि बच गयी। अन्यथा जिस समय कृष्णादिने अपने दिव्य शंख बजाये, उस समय प्रलयकाल होनेकी वेला आयी थी। यद्यपि वह ध्वनि बन्द हो गयी थी, पर फिर भी उसकी प्रतिध्वनि अभीतक गूँज ही रही थी और ऐसा प्रतीत हुआ मानो उस प्रतिध्वनिने ही कौरवोंकी सेनाका विध्वंस कर डाला। वह प्रतिध्वनि भी उसी प्रकार शूरवीरोंका हृदय चीरती हुई सर्वत्र फैलने लगी, जिस प्रकार हाथियोंके समूहमें सिंह स्वाभाविकरूपसे विचरण करते

हुए उस समूहको तितर-बितर कर देता है। उस प्रतिध्वनिकी गर्जना सुनकर खड़े-खड़े ही उन लोगोंके धैर्य छूट गये और वे एक-दूसरेको सावधान करने लगे। (१५१—१६३)

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥

किन्तु उस सेनामें जो परम साहसी शूरवीर महारथी थे, उन्होंने सेनाको फिरसे सँभाला। वे सब-के-सब बड़ी तत्परतासे आगे बढ़े तथा उन्होंने दुगुने उत्साहसे आक्रमण किया। इनके कारण तीनों लोक क्षुब्ध हो उठे। उन धनुर्धर वीरोंने प्रलयकालके बादलोंकी भाँति बाणोंकी लगातार वर्षा की। यह देखकर अर्जुनके मनमें सन्तोष हुआ और तब उसने अत्यधिक उत्साहसे उस सेनापर दृष्टिपात किया। उस समय कौरवोंको युद्धके लिये तैयार देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने भी सहजमें अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया। (१६४—१६८)

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

तब अर्जुनने हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव! अब आप रथको जल्दीसे आगे बढ़ाकर दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दें—(१६९)

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

जबतक इन सब युद्धके लिये आये हुए शूर सैनिकोंको मैं अच्छी तरहसे देख न लूँ (तबतक रथको खड़ा कर लेना)। यहाँ सब आये हुए हैं; परंतु इस रणांगणमें मुझे किसके साथ लड़ना है, इसका विचार करना जरूरी है। ये कौरव तो बड़े ही जड़बुद्धि एवं बुरे स्वभावके हैं। अतएव

सम्भव है कि पराक्रमके बिना भी ये लोग यहाँ युद्धकी अभिलाषा लिये हुए पहुँच आये हों। कौरवोंको युद्ध करनेकी इच्छा तो बहुत है, पर युद्धके लिये इन लोगोंमें अपेक्षित धैर्यका सर्वथा अभाव ही है।'' महाराज धृतराष्ट्रको अर्जुनकी यह बात बताकर संजयने आगे कहा— (१७०—१७३)

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥

''हे राजन्! सुनिये; ज्यों ही अर्जुनने ये बातें कहीं त्यों ही श्रीकृष्णने रथको आगे बढ़ा दिया और ले जाकर दोनों सेनाओंके मध्यमें खड़ा कर दिया।'' (१७४)

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥
तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥

जिस जगह आप्तसम्बन्धी (निकटके नाते-सम्बन्ध) पितामह भीष्म और द्रोणाचार्य आदि अन्य अनेक राजा भी थे। उसी जगहपर रथ रुकवाकर अर्जुन उत्कण्ठापूर्वक उस सेनाको देखने लगा। तत्पश्चात् उसने कहा—''हे देव! जरा देखिये, ये सब तो मेरे ही कुलगोत्रके तथा गुरुजन हैं।'' अर्जुनकी यह बात सुनकर भगवान्‌को क्षणमात्रके लिये कुछ विस्मय हुआ, फिर उन्होंने मन-ही-मन विचार किया—''पता नहीं इस समय इसके मनमें कौन-सा भाव उमड़ पड़ा है, पर कुछ-न-कुछ भाव तो आया अवश्य है।'' अब वे मन-ही-मन भावी विचारोंमें डूब गये। उसी समय भगवान्‌को तो सब बातें मालूम हो गयीं पर उस समय वे मौन ही रहे। उधर अर्जुनको अपने समक्ष अपने ही सगे सम्बन्धी, इष्ट-मित्र,

कुलके ही भाई-बन्धु, गुरुजन, पितामह, आचार्य और मामा आदि दिखायी पड़े। अर्जुनको उस समूहमें परमप्रिय स्नेही ससुरालवाले, दूसरे नाती-पोते आदि भी दिखायी दिये। वहाँ केवल ऐसे ही लोग नहीं थे जिनका उसने उपकार किया था अथवा अर्जुनने जिनको समय-समयपर अनेक विपत्तियोंसे उबारा था, वरन् छोटे-बड़े सभी सगे सम्बन्धी वहाँ आये हुए थे। इस प्रकार दोनों दलोंमें उसे युद्धके लिये उद्यत अपने ही कुल-गोत्रके भाई-बन्धुओंको देखा।" (१७५—१८४)

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

इस प्रसंगमें अर्जुनका मन खिन्न हो गया और उसके कारण उसके मनमें गहन करुणा उत्पन्न हो गयी, जिससे अर्जुनके शरीरमें जो वीरवृत्ति थी वो निकल गयी। जो स्त्रियाँ उच्च कुलमें होती हैं, गुण और रूपसे सम्पन्न होती हैं उनको अपने सौन्दर्यके कारण अन्य स्त्रीका वर्चस्व सहन नहीं होता। जिस प्रकार किसी नयी-नवेलीके चक्करमें पड़कर कामी व्यक्ति अपनी पत्नीको भूल जाता है और तब भ्रमिष्टोंकी भाँति बिना विचारे ही उसकी योग्यता न देखते हुए अनैतिक कार्य करने लगता है अथवा जैसे तपस्यासे अभीष्ट ऐश्वर्य मिल जानेपर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और तब मनुष्यको वैराग्यके साधनका ध्यान नहीं रह जाता, ठीक वैसी ही दशा उस समय अर्जुनकी भी हुई थी कारण उसकी जो वीरवृत्ति थी वो निकल गयी थी क्योंकि उसने अपना अन्तःकरण करुणाको अर्पित किया था। जिस तरह कोई मन्त्रविद् मन्त्रोच्चारण करनेमें भूल गया तो, जैसे उसे बाधा (तकलीफ) होती है, उसी प्रकार वह धनुर्धारी अर्जुन महामोहसे ग्रस्त (व्याप्त) हो गया। इसीलिये अर्जुनका स्वाभाविक धैर्य चला गया तथा उसका हृदय पिघलने लगा। जैसे चन्द्रकलाके स्पर्शसे सोमकान्तमणि पिघलने लगती है, वैसे ही दयाके स्पर्शसे पार्थ भी द्रवित होकर खेदयुक्त वाणीसे भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगा— (१८५—१९२)

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

"हे देव! अब आप ध्यानपूर्वक सुनिये, यहाँ आये हुए सब लोगोंको तो मैंने देख लिया। ये सब लोग तो मेरे ही कुल-गोत्रके दिखायी पड़ते हैं। ये सब युद्धके लिए अत्यन्त उत्साहित हो गये हैं; पर मेरा भी इन्हींकी भाँति युद्धके लिये उद्यत होना कहाँतक उचित होगा? इन आप्त सम्बंधियोंसे युद्ध करनेके विचारसे मुझे कुछ अलग सा लग रहा है। इनके साथ मेरी अपनी ही सुध-बुध नष्ट हो गयी है। मन और बुद्धि दोनों अस्थिर होने लगे हैं। देखिये, मेरा शरीर काँप रहा है, मुख सूखने लगा है और सब गात्रोंमें (शरीरमें) शिथिलता आ रही है। सारे शरीरमें रोमांच हो आया है, अन्तःकरणमें (मनमें) पीड़ा हो रही है। गाण्डीवको धारण करनेवाला मेरा हाथ शिथिल पड़ रहा है। वह गाण्डीव धनुष पकड़नेसे पहले ही छूट गया, हाथसे कब गिर गया इसका मुझे पता ही नहीं। इस मोहने मेरा हृदय इस तरह घेरा हुआ है। अर्जुनका अन्तःकरण वज्रसे भी कठोर, दूसरोंसे न डरनेवाला, अतिशय गंभीर (साहसी) है, परन्तु इस करुणाका (कायरताका) वलय उससे ही बढ़कर। बड़े आश्चर्यकी बात है, जिसने युद्धमें शंकरजीको हार स्वीकारनेके लिये विवश किया और निवातकवच नामके राक्षसोंका समूल नाश किया, उस अर्जुनको एक क्षणमें ही मोहने घेर लिया। मधुप कठोर-से-कठोर काष्ठको भी बड़ी ही सहजतासे छेद डालता है, किन्तु एक कमलकी कलीमें वह बन्द हो जाता है, फिर चाहे वहाँ उसके प्राण ही क्यों न चले जायँ, परन्तु उस कलीको छेदनेका विचार उसके मनमें स्पर्श तक नहीं करता, उसी प्रकार यह स्नेह उस कली-जैसा कोमल तो है लेकिन है महाकठिन!

संजयने आगे कहा—हे राजन्! यह सब कुछ आदिपुरुषकी माया है, यह विधाताके भी वशकी बात नहीं। इसीलिये उस स्नेहवृत्तिने अर्जुनको भी

भ्रमित कर दिया। फिर संजय कहते हैं—हे महाराज! अब आगेका हाल सुनिये। इसके बाद अर्जुनने युद्धभूमिमें अपने स्वजनोंको देखकर युद्धविषयक अपना विचार त्याग दिया। वहाँ उसके चित्तमें सदयता कहाँसे उत्पन्न हो गयी, कौन जाने तत्पश्चात् उसने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—

"हे भगवन्। अब हमलोगोंका यहाँ क्षणभर भी रुकना उचित नहीं है। इन सबको मारना है, ऐसी बात मनमें आते ही मेरा मन उद्विग्न हो रहा है और मुँहसे अनाप-शनाप बातें निकल रही हैं।" (१९३—२०६)

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

यदि मैं इन कौरवोंका वध करूँ तो युधिष्ठिर आदिका वध क्यों न करूँ? क्या ये दोनों ही मेरे वंशज नहीं हैं? इसलिये, भाड़में जाय यह युद्ध। मैं तो सोच ही नहीं पा रहा हूँ कि यह महापाप करके मैं कौन-सा लक्ष्य सिद्ध कर लूँगा। हे देव! हर तरहसे सोच विचार करनेपर मुझे तो यही प्रतीत होता है कि स्वजनोंसे युद्ध करना ही सर्वथा अनुचित होगा। बल्कि यदि यह युद्ध न किया जाय, तब भी कुछ लाभ हो, तो हो सकता है। (२०७—२०९)

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

इसलिये विजय आदि जो लाभ हैं उनसे मुझे कुछ भी लेना-देना नहीं है। इस तरहके राज्यको लेकर मुझे क्या करना है! इन सब लोगोंको मार करके जो सुख भोगनेको मिलें उन सब सुखोंमें आग लगे।" फिर पार्थने कहा—"यदि वे सुख भोगनेको न मिलें तो उस दशामें चाहे जो कुछ भी हो, वह सब सहन किया जा सकता है, किन्तु इसके लिये तो यदि प्राण भी गँवाने पड़ें तो वह भी मुझे स्वीकार है, पर यह बात मुझे स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं है कि पहले तो मैं इन्हें मारूँ और फिर स्वयं राज्यसुख भोगूँ। यदि मैं इन गुरुजनोंका अहित सोचूँ तो फिर मेरा जन्म लेना ही व्यर्थ है। उसके बाद भी यदि मेरा

जीवन बचा रहे तो फिर किसके लिये? हर एककी इच्छा होती है कि मेरे आगेकी पीढ़ी और आगे बढ़े, क्या उसका परिणाम यही है कि हम अपने वंशका समूल नाश कर डालें? अब यह बात भला मनमें कैसे आ सकती है कि हम स्वजनोंके प्रति वज्रके समान कठोर हो जायँ? हमें तो यथासम्भव इन लोगोंकी भलाई ही करते रहनी चाहिये। वैसे तो होना यह चाहिये कि हमारे द्वारा जुटायी गयी सुख सामग्रीका यही लोग उपभोग करें। इतना ही नहीं, इन लोगोंके लिये तो हमें अपने जीवनको भी न्योछावर कर देना चाहिये। सबसे उत्तम बात यह होती कि हम दिग्-दिगन्तके समस्त भूपालोंको जीतकर अपने वंशजोंको ही सन्तुष्ट करें। इस समय हमारे वही सब भाई-बन्धु यहाँ आये हुए हैं; किन्तु विधिका विधान कुछ ऐसा प्रतिकूल आ पड़ा है कि ये लोग अपने धन सम्पत्ति और पत्नी, पुत्र आदि सबको त्यागकर और अपना जीवन शस्त्रोंकी नोकपर लटकाकर यहाँ एक-दूसरेको मरने-मारनेके लिये उद्यत हुए हैं। फिर ऐसे लोगोंकी हत्या भला मैं कैसे करूँ? इनमेंसे किनपर शस्त्र उठाऊँ? (ये कौरव यानी हम लोग ही हैं, इन लोगोंको मारना यानी अपनेको मारना है, इस दृष्टिसे अर्जुन बोल रहे हैं।) अपने ही हृदयका घात मैं किस प्रकार करूँ? (२१०—२२१)

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

ये कौन हैं, आप जानते नहीं क्या? जिनके हमपर असाधारण उपकार हैं, ऐसे भीष्म और द्रोण वे उस तरफ हैं, देखो! सभी सगे-सम्बन्धी, साले-ससुर, मामे, भाई-बन्धु तथा नाती-पोते आदि हमारे अपने ही यहाँ उपस्थित हैं। हे देव! आप जरा ध्यानसे देखें कि यहाँ सब लोग अत्यन्त निकटके सगे सम्बन्धी ही एकत्रित हुए हैं, इसीलिये इन सब बन्धु-बान्धवोंके विषयमें कोई भी अहितकर वचन बोलना भी मानो अपनी वाणीको दूषित करना है। (२२२—२२४)

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

इससे तो यही श्रेयस्कर है कि ये लोग जो कुछ भी चाहें, वही करें अथवा ये मुझको ही अभी और यहीं मार डालें, फिर भी मैं इन

लोगोंको मारनेका विचार अपने मनमें कभी भी न लाऊँ। यदि मुझे तीनों लोकोंका भी निष्कण्टक राज्य मिल जाय तो भी मैं कभी इन लोगोंके अनिष्टकी बात नहीं सोच सकता। यदि मैं आज यहाँ यह जघन्य कृत्य कर डालूँ तो फिर मेरे लिये किसके मनमें पूज्यभाव रह जायगा। हे कृष्ण! फिर आप ही बताइये कि क्या इस कार्यसे आपका मुँह हमलोगोंको देखनेके लिये मिलेगा। (२२५—२२७)

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

यदि मैं अपने ही वंशजोंका विनाश करूँगा तो मैं महापापोंका केन्द्रस्थल बन जाऊँगा और फिर आप भी मेरे हाथसे निकल जायँगे। कुलकी हत्याका पाप लग जानेपर फिर भला आपको कौन और कहाँ देखेंगे। जैसे जंगलमें दावाग्निको देखकर कोकिल वहाँ पलभर भी नहीं ठहरती अथवा पंकयुक्त सरोवर देखकर चकोर पक्षी उसका तिरस्कार करके वहाँसे चल देता है ठीक वैसे ही हे देव! यदि मेरेमेंसे पुण्य संचय नष्ट हो गया तो, आप अपनी मायासे मुझे मोहमें डालकर मेरे पास आयेंगे नहीं। (२२८—२३२)

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

अतएव न तो मैं यह युद्ध करूँगा और न ही शस्त्रको उठाऊँगा, कारण कि ऐसा करना मुझे हर प्रकारसे बुरा ही जान पड़ता है। हे प्रभो! यदि आपसे ही मेरा वियोग हो जाय तो फिर मुझे आप ही बताएँ कि मेरे पास रह ही क्या जायगा? हे कृष्ण! उस वियोगकालमें तो आपके बिना मेरा हृदय ही तार-तार हो जायगा। इसलिये यह बात एकदम असम्भव है कि कौरवोंका तो वध हो जाय और मैं राज्यका सुख भोग करूँ।'' यह बात घटनी असम्भव है, इस प्रकार अर्जुन बोले। (२३३—२३५)

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

फिर अर्जुनने कहा—''यद्यपि ये लोग अभिमानके मदसे अन्धे होकर युद्धके लिये आये हुए हैं तथापि हमें अपने हितका विचार करना चाहिये। भला यह कैसे हो सकता है कि मैं ही अपने हाथोंसे अपने वंशजोंकी हत्या करूँ? क्या मैं जान बूझकर यह कालकूट नामक विष पी जाऊँ? अजी, मार्गमें चलते-चलते यदि अचानक कोई सिंह सामने आ जाय तो उससे अपना बचाव कर लेना ही श्रेयस्कर है। हे प्रभो! अब आप ही बताइये कि तीव्र प्रकाश छोड़कर अन्धकूपमें प्रवेश करनेमें क्या लाभ है? यदि सामने आग देखकर भी हम उससे बचकर न निकलें तो वह पलभरमें हमें भस्म ही कर डालेगी। इसी प्रकार यह हत्यारूपी दोष मुझपर लिपटना चाहता है तो फिर यह बात जानते हुए भी मैं किस प्रकार इस कार्यमें प्रवृत्त होऊँ।'' फिर अर्जुनने यह भी कहा—'हे देव! यह पाप कितना भयंकर है, इस बातको मैं विस्तारपूर्वक आपको बतलाता हूँ। अब आप मेरी बातोंको जरा ध्यानसे सुनें। (२३६—२४२)

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥

जिस प्रकार लकड़ीपर लकड़ी रगड़नेसे उससे जो अग्नि निकलती है वह प्रदीप्त होकर सारी-की-सारी लकड़ियोंको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार जब एक ही कुलमें उत्पन्न लोग मत्सरसे परस्पर घात करने लगते हैं, तब उस घोर पापके (दोषके) कारण सारे वंशका विनाश हो जाता है। इसीलिये इस पाप-कर्मसे वंशपरम्परागत कुलके धर्मका नाश हो जायगा और तब सारे कुलमें अधर्मके सिवा कुछ भी नहीं बचेगा। अर्थात् कुलमें अधर्म फैल जायगा। (२४३—२४५)

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१॥

जब ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है, तब सत् और असत्‌का विचार

करना असम्भव हो जाता है। सब-के-सब मनमाना आचरण करने लगते हैं और तब विधि तथा निषेध नष्ट हो जाते हैं। जैसे हाथका दीपक खोकर अँधेरेमें चलनेसे समतल भूमिपर भी लड़खड़ाकर गिरना पड़ता है, वैसे ही जब किसी वंशमें वंशक्षय होता है तब सनातन धर्मका आचार-विचार नष्ट हो जाता है, फिर ऐसी दशामें पापके सिवाय दूसरी कौन सी चीज बची रह सकती है? जब यम और नियम नष्ट हो जाते हैं तब इन्द्रियाँ स्वच्छन्द विचरण करने लगती हैं जिससे कुलांगनाएँ भी व्यभिचारिणी हो जाती हैं। उत्कृष्ट प्रकृतिके लोग अधमोंमें जा मिलते हैं और ब्राह्मण एवं शूद्रादिवर्ण परस्पर मिलकर एकरूप हो जाते हैं, जिससे जाति-धर्मका समूल नाश हो जाता है। जिस प्रकार चौराहेपर रखे हुए बलिपर कौओंके समूह चारों ओरसे आकर इकट्ठे हो जाते हैं उसी प्रकार ऐसे कुलोंमें चारों ओरसे महापापोंका प्रवेश होने लगता है। (२४६—२५१)

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

इसके बाद उस कुलको भी और कुलघातियोंको भी नरकमें जाना पड़ता है। और भी देखिये, इस तरहसे वंशमें बढ़ी हुई प्रजा अधोगतिको जाती है, तब उस वंशके पितरोंको भी स्वर्गसे नीचे गिरना पड़ता है; क्योंकि जहाँ नित्य तथा नैमित्तिक कृत्योंका क्षय हो जाता है, वहाँ किसे किसीको तिलांजलि देनेकी परवा हो सकती है? फिर ऐसी दशामें पितरलोग क्या करें? स्वर्गमें कैसे ठहरें? इसलिये वे भी असहाय होकर अपने भ्रष्ट कुलवालोंके पास नरकमें पहुँच जाते हैं। जैसे साँप नखाग्रमें काटे तो भी उसका विष चोटीतक फैल जाता है, वैसे ही इस महापापके दोषसे ब्रह्मलोकतक पहुँचे हुए पितरोंसहित सारा कुल ही डूब जाता है। (२५२—२५६)

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

हे देव! आप जरा ध्यानपूर्वक सुनें। इसमें एक और भी महापातक होता है। वह यह है कि जब एक कुल पथभ्रष्ट हो जाता है, तब उसके संगदोषसे दूसरे लोग भी पतित हो जाते हैं। जैसे अपने घरमें अकस्मात् लगी हुई आग औरोंके भी घरोंको जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही उस कुलकी संगति जिनके साथ होती है, वे सब-के-सब उस कुलके कारण महापापी (दूषित) हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक पातकोंसे युक्त वह कुल केवल नरकगामी ही होता है, उसे नरककी यातना भोगनी पड़ती है।" अर्जुनने फिर कहा—"जब एक बार वह कुल नरकगामी हो जाता है, तब कल्पके अन्ततक भी वह वहाँसे मुक्त नहीं होता। कुलका घात करनेसे इसी प्रकार अन्तविहीन अधोगति होती है।

हे देव! आपने मेरी तरह-तरहकी बातें कानसे सुनीं; पर मैं देखता हूँ कि अभीतक आपपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। क्या आपने अपना हृदय वज्र-सा कठोर बना लिया है? आप फिर ध्यान दें। जिस शरीरके लिये सुख-सम्पत्तिकी कामना की जाती है, वह सब कुछ क्षणभंगुर है। तो आप ही बताएँ कि इस प्रकार होनेवाले महापातकका हम त्याग क्यों न करें? ये सब अपने पूर्वज एकत्रित हुए हैं, उनको मार डालो इस प्रकारकी बुद्धिसे उनकी तरफ देखा। क्या मुझसे कोई कम गलती हुई है? आप ही बताइये! (२५७—२६४)

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

अब तो मैं यही समझता हूँ कि इसके बाद भी जिन्दा रहनेसे ज्यादा श्रेयस्कर यही है कि मैं अपने शस्त्रको फेंक दूँ और इन्हीं लोगोंके प्रहारको प्रसन्नतापूर्वक सहन करूँ। यदि ऐसा करनेमें मेरे प्राण भी चले जायँ तो भी वह अच्छी बात है, पर यह घोर पाप करनेकी मेरी तनिक भी इच्छा

नहीं है।' इस प्रकार अर्जुनने स्वजनोंके वधकी कीमतपर प्राप्त राज्यसुखको नरकभोगके सिवा कुछ नहीं माना। (२६५—२६७)

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—'हे महाराज! उस समय रणभूमिमें अर्जुनने ये सब बातें भगवान्से कहीं। फिर आगे क्या हुआ? उसे भी सुनें। इसके बाद अर्जुनको बहुत दुःख हुआ और उसकी दशा असहनीय हो गयी। उसी दुःखके आवेशमें वह रथसे नीचे उतर पड़ा। जैसे कोई राजकुमार पदच्युतकी दशामें सर्वथा तेजहीन हो जाता है अथवा सूर्य राहुसे ग्रसित होनेके कारण निस्तेज हो जाता है किंवा महासिद्धिका लोभी तपस्वी भ्रमिष्ट हो जाता है और फिर कामनाके वशीभूत होकर वह दीन-हीन हो जाता है, वैसे ही रथसे उतरा हुआ वह अर्जुन दुःखके कारण अत्यन्त जर्जर-सा दिखायी देने लगा। तत्पश्चात् उसने धनुष बाणका परित्याग कर दिया। उसका धैर्य जाता रहा। उसकी आँखोंसे अजस्र जलधारा प्रवाहित होने लगी।' संजयने कहा—''हे महाराज, बस ऐसी उसकी अवस्था हो गयी, ऐसी घटना उस जगह घटी।'' अर्जुनको दुःखी देखकर वैकुण्ठके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णने उसे किस प्रकार परमार्थका ज्ञान कराया, श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव कहता है कि इसका विशद वर्णन अब आगे मिलेगा जो सुननेमें रोचक एवं कुतूहल उत्पन्न करनेवाला होगा। (२६८—२७५)

~~~0~~~
~~~

अध्याय दूसरा

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

इसके बाद संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—''हे महाराज! सुनिये, उस रणभूमिमें वह अर्जुन शोकाकुल होकर रोने लगा। अपने वंशजोंको युद्धभूमिमें देखकर अर्जुनके अन्तःकरणमें करुणाका भाव किस प्रकार आया? जिस प्रकार जलके संयोगसे लवण घुल जाता है अथवा हवाके झोंकेसे बादल फट जाते हैं,उसी प्रकार उस धीरचेताका अन्तःकरण भी दयार्द्र हो गया। जैसे राजहंस पक्षी कीचड़में फँसनेके बाद म्लान दीखता है, उसी प्रकार अर्जुन ममतासे व्याकुल होकर अत्यन्त कुम्हला गये ऐसा दीखने लगा। पाण्डुकुमार अर्जुनको ऐसे असाधारण मोहपाशमें जकड़ा हुआ देखकर शार्ङ्गधर श्रीकृष्णने उससे क्या कहा?'' (१—५)

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

''हे अर्जुन! तुम सबसे पहले यह सोचो कि क्या इस रणभूमिमें तुम्हारा इस तरहका व्यवहार करना ठीक है? जरा इस बातका भी विचार करो कि तुम कौन हो और क्या कर रहे हो? कहो, तुम्हें यह क्या हो गया है? आज तुम्हें किस बातकी कमी पड़ गयी है? अथवा आज तुम्हारा कौन-सा कार्य करना शेष रहा है? तुम्हारे शोकका क्या कारण है? यह खेद किसलिये कर रहे हो? तुम तो ऐसी छोटी मोटी बातोंकी

कभी परवाह ही नहीं करते! तुम तो कभी धीरजको खोनेवाले ही नहीं हो। तुम्हारा तो नाम सुनते ही अपयश देशांतरमें निकल जाता है। तुम शौर्यवृत्तिके एक मात्र आश्रय हो, क्षत्रियशिरोमणि हो। तुम्हारा शौर्य तीनों लोकोंमें व्याप्त है। तुमने युद्धमें भगवान् शिवको पराजित किया है और निवातकवचोंका तो अस्तित्व ही मिट्टीमें मिला दिया है। यहाँतक कि तुमने गन्धर्वोंको भी अपनी कीर्तिका गान करनेमें लगा दिया है अर्थात् गन्धर्वोंको पराजित किया। तुम्हारे उत्कृष्ट कार्योंके विस्तारकी भावनासे यह त्रिभुवन भी अत्यन्त तुच्छ जान पड़ता है। हे अर्जुन! तुम्हारा शौर्य ऐसा विशुद्ध और निष्कलंक है। पर तुम वही परम शूरवीर पुरुषार्थी हो जो कि आज युद्धभूमिमें वीरवृत्तिको त्यागकर तथा सिर झुकाकर इस प्रकार बच्चोंकी भाँति रुदन कर रहे हो। पर हे अर्जुन! अब तुम्हीं अपने मनमें सोचो कि क्या तुम्हें ऐसी करुणासे दीन हो जाना चाहिये? क्या कभी अन्धकारने सूर्यको ग्रसा है? अथवा वायु कभी मेघोंसे भय खाता है, अमृतको मृत्यु कभी दबोच सकती है और क्या काष्ठ कभी अग्निको निगल सकता है? अथवा लवण कभी जलको गला सकता है या कालकूट नामक विष किसी अन्य विषके स्पर्शसे मर सकता है, किसी मेढकने कभी किसी महासर्पको निगला है? क्या कभी ऐसी असाधारण बात भी हुई है कि सिंहके साथ सियार लड़ सकता है? इस तरह अघटित होनेवाली बात कहीं घटित होते हुए देखी है क्या? परन्तु आज तुमने वही बात यहाँ कर दिखलायी है। हे भाई अर्जुन! देखो, कहीं तुम्हारा मन इस दीन-हीन भावनाका शिकार न हो जाय, इसलिये अब भी तुम अपने चित्तमें धीरजको जगह दो और शीघ्रातिशीघ्र सावधान हो जाओ। यह मूढ़ता त्याग दो। धनुष-बाण लेकर उठो। तुम्हारे अन्त:करणमें जो दया इस समय उमड़ी हुई है, वह इस रणभूमिमें भला किस कामकी? अजी, तुम तो सब कुछ जानते ही हो। फिर तुम भलीभाँति सोच-विचार क्यों नहीं करते? अब तुम्हीं बतलाओ कि जब युद्धकी सारी तैयारियाँ हो चुकी हों, तब यह सदयता दिखाना

क्या उचित है? अबतक तुमने जो कुछ यशार्जन किया है, उसका इससे न केवल विनाश ही होगा, अपितु इससे परलोक भी जाता रहेगा।" इस प्रकार जगन्निवास श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा। (६—२०)

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्णने फिर कहा—"हे अर्जुन! तुम शोक मत करो, धीरज धारण करो और अपना यह क्लेश त्याग दो। इस प्रकारका शोक करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। अबतक तुमने जो यशार्जन किया है, इससे उसका विनाश हो जायगा। भाई अर्जुन! अब भी तो तुम अपने कल्याणकी बात सोचो। इस संग्रामके समय इस कृपालुतासे काम बननेवाला नहीं है। अब भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या ये सब लोग इसी समय तुम्हें अपने भाई-बन्धु मालूम होने लगे हैं? क्या तुम्हें इन स्वजनोंकी जानकारी इसके पहले नहीं थी? क्या तुम्हें अपने वंशजोंकी पहचान पहले नहीं थी? फिर आज यह व्यर्थकी उछल-कूद क्यों करने लगे? क्या आजका यह युद्ध तुम्हारे लिये कोई नयी चीज है? तुमलोगोंका परस्परका कलह तो आये दिन होता ही रहता है। मैं यह समझ नहीं पा रहा हूँ कि आज ही तुम्हें क्या हो गया है और तुम्हारे अन्तःकरणमें करुणाका आविर्भाव कैसे हुआ। पर हे अर्जुन! निःसन्देह तुमने यह अच्छा नहीं किया। तुम्हारे इस महामोहका यही फल होगा कि अबतककी उपार्जित सारी-की-सारी प्रतिष्ठा मिट्टीमें मिल जायगी। इतना ही नहीं, पारलौकिक हितसे भी हाथ धो बैठोगे। शूरवीरोंको तो युद्धभूमिमें अन्तःकरणकी दुर्बलताके साथ कोई लगाव ही नहीं रखना चाहिये। इस प्रकारका लगाव रखना तो युद्धमें क्षत्रियका पतन ही जानना चाहिये।" अर्थात् अन्तःकरणकी दुर्बलतासे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। वे परम दयालु श्रीकृष्ण इस प्रकार पाण्डुपुत्र अर्जुनको अनेक प्रकारसे समझाने-बुझाने लगे। अब आगे यह सुनिये कि भगवान्‌की इन बातोंको सुनकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने क्या कहा? (२१—२९)

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुनने कहा—"हे देव! सुनिये, इन सब बातोंका तो यहाँ कोई औचित्य ही नहीं है। सबसे पहले आप ही इस युद्धके स्वरूपको देखिये और फिर विचार कीजिये। यह केवल युद्ध ही नहीं है, अपितु प्रमाद है; बड़ा भारी अपराध है। जो मेरी दृष्टिमें प्रकट पाप है, यह कार्य करनेमें मुझे दोष दीख रहा है। यदि मैं युद्धमें प्रवृत्त होता हूँ तो मुझे इस पापका भागी होना पड़ेगा। निःसन्देह इसमें मुझे स्वजनोंकी हत्याके महादोषका भी सामना करना पड़ेगा। हे प्रभो, जरा आप ही विचार करें कि जब मुझे यह मालूम है कि माता-पिता आदरणीय हैं और उन्हें सम्यक् प्रकारसे सन्तुष्ट रखना चाहिये, तब भला उन्हींका वध मैं अपने हाथोंसे कैसे कर सकता हूँ? हे देव! सन्त-महापुरुषोंके समुदायको सदा नमन करना चाहिये और सम्भव हो तो उनकी पूजा भी करनी चाहिये। किन्तु यह सब कुछ छोड़-छाड़कर उलटे क्या हमें उनकी निन्दा ही करनी चाहिये? उसी प्रकारसे हमारे सम्बन्धी और कुलगुरु तो हमारे लिये सदा पूजनीय हैं। इन पितामह भीष्म और द्रोणाचार्यके तो मुझपर अनन्त उपकार हैं। देखिये, जिनसे हमारा मन स्वप्नमें भी वैर नहीं कर सकता, उन्हींकी यहाँ प्रत्यक्ष हत्या कैसे की जा सकती है? अब आगे जीवन धारण करनेमें नामकी शोभा नहीं है। न मालूम आज इन लोगोंको हो क्या गया है कि इन्हीं गुरुजनोंसे सीखी गयी शस्त्रविद्याका अभ्यास आज हमलोग इन्हींपर करना चाहते हैं। मेरी योग्यताका श्रेय तो केवल गुरु द्रोणाचार्यको ही जाता है। धनुर्विद्याका ज्ञान मुझे इन्हींसे मिला है। अब क्या उस उपकारका भार वहन करते हुए मैं इन्हींका वध करूँ? जिनकी कृपा-प्रसादका वरदान मुझे मिलना चाहिये, मैं उन्हींका अहित-चिन्तन करूँ? क्या मैं इस तरहका भस्मासुर हो गया हूँ? (३०—३८)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

अर्जुनने फिर कहा—"हे देव! समुद्रकी गम्भीरता तो बहुत सुनी जाती है, पर उसकी वह गम्भीरता भी देखनेमात्रकी ही होती है। पर इन गुरु द्रोणके मनकी गम्भीरता ऐसी विलक्षण है कि उसमें कभी हलचल होती ही नहीं। निःसन्देह यह आकाश अनन्त है; पर फिर भी इसको मापा जा सकता है, परन्तु इन आचार्य द्रोणके अगाध हृदयके मापका कोई सवाल ही नहीं उठता। किसी समय सुधाका स्वाद भी बिगड़ सकता है या कालके प्रभावसे वज्रके भी टुकड़े-टुकड़े हो सकते हैं; किन्तु द्रोणाचार्यकी मनोवृत्तिको कभी विकारयुक्त नहीं किया जा सकता है। प्रेमभावकी चर्चा करते समय उदाहरणस्वरूप माताका नाम मुख्यतः सामने आना ठीक ही है,पर द्रोणाचार्य तो साक्षात् मूर्तिमन्त प्रेम ही हैं। करुणाका प्रादुर्भाव इन्हींसे हुआ है। समस्त गुणोंके धाम भी यही हैं। इतना ही नहीं, ये विद्याके असीम सागर ही हैं।" अर्जुनने फिर कहा—"ये इतने बड़े हैं फिर भी हमलोगोंपर इनकी कृपा है। इस स्थितिमें हमलोग कभी इनके वधकी कल्पना कर सकते हैं क्या? यदि मेरे प्राण भी चले जायँ तो जायँ, पर यह मैं स्वप्नमें भी सोच नहीं सकता कि पहले तो मैं युद्धमें ऐसे लोगोंका वध करूँ और तब जा करके राज्यसुखका उपभोग करूँ। यह राज्यसुख ही क्या यदि इन्द्रपद भी मिल जाय तो भी मैं इनका वध नहीं करना चाहता। इससे तो यही अच्छा है कि यहाँ भीख माँगकर जीवनका निर्वाह कर लें। इतना ही नहीं, देश त्याग करके अन्यत्र चले जाना अथवा गिरि-कन्दराओंमें निवास करना भी श्रेयस्कर है, पर इनपर शस्त्र चलाना कदापि उचित नहीं है। हे देव! जिन बाणोंपर अभी नयी धार लगायी गयी है, उन बाणोंसे इन लोगोंके मर्मस्थानपर आघात करना और फिर उनके रक्तसे

सने हुए सुखभोगको प्राप्त करना, भला ऐसे सुखभोगको लेकर कोई क्या करेगा। रक्तसे सना हुआ वह भोग भला क्या सुख देगा! बस, यही कारण है कि यह विचार मुझे भाता ही नहीं। इसलिये आपकी ये बातें मुझे पसन्द नहीं हैं।"

अर्जुनने उस समय इन सब बातोंको बताकर श्रीकृष्णसे पूछा— "हे भगवन्! अब तो मेरी ये सब बातें आपकी समझमें आ गयीं न?" किन्तु अर्जुनके अन्तःकरणमें इस बातका भी भरोसा नहीं होता था कि श्रीकृष्णने मेरी ये सब बातें मनोयोगपूर्वक सुनी हैं। इस बातका विचार होते ही अर्जुन बहुत व्यग्र हुआ और उसने फिर पूछा—"हे प्रभो! इसका क्या कारण है कि आप मेरी बातोंपर गौर ही नहीं करते।" (३९—५१)

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

हे भगवन्! मेरे मनमें जो-जो बातें थीं, वे सब-की सब मैंने स्पष्टरूपसे आपसे कह दीं। अब यदि वास्तविक तत्त्व इससे कुछ पृथक् हो तो उसे आप ही जानें। यहाँ युद्धके निमित्त हमारे समक्ष वे ही लोग उपस्थित हैं जिनके विषयमें हमें यदि कहींसे भी यह भनक भी लग जाय कि इनके साथ हमारी शत्रुता है, तो हमें सचमुचमें तत्क्षण प्राण छोड़ देने चाहिये। ऐसी दशामें यह बात मेरी समझमें नहीं आती कि अब ऐसे लोगोंका वध करना उचित है? अथवा इनसे युद्ध न करना। (५२—५४)

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

बहुत कुछ सोच-विचार करनेपर भी मैं अभीतक यह जान नहीं पाया

हूँ कि मेरे लिये इनमेंसे कौन-सी बात हितकर है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मोहने मेरे चित्तको व्याकुल कर दिया है। जैसे अँधेरा छा जानेसे नेत्रोंका तेज चला जाता है और तब अत्यन्त निकटकी वस्तु भी नहीं सूझती; हे देव! ठीक वैसी ही दशा इस समय मेरी भी हुई है। सच्चाई यह है कि मेरा मन भ्रमित हो गया है और मेरा हित किसमें है यह मेरी समझमें नहीं आ रहा है। इसीलिये हे भगवन्! अब आप ही इन समस्त बातोंको पहले सोच-समझ लें, फिर मेरे लिये जो हितकर बात हो उसे बतावें; क्योंकि आप ही मेरे मित्र हैं और आप ही मेरे सर्वस्व हैं। मेरे गुरु, बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, पिता, इष्टदेव और घोर आपदासे उबारनेवाले आप ही हैं। क्या गुरु कभी अपने शिष्यका तिरस्कार करता है? क्या सागरने कभी सरिताका साथ छोड़ा है? माता यदि अपने बच्चेको छोड़कर कहीं चली जाय तो क्या वह बच्चा जीवित रह सकता है? हे श्रीकृष्ण! आप ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनें। हे देव! इन दृष्टान्तोंकी भाँति मेरे लिये केवल आप-ही-आप हैं। अतएव मैंने अभी-अभी जितनी बातें आपसे कही हैं, यदि वे बातें आपको न जँचती हों तो हे पुरुषोत्तम! आप शीघ्रातिशीघ्र मुझे वह तत्त्व बतलावें जो मेरे लिये हितकर हो तथा धर्मके अनुकूल हो।" (५५—६३)

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

"अपने वंशजोंको यहाँ देखकर मेरे मनमें जो शोक उत्पन्न हुआ है, उसे भला आपके उपदेशोंके अलावा दूसरा कौन दूर कर सकता है? अब चाहे मुझे पूरी पृथ्वीका राज्य ही क्यों न प्राप्त हो जाय अथवा इन्द्रपद ही क्यों न मिल जाय, पर फिर भी मेरे मनका मोह मिट नहीं सकता। जैसे भुने हुए बीज उर्वराभूमिमें भी बोये जायँ और उनकी

आवश्यकतानुसार सिंचाई भी की जाय तो भी वे अंकुरित नहीं हो सकते अथवा जैसे आयु समाप्त हो जानेके बाद फिर कोई दवा कारगर नहीं हो सकती और एकमात्र अमृतवल्ली ही अपना प्रभाव दिखला सकती है, वैसे ही राज्यभोगकी समृद्धि भी मेरी बुद्धिको फिरसे नया जीवन नहीं दे सकती। हे कृपानिधि! उसे पुनर्जीवित करनेके लिये केवल आपकी करुणाकी ही जरूरत है।'' पलभरके लिये भ्रान्तिके पाशसे मुक्त अर्जुनने एक बार ये सब बातें कह तो दीं, किन्तु फिर झटसे ही उस पहलेवाली लहरने आकर उसे दबोच लिया। परन्तु थोड़ा सोचने-समझनेपर तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल भ्रान्तिकी लहर ही नहीं थी,अपितु उससे भिन्न कुछ और ही चीज थी। वह प्रत्यक्ष महामोहरूपी कालसर्पके द्वारा ग्रस लिया गया था और उसका हृदयकमल जिस समय करुण रससे भरा हुआ था, उसी समय उसे कालसर्पने डँसा था, जिसके कारण इस विषकी लहरें रुकनेका नाम ही न लेती थीं। उसकी दशा देखकर वे श्रीकृष्णरूपी विषवैद्य, जो केवल देखनेमात्रसे ही इस विषका शमन कर सकते थे, अविलम्ब उसकी रक्षाके लिये दौड़े हुए आ पहुँचे। जो पाण्डुकुमार इस प्रकार व्यग्र हो गया था, उसके सन्निकट ही श्रीकृष्ण विराजमान थे और वे अपनी दया-वृत्तिसे; सहज भावसे ही उसकी रक्षा करेंगे। बस, इन्हीं सब बातोंको सोच विचारकर ही मैंने यह कहा है कि वह अर्जुन महामोहरूपी कालसर्पके द्वारा ग्रस लिया गया था। फिर उस समय वह अर्जुन वैसे ही भ्रमसे ग्रसा हुआ था, जैसे बादलोंसे सूर्य आच्छादित हो जाता है। किंवा अर्जुन दुःखसे वैसे ही जर्जर हो गया था, जैसे ग्रीष्मकालमें कोई पहाड़ आग लगनेसे एकदम झुलस जाता है। इसीलिये उसे शमन करनेकी भावनासे वे श्रीगोपालरूपी महामेघ, जो स्वभावतः श्याम हैं और कृपासुधासे ओत-प्रोत हैं, बड़े वेगसे उसकी तरफ आ पहुँचे। इस महामेघमें जो सुन्दर दन्तप्रभा थी, वही मानो उस महामेघकी चमकनेवाली बिजली थी और उनकी गम्भीर वाणी ही उस महामेघकी गर्जनाकी भाँति प्रतीत होती थी।

श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव कहता है कि अब उस करुणारूपी महामेघने किस तरह उदारभावसे अपनी करुणाकी वृष्टि की और उस वृष्टिसे अर्जुनरूपी दग्ध पहाड़ किस प्रकार शान्त हुआ और उसमें किस प्रकार फिरसे ज्ञानांकुरण हुआ, इसकी पावन कथा आप सबलोग ध्यानमग्न होकर सुनें। (६४—८०)

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

इसके उपरान्त संजयने महाराज धृतराष्ट्रसे कहा कि वह पार्थ फिर शोकसे व्याकुल होकर कहने लगा—"हे श्रीकृष्ण! आप कृपा करके मेरी बातें एक बार फिर सुनें। हे देव! आप मुझे बार-बार समझाने-बुझानेके चक्करमें न पड़ें; क्योंकि मैं बहुत ही सोच समझकर इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि किसी भी कीमतपर मुझे युद्धके झंझटमें नहीं पड़ना है।" इतनी बात झटसे कहकर उसने चुप्पी साध ली। उसकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्ण विस्मयमें पड़ गये। (८१—८३)

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

हृषीकेश श्रीकृष्ण मन ही मन कहने लगे "मतिभ्रम अर्जुनने इस समय न जाने कौन-सा झंझट लाकर खड़ा कर दिया है! इसे इस समय कुछ भी समझमें नहीं आता कि क्या करें और क्या न करें? अब इसे किस तरह समझायें? इसका छूटा हुआ जो धीरज है, पता नहीं वह फिर इसे कैसे धारण करेगा?" श्रीकृष्णने अपने मन ही मनमें ये बातें ठीक वैसे ही कहीं, जैसे कोई पंचाक्षरी मन्त्रवेत्ता भूत भगानेके लिये अपने मनमें कहता है अथवा जैसे रोगको लाइलाज समझकर किसी अति विकट समयपर कोई वैद्य तुरन्त अमृतकी भाँति किसी विलक्षण औषधिका संयोजन करता है, ठीक वैसे ही भगवान्ने दोनों दलोंके मध्यमें खड़े होकर अपने मनमें

यह सोचा कि अब मुझे क्या करना चाहिये और तब वे यह विचार करने लगे कि ऐसा कौन-सा उपाय किया जाय जिससे अर्जुनकी यह भ्रान्ति दूर हो। यही विचारकर उन्होंने कुछ क्रोधित होकर कहना शुरू किया। जैसे माताके कोपमें भी ममता छिपी रहती है या जैसे दवाकी कड़वाहटमें अमृत अदृश्य रहता है—क्योंकि वह अमृत प्रत्यक्षरूपसे तो नहीं दीखता, पर अन्तमें उसका अनुभव होता है - ठीक वैसे ही भगवान्‌ने भी कुछ इसी प्रकारकी बातें कहना शुरू किया जो प्रकटरूपसे तो कुछ अपमानजनक प्रतीत होती थीं, पर थीं वे अन्दरसे सुमधुर।" (८४—९०)

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

फिर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"आज जो तुमने असमय ही यह बखेड़ा खड़ा कर दिया है, उससे सचमुच मुझे विस्मय ही हो रहा है। वैसे तो तुम यह कहते हो कि मैं स्वयंको अच्छी तरहसे जानता हूँ, पर फिर भी तुम अज्ञानका दामन पकड़े हुए हो और जब मैं तुम्हें कुछ सिखाने समझानेकी चेष्टा करता हूँ, तब तुम नीतिकी डींगें हाँकने लगते हो। जिस प्रकार कोई जन्मान्ध हो और फिर तिसपरसे सनक भी सवार हो जाय तथा यहाँ-वहाँ बहकने लगे, बस, ठीक उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी मुझे यहाँ-वहाँ बहकती हुई जान पड़ती है। मुझे बार-बार यही विस्मय होता है कि तुम अपने-आपको तो कुछ जानते ही नहीं और स्वयं चले कौरवोंके लिये शोक करने। पर हे अर्जुन! सबसे पहले तुम मुझे यह समझाओ कि यदि यह तीनों लोक तुम्हारे ही कारण स्थिर हो तो लोग जो यह कहते हुए नहीं अघाते हैं कि इस संसारकी रचना अनादि है, वह क्या एकदम मिथ्या ही है? विश्वमें यह जो प्रसिद्धि है कि यहाँ कोई एक ही सर्वशक्तिमान् है तथा उसीसे जीवमात्रकी उत्पत्ति होती है तो क्या इन सब बातोंकी व्यर्थमें ही प्रसिद्धि है? क्या सचमुच आज ऐसी यह दशा हो गयी है कि इस

सृष्टिका जीवन-मरण अब तुम्हारे ही अधीन है? भइया अर्जुन! अब जरा सोचो। तुम भ्रममूलक अहंकारके अधीन हो गये हो और यही कारण है कि इन कौरवोंका वध करना तुम्हें रुचिकर नहीं लगता, किन्तु तुम मुझे सिर्फ एक प्रश्नका उत्तर साफ-साफ बतलाओ। यदि तुम इन कौरवोंका वध नहीं करोगे, तो क्या ये लोग दीर्घजीवी हो जायँगे? अथवा क्या तुमने सचमुच अपने मनमें यह भ्रम पाल लिया है कि एकमात्र तुम्हीं मारनेवाले हो, बाकी ये सब लोग मरनेवाले हैं? यह संसार तो अनादिकालसे चला आ रहा है। इसका उत्पन्न होना और नष्ट होना सृष्टिके नियमोंके ही अधीन है। फिर तुम मुझे यह बतलाओ कि तुम इसके लिये शोक क्यों करते हो? किन्तु अज्ञानतावश तुम्हारी समझमें कोई बात आती ही नहीं, तुम मनमें बेकार बातोंका चिन्तन करने लगते हो और उलटे मुझको ही नीतिके लम्बे-चौड़े पाठ पढ़ाते हो। देखो, जो लोग विवेकी होते हैं, वे स्वतः जान लेते हैं कि जीवन और मरण केवल भ्रान्ति ही है। इसीलिये वे उत्पत्ति और विनाश इन दोनोंमेंसे किसीके लिये भी शोक नहीं करते। (९१—१०२)

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

हे अर्जुन! मेरी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनो। यदि हम यह मान लें कि तुम, मैं और यहाँ जो राजागण आये हुए हैं, वे सब इस समय जिस स्थितिमें हैं, उनकी वही स्थिति ज्यों-की-त्यों सदा बनी रहेगी, या हम ये मान लें कि हम सब लोग एक-न-एक दिन निश्चय ही क्षयको प्राप्त हो जायँगे, तो ये दोनों ही मान्यताएँ भ्रमसे भरी हुई हैं; और यदि इस तरहके सोच ही त्याग दिये जायँ तो फिर जीना और मरना, ये दोनों ही बातें सरासर झूठी ही ठहरती हैं। यह जो मनमें बार-बार विचार आते हैं कि ये लोग जन्मते और मरते हैं, उसका एकमात्र कारण माया ही है; अन्यथा यथार्थ दृष्टिसे देखनेपर यही ज्ञात होता है कि जो मूल तत्त्व है, वह अविनाशी ही है। देखो, जब वायुके बहनेसे जल हिलकर तरंगित

हो उठता है, तब वहाँ यथार्थतः किसकी उत्पत्ति होती है; और जब वायुका स्फुरण शान्त हो जाता है तथा वह जल फिर शान्त और समतल हो जाता है, तब वहाँ किसका विनाश होता है? बस, अब तुम इन्हीं सब बातोंका विचार करो। (१०३—१०७)

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

भइया अर्जुन! मेरी एक बात और सुनो। शरीर तो सदा एक ही रहता है, पर अवस्थाभेदसे उसमें अनेक भेद होते हैं। अब तुम इस प्रत्यक्ष दृष्टान्तपर जरा गौर करो। सर्वप्रथम इस शरीरमें बाल्यावस्था दिखायी देती है। फिर जिस समय युवावस्था आती है, उस समय यह बाल्यावस्था चली जाती है। परन्तु न तो बाल्यावस्थाके क्षयके साथ ही शरीरका क्षय होता है और न युवावस्थाका विनाश होनेपर ही शरीरका विनाश होता है। ठीक इसी प्रकार चैतन्य वस्तुमें भी शरीरान्तर होता है। यही कारण है कि एक शरीरका क्षय होता है और दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है, और जो मनुष्य इस तत्त्वको भलीभाँति जान लेता है, न तो उसे मोह ही सताता है और न दुःख ही। (१०८—११०)

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

अब यदि तुम यह प्रश्न करो कि यह तत्त्व समझसे परे क्यों है, तो इसका कारण यह है कि मनुष्य इन्द्रियोंके वशीभूत होता है और जब अन्तःकरण इन्द्रियाधीन हो जाता है, तब मनुष्य भ्रमका शिकार हो जाता है। इन्द्रियाँ विषयरसका पान करती हैं और इसीसे सुख और दुःख आदि उत्पन्न होते हैं और तब अपने संसर्गसे अन्तःकरणको ग्रसित कर लेती हैं। यही कारण है कि ये विषय कभी एक तार नहीं रहते। वे कभी दुःखपूर्ण और कभी सुखपूर्ण प्रतीत होते हैं। अब तुम यह देखो कि निन्दा और स्तुति—इन दोनोंमें ही शब्द व्याप्त हैं। किन्तु जब श्रवणेन्द्रिय

इनको ग्रहण करती है, तब एकसे वैर (क्रोध) और दूसरेसे मेल-मिलाप (लोभ), इस तरह दो अलग-अलग विकार उत्पन्न होते हैं। मृदुता और कठोरता—ये दोनों गुण वास्तवमें स्पर्शविषयक ही हैं और जब ये त्वगिन्द्रियके सम्पर्कमें होते हैं तब ये सुख-दुःख उत्पन्न करनेके हेतु होते हैं। वैसे रूप चाहे भयानक हो और चाहे सुन्दर हो, पर होते हैं दोनों रूपके ही विषय। परन्तु जब नेत्रोंके द्वारा उनका अनुभव किया जाता है,तब दुःख अथवा सुखपूर्ण संवेदनाका अनुभव होता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध—ये दोनों वास्तवमें गन्धके ही विषय हैं। परन्तु घ्राणेन्द्रियसे सम्पर्क होनेपर ये सुख और दुःख उत्पन्न करनेका कारण होती हैं। इसी प्रकार जब रसनेन्द्रिय विषयरसका सेवन करती है, तब उसके दो भेद होते हैं जो रुचि और अरुचिके हेतु होते हैं, और विषयोंका सेवन करनेसे ही मूल स्वरूपसे च्युत होनेकी स्थिति आ खड़ी होती है।

हे अर्जुन! देखो, जब हम इन्द्रियोंके अधीन होते हैं तथा सर्दी और गर्मी आदिका अनुभव करते हैं, तब ऐसा लगता है मानो हम स्वयं ही सुख-दुःखके भँवरमें फँसे हैं। इन इन्द्रियोंका यह सहज स्वभाव ही है कि उन्हें इन विषयोंके सिवा और कोई चीज रुचती ही नहीं। यदि तुम यह प्रश्न करो कि ये विषय कैसे होते हैं तो इसका सही जवाब यह है कि ये विषय मृगतृष्णाकी भाँति या स्वप्नमें दृष्ट हाथीके सदृश अनित्य हैं। इसीलिये हे धनुर्धर! तुम इन विषयोंको अनित्य जानकर अपनेसे दूर भगाओ और भूलकर भी इनका साथ मत करो। (१११—१२२)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

जो इन विषयोंके अधीन नहीं होते उन्हें सुख-दुःख स्पर्श भी नहीं करते और न ही उन्हें गर्भवासकी यातना ही झेलनी पड़ती है। हे पार्थ ! जो मनुष्य इन्द्रियसुखोंके चक्करमें नहीं पड़ता, उसे सर्वथा नित्यरूप ही जानना चाहिये। (१२३-१२४)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

हे अर्जुन! अब तुम मेरी एक बात और सुनो जिसका अनुभव सिर्फ विचारवान् लोगोंको ही होता है। इस मायायुक्त संसारमें एक सर्वव्यापी गूढ़ तत्त्व है जो चैतन्य है; और सभी तत्त्वज्ञानी यही स्वीकार करते हैं कि वह चैतन्य सद्वस्तु है। एकहीमें मिले हुए दूध और पानीमेंसे जैसे राजहंस दूधको पानीसे अलग कर लेता है अथवा जैसे कुशल कारीगर सोनेको आगमें तपाकर उसका अशुद्ध अंश जला डालते हैं और उसमेंसे शुद्ध सोना अलग कर लेते हैं अथवा जैसे बड़ी चतुराईसे दहीको मथनेपर अन्ततः नवनीत दृष्टिगोचर होने लगता है या जैसे एकमें मिले हुए अनाज और भूसेको ओसानेसे अनाज तो बचा रहता है और उसका निकृष्ट अंश जो भूसा रहता है, वह उड़ जाता है; वैसे ही विचार करते-करते एक-न-एक दिन प्रपंचका सहजतः विनाश हो जाता है और तब ज्ञानियोंके लिये एकमात्र तत्त्व ही शेष रहता है। इसीलिये वह नाशवान् पदार्थोंके विषयमें कभी आस्तिक बुद्धि नहीं रखता; क्योंकि वह यह भलीभाँति जान चुका होता है कि जो कुछ शाश्वत अर्थात् 'नित्य' है वही 'सत्' है और जो कुछ नाशवान् अर्थात् 'अनित्य' है वही 'असत्' है। (१२५—१३२)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

हे पार्थ! फिर यह भी देखो कि जब मनुष्य 'सार' और 'असार' के विषयमें चिन्तन करने लगता है, तभी यह निर्णय हो पाता है कि जो कुछ स्थिर नहीं है वही 'असार' है और जो कुछ सार है वह स्वभावसे ही 'नित्य' होता है। जिससे इस त्रिभुवनके आकारका विस्तार हुआ है, उसका नाम, वर्ण, आकार अथवा इस प्रकारका और कोई एक लक्षण नहीं है। वह सर्वदा, सर्वव्यापी तथा जन्म-मृत्युसे परे रहता है।

यदि कोई उसका विनाश करना चाहे तो उसका विनाश कभी हो ही नहीं सकता। (१३३—१३५)

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

हे पाण्डुकुमार अर्जुन! अब तुम भलीभाँति समझ लो कि ये सब शरीर स्वाभाविकरूपसे नष्ट होनेवाले हैं, इसलिये तुम सब प्रकारसे शंकारहित होकर युद्ध करो। (१३६)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

तुम केवल इस देहका अभिमान करके और इस देहपर ही दृष्टि रखकर यह कहते हो कि मैं ही मारनेवाला हूँ और ये सब लोग मरनेवाले हैं। किन्तु हे पार्थ! अभीतक यह तथ्य तुम अच्छी तरहसे जान नहीं पाये हो कि यदि सत्य और असत्यके विषयमें सोचा जाय तो न तो तुम इन लोगोंको मारनेवाले ही हो और न ये लोग मारे जानेवाले ही हैं। (१३७-१३८)

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

स्वप्नमें दीखनेवाली चीज केवल स्वप्नमें ही सत्य जान पड़ती है। किन्तु जब कोई व्यक्ति स्वप्नसे जागकर देखता है, तब उसे स्वप्नदृष्ट किसी चीजका कोई अता-पता ही नहीं चलता। ठीक इसी प्रकार तुम इस मायाको भी जानो। तुम तो केवल भ्रमके शिकार हो गये हो। जैसे किसीकी परछाईपर प्रहार किया हुआ शस्त्र उसके मूल अंगपर चोट नहीं करता या जैसे जलसे

भरे हुए कुम्भके पलट जानेपर उसमें दीखनेवाली सूर्यकी प्रतिच्छाया तो नष्ट हो जाती है, किन्तु उस प्रतिच्छायाके साथ-साथ मूल सूर्यका विनाश नहीं होता या जैसे घड़ेके अन्दरका आकाश घड़ेके ही आकारका तो होता है, किन्तु उस घड़ेके नष्ट होनेकी दशामें भी आकाशका मूलस्वरूप ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। ठीक वैसे ही शरीरके क्षय हो जानेपर भी उसके मूलस्वरूपका कभी क्षय नहीं होता। अतः हे अर्जुन! तुम इस विनाशकी झूठी कल्पनाका आरोप मूलस्वरूपपर मत मढ़ो। (१३९—१४३)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

जिस प्रकार लोग अपने फटे-पुराने वस्त्र छोड़कर दूसरे नये वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरको स्वीकार करता है। (१४४)

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

यह आत्मा अनादि, नित्यसिद्ध, निरुपाधि और विशुद्ध है; इसीलिये शस्त्र आदिसे इसका छेदन नहीं किया जा सकता। प्रलयके जलसे भी यह भीग नहीं सकता और अग्निसे भी यह दग्ध नहीं किया जा सकता। वायुकी महा शोषकशक्ति भी इसपर अपना असर नहीं डाल पाती। हे अर्जुन! यह आत्मा शाश्वत, नित्य, निरन्तर, अचल और सर्वव्यापी है, इसलिये यह स्वयं ही परिपूर्ण रहता है। (१४५—१४७)

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

हे किरीटी! यह तर्कवेत्ताओंकी नजरमें तो आता ही नहीं, पर ध्यानावस्थित योगियोंको सदा इसीके दर्शनोंकी उत्कण्ठा लगी रहती है। यह मनको सदा दुर्लभ है। साधनोंकी पकड़के बाहर है। हे अर्जुन! यह आत्मा अपरम्पार है। पुरुषोत्तम है। यह तीनों गुणोंसे अलग तथा रूप आदिकी परिधिसे बाहर है। यह अनादि, निर्विकार तथा सर्वव्यापक है। हे अर्जुन! इस आत्माको इसी तरह जानना चाहिये तथा यह महसूस भी करना चाहिये कि यह सब जगह है और सबमें है। बस, फिर तुम्हारा सब शोक सहजमें ही दूर हो जायगा। (१४८—१५१)

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

यदि तुम इस आत्माको अविनाशी न मानकर इसे विनाशी ही मानते हो, तो भी हे अर्जुन! तुम्हारे लिये शोक करनेका कोई हेतु ही नजर नहीं आता; क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति और विनाशका प्रवाह अखण्डरूपसे सदा चलता रहता है। जिस प्रकार गंगाजलका स्रोत निरन्तर प्रवाहमान होता रहता है, अपने उद्गमस्थलमें वह अखण्डित रहता है तथा अन्तमें सागरमें समाकर समरस हो जाता है और इस प्रकार वह जल यद्यपि अनवरत प्रवाहित होता रहता है, किन्तु फिर भी जैसे बीच-बीचमें सर्वत्र उसका अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही यह जान लेना चाहिये कि उत्पत्ति, स्थिति और क्षय—ये तीनों स्थितियाँ सर्वदा परस्पर मिली-जुली रहती हैं। कालचक्रका कोई ऐसा भाग नहीं है जिसमें ये तीनों स्थितियाँ जीव-जगत्‌के साथ जुड़ी हुई न हों। इसीलिये इन सबके विषयमें तुम्हें शोक करनेका कोई हेतु ही नहीं है; क्योंकि यह स्थिति स्वभावसे ही ऐसी ही अनादि है अथवा हे अर्जुन! यदि यह बात तुम्हें उचित न लगती हो कि ये सब लोग सदा जन्मते और मरते रहते हैं, तो भी तुम्हारे लिये इस विषयमें शोक करनेका कोई हेतु ही नहीं है; क्योंकि यह जन्म और मृत्यु—दोनों अवश्यम्भावी हैं—इन्हें कभी कोई टाल नहीं सकता॥(१५२—१५८)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

जो जन्म लेता है, वह मरता भी है और जो मरता है, वह पुनः जन्म भी लेता है और यह जीवन-चक्र घटिका-यन्त्रके समान अनवरत चक्कर काटता ही रहता है अथवा जैसे सूर्यका निकलना और उसका डूबना सदा स्वतः निर्बाधरूपसे होता ही रहता है, ठीक वैसे ही यह जीवन और मरण भी अपरिहार्य है।

महाप्रलयके समय यह त्रिभुवन ही विनष्ट हो जाता है; किन्तु फिर भी उससे यह आदि तथा अन्त टल नहीं सकता। यदि यह बात तुम्हारे मनमें उचित जान पड़ती हो, तब फिर तुम यह खेद क्यों करते हो? हे धनुर्धर! तुम जान-बूझकर नादानी क्यों करते हो? इसके अलावा, हे पार्थ! यदि तुम इस बातपर भलीभाँति विचार करोगे तो तुम्हारी समझमें यह बात अच्छी तरहसे आ जायगी कि इसमें रंचमात्र भी दुःख करनेकी गुंजाइश ही नहीं है। (१५९—१६२)

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

ये सब प्राणी उत्पत्तिके पहले आकाररहित थे और उत्पत्तिके बाद जिन्होंने आकार स्वीकार किया, वे प्राणी जब क्षयको प्राप्त हों, तब इस विषयमें जरा-सा भी संशय नहीं होना चाहिये कि वे कोई अन्य या भिन्न चीज बन जायँगे। वस्तुतः होता यही है कि वे सब-के-सब प्राणी पुनः अपनी पूर्वस्थितिको ही प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु जन्म और मृत्युके बीचमें जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह निद्रित मनुष्यके स्वप्नके समान मायाके असरसे सत् स्वरूप आत्मतत्त्वमें प्रकाशित होनेवाला आकार ही है अथवा जैसे वायुके बहनेसे पानी लहरोंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है अथवा दूसरे मनुष्योंकी इच्छासे जैसे स्वर्ण अलंकारोंके रूपको प्राप्त करता है, ठीक वैसे ही शरीरधारी प्राणिमात्रने मायाकी शक्तिसे आकार धारण किया है।

यही बात तुम भलीभाँति जान लो। जैसे आकाशमें छाये हुए बादल यथार्थतः कुछ भी नहीं होते, वैसे ही जब ये जन्म और मृत्युके विवाद सचमुचमें हो ही नहीं सकते, तब फिर उनके लिये तुम्हारा यह रोना-धोना किसलिये? तुम यह पक्की बात जान लो कि यह एकरूप चैतन्य सदा अक्षय रहता है और सदा अविकृत अर्थात् ज्यों-का-त्यों बना रहता है। जब इस चैतन्य तत्त्वकी बात अन्तःकरणमें ठीक-ठीक बैठ जाती है, तब सारी-की-सारी वासनाएँ सन्तोंसे दूर भाग खड़ी होती हैं। इसी चैतन्यके लिये तो विरक्त लोग वनवासतक मंजूर करते हैं। इतना ही नहीं, इसीपर दृष्टि जमाकर एक-से-एक मुनीश्वर ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा तप करते रहते हैं। (१६४—१७१)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

बहुत-से लोग स्तब्ध अन्तःकरणसे इस केवल तत्त्वको देखते-देखते संसारका समस्त विस्तार ही भूल बैठे। बहुत-से लोग तो अपनी वाणीसे इस चैतन्य-तत्त्वका गुणानुवाद करते-करते न केवल विरक्त हो गये, अपितु उन्होंने अखण्ड एवं शाश्वत तल्लीनता भी प्राप्त कर ली। बहुत-से लोगोंका निराकरण तो इस चैतन्य तत्त्वके विषयमें केवल सुननेमात्रसे ही हो गया और उनका देहाभिमान भी जाता रहा। बहुत-से लोग तो निजानुभवसे इस चैतन्य-तत्त्वको समझकर इसके साथ समरस हो गये। जैसे सारी नदियोंका प्रवाह जाकर समुद्रमें मिलता है और वह समुद्रमें मिलकर भी यदि उसमें समा नहीं पाता, तो भी वह प्रवाह फिरसे मुड़कर कभी पीछे नहीं आता, ठीक वैसे ही योगीश्वरोंकी बुद्धि चैतन्यमें मिलते ही उसके साथ समरस हो जाती है। किन्तु उस चैतन्यका प्रत्यक्षीकरण होनेपर भी यदि वे उसमें समरस नहीं होते तो भी वे इस तत्त्वसे कभी विमुख नहीं होते अर्थात् देहतादात्म्यपर नहीं आते। (१७२—१७६)

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

तुम यह बात अच्छी तरहसे जान लो कि जो सर्वत्र और सब शरीरोंमें व्याप्त है और चित्तमें जिसके वधके विषयमें सोचनेपर भी जिसका वध नहीं हो सकता, वह एकरूप चैतन्य ही विश्वकी आत्मा है। इसीके स्वाभाविक धर्मसे ये प्राणिमात्र जन्म लेते हैं और फिर मरते हैं। तो फिर ऐसी दशामें तुम किस चीजके लिये शोक करते हो? हे पार्थ! ये सब बातें तो बिना बताये ही तुम्हारी समझमें अच्छी तरहसे आ जानी चाहिये; पर पता नहीं क्यों ये सब बातें तुम्हारी समझमें नहीं आ पा रही हैं। किन्तु हे भाई अर्जुन! तुम्हारा यह शोक करना मुझे तो सब प्रकारसे दोषयुक्त ही जान पड़ता है। (१७७—१७९)

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

तुम अब भी विचार क्यों नहीं करते? तुम क्या सोच रहे हो? जिस स्वधर्मसे तुम्हारा उद्धार होनेवाला है, तुम उसी स्वधर्मको भुला बैठे। यदि यहाँ इन कौरवोंका नाश हो जाय या तुम्हींको कुछ हो जाय या इस युगका अन्त ही क्यों न हो जाय, किन्तु फिर भी हमारा जो स्वधर्म है, उसको छोड़ना किसी भी कीमतपर समीचीन नहीं है। यदि तुम स्वधर्मको छोड़ दोगे तो क्या तुम्हारी इस अवसरकी कृपालुता तुम्हारा उद्धार कर देगी? इसलिये यह स्वधर्म सर्वथा त्यागनेयोग्य नहीं है। हे अर्जुन! यदि तुम्हारा चित्त इस समय करुणासे ओत-प्रोत हो गया हो तो ऐसा होना ही इस युद्धके समय सर्वथा अनुचित है। गोदुग्ध बहुत रुचिकर होता है; किन्तु फिर भी यह नहीं कहा गया है कि ज्वरसे पीड़ित किसी व्यक्तिको दूधका पथ्य दो। कारण कि यदि वह विषमज्वरसे ग्रस्त किसी मरीजको दिया जाय तो वह दूध विषतुल्य ही हो जाता है। इसी प्रकार प्रसंगेतर मनमाना कर्म करनेसे स्वहितका ही नाश होता है। इसलिये

हे पार्थ! अब तुम सावधान हो जाओ। तुम व्यर्थ क्यों व्याकुल होते हो? जिस स्वधर्मके अनुसार व्यवहार करनेपर तीनों कालोंमें भी कोई दोष नहीं लगता, तुम उसी स्वधर्मकी ओर देखो। जैसे प्रशस्त मार्गपर चलनेसे कभी कोई हानि नहीं होती या जैसे दीपकके सहारे चलनेमें कभी कहीं डगमगाकर गिरना नहीं पड़ता, वैसे ही हे पार्थ! स्वधर्मका आचरण करनेसे सहज ही सब कामनाओंकी पूर्ति होती है। इसलिये तुम्हें यह बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि तुम-जैसे क्षत्रियोंके लिये तो युद्धके सिवाय और कुछ करना कभी उचित नहीं है। तुम सब प्रकारसे शंकारहित होकर खूब डँटकर युद्ध करो! अब लम्बी-चौड़ी बातें बहुत हो चुकीं; जो बात एकदम प्रत्यक्ष हो, उसका व्यर्थ विस्तार क्यों किया जाय? (१८०—१९०)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

हे अर्जुन! तुम यह जान लो कि इस समय जो युद्ध तुम्हारे समक्ष उपस्थित है, उससे मानो तुम्हें सुख-सौभाग्यका खजाना ही मिल गया है अथवा सकल धर्मका निधान ही प्रकट हुआ है। अजी, इसे तो 'संग्राम' कहना ही उचित नहीं है। संग्रामके रूपमें तो तुम्हारे लिये यह साक्षात् स्वर्ग ही प्रकट हुआ है अथवा यह तुम्हारा मूर्तिमान् प्रताप ही उदित हुआ है अथवा तुम्हारे गुणोंपर लुब्ध होकर कीर्ति उत्कट इच्छासे तुम्हें वरण करनेके लिये आयी है। क्षत्रियोंके विपुल पुण्यार्जनके बाद ही कहीं जाकर उन्हें इस तरहके युद्धका सुअवसर प्राप्त होता है। जैसे मार्गमें चलते समय कोई लड़खड़ाकर चिन्तामणिपर गिर पड़ता है अथवा जँभाई लेते समय मुँह खोलते ही उसमें अकस्मात् अमृत आ पड़े, ठीक वैसे ही आज तुम्हें यह युद्धका अवसर अपने-आप प्राप्त हुआ है, ऐसा समझ। (१९१—१९५)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अब ऐसे युद्धको त्याग देना तथा बेकारकी बातोंके लिये रोना-धोना मानो स्वयं ही अपनी हत्या करना है। यदि आज इस रणमें तुम हथियार डाल दोगे तो तुम अपने पूर्वजोंके द्वारा अर्जित किये हुए यशको खो बैठोगे। इतना ही नहीं, तुम्हारे पक्षमें आयी हुई कीर्ति भी सदा-सदाके लिये नष्ट हो जायगी। सारा संसार तुम्हें बुरा-भला कहेगा और अभिशाप देगा; महापातक तुम्हें निगल जायँगे। जिस प्रकार पतिविहीन स्त्री हर तरहसे तिरस्कृत होती है, ठीक उसी प्रकार स्वधर्मका आचरण न करनेपर जीते-जी तुम्हारी भी वही दशा हो जायगी। जैसे रणमें पड़े हुए शवको चारों तरफसे गीदड़ आकर नोच-नोचकर खाने लगते हैं, वैसे ही स्वधर्मका आचरण न करनेवाले मनुष्यको चारों तरफसे महापातक आकर न केवल घेर लेते हैं, अपितु उसे नोच डालते हैं। (१९६—२००)

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

यही कारण है कि मैं तुझे बार-बार समझाता हूँ कि यदि तुम स्वधर्मका त्याग कर दोगे तो पापोंमें उलझ जाओगे और तुम्हारा अपयश कल्पके अन्ततक भी तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगा। ज्ञानिजनोंको तभीतक जीवन धारण करना चाहिये, जबतक उन्हें अपकीर्तिका लांछन न लगे। और फिर भला यह तो बतलाओ कि तुम यहाँसे खिसक ही कैसे सकते हो? तुम तो सब प्रकारकी शत्रुता त्यागकर और अत्यन्त दयालु चित्तसे यहाँसे खिसककर पीछे हट जाओगे, किन्तु तुम्हारे चित्तकी वृत्तिका पता इन सब लोगोंको कैसे लगेगा? ये लोग सब तरहसे तुम्हारी घेराबन्दी कर लेंगे, तुमपर बाण-पर-बाण छोड़ने लगेंगे और फिर उस दशामें तुम्हारी यह दयावृत्ति किसी तरह तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगी। इसपर भी यदि तुम भाँति-भाँतिके संकट सहकर किसी तरह यहाँसे निकल भागोगे तो फिर उसके बाद तुम्हारा जीवन धारण करना भी मर जानेसे कहीं ज्यादा बुरा होगा। (२०१—२०५)

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

इसके अलावा हे अर्जुन! एक बात और है जिसपर तुमने विचार ही नहीं किया। तुम तो यहाँ बड़ी तैयारीसे युद्धके लिये आये हो। अब यदि तुम दयावृत्तिकी दुहाई देकर यहाँसे पीछे हट जाओगे, तो फिर तुम्हीं बतलाओ कि क्या तुम्हारी इस दयावृत्तिका असर तुम्हारे इन दुरात्मा वैरियोंके मनपर भी पड़ेगा? (२०६-२०७)

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

ये सब-के-सब तो यही कहेंगे कि अर्जुन हम लोगोंसे भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ। अब तुम्हीं बतलाओ कि लोगोंका ऐसी बातें करना क्या कुछ अच्छा होगा? यदि तुम इसका उत्तर 'हाँ' में देकर यह कहो कि यह भी अच्छी ही बात होगी, तो फिर हे धनुर्धर! वे सब लोग जो कष्ट सह करके और अवसर पड़नेपर अपने प्राणकी आहुति देकर अपनी कीर्तिमें वृद्धि करते हैं, वह ऐसा क्यों करते हैं? वही कीर्ति तुम्हें अनायास ही प्राप्त हुई है। जैसे यह आकाश अपने विस्तृत स्वरूपके कारण अनुपम है, वैसे ही तुम्हारी कीर्ति भी अपार और अनुपम है। तुम्हारे गुण त्रिभुवनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। दूसरे-दूसरे देशोंके राजे-महाराजे भी तुम्हारी कीर्तिका गान चारणों (भाटों)-की तरह करते हैं और वह कीर्तिगान सुनकर यम आदि भी भयभीत हो जाते हैं। देखो, तुम्हारी महिमा गंगा-प्रवाहकी भाँति निर्मल और पूर्ण है। किंबहुना तुम्हारी महिमाने ही सारे विश्वके शूरवीरोंको न केवल क्षात्रधर्मका पाठ पढ़ाया, अपितु उन्हें जानकार भी बना दिया है। तुम्हारा अतुलित शौर्य सुनकर विपक्षके सब-के-सब योद्धालोग अपने जीवनकी आशा खो चुके हैं। जैसे सिंहकी दहाड़ सुनकर मतवाले हाथीको यह ज्ञात होने लगता है कि यह प्रलयकालका गर्जन है, ठीक वैसे ही इन सब कौरवोंपर तुम्हारा दबदबा

बना हुआ है। हे भाई अर्जुन! जैसे वज्रको पर्वत अथवा गरुड़को सर्प अपना काल मानते हैं, ठीक वैसे ही ये कौरव भी तुम्हें सदा अपना काल ही मानते हैं, किन्तु यदि आज तुम युद्धसे भाग खड़े होगे, तो तुम्हारी सारी-की-सारी जमी-जमायी धाक जाती रहेगी और ऊपरसे मानहानि भी होगी। बस इतना ही नहीं, जब तुम पीछे हटने लगोगे, तब ये कौरव तुम्हें पीछे हटने भी नहीं देंगे और तुम्हें रोककर तुम्हारा तिरस्कार भी करने लगेंगे। तुम्हारे मुँहपर ही तुम्हारी व्यर्थकी निन्दा करेंगे। तब उस समय तुम्हारा हृदय ही विदीर्ण हो जायगा। फिर इसी समय तुम पूरी सामर्थ्यके साथ क्यों न लड़ो? यदि इन कौरवोंपर तुमने विजय हासिल कर ली, तो फिर तुम सुखपूर्वक सारी पृथ्वीका राज्य भोगना। (२०८—२१९)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

यदि तुम युद्ध करते-करते अपने प्राण भी गँवा दोगे तो सहजमें ही तुम्हें स्वर्गका सुख प्राप्त हो जायगा। इसीलिये हे किरीटी! अब तुम तरह तरहकी बातोंका विचार त्याग दो और धनुष उठाकर अति शीघ्र युद्धका श्रीगणेश कर दो। देखो, स्वधर्मका पालन करनेसे पूर्वकृत पाप भी विनष्ट हो जाते हैं। फिर भला यह भ्रमसे भरी हुई उद्भावना तुम्हारे चित्तमें आयी ही कैसे कि इस कृत्यमें पाप भी है और दोष भी है। भइया अर्जुन! अब जरा तुम्हीं बतलाओ कि क्या नौकाका सहारा लेनेसे भी कोई आदमी कभी डूबता है? अथवा क्या प्रशस्त मार्गपर चलनेसे मनुष्य कभी ठोकर खाता है? किन्तु जो भलीभाँति चलना नहीं जानता हो, तो वह प्रशस्त मार्गपर चलकर भी लड़खड़ायेगा। जैसे विष मिला हुआ अमृत पीनेसे भी मनुष्य मर ही जाता है, वैसे ही यदि कामनायुक्त बुद्धिसे स्वधर्मका पालन किया जाय तो वह भी दोषका ही कारण होता है। इसलिये हे पार्थ! तुम सब प्रकारकी कामनाओंको त्यागकर यदि क्षत्रिय धर्मका पालन करोगे तो उसमें कुछ भी दोष या पाप न होगा। (२२०—२२५)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

सुखमें मनुष्यको अत्यधिक हर्षित नहीं होना चाहिये और दुःखमें कभी क्षुब्ध नहीं होना चाहिये और स्वधर्मका पालन करते समय लाभ-हानिकी बातें मनमें आने ही नहीं देनी चाहिये। इस बातकी परवाह ही क्यों की जाय कि इस युद्धमें हमें विजयश्री मिलेगी अथवा हमारे शरीरका विनाश हो जायगा? जो उचित स्वधर्म है हम उसका पालन करते हैं और इसमें जो कुछ भी घटित होगा उसे हम शान्तिपूर्वक सहन कर लेंगे। जब इस तरहकी भावनासे मन ओत-प्रोत हो जायगा, तब निसर्गतः मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त ही नहीं होगा। बस, अब सिर्फ मुझे यही कहना अभीष्ट है कि तुम सब प्रकारके सन्देहको त्याग दो और युद्धके लिये तत्पर हो जाओ। (२२६—२२९)

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

अबतक मैंने सांख्ययोग तुम्हें संक्षेपमें बतलाया है। अब निष्काम-कर्मयोग निश्चितरूपसे बतलाता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो। हे अर्जुन! निष्कामकर्मयोगमें जो बुद्धि बतलायी है वह जिसे प्राप्त हुई उसे कर्म-बन्धन बाँध नहीं सकते। (२३०-२३१)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

जैसे वज्रकवच धारण कर लेनेपर शस्त्रोंकी वर्षा चाहे कितनी ही झेलनी पड़े, किन्तु फिर भी विजय अबाधित ही रहती है, ठीक वैसे ही इस बुद्धियोगकी साधना हो जानेपर सांसारिक सुखोंका तो कभी क्षय होता ही नहीं और इसके साथ-ही-साथ मोक्ष भी अपने ही हाथ लगता है। इस बुद्धियोगमें पूर्ववर्णित सांख्ययोगका भी समावेश होता है; क्योंकि इस बुद्धियोगका भी तत्त्व यह है कि कर्म-फलासक्तिसे रहित होकर ही कर्मको

निरन्तर अबाधगतिसे करते रहना चाहिये। जैसे मन्त्रवेत्ताको भूतबाधा नहीं सताती, वैसे ही बुद्धियोगकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्यको किसी प्रकारकी उपाधि बाधा नहीं पहुँचा सकती। जिस बुद्धियोगमें पाप और पुण्यका संचार नहीं है, जो अत्यन्त सूक्ष्म और निश्चल है और जो तीनों (सत्त्व,रज,तम) गुणोंसे दूषित नहीं होता, यदि पूर्व जन्मार्जित पुण्यफलसे मनुष्यके चित्तको उस बुद्धियोगका आलोक (प्रकाश) मिल जाय, तो हे अर्जुन! उसके संसारभयका मूलोच्छेद हो जाता है। (२३२—२३७)

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

जैसे दीपककी लौ छोटी-सी होनेपर भी बहुत तेज प्रकाश बिखेरती है, वैसे ही सद्बुद्धि यदि अत्यल्प भी हो तो भी उसे छोटी या अल्प नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसका प्रभाव बहुत बड़ा होता है। हे पार्थ! विचारवान् मनुष्य तो सब प्रकारसे इसकी साधनाका यत्न करते हैं; क्योंकि यह सद्वासना (बुद्धि) इस चराचर जगत्में अत्यन्त ही दुर्लभ है। जैसे अन्य पत्थरोंकी भाँति पारस अधिक मात्रामें नहीं प्राप्त होता अथवा अमृत-बिन्दु कभी दैवयोगसे ही प्राप्त होता है, वैसे ही यह सद्बुद्धि भी, जिसकी समाप्ति परमात्मप्राप्तिमें होती है, अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे गंगाका रुख सदा समुद्रकी ही ओर होता है, अर्थात् गंगाजीको जैसे समुद्रके बिना अन्य गति नहीं है वैसे ही इस संसारमें यह सद्बुद्धि ही ऐसी चीज है, जिसे ईश्वरके सिवा कुछ चाहिये ही नहीं। इस सद्बुद्धिके अलावा और जो दूसरी बुद्धियाँ हों, उन्हें दुर्बुद्धिके सिवा कुछ भी नहीं जानना चाहिये; उनसे विकार उत्पन्न होते हैं और विवेकहीन व्यक्ति उन्हीं बुद्धियोंमें नित्य रमण करते रहते हैं। इसीलिये हे भइया अर्जुन! उन विवेकहीन लोगोंको स्वर्ग, संसार अथवा नरककी ही प्राप्ति होती है और उन्हें आत्मसुख तो दूर-दूरतक दिखायी ही नहीं देता। (२३८—२४४)

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥

वे लोग वेदको ही आधार बनाकर कुछ बोलते हैं और वेदका ही आधार लेकर कर्मकाण्डका भी प्रतिपादन करते हैं, किन्तु कर्मफलको ही ध्यानमें रखकर कहते हैं कि हमें संसारमें जन्म लेना चाहिये, यज्ञादिक कर्म करने चाहिये और तब जाकर मनोहर स्वर्गका सुख भोगना चाहिये। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सुख है ही नहीं। हे अर्जुन! ऐसी बातें विवेकहीन और दुर्बुद्धिजन ही कहा करते हैं। (२४५—२४७)

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

देखो, वे अविवेकी लोग कामनायुक्त होकर और अपने चित्तमें केवल भोगको ही रखकर सब कर्मोंका सम्पादन करते हैं। अनेक प्रकारके कर्मोंको करते समय वे लोग विधिका लोप नहीं होने देते और बड़ी निपुणताके साथ धर्मका अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं। (२४८-२४९)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

किन्तु वे एक ही बुराई करते हैं, वह यह कि वे अपने चित्तमें स्वर्गसुखको रखकर उस यज्ञपुरुष आदिनारायणको ही भूल जाते हैं जो यज्ञका भोक्ता है। जिस प्रकार पहले कपूरकी राशि एकत्रित करके फिर उसमें आग लगा दी जाय अथवा मिष्टान्न बनाकर उसमें कालकूट विष मिला दिया जाय अथवा दैवयोगसे प्राप्त किया हुआ अमृतकुम्भ पैरकी ठोकरसे लुढ़का दिया जाय, उसी प्रकार नासमझ कर्मकाण्डी फलकी अभिलाषामें हाथ लगे हुए धर्मका विनाश ही करते हैं। जब कष्ट झेलकर और श्रम करके पुण्यका सम्पादन किया जाय, तब फिर संसारकी ही याचना क्यों की जाय? किन्तु इन नासमझोंकी समझमें यह नहीं आता कि ऐसी किस वस्तुका सम्पादन किया जाय जो हमें अबतक अप्राप्त

है। जैसे भली प्रकारसे तैयार किये हुए भोजनको कुछ कीमत लेकर बेच दिया जाय, बस ठीक वैसे ही ये अविवेकी लोग सुखभोगरूपी मूल्यके लिये अपना धर्म बेच डालते हैं। इसलिये हे पार्थ! मैं कहता हूँ कि जो लोग वेदोंके अर्थवादमें ही सदा उलझे रहते हैं, उनके मनमें दुर्बुद्धि ही निवास करती है। (२५०—२५५)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

निःसन्देह ये वेद सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे व्याप्त हैं। इसीलिये समस्त उपनिषदोंको सात्त्विक जानना चाहिये। हे धनुर्धर! उनके अलावा स्वर्गसुखका प्रलोभन देनेवाले जो दूसरे यज्ञादि कर्म हैं, वे सब-के-सब रज और तमसे भरे हुए हैं, इसलिये तुम अच्छी तरहसे जान लो कि ये सब कर्म सुख-दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले होते हैं। अतः तुम अपने अन्तःकरणको इन सब कर्मोंके चक्करमें मत डालो। तुम इन तीनों गुणोंका त्याग कर दो; 'मैं-मेरे' के फेरमें मत पड़ो और शीघ्रातिशीघ्र अपने अन्तःकरणका सारा-का-सारा भार केवल आत्मसुखपर ही डाल दो। (२५६—२५९)

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

वेदोंने चाहे कितनी ही बातें क्यों न कही हों और विविध प्रकारके विधि-भेद क्यों न बतलाये हों, परन्तु उनमेंसे केवल वे ही बातें हमें स्वीकार करनी चाहिये जो हमारे लिये हितकर हों। जब सूर्यका उदय होता है, तब सभी रास्ते प्रकाशित हो उठते हैं। पर भला क्या हम उन सभी रास्तोंपर चलते हैं? यदि सारी-की-सारी पृथ्वी जलमग्न हो जाय, तो भी हमें उसमेंसे केवल आवश्यकतानुसार ही जल ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार ज्ञानिजन वेदार्थका चिन्तन तो करते-ही-करते हैं, पर वे उसका वही सारतत्त्व ग्रहण करते हैं, जो उनके लिये अत्यावश्यक एवं शाश्वत है। (२६०—२६३)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

इसलिये हे पार्थ! यदि इस सिद्धान्तके अनुरूप गम्भीरतापूर्वक सोचा जाय तो यह स्वकर्मका आचरण करना तुम्हारे लिये सर्वथा ठीक ही है। मैंने जब अपने मनमें खूब विचार-विमर्श किया, तब मुझे यही बात बिलकुल उचित जान पड़ी कि तुम अपना शास्त्र-सिद्ध कर्म मत त्यागो। पर ऐसा करते समय तुम कर्मके फलकी आशा मत रखो और उसके साथ बुरे कर्मकी संगति भी न होने दो। तुम कामनारहित होकर स्वधर्मक्रियाका अर्थात् सत्कर्मका आचरण करो। (२६४—२६६)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

तुम योगयुक्त होकर फलका संग छोड़ दो और फिर मन लगाकर स्वकर्मका आचरण करो। परन्तु जो काम तुम अपने हाथमें लो और वह यदि दैवयोगसे सिद्ध हो जाय तो भी खुशीके मारे फूल मत जाना अथवा यदि किसी कारणसे वह काम पूरा न हो पावे तो भी तुम दुःखसे क्षुब्ध (दुःखी) मत होओ। कर्म करनेपर यदि वह सिद्ध हो जाय तो जान लो कि अच्छा ही हुआ; किन्तु यदि वह काम खराब भी हो जाय तो भी यही जानो कि ठीक ही हुआ। जो-जो काम होते चलें, वह सब परमात्माको समर्पित करते चलो। बस, इतना करते ही सब के-सब काम सहजमें ही परिपूर्ण हो जायँगे।

हे अर्जुन! स्वकर्म चाहे सन्तोष देनेवाले हों और चाहे दुःख देनेवाले हों, किन्तु उनका आचरण करते समय चित्तवृत्तिको शान्त और सम रखनेको ही श्रेष्ठजन योगस्थिति कहते हैं और उसीकी प्रशंसा भी करते हैं। भइया अर्जुन! चित्तको हमेशा सम रखना ही योगका सार है तथा इसी समतामें मन और बुद्धिकी पूर्णरूपसे एकता निहित है। (२६७—२७२)

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

हे अर्जुन! चित्तका समत्व ही योगका सार है, जहाँ मन और बुद्धिका ऐक्य होता है। जब उस बुद्धियोगके विषयमें सोचा जाता है, तब यह दृष्टिगोचर होने लगता है कि वह कर्मकाण्ड उससे बहुत ही छोटे दर्जेका है; परंतु (प्रारम्भमें) वही सकामकर्म जब किये जाते हैं, तब निष्काम कर्मयोगकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि ऐसे करते-करते सकामसे कर्तृत्वमद और फलास्वाद छोड़नेके बाद शेष जो कर्म रहता है, वही सहजयोगकी स्थिति है। इसलिये बुद्धियोग ही मजबूत पाया (नींव) है। उसके ऊपर हे अर्जुन! तुम अपना मन स्थिर कर और फलकी आशाका त्याग कर। जो लोग इस बुद्धि-योगमें प्रवृत्त हो जाते हैं, वे ही इस संसारसे पार उतरते हैं और फिर न तो उन्हें पाप बाँध सकते हैं और न पुण्य ही। (२७३—२७७)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

ऐसे लोग यदि कर्म करते भी हैं तो भी वे कभी कर्मफलमें आसक्त नहीं होते और यही कारण है कि वे जन्म और मरणके चक्करमें भी नहीं पड़ते। इसके बाद हे धनुर्धर! बुद्धि-योगके सिद्ध होते ही वे लोग सारे-के-सारे दुःखोंसे रहित होकर यह परम अविनाशी ब्रह्मानन्दसे ओत-प्रोत पद प्राप्त कर लेते हैं। (२७८-२७९)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

जब तुम इस मोहका त्याग कर दोगे और जब तुम्हारे मनमें वैराग्यका आविर्भाव हो जायगा, तब तुम भी ऐसे ही हो जाओगे। फिर

तुम्हें विशुद्ध और गहन आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा और तुम्हारा मन स्वतः वासनाओंसे रहित हो जायगा। उस अवस्थामें ऐसी समस्त कल्पनाएँ शान्त हो जायँगी कि हम कुछ और भी जानें अथवा जो कुछ हम जान चुके हैं, वह भूल जायँ। (२८०—२८२)

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

इन्द्रियोंकी संगतिसे जिस मतिमें चंचलता होती है, आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर वह मति फिर स्थिर हो जाती है। इस प्रकार जब तुम्हारी बुद्धि समाधि-सुखसे निश्चल हो जायगी, तभी तुम्हें सही मायनेमें सम्पूर्ण योगकी स्थिति प्राप्त होगी। (२८३-२८४)

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

तब अर्जुनने कहा—"हे देव! अब मैं आपसे इन्हीं सबके विषयमें कुछ पूछना चाहता हूँ। आप कृपापूर्वक मुझे बतलावें।"

श्रीकृष्णने कहा—"हे किरीटी! तुम्हारे मनमें जो प्रश्न उचित जान पड़े, वह तुम प्रसन्नतापूर्वक पूछो।" श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर पार्थने पूछा—"हे श्रीकृष्ण! स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं? उसे कैसे पहचानना चाहिये? बस यही बात आप मुझे बतला दें। जिसे लोग स्थिरबुद्धि कहते हैं, जो समाधि सुखका निरंतर अनुभव लेता है, उसकी पहचान क्या है? हे देव! हे लक्ष्मीपति! जो अखण्ड समाधिका सुखोपभोग करता है, वह किस स्थितिमें रहता है? उसका बर्ताव किस तरह होता है? और उसका स्वरूप कैसा होता है? आप कृपा कर ये सब की सब बातें मुझे बतलावें।" इसपर परब्रह्मके अवतार तथा षड्गुणोंके अधिष्ठान श्रीनारायणने जो कुछ कहा, वह सब ध्यानपूर्वक सुनिये। (२८५—२९०)

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

भगवान्‌ने कहा—"हे अर्जुन! सुनो मनमें रहनेवाली वह प्रबल विषय-वासना ही है जो आत्मसुखमें विघ्न उत्पन्न करनेवाली होती है। जो व्यक्ति सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसका अन्तःकरण समाधानसे भरा रहता है ऐसे तृप्त जीवात्माका भी कामनाके संगसे पतन हो जाता है। जिसकी चाहतें एकदमसे समाप्त हो जाती हैं और जिसका मन सदा आत्मसुखमें ही निमग्न रहता है उसी पुरुषको स्थितप्रज्ञ जानो। (२९१—२९३)

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त होनेपर भी जिसके चित्तमें उद्वेग नहीं उत्पन्न होता और जो सुखके प्रलोभनमें नहीं पड़ता, हे अर्जुन! ऐसे मनुष्यमें काम और क्रोध निसर्गतः ही नहीं होते और उसका चित्त सदा आत्मसाक्षात्कारसे मिलनेवाले आनन्दसे ओत-प्रोत रहता है, इसलिये उसे भय कभी नहीं सताता। जो सदा ऐसी ही अवस्थामें रहे उसीको स्थिर बुद्धि समझो। इस प्रकारका विचारशील मनुष्य संसार-बन्धनोंको छोड़कर केवल भेदरहित रहता है। (२९४—२९६)

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

वह सर्वदा सबके साथ समान आचरण करता है। जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा अपना प्रकाश देते समय ऐसा भेद कभी नहीं करता कि यह उत्तम व्यक्ति है, इसे प्रकाश दो; यह अधम व्यक्ति है, इसे प्रकाश न दो; वैसे ही उसकी समवृत्ति भी सदा भेदरहित रहती है। वह प्राणिमात्रपर समानरूपसे सदय रहता है और किसी भी कालमें उसके चित्तमें अन्तर नहीं होता। कोई अच्छी चीज मिलनेपर भी जो मारे आनन्दके फूले नहीं समाता और

कोई बुरी बात होनेपर भी जो दु:खके चक्करमें नहीं पड़ता, जो हर्ष और शोकसे रहित और आत्मज्ञानके आनन्दसे परिपूर्ण रहता है, हे धनुर्धर! तुम उसीको स्थितप्रज्ञ जानो। (२९७—३००)

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

हे पार्थ! अब तुम जरा कछुएको ही देखो। वह जिस समय खुश रहता है, उस समय वह अपने समस्त अवयवोंको बाहर फैला देता है और फिर जिस समय चाहता है उस समय उन अवयवोंको अपने अन्दर समेट भी लेता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ जिसके अधीन रहती हैं और जिसकी आज्ञाके अनुपालनमें वे इन्द्रियाँ सदा तत्पर रहती हैं, ऐसी स्थितिमें यह जान लेना चाहिये कि उसी पुरुषकी प्रज्ञाने स्थिरता प्राप्त की है। (३०१-३०२)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

हे अर्जुन! एक और कुतूहलकी बात सुनो। वह यह कि यद्यपि इस योगकी साधना करनेवाले लोग विषयोंका त्याग तो बड़े ही निश्चयके साथ नियमपूर्वक करते हैं; फिर भी श्रवणादि इन्द्रियोंका संयमन हो जानेपर भी यदि रसनेन्द्रियका निग्रह न हो तो योगकी साधना करनेवाले उस साधकको ये विषय इस संसारमें हजारों तरहसे आ घेरते हैं। पर जरा तुम्हीं विचार करो कि यदि किसी वृक्षके पत्ते तोड़ लिये जायँ और डालियाँ ऊपरसे काट ली जायँ, किन्तु उसकी जड़में निरन्तर जल दिया जाय तो वह वृक्ष क्या कभी नष्ट हो सकता है? जैसे जलकी शक्तिसे वह वृक्ष और भी अधिक विस्तारसे फैलता जाता है, वैसे ही रसनाके द्वारा मनुष्यके मनमें विषयोंकी पुष्टि होती है। दूसरी इन्द्रियोंके विषयोंको त्यागें तो त्यागा जा सकता है, परन्तु उतनी दृढ़तासे रसनेन्द्रियका संयमन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके बिना मनुष्य कभी जीवन धारण नहीं कर सकता।

पर हे अर्जुन! जिस समय निज-अनुभवसे परब्रह्मका साक्षात्कार होता है, उस समय इस रसनेन्द्रियका नियमन अपने-आप ही हो जाता है। जिस समय मनुष्यको 'सोऽहं' भाव अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' का अनुभव होता है, उस समय शरीरके जितने धर्म हैं उन सबका लोप हो जाता है और इन्द्रियाँ भी विषयोंको एकदमसे भूल जाती हैं। (३०३—३०९)

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

अन्यथा इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे ये इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं होतीं। हे अर्जुन! जो लोग इन इन्द्रियोंका निग्रह करनेके लिये प्रयत्नशील हैं, जो लोग अपने चतुर्दिक् यम-नियमोंका घेरा लगाये रहते हैं और जो मनको सदा अपनी मुट्ठीमें कैद किये हुए रखते हैं, उन्हें भी ये इन्द्रियाँ हमेशा व्याकुल किये रहती हैं; इन इन्द्रियोंका पराक्रम इतना गहन है। जैसे यक्षिणी मन्त्रवेत्ताको भ्रमित कर देती है, वैसे ही ये विषय भी ऋद्धि-सिद्धिके वेषमें आते हैं और इन्द्रियोंको स्पर्श करके मनुष्यको पलभरमें भ्रमित कर देते हैं। उस समय मनुष्यका मनपरसे नियन्त्रण हट जाता है और वह अभ्यास त्यागकर तथा निश्चिन्त होकर बैठ जाता है। इन्द्रियोंकी शक्ति ऐसी विलक्षण होती है। (३१०—३१४)

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

इसलिये हे पार्थ! मैं कहता हूँ कि विषयोंका लोभ पूर्णतः त्यागकर जो मनुष्य इन्द्रियोंका सर्वथा दमन करता है, वही योगनिष्ठामें समर्थ होता है। विषय-सुख जिस मनुष्यके चित्तको भ्रमजालमें नहीं फँसा सकते, वही अनवरत आत्मबोधसे सज्जित होकर रहता है, मुझे अन्तःकरणसे कभी भुलाता नहीं और नहीं तो यदि बाहरसे देखनेमें विषयोंकी संगति भले ही कुछ न हो, पर अन्तःकरणमें विषयोंका सूक्ष्म अंश भी रह जाय तो सारा-का-सारा सांसारिक प्रपंच ही बचा हुआ जानना चाहिये। जैसे विषकी

एक बूँद भी पी ली जाय तो वह विष निरन्तर बढ़ता जाता है और तब अन्तमें वह बेधड़क होकर जीवनका नाश करता है, ठीक वैसे ही यदि मनमें इन विषयोंकी थोड़ी-बहुत आशंका भी शेष रह जाय तो वह सारे विवेकका नाश कर डालती है। (३१५—३२०)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

यदि मनमें विषयोंकी लेशमात्र भी स्मृति शेष रह जाय, तो वह असंग होनेपर भी विषयोंकी संगति करा ही देती है। इसी संगतिसे वासना प्रकट होती है। जहाँ अन्त:करणमें विषयोंके सम्बन्धमें कामवासना उत्पन्न हुई, वहाँ क्रोध पहले ही आ जाता है और जहाँ क्रोध आया, वहाँ उसके साथ अविचार रखा ही हुआ है। जब अविचार प्रकट हुआ, तब स्मृति ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाती है, जैसे प्रचण्ड वायुके वेगसे दीपककी लौ बुझ जाती है अथवा सूर्यास्त होनेपर रात्रि जैसे सूर्यके तेजको ग्रस लेती है; वैसी ही दशा प्राणियोंकी स्मृतिका नाश हो जानेपर होती है। फिर जब अज्ञानान्धकारके द्वारा सब कुछ घिर जाता है, तब बुद्धि भीतर-ही-भीतर व्याकुल हो जाती है। फिर हे धनुर्धर! जिस प्रकार जन्मान्धको कभी दौड़कर भागना पड़े तो वह दीन-हीन होकर इधर-उधर भटकता-फिरता है। उसी प्रकार बुद्धि भी भ्रममें पड़कर इधर-उधर भटकने लगती है। जब इस प्रकार स्मृति नष्ट होनेपर बुद्धिकी दशा एकदम विकट हो जाती है, तब विवेक-शक्तिका भी बिलकुल सफाया हो जाता है। चैतन्यके विनाशसे जो दशा शरीरकी होती है, वैसी ही दशा बुद्धिके नाशसे मनुष्यकी हो जाती है। इसलिये हे अर्जुन! बस थोड़ेमें इतना ही जान लो कि जैसे एक छोटी-सी चिनगारी ईंधन (लकड़ी)-में लग जाय तो उसकी आग फैलकर सारे त्रिलोकीको भस्म करनेके लिये पर्याप्त होती है,

ठीक वैसे ही यदि कभी मनमें विषयोंका ध्यान आ भी जाय तो उससे मनुष्यका पतन अवश्यम्भावी है। (३२१—३३०)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥

इसीलिये इन समस्त विषयोंको मनसे त्याग देना चाहिये। इससे राग और द्वेष स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इसके अलावा, हे पार्थ! एक बात और सुनो। राग-द्वेष नष्ट हो जानेके बाद यदि इन्द्रियाँ विषय-रसका सेवन करें तो भी कोई बाधा नहीं हो सकती। जैसे आकाशमें रहनेवाला सूर्य अपने किरणरूपी हाथोंसे जगत्का स्पर्श करता है, पर फिर भी उसके साथ जगत्के संसर्ग-दोषका सम्पर्क नहीं होता, वैसे ही जो पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंके लोभके फेरमें नहीं पड़ता और काम-क्रोधादिका परित्याग कर नित्य आत्मानन्दसे भरा-पूरा रहता है, उसे उपभोगके विषयोंमें भी आत्मताके सिवा और कुछ भी नहीं सूझता। फिर तुम्हीं बतलाओ कि ऐसी दशामें किसके लिये कौन-से विषय बाधक हों? भइया अर्जुन! यदि जलसे जलको डुबाया जा सकता हो अथवा आगसे आगको जलाया जा सकता हो, तभी ऐसे परिपूर्ण मनुष्यको विषय भी अपने पाशमें आबद्ध करके व्याकुल कर सकते हैं। इस प्रकार जो मनुष्य भेदरहित होकर केवल आत्मस्वरूपमें ही स्थित रहता है, निःसन्देह उसे स्थितप्रज्ञ जानना चाहिये। (३३१—३३७)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

जिस चित्तमें आनन्द निरन्तर डेरा डाले रहता है, उसमें संसार-सम्बन्धी दुःखोंकी घुसपैठ हो ही नहीं सकती। जैसे किसी व्यक्तिके जठरमें अमृतका स्रोत (झरना) होनेसे उसे भूख-प्यास नहीं सताती, ठीक उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण आनन्दसे ओत-प्रोत रहता है, फिर उसे भला दुःख कहाँ? उसकी बुद्धि तो स्वतः परमात्मामें ही लगी रहती है। जैसे वायुरहित जगहपर रखा हुआ दीपक कभी हिलता-डुलता नहीं तथा

निरन्तर जलता रहता है, वैसे ही योगसे युक्त व्यक्तिकी बुद्धि भी स्व-स्वरूपमें स्थिर रहती है। (३३८—३४१)

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

स्थिर बुद्धिकी यह शक्ति जिसके अन्तःकरणमें नहीं होती, उसीपर सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सहयोगसे विषयोंका जाल फैलता है। हे पार्थ! ऐसे लोगोंकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं रहती और न ही कभी उनके अन्तःकरणमें स्थिर बुद्धिकी परिकल्पना ही उदित होती है। हे अर्जुन! स्थिरताकी परिकल्पना भी यदि मनमें उदित न हो तो फिर भला शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? जैसे पापी मनुष्यके पास मोक्ष कभी फटकता ही नहीं, वैसे ही जहाँ शान्तिका उद्‌गम नहीं होता, वहाँ सुख कभी भूलकर भी नहीं जाता।

हे अर्जुन! देखो, जब आगपर भूने हुए बीजोंमेंसे अंकुर निकल सकते हों तभी यह समझो कि अशान्त मनुष्यको भी सुख प्राप्त हो सकता है, शांति प्राप्त हो सकती है। तात्पर्य यह कि मनकी अस्थिरता ही दुःखोंका मूल कारण है। इसलिये इन्द्रियोंको अपने अधीन रखना ही सबसे उत्तम है। (३४२—३४७)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

जो मनुष्य इन्द्रियोंके कथनानुसार ही सारा-का-सारा काम सम्पन्न करता हो, वह यदि इस विषयरूपी समुद्रमें तरता हुआ भी दृष्टिगोचर हो, तो भी सचमुचमें कभी भी उसका तारण नहीं होता। जैसे नदीके तटपर पहुँची हुई नाव भी यदि तूफानमें पड़ जाय तो पहले नदीके बीचोबीचमें रहनेकी दशामें उसपर जो प्राण हर लेनेवाला आया हुआ संकट टल गया था, वह संकट फिरसे आ टपकता है; ठीक वैसे ही यदि स्वरूपस्थितिमें पहुँचा हुआ व्यक्ति भी कुतूहलमें इन्द्रियोंका फिरसे बहुत अधिक लाड़-

प्यार करना शुरू कर दे तो जानना चाहिये कि अब भी वह सांसारिक दुःखोंसे घिरा हुआ ही है। (३४८—३५०)

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

इसलिये, हे धनंजय! यदि हमारी इन्द्रियाँ स्वतः हमारे अधीन हो जायँ तो इससे अधिक सार्थक बात और क्या हो सकती है। देखो, जैसे कछुआ अपनी ही इच्छानुसार अपने अवयवोंको फैलाता है और अपनी इच्छानुसार ही अपने अवयवोंको सिकोड़ भी लेता है, ठीक वैसे ही जिसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन होती हैं और उसीके आज्ञानुसार ही सब काम करती हैं, उसीको स्थितप्रज्ञ जानना चाहिये।

हे अर्जुन! अब मैं पूर्णताको प्राप्त मनुष्यका एक और गूढ़ लक्षण बतलाता हूँ। वह भी ध्यानपूर्वक सुनो। (३५१—३५४)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

जिस ब्रह्म-वस्तुके विषयमें प्राणिमात्र बेखटक होकर मानो सोये हुए रहते हैं, उस ब्रह्म-वस्तुके विषयमें जो अनवरत जागता रहता है और जिन विषयोंके लिये समस्त प्राणिमात्र जाग्रत् रहकर यत्नशील रहते हैं, उन विषयोंकी तरफसे जो अपनी आँखें पूरी तरहसे मूँद लेता है, वही यथार्थतः समस्त उपाधियोंसे मुक्त रहता है। हे अर्जुन! वही वास्तवमें स्थितप्रज्ञ होता है और वही पूर्णतया मुनीश्वर सिद्ध होता है। (३५५-३५६)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

हे पार्थ! ऐसे लोगोंकी पहचान करनेका एक और लक्षण है। समुद्रकी अक्षोभता (गम्भीरता) सदा अखण्डित ही रहती है। वर्षाकालमें यद्यपि सारी नदियोंका प्रवाह अपने तटोंतक लबालब भरकर समुद्रमें आ गिरता है, तो भी वह समुद्र लेशमात्र भी न बढ़ता है और न ही अपनी मर्यादा छोड़ता है अथवा जब ग्रीष्मकालमें समस्त नदियाँ सूख जाती हैं, तब भी समुद्रमें नाममात्रकी भी

कमी नहीं दीखती। इसी प्रकार यदि स्थितप्रज्ञको सारी ऋद्धि और सिद्धियाँ मिल जायँ तो भी उसकी बुद्धि क्षुब्ध (विचलित) नहीं होती अथवा यदि उसे वे ऋद्धि-सिद्धियाँ न भी मिलें तो भी उसे अधीरता नहीं होती। कहो, क्या सूर्यके घरमें कभी दीपककी बत्तीसे भी प्रकाश होता है? और यदि दीपक न जलाया जाय तो क्या सूर्यको अँधेरेमें ही रहना पड़ेगा? इस प्रकार ऋद्धि और सिद्धि आयें अथवा चली जायँ, पर स्थितप्रज्ञ उनके आने-जानेका स्मरणतक नहीं करता। उसका अन्तःकरण सदा परम सुखमें निमग्न रहता है। जो अपने घरकी सुन्दरताके आगे इन्द्रभवनको भी तुच्छ समझता है, वह भला किसी भीलकी पत्तोंसे बनी हुई झोंपड़ीको देखकर कैसे भूल सकता है? जो इतना पुनीत हो कि अमृतमें भी कोई कमी निकाल सकता हो, वह जिस प्रकार कांजीको (माड़) कभी स्वीकार नहीं करता, उसी प्रकार आत्मसुखका अनुभव करनेवाला पुरुष सांसारिक सुखोपभोगका कोई मूल्य नहीं समझता। हे पार्थ! जहाँ स्वर्ग-सुखकी तनिक भी परवाह न हो, वहाँ इन साधारण ऋद्धि सिद्धियोंको भला कौन पूछता है! (३५७—३६५)

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

जो इस प्रकारके आत्मज्ञानसे सन्तुष्ट हो गया हो और जो परमानन्दसे पुष्ट हो, उसीको तुम्हें सच्चा स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये। वह अहंकारके मदको दूर भगा देता है, समस्त कामनाओंका त्याग कर देता है। इतना ही नहीं, वह स्वयं ही विश्वरूप होकर विश्वमें परमानन्दसे विचरण करता रहता है। (३६६-३६७)

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इस निःसीम ब्राह्मी-स्थितिका अनुभव करनेवाले निष्काम मनुष्यको बिना कष्ट उठाये ही परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।" संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—"चैतन्यरूपके साथ एकीकृत होनेके समय अर्थात् मृत्युके समय होनेवाली चित्तकी व्याकुलता जिसके कारण स्थितप्रज्ञके लिये बाधक नहीं हो सकती, वही यह ब्राह्मी-स्थिति लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने अर्जुनको स्वयं बतलायी थी।" लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णके ये वचन सुनकर अर्जुनने मन-ही-मन कहा—"श्रीकृष्णकी ये बातें मेरे लिये हितकर ही साबित हुई हैं। कारण कि जब भगवान्‌ने समस्त कर्मोंका ही निषेध कर दिया है, तब तो मेरे युद्ध करनेकी बात ही कहाँ रह गयी।"

इस प्रकार श्रीकृष्णके वचनोंसे अर्जुनका अन्तःकरण अत्यन्त आह्लादित हुआ और अब वह अपनी शंकाओंको लेकर कुछ-न-कुछ प्रश्न श्रीकृष्णसे अवश्य करेगा। वह सुन्दर प्रसंग मानो सब धर्मोंका उत्पत्ति-स्थान है अथवा विवेकरूपी अमृतका अगाध समुद्र है। इस संवादका निरूपण स्वयं सर्वज्ञनाथ श्रीकृष्ण करेंगे, वह संवाद श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव बतलावेगा। (३६८—३७५)

अध्याय तीसरा

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥

अर्जुनने कहा—"हे देव! हे कमलापति!! अभीतक आपने जो कुछ कहा, वह सब-की-सब बातें मैंने बड़े ही मनोयोगपूर्वक सुनीं। हे श्रीअनन्त, यदि आपका निश्चित मत यही है कि अच्छी तरहसे सोच-विचार करने-पर कर्म और कर्ता रहते ही नहीं, तो फिर हे श्रीहरि! आप मुझसे यह कैसे कहते हैं कि पार्थ, तुम युद्ध करो? इस महाघोर कर्ममें मुझे ढकेलते हुए क्यों आपको कुछ संकोच नहीं होता? हे देव, जब आप ही समस्त कर्मोंका पूर्णतया निषेध करते हैं, तो फिर मुझसे लड़ाई-झगड़ेका यह हिंसक कर्म क्यों कराते हैं? हे हृषीकेश! जरा आप ही विचारकर देखिये, जब लेशमात्र भी कर्मको आप अच्छा नहीं मानते हैं, तो फिर आप जो मुझसे इतनी बड़ी हिंसा कराना चाहते हैं, वह क्यों? (१—५)

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

हे देव! जब आप ही इस प्रकारकी गोलमटोल बातें कहेंगे, तो फिर हमारे-जैसे नासमझ लोग क्या करेंगे? क्या अब विवेकका मटियामेट हो गया? यदि ऐसी बातोंको उपदेश कहा जाय तो क्या भ्रष्टता (भ्रम) इससे कोई पृथक् चीज होगी? आत्मबोधकी जो चाहत मुझमें थी, वह तो आज खूब पूरी हुई! यदि वैद्य पथ्य बतलाकर रोगीके औषधमें विष मिला दे तो

फिर वह रोगी कैसे जीवित रह सकता है ? मुझे बताइये। जैसे कोई अन्धेको टेढ़े-मेढ़े रास्तेपर ले जाकर लगा दे अथवा बन्दरको कोई मादक पदार्थ पिला दे; मैं तो समझता हूँ कि ठीक ऐसा ही आपका सदुपदेश मुझे प्राप्त हुआ है। एक तो मैं पहलेसे ही नासमझ था; दूसरे ऊपरसे यह मोहका फन्दा। इसलिये हे श्रीकृष्ण! इस विषयमें तो मैंने सिर्फ आपका सार-असार विचार क्या है ? यह पूछा था। पर आपका कुछ अजीब ही ढंग देखता हूँ। आपके उपदेशमें और यह गड़बड़ी! फिर उसके अनुसार आचरण करनेसे कौन-सा हित होगा ? मैंने सच्चे मनसे आपकी बातोंपर विश्वास किया था, परन्तु जब आप ही ऐसा करने लगे, तब तो हो चुका। आपने यदि ऐसा किया तो मेरी खूब भलाई की। ऐसी दशामें मैं ज्ञानकी आशा ही क्यों रखूँ ?'' अर्जुनने फिर कहा, ''ज्ञानकी तो यह अवस्था हो गयी; परन्तु साथ-ही-साथ एक और बुरी बात यह हो गयी कि पहले जो मेरा शान्त मन था, वह अब और भी क्षुब्ध हो गया।

हे श्रीकृष्ण! आपकी यह लीला मेरे समझमें नहीं आ रही है। यदि आप इसी बहाने मेरे मनको टटोलना चाहते हों, तो मुझे इस बातका जरा-सा भी भान नहीं होता है कि आप मुझे भुलावा दे रहे हैं अथवा इस गूढ़ प्रकारसे सचमुच मुझे कोई तत्त्वकी बात बतला रहे हैं। इसलिये हे देव! सुनिये। अब आप कृपापूर्वक अपनी इस गूढ़ भाषाको बन्द करें तथा स्पष्ट और सरल भाषामें अपने विचार मुझे बतलावें। मैं बहुत ही मतिमन्द हूँ, इसलिये आप ऐसी निश्चित बात कहें जो मुझ-जैसे कम समझवाले व्यक्तियोंके समझमें ठीक तरहसे आ जाय। जब कोई रोगीको नीरोग करनेकी बात सोच लेता है, तब उसे दवा तो देनी-ही-देनी पड़ती है। परन्तु जैसे उस दवाका मधुर एवं रुचिकर होना ज्यादा ठीक होता है, वैसे ही गूढ़ अर्थोंसे भरी हुई तत्त्वकी बातें तो आप बतलावें, किन्तु वे बातें ऐसी हों जो भलीभाँति मेरी समझमें आ सकें।

हे देव! आप आत्मबोध करानेवाले गुरु हों तो फिर मैं भी अपनी

इच्छाकी तृप्ति क्यों न कर लूँ? हे देव! जब आप ही हमारी प्रेम करनेवाली माँ हैं, तो फिर संकोच किस बातका? जब अनायास ही दुग्धवती कामधेनु हाथ लग जाय, तो फिर इच्छा करनेमें संकोच क्यों करें? कदाचित् अपने हाथमें चिन्तामणि लग जाय, तो मनोरथ पूर्ण होनेमें कौन-सी अड़चन आयेगी? फिर क्यों न अपने इच्छाके अनुसार माँगे? देखिये, यदि सुधा-सिन्धुपर पहुँचकर भी मारे प्यासके तड़फड़ाना ही पड़े तो फिर सुधा-सिन्धुतक जानेका परिश्रम ही क्यों किया जाय? वैसे ही हे लक्ष्मीपति! जन्म-जन्मान्तरसे उपासना-आराधना करनेके बाद जब आप संयोगसे इस समय मुझे मिल गये हैं, तो हे परमेश्वर! आपसे मैं मनचाही वस्तु क्यों न माँग लूँ? हे देव! आपकी प्राप्तिसे मेरे मनको अत्यन्त आह्लाद हुआ है। देखिये, आज मेरी सब इच्छाओंको नूतन जीवन मिला हुआ है, मेरे अनेक जन्मोंके पुण्य सफल हुए हैं और मेरे मनोरथोंको आज विजयश्री प्राप्त हुई है। इन सबका एक ही कारण है, सब मंगलोंका मयका (पीहर), सब देवोंके देव; ऐसी जो आपकी महिमा है, वही आप हमलोगोंके अधीन हैं।

जिस प्रकार माताका स्तनपान करनेके लिये बालकको कभी अवसरकी तलाश नहीं करनी पड़ती है और वह जब चाहता है तभी अपनी माताका स्तनपान कर सकता है, ठीक उसी प्रकार हे देव! हे कृपानिधि!! अब मैं आपसे अपनी इच्छानुसार प्रश्न पूछता हूँ। इसलिये आप मुझे निश्चयपूर्वक कोई ऐसी बात बतलावें जो इहलोकमें आचरणके लायक हो, योग्य हो और मरनेके बाद सद्‌गति देनेवाली हो।" (६—३१)

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

यह सुनकर श्रीअच्युतने विस्मित होकर कहा—"हे अर्जुन! मेरे कहनेका आशय यह है कि मैं तुम्हें बुद्धियोगका तत्त्व स्पष्टरूपसे बतला रहा था, परन्तु उस प्रसंगसे स्वभावतः सांख्यमत-निष्ठा कहनेमें आ गयी,

किन्तु उसमें जो हेतु था, वह तुम्हारी बुद्धिमें बिलकुल बैठा ही नहीं; इसलिये तुम्हें इतना निरर्थक कष्ट झेलना पड़ा; परन्तु अब तुम यह बात अच्छी तरहसे जान लो कि ये दोनों ही योग मैंने ही बतलाये हैं। हे वीरशिरोमणि! ये दोनों ही योग अनादिकालसे मुझसे ही प्रकट हुए हैं। इनमेंसे एकको ज्ञानयोग कहते हैं और सांख्यवादी लोग इस योगका सम्यक् अनुसरण करते हैं। यह ज्ञानयोग जब मनुष्यकी समझमें भलीभाँति आ जाता है, तब जीवात्मा उस परमात्माके साथ मिलकर एकीकृत होकर तन्मय होता है। दूसरेका नाम कर्मयोग है। कर्मयोगसिद्ध पुरुष उचित अवसर आनेपर निर्वाणगति प्राप्त करते हैं। वैसे तो ये दोनों मार्ग पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु परिणामकी दृष्टिसे अन्तमें ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, एक तो पका हुआ भोजन रहता है, एक कच्चा अन्न रहता है, पर दोनोंका अन्तिम लक्ष्य एकमात्र भूखकी निवृत्ति करना ही है अथवा जैसे पूर्व और पश्चिममें बहनेवाली दो नदियाँ पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु समुद्रमें मिलते ही वे दोनों एकरूप ही हो जाती हैं; ठीक वैसे ही ज्ञानयोग और कर्मयोग—ये दोनों योग एक ही साध्यका निर्देश करते हैं और केवल अधिकारीके विचारसे उनकी उपासनाका प्रकार पृथक्-पृथक् है। देखो, पक्षी तो उड़कर झटसे फलतक पहुँच जाता है; पर क्या मनुष्य भी पक्षीकी ही भाँति उड़कर फलके पास पहुँच सकता है? वह तो धीरे-धीरे एक डालसे दूसरे डालके सहारे आगे बढ़ता हुआ अपने दृढ़ निश्चयकी सामर्थ्यसे कुछ समयके बाद ही अभीष्ट फल प्राप्त करता है। बस, उसी पक्षीवाली पद्धतिसे सांख्य तो ज्ञानकी सामर्थ्यसे सद्यः मोक्ष प्राप्त कराता है, परन्तु कर्मयोगी वेदोंमें वर्णित ऐसे कर्मोंको करता है जो उसके स्वधर्मके लिये विहित होते हैं और तब उचित समय आनेपर वह पूर्णता अर्थात् मोक्षको प्राप्त करता है। (३२—४४)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

आरम्भमें जिन उचित और विहित कर्मोंको करना नितान्त आवश्यक होता है, यदि उन कर्मोंको बिना किये ही कोई यह दावा करे कि मैं सिद्धोंकी भाँति कर्मका त्याग कर दूँगा, तो उस कर्महीन मनुष्यके लिये वह निष्कर्मता कदापि प्राप्त नहीं हो सकेगी। हे अर्जुन! जो कर्तव्यकर्म प्राप्त हुए हैं, उन्हींका त्याग कर बैठ जाना और फिर यह समझ लेना कि इतनेसे ही निष्कर्मता सिद्ध हो जायगी यह बात मूर्खताकी है। देखो, वेगवती नदीको पार करना जहाँ संकटपूर्ण हो, वहाँ नावका त्याग कर देना क्या कोई समझदारीका काम होगा? अथवा यदि भूख मिटानेकी चाह हो तो उस समय भोजन क्यों न पकाया जाय? अथवा यदि भोजन पका लिया गया हो तो खाया क्यों न जाय? जबतक वासनाका नाश नहीं होता, तबतक कर्म पीछा नहीं छोड़ते। हाँ, जिस समय मनुष्य पूर्ण सन्तुष्ट (आत्मतृप्त) हो जाता है, उस समय सारे कर्म स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। इसलिये हे पार्थ! सुनो। जिसको नैष्कर्म्यकी इच्छा हो उसे उचित कर्म अर्थात् स्वधर्मके लिये विहित कर्मोंको छोड़ना उचित नहीं है। इसके अलावा एक बात और है कि यदि अपनी इच्छानुसार कर्म किये जायँ तो वे कर्म सिद्ध होजाते हैं और यदि उन्हें छोड़ दिया जाय तो फिर वे कर्म रह ही नहीं जाते, उनका सदा-सर्वदाके लिये क्षय हो जाता है। किन्तु ऐसी व्यर्थ बातें केवल पागलपनकी ही उपज हैं। हे पार्थ! यदि अनुभव करके देखो तो तुम निश्चितरूपसे यह बात जान लोगे कि केवल कर्म छोड़ देनेसे ही कर्मसे छुटकारा नहीं मिलता। (४५—५२)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

जबतक प्रकृतिका आश्रय है, तबतक मैं कर्म करता रहूँ या छोड़ दूँ यह मूर्खताका लक्षण है। वे समस्त चेष्टाएँ स्वतः गुणोंके अधीन रहती हैं। फिर यह भी देखो, हमारे जो विहित कर्म हैं, उन्हें यदि हम किसी

कारणसे छोड़ भी दें तो क्या इन्द्रियोंके स्वभाव छूट जाते हैं? बताओ, कानोंसे सुनना बंद हो गया क्या? आँखोंमेंसे देखनेकी सामर्थ्य चली गयी है क्या? ये नासिका रन्ध्र बंद हो गये क्या? अथवा प्राण और अपान—इस दो वायुकी क्रिया रुकी है क्या? किंवा बुद्धिने कल्पना करना छोड़ा है क्या? भूख, प्यास आदि कभी रुके हैं क्या? जागृति और स्वप्न अवस्था रुकी है क्या? अथवा पैर चलना भूल गये हैं क्या? यह सब रहने दो, जन्मना और मरना रुका है क्या? यह सब रुकता नहीं तो फिर कौन-सा त्याग किया? यदि गिनायी गयी इन सब बातोंमेंसे एक भी बात नहीं हो सकती तो फिर कर्मोंके त्याग कर देनेमात्रसे ही क्या होगा? कहनेका अभिप्राय यह है कि जबतक शरीरका आश्रय बना हुआ है, तबतक कर्मोंका परित्याग हो ही नहीं सकता। कर्म परतंत्र होनेके कारण वे शरीरोंमें सत्त्वादि गुणोंके अनुसार पैदा होते हैं। इसलिये मैं कर्म करूँगा अथवा छोड़ूँगा, इस अभिमानको अन्तःकरणमें रखना व्यर्थ है। देखो, हम रथपर कितना भी निश्चल होकर क्यों न बैठें, पर फिर भी परतन्त्रताके कारण, हम हिलते डुलते ही रहते हैं अर्थात् सहज ही प्रवास होता है। सूखे हुए पत्ते स्वतः तो हिलते नहीं, पर जब वायु बहती है, तब सूखे पत्ते आकाशमें इधर-उधर उड़ने लगते हैं। उसी प्रकार कर्मातीत अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुषका शरीर कर्मेन्द्रियोंके द्वारा हर समय कर्म करता है। अतएव जबतक शरीरका संग बना हुआ है, तबतक कर्मोंका परित्याग हो ही नहीं सकता। इसपर भी जो लोग यह कहते-फिरते हैं कि हम कर्मोंको छोड़ देंगे, उनका यह कथन हठके सिवा कुछ भी नहीं है। (५३—६३)

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

जो पुरुष अपने हिस्सेमें आनेवाले कर्मोंको छोड़ देते हैं और उसके द्वारा कर्मातीत अवस्थाको प्राप्त करना चाहते हैं; परन्तु केवल कर्मेन्द्रिय प्रवृत्तिका निरोध करके उनके द्वारा कर्म-त्याग होता नहीं, क्योंकि

उनके अन्त:करणमें कर्तव्यबुद्धि रहती है, ऐसा होते हुए भी वे बाह्यान्तर कर्मोंके त्यागका आडम्बर बनाये रखते हैं, यह सचमुच दरिद्रता है, ऐसा तुम जानो। अर्जुन, ऐसे लोग सचमुच विषयासक्त हैं, यह नि:संशय समझ लो। हे धनुर्धर! अब मैं तुम्हें प्रसंगानुसार सब प्रकारकी आशाओं और इच्छाओंसे मुक्त मनुष्योंके लक्षण बतलाता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। (६४—६७)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

जिसका अन्त:करण दृढ़ होता है, जो परमात्माके स्वरूपमें मिलकर एकीकृत हो जाता है, किन्तु फिर भी जो सामान्य संसारी लोगोंकी तरह बाहरी व्यवहारोंका निर्वहन करता है, जो अपनी इन्द्रियोंको आदेश (आज्ञा) नहीं देता और विषय बाँधेंगे, इस तरहका भय उसे होता नहीं, यदि कर्मेन्द्रिय कर्म करते हों तो भी जो पुरुष उनको रोकता नहीं और जो अपने सामने उपस्थित समस्त विहित कर्मोंको सम्पादित करता रहता है, अर्थात् कर्मोंका अनादर करता नहीं, वह कर्मोंके विकारोंसे लिप्त नहीं होता। वह कभी कामनाओंके अधीन नहीं होता। मोहका मल (अविवेक-रूपी मल) उसे कभी नहीं लगता। जैसे कमलका पत्ता जलमें रहकर भी जलसे नहीं भींगता, ठीक वैसे ही वह भी निर्लिप्त रहकर समस्त लौकिक व्यवहारोंका निर्वहन करता रहता है और देखनेमें सामान्य संसारीकी ही भाँति प्रतीत होता है। जैसे जलके सम्पर्कसे सूर्यका बिम्ब पृथ्वीकी वस्तुओंकी ही भाँति दिखायी पड़ता है, वैसे ही वह भी सामान्य दृष्टिसे देखनेपर सामान्य मनुष्योंकी ही भाँति दिखायी पड़ता है। पर यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो उसकी सच्ची स्थिति जानी ही नहीं जा सकती। जो मनुष्य ऐसे लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको आशापाशसे मुक्त जानना चाहिये। हे अर्जुन! ऐसे ही मुक्त पुरुषको योगी कहा जाता है। इसीलिये मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम भी इसी प्रकारके योगी बनो। तुम

अपने मनका नियमन करो। अन्तःकरणमें निश्चल और शान्त हो जाओ और तब कर्मेन्द्रियोंको भले ही विषयोंमें सुखपूर्वक विचरणके लिये स्वतन्त्र छोड़ दो। फिर देखो, तुम्हें उनके द्वारा बाधा पहुँचानेका भय लेशमात्र भी न रह जायगा। (६८—७६)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

कर्मोंको छोड़कर अर्थात् विहित कर्मोंको छोड़कर कर्मातीत होना देहधारीके लिये असंभव है, ऐसा ही है तो शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका क्यों आचरण करे? अब तुम स्वयं ही इस बातको तय कर लो कि निषिद्ध एवं विहित—इन दो कर्मोंमेंसे कौन-सा कर्म करना चाहिये। इसीलिये जितने भी विहित कर्म सामने आ पड़ें, उन सारे कर्मोंको निष्काम मनसे करने चाहिये। हे पार्थ! एक और कुतूहलभरी बात है जो तुम नहीं जानते। वह यह है कि इस प्रकार अहंकाररहित और निष्काम बुद्धिसे किये हुए विहित और नित्य-नैमित्तिक कर्म मनुष्यको अपने-आप (सहज) मुक्त करते हैं। देखो, जो मनुष्य शास्त्रानुसार स्वधर्मका आचरण करता है, निःसन्देह वह उन्हीं आचरणोंकी सहायतासे मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। (७७—८०)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

हे अर्जुन! तुम्हें स्वधर्मको ही 'नित्य यज्ञ' समझना चाहिये। उसका पालन करनेमें नाममात्र भी पापका संचार नहीं होता। जब यह स्वधर्म छूट जाता है और मनमें बुरी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, अर्थात् बुरे कर्मोंमें आसक्ति होती है। तब बुरे कर्म करनेवाला व्यक्ति संसार-बन्धनमें बँधता है। इसीलिये जो व्यक्ति निरन्तर स्वधर्मानुसार कर्मोंका आचरण करता है, उसके द्वारा उन कर्मोंके आचरणमें ही अनवरत यज्ञकर्म होते रहते हैं। इसीलिये ऐसे कर्म करनेवाले व्यक्तियोंको संसारके बन्धन बाँध ही नहीं सकते। यह सारा संसार मायाके मोहपाशमें जकड़ा हुआ है और उससे स्वधर्माचरणरूपी नित्य यज्ञ

नहीं होता; और इसीलिये वह कर्मके बन्धनोंमें बँधा हुआ है। हे पार्थ! अब मैं इसी विषयसे सम्बन्धित एक कथा तुम्हें सुनाता हूँ। जब ब्रह्माने समस्त सृष्टिकी रचना की थी, (८१—८५)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

(—तब उन्होंने सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ ही नित्य यज्ञ भी उत्पन्न किया। परन्तु नित्याचारका धर्म गूढ़ होनेके कारण वह नासमझ प्राणियोंकी समझमें नहीं आता था। उस समय सब लोगोंने मिलकर ब्रह्मदेवसे विनती की कि हे देव! हमारे लिये वह कौन-सा ऐसा आधार है, जिससे सब काम अच्छी तरहसे सम्पन्न हो? उस समय कमलजन्मा ब्रह्माने प्राणियोंसे कहा कि तुम्हारी वर्णव्यवस्थाके अनुसार स्वधर्मकी रचना की गयी है, तुमलोग इसीको उपासना (आचरण) करो, तो तुम्हारी सभी मनोकामनाएँ अपने-आप पूरी होती रहेंगी। तुमलोगोंको व्रतादिके चक्करमें पड़नेकी जरूरत नहीं है; तपश्चर्या करके शरीरको सुखानेकी भी जरूरत नहीं है और दूरवर्ती तीर्थाटनकी भी आवश्यकता नहीं है। योगादिक साधन, सकाम अनुष्ठान एवं तान्त्रिक प्रयोगमें मत पड़ना; नाना प्रकारके देवताओंका भजन-पूजन मत करो। एकमात्र स्वधर्मका पालन करो और उनके कारण अपने-आप सम्पन्न होनेवाले यज्ञोंको करते चलो। तुम अपने अन्तःकरणमें स्वार्थको फटकने मत दो और केवल स्वधर्मका अनुष्ठान करो। जैसे पतिव्रता अपने पतिकी आराधना करती है, ठीक वैसे ही स्वधर्मरूपी यज्ञकी आराधना करना ही तुमलोगोंका एकमात्र कर्तव्य है। सत्यलोकाधिपति ब्रह्माने यह भी कहा कि हे प्रजागण! यदि तुमलोग भक्ति-भावसे इस स्वधर्मकी उपासना करोगे तो यह कामधेनुकी भाँति तुम्हारी समस्त मनोकामनाएँ न केवल पूरी करेगा, अपितु यह कभी भी तुमलोगोंको निराधार नहीं छोड़ेगा। (८६—९४)

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

जब तुम इस स्वधर्मरूपी यज्ञसे सारे देवताओंको सन्तुष्ट कर लोगे, तब वे तुम्हें समस्त अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करेंगे। जब इस स्वधर्माचरणरूपी पूजासे तुम देवताओंका पूजन करोगे, तब समस्त देवता तुम्हारे योगक्षेमका वहन भी करेंगे, तुम्हें किसी कमीका एहसास भी नहीं होने देंगे। जब तुम देवताओंका भजन-पूजन करोगे तब वे देवता तुमपर प्रसन्न होंगे और इस प्रकार परस्पर प्रेमभाव उत्पन्न होगा। फिर तुम जो कुछ करना चाहोगे वह अपने-आप होता चला जायगा। इतना ही नहीं तुम्हारी समस्त मनोकामनाएँ भी पूरी हो जायँगी और तुम्हें वाक्-सिद्धि प्राप्त हो जायगी। तुम्हारे अन्दर आज्ञापककी सामर्थ्य आ जायगी और समस्त सिद्धियाँ तुम्हारी आज्ञाकी वशवर्तिनी बनी रहेंगी। जैसे वनशोभा फल-भारका सौन्दर्य धारण करके सदा ऋतुराज वसन्तके द्वारपर उपस्थित रहती है,— (९५—१००)

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

—ठीक वैसे ही मूर्तिमन्त दैव समस्त सुख-सुविधाओंको लेकर तुम्हारी खोज करता हुआ तुम्हारे पास स्वयं ही चला आवेगा। इस प्रकार जब तुम्हारी एकमात्र निष्ठा स्वधर्माचरणपर होगी तब तुम सब प्रकारसे सुखी हो जाओगे। परन्तु समस्त सम्पदाएँ मिल जानेपर जो विषय-रसके लोभमें पड़कर इन्द्रियाधीन हो जायगा, स्वधर्माचरणरूपी यज्ञसे सन्तुष्ट किये हुए देवताओंकी भरपूर सम्पत्तिका जो सदुपयोग नहीं करेगा और सर्वेश्वरका भजन नहीं करेगा, जो अग्निहोत्र नहीं करेगा, देवपूजन नहीं करेगा, यथासमय ब्राह्मणोंको भोजन नहीं करायेगा, जो गुरुभक्तिसे विमुख रहेगा, आतिथ्य-सत्कार नहीं करेगा, अपनी जाति

और गोत्रजोंको सन्तुष्ट नहीं करेगा, जो स्वधर्माचरणसे विमुख होगा और प्राप्त सम्पत्तिके कारण अभिमानी बनकर एकमात्र सुख-उपभोगके ही चक्करमें पड़ा रहेगा, उसका बहुत बड़ा घात होगा, जिससे हाथमें आया हुआ ऐश्वर्य चला जायगा और जो सुख-सामग्री उसे प्राप्त हुई रहेगी उससे भी वह वंचित हो जायगा। जैसे आयुके क्षीण होनेपर शरीरसे चेतना जाती रहती है अथवा भाग्यहीनके घरमें लक्ष्मी नहीं रहती, ठीक वैसे ही यदि स्वधर्माचरण ही लुप्त हो जाय तो जान लेना चाहिये कि सब सुखोंका आश्रय ही टूट गया। जैसे दीपकके बुझनेके साथ-ही-साथ उसका प्रकाश भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही जहाँ स्वधर्मका नाश हुआ, समझ लो वहाँसे स्वतन्त्रता भी चल दी।

ब्रह्माने यह भी कहा था—इसलिये हे प्रजागण! जो स्वधर्म छोड़ देगा, उसे काल दण्ड देगा और-तो-और उसे चोर ठहराकर उसका सब कुछ छीन लेगा। फिर सब-के-सब दोष चारों ओरसे आकर उसीको घेर लेंगे; जैसे रातके समय भूत प्रेत आदि श्मशानको व्याप्त करते हैं, वैसे ही त्रिभुवनके सारे दुःख, नाना प्रकारके पातक और दीनताएँ आकर उस व्यक्तिमें निवास करने लगेंगी। जो व्यक्ति वैभवके मदसे उन्मत्त हो जाता है, उसकी दशा ऐसी ही हो जाती है और फिर चाहे वह कितना ही विलाप करे, पर कल्पके अन्ततक उसका छुटकारा नहीं होता। इसलिये तुमलोग न कभी स्वधर्मका परित्याग करो और न इन्द्रियोंको ही भटकने दो। ब्रह्माने मानवी जीवोंको बस यही उपदेश दिया था। ब्रह्माने यह भी कहा था कि जलमें रहनेवाला प्राणी जिस क्षण जलके बाहर निकले उस क्षण ही जान लेना चाहिये कि अब उसकी मृत्यु आ गयी है। इसी प्रकार किसी भी मनुष्यको कभी भी स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; अन्यथा सब कुछ नष्ट हो जायगा। इसीलिये मैं बार-बार कहता हूँ कि तुम सब लोग अपने-अपने उचित कर्मोंके सम्पादनमें ही नित्य-निरन्तर लगे रहो। (१०१—११८)

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

जो मनुष्य प्राप्त की हुई सम्पत्तिका निष्काम बुद्धिसे स्वधर्मानुसार उचित कार्योंमें उपयोग करता है; गुरु, गोत्र और अग्निकी पूजा करता है, योग्य अवसरके अनुसार ब्राह्मणोंकी सेवा करता है और पितरोंकी सन्तुष्टिके लिये श्राद्धादि कर्म करता है और इस प्रकार यज्ञोंका सम्पादन स्वधर्माचरणपूर्वक करता रहता है, जो पंच-महायज्ञादि सम्पन्न करके अग्निमें हवन करता है और तब सहजमें ही जो कुछ बचा-खुचा रहता है, वही भाग यह समझ-बूझकर अपने कुटुम्बियोंके साथ सुखपूर्वक उपभोग करता है कि यही अवशिष्ट भाग पापोंका विनाशक है, जो व्यक्ति इस प्रकार यज्ञोंके हवनका बचा हुआ अवशेष सेवन करता है, उससे सब पातक उसी प्रकार किनारा कस लेते हैं, जिस प्रकार अमृतके मिलनेपर महारोग मनुष्यको देखते ही भाग खड़े होते हैं अथवा जैसे तत्त्वज्ञानीको भ्रान्ति लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकती, ठीक वैसे ही यज्ञ-शेषका सेवन करनेवालेको पाप कभी छू नहीं सकता। इसलिये जो कुछ स्वधर्मसे अर्जित मिल जाय, उसका विनियोग भी स्वधर्मके लिये ही करना चाहिये; और तब शेष भागसे सन्तोषपूर्वक जीवन-निर्वाह करना चाहिये। इस प्रकार श्रीमुरारीने अर्जुनको यह प्राचीन कथा सुनायी थी और कहा था कि हे अर्जुन! तुम यह स्वधर्मयज्ञ अवश्य करो; इसे बिना किये मत रहो। जो लोग इस देहको ही आत्मा मानते हैं और विषयोंको भोग्य समझते हैं; तथा इस भोग-बुद्धिके पीछे जिन्हें और किसी बातका ध्यान ही नहीं रहता, उन मूर्खोंको इस नित्य-यज्ञके साधनके रहस्यका ज्ञान ही नहीं होता और वे केवल अहंकारपूर्वक सुख भोगनेकी ही इच्छा करते हैं। जो लोग केवल इन्द्रियोंको रुचिकर लगनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, उनके विषयमें केवल यही जानना चाहिये कि वे पापपरायण पुरुष केवल पातकोंका ही सेवन कर रहे हैं। यह सम्पत्ति स्वधर्मरूपी

यज्ञमें केवल हवन-सामग्री है और यह सामग्री इस यज्ञमें आदिपुरुषको समर्पित करनेके ही लिये है; किन्तु ऐसा न करके मूर्खलोग इस तत्त्वका परित्याग कर देते हैं और अपनी रुचिके अनुसार नाना प्रकारके व्यंजन प्रस्तुत करते हैं। जिस अन्नसे यह यज्ञ सिद्ध होता है और आदिपुरुष सन्तुष्ट होता है, वह सामान्य अन्न नहीं है। इसे साधारण अन्न न समझकर प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप ही समझना चाहिये; क्योंकि यही सारे संसारके जीवनका (जीनेका) साधन है। (११९—१३३)

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

अन्नसे प्राणिमात्रकी वृद्धि होती है और अन्नकी उत्पत्ति सदा पर्जन्यसे होती है। यज्ञसे पर्जन्यकी उत्पत्ति होती है और यज्ञ कर्मकी सहायतासे सिद्ध होते हैं। कर्मका मूल (उत्पत्तिस्थान) वेदरूप ब्रह्म है। अक्षर तथा परात्पर ब्रह्म-तत्त्वसे वेद-ब्रह्मकी उत्पत्ति होती है। इसलिये यह चराचर जगत् मूलतः अक्षर परब्रह्मसे ओत-प्रोत भरा हुआ है। तो भी, हे सुभद्रापति! तुम यह बात अच्छी तरहसे जान लो कि कर्मरूपसे अवतरित होनेवाले इन यज्ञोंमें श्रुतिका निरन्तर निवास रहता है। (१३४—१३७)

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

हे धनुर्धर! इस प्रकार मैंने तुम्हें स्वधर्मरूपी यज्ञकी यह आदि परम्परा संक्षेपमें बतला दी है। इसीलिये यह स्वधर्मरूपी यज्ञ ही यथार्थतः उचित एवं करनेयोग्य कर्म है। भ्रममें पड़ा हुआ जो व्यक्ति इस संसारमें जन्म लेकर भी यह यज्ञ नहीं करता, उसके सम्बन्धमें तुम्हें यह अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिये कि वह केवल ऐन्द्रिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिये ही इस संसारमें आया हुआ है; इसलिये वह पापकी राशि बनकर

इस पृथ्वीपर भाररूप ही है। ऐसे व्यक्तिका सारा जीवन ठीक उसी प्रकार व्यर्थ होता है, जिस प्रकार आकाशमें छाया हुआ असमयका मेघ। स्वधर्माचरणसे हीन मनुष्यको बकरीके गलेमें लटके हुए स्तनकी तरह बिलकुल व्यर्थ ही जानना चाहिये। इसलिये हे पाण्डव! यह बात तुम अच्छी तरहसे जान लो कि कभी किसीको स्वधर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये। पूरे मनोयोगके साथ स्वधर्मका ही आचरण करना चाहिये। जब हमलोग शरीरधारी हैं, तब तो निश्चित ही इस शरीरके साथ कर्तव्य-कर्म लगा रहेगा, तो फिर हम अपना विहित कर्म क्यों छोड़ें? हे सव्यसाची! मनुष्य-शरीर पाकर भी जो अपने कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा करता है, उसे मूढ़ ही समझना चाहिये। (१३८—१४५)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

जो निरन्तर आत्मस्वरूपमें रमण करता रहता है, वह देह-धर्मके चलते रहनेपर भी कभी कर्म-फलसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह सदा आत्मबोधसे सन्तुष्ट रहता है, उसके जीवनका कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं रहता और उसके लिये कर्मका संग स्वयं ही नहीं होता। तात्पर्य यह कि वह सहज ही कर्मके संगसे मुक्त हो जाता है। (१४६-१४७)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

जिस प्रकार एक बार तृप्ति हो जानेपर उसके सब साधन स्वतः समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मतुष्टि मिलते ही समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। पर हे अर्जुन! जबतक मनमें आत्मज्ञानका उदय नहीं होता, तबतक स्वधर्माचरणके साधनोंका भजन आवश्यक होता है। (१४८-१४९)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

इसलिये तुम इन्द्रियोंका नियमन करके और समस्त कामनाओंको

त्यागकर विहित स्वधर्मका आचरण करो। हे पार्थ! वास्तवमें वही मनुष्य इस संसारमें ब्रह्म-स्थितिको प्राप्त होता है, जो निष्काम बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण करता है। (१५०-१५१)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

अब जनक आदि सत्पुरुषोंको ही देखो, जिन्होंने विहित कर्मोंको करते हुए भी मोक्ष पदको प्राप्त कर लिया है। इसलिये हे पार्थ! स्वकर्मके प्रति सदा आस्था रखनी चाहिये। स्वकर्मका पालन करनेसे एक और बातकी भी सिद्धि होगी। जब हम स्वकर्मका अनुष्ठान करेंगे, तब दूसरे लोगोंको भी उचित आचारकी शिक्षा मिलेगी और अनायास ही उनके दुःख भी दूर हो जायँगे। देखो, जो लोग ब्रह्म-स्थितिमें पहुँचकर कृतार्थ हो चुके हैं और जो निष्काम हो चुके हैं, वही अन्य लोगोंको भी उचित दिशा देते हैं। इतना ही नहीं, उस ज्ञानोत्तर कालमें भी उन्हें अपने कर्तव्य-कर्मका निर्वहन करना पड़ता है। जैसे अन्धेको ले जानेवाला नेत्रवान् मनुष्य उसे लेकर आगे-आगे चलता है, वैसे ही ज्ञानी लोगोंको अपने साथ अज्ञानियोंको लेकर चलना चाहिये और उन्हें स्वधर्मका पाठ पढ़ाना चाहिये। अजी, यदि ज्ञानी लोग ऐसा न करेंगे तो अज्ञानी लोगोंको क्या पता चलेगा और कर्तव्य-मार्गका उन्हें किस प्रकार ज्ञान हो सकेगा? (१५२—१५७)

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

इस संसारकी परिपाटी ही यह है कि श्रेष्ठजन जैसा आचरण करते हैं; लोकमें उसीका नाम 'धर्म' पड़ जाता है और सामान्य लोग उसी आचरणका अनुकरण करते हैं। यह बात नितान्त स्वाभाविक रूपसे होती रहती है, इसलिये स्वकर्मका अनुष्ठान कदापि नहीं छोड़ना चाहिये। फिर जो सन्तजन हैं, उन्हें तो स्वकर्मका अनुष्ठान करना-ही-करना चाहिये। (१५८-१५९)

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

हे किरीटी! मैं दूसरोंकी बात क्या कहूँ! मैं स्वयं भी इसी मार्गसे चलता हूँ। सम्भव है तुम यह कहोगे कि मुझपर कोई आपदा आ पड़ती है या मुझे अपना कोई अभीष्ट पूरा करना पड़ता है, इसलिये मैं स्वकर्मका अनुष्ठान करता हूँ। परन्तु तुम यह बात तो भलीभाँति जानते हो कि इस संसारमें दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो मेरे-जैसा सामर्थ्यवान् हो अथवा मेरी-जैसी पूर्णता हो। तुमने स्वयं अपनी आँखोंसे मेरा यह विलक्षण पराक्रम देखा है कि मैं ही गुरु सान्दीपनिके मृत पुत्रोंको यमलोकसे लौटा लाया था। फिर भी मैं सब विहित कर्मोंका आचरण शान्तभावसे बराबर करता ही रहता हूँ। (१६०—१६३)

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

मैं इन सब कर्मोंका आचरण इस प्रकार करता हूँ जैसा कि कोई सकाम व्यक्ति करता है। इस प्रकारका आचरण करनेमें मेरा एक ही उद्देश्य है, वह यह कि मेरे ही अधीन रहनेवाले जो प्राणी हैं, वे कहीं बहक न जायँ। (१६४-१६५)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

पूर्णकाम होनेपर यदि आत्म-स्थितिमें बिना कोई कर्म किये यों ही पड़ा रहूँ तो फिर प्रजाका काम कैसे चलेगा, यह प्रजा भवसागरसे पार कैसे जायगी? इस समाजके लोग यही देखते हैं कि मैं किस रास्तेसे चलता हूँ और उसीसे वे लोग आचरणकी प्रथाका तौर-तरीका सीखते हैं; परन्तु यदि मैं कर्मोंका परित्याग कर दूँ तो समाजकी पूरी व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जायगी। इसीलिये मैं तुम्हें बार-बार समझाता हूँ कि जो इस संसारमें पूर्णरूपसे समर्थ एवं सर्वज्ञ हैं, विशेषतः उन लोगोंको तो कभी कर्मोंको छोड़ना ही नहीं चाहिये। (१६६—१६८)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५ ॥

देखो, निष्काम पुरुषको भी कर्मका ठीक वैसे ही आचरण करना चाहिये, जैसे सकाम पुरुष मनमें फलकी आकांक्षा रखकर कर्म करता है। क्योंकि हे पार्थ! मैं तुम्हें बारम्बार यही बतलाता हूँ कि लोक-संस्थाकी रक्षा सब प्रकारसे करनी चाहिये, शास्त्र-निर्दिष्ट मार्गसे चलना चाहिये तथा संसारको भी सन्मार्गमें लगाना चाहिये और लोगोंकी दृष्टिमें अलौकिक नहीं बनना चाहिये, जिससे लोग यह न समझ बैठें कि हम समाजसे अलग हैं। (१६९—१७१)

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६ ॥

स्तनपान करना भी जिस बच्चेके लिये कष्टकर हो उसे पक्वान्न कैसे खिलाये जा सकते हैं? इसीलिये हे धनुर्धर! जैसे उस बच्चेको पक्वान्न नहीं देना चाहिये, ठीक वैसे ही जिन मनुष्योंमें केवल कर्म करनेकी योग्यता हो, उन्हें कभी प्रहसनमें भी कर्मोंको छोड़नेकी शिक्षा नहीं देनी चाहिये। सब प्रकारकी कामना या आसक्तिसे रहित ज्ञानियोंके लिये भी यही उचित है कि वे ऐसे लोगोंको सत्कर्मका मार्ग दिखलावें, उनके समक्ष सत्कर्मकी तारीफ करें। इतना ही नहीं, स्वयं भी उसी प्रकारका आचरण करके उनके समक्ष सुन्दर आदर्श प्रस्तुत करें।

इस प्रकार लोक-संग्रह करनेके लिये यदि कर्मोंको किया जाय तो कर्म करनेवालेके लिये वे कर्म कभी बन्धनकारक नहीं होते। बहुरूपिये राजा और रानीका रूप बनाते हैं, वेष धारण करते हैं; और यद्यपि उनके मनमें पुरुष-स्त्रीका भाव नहीं होता, परन्तु फिर भी जैसे बहुरूपियेको अपना स्वाँग अच्छी तरहसे प्रदर्शित करनेके लिये स्त्री या पुरुषके-से भाव-भंगिमा व्यक्त करनी पड़ती है, ठीक वैसे ही ज्ञानिजन भी ज्ञानोत्तरकालमें भी केवल लोक-सम्पादनकी भावनासे विकाररहित एवं कामनारहित वृत्तिसे सत्कर्मोंका व्यवहार करते रहते हैं। (१७२—१७६)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

हे धनुर्धर! देखो! यदि दूसरोंका बोझ अपने सिरपर रख लिया जाय तो उसके नीचे क्यों न दबेंगे? बस, इसी न्यायसे प्रकृतिके धर्मसे पैदा होनेवाले अच्छे-बुरे सभी कर्म मूर्ख व्यक्ति बुद्धिके भ्रमके कारण स्वयंको ही उनका कर्ता समझकर अपने ऊपर लाद लेता है। जो ऐसा अहंकारी और संकुचित विचारवाला अर्थात् देहाभिमान धारण करनेवाला एवं मूढ़ हो, उसे परमार्थकी इस गूढ़ताकी शिक्षा नहीं देनी चाहिये, पर अब छोड़ो इन सब बातोंको। हे अर्जुन! अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि इस समय किस बातमें तुम्हारा हित है। ध्यानपूर्वक सुनो। (१७७—१८०)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

जिस प्रकृतिके द्वारा यह सब कर्म उत्पन्न होते हैं, उन कर्मोंके साथ ब्रह्मनिष्ठ पुरुषका तादात्म्य नहीं रहता। वह देहाभिमानका परित्याग कर देता है। गुण और कर्मका परस्पर सम्बन्ध समझता है और केवल तटस्थवृत्तिसे शरीरमें रहता है। इसीलिये ऐसे व्यक्ति शरीरमें रहते हुए भी कर्मके बन्धनोंसे ठीक उसी प्रकार नहीं बँधते, जिस प्रकार पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियोंकी क्रियाएँ सूर्यको नहीं बाँध पातीं। (१८१—१८३)

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

इस संसारमें कर्मकी बाधा उन्हीं मनुष्योंके लिये होती है, जिनपर गुणोंका असर होता है और जो अपने सब काम प्रकृतिके अधीन होकर करते हैं; क्योंकि गुणोंके आधारसे इन्द्रियाँ अपने स्वभावसिद्ध धर्मके कारण जो व्यवहार करती हैं, उन पराये व्यवहारोंको ऐसा व्यक्ति बलात् अपने ऊपर लाद लेता है। (१८४-१८५)

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

अतएव तुम सब प्रकारके विहित कर्मका अनुष्ठान करके मुझे समर्पित करो, परन्तु अपनी चित्तवृत्तिको सदा आत्मस्वरूपपर ही टिकाये रखो। 'यह कर्म है', 'मैं कर्ता हूँ' और 'इन कर्मोंको किसी हेतुसे करनेवाला मैं हूँ'। इस प्रकारका अभिमान कभी अपने मनमें मत आने दो। बस इतनेसे ही सारे काम सिद्ध हो जायँगे। तुम देहासक्त मत रहना, समस्त कामनाओंका परित्याग कर दो और फिर यथासमय जो भोग प्राप्त हो उन सबका उपभोग करो। अब तुम अपना धनुष उठाओ, रथपर चढ़ो और शान्तचित्तसे वीरवृत्तिको स्वीकार करो। इस संसारमें अपनी कीर्तिको फैलाओ, स्वधर्मका मान बढ़ाओ और पृथ्वीका यह बोझ उतार दो। हे पार्थ! अब तुम समस्त शंकाओंका परित्याग कर दो और इस युद्धमें मन लगाओ। इस समय इस युद्धके सिवा और किसी चीजकी बिलकुल चर्चा ही मत करो। (१८६—१९१)

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

हे धनुर्धर! जो लोग मेरे इस निश्चित मतको आदरपूर्वक अंगीकार करते हैं और श्रद्धापूर्वक इसके अनुसार आचरण करते हैं। वे समस्त कर्मोंको करते रहनेपर भी कर्मके बन्धनसे कभी नहीं बँधेंगे। इसीलिये यह मत निर्विवादरूपसे पालन करनेके योग्य है। (१९२-१९३)

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

पर जो लोग मायाके चक्करमें पड़े रहेंगे अर्थात् प्रकृतिके अधीन होकर और इन्द्रियोंका लाड़-प्यार करते हुए मेरे इस मतका अनादर करेंगे, जो इसे अवज्ञा करके ओछी दृष्टिसे देखेंगे या इस मतको केवल कोरी बकवास कहेंगे, ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें तुम यह निश्चितरूपसे जान लो कि वे मोहके

मदसे मतवाले हैं, अर्थात् मोहरूपी मदिरासे भ्रमिष्ट हुए हैं, विषयोंके विषसे लबालब भरे हुए हैं और अज्ञानके दलदलमें फँसे हुए हैं। जैसे मृत मनुष्यके हाथमें रखा हुआ रत्न बेकार जाता है अथवा जन्मसे अन्धे मनुष्यको प्रभात होनेका विश्वास ही नहीं होता अथवा जैसे चन्द्रमाके उदयका कौवेके लिये कोई उपयोग ही नहीं होता, ठीक वैसे ही कर्मयोगका यह उपदेश भी मूढ़ व्यक्तिको रुचिकर नहीं लगता। यही कारण है कि वे लोग इस मतका सम्मान नहीं करते, बल्कि उलटे इसकी निन्दा करने लगते हैं। पर ऐसा होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि पतंगा कभी दीप-प्रभाको बर्दाश्त नहीं कर सकता अथवा अब तुम्हीं बतलाओ कि क्या वह सचमुच बर्दाश्त कर सकता है? विषय-रसका पान करनेवाले ऐसे मूढ़ व्यक्ति भी ठीक वैसे ही आत्मघातक होते हैं, जैसे दीपकका आलिंगन करनेके लिये दीपकके पास पहुँचनेवाला पतंगा उसीमें जल मरता है। इसी प्रकार हे पार्थ! जो लोग परमार्थकी बातोंसे उद्विग्न हो जाते हों, उनसे कभी भी इस विषयमें चर्चा नहीं करनी चाहिये। (१९४—२०१)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

किसी ज्ञानी पुरुषके लिये यह कदापि उचित नहीं है कि वह मनोरंजनके लिये अत्यन्त ही उत्सुकतापूर्वक इन इन्द्रियोंका लाड़-प्यार करे और इनका उत्साह बढ़ावे। भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी सर्पके साथ खेला जा सकता है? अथवा क्या कभी व्याघ्रके साथ उठना-बैठना अन्ततक पूरा होगा? अथवा क्या कोई कालकूट विष पीकर उसे पचा सकता है? देखो, यदि खेलमें ही कहीं आग लग जाय तो फिर जब वह भड़क जायगी, तब उसका नियन्त्रण नहीं हो सकता। इसी प्रकार इन्द्रियोंका लाड़-प्यार करने और सदा उनके चक्करमें पड़े रहनेसे भयंकर संकट आ खड़ा होता है। यानी इन्द्रियोंको लाड़-प्यार नहीं करना चाहिये।

हे अर्जुन! वास्तवमें यदि यह शरीर दूसरोंके अधीन है तो फिर इसके लिये

नाना प्रकारकी भोग-सामग्री क्यों इकट्ठा की जाय? हम नाना प्रकारके आपदाओं—संकटोंको सहकर अनेक प्रकारके विषयोंका संग्रह क्यों करें? हम दिन-रात एक करके उन विषयोंसे इस शरीरका पालन-पोषण क्यों करते रहें? भाँति-भाँतिके कष्टोंको झेलकर तथा नाना प्रकारका ऐश्वर्य प्राप्त करके भी इस ऐश्वर्यके सम्पादनके लिये स्वधर्मको भी भूलकर किसलिये इस शरीरको पुष्ट करें? यह शरीर तो पाँच तत्त्वोंसे मिलकर बना हुआ है और फिर अन्तमें यह इन्हीं पाँच तत्त्वोंमें ही मिल जायगा। जब वह शरीर इस प्रकार पंचतत्त्वमें विलीन हो जायगा, तो फिर हमें अपने श्रमका फल कहाँ मिलेगा? अर्थात् किये हुए श्रमका भाग कहाँ ढूँढेंगे। अतएव एकमात्र शरीरका ही पोषण करना आत्मघातके सिवा कुछ भी नहीं है। इसलिये हे पार्थ! केवल शरीरके ही पोषणमें तुम कभी अपने मनको मत रमाओ। इसमें चित्त लगाना सर्वथा अनुचित ही है। (२०२—२०९)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

साधारणतः यदि हम इन्द्रियोंको उनकी इच्छाके अनुसार विषयोंको सुलभ कराते चलें तो चित्तमें सचमुच सन्तोष उत्पन्न होता है, परन्तु जब कोई यात्री किसी नगरसे अपनी यात्राका शुभारम्भ करता है और मार्गमें उसे किसी अच्छे-भले आदमीके वेषमें कोई धोखेबाज मिल जाता है, तब कुछ देरके लिये—जबतक यात्री भलीभाँति रक्षित रास्तेपर रहता है, तबतक—उस धोखेबाजका साथ भी सुखदायक प्रतीत होता है अथवा किसी अवसरपर कदाचित् भूलसे विषकी मधुरता भी मनुष्यको रुचिकर लग सकती है। उस समय यदि परिणामके विषयमें न सोचा जाय तो जिस प्रकार उस भूलसे मनुष्यके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, उसी प्रकार जो विषय वासना इन्द्रियोंमें होती है, वह सहजमें मनुष्यको सुखका चसका लगा देती है। जिस प्रकार मछली फँसानेका काँटा (बंसी) मांसकी सहायतासे मछलीको भ्रमित कर देता है, किन्तु उस मछलीको यह जानकारी ही नहीं रहती कि इस मांसके

भीतर जानलेवा काँटा है, क्योंकि बंसीका वह काँटा मांससे ढँके होनेके कारण दिखायी नहीं देता है, ठीक उसी प्रकारकी बात इन विषयोंके सम्बन्धमें भी है। विषयोंकी आशामात्रसे ही मनुष्य क्रोधाग्निके अधीन हो जाता है। जिस प्रकार व्याध जान-बूझकर अपने आखेटको (हरिनको मारनेके उद्देश्यसे) चतुर्दिक् घेरकर उस जगहपर ले जाता है, जिस जगहपर उसका आखेट सफल हो सकता है। ठीक उसी प्रकार विषय-वासनाओंका भी यही काम है कि वे बुद्धिको पकड़कर नष्ट कर डालती हैं। इसलिये हे पार्थ! काम और क्रोध—इन दोनोंको ही महाघातक समझो। तुम कभी भी इनकी संगति न करो। तुम इन दोनोंका आश्रय ग्रहण न करो। तुम अपने मनमें काम और क्रोधकी स्मृति भी मत आने दो। निजवृत्ति (आत्मसुख)-के अनुभवका रस नष्ट मत होने दो। (२१०—२१८)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अपना स्वधर्म कितना ही कठिन क्यों न जान पड़े, पर फिर भी उसका आचरण करनेमें ही हित है। दूसरे व्यक्तिका आचार देखनेमें चाहे कितना ही अच्छा क्यों न जान पड़े, तो भी हमें केवल अपना ही आचार स्थिर रखना चाहिये। मान लो कि किसी शूद्रके घर भाँति-भाँतिके बढ़िया-बढ़िया पक्वान्न बने हुए हों तो क्या दुर्बल-से-दुर्बल ब्राह्मणको कभी वे पक्वान्न खाने चाहिये? इस प्रकारका अनुचित कार्य क्यों किया जाय? जो वस्तु ग्रहणीय ही न हो उसकी इच्छा ही क्यों की जाय? अथवा यदि कभी इच्छा भी जगे, तो भी क्या उस ग्रहण न करने-योग्य वस्तुको ग्रहण करना चाहिये? हे पार्थ! दूसरोंके मनोहर महल देखकर अपनी बनी-बनायी झोपड़ी क्यों गिरायी जाय? परन्तु ऐसे-ऐसे प्रश्न बहुतेरे हो चुके। जिस प्रकार अपनी कुरूपा स्त्रीकी संगति ही अपने लिये हितकर होती है, उसी प्रकार स्वधर्म चाहे कितना ही संकटसे भरा-पूरा क्यों न

हो और उसका आचरण करना कितना ही दुष्कर क्यों न हो, तो भी वह हमें परलोकमें सुखदायक ही होता है। शक्कर और दूधकी मधुरता जगत् विख्यात ही है। पर कृमि रोगसे ग्रसित व्यक्तिके लिये इनका सेवन हानिकारक ही होता है। अब भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या कृमि-रोगीको इनका सेवन करना चाहिये? इसपर भी यदि वह कृमि-रोगी इनका सेवन करेगा तो उसकी सुखकी इच्छा सदा सदाके लिये अधूरी ही रहेगी, कारण कि अन्तमें वह दूध और चीनीका सेवन उसके लिये कुपथ्य ही साबित होगा। यदि हमारी यह इच्छा हो कि हमारा हित हो, तो हमें ऐसे कर्मोंको कभी नहीं करना चाहिये जो दूसरे लोगोंके लिये भले ही उचित हों, पर स्वयं हमारे लिये अनुचित हों। यदि स्वधर्मका अनुष्ठान करते-करते जीवन भी चला जाय, तो भी वह अच्छा है, कारण कि वह लोक और परलोक—इन दोनोंमें ही सदा श्रेष्ठ ही सिद्ध होगा।" यही सब बातें सुर-शिरोमणि श्रीशार्ङ्गपाणिने कहीं। तब अर्जुनने विनती की कि हे देव! आपने जो कुछ कहा, वह सब मैंने अच्छी तरह सुना। फिर भी मेरे मनमें कुछ विचार उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें मैं आपसे पूछता हूँ। (२१९—२३१)

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

"हे देव! ऐसा क्यों होता है कि ज्ञानियोंकी भी स्थिति बिगड़ जाती है और वे सन्मार्गको छोड़कर इधर-उधर भटकते हुए दिखायी देते हैं? जो लोग सर्वज्ञ हो चुके हों, जो ग्राह्य और अग्राह्यका सम्यक् ज्ञान रखते हों, वे लोग किस कारणसे स्वधर्मको छोड़कर पर-धर्मका आचरण करते हैं? जिस प्रकार कोई अन्धा व्यक्ति बीज और भूसेको छाँटकर अलग नहीं कर सकता, उसी प्रकार ग्राह्य और अग्राह्यका चुनाव करते समय कभी-कभी

नेत्रवान् मनुष्योंको (ज्ञानीजनोंको) भी क्यों भूल करते हुए देखा जाता है? जो लोग अपने स्वाभाविक कर्मोंका त्याग कर देते हैं, वे भी संसारको अपने गले लगाकर तृप्त नहीं होते। जिन लोगोंने अरण्य (वन)-में निवास किया है, वे लोग भी जनपदमें आकर रहने लगते हैं। यदि वे लोग स्वयं पापोंको टालनेके लिये छिपकर बैठते हैं, सब प्रकारसे पापोंको टालनेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु पुनः बलात् उसमें नियुक्त हो जाते हैं। मन जिस चीजसे घृणा करता है, वही चीज मनको घेर लेती है अर्थात् चिपक जाती है और यदि उसे कोई मना करनेकी चेष्टा भी करे तो वह उलटे झगड़ने लगता है। देखनेमें ऐसा जान पड़ता है कि इन ज्ञानीजनोंपर भी बलका प्रयोग हुआ है। तब इस बल-प्रयोगकी सामर्थ्य किसमें है? हे हृषीकेश! आप कृपाकर यही बात मुझे बतलाइये।'' (२३२—२३८)

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

तब हृदयरूप कमलमें विश्राम लेनेवाले और निष्काम योगी जिसकी इच्छा (चाहना) करते हैं, ऐसे जो श्रीकृष्ण हैं, वे अर्जुनके प्रति बोले, सुनो। यह बल-प्रयोग करनेवाले एकमात्र काम और क्रोध ही होते हैं। इन्हें दयासे कुछ भी लेना-देना नहीं होता। ये कालकी भाँति बेरहम होते हैं। ये ज्ञानरूपी निधिको चारों ओरसे आवेष्टित करनेवाले भुजंग हैं। ये विषयरूपी कंदराके बाघ हैं अथवा ये भजन-मार्गमें लूट-खसोट करनेवाले प्राणघातक डोम हैं। ये देहरूपी दुर्गके पत्थर हैं, ये इन्द्रियरूपी ग्रामके परकोटे हैं। अविवेक आदि दोषोंसे सारे संसारपर इन्हींका आधिपत्य छाया हुआ है। ये मनके रजोगुणसे उत्पन्न हुए हैं और सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्तिके बने हुए हैं। इनका पालन-पोषण अविद्यासे हुआ है। वास्तवमें इनका जन्मस्थान तो रजोगुण ही है, पर ऐसा लगता है कि ये तमोगुणको बहुत प्यारे हैं। इसीलिये तमोगुणने प्रमाद

और मोहरूप अपनी गद्दी इनको बहाल (अर्पण) की है। ये काम और क्रोध जीवनको धारण करनेवाले जीवोंके शत्रु हैं, इसलिये मृत्युरूपी नगरीमें इनका बहुत मान-सम्मान है। जब इन्हें भूख लगती है, तब सारा संसार भी इनके एक कौरके बराबरका भी नहीं होता। इन काम-क्रोधोंका जो (नाशकारक) व्यापार है, उस व्यापारपर आशा देख-रेख करती है। उसी प्रकार भ्रान्ति भी इन्हें बहुत प्रिय है, जो कि आशाकी छोटी बहन है। वह भ्रान्ति जब एक बार भी अपनी मुट्ठी खोलती है तो उसमें कुछ-न-कुछ दबोचना अवश्य चाहती है, तो फिर उस मुट्ठीमें चौदहों भुवनोंका भी पता नहीं चलता। यह भ्रान्ति ऐसी विलक्षण है कि जब यह खेल खेलती है, तब त्रिभुवनरूप खाद्यको सहज ही हजम कर जाती है। इसीकी दासवृत्तिके बलपर तृष्णाका निर्वाह भी होता है। ये रहने दो! इन काम-क्रोधका मोहके घरमें मान-सम्मान है, अपने कर्तृत्वसे ये संपूर्ण जगत्‌को नचाता है, वह अहंकार इन काम-क्रोधके पास लेन-देन करता है। सत्यका सार निकालकर उसमें असत्यका भूसा भरनेवाला जो दम्भ है, वह भी इन्हीं सबके संसारमें (साथमें) निवास करता है। इन्होंने ही साध्वी शान्तिको लूटकर मायारूपी भिखारिनका शृंगार किया है और उससे साधुओंके समूहोंको भ्रष्ट किया है। इन्होंने ही न केवल विवेकका आश्रयस्थल तोड़ डाला है, अपितु वैराग्यके शरीरका चमड़ा भी उधेड़ डाला है। इतना ही नहीं, इन्होंने जीते-जी उपशमका गला घोंट डाला है, सन्तोषरूपी वनको काट डाला है, धैर्यरूपी दुर्गको ध्वस्त कर दिया है और आनन्दरूपी पौधेको उखाड़कर फेंक दिया है। इन्होंने उपदेशकी एकताको ही विनष्ट कर डाला है, सुखका नामो-निशानतक मिटा दिया है और संसारके अन्तःकरणमें तीनों तापोंकी आग लगा दी है। ज्यों ही ये किसीके शरीरमें आकर लगते हैं, त्यों ही जीवके साथ आकर चिपक जाते हैं और तब खोजनेसे भी ये ब्रह्मा आदिके हाथ नहीं लगते। ये चैतन्यके अत्यन्त ही निकट ज्ञानकी पंक्तिमें जा बैठते हैं और जब

अपना कार्य एक बार शुरू कर देते हैं, तब फिर रोके नहीं रुकते। ये प्राणियोंको बिना पानीके ही डुबा देते हैं, अग्निके बिना ही जला डालते हैं और बिना बोले ही अपने चंगुलमें जकड़ लेते हैं। ये बिना शस्त्रोंके ही प्राण हर लेते हैं, बिना डोरीके ही फँसा लेते हैं और शर्त लगाकर ज्ञानियोंकी भी हत्या कर डालते हैं। ये बिना कीचड़के ही प्राणियोंको जमीनमें गाड़ देते हैं, बिना फाँसके ही फँसा लेते हैं तथा अपने प्रबल बलके कारण किसीसे हार नहीं मानते। (२३९—२५९)

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

जैसे चन्दनके मूलमें सर्प लिपटा रहता है अथवा गर्भाशयका आँवल (जेर) जैसे गर्भको चारों ओरसे ढके रहता है अथवा जैसे प्रकाशके बिना सूर्य, धूम्रके बिना अग्नि, मलके बिना दर्पण कभी दिखायी ही नहीं पड़ता, ठीक वैसे ही काम और क्रोधके बिना अबतक मेरी दृष्टिमें कोई ज्ञान आया ही नहीं। जिस प्रकार बीज छिलकेसे ढँका हुआ उत्पन्न होता है। (२६०—२६२)

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

—उसी प्रकार काम और क्रोधसे ढँके होनेके कारण ज्ञान स्वयं शुद्ध होनेपर भी गूढ़ बना रहता है, इसी कारण ज्ञान-प्राप्तिकी कठिनता मालूम होती है। अब यदि यह कहें कि सबसे पहले इन काम और क्रोधको जीतना चाहिये और तब ज्ञानका सम्पादन करना चाहिये, तो काम-क्रोधरूपी राक्षसोंका पराभव होना सम्भव नहीं होता। यदि यह कहें कि इन काम, क्रोध आदि राक्षसोंको मारनेके लिये अपने शरीरमें शक्ति-सामर्थ्य लानी चाहिये, तो जैसे ईंधन आगकी सहायता ही करता है। (२६३—२६५)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

—वैसे ही जो-जो उपाय किये जायँ, वे सब-के-सब इन्हींके सहयोगमें लग जाते हैं। इसीलिये काम और क्रोध—ये दोनों हठयोगियोंको बहुत परेशान करते हैं अर्थात् इन लोगोंको जीत लेते हैं। ऐसे ये जो काम-क्रोध जीतनेमें अत्यन्त कठिन हैं, तो भी उनको जीतनेका एक अच्छा (श्रेष्ठ) उपाय है; वह तुम्हारेसे हो जाय तो उसे बतलाता हूँ। (२६६-२६७)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

काम और क्रोधका मूल निवास इन्द्रियोंमें होता है। इन्हीं इन्द्रियोंसे कर्मकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिये सर्वप्रथम इन इन्द्रियोंको ही अपने अधीन रखना चाहिये। (२६८)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

ऐसा करनेसे मनकी दौड़ बन्द हो जाती है, बुद्धिका छुटकारा हो जाता है और इन पापियोंका आश्रय ही नष्ट हो जाता है। (२६९)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

जिस समय ये अन्तःकरणसे बाहर निकाल दिये जाते हैं, उस समय निश्चय ही इनका पूर्णरूपसे सफाया हो जाता है। जैसे सूर्यकी रश्मियोंके बिना मृग-जल नहीं होता, वैसे ही यह जान लेना चाहिये कि यदि काम-क्रोध आदिका नाश हो जाय तो ब्रह्मज्ञानका साम्राज्य अपने-आप मिल जाता है और फिर जीव अपने आत्मानन्दमें सुखपूर्वक रहता है अर्थात् उस दिव्य सुखका उपभोग करता है। जो गुरु और शिष्यके संवादमें आने-

वाले विचारसे प्राप्त होनेवाली जीव और ब्रह्मकी भेंट है, उसी स्थितिमें स्थिर होकर कभी भी उससे विचलित मत होना।" संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे महाराज! सुनिये—जो समस्त सिद्धोंके राजा, देवी लक्ष्मीके स्वामी और देवोंके देव भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने ये सारी-की-सारी बातें कहीं।" अब वे भगवान् अनन्त फिर एक और महत्त्वकी बात बतलावेंगे और पाण्डुपुत्र अर्जुन भी कुछ प्रश्न खड़े करेंगे। उस संवादकी योग्यता और रसालताके कारण उसका वर्णन श्रोतागणोंके लिये श्रवण-सुखका सुकाल ही होगा। इसलिये श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि आपलोग अपनी बुद्धिको भलीभाँति जाग्रत् करके इस श्रीहरि और पार्थके संवादके माधुर्यका रसास्वादन करें। (२७०—२७६)

~~o~~

अध्याय चौथा

अब श्रवणेन्द्रियके लिये बहुत ही शुभ समय आया है, क्योंकि आज उसके लिये गीतामृतका जो गुप्त धन था वह मिल गया। जो चीज पहले स्वप्नवत् और कल्पित जान पड़ती थी, वही चीज आज वास्तविक सिद्ध हो गयी है। एक तो विषय ही बिलकुल अध्यात्म-सम्बन्धी विचारोंसे ओत-प्रोत है, उसपर निरूपणकर्ता हैं जगदीश्वर श्रीकृष्ण; और उसमें भी श्रोता हैं भक्त-शिरोमणि अर्जुन! बस, जैसे कोयलके समान स्वर, मधुर सुगन्ध और सुरुचि—इन तीनोंका मनमोहक मेल होता है, वैसे ही गीताका यह कथा-प्रसंग बहुत ही आनन्दका हुआ है। यह कितने बड़े सौभाग्यकी बात है कि हमलोगोंको यह अमृतकी गंगा मिली हुई है। सचमुच आज ही श्रोताओंको उनके जप-तपका फल प्राप्त हुआ है। अब सब इन्द्रियोंको ले जाकर इसी श्रवणेन्द्रियके घरमें स्थापित कर देना चाहिये और इस गीता नामक श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद-सुखका रसास्वादन करना चाहिये। अब ये अप्रासंगिक जो बात है, उसे रोको, श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो संवाद हुआ है, उसे कहो।

जिस समय श्रीकृष्ण और अर्जुन आपसमें बातें कर रहे थे, उस समय संजयने महाराज धृतराष्ट्रसे कहा कि अर्जुन सचमुचमें दैवी-सम्पत्तिसे सम्पन्न है, क्योंकि साक्षात् श्रीनारायण ही उसके साथ अत्यन्त प्रेमसे वार्तालाप कर रहे हैं। परमात्मा श्रीकृष्णने अपने पिता वसुदेव, माता देवकी और भाई बलरामको भी जो गहन तत्त्व कभी नहीं बतलाया, उसी तत्त्वको आज उन्होंने अर्जुनको बतलाया। देवी लक्ष्मी जो श्रीकृष्णकी इतनी निकटवर्तिनी हैं, पर फिर भी उन्हें वह प्रेमसुख नहीं मिल पाता। वही श्रीकृष्णके प्रेमका सच्चा तत्त्व आज अर्जुनको मिला हुआ है। सनकादिकोंको यह बहुत बड़ी आशा थी कि ईश्वरीय प्रेम पूर्णतया हमलोगोंको ही मिलेगा; पर अर्जुनकी तुलनामें

उनकी भी आशापर पानी फिर गया। अर्जुनपर इन जगदीश्वरका प्रेम निरुपम है। इस अर्जुनके भी पुण्यका प्रताप कैसा है कि इसकी प्रीतिके लिये ही इस विदेही भगवान्‌ने देह धारण किया है। मुझे तो ये दोनों एकदम एकरूप ही जान पड़ते हैं।

सामान्यतः जो योगियोंके भी पकड़के बाहर है, वेदार्थकी समझसे परे है और ध्यान तथा धारणाकी शक्ति भी जिसे नहीं देख सकती, वही श्रीकृष्ण आत्मस्वरूप, अनादि और विकाररहित होनेपर भी, देखिये, अर्जुनके प्रति कैसे दयालु हो गये हैं। जो कृष्ण त्रिभुवनरूपी वस्त्रकी मानो तह ही हैं अथवा आकार आदि विकारोंसे एकदम भिन्न और परे हैं, उन्हें इस अर्जुनके प्रेमने किस प्रकार अपने अधीन कर लिया है। (१—१५)

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

देवने पाण्डुपुत्रसे कहा—''मैंने यही योग विवस्वान् सूर्यको बतलाया था; परन्तु इस बातको हुए बहुत दिन बीत गये। फिर उस विवस्वान्‌ने इस योगको वैवस्वत मनुको बतलाया था। मनुने स्वयं इस योग-स्थितिको प्राप्त किया अर्थात् आचरण किया और फिर इक्ष्वाकुको इसका उपदेश किया था। यही इस योगकी पुरातन परम्परा है। (१६—१८)

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

तदनन्तर, इस योगका ज्ञान और भी अनेक राजर्षियोंको हुआ; परन्तु वर्तमान समयमें इसे जाननेवाला देखनेमें कोई आता ही नहीं। प्राणियोंकी अभिरुचि विषयोंके चक्करमें पड़ गयी और देह-बुद्धिके मोहमें जकड़ गयी। इसीलिये वे लोग इस आत्मज्ञानको भुला बैठे। आत्मबोधकी आस्था (भावना) जिस बुद्धिमें स्वीकारनी चाहिये थी, वो वाममार्गमें लग जानेके कारण, लोगोंको विषयसुख ही आत्यन्तिक श्रेष्ठ लगने लगा और देहादि प्रपंच प्राण-सदृश

प्रिय लगने लगे। नहीं तो दिगम्बर साधुओंकी बस्तीमें वस्त्रोंका क्या काम? अथवा जन्मसे अन्धे मनुष्यके लिये सूर्यकी ही क्या महत्ता हो सकती है? अथवा बहरोंकी सभामें संगीतका सम्मान क्यों होने लगा? अथवा सियारको क्या कभी चाँदनीसे प्रीति उत्पन्न हो सकती है? अथवा चन्द्रमाके उदित होनेके पूर्व ही जिसकी देखनेकी क्षमता समाप्त हो जाती है, वह काक पक्षी चन्द्रमाको किस प्रकार पहचान सकता है? इसी प्रकार जो लोग वैराग्यकी हद देखे ही नहीं और जिन्हें विवेकका नामतक ज्ञात नहीं, वे मूर्ख मनुष्य मेरे परमात्म-स्वरूपतक किस प्रकार पहुँच सकते हैं? न जाने यह मोह किस प्रकार फैला है, किन्तु इस मोहके कारण बहुत-सा समय व्यर्थ ही व्यतीत हो गया और इस लोकसे कर्मयोगका नाश हो गया। (१९—२६)

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

हे कुन्तीसुत! आज वही कर्मयोग मैंने तुम्हें बतला दिया। अब तुम अपने सारे संशयको त्याग दो। यह कर्मयोगका तत्त्व मेरे अन्तःकरणका एक गूढ़ रहस्य है; परन्तु उसे भी मैंने तुमसे छिपाया नहीं, क्योंकि तुम मुझे अत्यन्त ही प्रिय हो। हे धनुर्धर! तुम प्रेमकी मूर्ति, भक्तिके प्राण और मित्रताके जीवन-सर्वस्व हो। अर्जुन, तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध अत्यन्त नजदीकका है, हम युद्धके लिये खड़े हैं इस समय तुम्हारी शंकाका निवारण कैसे करूँ। फिर भी पलभरके लिये इससे अलग होकर और इस गड़बड़से हटकर तुम्हारी सारी शंकाएँ दूर कर देना और तुम्हारे मोहका नाश कर देना नितान्त जरूरी है।'' (२७—३१)

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

तब अर्जुनने कहा—''हे श्रीहरि! यदि माता अपने पुत्रके साथ स्नेह करती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हे कृपानिधि! देखिये, इस संसारमें

आप ही सन्तप्त प्राणियोंके लिये शीतल छाया और अनाथ जीवोंके लिये माताके समान हैं। वास्तवमें मेरा जन्म आपकी ही कृपासे हुआ है। हे देव! जैसे कोई स्त्री किसी पंगु पुत्रको तो पहले जन्म दे देती है और फिर आजन्म उसकी समस्त परेशानियोंको झेलती रहती है, ठीक वैसे ही मेरे लिये आपको सब झंझटें सहनी पड़ती हैं। परन्तु आपकी ही बात आपके ही समक्ष मैं क्यों कहूँ? इसलिये हे देव! अब जो कुछ भी मैं पूछता हूँ, उसपर आप अच्छी तरह ध्यान दें और मैं जो कुछ भी आपसे कहूँ, उसके लिये आप अपने मनमें जरा-सा भी क्रोध न करें।

हे अनन्त! आपने पुरातन परम्पराकी जो बात मुझे बतलायी कि आपने कर्मयोगके इस गहन रहस्यका विवस्वान्‌को उपदेश दिया था, सो यह बात मेरे अन्तःकरणमें रत्तीभर भी नहीं समायी; क्योंकि मेरे बुजुर्ग भी यह नहीं जानते होंगे कि वह विवस्वान् कौन था। तो फिर आपने उसे कब और कहाँ उपदेश दिया था? सुननेमें आता है कि वह विवस्वान् बहुत ही समय पहले हुआ था और आप श्रीकृष्ण इस समयके हैं। इसलिये आपने जो बात मुझसे अभी बतलायी है, वह मुझे असंगत जान पड़ती है; किन्तु हे देव! निःसन्देह आपके चरित्रको जानना हमलोगोंके वशकी बात नहीं है; इसलिये मैं यह दावेके साथ कैसे कह सकता हूँ कि यह बात एकदम आधारहीन है? अतएव आपने जो विवस्वान्‌को इसका उपदेश किया था, उसे आप ऐसे ढंगसे मुझे बतलावें कि मेरी समझमें अच्छी तरहसे आ सके।" (३२—४०)

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

तब श्रीभगवान्‌ने कहा—"हे पाण्डुसुत! तुम तो अपने चित्तमें यह ठान लिये होगे कि जिस समय विवस्वान् था, उस समय मैं नहीं था; परन्तु इससे यही बात साबित होती है कि तुम इन सब बातोंसे सर्वथा अनजान हो। देखो, तुम्हारे और हमारे अनेक जन्म हो चुके हैं, पर तुम्हें

अपने उन जन्मोंका स्मरण ही नहीं है; परन्तु हे धनुर्धर! मुझे यह सब बात भलीभाँति याद है कि मैंने किस-किस समयमें और कौन-कौन-से अवतार धारण किये थे? (४१—४३)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

इसीलिये मुझे पहलेकी सभी बातें अच्छी तरहसे याद हैं। वैसे तो मैं अजन्मा हूँ, पर फिर भी मायाके कारण जन्म धारण करता हूँ। मैं जन्म तो लेता हूँ, पर इससे मेरा मूलका निराकार अमूर्तत्व भंग नहीं होता। हाँ, एक बात अवश्य है कि मायाके कारण मेरे आत्मस्वरूपमें ऐसा भास होता है कि मैं अवतार लेता हूँ और फिर अपने धामको चला जाता हूँ। मेरी स्वतन्त्रतामें लेशमात्रकी भी न्यूनता नहीं होती। अवतार लेनेके साथ जो मैं कर्मोंके वशीभूत दिखायी पड़ता हूँ वह भी भ्रान्तिके कारण ही। जहाँ यह भ्रान्ति मिटी, तहाँ मैं फिर स्व-स्वरूपमें निराकार और निर्गुण रहता हूँ। एक ही वस्तु जो दर्पणमें दो वस्तुओंके रूपमें दिखलायी पड़ती है, उसका प्रमुख कारण दर्पण ही होता है। यद्यपि दर्पणमें प्रतिबिम्ब ही दृष्टिगत होता है, परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या दर्पणमें दृष्टिगत होनेवाली वह प्रतिबिम्बरूपी दूसरी वस्तु सच्ची रहती है?

इस प्रकार हे किरीटी! मैं स्वयं तो निराकार हूँ ही, पर जब मैं मायाका सहारा लेता हूँ, तब कुछ कर्मोंके निमित्त शरीर धारणकर अर्थात् साकार होकर आचरण करता हूँ। (४४—४८)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

क्योंकि शुरूसे ही यह एक स्वाभाविक क्रम चला आता है कि हर एक युगमें धर्मकी रक्षा मैं ही करता हूँ। इसलिये जिस-जिस समय अधर्म धर्मको दबोच लेता है, उस-उस समय मैं अपना जन्मरहितत्व एक तरफ रख देता हूँ और अपने अमूर्तत्वको भी भुला बैठता हूँ। (४९-५०)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

उस समय मैं धर्मका पक्ष लेकर साकाररूपसे अवतार लेता हूँ और तब अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश कर डालता हूँ। मैं अधर्मकी सत्ताको उखाड़ फेंकता हूँ, दोषोंका नामो-निशानतक मिटा देता हूँ और साधुजनोंके हाथोंसे सुखकी पताका फहरवाता हूँ। दैत्योंके कुलोंका विनाश करता हूँ, साधुओंकी मान-मर्यादा बढ़ाता हूँ और धर्म तथा नीतिको एक साथ मिलाकर उनका सम्बन्ध भी स्थापित करा देता हूँ। मैं अविवेकरूपी कालिमाको नष्ट करके विवेकरूपी दीपकको उज्ज्वल करता हूँ जिससे योगिजनोंके लिये वह समय दीपोत्सवके सदृश हो जाता है, यानी दीपावलीके समान प्रकाशमय आनन्द देता हूँ। उस समय सारा संसार आत्मसुखसे सराबोर हो जाता है, संसारमें चारों ओर धर्मका ही बोलबाला रहता है और भक्त सात्त्विक भावोंसे ओत-प्रोत होकर फूल जाते हैं।

हे पाण्डुपुत्र! जब मैं साकार होकर अवतार लेता हूँ, तब पापोंके पहाड़ विनष्ट हो जाते हैं और पुण्यका सवेरा हो जाता है। ऐसे कार्योंके लिये मैं हर एक युगमें अवतार धारण करता हूँ और जिसे इस रहस्यका ज्ञान हो जाय, जो इस तत्त्वको पहचान जाय, उसीको इस संसारमें विवेकशील जानना चाहिये। (५१—५७)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

मैं मेरा अजत्व (अजन्मा) भाव सुरक्षित रखते हुए जन्म लेता हूँ और कर्म शून्य होनेपर भी कर्मोंको करता रहता हूँ। जो मनुष्य मेरे अलिप्त भावोंको जानता है, उसीको परम मुक्त जानना चाहिये। इस प्रकारका मनुष्य संसारमें रहकर भी कर्मोंको आसक्तिसे नहीं करता और शरीर धारण करनेपर भी शरीर भावसे नहीं बँधता; और जिस समय वह पंच-तत्त्वमें विलीन होता है, उस समय वह मेरे ही स्वरूपमें आ मिलता है। (५८-५९)

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

सामान्यतः अपने लिये अथवा दूसरोंके लिये जो गतागतका शोक नहीं करते, जो कामनारहित होते हैं और जो क्रोधके मार्गसे नहीं जाते, जो मेरे स्वरूपसे ओत-प्रोत रहते हैं, जो सिर्फ मेरी ही सेवाके लिये जीवन धारण करते हैं और जो आत्मज्ञानमें संतुष्ट होते हैं, जिनको विषयोंकी प्रीति नष्ट हो गयी है, जो तपरूपी तेजकी राशि हैं अथवा जो सब प्रकारके ज्ञानके स्थान हैं और जो स्वयं तीर्थरूप रहते हुए अन्य तीर्थोंका भी पावन करते हैं, वे मनुष्य सहजमें ही मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मद्रूप ही हो जाते हैं। हमलोगोंके बीचमें कोई भेद-भाव नहीं रह जाता। देखो, यदि पीतलका सारा का-सारा जंग और कालुष्य बिलकुल समाप्त हो जाय, तो फिर सोना प्राप्त करनेका कौन-सा प्रयोजन रह जाता है? इसी प्रकार जो यम-नियमोंके द्वारा तपाये जानेपर तपोरूपी ज्ञानसे खरे हो जाते हैं, वे यदि मेरा स्वरूप प्राप्त कर लें तो इसमें किसीको शंका ही क्यों हो?(६०—६५)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

प्रायः जो लोग मेरे साथ जैसा बर्ताव करते हैं, उनके साथ मैं भी वैसा ही बर्ताव करता हूँ। तुम यह बात अच्छी तरहसे जान लो कि मनुष्यमात्रमें स्वभावतः मेरे ही प्रति भक्ति रहती है अर्थात् सबके मनका झुकाव मेरी भक्ति करनेके तरफ रहता है। परन्तु ज्ञानके बिना उन मनुष्योंका पतन होता है, वह ऐसे कि, उनमें भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। उसी कारण मेरे एक होनेपर मुझमें अनेकत्वकी कल्पना करते हैं। इसीलिये उन लोगोंको भेदरहित चीजोंमें भी भेद दिखायी देता है और वे नामरहित आत्मतत्त्वका भी नाम रखते हैं तथा जो चर्चाका विषय बन ही नहीं सकता उसे देव अथवा देवी कहते हैं। जो आत्मस्वरूप सर्वत्र और सर्वदा एक समान रहता है, उसीमें इन लोगोंको अपने मनकी खराबीके कारण उत्तम और अधमकी परिकल्पना करनी पड़ती है। (६६—७०)

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

वे लोग अपने मनमें नाना प्रकारकी कामनाओंको रखकर उचित विधि-विधानसे अपनी पसंदीदा अनेक देवी-देवताओंकी उपासना करते हैं। फिर जो-जो अभिलषित वस्तुएँ वे लोग चाहते हैं, वे सब-की-सब वस्तुएँ उन्हें प्राप्त होती हैं। पर यह बात तुम अच्छी तरहसे समझ लो कि ये सब किये हुए कर्मोंके ही फल होते हैं। वास्तवमें यह बात निर्विवाद रूपसे सत्य है कि कर्मके अलावा यहाँ न तो कोई और दाता है और न तो कोई ग्रहीता। इस संसारमें केवल कर्म ही फल देनेवाले होते हैं। जैसे भूमिमें वही उगता है, जो बोया जाता है अथवा दर्पणमें जो देखता है, उसीकी प्रतिच्छाया उसमें दिखायी देती है अथवा जैसे पर्वतके नीचे खड़े होकर जो कुछ भी कहा जाय, उसीकी ही प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है; वैसे ही हे किरीटी! यद्यपि इन सब देवियों और देवताओंके भजनोंका मैं ही साक्षीभूत हूँ, फिर भी उपासककी भावनाके अनुसार उसे भजनका फल प्राप्त होता है। (७१—७६)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥

इसी प्रकार अब तुम यह भी जान लो कि मनुष्य-लोकमें जो ये चारों वर्ण दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी मैंने ही गुणों और कर्मोंके विभागोंके अनुसार उत्पन्न किये हैं; क्योंकि कर्मोंके आचरणका विचार प्रकृति (माया)-के ही आश्रयसे और गुणोंके ही मिश्रणसे हुआ है। हे धनुर्धर! ये सब मनुष्य मूलरूपसे एक ही वर्णके हैं; पर गुण तथा कर्मकी नीतिके अनुसार चार वर्णोंमें बाँटे गये हैं। इसलिये हे पार्थ! मैं कहता हूँ कि इस वर्ण-भेदकी संस्थाका मैं कर्ता नहीं हूँ। (७७—८०)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

जो इस तत्त्वको ठीक तरहसे समझ लेता है कि ये सब (वर्ण-विभाग) मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, पर फिर भी मैंने इन्हें नहीं बनाया है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। (८१)

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥

हे धनुर्धर! जो मुमुक्षुजन अबतक हुए हैं, उन सब लोगोंने मेरे इस मूलस्वरूपको अच्छी तरहसे जानकर ही समस्त कर्मोंको किया है। पर जैसे भूना हुआ बीज बोनेसे कभी अंकुरित नहीं होता, वैसे ही उनके वे कामनारहित कर्म उनके लिये मोक्ष देनेवाले हुए हैं। हे अर्जुन! इन विषयोंके सम्बन्धमें ध्यान देनेयोग्य एक और बात है कि कर्म और अकर्मका विचार बुद्धिमान् मनुष्योंको भी अपनी बुद्धिके अनुसार करनेमें आयेगा ऐसी बात नहीं है। (८२—८४)

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

कर्म क्या है और अकर्मके लक्षण क्या हैं, इस बातका विचार करते-करते बुद्धिमान् लोग भी चकरा गये हैं। जैसे नकली सिक्के देखनेमें असली सिक्कोंकी ही भाँति प्रतीत होते हैं और परीक्षकको भी भ्रमित कर देते हैं, वैसे ही इस प्रकारके उद्भट महापुरुषोंके कर्म भी, जो संकल्पमात्रसे एक दूसरी ही सृष्टितकका सृजन कर सकते हैं, निष्कामताकी झूठी परिकल्पनाके चक्करमें पड़कर अन्ततः सकाम ही सिद्ध हुए हैं अर्थात् इस भ्रमके कारण कर्मबन्धनरूप पाशमें जकड़े जाते हैं। इस विषयमें विचार करते समय जब बड़े-बड़े ज्ञानिजन भी धोखा खा गये हैं अर्थात् मूढ़ बने हैं। तो फिर मूर्खोंकी बात ही क्या है? इसलिये मैं यह विषय स्पष्टरूपसे तुम्हें बतलाता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो। (८५—८८)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

जिसके द्वारा सहजमें ही इस विश्वकी सृष्टि होती है, उसीको 'कर्म' कहना चाहिये। सर्वप्रथम वह सहज कर्म अच्छी तरहसे जान लेना चाहिये फिर ठीक तरहसे यह भी जान लेना चाहिये कि शास्त्रोंमें बतलाये हुए वे कौन-से 'विहित कर्म' हैं जो हमारे वर्णाश्रमके लिये बहुत ही उपयुक्त कहे गये हैं और उनका उपयोग क्या है? फिर जिन कर्मोंको निषिद्ध कर्म कहा गया है, उन सब कर्मोंके भी स्वरूपको भलीभाँति समझ लेना चाहिये। इतना करनेसे इसका फल यह होगा कि हम भ्रमसे अपने-आपको बचा लेंगे इसमें हम कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायँगे। वास्तवमें यह सारा संसार कर्मके अधीन है और इसकी व्याप्ति अत्यन्त ही गहन है; परन्तु हे अर्जुन! यह रहने दो अब कृतकृत्य पुरुषके लक्षण सुनो। (८९—९२)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

जो मनुष्य सब कर्मोंको करता हुआ भी इस तत्त्वको अच्छी तरहसे जानता है कि मैं निष्कर्मा हूँ, जो कर्म-संग होनेपर भी फलकी आशा नहीं रखता और जो केवल कर्तव्य-बुद्धिके अलावा और किसी कारणसे कर्म नहीं करता, उसके विषयमें जान लेना चाहिये कि उसमें यह निष्कर्मताका भाव अच्छी तरह समाहित हुआ है। इसलिये जो मनुष्य अपने सारे कर्म जैसी स्थिति हो, उसीके अनुसार करता रहे, उसीको उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त ज्ञानी जानना चाहिये। जैसे जलके सन्निकट खड़ा हुआ मनुष्य जलमें अपनी प्रतिच्छाया देखता है और यह अच्छी तरहसे समझता है कि मैं इस जलमेंकी प्रतिच्छाया नहीं हूँ, बल्कि इससे बिलकुल भिन्न ही हूँ अथवा जैसे नौका-विहार करनेवाला मनुष्य नदीके तटपर स्थित वृक्षोंको बड़े वेगसे दौड़ते हुए देखता है, और जब वह ठीक तरहसे विचार करता है, तब कहता है कि ये सब वृक्ष अपने-अपने जगहपर ही स्थिर हैं, वैसे ही जो यह जानता है कि मेरे कर्मोंका आचरण आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे एकदम मिथ्या है और जो अपना मूल स्वरूप पहचान लेता है, वही सच्चा

निष्कर्मा है। जैसे उदय और अस्तकी बाधाओंके बावजूद सूर्य अविचलरूपसे भ्रमण करता रहता है, वैसे ही इस प्रकारका मनुष्य समस्त कर्मोंका आचरण करता हुआ भी अपनी निष्कर्मता चंचलरहित ही रखता है। वह देखनेमें तो मनुष्यके सदृश ही जान पड़ता है, जैसे पानीमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दीखता है, लेकिन प्रत्यक्ष वह बिम्ब उसमें डूबा हुआ नहीं है, उसी प्रकार वह सामान्य मनुष्य-जैसा दीखता है, लेकिन उस मनुष्यकी तरह नहीं होता, यानी उसमें सामान्य मनुष्य-जैसे गुणधर्म नहीं होते। ऐसा निष्कर्मा मनुष्य न देखते हुए भी विश्वको देखता है, कुछ नहीं करते हुए भी सारी क्रियाओंको करता है और सब प्रकारकी भोग्य-वस्तुओंका भोग न करते हुए भी भोग भोगता है, पर फिर भी वह इन समस्त क्रियाओंसे सदा निर्लिप्त ही रहता है। वास्तवमें वह तो एक ही स्थानपर बैठा रहता है, पर फिर भी वह सारे संसारमें चारों ओर चक्कर काटता रहता है; बल्कि यह कहना चाहिये कि वह स्वयं ही विश्वरूप हो जाता है।　　(९३—१०२)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

जिस मनुष्यको कर्मोंके आचरणके विषयमें किसी भी प्रकारका कोई विषाद-तिरस्कार नहीं होता, परन्तु साथ-ही-साथ जिसमें कर्मफलासक्ति भी नहीं होती और जिसके मनमें ऐसे संकल्प-विकल्प नहीं होते कि मैं यह कर्म करूँगा अथवा यह आरम्भ किया हुआ कर्म पूर्ण करूँगा और जो ज्ञानाग्निमें अपने सारे कर्मोंको स्वाहा कर चुका होता है, उस मनुष्यको तुम साक्षात् परब्रह्म ही समझो।　　(१०३—१०५)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

जो शरीरके विषयमें उदासीन रहता है तथा कर्मोंके फलके विषयमें इच्छारहित रहता है, फलाकांक्षा नहीं रखता और सर्वदा आनन्दित रहता है, हे धनुर्धर! जो संतोषके मध्य गृहमें भोजन करने बैठता है

और आत्मबोधरूपी भोजन कितना ही परोसा जाय, फिर भी जो कभी नहीं अघाता। (१०६-१०७)

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

वह आत्मानंदकी माधुरीका रसास्वादन दिनोंदिन बढ़ती रहनेवाली रुचिके कारण अधिक लेता है। वह आशाका परित्याग कर देता है और उसे अहंकारके साथ निछावर करके छोड़ देता है। इसीलिये जिस समय उसे जो कुछ समयानुसार मिल जाता है, उसीपर वह सन्तोष करता है और 'यह मेरा है और वह पराया है'—इस प्रकारकी बात भी उसके पास नहीं आने पाती। वह मनुष्य दृष्टिसे जो भी देखता है, वह दृश्य स्वयं बन जाता है और वह जो कुछ सुनता है, वह श्राव्य विषय वह स्वयं बना हुआ होता है। पैरसे चलता है, मुँहसे कुछ भी बोलता है, इस प्रकार जितने भी क्रिया-कलाप (व्यवहार) उससे होते हैं, वे सब कुछ अंगरूपसे वह स्वयं बना हुआ है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व उसके लिये आत्मरूप होता है। फिर भला ऐसे मनुष्यके लिये कौन-सा कर्म कब बाधक हो सकता है? जिस द्वैतभावसे मत्सर उत्पन्न होता है, वह द्वैतभाव जिस मनुष्यमें रह ही नहीं जाता, उसके विषयमें यह कहनेकी जरूरत ही नहीं रहती कि वह निर्मत्सर है, कारण कि उसके सम्बन्धमें यह बात स्वतःसिद्ध ही होती है। इसीलिये 'ऐसा मनुष्य सर्वथा मुक्त ही रहता है और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह सब प्रकारके कर्म करनेपर भी अकर्मा ही रहता है। वह देखनेमें तो सगुण जान पड़ता है, पर वास्तवमें निर्गुण ही रहता है अर्थात् गुणातीत रहता है, इसमें संशय नहीं है। (१०८—१४४)

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

वह चाहे शरीरधारी ही हो, पर फिर भी केवल चैतन्यरूप ही रहता

है। वह परब्रह्मकी कसौटीपर खरा ही उतरता है। ऐसा मनुष्य यदि कुतूहलसे यज्ञादिक कर्म करे भी, तो भी वे सब उसके आत्मस्वरूपमें ही विलीन हो जाते हैं। जैसे बेवक्त आनेवाले निर्जल मेघ आकाशमें चतुर्दिक् छा जानेपर भी वर्षा नहीं करते, बल्कि अपने-आप ही आकाशमें विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ऐसे मनुष्यके किये हुए यज्ञादिक कर्म भी उसके ऐक्यभावमें एकाकार हो जाते हैं। (११५—११८)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

इसका कारण यही है कि उसकी बुद्धिमें ऐसा कोई भेद-भाव होता ही नहीं कि यह हवन है, यह होता है, यह यज्ञका भोक्ता है, इत्यादि। यज्ञकर्ता, यज्ञ, याजन, आहुति और मन्त्र इत्यादि सबको वह अविनाशी आत्मस्वरूप ही समझता है; यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इस प्रकारके बुद्धिसे देखता है। इसलिये हे धनुर्धर! जिसकी ऐसी समबुद्धि हो गयी है कि 'कर्म' का अर्थ ही 'ब्रह्म' है, उसके लिये कर्म करना भी निष्कर्म होनेके ही सदृश है अर्थात् उसने कर्म किये तो भी वो निष्कर्म ही है। इसीलिये जो लोग अविवेकरूपी बाल्यावस्थाको पार करके विरक्तिसे विवाह कर लेते हैं और तब योगरूपी अग्निहोत्र प्रारम्भ कर देते हैं। (११९—१२२)

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

जो अहर्निश योग-यज्ञ करते रहते हैं और गुरुके उपदेशोंकी मन्त्ररूपी अग्निमें मनसहित अविद्याकी आहुति देते रहते हैं, वे योगरूप अग्निको ग्रहण किये हुए अग्निहोत्री जो यज्ञ करते हैं, उसे दैवयज्ञ कहते हैं। हे अर्जुन! उसमें आत्मसुखकी इच्छा रहती है। जिसका पालन प्रारब्ध-कर्मके अनुसार होता है, उस शरीरके पोषणकी चिन्ता जो नहीं करता, उसे दैवयज्ञरूप योगसे महायोगी ही जानो। अब मैं तुम्हें यज्ञके कुछ और प्रकार भी बतलाता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। जो ब्रह्माग्निसे अग्निहोत्र करते हैं, वे उस यज्ञसे ही यज्ञ-विधि करते हैं। (१२३—१२६)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम, यही कोई अग्निहोत्र करनेवाले कित्येक मूलबंधादिक तीन बंधरूप मंत्रद्वारा, इन्द्रियरूपी पवित्र द्रव्यसे यज्ञ करते हैं। दूसरे कित्येक वैराग्यरूप सूर्यके उदय होनेके साथ संयमरूप कुण्डकी अर्थात् यज्ञवेदीकी रचना करते हैं फिर उस कुण्डमें इन्द्रियरूप अग्नि प्रकट होता है। जिस समय वैराग्यरूपी ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है, उस समय उसमें विकाररूपी ईंधन जलने लगते हैं और अन्तःकरण पंचकरूपी पंच-कुण्डोंको छोड़कर आशारूपी धूम्र बाहर निकल जाता है, जिससे वे कुण्ड स्वच्छ हो जाते हैं। तब इस प्रकारके लोग '**अहं ब्रह्मास्मि**' को उच्चारण करते हुए अन्तःकरणके कुण्डमें इन्द्रियरूपी अग्निके मुखमें विषयोंकी आहुति देते हैं। (१२७—१३०)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

हे पार्थ! कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इसी प्रकार संयमका अग्निहोत्र करके पापोंसे सर्वथा शुद्ध हो गये हैं अर्थात् इस प्रकार कई एक अपने सब दोषोंका प्रक्षालन करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हृदयरूपी अरणीका घर्षण कर अग्नि उत्पन्न करनेके लिये विवेकको मथानी बनाते हैं। वे मथानीको शांतिसे सुदृढ़ पकड़ लेते हैं और ऊपरसे सात्त्विक धैर्यके साथ मजबूतीसे पकड़कर गुरु-उपदेशरूपी डोरीसे जोरसे मंथन करते हैं। इस प्रकार अनवरत भलीभाँति मंथन करते रहनेपर तत्काल ही उसका फल भी प्राप्त हो जाता है; क्योंकि ज्ञानाग्नि प्रकट हो जाती है। पर इस ज्ञानरूपी अग्निके प्रज्वलित होनेसे पूर्व जो थोड़ा-सा धुआँ निकलता है, यही ऋद्धि-सिद्धियोंका मोह है। यह धुआँ जब अति शीघ्र ही निकल जाता है, तब पहले ज्ञानरूपी अग्निकी अत्यन्त सूक्ष्म चिनगारी उत्पन्न होती है। यम, दम इत्यादिसे सुखाये जानेके कारण जो मन पहलेसे ही हलका हुआ है, वही मन इस चिनगारीके

लिये ईंधनका काम देता है अर्थात् ज्ञानरूप चिनगारीको प्रज्वलित करता है। जब इससे तीव्र ज्वाला उत्पन्न होती है, तब भिन्न-भिन्न वासनाएँ ईंधनके रूपमें ममतारूपी घीके साथ भस्मीभूत हो जाती हैं। उस समय दीक्षित व्यक्ति 'सोऽहम्' मन्त्रका उच्चारण करते हुए प्रज्वलित ज्ञानरूपी अग्निमें इन्द्रियोंके कर्मोंकी आहुति देते हैं।

तदनन्तर, प्राण-कर्मरूपी स्रुवा नामक दर्भपात्रसे उस अग्निमें पूर्णाहुति दी जाती है और तब अन्तमें ब्रह्म-तादात्म्यकी एकरूप अवस्थामें अवभृथ-स्नान होता है। इसके बाद वे यज्ञकर्ता संयम-अग्निमें इन्द्रिय-आदि होमद्रव्यसे हवन करके इस संयमरूपी यज्ञका बचा हुआ हविर्भाग, जो आत्मज्ञानका आनन्द है, पुरोडाशके रूपमें ग्रहण करते हैं। अनेक लोग इस प्रकारका यज्ञ विधान करके तीनों लोकोंसे मुक्त हो गये हैं। अबतक मैंने जो यज्ञ-विधान बतलाये हैं, वे देखनेमें भले ही पृथक्-पृथक् जान पड़ें, पर उन सबका साध्य एक ही है और वह साध्य ब्रह्मके साथ समरसता प्राप्त करना ही है। (१३१—१४०)

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

उनमेंसे किसीकी 'द्रव्ययज्ञ' ऐसी संज्ञा है। कुछ यज्ञ तपरूप सामर्थ्यसे उत्पन्न होते हैं, कितने ही योगयज्ञ कहे गये हैं। कितने ही यज्ञमें शब्दसे शब्दोंका हवन करते हैं (वेदोंके शब्दका उच्चारण करते हैं) उसे 'वाग्यज्ञ' कहते हैं। जिसमें ज्ञानसे (जानी जानेवाली वस्तु 'ब्रह्म') जाना जाता है, वह 'ज्ञानयज्ञ' कहा जाता है। पर हे अर्जुन! ये सब यज्ञ अत्यन्त विकट हैं, क्योंकि इनका अनुष्ठान बहुत ही कठिन है। परन्तु जो लोग जितेन्द्रिय हैं, वे अपनी सामर्थ्यसे इन यज्ञोंका साधन कर सकते हैं। वे उस काममें कुशल होते हैं और योगसमृद्धिसे सम्पन्न होते हैं। इसलिये वे अपने आत्मस्वरूपमें जीवबुद्धिका हवन करते हैं। (१४१—१४४)

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥

कुछ लोग अपानवायुरूपी अग्निकी ज्वालामें अभ्यासयोगसे प्राणवायुरूपी द्रव्योंका हवन करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो प्राणवायुमें अपानवायुकी आहुति देते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो प्राण तथा अपान—इन दोनोंका ही निरोध कर लेते हैं। हे पाण्डुकुँवर! ऐसे योगियोंको प्राणायामी कहते हैं। (१४५-१४६)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

कुछ ऐसे लोग भी हैं जो वज्र-योग अर्थात् वज्रासनद्वारा मूलबन्धके पद्धतिसे विषयरूपी आहारोंका नियमन करके धैर्यपूर्वक प्राणवायुरूपी अग्निमें समस्त प्राणोंका ही हवन करते हैं अर्थात् प्राणोंसे ही प्राणका लय करते हैं। इस प्रकारका यज्ञ-साधन करके मनके समस्त मलको निकालकर दूर फेंकनेवाले ये सब यज्ञकर्ता मोक्षकी ही कामना करते हैं। जो लोग अज्ञानको जलाकर केवल सहज आत्मस्वरूप ही बचाये रहते हैं, उनमें फिर अग्नि और यज्ञकर्ताका कोई भेद ही नहीं रहता। फिर ऐसी दशामें यज्ञकर्ताका हेतु पूर्ण हो जाता है; यज्ञकी क्रिया भी समाप्त हो जाती है और कर्मोंके सारे बखेड़े ही समाप्त हो जाते हैं। उस समय विचार और हेतुके प्रवेशकी तनिक भी गुंजाइश नहीं रह जाती और द्वैत भावनाका दोष छू भी नहीं सकता यानी द्वैतभावसे लिम्पायमान नहीं होते। (१४७—१५१)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

इस प्रकार यज्ञ-विधानकी समाप्तिमें जो अविनाशी अनादि तथा निर्दोष ज्ञान मिलता है उसीका ब्रह्मनिष्ठ लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्रका जप करते हुए सेवन करते हैं। इस प्रकार जो लोग इस यज्ञ-शेषके अमृतसे सन्तुष्ट होकर अमरता प्राप्त करते हैं, वे अनायास ही ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं; किन्तु जिन लोगोंसे कभी इस आत्मसंयमरूपी अग्निकी सेवा नहीं हो सकती और जो लोग जन्म ले करके भी योगरूपी यज्ञ नहीं करते, उन्हें

विरक्ति कभी भी जयमाल नहीं डालती। जो लोग लौकिक क्रियाओंको ठीक तरहसे न कर सकते हों, अर्थात् जिनका इहलोकमें ही भाग्य ठीक नहीं है; उनके विषयमें पारलौकिक सुखकी तो बात ही क्या की जाय? हे पाण्डुकुँवर! ऐसे लोगोंकी तो बात ही छोड़ो। (१५२—१५५)

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

यज्ञके जो अनेक प्रकार मैंने तुम्हें बतलाये हैं, उनका वेदोंने अत्यन्त विस्तारसे निरूपण किया है। पर हमें उस विस्तारसे क्या लेना-देना है। बस, इतनी बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि ये सब (पीछे कहे गये यज्ञादिक) कर्मसे उत्पन्न होते हैं। इतना जान लिया तो कर्मसे अपने-आप मोक्ष हो जाता है। (१५६-१५७)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

हे अर्जुन! वेद जिनका मूल है और जो बाह्य-क्रिया प्रधान स्थूल-यज्ञ हैं, उनका अपूर्व फल स्वर्गका सुख ही है। उन यज्ञोंमें एकमात्र जड़-द्रव्योंकी ही आहुति दी जाती है; इसलिये जैसे सूर्यके समक्ष समस्त तारोंका तेज निष्प्रभ हो जाता है, ठीक वैसे ही इन ज्ञान-यज्ञके समक्ष ये सब जड़-यज्ञ निष्प्रभ हो जाते हैं। देखो, परमात्मस्वरूप सुखकी ठेव (संग्रह) हस्तगत करनेके लिये योगीलोग ज्ञानरूप अंजन बुद्धिरूप आँखोंमें डालनेके लिये कभी भी भूलते नहीं, जो चालू (वर्तमान) कर्मके समाप्तिका स्थान हैं, जो कर्मातीत ज्ञानकी खान हैं, आत्मसुखके लिये जो आर्त हैं उनके साधनोंकी जो तृप्ति है, जिनके यहाँ प्रवृत्ति पंगु होती है, तर्क दृष्टिहीन हो जाता है, इन्द्रियाँ विषयोंका संग भूल जाती हैं, जिससे मनका मनत्व ही विनष्ट हो जाता है, शब्दका शब्दत्व बन्द हो जाता है और ज्ञेयका पता लग जाता है, जो ज्ञान-वैराग्यकी इच्छा पूर्ण कर देता है, विवेकका निराकरण करता है और जो अनायास ही आत्म-तत्त्वके साथ भेंट करा देता है, (१५८—१६४)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

—यदि तुम उस उत्तम ज्ञानको पाना चाहते हो तो तुम्हें हर प्रकारसे इन सन्तोंकी सर्वस्वसे सेवा करनी चाहिये; क्योंकि साधुजनोंकी सेवा ही ज्ञानरूपी मन्दिरकी दहलीज (द्वार) है। इसलिये हे सुभट! तुम सेवा करके इस ज्ञानको अपने अधीन करो। इसके लिये शरीर, मन और प्राणसे सन्तोंके चरणोंमें जाना चाहिये और अभिमानशून्य होकर उनकी खूब सेवा करनी चाहिये। ऐसा करनेपर जिस ज्ञानकी हमें अभिलाषा है, उसके विषयमें पूछनेपर ये सन्तजन उस अभिलषित ज्ञानका भी हमें उपदेश देंगे और वह ज्ञान ऐसा है कि जिसका उपदेश यदि हृदयमें समा जाय तो वह संकल्पहीन हो जाता है। (१६५—१६८)

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

उनके उपदेशरूप प्रकाशसे भयरहित हुआ चित्त ब्रह्म जैसा संशयरहित होता है। उस समय तुम स्वयं अपने समेत यह समस्त जगत् निरन्तर मेरे स्व-स्वरूपमें ही देख सकोगे। हे पार्थ! जब श्रीगुरुकी कृपा होगी, तब इस ज्ञानरूपी प्रकाशकी प्रभात होगी और अज्ञानान्धकार नष्ट हो जायगा। (१६९—१७१)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ३६॥

तुम चाहे कल्मषके आगर, भ्रान्तिके सागर और विकारोंके (व्यामोहके) पर्वत ही क्यों न हो, तो भी इस ज्ञानशक्तिके सामने ये सब बातें अत्यन्त तुच्छ ठहरती हैं। इस ज्ञानमें ऐसी ही उत्तम निर्दोष सामर्थ्य है। जिस ज्ञानरूपी प्रकाशके समक्ष उस अमूर्त परम तत्त्वकी विश्वाभासरूपी छाया भी शेष नहीं रह जाती, उस ज्ञानको तुम्हारे मनकी कालुष्यको भगानेमें भला कितना श्रम करना पड़ेगा? इस सम्बन्धमें तो किसी प्रकारकी शंका

करना ही पागलपनके सिवा कुछ नहीं है। इस संसारमें इस ज्ञानके समान व्यापक, समर्थ और कोई दूसरी चीज है ही नहीं। (१७२—१७५)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

प्रलयकालके जिस तूफानके समक्ष तीनों लोक भी जलकर आकाशमें धूम्रकी भाँति उड़ जाता है, भला उसके समक्ष साधारण बादल कहाँतक टिक सकते हैं? अथवा जो प्रलयकालकी अग्नि वायुकी शक्तिसे स्वयं जलको भी भस्म कर डालती है, वह प्रलयाग्नि क्या कभी घास-फूस और काष्ठके समक्ष दब सकती है? (१७६-१७७)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

यदि ठीक तरहसे विचार किया जाय तो यह कथन एकदम असंगत है कि मनका मल इस परम ज्ञानसे नष्ट नहीं हो सकता। फिर इस संसारमें ज्ञानसे बढ़कर और कोई पावन चीज भी तो नहीं है। जैसे इस संसारमें चैतन्यके अलावा और कोई दूसरी वस्तु नहीं है जिसकी तुलना चैतन्यके साथ की जा सके, वैसे ही यह ज्ञान भी ऐसा उत्तम है कि इसके टक्करका और कोई पदार्थ है ही नहीं। यदि इस अति तेजस्वी सूर्य-बिम्बकी कसौटीपर उसका प्रतिबिम्ब खरा उतर सकता हो अथवा यदि इस आकाशका गट्ठर बनाया जा सकता हो अर्थात् आकाशको अपने वशीभूत किया जा सकता हो अथवा यदि पृथ्वीके मापका भार हाथमें लिया जा सकता हो, तभी, हे पाण्डुकुँवर! संसारसे इस ज्ञानकी उपमा भी प्राप्त हो सकती है और नहीं तो नहीं। इसीलिये सब दृष्टियोंसे देखनेसे और बारंबार विचार करनेसे यही एक बात निश्चित होती है कि इस ज्ञानकी पवित्रता ज्ञानमें ही है और वह अन्यत्र अप्राप्य है। जैसे यदि किसीको अमृतके स्वादके बारेमें बतलाना हो कि वह कैसा होता है, तो यही कहना पड़ता है कि वह अमृत-जैसा ही होता है, वैसे ही ज्ञानके लिये भी सिर्फ ज्ञानकी ही उपमा

दी जा सकती है; किन्तु अब इस सम्बन्धमें और अधिक कहना केवल समय गँवाना ही है।" श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने कहा—"हे देव! आप जो कुछ कहते हैं, वही सत्य है।"

तत्पश्चात् अर्जुनने मन-ही-मन सोचा कि अब श्रीकृष्णसे इस ज्ञानको पहचाननेका तरीका भी पूछना चाहिये और इसके लक्षण क्या हैं इसकी जानकारी भी कर लेनी चाहिये; किन्तु तत्क्षण श्रीकृष्णने अर्जुनके मनोभावको समझ लिया और कहा—हे किरीटी! अब मैं इस ज्ञानके साधनका उपाय तुम्हें बतलाता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। (१७८—१८६)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

"जो व्यक्ति आत्मसुखका स्वाद ले लेनेके कारण सम्पूर्ण विषयोंको तुच्छ समझता है, जो इन्द्रियोंके लाड़-चाव नहीं करता, जो किसीकी भी इच्छा मनमें आने नहीं देता, जो प्रकृतिसे होनेवाले कर्मोंका कर्तृत्व अपनी तरफ नहीं आने देता और श्रद्धाकी संगतिसे जो सुखी हो जाता है, निःसन्देह निर्दोष और अखण्ड शान्तिसे भरा-पूरा यह ज्ञान स्वतः उसे तलाशता हुआ उसके पास पहुँचता है। जहाँ वह ज्ञान हृदयमें भलीभाँति प्रविष्ट हो जाता है और शान्तिका अंकुर फूटता है, वहीं आत्मबोधका स्वतः विस्तार होने लगता है। इतना हो जानेपर वह जिधर ही अपनी दृष्टि घुमाता है, उधर ही उसे एकमात्र शान्ति-ही-शान्ति दिखायी देती है। उस सीमारहित शांतिका पैलतीर (उस पारका किनारा) कहाँ है, यह विचार करनेपर भी समझमें नहीं आता। इस प्रकार इस ज्ञानरूपी बीजका अनवरत असीम विस्तार होता रहता है। अब इसका विवेचन मैं कहाँतक करूँ। इतना ही कहना यथेष्ट है। (१८७—१९२)

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

हे अर्जुन! जिस प्राणीके मनमें इस ज्ञानको पानेकी अभिलाषा न हो,

उसका जीवन धारण करनेकी अपेक्षा मर जाना ही उचित है। जैसे उजड़ा हुआ घर अथवा प्राणशून्य देह होता है, वैसे ही ज्ञानशून्य जीवन भी सिर्फ भ्रमसे भरा हुआ ही होता है अथवा यदि किसी प्राणीकी ऐसी अवस्था हो कि उसे यह ज्ञान तो न मिला हुआ हो, पर फिर भी जिसके अन्त:करणमें इस ज्ञानके प्रति कुछ आदरभाव हो, तो यह जान लेना चाहिये कि उसके लिये यह ज्ञान प्राप्त कर लेना सम्भव है। उस व्यक्तिका कोई मूल्य नहीं है जिसे ज्ञान प्राप्त न हुआ हो। यदि किसी मनुष्यमें यह ज्ञान भी न हो और उसके मनमें ज्ञानके प्रति कोई आदर भी न हो, तो उसके विषयमें यह निर्विवादरूपसे जान लेना चाहिये कि वह संशयकी अग्निमें भस्मीभूत हो गया है। जब किसी मनुष्यके मनमें अपने-आप ऐसी अरुचि उत्पन्न हो जाती है कि उसे अमृत भी नहीं भाता, तब निश्चितरूपसे यही जान लेना चाहिये कि उसकी मृत्यु उसके सिरपर मँडरा रही है। इसी प्रकार जो मनुष्य विषयोंकि सुखमें आबद्ध रहता है और जो ज्ञानके विषयमें बेपरवाह रहता है, उसके विषयमें स्पष्टरूपसे यह जान लेना चाहिये कि स्वयं संशयने उसे अच्छी तरहसे दबोच लिया है और जो संशयमें पड़ता है, उसका सर्वनाश ही होता है। वह इस लोक और परलोकके सुखोंसे हाथ धो बैठता है। जो भीषण ज्वरसे पीड़ित रहता है, उसे ग्रीष्म और शीतके भेदका पता ही नहीं चलता। ऐसा मनुष्य जिस प्रकार अग्नि और चन्द्रिका—इन दोनोंको एक समान ही समझता है, उसी प्रकार संशयित मनुष्यको सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा, हित और अहितका भेद ज्ञात ही नहीं हो पाता। जैसे जन्मसे अन्धे व्यक्तिको रात और दिनका पता नहीं चलता, वैसे ही संशयित मनुष्यको भी किसी बातका पता नहीं चलता। इसलिये इस संसारमें संशयसे बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है। प्राणियोंको पकड़कर उनके सर्वनाशके लिये तो यह एक जाल ही है। इसलिये तुम ज्ञानके अभावमें उत्पन्न होनेवाला यह संशय छोड़ दो। सबसे पहले तुम्हें केवल इस संशयको ही जीतना चाहिये। जब अज्ञानका अँधेरा छा जाता है, तब यह संशय और बलवान् हो जाता है और श्रद्धाका मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है फिर यह इतना बढ़ता

है कि अन्तःकरणमें समा ही नहीं सकता; वह बुद्धिको ग्रस लेता है और तब शीघ्र ही उस मनुष्यके लिये तीनों लोक संशयमय हो जाते हैं। (१९३—२०६)

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४१॥

देखो, यद्यपि यह संशय इतना अधिक व्यापक है, पर फिर भी एक उपायसे इसका नियन्त्रण हो सकता है। यदि हमारे हाथमें ज्ञानरूप खड्ग हो तो उस तीक्ष्ण ज्ञान-खड्गसे इसका जड़से सफाया हो जाता है और फिर मनमें लेशमात्र भी इसका कोई अंश शेष नहीं रह जाता। (२०७-२०८)

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

"इसलिये हे पार्थ, तुम शीघ्र उठो और अपने हृदयमें स्थित संशयका नाश कर डालो।" इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ और ज्ञानरूपी दीपक श्रीकृष्णने ये सब बातें कृपापूर्वक अर्जुनसे कहीं। हे महाराज धृतराष्ट्र! आप भी इन सब बातोंको अपने चित्तमें धारण करें। श्रीकृष्णकी पूर्वापरकी सब बातोंका विचार करके पाण्डुपुत्र अर्जुन अब जो प्रश्न करेंगे, उसका प्रसंग भक्तिका भण्डार और रसाविर्भावकी प्रौढ़तासे पूर्ण है। अब आगे उसी प्रसंगकी चर्चा की जायगी। जिस शान्तरसके माधुर्यपर शेष आठों रस निछावर करके फेंक देनेके योग्य होते हैं और जिस शान्तरसमें सज्जनोंकी बुद्धिको विश्राम मिलता है, वह शान्तरस इस कथामें अपने अपूर्व परिपाकको प्राप्त होगा। अब आपलोग समुद्रसे भी अधिक गम्भीर और अर्थपूर्ण भाषामें इस कथाका ध्यानपूर्वक श्रवण करें।

जिस प्रकार सूर्यका बिम्ब बहुत छोटा-सा दिखायी पड़ता है, पर उसका प्रकाश इतना व्यापक होता है कि त्रिभुवनमें भी नहीं समाता, उसी प्रकार आपको इस कथाके शब्दोंकी व्यापकताका भी अनुभव होगा अथवा जैसे

कल्पवृक्ष याचना करनेवाले याचककी इच्छानुकूल फल देता है, ठीक वैसे ही इस वाणीकी व्यापकता भी श्रोताओंकी इच्छानुसार कम या अधिक होगी। इसलिये आप सब लोग दत्तचित्त होकर सुनें। पर अब अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। जो लोग सर्वज्ञ हैं, उनको अपने-आप समझमें आता है। इसलिये और अधिक क्या कहा जाय! मेरी एकमात्र विनती है कि आपलोग ध्यान देकर सुनें। जैसे किसी स्त्रीमें लावण्य, गुण और कुलीनताके साथ-ही-साथ पातिव्रत्य भी रहता है, वैसे ही इन पंक्तियोंमें साहित्यका ललित गुण तथा शान्तरस—इन दोनोंका ही समावेश स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, शान्तरसको साहित्यके अलंकारकी जोड़ी लगायी है। एक तो चीनी (खाँड़) यूँ ही लोगोंको रुचिकर है, तिसपर यदि वह दवाके रूपमें दी जाय तो फिर वह बार-बार प्रसन्नतापूर्वक क्यों न खायी जाय? मलयवायु स्वभावतः मन्द और सुगन्धित होती है, तिसपर यदि उसे अमृतका स्वाद मिल जाय और संयोगसे उसमें सु-स्वर भी उत्पन्न हो जाय, तब वह अपने स्पर्शसे शरीरके समस्त अंगोंका ताप शान्त करती है, रुचिकर स्वादसे जिह्वाको आनन्दसे नचाती है तथा श्रवणेन्द्रियोंको तृप्त करके उनसे 'वाह! वाह!' का उद्गार निकलवाती है। इस प्रकार इस कथाका श्रवण करनेसे श्रवणेन्द्रियोंके व्रतका पारण हो जाता है अर्थात् श्रवणेन्द्रियोंकी तृप्ति हो जाती है और बिना किसी नुकसानके संसारके समस्त दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। यदि मन्त्रसे ही शत्रुकी मृत्यु हो जाती हो, तो फिर कमरमें कटार बाँधनेकी क्या जरूरत है? यदि दूध और शक्करसे ही रोग निवृत्त होता हो, तो फिर नीमके रसका पान क्यों किया जाय? इसी प्रकार बिना मन-मारे और बिना इन्द्रियोंको कष्ट दिये सिर्फ यह कथा सुननेसे ही स्वतः मोक्ष प्राप्त हो जाता है, इसलिये श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि आप सब लोग उतनी ही शान्तिपूर्वक गीताका यह अर्थ मनोयोगपूर्वक श्रवण करें। (२०९—२२५)

~~०~~

अध्याय पाँचवाँ

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

तब पार्थने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव! आप ये कैसी बातें कर रहे हैं? यदि आप निश्चयपूर्वक कोई एक बात बतलाते तो मैं अपने अन्तःकरणमें उस बातपर विचार कर सकता। अभी आपने सब कर्मोंके संन्यास अथवा परित्याग करनेकी ही बात अनेक प्रकारसे बतलायी है और तब आप ही बड़ी प्रसन्नतासे कर्मयोगका पूरी तरहसे समर्थन करते हैं और महत्त्व भी बतलाते हैं। यह क्या बात है? हे श्रीअनन्त, आप जो ऐसी द्वि-अर्थी भाषा बोलते हैं उससे मुझ अल्पज्ञके चित्तमें जैसा चाहिये वैसा बोध नहीं हो पाता। हे देव! यदि आपको किसी एक ही तत्त्व-सिद्धान्तका उपदेश करना हो तो उसके विषयमें आपका भाषण भी निश्चित और ऐसा होना चाहिये जिसमें और किसी विषयकी चर्चा न हो। आपकी बातें असमंजसमें डालनेवाली नहीं होनी चाहिये। यह कोई ऐसी बात नहीं है जो मैं आपको समझाकर बतलाऊँ। इसीलिये आप-जैसे गुरुसे मैंने शुरूमें ही विनती की थी कि आप मुझे परमार्थका ऐसा उपदेश न करें जो गूढ़ हो अर्थात् संदिग्ध हो। पर हे देव! अब आप बीती बातोंको छोड़िये और स्पष्टरूपसे इस बातको बताइये कि 'कर्मसंन्यास' तथा 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे कौन-सा मार्ग हितकर है और श्रेष्ठ है, जो अन्ततक अच्छी तरहसे ठहर सके, जो निश्चितरूपसे फल देनेवाला हो और स्पष्ट तथा सहज आचरणवाला भी हो? वह साधन पालकीकी भाँति ऐसा सहज और सुख

देनेवाला होना चाहिये जिसमें नींद भी खराब न हो और रास्ता भी बहुत-सा कट जाय।''

अर्जुनकी ये सब बातें सुनकर श्रीकृष्णको बड़ा ही आनन्द आया और उन्होंने सन्तोषपूर्वक कहा—''हे पार्थ! अब मैं तुम्हें वैसा ही सहज और सुखद साधन बतलाता हूँ, जैसा कि तुम चाहते हो; ध्यानपूर्वक सुनो।'' हे श्रोतावृन्द! श्रीकृष्णका यह कथन एकदम यथार्थ है; क्योंकि जिस सौभाग्यशाली बालककी माता साक्षात् कामधेनु ही हो, यदि वह अपने खेलनेके लिये खिलौनेके रूपमें चन्द्रमा माँगे तो वह भी उसे मिल जाता है। देखो, जिस समय उपमन्युपर भगवान् शिव प्रसन्न हुए थे और उपमन्युने उनसे दूध-भात खानेकी इच्छा प्रकट की थी, उस समय उपमन्युकी वह इच्छा पूरी करनेके लिये भगवान् शिवने उसे क्षीरसागर ही दे दिया था, अथवा नहीं? इसी प्रकार जो श्रीकृष्ण उदारताके गुणोंकी खान ही हैं, वे यदि वीरशिरोमणि अर्जुनपर प्रसन्न हो गये हों, तब फिर अर्जुनको सब प्रकारके सुखोंका आश्रय क्यों न प्राप्त हो? इसमें आश्चर्य ही क्या है? यदि श्रीलक्ष्मीपति-जैसा ऐश्वर्यवान् मिल जाय तो अपनी इच्छानुकूल सब चीजें उनसे अवश्य ही माँग लेनी चाहिये। इसीलिये अर्जुनने जिस ज्ञानकी याचना की थी, वह ज्ञान श्रीकृष्णने उसे अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक दिया। अब हम यह बतलाते हैं कि श्रीकृष्णने उससे क्या कहा। आप सबलोग ध्यानपूर्वक सुनिये। (१—१४)

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—''हे कुन्तीसुत, यदि कर्मसंन्यास और कर्मयोग—इन दोनोंका अच्छी तरहसे विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि तत्त्वतः दोनों ही मोक्ष प्राप्त करनेके मार्ग हैं। फिर भी ज्ञानी और अज्ञानी सब जीवोंके लिये यह कर्मयोग ही स्पष्ट और सुगम मार्ग है।

जैसे किसी जलाशयको पार करनेके लिये नौका स्त्रियों और बालकोंतकके लिये उपयोगी होती है, वैसे ही यदि तारतम्यका विचार किया जाय तो सब प्रकारके जीवोंको भवसागर तरनेके लिये यह कर्मयोग ही समानरूपसे सुलभ है। यदि इस कर्मयोगका अच्छी तरहसे आचरण किया जाय तो कर्म-संन्यासका फल भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। अब मैं तुम्हें संन्यासियोंके लक्षण बतलाता हूँ जिससे तुम्हें कर्म-संन्यास और कर्मयोगकी अभिन्नताका ज्ञान बहुत सहजमें ही हो जायगा। (१५—१८)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

जो हाथसे निकली हुई वस्तुको याद करके दुःखी नहीं होता अथवा जो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा नहीं रखता, जिसका अन्तर्मन मेरुगिरिकी भाँति स्थिर रहता है, जिसके अन्तःकरणमें 'मैं' 'मेरा' आदिकी भावनाएँ लेशमात्र भी नहीं रहतीं, हे पार्थ! उसी मनुष्यको नित्य संन्यासी जानना चाहिये। जो मनुष्य इस अवस्थामें पहुँच जाता है, उस मनुष्यके लिये कर्मसंग कभी बाधक नहीं होता और वह निरन्तर अक्षुण्ण सुख प्राप्त करता है। ऐसे नित्य संन्यासीको घर-बार छोड़नेकी जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वह मनुष्य संगहीन रहकर यह बात ठीक तरहसे जानता रहता है कि इन सब सांसारिक प्रपंचोंके साथ मेरा कुछ भी लेना-देना नहीं है। देखो, जिस समय आग बुझ जाती है, उस समय केवल राख-ही-राख बची रहती है। फिर वह राख बत्ती बनाते समय रूईके साथ रखी जा सकती है अर्थात् रूईमें राख रखी जाय तो भी कुछ नहीं होता। इसी प्रकार संसारकी उपाधियोंमें रहते हुए भी संकल्प-विकल्पकी आँच जिसकी बुद्धिको नहीं लगती, वह कभी भी कर्मके बन्धनोंमें नहीं पड़ता। इसीलिये जिस समय संकल्प-विकल्प बन्द हो जाते हैं, उसी समय संन्यासकी प्राप्ति होती है। इसीलिये कर्म-संन्यास और कर्मयोग दोनों साथ-ही-साथ चलनेवाले हैं। अर्थात् फलकी दृष्टिसे दोनों एक ही हैं। (१९—२५)

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

हे पार्थ! सामान्यतः जो लोग सर्वथा मूर्ख (अज्ञानी) होते हैं, वे ज्ञानयोग और कर्मयोगकी व्यवस्था भला कैसे समझ सकते हैं? वे अपने स्वाभाविक अज्ञानके कारण इन दोनोंको एक-दूसरेसे पृथक् समझते हैं। पर यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या कभी अलग-अलग दीपकोंके प्रकाशमें कोई अन्तर दृष्टिगोचर होता है? जिन्होंने एक ही मार्गका आचरण करके स्वानुभवसे आत्मरूपका तत्त्व भलीभाँति समझ लिया है, वे संन्यास और योग—इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं मानते। (२६—२८)

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

जो बात सांख्य-साधन अथवा ज्ञानमार्गसे प्राप्त होती है, वही बात योगसाधनसे भी मिल जाती है और इसीलिये वे दोनों एकरूप ही होते हैं। जैसे आकाश और अवकाशका भेद नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही योग और संन्यासके ऐक्यके विषयमें भी जानना चाहिये। जिसे संन्यास और योगका भेदरहित ज्ञान हो, उसीके विषयमें यह जानना चाहिये कि उसे सच्चा प्रकाश मिला हुआ है और उसीने ही आत्मस्वरूपको भी पहचाना है। (२९—३१)

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

हे पार्थ! जो मनुष्य कर्मयोगके मार्गसे मोक्षरूपी पर्वतपर चढ़ता है, वह अविलम्ब महासुखके शिखरपर पहुँच जाता है। किन्तु जो योग-साधनका आश्रय नहीं लेते वे वृथा खटपट करते रहते हैं और उन्हें कभी सच्चा संन्यास नहीं मिलता। (३२-३३)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जो लोग माया और मोहसे अपने मनको हटाकर एकदम अलग-

थलग कर लेते हैं और गुरुके उपदेशसे अपने मनका सारा मल धोकर शुद्ध कर डालते हैं तथा उसे बड़ी दृढ़तासे आत्मस्वरूपमें अच्छी तरहसे स्थापित कर देते है और जैसे लवण जबतक समुद्रमें नहीं पड़ता, तबतक तो वह समुद्रसे भिन्न और आकारकी दृष्टिसे उसके समक्ष बहुत ही तुच्छ जान पड़ता है, पर जब वही लवण समुद्रमें घुलकर उसके साथ एक-जीव हो जाता है, तब वह भी समुद्रकी ही भाँति व्यापक और अनन्त हो जाता है, वैसे ही जिसका मन संकल्प-विकल्पोंसे निकलकर चैतन्यमें मिल जाता है और उसके साथ समरस हो जाता है, वह मनुष्य यद्यपि देखनेमें देश-कालकी दृष्टिसे अन्यान्य लोगोंकी तरह एक देशमें स्थित जान पड़ता है, तो भी वह अपने आत्मस्वरूपसे तीनों लोकोंको आच्छादित कर लेता है अर्थात् ऐसे मनुष्यके विषयमें 'कर्ता', 'कर्म' और इसी तरहकी अन्य बातोंका सहजमें अन्त हो जाता है और तब वह चाहे सब कर्मोंको करता ही क्यों न रहे, तो भी वह सदा अकर्ता ही रहता है। (३४—३७)

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९ ॥

क्योंकि हे पार्थ! जब ऐसे मनुष्यको इस बातका स्मरण नहीं रहता कि मैं देहरूप हूँ, तो फिर भला उसमें कर्तृत्व किस तरह लग सकता है? इस प्रकार योगयुक्त पुरुषोंमें देह-त्यागके बिना ही परब्रह्मके समस्त लक्षण दिखायी पड़ते हैं। सामान्यतया वह भी दूसरे साधारण मनुष्योंकी तरह देह धारण करके सब प्रकारके कर्मोंका आचरण करता हुआ दिखायी पड़ता है। कर्मयोगी भी दूसरे मनुष्योंकी ही तरह नेत्रोंसे देखता है और श्रवणेन्द्रियोंसे सुनता है; परन्तु उसके सम्बन्धमें विलक्षण बात यही होती है कि वह इन इन्द्रियोंके कर्मोंमें आसक्त नहीं होता। उसे स्पर्शका भी ज्ञान होता है और वह घ्राणेन्द्रियसे सुगन्धको भी सूँघता है। वह प्रसंगानुसार

बोल भी सकता है। वह आहारको भी स्वीकार करता है, त्यागनेयोग्य वस्तुओंका त्याग भी करता है और निद्राके समय सुखपूर्वक सोता भी है। वह स्वेच्छानुसार चलता-फिरता भी है। इस प्रकार वह सब तरहके कर्मोंको करता रहता है। हे पार्थ! अब मैं एक-एक बात कहाँतक कहूँ! वह श्वासोच्छ्वास और पलकोंको मूँदने और खोलनेकी क्रियाएँ भी करता है, पर कर्मयोगियोंको प्राप्त होनेवाले स्वानुभवके सामर्थ्यसे वह सब कर्मोंका आचरण करता हुआ भी 'अकर्ता' ही बना रहता है, क्योंकि जबतक वह मायारूपी शय्यापर सोया हुआ था, तबतक तो वह स्वप्नके झूठे सुखके चक्करमें पड़ा हुआ था; पर अब ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हो जानेके कारण वह जागकर होशमें आ जाता है। (३८—४७)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

जिस समय चैतन्यके आश्रयसे अकर्तृत्व स्थिति प्राप्त होती है, उस समय समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अपने-अपने विषयोंमें विचरण करती रहती हैं। जैसे दीपकके प्रकाशमें गृहके सारे क्रिया-कलाप होते रहते हैं, वैसे ही कर्मयोगियोंके देह सम्बन्धी सारे कार्य होते रहते हैं। कर्मयोगी सब कर्म करता है, पर जैसे जलमें रहते हुए भी कमल-पत्र उस जलसे नहीं भींगता, वैसे ही कर्म करते हुए भी कर्मयोगियोंके साथ कर्मका लेप नहीं होता। (४८—५०)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

देखो! जो कर्म बुद्धिके समझ आनेके पूर्व और मनमें विचार उत्पन्न होनेके पहले ही होते हैं, इन कर्मोंके व्यवहारको 'कायिक' व्यवहार कहते हैं। यही बात मैं तुम्हें बहुत ही सरल तरीकेसे बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। जैसे कोई बालक निष्कारण यूँ ही कुछ-न-कुछ चेष्टा करता रहता है, वैसे ही योगिजन मनमें किसी प्रकारकी वासना न रखते हुए केवल शरीरसे ही कर्मोंका व्यवहार करते हैं। फिर जब पंचमहाभूतोंसे निर्मित

यह शरीर निद्रावस्थामें रहता है, तब मन वैसे ही अकेला अपना समस्त व्यापार चलाता रहता है, जैसे वह स्वप्नावस्थामें करता है।

हे धनुर्धर! इसमें एक विलक्षण बात यह है कि यह वासना इस ढंगसे अपना विस्तार करती है कि यह शरीरको एकदम भान भी नहीं होने देती और उसे सुख-दुःखके भोगरूपी भँवरमें डाल देती है अर्थात् सुख-दुःखको भोगनेके लिये बाध्य करती है। इन्द्रियोंको जिन व्यापारोंकी खबर कानोंकान नहीं मिलती, उन व्यापारोंको मानस-व्यापार कहते हैं। योगिजन इन मानस-कर्मोंको तो करते हैं, पर उनके मनमें 'अहंभाव' का दूर-दूरतक रिश्ता नहीं रहता, इसलिये वे कर्म उनके लिये बन्धनकारक नहीं होते। जब कोई व्यक्ति पिशाचबाधासे बाधित होता है, तब उसकी ऐन्द्रिक चेष्टाएँ विक्षिप्त-सी जान पड़ती हैं। उसे अगल बगलके सब लोगोंके स्वरूप तो दिखायी देते हैं, यदि उसे आवाज देकर बुलाया जाय तो वह सुनता भी है और वह स्वयं अपने मुखसे बोल भी सकता है, किन्तु देखनेसे यह नहीं ज्ञात होता कि वह कुछ समझता भी है। यह सब रहने दें, वह प्रयोजनके बिना अर्थात् कोई हेतु न रखते हुए जो कुछ करता है, वे सब कुछ इन्द्रियोंके कर्म हैं, ऐसा समझो। फिर श्रीकृष्ण अर्जुनसे बोले, सब जगह जाननेका जो कार्य है, वह सचमुच बुद्धिका है, ऐसा तुम समझो, "वे लोग बुद्धिपूर्वक पूरे मनोयोगसे सारे कर्मोंको तो करते हैं, पर अपनी निष्कर्म-वृत्तिके कारण वे मुक्त ही रहते हैं; क्योंकि बुद्धिसे लेकर शरीरपर्यन्त उनमें अहंभावका स्मरण ही नहीं रहता और इसीलिये वे सब प्रकारके कर्मोंका आचरण करते हुए भी विशुद्ध ही बने रहते हैं। हे अर्जुन! कर्तृत्व अहंभावनासे रहित होकर सब तरहके कर्मोंको सम्पन्न करना ही 'निष्काम कर्म' है और गुरुकृपासे मिलनेवाला यह रहस्यज्ञान उसे मिला रहता है। अब शांतरसकी बाढ़ मर्यादा छोड़कर उछल रही है, क्योंकि बोलनेसे अवर्णनीयका भी व्याख्यान करनेमें आया अर्थात् जिसका विवेचन करना अत्यन्त कठिन है, उसका विवेचन हुआ। जिनके

इन्द्रियोंकी पराधीनता भली प्रकारसे नष्ट हो गयी है, उन्हींको यह सुननेकी योग्यता प्राप्त होती है।

किन्तु यह विशद व्याख्यान सुनकर श्रोतागण कहते हैं—"अब विषयान्तरकी बहुत-सी बातें हो चुकीं। यदि कथाका सूत्र ऐसे ही छोड़ दिया जायगा तो श्लोकोंकी संगति ही नहीं बैठेगी। जिस तत्त्वका आकलन करनेमें मनको भी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और बुद्धि भी जिसका पता लगानेमें सफल नहीं होती, वही तत्त्व इस समय परम सौभाग्यसे तुम्हें वाणीके सहयोगसे बतलाया गया है। जो तत्त्वज्ञान स्वभावतः शब्दातीत है, वही जब तुम्हें शब्दोंके द्वारा बतला दिया गया, तब फिर शेष ही क्या रहा? अतः अब इन सब बातोंको छोड़ करके मूलकथाको ही आगे बढ़ाना चाहिये।" कथा सुननेके लिये लालायित श्रोताओंकी उत्कट अभिलाषाको देखकर श्रीनिवृत्तिनाथका दास मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि हे श्रोतागण! अब श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद ध्यानपूर्वक सुनो। तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अब मैं सिद्धि प्राप्त कर चुके योगियोंके सम्पूर्ण लक्षण स्पष्टरूपसे बतलाता हूँ, उसे मन लगाकर सुनो। (५१—७०)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

जो इस आत्मयोगसे सम्पन्न है और जिसके हृदयमें कर्मफलकी आशा है ही नहीं, उसे इस संसारमें (घरमें) शान्ति स्वयं ही आगे बढ़कर वरण कर लेती है। परन्तु हे किरीटी! जो लोग आत्मयोगी नहीं हैं, वे लोग कर्मोंकी डोरी और फलाकांक्षाकी गाँठसे फलभोगरूपी खूँटेके साथ कसकर बाँध दिये जाते हैं। (७१ ७२)

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

जैसे और लोग फलकी आशासे कर्म करते हैं वैसे ही योगिजन भी कर्म करते हैं; परन्तु वे लोग यह समझकर उन कर्मोंके प्रति उपेक्षा-

भाव रखते हैं कि ये सब कर्म हमारे द्वारा सम्पन्न नहीं होते। फिर इस तरहका मनुष्य जिस ओर अपनी दृष्टि डालता है, उसी ओर सुखकी सृष्टि होने लगती है। वह जहाँ चाहे वहीं महाबोध उपस्थित रहता है। वह इस नौ द्वारोंवाले देहमें रहते हुए भी देहभावसे रहित रहता है और फलकी आशाको त्याग चुका होता है, इसलिये कर्म करते हुए भी वह अकर्ता ही बना रहता है। (७३—७५)

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

यदि सर्वेश्वरके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो वह अकर्ता ही सिद्ध होता है। पर वही इस त्रिभुवनकी रचना भी करता है। यदि हम उसे कर्ता कहें तो उससे कर्मका स्पर्श ही नहीं होता, क्योंकि उसके उदासीनवृत्तिवाले हाथ-पाँव कर्ममें लिप्त नहीं होते। उसकी योगनिद्रा (सहस्थिति) न तो कभी भंग ही होती है और न ही कभी उसके अकर्तृत्वमें कोई अन्तर ही पड़ता है; तो भी वह पंचमहाभूतोंसे इस आकारयुक्त व्यूहका निर्माण करता है। वह है तो जगत्‌का जीवन ही, फिर भी वह कभी किसीके कहनेमें नहीं आता। यह जगत् बनता और बिगड़ता रहता है, पर इसकी उसे खबरतक नहीं होती। (७६—७९)

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

चाहे सारे पाप-पुण्य उसे चतुर्दिक् आवेष्टित किये ही क्यों न रहें, पर फिर भी वह कभी उन्हें देखतातक नहीं। वह इन पाप-पुण्योंको उदासीनभावसे देखनेवाला साक्षी तो होता ही नहीं; तो फिर और बातोंकी चर्चा ही क्या? वह शरीरकी संगतिसे शरीरी बनकर अवतार-लीला तो करता है, पर उस प्रभुकी मूर्तता अथवा अमूर्तता कभी मलीन नहीं होती। चराचर जगत्‌में यह जो मत विख्यात है कि वह संसारकी रचना करता है, उसका पालन-पोषण करता है और फिर उसका संहार भी करता है, हे पाण्डुकुँवर! यह उनका केवल अज्ञान ही जानना चाहिये। (८०—८२)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

जिस समय इस अज्ञानका समूल नाश हो जाता है, उस समय भ्रान्तिकी कालिमा भी मिट जाती है और तब मनुष्योंको ईश्वरका कर्तृत्व अनुभवमें आता है। यदि यह बात चित्तमें समा जाय कि एकमात्र ईश्वर ही अकर्ता है, तो यह तत्त्व स्वत:सिद्ध हो जाता है कि—'मैं ईश्वर हूँ।' जब चित्तपर ज्ञानका प्रकाश पड़ता है, तब तीनों लोकोंमें कोई भेदभाव रह ही नहीं जाता। ऐसी अवस्थामें मनुष्य स्वानुभवसे अपने समान ही सारे संसारको मुक्त स्थिति (आत्मस्वरूप)-में ही देखता है। भला, तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि सूर्यका उदय होते ही पूर्व दिशाके घरमें दिवाली हो और अन्य दिशाओंका अन्धकार ज्यों-का त्यों बना रहे? बल्कि पूर्व दिशा जैसी प्रकाशमान होती है वैसी ही अन्य दिशाएँ भी प्रकाशमान होती हैं। (८३—८६)

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

बुद्धिके निश्चित होते ही आत्मज्ञान होता है। मनमें यह बात ठीक तरहसे बैठ जाती है कि हम ब्रह्मरूप हैं और मन स्थिरभावसे ब्रह्मतत्त्वमें रहता है तथा अहर्निश तन्मयता बनी रहती है। इस प्रकारका व्यापक ज्ञान जिसके हृदयमें समाविष्ट हो जाता है, उसीको समदृष्टि समझना चाहिये। अब इससे अधिक मैं और क्या बतलाऊँ! यदि यह बात कही जाय कि वह अपने ही सदृश सारे संसारको आत्मस्वरूप समझता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु जैसे दैवमें कभी कुतूहलसे भी दैन्य दिखायी नहीं पड़ता, अथवा विवेकमें जैसे कभी भ्रान्तिका नामोनिशान नहीं दीखता अथवा जैसे सूर्यमें कभी स्वप्नमें भी अन्धकारका कहीं पता ही नहीं चलता अथवा जैसे अमृतके कानोंमें कभी मृत्युकी कथाकी भनकतक नहीं पड़ती अथवा जैसे चन्द्रमाको कभी संतापका स्मरण भी नहीं होता, वैसे ही ज्ञानिजनोंमें प्राणिमात्रके सम्बन्धमें कभी कोई भेदभाव दिखायी ही नहीं पड़ता। (८७—९२)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

जिस समय इस अज्ञानका समूल नाश हो जाता है, उस समय भ्रान्तिकी कालिमा भी मिट जाती है और तब मनुष्योंको ईश्वरका कर्तृत्व अनुभवमें आता है। यदि यह बात चित्तमें समा जाय कि एकमात्र ईश्वर ही अकर्ता है, तो यह तत्त्व स्वत:सिद्ध हो जाता है कि—'मैं ईश्वर हूँ।' जब चित्तपर ज्ञानका प्रकाश पड़ता है, तब तीनों लोकोंमें कोई भेदभाव रह ही नहीं जाता। ऐसी अवस्थामें मनुष्य स्वानुभवसे अपने समान ही सारे संसारको मुक्त स्थिति (आत्मस्वरूप)-में ही देखता है। भला, तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि सूर्यका उदय होते ही पूर्व दिशाके घरमें दिवाली हो और अन्य दिशाओंका अन्धकार ज्यों-का त्यों बना रहे? बल्कि पूर्व दिशा जैसी प्रकाशमान होती है वैसी ही अन्य दिशाएँ भी प्रकाशमान होती हैं। (८३—८६)

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

बुद्धिके निश्चित होते ही आत्मज्ञान होता है। मनमें यह बात ठीक तरहसे बैठ जाती है कि हम ब्रह्मरूप हैं और मन स्थिरभावसे ब्रह्मतत्त्वमें रहता है तथा अहर्निश तन्मयता बनी रहती है। इस प्रकारका व्यापक ज्ञान जिसके हृदयमें समाविष्ट हो जाता है, उसीको समदृष्टि समझना चाहिये। अब इससे अधिक मैं और क्या बतलाऊँ! यदि यह बात कही जाय कि वह अपने ही सदृश सारे संसारको आत्मस्वरूप समझता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु जैसे दैवमें कभी कुतूहलसे भी दैन्य दिखायी नहीं पड़ता, अथवा विवेकमें जैसे कभी भ्रान्तिका नामोनिशान नहीं दीखता अथवा जैसे सूर्यमें कभी स्वप्नमें भी अन्धकारका कहीं पता ही नहीं चलता अथवा जैसे अमृतके कानोंमें कभी मृत्युकी कथाकी भनकतक नहीं पड़ती अथवा जैसे चन्द्रमाको कभी संतापका स्मरण भी नहीं होता, वैसे ही ज्ञानिजनोंमें प्राणिमात्रके सम्बन्धमें कभी कोई भेदभाव दिखायी ही नहीं पड़ता। (८७—९२)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

यह मच्छर है, यह हाथी है, यह चाण्डाल है, यह ब्राह्मण है, यह पराया है, यह मेरा है आदिके सम्बन्धमें इस प्रकारके भेदभाव कहाँ रह जाते हैं? अथवा इस प्रकारकी सारी कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं कि यह धेनु है, यह श्वान है, यह श्रेष्ठ है, यह अधम है; क्योंकि जाग्रदवस्थामें हो, फिर उसे स्वप्न कहाँसे दृष्टिगोचर होगा? ये सब भेद तभी दिखायी पड़ते हैं, जब अहंभाव शेष बचा रहता है। जिस समय वह अहंभाव पूर्णतया समाप्त हो जाता है, उस समय विषमताका कहीं पता भी नहीं चलता।(९३—९५)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

अतएव तुम यह अच्छी तरहसे जान लो कि इस समदृष्टिका रहस्य ही यह है कि व्यक्ति यह समझ ले कि सर्वत्र और सदा समभावसे रहनेवाला जो **'एकमेवाद्वितीयम्'** ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ। जो विषयोंका संग बिना त्यागे हुए और इन्द्रियोंका दमन किये बिना कामनारहित होकर निःसंगताका भोग करता है, जो सामान्य जनोंकी ही भाँति सब प्रकारके आचरण करता है, परन्तु सांसारिक वस्तुओंका अज्ञानजन्य मोह त्याग देता है, जो उसी प्रकार संसारको बिना दिखायी पड़े शरीरमें रहता है, जिस प्रकार किसी व्यक्तिको पकड़नेवाला भूत किसीकी दृष्टिमें ही नहीं आता, अथवा जो देखनेमें तो उसी प्रकार नाम और रूपकी दृष्टिसे पृथक् दृष्टिगोचर होता है, जिस प्रकार वायुके सहयोगसे पानीमें उठनेवाली लहरोंको तो लोग पानीसे पृथक् समझते और उनका पृथक् नामकरण (लहर) भी करते हैं, पर फिर भी जो केवल ब्रह्म ही रहता है और जिसका मन सब स्थानों और सब जीवोंमें निरन्तर समभावसे विचरण करता है और इस प्रकार जो समदृष्टि हो जाता है, उस व्यक्तिका एक विशिष्ट लक्षण भी होता है। हे अर्जुन! मैं वह विशिष्ट लक्षण तुम्हें संक्षेपमें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। उसके बारेमें विचार करो। (९६—१०२)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

जैसे मृगजलकी बाढ़से गिरिराज नहीं डगमगाता, वैसे ही शुभ और अशुभकी उपलब्धि होनेसे योगीमें भी कभी कोई विकृति नहीं आती। जो व्यक्ति इस प्रकारका हो, उसीको तत्त्वतः समदृष्टिवाला जानना चाहिये। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे पाण्डुपुत्र! वही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। (१०३-१०४)

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

जो मनुष्य कभी आत्मस्वरूपको त्यागकर इन्द्रियोंके अधीन नहीं होता, यदि वह विषयोंका उपभोग न करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उसका अन्तरंग स्वाभाविक और असीम आत्मानन्दसे पूर्णतया सुखी रहता है और इसलिये वह कभी इस आनन्दके बाहर पैर नहीं रखता। भला जिस चक्रवाकने कुमुददलोंके पत्तलमें चन्द्रकिरणोंका दिव्य भोजन किया हो, वह क्या कभी रेतके कण खायेगा? वैसे ही जिसे आत्मसुख प्राप्त हो जाय और जो ब्रह्मस्वरूप हो जाय, उसके विषयमें यह बतानेकी कोई जरूरत ही नहीं है कि विषयोंसे उसका स्वतः ही पिण्ड छूट गया। अब हे पार्थ! जरा इस बातका भी ठीक तरहसे विचार करके देखो कि इन विषय-सुखोंके जालमें कौन फँसता है? (१०५—१०९)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

जिन लोगोंको आत्मस्वरूपके दर्शन नहीं होते, वे लोग ही ऐन्द्रिक विषयोंके चक्करमें पड़ते हैं। जैसे भूखसे व्याकुल दरिद्र व्यक्ति भूसी भी खा जाता है अथवा प्याससे व्याकुल मृग वास्तविक जलके भ्रमसे बालुकामय भूमिको ही जल समझकर त्वरित गतिसे उसके पास आ पहुँचते हैं अर्थात् मरुभूमिमें आ पहुँचते हैं। वैसे ही जिन्हें आत्मस्वरूपके दर्शन नहीं होते,

जिन्हें सदा आत्मसुखकी दरिद्रता सताती ही रहती है, उन्हींको ये विषयसुख बहुत ही रुचिकर प्रतीत होते हैं। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विषयोंमें कोई सुख है ही नहीं और यदि कहा जाय कि इन विषयोंमें सुख है तो फिर संसारके सारे कार्य बिजलीकी (आकाशमें चमकनेवाली बिजली) ही चमकमें क्यों नहीं होते, उसीके प्रकाशसे जगत्‌में प्रकाश क्यों नहीं होता? यदि आकाशरूपी छतकी छायासे ही वायु, वर्षा और गरमीका निवारण हो सकता हो, तो फिर तीन मंजिले पक्के मकान क्यों बनाये जायँ? अतः विषयके लिये सुख शब्दका प्रयोग करना ही सर्वथा अर्थहीन है। जहरके प्याजको (बचनागको) मधुर कहा जाय अथवा जैसे पाप-ग्रह भौमको भी लोग 'मंगल' कहते हैं, किंवा, मृगजलको भ्रमसे लोग जल कहते हैं, वैसे ही लोग सुख शब्दका प्रयोग विषयोंके सम्बन्धमें भी करते हैं। पर वास्तवमें इन विषयोंके लिये 'सुख' शब्दका प्रयोग करना कोरी बकवास ही है। अच्छा, रहने दो ये सब बातें। अब तुम मुझे सिर्फ इतना ही बतलाओ कि सर्पके फणकी छाया चूहेके लिये कहाँतक शांति देनेवाली हो सकती है? हे पाण्डव! मछलीको फँसानेवाली बंसीमें उसके प्रलोभनकी वस्तुके रूपमें जो आमिषका कवल लगाया जाता है, वह मछलीके लिये तभीतक मुग्ध करनेवाला होता है, जबतक मछली उसे नहीं निगलती। वैसे ही तुम यह अच्छी तरहसे समझ लो कि ठीक वही दशा विषय-संगकी है। हे किरीटी! विरक्तोंकी दृष्टिसे यदि इन विषयोंको देखा जाय तो ये ऐसे पाण्डुरोगियोंकी तरह जान पड़ते हैं जो देखनेमें ऊपरसे फूले हुए हैं, अंततः ये विषय घात करनेवाले हैं। इसीलिये विषयोंके सेवनमें जो सुख प्रतीत होता है, वस्तुतः वह आरम्भसे अन्ततक केवल दुःख-ही-दुःख है। पर अज्ञानी जन करें क्या? उनसे विषयोंका भोग किये बिना रहा ही नहीं जाता अर्थात् उनका विषय भोगनेके बिना काम ही नहीं चलता। वे बेचारे भीतरी रहस्योंसे अनभिज्ञ होते हैं, इसलिये वे बड़े ही शौकसे विषयोंका भोग करते हैं। भला तुम्हीं बतलाओ कि

क्या कभी पीपके कीचड़में रह रहे कीड़ोंको पीपसे घृणा होती है? उन दुःखी जीवोंके लिये तो वह दुःख उनका जीवन बना है अर्थात् उनके लिये वही आत्मसुख है। वे तो विषयरूपी कीचड़में दादुर बनते हैं और विषयासक्त होकर भोगरूपी जलमें जलचरकी भाँति रहते हैं। फिर वे उस कीचड़ और उस जलको कैसे त्याग सकते हैं। फिर भी यदि ये जीव विषयोंसे अनासक्त हो गये तो जो दुःखदायक योनियाँ हैं वे सब निरर्थक हो जायँगी कि नहीं? कहीं रत्तीभर विश्राम पाये बिना गर्भवास इत्यादिके संकटों और जन्म-मरणकी यन्त्रणाओंके दुर्गम मार्गका अतिक्रमण करनेके लिये भला कौन तैयार होता? यदि विषयोंमें आसक्त जीव विषयोंका ही परित्याग कर दें तो बेचारे महादोषोंका कहाँ ठिकाना लगे? और-तो-और यह 'संसार' शब्द ही मिथ्या साबित हो जायगा तथा उसका अवसान भी हो जायगा। इसीलिये मिथ्या सुखके चक्करमें पड़े हुए जिन लोगोंने विषयरूपी दुःखको स्वीकार किया है, उन्हीं लोगोंने ही इस पूरे मायिक भ्रमको यथार्थ बना दिया है।

हे वीरशिरोमणि! यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो ये विषय बहुत ही बुरे हैं। इसलिये कभी भूलकर भी इन विषयोंके मार्गपर पैर नहीं रखना चाहिये। जो व्यक्ति विरक्त होते हैं, वे इन विषयोंको विष समझकर छोड़ देते हैं। क्योंकि वह निरिच्छ (इच्छारहित) होनेके कारण विषयोंका दिखाया हुआ दुःखरूपी सुख उनको भाता नहीं अर्थात् वह सुख उनको अच्छा नहीं लगता। (११०—१२८)

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

जो ज्ञानी मनुष्य देह रहते हुए देहके समस्त विकारोंको अपने अधीन कर लेते हैं, उनके लिये विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले दुःख नाममात्र भी नहीं रह जाते। जो लोग बाह्य विषयोंके नामतक नहीं जानते, उनके अन्तःकरणमें एक अखण्ड सुख भरा रहता है, क्योंकि उनको ब्रह्मसुखका अनुभव है। परन्तु इस सुखका

भोग करनेका ढंग कुछ निराला ही है। जैसे पक्षी फलोंका स्वाद नहीं लेते हैं। वैसे ही वे लोग सुखोंका स्वाद नहीं लेते। वे लोग उस सुखका भोग करते हुए भी अपने भोक्तृभावको बिसराये रहते हैं। इस आत्मसुखका सेवन करते समय उनमें इस तरहकी तन्मयता आ जाती है कि वे अहंभावका परदा हटा देते हैं, और तब उनकी वह तन्मयता उनके साथ ऐसा दृढ़ आलिंगन करती है कि वह आलिंगन होते ही जीवात्मा ठीक वैसे ही परमात्माके साथ एकदम एकाकार हो जाता है, जैसे जलके साथ जल मिलकर एकाकार हो जाता है। अथवा जैसे आकाशमें वायुके मिल जानेपर आकाश और वायुका भेद समाप्त हो जाता है। तब ऐसी अवस्थामें स्वरूपसे केवल ब्रह्मसुख शेष रहता है। इस प्रकार द्वैतका नाम मिट जाता है। अब यदि यह कहा जाय कि उस समय एकमात्र एकता ही शेष रहती है, तो भी उस एकताका ज्ञान करानेवाला साक्षी ही नहीं रह जाता तो ऐसी अवस्थामें साक्षी भी कौन रहा? (१२९—१३५)

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

इसलिये पीछेका यह सब रहने दें। जो बात कहनेमें आ ही नहीं सकती हो, उसके सम्बन्धमें क्या कहा जाय? जिस व्यक्तिको आत्मस्वरूपका अनुभव हो जायगा, वह इस स्पष्ट रचनासे ही सब कुछ समझ लेगा। आत्माराम मनुष्यको ही इसका अनुभव होगा। जो लोग इस आत्मसुखसे भरे हुए हैं और अपने स्वरूपमें ही निमग्न रहते हैं, मैं समझता हूँ कि वे निखिल ब्रह्मानन्दके कलेवर (पुतले) हैं। उसी आनन्दके स्वरूप, सुखके अंकुर अथवा महाबोधने अपने लिये मन्दिर बनाया है। उन्हें विवेकका जन्मस्थान अथवा परब्रह्मका स्वरूप अथवा ब्रह्मविद्यासे अलंकृत अवयव समझना चाहिये। उन्हें सत्त्वगुणकी सात्त्विकता या चैतन्यके अवयव जानना चाहिये। जब यह विशद विवेचन इतने जोरोंपर आता है, तब श्रीगुरु निवृत्तिनाथ कहते हैं—"बहुत हुआ, अब रहने

दो। एक-एक बातको, एक-एक कल्पनाको कबतक रँगते चलोगे! तुम तो सन्तोंकी स्तुतिमें इतना खो जाते हो कि फिर तुम्हें कथा-प्रसंगका स्मरण भी नहीं रह जाता और तुम विषयान्तरसे भी ठीक बोलते हो, पर अब इस रसविस्तारको समेट लो और ग्रन्थार्थका दीपक प्रज्वलित करो तथा संतजनोंके हृदयरूपी मन्दिरमें मंगल-प्रभात करो।" गुरुश्रेष्ठ श्रीनिवृत्तिनाथका यह अभिप्राय समझकर मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि फिर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे जो कुछ कहा, वह सब आपलोग ध्यानपूर्वक सुनिये।

श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन! जिन लोगोंको अनन्त सुखके अगाध दहका तल प्राप्त हो जाता है, वे वहीं स्थिर होकर तद्रूप हो जाते हैं। अथवा जो लोग आत्मज्ञानके विशुद्ध प्रकाशके सहयोगसे सारा संसार अपनी ही आत्मामें देखते हैं, उन्हें शरीरधारी परब्रह्म कहनेमें कोई हानि नहीं है। यह परब्रह्म परम सत्य, सर्वोत्तम, अविनाशी और अपार है। इस परब्रह्मरूपी देशमें निवास करनेका अधिकारी वे ही लोग होते हैं, जो लोग सचमुच निष्काम होते हैं, यह केवल महर्षियोंके लिये सुरक्षित है; इसमें विरक्तोंकी ही हिस्सेदारी है और ये संशयरहित व्यक्तिको ही फलदेनेवाला है। इसके अभ्युदयका कभी अवसान नहीं होता। (१३६—१४७)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

जो लोग अपने मनको विषयोंसे पृथक् कर लेते हैं और उसको पूर्णतया अपने अधीन रखते हैं, वे लोग जिस जगहपर निश्चिन्त होकर शयन करते हैं और फिर कभी जागते ही नहीं, अर्थात् वृत्तिपर आते ही नहीं, हे अर्जुन! जो मोक्षरूप परब्रह्म है, आत्मज्ञानियोंका जो साध्य है, वही वे पुरुष हैं, ऐसा तुम समझो। शायद तुम यह पूछोगे कि वे मनुष्य इस अवस्थातक कैसे पहुँचे हैं और देहके होते हुए भी उन लोगोंने कैसे यह ब्रह्मत्व प्राप्त किया है, तो मैं यह विषय भी संक्षेपमें तुम्हें बतला देता हूँ; मन लगाकर सुनो। (१४८—१५०)

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥

जो वैराग्यकी शक्तिसे सारे विषयोंको निकाल फेंकते हैं और अपने शरीरमें मनके वृत्तिको एकाग्र कर लेते हैं, वे अपनी दृष्टिको उलटकर उस सन्धि-स्थानपर लगा लेते हैं, जहाँ दोनों भौंहें मिलती हैं और तब दायें और बायें घ्राणेन्द्रियके दोनों छिद्र बन्द करके प्राणवायु और अपानवायुको एकमें मिला लेते हैं तथा उन्हें अपने चित्तके साथ चिदाकाशकी ओर ले जाते हैं। (१५१—१५३)

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

जिस प्रकार गंगा नदी रास्तेमें पड़नेवाले नदी-नालोंसमेत समुद्रमें मिलती है, ठीक उसी प्रकार वे लोग भी परब्रह्मके साथ इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि फिर उन्हें पृथक् करनेका सवाल ही नहीं उठता। हे अर्जुन! जब समाधिकी अवस्थामें प्राण और अपानवायुसे चिदाकाशमें मनका लय हो जाता है, तब सारी वासनाओंके विचार स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। जिस मनरूपी वस्त्रपर यह संसाररूपी चित्र चित्रित होता है वह इस अवस्थामें विदीर्ण हो जाता है। जैसे सरोवरके सूख जानेपर उसमें पड़नेवाली प्रतिच्छाया स्वतः नष्ट हो जाती है, वैसे ही इस समाधिकी अवस्थामें मनका भी बिलकुल सफाया हो जानेपर अहंभाव आदि वृत्तियोंका फिर भला कहाँ ठिकाना! इसीलिये जिन लोगोंको इस ब्रह्मसुखका अनुभव प्राप्त हो जाता है, वे लोग देहके होते हुए भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं। (१५४-१५७)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

मैं अभी यह बतला चुका हूँ कि जो लोग शरीरके रहते हुए भी ब्रह्मत्व-

तक पहुँचे हुए हैं, वे इसी मार्गके अनुयायी हैं अर्थात् इसी मार्गसे यहाँतक आये हैं। वे लोग यम नियम आदि योग-साधनके दुर्गम पहाड़ोंपर चढ़कर और योगाभ्यासरूपी सागर पार करके इस अवस्थाको प्राप्त होते हैं। वे आत्मसाक्षात्कारकी शक्तिसे स्वयं आसक्तिरहित होकर यह सब प्रपंच ढोते रहते हैं और स्वयंको शान्तिमूर्ति ही बनाये रहते हैं।'' इस प्रकार हृषीकेशने कर्मयोगके अभिप्रायका वर्णन किया और अर्जुन एक अत्यन्त ही मार्मिक श्रोता था, इसलिये यह नवीन बात सुनकर वह अचरजमें पड़ गया। श्रीकृष्णके ध्यानमें भी यह बात आयी और उन्होंने हँसते हुए पार्थसे पूछा कि क्या मेरे इन वचनोंसे तुम्हारा समाधान हो गया? तब अर्जुनने कहा—''हे देव! आप दूसरोंके मनकी बात जाननेमें अत्यन्त ही निपुण हैं, इसलिये आपने मेरे मनोभावोंको भी ठीक तरहसे जान लिया है। आपसे पूछनेके लिये मेरे मनमें जो कुछ भावना उमड़ी थी, उसे तो आपने पहले ही जान ली और कह भी डाली; किन्तु आप एक बार फिर वही बात और भी अधिक स्पष्ट करके मुझे बतलावें। हे देव! सच्ची बात तो यह है कि आपने अभी साधनाके जिस मार्गको बतलाया है, वह हमारे-जैसे कमजोर मनुष्योंके लिये सांख्ययोग (ज्ञानमार्ग)-की अपेक्षा वैसा ही अधिक सुगम और सुलभ है, जिस प्रकार गहरे पानीमें तैरकर पार जानेकी अपेक्षा वह जलपथ ज्यादा सुगम होता है जिसे कोई मनुष्य चलकर पार कर लेता है। वैसे तो यह योगमार्ग सांख्ययोगकी अपेक्षा सुगम है, अब यदि ऐसे मार्गको तलाशनेमें कुछ अधिक समय लगे तो इसमें अड़चन ही क्या है? इसलिये अब समस्त शंकाओंका समाधान करनेके लिये फिर एक बार इन सब विषयोंको विस्तारसे कहें।''

इसपर श्रीकृष्णने कहा—''तुम्हें यह मार्ग रुचिकर लगता है न? तो फिर उस साधन-मार्गका वर्णन करनेमें मेरा क्या जाता है। सुनो, मैं फिरसे बड़ी खुशीसे सारी-की-सारी बातें तुम्हें बतलाता हूँ। हे अर्जुन! जब तुम्हारे मनमें इन विषयोंको सुननेकी तीव्र अभिलाषा है और इन विषयोंको सुनकर इसके अनुसार आचरण करनेके लिये उद्यत भी हो तो इस साधन-मार्गको बतलानेमें मैं ही क्यों हिचकूँ?

एक तो माताका अन्त:करण, उसमें अभिरुचिका निमित्त बना है, फिर उस ममताके अद्‌भुतताकी कल्पना किसको आयेगी? वह हरिकी कृपादृष्टि मानो करुणरसकी बरसात है अथवा नवीन स्नेहकी सृष्टि है, कैसे कहूँ? ये रहने दो, कृष्णके उस दृष्टिका वर्णन भी कैसे करूँ? ये हमें समझमें नहीं आता। न जाने वह दृष्टि अमृतकी ढली हुई जीवन्त पुत्तलिका थी अथवा वह प्रेमरसको ही पीकर उन्मत्त हुई थी, जो वह अर्जुनके मोह-पाशमें इस तरह उलझ गयी कि वहाँसे उसका निकलना ही असम्भव था। पर इस प्रकारके जितने विवेचन किये जायँगे, उन सबसे केवल विषयान्तर ही होगा। परन्तु इतनी पक्की बात है कि श्रीकृष्णके उस स्नेहसे भरे हुए भावका ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। पर इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो ईश्वर स्वयं ही अपना सम्पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता, फिर वह किसकी बुद्धिमें आ सकता है? परन्तु जिस प्रकार श्रीकृष्ण आग्रहपूर्वक कह रहे थे कि "हे तात! सुनो, सुनो" उनके इस प्रकार कहनेसे यही प्रतीत होता है कि वे स्वभावत: अर्जुनके मोह-पाशमें आबद्ध हो गये थे। उस समय श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन! जिस ढंगसे यह विषय तुम्हारी समझमें भलीभाँति आ सके, उसी ढंगसे मैं इसका निरूपण अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक करूँगा। वह योगमार्ग कौन-सा है? उसकी उपयोगिता क्या है? अथवा उसके अधिकारी कौन लोग होते हैं? इत्यादि, इस मार्गके विषयमें जितने प्रश्न हो सकते हैं उन सबके उत्तर मैं तुम्हें बतलाता हूँ। तुम मन लगाकर सुनो।" तत्पश्चात् श्रीहरिने जो कुछ कहा, उस कथाका विवेचन आगे किया गया है। अब श्रीनिवृत्तिनाथका दास मैं ज्ञानदेव श्रोताओंसे कहता हूँ कि श्रीकृष्णने अर्जुनसे जो सख्य था, उसे ज्यों-का-त्यों रखते हुए अर्जुनको अष्टांगयोगके साधनका उपदेश किया था, वह मैं स्पष्टरूपसे बतलाता हूँ। (१५८—१८०)

~~०~~

३५

अध्याय छठा

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा कि श्रीकृष्णने अर्जुनको योगरूपके जिस मार्गका उपदेश किया था और आगे इस अध्यायमें जो उपदेश करेंगे, वह अब ध्यानपूर्वक सुनो। नारायण श्रीकृष्णने जब अर्जुनके समक्ष सहज ब्रह्मरसका यह भोजन परोसा था, तब हम अतिथि बनकर वहाँ पहुँच गये। यह कितना बड़ा सौभाग्य है। प्याससे व्याकुल व्यक्ति जिस समय जलका स्पर्श अपने होठोंसे करता है, उस समय वह जल उस व्यक्तिको अमृतकी भाँति ही जान पड़ता है। ठीक वैसा ही सुअवसर आज हम लोगोंके समक्ष आया है; क्योंकि जो प्राप्त होनेमें अत्यन्त कठिन वह ब्रह्मज्ञान हमारी मुट्ठीमें आ गया है। तब धृतराष्ट्रने कहा—"हे संजय! ऐसी बातें तो मैंने तुमसे पूछी ही नहीं थी।" धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर संजयने उनके मनोभावको पहचान लिया। संजयको यह अच्छी तरहसे मालूम हो गया कि इस समय महाराज धृतराष्ट्रको केवल पुत्रमोहने घेर लिया है। यह बात जानकर वह मन-ही-मन हँसा और इस बुड्ढेको पुत्रमोहने पागल कर दिया है और नहीं तो यदि यथार्थरूपसे विचार किया जाय तो इस समय श्रीकृष्ण और अर्जुनमें जो संवाद हुआ था, वह कितना चित्ताकर्षक है! परन्तु मोहसे मूढ़ धृतराष्ट्रको इन बातोंसे क्या प्रयोजन! जो जन्मान्ध हो, भला वह कभी देख सकता है? संजयने इस बातका विचार अपने मनमें तो किया, परन्तु प्रत्यक्षतः उसने कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि उसे इस बातका भय था कि मेरी इस बातको सुनकर यह बुड्ढा आगबबूला हो जायगा। परन्तु संजयका मन इस बातपर अत्यन्त प्रसन्न हो उठा कि श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह संवाद मुझे

सुननेको मिला। उस आनन्दके तृप्तिसे भगवान् श्रीकृष्णके बोलनेका अभिप्राय मनमें लेकर वह धृतराष्ट्रको आदरके साथ सुनायेगा। वह संवाद गीताका छठा अध्याय है जो तत्त्वनिर्णयका स्थान है। जैसे क्षीरसिन्धुका मन्थन करनेपर सब रत्नोंका सार अमृत हाथ लगा था, वैसे ही गीताके तत्त्व-ज्ञानका सार अथवा विवेकरूपी समुद्रका उस पारका तट या योगरूपी सम्पत्तिका खुला हुआ भण्डार यह छठा अध्याय है। गीताका यह वही छठा अध्याय है जिसमें आदि प्रकृति स्तब्ध होकर बैठी है, अर्थात् उस मूलप्रकृतिका यह छठा अध्याय विश्रांतिस्थान है। जहाँ वेदोंकी बोलती बन्द हो जाती है और जहाँसे गीतारूपी वल्लीका अंकुर प्रस्फुटित होता है अर्थात् विकसित होता है। मैं भी इस अध्यायका वर्णन साहित्यके प्रकाशमें आलंकारिक भाषामें करूँगा। आपलोग मन लगाकर सुनें।

मैं देशी (मराठी) भाषाके शब्दोंकी योजना करता हूँ, किन्तु वह योजना ऐसी मधुर होगी कि अपनी मधुरताके कारण अमृतको भी सहजमें पराभूत कर देगी। यदि इन शब्दोंकी तुलना कोमलताके साथ की जाय तो इसके समक्ष संगीतके स्वरोंकी कोमलता भी नगण्य रहेगी। इसकी मोहकताके समक्ष सुगन्धकी महत्ता भी हलकी पड़ जायगी। सुनो, इसकी रसालताकी महत्ता इतनी अधिक है कि श्रवणेन्द्रियमें भी जिह्वा निकल आयेगी और समस्त इन्द्रियोंमें परस्पर कलह उत्पन्न हो जायगा। सहज देखा जाय तो यह शब्द केवल कानोंका विषय है, परन्तु जिह्वा (जीभ) बोलेगी कि यह शब्द मेरा रसविषय है। नासिकाको ऐसा लगेगा कि इन शब्दोंके संयोगसे मुझे सुगंध मिल जाती तो अच्छा होता। तो यही शब्द अनुक्रमसे रस और सुगंध बन जायगा। इनके विषयमें एक और विलक्षण बात यह है कि उच्चारण की जानेवाली इन बातोंका स्वरूप देखकर आँखोंको भी ऐसी तृप्ति प्राप्त होगी कि वे सद्यः कह बैठेंगे कि यह तो सौन्दर्यकी खान ही खुल गयी। और जिस समय सम्पूर्ण पदोंकी रचना होगी, उस समय श्रोताओंका मन दौड़कर बाहर निकलने लगेगा, क्योंकि वह चाहेगा कि मैं इन शब्दोंका प्रगाढ़ आलिंगन कर लूँ। इस प्रकार सारी इन्द्रियाँ अपनी

इच्छानुसार मेरे इन शब्दोंसे प्रीति करेंगी; पर ये शब्द समानरूपसे सबका निराकरण करेंगे। जैसे सूर्य अकेला ही पूरे जगत्‌में समानरूपसे चेतना उत्पन्न करता है (सबको जगाता है), वैसे ही इन शब्दोंकी व्यापकता भी अत्यन्त असाधारण है। जो लोग इन शब्दोंके भावको जाननेका प्रयत्न करेंगे, उन्हें ऐसा प्रतीत होगा कि ये शब्द नहीं हैं, अपितु इनके रूपमें हमें चिन्तामणि ही मिला हुआ है अर्थात् इन शब्दोंमें चिंतामणि जैसे गुण दीखेंगे। पर ये बातें बहुत हो चुकीं। अब मैं देशी भाषाके शब्दोंकी थालीमें ब्रह्मरस परोसकर निष्कामजनोंके समक्ष यह ग्रन्थरूपी भोजन प्रस्तुत करता हूँ। आत्मज्ञानरूपी ज्योति जो कभी धीमी नहीं होती, वही ज्योति अब दीवटमें रखी गयी है, वही लोग यह भोजन कर सकेंगे जो इस प्रकार इसका सेवन करेंगे कि इन्द्रियोंको कुछ पता न चले। अतः इस समय श्रोताओंको कानोंका भी सहारा त्याग देना चाहिये और केवल मनके सहयोगसे ही यह भोजन करना चाहिये। इन शब्दोंको ऊपर-ऊपर जो दिखावटी आच्छादन है, उसे उतारकर पृथक् कर दें और अन्तःस्थित जो ब्रह्मभाव है, उसके साथ एकरूप हो जायँ और तब अनायास ही अखण्ड सुखसे सुखी हों। यदि श्रोताओंमें इस तरहकी सूक्ष्मदर्शिता आ जायगी, तभी यह श्रवण सार्थक होगा और नहीं तो फिर इस निरूपणको केवल मूक-बधिरकी कथा ही कहनी पड़ेगी। अब यह वर्णन यहीं बन्द होना चाहिये; क्योंकि मेरे जो श्रोतागण हैं, उन्हें इतना सावधान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कारण कि यहाँ जितने श्रोता हैं, वे सब कामनारहित होनेके कारण इस श्रवणके स्वभावतः ही अधिकारी हैं अर्थात् यहाँ निष्काम अंतःकरणके लोग ही अधिकारी हैं। जिन्होंने आत्मज्ञानके प्रति लगाव होनेके कारण सारे सांसारिक सुखोंको अपने पाससे दूर भगा दिया है, उनके अलावा अन्य लोगोंको इस विषयके माधुर्यका परिज्ञान ही नहीं हो सकता। जैसे कौए चन्द्रमाको नहीं पहचान सकते, वैसे ही सामान्य जनोंको (विषयासक्त लोगोंको) इस ग्रन्थकी महिमाका ज्ञान नहीं हो सकता और जैसे केवल चकोर ही चन्द्रिकाका सेवन कर सकते हैं, अर्थात् शीतल चन्द्रकिरण ही चकोरका आहार है। वैसे ही एकमात्र ज्ञानियोंको ही इस

ग्रन्थमें आश्रय प्राप्त होगा अर्थात् यह ज्ञान-सम्पन्नका विषय है और अज्ञानियोंके पहचान का यह विषय नहीं है। इसीलिये इसके सम्बन्धमें मुझे कुछ और कहनेकी जरूरत नहीं है। पर फिर भी प्रसंगानुसार मैंने बोल दिया है, उसके लिये साधु श्रोताजन बुरा न मानें। सन्तोंसे क्षमा माँगना उचित है। अब श्रीकृष्णने अर्जुनसे जो कुछ कहा वह कहता हूँ। श्रीकृष्णका वह सम्भाषण बुद्धिके भी समझमें आना अत्यन्त कठिन है; फिर भी शब्दोंके द्वारा उन्हें अभिव्यक्त करना कदाचित् सम्भव है, पर फिर भी सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथके कृपारूपी प्रकाशसे मुझे उसका सम्यक् बोध हो जायगा। यदि अतीन्द्रिय ज्ञानका बल हो तो दृष्टिके द्वारा दिखायी न पड़नेवाली वस्तु भी दीखने लगती है। जो सुवर्ण सोना-चाँदी बनानेकी विद्या जाननेवालेको भी प्राप्त नहीं होता, वह सुवर्ण दैवयोगसे पारस हाथ आ जानेपर लोहेमें ही मिल जाता है। इसी प्रकार यदि सद्गुरुकी कृपा मिल जाय, तो फिर प्रयत्न करनेके बाद कौन-सी चीज असाध्य हो सकती है? इसलिये मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि वह असीम कृपा मुझपर है। इसीलिये मैं निरूपण करूँगा, अमूर्तमें भी मूर्तका संचार करूँगा और जो चीज इन्द्रियोंकी पकड़से दूर है उसका भी इन्द्रियोंके द्वारा ही अनुभव करा दूँगा। सुनो; अब जिन श्रीकृष्णमें यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन छः गुणोंका निवास है और इसीलिये जिन्हें लोग भगवन्त कहकर पुकारते हैं तथा जो नित्य-निरन्तर निःसंगोंके सँघाती हैं, उन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"हे पार्थ! अब तुम दत्तचित्त होकर सुनो। (१—३८)

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

हे अर्जुन! सुन, योगी और संन्यासी—ये दोनों एक ही हैं। हो सकता है कि तुम इन दोनोंको पृथक्-पृथक् मानते हो, पर विचार करनेसे ये दोनों एक ही जान पड़ते हैं। यदि यह नाम-भेदवाला भ्रम मिटा दिया जाय तो योग ही संन्यास

सिद्ध होता है और यदि ब्रह्म ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो इनमें कोई भेद ही नहीं रहता। जैसे हम एक ही व्यक्तिको अलग-अलग नामोंसे पुकारते हैं, अथवा जैसे दो अलग-अलग रास्तोंसे एक ही जगहपर (निश्चित स्थानपर) पहुँचते हैं अथवा जैसे स्वभावतः एकरूप रहनेवाला पानी भिन्न-भिन्न पात्रोंमें भरा जानेपर भी एकरूप ही रहता है, वैसे ही योग और संन्यासका अन्तर एकमात्र दिखावटी है, वास्तविक नहीं। हे अर्जुन! सुनो! ससारमें बहुमान्य सिद्धान्त यही है कि जो मनुष्य कर्मोंका आचरण करता हुआ भी उन कर्मोंके फलसे आसक्ति नहीं रखता, उसीको योगी जानना चाहिये। जैसे यह पृथ्वी सहजभावसे अहम् बुद्धिके बिना ही वृक्ष आदि उद्‌भिज्जोंकी सृष्टि करती है, परन्तु उनके बीजों या फलोंकी अपेक्षा नहीं करती, वैसे ही जो परब्रह्मकी व्यापकताका अवलम्ब लेकर अपनी स्वभाव सिद्धस्थितिके अनुरूप जिस समय जो उचित कर्तव्य जान पड़ता है, उस समय उसे कर डालता है, पर फिर भी जिसमें देहबुद्धिका अहम् लेशमात्र भी नहीं होता अर्थात् जिसमें कर्तृत्वभाव नहीं रहता और जो फलासक्तिको अपने चित्ततक पहुँचने ही नहीं देता, उसीको संन्यासी जानना चाहिये और हे पार्थ! वास्तवमें वही सच्चा योगीश्वर है। पर जिससे इस योग युक्तिका साधन नहीं होता और जो स्वाभाविक तथा नैमित्तिक कर्मोंको एकमात्र बाँधनेवाला मानकर त्याग देता है, वह साथ ही साथ कुछ अन्य कर्मोंको अपने साथ लगा लेता है। जैसे अपने देहमें लगा हुआ एक लेप पोंछकर तुरन्त ही दूसरा लेप लगा लिया जाय, वैसी ही स्थिति उन लोगोंकी होती है जो एकमात्र आग्रहके अधीन होकर ऐसा व्यवहार करते हैं और बेकारकी विवेचनामें पड़ते हैं। भइया अर्जुन! एक तो गृहस्थ-आश्रमका बोझ पहलेसे ही स्वभावतः सिरपर है, अब उस बोझका निर्वहन ठीक तरहसे न करके शीघ्रतामें संन्यासका एक दूसरा भार लेकर अपना बोझ और क्यों बढ़ाया जाय? इसीलिये श्रौत, स्मार्त और होम आदि कर्मोंका परित्याग न करते हुए और न तो कभी आचारकी मर्यादाका उल्लंघन करते हुए बस अपने कर्मका पालन करनेसे ही अब कर्मयोग स्वभावतः ही आत्म सुखदायक हो जाता है। (३९—५१)

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे पार्थ! जो संन्यासी है वही योगी है, इस एकवाक्यताकी विजय-पताका संसारमें अनेक शास्त्रोंने फहरायी है। शास्त्रकारोंने अपने अनुभवसे यही निश्चित किया है कि कर्म करते रहनेकी स्थितिमें जहाँ संकल्प-विकल्पके सूत्र त्याग देनेके कारण नष्ट हो जाते हैं, बस वहीं योग साररूपी ब्रह्मकी भेंट हो जाती है। (५२-५३)

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

हे पार्थ, यदि कर्मयोगरूपी पहाड़की चोटीपर पहुँचना हो तो यह कर्म-मार्गरूपी सोपानका परित्याग कभी नहीं करना चाहिये। इस मार्गसे चलते हुए पहले यम-नियमरूपी आधारभूमिपरसे योगासनरूपी पगडंडी पकड़कर प्राणायामके टीलेपर चढ़ जाना चाहिये, फिर प्रत्याहाररूपी मध्यभागवाली ऐसी पहाड़ी पड़ती है जहाँ इतनी फिसलन होती है कि बुद्धिके पैर भी लड़खड़ा जाते हैं। जहाँ पहुँचनेपर हठयोगियोंका दृढ़ संकल्प भी खण्डित हो जाता है और वे लुढ़क जाते हैं; परन्तु अभ्यासके बलसे इस प्रत्याहारवाले बीचके मार्गमें भी शनैः-शनैः वैराग्यका आश्रय मिलने लगता है। इस प्रकार प्राण और अपान वायुके वाहनपर सवार होते हुए धारणाके क्षेत्रमें पहुँचना चाहिये। फिर इस क्षेत्रको पार करते हुए तबतक चलते रहना चाहिये, जबतक ध्यानके सिरेपर न पहुँचा जाय। वहाँ पहुँचकर इस मार्गका अन्त हो जाता है और प्रवृत्तिकी अभिलाषा भी समाप्त हो जाती है; क्योंकि यहीं साध्य और साधन दोनों परस्पर मिलकर एकरूप हो जाते हैं। यहाँ पहुँचते ही योगी इस तरहकी चौरस भूमिपर समाधिस्थ हो जाता है, जहाँसे न तो आगे जानेकी कोई बात ही रहती और न तो पिछले मार्गकी कोई स्मृति ही शेष रहती है। इस उपायसे योगका साधन करके जो मनुष्य उच्चावस्थातक पहुँचता है, मैं उसके लक्षण बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (५४—६१)

अधिपति भगवान् विष्णुने उसे ध्रुव-पदरूपी मिष्ठान दी थी, उसी प्रकार आपने प्रसन्न होकर कृपापूर्वक उस भगवद्गीताकी टीका करनेमें मुझे समर्थ किया है, जो ब्रह्मविद्यामें सर्वश्रेष्ठ है, जो सब शास्त्रोंकी विश्रान्तिका स्थान है, जिस वाणीरूपी वनमें दर दरकी ठोकर खानेपर भी सार्थ अक्षरके फलका कहीं नाम भी सुनायी नहीं पड़ता, उस मेरी रूखी वाणीको आपने ही आज विवेककी कल्पलता बना दिया है। मेरी जो देह-बुद्धि थी, उसे आपने अब आनन्दरूपी भण्डारकी कोठरी बना दिया है। मेरा मन गीतार्थरूपी क्षीरसमुद्रमें महाविष्णु बन गया है। श्रीगुरुदेवके समस्त कृत्य ऐसे ही अलौकिक हैं, फिर भला उसकी अपार कृतियोंका विवेचन मुझसे किस प्रकार हो सकता है? तो भी मैंने यहाँ उनकी कुछ कृतियोंका विवेचन करनेका साहस किया है और इसके लिये श्रीगुरुदेव मुझे क्षमा करें। आपके कृपा-प्रसादसे मैंने श्रीभगवद्गीताके पूर्व खण्डकी टीका बड़े उत्साहसे की है। प्रथम अध्यायमें अर्जुनके उस विषादका वर्णन है जो उसे अपने बन्धु-बान्धवोंके विनाशकी परिकल्पनासे हुआ था द्वितीय अध्यायमें निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया गया है और साथ-ही-साथ ज्ञानयोग और बुद्धियोगमें जो भेद है, उसका भी स्पष्टीकरण किया गया है। तृतीय अध्यायमें कर्मकी महिमाका विवेचन किया गया है और चतुर्थ अध्यायमें उन्हीं कर्मोंका ज्ञानके साथ प्रतिपादन किया गया है। पंचम अध्यायमें योगतत्त्वका महत्त्व दिखलाया गया है और षष्ठ अध्यायमें वह योगतत्त्व और अधिक स्पष्ट किया गया है। आसनोंसे आरम्भ करके अन्तकी ब्रह्मैक्यवाली स्थितितककी समस्त बातें बहुत ही साफ साफ बतलायी गयी हैं। इसी प्रकार इस अध्यायमें योगब्रह्मस्थिति क्या है और योगभ्रष्टोंको कौन-सी गति प्राप्त होती है, इसका भी प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद सप्तम अध्यायमें सर्वप्रथम मायाके स्वरूप इत्यादिका विवेचन किया गया है और उन चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन है जो ईश्वरकी उपासना या भजन करते हैं। इसके उपरान्त अष्टम अध्यायमें सात प्रश्नोंकी व्याख्या

सद्ब्रह्मरूप हो जायँ तो हम बड़ी ही आसानीसे स्वतः अपना हित कर लेते हैं और नहीं तो जो व्यक्ति अपने शरीरके सौन्दर्यमें भूलकर उसीको ही आत्मा समझ बैठता है, वह व्यक्ति अपने-आपको अपने ही कोशमें आबद्ध किये हुए रेशमके कीड़ेकी भाँति स्वयं ही अपना वैरी बन बैठता है। जब लाभका समय आता है, तब उस भाग्यहीनको स्वयं ही अन्धत्वकी अभिलाषा जाग उठती है और जब उसके समक्ष अपार धनराशि रखी हुई रहती है, तब वह आँखें मूँद करके उस धनराशिको लाँघकर आगे बढ़ जाता है अथवा जैसे कोई भ्रमके (पागलपनके) कारण यह कहता फिरे कि "मैं नहीं हूँ", "मैं खो गया," "मुझे कोई चुरा ले गया" और इस प्रकार वह अपने अन्तःकरणमें मिथ्या हठ किये रहे तो वह बिना कारण ही अपने सिरपर एक आफत मोल ले लेता है। पर यथार्थतः वह जो है सो ही है, किन्तु क्या किया जाय! उसकी बुद्धि उस तरफ जाती ही नहीं, देखो, स्वप्नमें लगे हुए तलवारके घावसे क्या कोई सचमुच मरता है? परन्तु ऐसे मनुष्यकी स्थिति उसी तोतेकी तरह होती है जो उस नलीपर बैठता है जो स्वयं उसीको पकड़नेके लिये लगायी जाती है। जिस समय वह तोता उस नलीपर बैठता है, उस समय उसी तोतेके भारसे वह नली उलटी चलने लगती है, उस समय वह तोता चाहे तो उड़ जाय पर उसके मनमें भय समाया रहता है। वह बेकारमें ही अपने गर्दनको ऐंठता रहता है, छाती सिकोड़ता है और चोंचसे उस नलीको जोरसे दबाये रहता है। उसके अन्तःकरणमें यह झूठी धारणा हो जाती है कि मैं सचमुच पकड़ा गया हूँ और इस झूठी धारणामें वह ऐसा आबद्ध रहता है कि अपने पैरोंके खुले हुए पंजोंको उस नलीमें बड़ी ही दृढ़तासे फँसाये रहता है। इस प्रकार जो स्वयं बिना कारणके ही बन्धनमें बँधे तो उसके विषयमें क्या यह कभी कहा जा सकता है कि उसे किसी दूसरेने बन्धनमें बाँधा है? पर जब एक बार वह ऐसे भ्रमका शिकार हो जाता है, तब वह उसके चक्करमें ऐसा फँस जाता है कि यदि उसे आधा

काट भी डाला जाय तो भी वह उस नलिका-यन्त्रको छोड़ता नहीं। इसीलिये जो व्यक्ति स्वयं ही अपने संकल्प-विकल्पोंका विस्तार करता है, वह स्वयं ही अपना रिपु होता है और जो मनुष्य मिथ्या वस्तुके वशीभूत नहीं होता, वास्तवमें वही पक्का आत्मज्ञानी होता है। (७१—८०)

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

ऐसा व्यक्ति अपने अन्तःकरणको जीत लेता है; जिसकी सारी कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, उसे कभी यह भान नहीं होता कि परमात्मा मुझसे पृथक् और दूर है। जैसे मैल निकल जानेपर अन्तमें विशुद्ध सोना ही शेष रह जाता है, वैसे ही संकल्प-विकल्पका झगड़ा मिटते ही स्वयं जीव ही परमात्मा होता है। जैसे घटके विनष्ट होनेपर घटाकाशको आकाशके साथ मिलनेके लिये किसी दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता, वैसे ही जिसका मिथ्या देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जाता है, उसे परमात्मरूप होनेके लिये फिर और कुछ भी नहीं करना पड़ता; क्योंकि वह तो पहलेसे ही परमात्मासे भरा रहता है क्योंकि पहलेसे ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। ऐसे व्यक्तिके लिये शीत और उष्णके प्रवाह, सुख-दुःखके विचार और मानापमानकी बात सम्भव ही नहीं होती। जिन-जिन मार्गोंसे सूर्य जाता है, उन उन मार्गोंमें सब स्थान प्रकाशमय हो जाते हैं, वैसे ही ऐसे व्यक्तिको जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब तद्रूप हो जाता है अर्थात् वह सब उसीका स्वरूप ही है। जैसे मेघसे निकलनेवाली जलधारा कभी समुद्रके लिये दुःखदायक नहीं होती, वैसे ही योगीश्वरके लिये अच्छी और बुरी बातें आत्मस्वरूप ही होनेके कारण कभी कष्टकारक नहीं होतीं। (८१—८७)

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

इस संसार-सम्बन्धी भावनाका विचार करनेपर जब यह तय हो जाता है कि यह भावना मिथ्या है, तब और अधिक विचार करनेपर यह ज्ञात

होता है कि वह ज्ञान आत्मस्वरूप ही है। जिस समय ऐसा हो जाता है, उस समय द्वैतभावके विनष्ट हो जानेके कारण इस प्रकारका ऊहापोह स्वतः जहाँ-का-तहाँ समाप्त हो जाता है कि यह आत्मतत्त्व व्यापक है अथवा एकदेशी। इस प्रकार जो अपने इन्द्रियोंको जीत लेता है, वह शरीरके रहनेपर भी परब्रह्मके समकक्ष जा पहुँचता है। वही वास्तविक जितेन्द्रिय होता है और उसीको योगी भी कहना चाहिये; क्योंकि वह छोटे और बड़ेमें भेद नहीं करता और मेरुपर्वत-जैसा विशाल सोनेके ढेरको तथा मिट्टीके ढेलेको एक समान ही समझता है। वह इतना निरिच्छ (इच्छारहित) रहता है कि समस्त पृथ्वीके मूल्यको अथवा अनमोल रत्नको भी पत्थरके समान समझता है। (८८—९३)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

फिर इस प्रकारके मनुष्यमें सुहृद् और शत्रु, उदासीन और मित्र इत्यादि भेदभावोंकी विचित्र कल्पना भला हो ही कैसे सकती है? उसकी आत्मस्वरूपवाली दृष्टिमें कौन किसका मित्र और कौन किसका शत्रु रह सकता है? उसे ऐसा बोध हो चुका रहता है कि मैं ही सारा विश्व हूँ। फिर हे किरीटी! उसकी दृष्टिमें यह भाव कहाँसे बचा रह सकता है कि यह अधम है और वह उत्तम है? यदि पारस पत्थरको ही कसौटीके रूपमें उपयोग किया जाय तो फिर उसपर सुवर्णके पृथक् पृथक् कस कैसे लग सकते हैं? उस कसौटीपर तो जो-जो चीज घिसी जायगी, वह सब चीज विशुद्ध सोना ही बन जायगी। इस प्रकार जिस मनुष्यमें समभाव-वाला गुण आ जाता है, उस व्यक्तिको चराचर जगत् एकमात्र आत्मरूप ही दृष्टिगोचर होता है। चाहे ये विश्वरूपी अलकार पृथक्-पृथक् स्वरूपके भले ही दिखायी पड़ें, किन्तु वह यह बात भलीभाँति जानता है कि ये सब एक ही परब्रह्मरूपी स्वर्णसे निर्मित हैं। यह उत्तम ज्ञान जिसे मिल जाता है, वह बाहरके और बनावटी स्वरूपोंके भ्रममें नहीं पडता है। यदि

वस्त्रके विषयमें भलीभाँति विचार किया जाय तो यही ज्ञात होता है कि यह सब तन्तुओंकी ही सृष्टि है। इसी प्रकार वह भी दृढ़तापूर्वक यही विचार करता है कि इस पूरे विश्वमें एक परब्रह्मके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, जिसे ऐसा अनुभव हो जाता है, वही समबुद्धि होता है। समबुद्धि इससे भिन्न और कोई चीज नहीं है। जिसका नाम तीर्थराजके तुल्य है, जिसके दर्शनसे शान्ति उत्पन्न होती है, जिसके संगसे भ्रान्त लोगोंको भी आत्मबोध हो जाता है, जिसके वचनसे ही धर्म जीवित है, जिसकी दृष्टिसे महासिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं तथा स्वर्ग-सुख आदि जिसके लिये सिर्फ खिलवाड़ होते हैं, उसका यदि अकस्मात् भी चित्तमें स्मरण हो जाय तो वह स्मरण करनेवालेको अपनी योग्यता प्राप्त करा देता है। बहुत क्या कहें, उसकी स्तुति करनेसे भी महान् लाभ होता है (९४—१०४)

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

जिसके समक्ष उस अद्वैतरूपी दिनका उदय होता है, जिसका कभी अवसान ही नहीं होता, वह मनुष्य अनवरत अपने-आपमें निमग्न रहता है। हे पार्थ! जो इस प्रकारकी अद्वैत दृष्टिसे सोचता है, वह अद्वितीय होता है; क्योंकि इस त्रिभुवनमें वही अकेला (एकाकी) आत्मरूपसे परिपूर्ण रहता है और इसीलिये वह सहज ही अपरिग्रही बना रहता है।" इस प्रकार प्राप्त पुरुषोंके लोकोत्तर जो लक्षण हैं, श्रीकृष्ण अपनी सर्वज्ञतासे कहते हैं। इतना ही नहीं, भगवान्ने सिद्धोंके गौरवको अपने गौरवसे भी अधिक बढ़ा दिया और फिर कहा—जो योगी ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है तथा जो ज्ञानिजनोंकी दृष्टिका स्वयं प्रकाश ही होता है, जिस समर्थकी संकल्पनासे ही इस चराचर विश्वकी सृष्टि हो जाती है, ओंकाररूपी हाटमें बुना हुआ शब्दब्रह्मरूपी उत्कृष्ट वाङ्मय वस्त्र भी जिसकी कीर्तिको आच्छादित करनेमें असमर्थ होता है, जिसके शरीरके तेजसे रवि और शशितकके व्यापार चलते हैं और इसीलिये यह (उस रवि और शशिके

प्रकाशमें भ्रमण करनेवाला) संसार जिसके तेजके न रहनेपर कर्महीन हो जायगा, केवल इतना ही नहीं, अपितु हे अर्जुन! जिस योगीके नाममात्रका विचार करनेपर उसकी महिमाके समक्ष यह सीमारहित आकाश भी अत्यल्प दृष्टिगोचर होता है, उसका एक-एक गुण तुम कहाँतक जान सकोगे? इसलिये यह वर्णन बहुत हुआ, संतोंके लक्षणोंका वर्णन करनेके निमित्तसे भगवान्‌ने किसके लक्षण बताये और क्यों बताये, यह वर्णन करना कठिन है।

हे अर्जुन! जो ब्रह्मविद्या द्वैतका नामोनिशान ही मिटा डालती है,वह ब्रह्मविद्या यदि मैं पूर्णतः प्रकट कर दूँ तो जो प्रेमका माधुर्य है, वही क्या नष्ट नहीं हो जायगा? इसीलिये यह सच्चे अद्वैतकी बातें नहीं हैं, बल्कि इसमें एक पतले-से पर्देकी आड़ मैंने इसलिये कर दिया है कि तुम्हारे प्रेमका सुख भोगनेके लिये मन थोड़ा-सा पृथक् होकर रहे। जो लोग **'सोऽहम्'** की भावनामें पड़कर मोक्ष-सुख पानेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, उनकी नजर हम दोनोंके प्रेमपर न लगे, बस इतना ही मैं चाहता हूँ।''(उस समय श्रीकृष्णने सोचा कि यदि अद्वैतका व्याख्यान सुनकर इस अर्जुनका अहंभाव ही चला गया और यदि यह मेरे स्वरूपमें मिलकर समरस ही हो गया तो फिर मैं अकेला रहकर ही क्या करूँगा? फिर मेरे लिये ऐसा कौन बचा रहेगा, जिससे मेरे चित्तको शान्ति मिलेगी अथवा जिससे मैं उन्मुक्त मनसे बातचीत करूँगा अथवा जिसे प्रेमावेशमें प्रगाढ़ आलिंगन कर सकूँगा? यदि पार्थ मेरे स्वरूपमें मिलकर समरस हो जायगा तो फिर मनमें न समानेवाली अपने हृदयकी कोई अच्छी बात मैं किससे कहूँगा?)

इन सब बातोंको सोचकर श्रीकृष्ण कुछ परेशान-से हो गये और उन्होंने अद्वैतमें ही द्वैतका उपदेश करनेके व्याजसे अपने प्रिय भक्त अर्जुनके मनको अपनी ओर खींच लिया। सम्भव है कि यह वर्णन श्रोताओंको कुछ बेढंगा जान पड़े, पर पार्थ तो वास्तवमें श्रीकृष्णके सुखकी ढली हुई जीती-जागती मूर्ति ही था। परन्तु सुननेवालोंको यह बात अच्छी तरहसे

समझ लेनी चाहिये कि इतना ही नहीं, बल्कि जैसे कोई बन्ध्या स्त्री वृद्धावस्थामें केवल एक ही पुत्र उत्पन्न होनेपर पुत्र-प्रेमकी पुतली बनकर मानो नृत्य करने लगती है, ठीक वैसी ही दशा उस समय श्रीकृष्णकी हो रही थी। यदि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके प्रेमकी अधिकता न देखता तो शायद मैं भी इस प्रकारका वर्णन न किया होता, पर देखो, यह कैसी आश्चर्यजनक बात है! कैसा विचित्र उपदेश है! उधर युद्धभूमिमें मार-काट मची हुई है ऐसे प्रसंगमें मनको स्थिर करनेका कोई मौका नहीं, सब तरहसे यहाँ विक्षेप-ही-विक्षेप है, ऐसे प्रसंगमें गीतारूपी आत्मज्ञानका उपदेश दे रहे है, क्योंकि निश्चितरूपसे अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमकी मूर्ति है। जहाँ प्रेम हो, वहाँ लज्जा होती हो तो वह प्रेम कैसा? उसी प्रकार व्यसन तो है, लेकिन उससे थकावट होती है तो वो व्यसन कैसा? पागलपन तो है लेकिन वह यदि भ्रममें नहीं डालता तो वह कैसा पागलपन? इसलिये कहनेका तात्पर्य यही है कि अर्जुन सचमुच कृष्णकी मित्रताका (सख्यभक्तिका आश्रय) आधारस्थल अथवा सुख-शृंगार किये हुए भगवान्‌के मनका दर्पण ही था। इस प्रकार अर्जुनका पुण्य अत्यन्त महान् और पावन था, यही कारण है कि वह भगवान्‌की कृपासे भक्तिरूपी बीजको धारण करनेके लिये उपजाऊ भूमिकी भाँति एक सुन्दर पात्र हो गया था अथवा नवधा भक्तियोंमें जो नवीं आत्मनिवेदनवाली भक्ति है उसके अत्यन्त निकट रहनेवाली जो सख्य-नामकी भक्ति है, उस भक्तिका पार्थको अधिष्ठाता देवता ही जानना चाहिये। अर्जुनपर श्रीकृष्णका इतना अपार प्रेम था कि अत्यन्त निकट श्रीकृष्णके स्थित रहनेपर भी उनकी स्तुति न करके उनके सेवक अर्जुनका ही गुण-वर्णन करनेको जी ललचाता है और फिर यह देखो कि जो पतिपरायणा पत्नी बड़ी ही निष्ठासे अपने पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती है और पति जिसका सदैव सम्मान करता है, उस पतिपरायणाकी उसके पतिसे भी बढ़कर प्रशंसा की जाती है अथवा नहीं? वैसे ही मेरे अन्तःकरणमें भी अर्जुनकी ही स्तुति करनेकी बात आयी,

कारण कि तीनों लोकोंके पुण्यका प्रताप एकमात्र उसी अर्जुनमें ही था। इस अर्जुनके प्रेमके अधीन होकर उन श्रीकृष्ण परमात्माको निराकार होनेपर भी साकार रूप धारण करना पड़ा था और उन पूर्णकामके चित्तमें भी लालसा उत्पन्न हुई थी।

यह सुनकर श्रोताओंने कहा—"अहो, यह कैसा सौभाग्य है! कैसी सुन्दर वाणी है! यह भाषाका माधुर्य मानो नादब्रह्मको भी मात कर रहा है। यह कैसी अलौकिकता है! प्राकृतजनोंकी ऐसी भाषा कभी हो ही नहीं सकती, यदि इस भाषाको देशी भाषा कहें तो भी यह अनेक प्रकारके अलंकारों, रसोंके रंगोंके जाल, अद्वैतका निरूपण करनेमें भी कैसी अच्छी तरह विस्तार कर रही है। इस भाषामें भी ज्ञान-चन्द्रिका कैसी अच्छी तरह खिल रही है और गूढ़ भावार्थरूपी शीतलता चारों ओर कैसे एक समान फैली हुई है! इसलिये इसके आलोकमें गीताके श्लोकार्थरूपी कुमुद स्वतः प्रस्फुटित हो रहे हैं।" यह व्याख्यान सुननेकी उत्कण्ठा इतनी महान् है कि निरिच्छ पुरुषको भी व्याख्यान सुननेकी इच्छा जाग्रत् होगी, उसी आनन्दके कारण उनके सिर हिलने लगे। श्रोताओंकी इस दशाको देख करके निवृत्तिदासने कहा—"अब जरा ध्यान दो, निःसन्देह श्रीकृष्णकी कृपाके आलोकमें पाण्डवकुलमें एक अनोखा प्रभात हुआ अब आप ही देखिये, देवकीने श्रीकृष्णको गर्भमें धारण किया और यशोदाने कष्ट सह-सहकर उनका पालन-पोषण किया; पर अन्तमें वे इन्हीं पाण्डवोंके लिये ही उपयोगी सिद्ध हुए। यही कारण है कि अर्जुनके पुण्यका प्रताप अपार था और श्रीकृष्णकी कृपा पानेके लिये न तो उसे चिरकालतक सेवा-शुश्रूषा ही करनी पड़ी थी और न उचित अवसरकी प्रतीक्षा करके कृपाकी याचना ही करनी पड़ी थी।" परन्तु अब मैं इन बातोंको छोड़ करके शीघ्रातिशीघ्र मूल कथाको ही कहना प्रारम्भ करता हूँ।

श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर अर्जुनने बड़े प्रेमसे कहा—"हे देव! आपने सन्तोंके जो-जो लक्षण बतलाये हैं, उनमेंसे एक भी मुझमें नहीं

है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो इन लक्षणोंका एक अंश भी ग्रहण करनेकी योग्यता मुझमें नहीं है, परन्तु आपके उपदेशसे ही मैं इन लक्षणोंको धारण करनेकी योग्यता पा सकूँगा। यदि आप चाहेंगे तो मैं ब्रह्म ही बन जाऊँगा। अब आप मुझे जो कुछ करनेको कहेंगे, मैं वह सब मन लगाकर करूँगा न करनेकी क्या बात है। अहो देव! आप कौन-सी बात कह रहे हैं, वह मेरी समझमें नहीं आती। परन्तु ये बातें सुनकर मनमें मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ, इस प्रकारके लक्षण जिसमें होंगे उनका महत्त्व (बड़प्पन) कितना बड़ा होगा। फिर जब मैं स्वयं उसीकी भाँति हो जाऊँगा, तब तो हे देव! मेरे आनन्दकी कोई सीमा ही नहीं रह जायगी। हे गोस्वामी! क्या आप अपनी ओरसे इतनी अनुकम्पा करेंगे कि ऐसे सिद्ध व्यक्तिकी स्थितिको मैं प्राप्त हो जाऊँ?'' तब श्रीकृष्णने हँसकर कहा—''अच्छा, अब मैं तुम्हारी इच्छाके अनुरूप ही सब कुछ करता हूँ। देखो, किसी व्यक्तिको जबतक सन्तोषकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक उसके चित्तमें यही चिन्ता सताती रहती है कि मुझे कैसे सुखकी प्राप्ति होगी। परन्तु जिस समय वह सन्तोष मिल जाता है, उस समय इच्छाकी अपूर्णता कहीं शेष नहीं रह जाती। उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर भगवान्‌का अर्जुन सेवक है, इसीलिये वह ब्रह्मस्वरूप हो जायगा, परन्तु अर्जुनके भाग्यकी सामर्थ्यसे श्रीकृष्ण किस प्रकार फलीभूत हो गये, वह देखो। सहस्रों बार जन्म धारण करनेपर इन्द्रादिको भी जिस परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति नहीं होती, आज वही परमात्मा अर्जुनके इतने अधीन हो गया है कि उसका वर्णन करना शब्दोंके वशकी बात नहीं है। अर्जुनने जो ब्रह्म होनेकी इच्छा प्रकट की थी उसको श्रीकृष्णने अच्छी तरह सुन ली। उस समय श्रीकृष्णने सोचा कि इसकी बुद्धिके गर्भमें वैराग्यका जन्म हुआ है; और जैसे गर्भवती स्त्रियोंके मनमें अनेक प्रकारकी इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही इसके मनमें भी ब्रह्मत्व प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है। वैसे तो यह वैराग्यरूपी गर्भ अभी परिपक्वताको प्राप्त नहीं हुआ है; पर फिर भी यह अर्जुनरूपी वृक्ष वैराग्यरूपी

वसन्त-ऋतुकी बहारके कारण 'सोऽहम्' भावरूपी बौरसे लद गया है। उस समय श्रीकृष्णके अन्तःकरणमें यह विश्वास होने लगा कि अर्जुन इतना विरक्त हो गया है कि अब इसमें ब्रह्मप्राप्तिका फल लगनेमें अधिक देर न लगेगा। उन्होंने सोचा कि अब अर्जुन अपने मनमें जो भी कार्य करनेका विचार करेगा, उसका इसे पहलेसे ही फल प्राप्त हो जायगा। इसीलिये अब यदि इसे योगके अभ्यासका उपदेश किया जायगा तो वह व्यर्थ नहीं होगा। इन्हीं सब बातोंको सोच-विचार करके श्रीहरिने कहा—"हे अर्जुन! अब मैं इस योगके अभ्यासका राजमार्ग तुम्हें बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। इस मार्गमें स्थान-स्थानपर प्रवृत्तिरूपी वृक्षोंके मूलमें निवृत्तिरूपी फलोंके गुच्छे (करोड़ों फल) लगे हुए हैं अर्थात् इस मार्गका आचरण (अनुष्ठान) करने लग जाय तो मोक्षरूपी फल मिलता है, अब भी इसी मार्गसे श्रीशंकर यात्रा करते रहते हैं। अन्य योगीवृन्द प्रारम्भमें कुछ दूसरे ही टेढ़े-मेढ़े मार्गोंमें भटक चुके हैं, किन्तु अनुभव सिद्ध होनेपर उन्होंने भी इसी राजमार्गको स्वीकार किया है। अज्ञानके अन्यान्य टेढ़े-मेढ़े मार्गोंको त्यागकर वे लोग आत्मज्ञानके इसी सुगम मार्गसे अनवरत आगे बढ़ते गये हैं। योगियोंके बाद बड़े-बड़े मुनीश्वर भी सदा इसी मार्गसे चलते रहे हैं और साधनावस्थासे निकलकर सिद्धत्वको प्राप्त हुए हैं। आत्मज्ञानियोंने भी इसी मार्गसे चलकर श्रेष्ठता प्राप्त की है। जब योगका यह राजमार्ग एक बार दृष्टिगोचर हो जाता है, तब भूख-प्यास बिलकुल मिट जाती है। इस मार्गमें रात-दिनकी कोई कल्पना ही नहीं रहती। इस मार्गपर चलते समय जिस-जिस स्थानपर पाँव पड़ते हैं, उस-उस स्थानपर मोक्षकी खान ही प्रत्यक्ष प्रकट होती है, यदि इस यात्राके बीचमें कहीं कोई अवरोध आ पड़े तो फिर स्वर्ग-सुख तो मिलना-ही-मिलना है। हे अर्जुन, (इस मार्गमें) पूर्व दिशाके मार्गसे चलकर पश्चिम दिशाके घरमें आना, इस प्रकार है। मनकी स्थिरता ही इस मार्गपर चलना है। हे धनुर्धर! मुझे अब यह कहनेकी जरूरत नहीं है, इस मार्गसे यात्रा करते हुए हम

जिस गाँवमें पहुँचते हैं, स्वयं वही गाँव बन जाते हैं। यह बात तो तुम्हें स्वतः अपने अनुभवसे पीछे ज्ञात हो जायगी।" तब पार्थने पूछा— "हे देव! आपने जो कहा कि 'पीछे' सो मैं तो यही जानना चाहता हूँ कि वह 'पीछे' कब होगा? मैं इस समय इस उत्कण्ठारूपी सागरमें गोता लगा रहा हूँ। क्या आप मुझे इस संकटसे उबारेंगे नहीं? अर्जुनकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पार्थ! तुम्हारी ये सब बातें उतावलेपनसे भरी हुई हैं। मैं तो स्वयं ही बतला रहा था; वही तुमने पूछ लिया। (१०५—१६२)

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

अच्छा, अब मैं तुम्हारे समक्ष सारी बातोंका सांगोपांग निरूपण करता हूँ; पर इन सब बातोंका अच्छी तरहसे उपयोग तभी सम्भव है, जब इनका अनुभव किया जाय। योगाभ्यासके लिये पहले-पहल एक उचित स्थान ढूँढ़ना चाहिये, वह स्थान ऐसा हो कि यदि आराम करनेकी लालसासे मनुष्य वहाँ जाकर बैठे, तो फिर वहाँसे उठनेका नामतक न ले। वह स्थान ऐसा होना चाहिये कि उसे देखते ही वैराग्य दुगुना हो जाय। वहाँ यदि सन्तोंका निवासस्थान हो तो उससे सन्तोषको बल मिलता है और मनको धैर्यका आश्रय। जिस स्थानपर स्वयं अभ्यास अपने-आपको साधकसे करवा लेता है, अर्थात् जिस स्थानपर अपने-आप अभ्यास हो जाता है और अनुभव स्वयं साधकके अंतःकरणको माला पहना देता है; इसी प्रकार जिस जगह रमणीयताकी महत्ता नित्य-निरन्तर बनी रहती है; हे पार्थ! जहाँ पहुँचते ही पाखण्डियोंके चित्तमें भी तपस्या करनेकी बुद्धि उत्पन्न हो, जिस स्थानपर कोई राही एकाएक पहुँचकर यदि सकाम हो तो भी वह उस स्थानसे लौटनेकी बात एकदम भूल जाय, इस प्रकारका स्थान न रहनेवालोंको भी रोक लेता है। भ्रममें पड़े हुए लोगोंको भी स्थिर करता है और वैराग्यको थपथपाकर जाग्रत् करता है। वह स्थान ऐसा हो कि उसे देखनेमात्रसे ही विषयीजनोंको भी ऐसा मालूम हो कि मैं संसारका राज्य-सुख त्यागकर इसी स्थानपर

शान्तिपूर्वक पड़ा रहूँ। इसके अलावा वह स्थान इतना पावन होना चाहिये कि वहाँ साक्षात् ब्रह्म ही दृष्टिगोचर हो। इतना ही नहीं, वहाँ योगका अभ्यास करनेवालोंकी भी बस्ती हो और वहाँ किसीका भी आना-जाना न हो। उस स्थानपर अमृतके समान जड़से ही मीठे और सदा फल देनेवाले सघन वृक्ष होने चाहिये। वहाँ वर्षा-ऋतुके अलावा अन्य ऋतुओंमें भी कदम-कदमपर जल सुलभ हो और विशेषरूपसे उस स्थानपर निर्मल झरने भी होने चाहिये। उस स्थानपर गर्मी साधारण पड़ती हो और शीतल वायु मन्द-मन्द बहती हो, वह स्थान एकदम शान्त और निःस्तब्ध होना चाहिये वहाँ हिंसक पशुओंकी भीड़ नहीं होनी चाहिये, तोते और भ्रमरतक नहीं होने चाहिये। वह स्थान इस तरहका होना चाहिये कि जलके सहारे जीनेवाले हंस और दो-चार सारस आदि पक्षी ही यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हों और जब-तब कोई कोयल वहाँ आकर बैठती हो, इसी प्रकार सदा तो नहीं, पर हाँ, जब-तब कुछ मोर भी उस स्थानपर आया-जाया करते हों, तो भी कोई बात नहीं। हे पार्थ! ऐसे जगहकी तलाश सावधानीपूर्वक करनी चाहिये और फिर वहाँ कोई मठ (आश्रम) अथवा शिवालय देखना चाहिये। इन दोनोंमेंसे जो रुचिकर जान पड़े, उसीका चुनाव अपने लिये कर लेना चाहिये और वहाँ एकान्तमें जाकर बैठ जाना चाहिये। अपने लिये कौन-सा स्थान उचित होगा, यह जाननेका तरीका यह है कि पहले इस बातका अनुभव कर लेना चाहिये कि हमारा मन किस स्थानपर शान्त और स्थिर रहेगा और तब उसीके अनुरूप स्थानका चुनाव करके उपर्युक्त विधिसे वहाँ आसन लगाना चाहिये। आसन बिछाते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि सबसे ऊपर स्वच्छ मृगचर्म हो, उसके नीचे धुले हुए वस्त्र और फिर उसके नीचे अत्यन्त कोमल कुश अच्छी तरहसे बिछे हुए होने चाहिये। यह आसन यदि बहुत ऊँचा होगा तो शरीर हिले-डुलेगा और यदि बहुत नीचा होगा तो भूमिके साथ स्पर्श होनेकी सम्भावना रहेगी। इसलिये आसनको लगाते समय ऊँचाई-निचाईका भी ध्यान रखना चाहिये। किन्तु ये सब बातें बहुत अधिक

चर्चाकी विषय नहीं हैं। इसका आशय यह है कि आसन सुन्दर और सुखद होना चाहिये। (१६३—१८५)

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

फिर आसनासीन होकर अन्तःकरणको एकाग्र करके सद्‍गुरुका स्मरण करना चाहिये, पुनः अन्तरंग और बहिरंग, दोनों तरफ सात्त्विक वृत्तिसे भरकर श्रद्धापूर्वक तबतक सद्‍गुरुका स्मरण करते रहना चाहिये, जबतक अहंभावकी जड़ता एकदम चली न जाय, सारे विषयोंकी बिलकुल विस्मृति न हो जाय, ऐन्द्रिक चपलता एकदम रुक न जाय और चित्त एकाग्र होकर हृदयमें प्रतिबिम्बित न हो जाय और इस प्रकारकी स्वाभाविक एकताकी स्थिति बिलकुल मिल न जाय। फिर इसी आत्मज्ञानवाली स्थितिमें आसनासीन रहना चाहिये। ऐसी स्थितिमें यह अनुभव होने लगेगा कि शरीर स्वतः सँभलता हुआ ठीक रास्तेपर आ रहा है और देहमेंकी वायु एक ही जगहपर इकट्ठी हो रही है। इस स्थितिमें बैठते ही प्रवृत्ति विमुख हो जाती है, चित्तकी समाधि निकट आ जाती है और योगाभ्यासका साधन होता है। अब हम यह बतलाते हैं कि उस समय मुद्राकी स्थिति कैसी होनी चाहिये।

पहले-पहल पिण्डलीको जाँघसे सटाकर पैरके तलवेको ऐसे तिरछे करने चाहिये कि वे ऊपरकी ओर हो जायँ और तब उन्हें गुद-स्थानके मूलमें रखकर बलपूर्वक दबाना चाहिये। दाहिने तलवेसे गुद-स्थानकी सीवनका ठीक बीचवाला भाग दबाना चाहिये। इस क्रियासे बायाँ तलवा बड़ी सरलतासे ठीक ऊपर जमकर बैठ जायगा। गुदा और वृषणके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर होता है। उसमेंसे यदि दोनों ओर डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़ दिया जाय तो बीचमें एक अंगुल बचा रह जाता है, वहींपर एड़ीका पिछला भाग रखकर और सारे शरीरका वजन खूब नाप-तौलकर उस स्थानको ठीक तरहसे दबाना चाहिये। फिर पीठके निचलेवाले हिस्सेको इस प्रकार

हलकेपनसे ऊपर उठाना चाहिये, जिसमें यह भी भान न हो कि ऊपरका शरीर उठाया गया है अथवा नहीं और दोनों घुटनोंको भी उसी प्रकार उठाकर रखना चाहिये। हे पार्थ! इस क्रियासे सारे शरीरका वजन एड़ीके केवल अग्रभागपर आ पड़ेगा। हे अर्जुन! इस आसनका नाम मूलबन्ध है और इसीको लोग वज्रासन भी कहते हैं। इस प्रकार जब गुदा और वृषणके बीचोबीच स्थित आधारचक्रपर ऊपरके शरीरका सारा भार पड़ता है, और शरीरके नीचेका भाग दबता है, तब आँतोंमें संचार करनेवाला अपानवायु उलटे शरीरके भीतरी भागकी ओर अर्थात् पीछेकी ओर हटने लगता है। (१८६—२००)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

पुनः हाथकी हथेलियाँ सम्पुटाकार (दोनेकी तरह) होकर स्वतः बायें पैरपर आकर टिक जाती हैं और मालूम पड़ता है कि कन्धोंकी कुछ ऊँचाई बढ़ गयी है। शरीर-दण्ड सीधा स्थिर रहता है और उसके मध्यमें मस्तक घुसा हुआ-सा जान पड़ता है और नेत्र-द्वारके किंवाड़रूपी पलकें स्वतः बन्द होती-सी दीखती हैं। नेत्रोंकी ऊपरवाली पलकें तो बन्द हो जाती हैं, पर नीचेवाली पलकें खुली रहती हैं। इससे आँखें अर्धोन्मीलित रहती हैं, फिर दृष्टि भीतरकी तरफ बढ़कर थोड़ा-सा बाहरकी तरफ आती है और आकर नासाग्रपर टिक जाती है। इस प्रकार दृष्टि भीतरकी तरफ जानेके कारण फिर बाहर नहीं जा सकती; और तब उस अर्धविकसित दृष्टिको नासाग्रपर ही स्थिर होना पड़ता है। फिर किसी दिशामें दृष्टिक्षेप अथवा किसीके रूप रंगको देखनेकी इच्छा स्वतः समाप्त हो जाती है। सिर दबकर नीचे बैठ जाता है और ठुड्डी कण्ठके नीचेके गड्ढेमें जम जाती है और सिर बिलकुल वक्षसे जा सटता है। इससे कण्ठनलिका भी उसीमें सिमटकर फँस जाती है, इस प्रकार जो बन्ध बनता है, उसीको जालन्धर कहते हैं। नाभि ऊपर उठ आती है और पेट भीतर घुस जाता है, किन्तु हृदय-कोश प्रफुल्लित हो

जाता है, इस प्रकार नाभिके नीचे स्वाधिष्ठान चक्रके ऊपर जो बन्ध बनता है, उसे उड्डीयान-बन्ध कहते हैं। इस प्रकारकी बन्ध-मुद्रासे शरीरके बाह्य अंगोंपर योगाभ्यासका प्रभाव पड़ता है। (२०१—२१०)

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

इस प्रकार शरीरके बाहर अभ्यासकी छाया दीखती है और शरीरके भीतरका वह आधार ही समाप्त हो जाता है, जिसमें मनोवृत्तियाँ रहती हैं। कल्पना बन्द हो जाती है और प्रवृत्ति शान्त हो जाती है। शरीर, भाव तथा मन सहज ही विराम पाते हैं। फिर इस बातकी कुछ सुध-बुध ही नहीं रह जाती कि भूख क्या हो गयी और निद्रा कहाँ चली गयी! हे पार्थ! अभी मैंने तुम्हें जो मूलबन्धके विषयमें बतलाया है, उसके द्वारा सम्यक् रूपसे बँध जानेके कारण अपानवायु शरीरमें पीछेकी तरफ पलटती है और दबाव पड़नेके कारण फूलने लगती है। फिर वह कुपित होकर मत्त होती है और उसी बन्द स्थानमें गड़गड़ाने लगती है और नाभिप्रदेशमें स्थित मणिपुर नामक चक्रको रह-रहकर धक्के देती रहती है। तत्पश्चात् जब यह हलचल शान्त हो जाती है,तब वह देहरूपी गृहकी खोज करके बचपनसे लेकर आजतक जितना मल अन्दर इकट्ठा रहता है, वह सब देहके बाहर निकाल फेंकती है। अपानवायुकी यह तरंग देहके भीतर तो समा ही नहीं सकती, इसलिये वह कोठोंमें प्रविष्ट कर कफ और पित्तको आश्रय-स्थानसे बाहर कर देती है। फिर यह ऊपर उठी हुई अपानवायु रक्त आदि सप्त धातुओंके समुद्रको उलट देती है, मेदके पर्वतोंको फोड़कर चूर-चूर कर देती है और हड्डियोंके भीतर मिली हुई मज्जातकको बाहर निकाल फेंकती है। वायु-मार्गकी नलिकाको खुलासा करती है और समस्त अवयवोंको ढीला कर देती है। इस प्रकार अपने इन लक्षणोंसे यह अपानवायु योगकी साधना करनेवाले नवसाधकोंको भयभीत कर देती है; परन्तु साधकोंको भयभीत नहीं होना चाहिये। इसका कारण यह है कि यह अपानवायु कुछ व्याधि उत्पन्न करती है और साथमें

ही उसका परिहार भी करती रहती है। शरीरमें रहनेवाले कफ और पित्त आदि जो जलीय तत्त्व हैं तथा मांस और मज्जा इत्यादि जो पृथ्वीके अंश हैं, वह उन सबको एकमें मिला देती है। इसी बीचमें, हे धनुर्धर! वज्रासनकी उष्णताके कारण कुण्डलिनी नामकी शक्ति जाग्रत् होती है। जैसे नागिनका कुंकुमकी तरह लाल बच्चा कुण्डली मारकर सोता है, वैसे ही यह छोटी-सी कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरेकी कुण्डली मारकर अधोमुख होकर सर्पिणीकी भाँति सोयी रहती है। विद्युत्के बने हुए कंकण अथवा अग्नि-ज्वालाकी रेखा अथवा सोनेके घोटे हुए पाँसेकी भाँति यह कुण्डलिनी नाभिप्रदेशकी अत्यन्त छोटी-सी संकुचित जगहमें बहुत अच्छी तरहसे बँधी हुई पड़ी रहती है। परन्तु जिस समय उसपर वज्रासनका दबाव पड़ता है, उस समय वह जाग उठती है, फिर जैसे कोई नक्षत्र टूट पड़ता है या सूर्यासन छूट जाता है या स्वयं तेजके बीजमेंसे कोमल अंकुर निकलता है, वैसे ही यह कुण्डलिनी अपना घेरा त्याग देती है और मानो कौतुकसे अँगड़ाई लेती हुई नाभिकन्दपर खड़ी हो जाती है। वह बहुत दिनोंकी भूखी रहती है, तिसपर वह दबाकर जगायी जाती है; इसलिये वह अपना मुख बड़े आवेशसे ऊपरकी ओर उठाकर फैलाती है। हे किरीटी! तत्क्षण उसे अपने समक्ष वह अपानवायु प्राप्त हो जाती है जो हृदय-कोश-तलमें आकर जमी रहती है; और तब वह उस वायुको अपने अधीन कर लेती है। अपने मुखकी ज्वालासे वह उसे ऊपर-नीचे और चतुर्दिक् आवेष्टित कर लेती है तथा मांसके निवाले लेने लगती है। जिस-जिस स्थानपर मांस रहता है, उस उस स्थानपर पहुँचकर वह उसे खाने लगती है और अन्तमें वह हृदयके भी एक-दो निवाले ले ही लेती है। फिर वह तलवों तथा हथेलियोंकी भी खोज-खबर लेती है और तब ऊपरके हिस्सेपर भी हाथ लगाती है। इस प्रकार वह शरीरके अंग-प्रत्यंगकी तलाशी लिये बिना शान्त नहीं रहती। वह नीचेके हिस्सोंको भी क्षमा नहीं करती। और तो-और वह नाखूनोंका भी सत्त्व निचोड़ लेती है और त्वचाको धोकर हड्डीके ढाँचोंसे जोड़ देती है। वह अस्थियोंकी

नलियोंतकका सत्त्व पी लेती है। नसोंकी जालतक चट कर डालती है जिससे बाहरी रोमकूप भी बन्द हो जाते हैं।

तदनन्तर, वह प्यासी कुण्डलिनी सप्त धातुओंके समुद्रको एक ही घूँटमें पी जाती है जिससे शरीरका हर अवयव शुष्क हो जाता है। फिर नासारन्ध्रसे बारह अंगुलतक जो हवा निकलती है, उसे भी यह कुण्डलिनी दबोचकर भीतरकी ओर खींचने लगती है ऐसी दशामें अधोवायु ऊर्ध्वगामी होने लगती है और ऊर्ध्ववायु अधोमुखी होने लगती है और इन दोनोंके मध्यमें केवल बीचवाले चक्रके परदेकी ही आड़ रह जाती है। यदि बीचमें यह आड़ न हो तो ये दोनों वायु तत्क्षण परस्पर मिल जायँ। परन्तु कुण्डलिनी कुछ व्याकुल होकर इनसे कहती है—'क्या केवल तुम्हीं दोनों अबतक बची हुई हो?' हे पार्थ! इसका मतलब यह है कि यह कुण्डलिनी शरीरमेंसे पृथ्वी-तत्त्वको खाकर भी साफ कर डालती है और जल-तत्त्वका तो नामोनिशान ही मिटा डालती है। जब यह शरीरमेंसे पृथ्वी और जल दोनों महाभूतोंको चबा डालती है, तब यह बिलकुल संतृप्त हो जाती है और तब किंचित् शान्त होकर सुषुम्ना नामक नाड़ीके पास रहती है। वहाँ संतृप्त और सन्तुष्ट होकर वह जो विष उगलती है, वही प्राणवायुके लिये अमृतके सदृश हो जाता है और उस अमृतसे प्राणवायु जीवन धारण करती है। यद्यपि वह प्राणवायु उस विषकी अग्निमेंसे ही निकलती है, पर फिर भी वह शरीरके अन्दर और बाहर दोनों हिस्सेको शीतल कर देती है और तब वह अंग-प्रत्यंगमें फिरसे वह शक्ति भरने लगती है जो वह पहले उनमेंसे निचोड़ चुकी होती है। किन्तु नाड़ियोंके मार्ग भर चुके होते हैं और उनका वेग बन्द हो चुका रहता है और शरीरमें रहनेवाली अपान, व्यान आदि नौ प्रकारकी वायु समाप्त हो चुकी होती है और एकमात्र प्राणवायु ही शेष रहती है, इसलिये शरीरके समस्त धर्म विनष्ट हो जाते हैं।

तत्पश्चात् नासिकाके दोनों रन्ध्रोंकी इडा और पिंगला नामकी नाड़ियाँ परस्पर मिलकर एक हो जाती हैं, उनकी तीनों गाँठें खुल जाती हैं और

शरीरके भीतरी छहों चक्रोंके ऊपरके आवरण फट जाते हैं। फिर नासारन्ध्रोंसे प्रवाहित होनेवाली जिन वायुओंकी समता चन्द्र और सूर्यसे दी जाती है, उनका इस तरहसे नाश हो जाता है कि वे दीपक लेकर ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलते। बुद्धिकी चपलता चली जाती है,नाकमें जो गन्ध शेष रहती है, वह भी कुण्डलिनीके साथ-साथ सुषम्ना नाड़ीमें प्रवेश कर जाती है। इसी बीचमें चन्द्रमाकी सत्रहवीं कलाके अमृतका वह सरोवर, जिसका निवास ऊपरकी ओर है, धीमी गतिसे तिरछा होने लगता है और आकर कुण्डलिनीके मुखके साथ जुड़ जाता है। फिर इस कुण्डलिनीकी नलीमें जो अमृत-रस भरता है, वह अंग प्रत्यंगमें फैल जाता है और प्राणवायुके योगसे सारे शरीरमें व्याप्त होकर जहाँ-का-तहाँ सूख जाता है, जैसे साँचेको गरम करनेसे उसमें स्थित मोम निकल जाता है और फिर वह साँचा केवल धातु-रससे ही लबालब भरा रहता है, वैसे ही मानो चन्द्रकला इस शरीरके रूपमें अवतरित होती हुई मालूम पड़ती है और उसके चतुर्दिक् केवल त्वचारूपी आवरण ही बचा रहता है। मेघोंके आ जानेसे सूर्य अदृश्य हो जाता है; पर उन मेघोंके चले जानेपर जैसे वह फिर अपनी प्रकाशयुक्त प्रभासे प्रकट होता है, वैसे ही इसी चन्द्रकलाके तेजस्वी स्वरूपपर केवल त्वचारूपी सूखा आवरण ही बचा रहता है और फिर वह भी भूसीकी तरह उड़ जाता है। तब शरीरके अवयवोंकी कान्ति ऐसी प्रतीत होती है कि मानो वह शुद्ध स्फटिकका दोषरहित स्वरूप ही हो अथवा रत्नरूपी बीजमें अंकुर निकला हुआ हो अथवा ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सन्ध्याकालका रंग निचोड़कर यह शरीर बनाया गया है अथवा अन्तस्थ चैतन्यके तेजपुंजकी निर्मल प्रभा है। यह शरीर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कुंकुमसे भरा हुआ अथवा चैतन्यरससे ढाला गया है अथवा मैं समझता हूँ कि यह शरीर साक्षात् मूर्तिमयी शान्ति ही है। यह शरीर मानो आनन्दरूपी चित्रका रंग अथवा ब्रह्मसुखकी प्रत्यक्ष मूर्ति है अथवा सन्तोषरूपी वृक्ष दृढ़तासे रोपा हुआ मालूम पड़ता है। यह शरीर कनक चम्पककी

कली है अथवा अमृतका पुतला है अथवा कोमलताका ऐसा बागीचा है जो वसन्त-ऋतुसे व्याप्त है अथवा शरद्-ऋतुकी आर्द्रतासे चन्द्रबिम्ब पल्लवित हुआ है अथवा यह कल्पना होती है कि स्वयं तेज ही मूर्तिमान् होकर आसनपर बैठा हुआ है। जब कुण्डलिनी चन्द्रकलाके अमृतका पान करती है, तब शरीरकी ऐसी ही दशा हो जाती है। उस समय यमराज (कृतान्त)भी इस शरीरसे भय खाने लगता है, उस समय बुढ़ापा भी दूर-दूरतक नजर नहीं आता। युवावस्थाकी गाँठ खुल जाती है और लुप्त हुई बाल्यावस्था फिरसे प्रकट होती है। यदि केवल अवस्थाके विषयमें सोचा जाय तब तो वह बालकोंके ही सदृश दीखता है; पर उसकी शक्ति इतनी प्रबल होती है कि 'बाल' शब्दका अर्थ 'बल' ही करना पड़ता है। उस समय उसके शरीरमें जो नये तेजयुक्त नख निकलते हैं, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कनक-वृक्षमें ऐसी रत्नकलिका निकली है, जो कभी मुरझानेवाली न हो। उस समय उसके जो नये दाँत निकलते हैं, वे भी इतने छोटे होते हैं कि उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मानो जबड़ेमें दोनों ओर हीरक कणिकाकी पंक्ति बिछायी गयी हो। सारे शरीरपर नुकीले रोम ऐसे दीखते हैं कि मानो सूक्ष्म माणिकके कण हों। हथेलियाँ और तलवे रक्तकमलके सदृश सुन्दर जान पड़ते हैं और उसकी जो आँखें हैं, वे धुलकर इतनी निर्मल हो जाती हैं कि फिर उनका वर्णन कौन कर सकता है! जब मोती अपनी परिपक्वताको प्राप्त होता है, तब वह सीपीमें नहीं समाता, उस समय सीपीकी सीवन (खोल) जिस प्रकार खुल जाती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि भी आँखोंकी पलकोंमें नहीं अँटती और आवेशसे बाहर निकलकर व्यापक होना चाहती है। जिस समय उसकी आँखें अर्धोन्मीलित रहती हैं, उस स्थितिमें वह सारे आकाशको ढँक सकती है। हे पार्थ! योगीका शरीर यद्यपि कान्तिकी दृष्टिसे स्वर्णका होता है, पर भारकी दृष्टिसे वह वायुका ही होता है; कारण कि उसमें पृथ्वी और जलका अंश लेशमात्र भी नहीं होता। फिर उस योगीको समुद्र-पारकी

वस्तुएँ भी दिखायी देने लगती हैं; स्वर्गका मन्द-मन्द स्वर भी सुनायी पड़ने लगता है और पिपीलिकाके मनोभावोंको भी अच्छी तरहसे जान सकता है। वह वायुके अश्वपर सवार होता है; यदि वह जलपर चले तो उसके पैरके तलुए जलसे नहीं भींगते। बस, इसी प्रकारकी तरह-तरहकी सिद्धियाँ उसे मिल जाती हैं।

हे अर्जुन! सुनो, प्राणवायुका हाथ पकड़कर हृदयकोशके तलोंको सीढ़ियोंके डण्डे बनाकर और सुषुम्ना नाड़ीकी सीढ़ी बनाकर जो कुण्डलिनी हृदयतक पहुँच जाती है, उसे जगदम्बा ही जानना चाहिये; वही चैतन्यरूपी चक्रवर्तीकी शोभा है और वही जगत्-बीज ओंकारके अंकुरके ऊपरकी छाया है। वही शून्यकी बैठक और परमात्मारूपी शिवका सम्पुट है अथवा ओंकारकी एकमात्र जन्मभूमि ही है। किंबहुना, जब इस प्रकारकी यह सुकोमल कुण्डलिनी हृदयमें प्रवेश करती है, तब स्वतः होनेवाला दिव्य अनाहत ध्वनिका नाद उठने लगता है। कुण्डलिनीके साथ ही बुद्धिको भी चेतना मिलती रहती है, इसलिये यह दिव्य अनाहत ध्वनि उसे कुछ-कुछ सुनायी पड़ने लगती है। यह अनाहत ध्वनि दस प्रकारकी है,उनमेंसे प्रथम घोष है जो सबसे पहले सुनायी पड़ता है। फिर उसी घोषके कुण्डमें ओंकारके रूपकी ही भाँति अंकित नाद-चित्रकी आकृति बनने लगती है। ये सब बातें केवल कल्पनासे ही समझनी चाहिये। किन्तु कल्पना करनेवालेको भी भला इन सब बातोंकी जानकारी कैसे हो सकती है? पर वास्तविकता तो यह है कि यही समझमें नहीं आता कि उस जगहपर काहेका नाद हो रहा है। किन्तु हे अर्जुन! इस व्याख्यानके चक्करमें पड़कर तो मैं एक बात ही भूल गया। जबतक प्राणवायुका विनाश नहीं होता, तबतक हृदयाकाशमें आवाज होती ही रहती है और वही आवाज इस तरह गूँजती रहती है। जब उस अनाहतरूपी मेघनादसे हृदयरूपी आकाश गूँज उठता है, तब ब्रह्मरन्ध्रकी खिड़की स्वतः खुल जाती है। हे पार्थ! हृदयरूपी आकाशके ऊपर जो महदाकाश होता है, उसीमें चैतन्य

बिना आधारका निवास करता है, ज्यों ही उस हृदयरूपी घरमें कुण्डलिनी परमेश्वरीका प्रवेश होता है, त्यों ही वह अपना तेज उस चैतन्यके समक्ष भोजनके रूपमें अर्पित करती है। ज्यों ही बुद्धिरूपी शाकका इस भोजनके साथ नैवेद्य लगता है, त्यों ही फिर द्वैतका कहीं नामोनिशान भी नहीं रह जाता। फिर कुण्डलिनी अपना तेज छोड़कर प्राणवायुका स्वरूप प्राप्त कर लेती है। यदि तुम यह प्रश्न करो कि उस समय उसका स्वरूप किस प्रकारका हो जाता है तो मैं बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। ऐसा मालूम पड़ता है कि अबतक वायुकी यह पुतली स्वर्णिम पीत वस्त्र धारण किये हुए थी, परन्तु अब वह अपना पीत वस्त्र फेंककर निर्वस्त्र हो गयी है अथवा प्रतीत होता है कि किसी दीपककी ज्योति वायुसे टकराकर बुझ गयी है अथवा जैसे बिजली आकाशमें एक बार चमककर फिर छिप जाती है, वैसे ही हृदयकमलतक स्वर्णशलाकाकी भाँति दिखायी देनेवाली या प्रकाश स्रोतकी भाँति प्रवहमान वह कुण्डलिनी हृदयप्रदेशकी दरीमें अकस्मात् प्रवेश कर जाती है और सद्यः शक्तिका शक्तिमें लय हो जाता है। ऐसी स्थितिमें हम उसे भले ही शक्ति कहकर पुकारें, पर यदि तत्त्वतः विचार किया जाय तो वह प्राणवायु ही होती है। फर्क सिर्फ यही है कि उसका नाद, कान्ति और तेज दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर उस दशामें मनको वशमें करने, वायुको रोकने अथवा ध्यान लगानेकी भी कोई जरूरत नहीं रह जाती। उस समय मनमें संकल्प विकल्प उठनेका कोई प्रश्न ही नहीं। वास्तवमें इस अवस्थाको पंचमहाभूतोंको बिलकुल विनष्ट करनेवाली ही जानना चाहिये।" इस प्रकार योगके द्वारा पिण्ड-से-पिण्डका ग्रसन नाथ-सम्प्रदायका मूल रहस्य है; यहाँ इसी अभिप्रायका संकेत श्रीमहाविष्णुने किया है। यहाँ एक-से-एक गुणोंके ग्राहक हैं, जो कथा सुननेके लिये पूर्ण मनोयोगसे बैठे हुए हैं, यही कारण है कि श्रीकृष्णकी ध्वनितार्थवाली गठरीको छोड़कर मैंने यथार्थरूपी वस्त्रकी गठरी खोलकर सारे लोगोंके आगे रख दी है। (२११—२९२)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

हे पार्थ! मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो। जब शक्तिके तेजका लोप हो जाता है, तब देहका रूप भी मिट जाता है और उस समय वह योगी सांसारिक लोगोंकी दृष्टिमें अपने वास्तविक स्वरूपमें दृष्टिगोचर नहीं होता। सामान्यत: उसका बाह्यस्वरूप तो पहलेकी ही भाँति अवयवसम्पन्न शरीरधारी ही दीखता है, पर यथार्थत: उसका वह शरीर मानो वायुनिर्मित ही होता है अथवा जैसे अपना छिलका उतारकर कदलीका गाभा खड़ा रहता है या स्वयं आकाशमें ही उसका कोई अवयव प्रकट होता है, वैसे ही वह योगी भी उस समय हो जाता है। जब योगीका शरीर ऐसा हो जाता है, तब उसे खेचर (गगनविहारी) कहते हैं। जब योगीको इस प्रकारकी योग्यता मिल जाती है, तब उसका शरीर संसारमें एक बहुत बड़ा चमत्कार कर दिखलाता है।

हे पार्थ! योगी जिस समय चलता है, उस समय अणिमादिक सिद्धियाँ उस योगीके चरणोंमें सिर झुकाये खड़ी रहती हैं। पर हे धनंजय! इन सिद्धियोंसे हमें क्या लेना-देना है? तुम अच्छी तरहसे जान लो कि योगियोंके शरीरमें ही पृथ्वी, जल और तेज—इन तीनों महाभूतोंका लोप हुआ रहता है। पृथ्वी-तत्त्व जलमें मिल जाता है, जल-तत्त्व तेजमें चला जाता है और तेज-तत्त्व हृदयके पवनमें समा जाता है, फिर अन्तमें केवल पवन ही शेष रह जाता है और वह भी केवल शरीरके रूपमें ही रहता है। फिर कुछ कालके बाद वह भी आकाशमें जा मिलता है। उस समय उसे कुण्डलिनी नामके बदले वायु (मारुति) नामक नया नाम मिल जाता है, परन्तु जबतक वह कुण्डलिनी ब्रह्मस्वरूपमें नहीं जा मिलती, तबतक उसकी शक्ति बनी ही रहती है। फिर वह जालन्धर नामक बन्धका परित्याग कर और काकमुखी सुषुम्ना नाड़ीका मुँह फोड़कर ब्रह्मरन्ध्रमें जा पहुँचती है। फिर वह ओंकारकी पीठपर पैर रखकर शीघ्रातिशीघ्र पश्यन्ती-वाचाकी

सीढ़ी पार कर जाती है। फिर वह ओंकारकी अर्धमात्रातक ठीक वैसे ही ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करती है, जैसे समुद्रमें नदी जाकर समा जाती है। फिर वह ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर रहकर 'सोऽहम्' भावकी बाहें फैलाकर बड़े वेगसे दौड़ती हुई परब्रह्मसे जा मिलती है। उस समय पंचमहाभूतोंका परदा जाकर दूर खड़ा हो जाता है और तब वह शक्ति परब्रह्मका आलिंगन करने लगती है तथा आकाशके साथ उस परब्रह्ममें एक जीव होकर लीन हो जाती है। हे पाण्डुकुमार! जैसे समुद्रका जल मेघोंके मुखसे निकलकर नदियों और तालाबोंमें पहुँचता है और फिर उसी समुद्रमें समाकर अपना मूलस्वरूप प्राप्त कर लेता है, वैसे ही जीवात्मा भी शरीरके सहयोगसे परमात्मामें मिलकर उसके साथ एकत्वको प्राप्त कर लेता है। उस समय इस बातको सोचनेका कोई अवसर ही नहीं मिलता कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों पृथक्-पृथक् थे और अब परस्पर मिलकर एकत्वको प्राप्त हो गये हैं या दोनों मिलकर एक ही वस्तु हैं। इस प्रकार गगनमें विलीन होनेकी जो स्थिति है उसका व्यक्तिको जब अनुभव होता है, तभी उसको उसका सम्यक् ज्ञान होता है। इसीलिये उस अनुभवकी वार्ता वाणीके हाथ नहीं आती जिससे संवादरूपी गाँवमें प्रवेश किया जा सके।

हे अर्जुन! जिस वैखरी वाणीको सामान्यतः अभिप्राय प्रकट करनेकी सामर्थ्यका अभिमान रहता है, वह भी इस सम्बन्ध में लड़खड़ाकर दूर ही चली जाती है। भौंहोंके पिछले हिस्सेमें केवल मकारकी ही एकमात्र आड़ रहती है; पर उसे हटाकर गगनकी तरफ प्रस्थान करनेमें प्राणवायुको भी श्रम करना पड़ता है। तत्पश्चात् जिस समय वह प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रके आकाशमें मिलकर एकत्वको प्राप्त हो जाती है, उस समय शब्दोंके लिये वर्णन करनेलायक कोई बात ही बची नहीं रह जाती और कानोंसे सुननेलायक कोई बात ही बचती नहीं। इसीलिये शब्द-सामर्थ्यका समापन हो जाता है। इसके बाद तो सिर्फ यही है कि स्वयं उस गगनका ही लय हो जाय। जब महाशून्यके अथाह दहमें उस गगनका भी कहीं नामोनिशान ही नहीं रह

जाता, तब भला वहाँ शब्दकी सामर्थ्य ही क्या है? अतः यह बात तीनों कालोंमें सत्य है कि यह विषय इतना स्पष्ट और सरल नहीं है जो वाणीकी पकड़में आ सके अथवा श्रवणेन्द्रियके अधीन हो सके। यहाँ तो सिर्फ यही कहा जा सकता है कि यदि ऐसा सौभाग्य मिल जाय तो इसका साक्षात् अनुभव करना चाहिये और तब आत्मस्वरूप हो जाना चाहिये। इसके उपरान्त जाननेलायक और कोई बात ही नहीं रह जाती, अतः हे धनुर्धर! इसी बातको बार-बार दुहरानेसे क्या लाभ? इस प्रकार जहाँ शब्दकी भी दाल नहीं गलती, जिसमें संकल्प-विकल्पकी आयु ही समाप्त हो जाती है और जिसमें विचारकी हवा घुस ही नहीं सकती, जो उन्मनी अवस्थाका लावण्य है और तुरीयावस्थाका तारुण्य है, जो अनादि और अनुपमेय परम तत्त्व है, जो विश्वका मूल है, जो योग-साधनाका फल है, जो आनन्दका एकमात्र जीवन है, जो आकारकी मर्यादा, मोक्षकी एकरूप अवस्था है और जिसमें आदि और अन्त लीन हो गये हैं, जो पंचमहाभूतोंका मूल बीज है, महातेजका भी तेज है, और हे पार्थ! कहनेका मतलब यह है कि जिसे मेरा आत्मस्वरूप ही जानना चाहिये और नास्तिकोंके द्वारा भक्तवृन्दके छले जानेके कारण जिसे सगुण होकर यह चतुर्भुजरूप धारण करना पड़ा है, वह महासुखात्मक परमात्मतत्त्व सर्वथा वर्णनातीत है। किन्तु जिन मनुष्योंने आत्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है, अन्तिम साध्यकी सिद्धि प्राप्त होनेतक जिन्होंने दृढ़तापूर्वक प्रयास किया है। मेरे बताये हुए अष्टांग विधिसे जिन्होंने अपना शरीर सार्थक किया है, वे लोग निर्मल होकर मेरे ही समान हो जाते हैं। वे शरीरसे ऐसे दिखायी देते हैं, मानो परब्रह्मरूपी रससे शरीररूपी साँचेमें ढले हुए स्वयं परब्रह्मकी ही प्रतिमूर्ति हैं। यदि अन्तःकरणमें इसका पूर्ण अनुभव हो जाय तो फिर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह विश्व नहीं है, अपितु साक्षात् परब्रह्म ही है।''

इसपर अर्जुनने कहा—''हे देव! आपके सारे कथन बिलकुल ठीक हैं। क्योंकि हे प्रभो! आपने अभी साधनाका जो प्रकार बतलाया है, उससे

स्पष्टरूपसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। जो दृढ़तापूर्वक इस योगका अभ्यास करते हैं वे निश्चय ही ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं। आपने अभी जो कुछ बतलाया है, सो मैं अच्छी तरहसे समझ गया हूँ। हे देव! आपने अभी जो कुछ कहा, वह सुनकर ही मेरा चित्त ज्ञानसे भर गया है। फिर जिसे इसका साक्षात् अनुभव प्राप्त हो गया हो और उसकी यदि तल्लीनता बढ़ गयी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसीलिये अब इस सम्बन्धमें ऐसी कोई बात ही नहीं बची है कि जिसके विषयमें मैं आपसे और कुछ पूछूँ। परन्तु फिर भी मैं एक बात पूछता हूँ। आप पलभरके लिये मेरी तरफ ध्यान दें। हे कृष्ण! आपने अभी जिस योगकी चर्चा की है, वह तो ठीक तरहसे मेरे चित्तमें समा गया है। परन्तु योग्यताहीन होनेके कारण मैं पंगुवत् हूँ और इसीलिये मुझसे इस योगका अभ्यास नहीं हो सकता। मेरे शरीरमें जितना स्वाभाविक बल है, यदि उतने ही बलसे यह योग सिद्ध हो सकता हो तो मैं बड़े ही आनन्दसे इस मार्गका अभ्यास करूँगा। लेकिन हे देव! आप जो कुछ कहते हैं, तदनुरूप कार्य करनेकी मुझमें सामर्थ्य हो न हो तो मुझे आपसे ऐसी ही बातें पूछनी चाहिये जो मेरी योग्यताके अनुकूल हों। मेरे मनमें इसी प्रकारकी इच्छा उत्पन्न हुई है, इसलिये मैं आपसे एक बात पूछता हूँ।" इसके बाद अर्जुनने कहा, "हे देव! अब आप मेरी तरफ ध्यान दें। आपने जिन-जिन साधनोंका वर्णन किया है, उन सबको मैंने सुन लिया है। पर अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या वे साधन ऐसे हैं, जिनका सामान्यतः जो चाहे वही अभ्यास कर सकता है अथवा वे ऐसे साधन हैं जो बिना योग्यताके मिल ही नहीं सकते?"

यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"यह तो निर्वाणका अत्यन्त ही विकट कार्य है। पर हे धनुर्धर! साधारण से साधारण कार्य भी तबतक सिद्ध नहीं हो सकता, जबतक उसके करनेवालेमें उसे करनेकी योग्यता न हो। परन्तु जिसे योग्यता कहते हैं, उसका निश्चय तो कार्यकी सिद्धिपर ही

निर्भर होता है। कारण कि स्वयंमें योग्यता होनेपर जो कार्य प्रारम्भ किया जाता है, वही सिद्ध होता है। पर ऐसी योग्यताके कारण इस काममें लेशमात्र भी कोई रुकावट नहीं होती। फिर मैं तुम्हींसे एक बात पूछता हूँ। योग्यताकी क्या कहीं कोई खान होती है जिसके प्राप्त होते ही व्यक्ति जितनी योग्यता चाहे, उतनी अपने अन्दर भर ले? यदि कोई व्यक्ति थोड़ा-सा भी विरक्त होकर शरीरके विहित कर्म विधि-विधानसे करने लगे तो क्या वही व्यक्ति अधिकारी नहीं सिद्ध होता? इसी प्रकार तुम भी अपने अन्दर इतनी योग्यता भर सकते हो कि वासनारहित होकर सब विहित कर्म कर सको।' इस प्रकार ये सब बातें बताकर भगवान्‌ने अर्जुनका संदेह दूर किया। फिर श्रीकृष्णने कहा—हे पार्थ! इस सम्बन्धमें यह एक नियम है कि जो व्यक्ति अपने विहित कर्म विरक्त होकर नहीं करता, उस व्यक्तिमें यह योग्यता कभी आ ही नहीं सकती। (२९३—३४४)

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

जो रसनेन्द्रियके अधीन हो गया हो अथवा जो जीव निद्राके हाथों बिक गया हो, वह किसी समय इस साधनाका अधिकारी नहीं कहा जा सकता अथवा जो हठके बन्धनमें क्षुधा और तृषाको बाँध करके, आहारको मारकर अपना शरीर तोड़ डालता है अथवा इसी प्रकारके हठके कारण निद्राके रास्ते भी नहीं जाता और जो इस प्रकार हठके साथ सब काम करता है, उसका स्वयं शरीर ही उसके वशीभूत नहीं होता। फिर भला ऐसे व्यक्तिसे योगकी साधना कैसे हो सकती है? इसीलिये जिस प्रकार विषयोंका अतिशय सेवन नहीं करना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ वैर भाव भी नहीं करना चाहिये और उन्हें बलपूर्वक पूरी तरहसे दबाकर भी नहीं रखना चाहिये। (३४५—३४८)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

आहारका सेवन करना चाहिये, पर वह उचित और परिमित हो। सारे कर्मोंका आचरण भी उसी रीतिसे होना चाहिये। परिमित शब्द बोलने चाहिये; अच्छी तरहसे चलना चाहिये और यथासमय निद्रा भी लेनी चाहिये। जागनेकी क्रिया भी नियमित होनी चाहिये। ऐसा करनेसे शरीरके कफ आदि धातु उचित मात्रामें रहते हैं और सुख होता है। इस प्रकार यदि नियमबद्ध तरीकेसे इन्द्रियोंको उनके विषयोंका भोग्य पदार्थ दिया जाय तो मनमें सन्तोषकी वृद्धि होती है। (३४९—३५२)

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

जैसे-जैसे शरीरकी बाह्य क्रियाएँ नियमके अधीन होती जाती हैं, वैसे-वैसे भीतर सुखकी वृद्धि होती चलती है और इस प्रकार योगका अभ्यास न करनेकी दशामें भी स्वतः योगसाधन होता चलता है। जैसे भाग्यका उदय होते ही उद्योगके निमित्तसे सारा ऐश्वर्य स्वतः घरमें चला आता है, वैसे ही जो व्यक्ति परिमित और संयमितरूपसे समस्त क्रियाओंका सम्पादन करता है, वह कुतूहलमें ही योगाभ्यासके मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है और उसे आत्मसिद्धिके अनुभवकी प्राप्ति होती है। इसीलिये हे पाण्डव! जिस भाग्यवान् मनुष्यसे यह संयमवाला कर्मयोग सध जाय, वह मोक्षके राज्यपदपर आसीन हो जाता है। (३५३—३५६)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

जब क्रियाओंके संयमका योगके साथ मिलाप होता है, तब यह शरीर पावन प्रयाग ही बन जाता है। इस प्रकारके शरीरमें जिसका मन क्षेत्र-संन्यासकी रीतिसे स्थिर रहता है, हे पार्थ! उसीको तुम योगयुक्त समझो। प्रसंगानुसार तुम यह भी जान लो कि ऐसे योगयुक्तकी उपमा निवात स्थानमें रखे हुए दीपककी ज्योतिके साथ दी जाती है। अब मैं तुम्हारे मनोभावको जानकर तुम्हें कुछ और बातें बतलाता हूँ; उन्हें मन लगाकर

सुनो। तुम अपने चित्तमें कुछ पानेकी अभिलाषा तो रखते हो, पर अभ्यासका बीणा उठाते ही नहीं। इसमें ऐसी कौन-सी कठिनाई है जिससे तुम भय खाते हो? हे पार्थ! तुम अपने मनमें व्यर्थ भय मत पालो। ये दुष्ट इन्द्रियाँ नाहक ही तिलका ताड़ बनाकर दिखलाती हैं अर्थात् भय दिखाती हैं। देखो, यदि कोई अत्यन्त गुणकारी औषधि हो जो आयुको स्थिर कर सके और शरीरसे निकलते हुए प्राणोंको भी वापस ला सके, तो भी जिह्वा उस औषधिको वैरी ही मानती है अथवा नहीं? इसी प्रकार जो कर्म हमारे लिये हितकर होते हैं, वे सब इन इन्द्रियोंको दुःखदायी ही लगते हैं और नहीं तो योगसाधनाके सदृश सहज काम वास्तवमें और कोई है ही नहीं। (३५७—३६३)

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

इसीलिये मैंने दृढ़ आसन लगाकर करनेके लिये जो उत्तम योगाभ्यास बतलाया है, उससे इन इन्द्रियोंका अच्छा नियन्त्रण होगा। क्योंकि यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जब योगसाधनासे इन्द्रियोंका निग्रह होता है, उसी समय चित्त आत्मस्वरूपमें प्रवेश करने लगता है। फिर जिस समय चित्त वहाँसे पलटता है तथा आत्मस्वरूपकी तरफ उसकी पीठ होती है और वह सिर्फ अपने आत्मस्वरूपकी ओर देखता है, उस समय उसे देखते ही वह पहचान जाता है कि यह तत्त्व मैं ही हूँ। पहचानते ही वह सुखके साम्राज्यका भोग करने लगता है और फिर स्वतः उस परमात्मतत्त्वके साथ मिलकर एकाकार हो जाता है। जिसके परे और कुछ है ही नहीं, जिसे इन्द्रियाँ कभी जानती तक नहीं, उसीके साथ वह तन्मय होकर निजस्थानपर आत्मसुखमें रहता है। (३६४—३६८)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

उस समय चाहे मेरु पर्वतसे भी भारी दुःखका पहाड़ उसपर क्यों न टूट पड़े, परन्तु फिर भी उसका चित्त कभी अस्थिर नहीं होता अथवा चाहे उसका शरीर शस्त्रोंसे छलनी कर दिया जाय या आगमें फेंक दिया जाय, पर फिर भी आत्मतत्त्वके महासुखमें सोया हुआ उसका चित्त जागता ही नहीं। जिस समय चित्त इस प्रकार आत्मतत्त्वमें विलीन हो जाता है, उस समय वह इस शरीरकी ओर कभी भूलकर भी नहीं देखता। उसे दिव्य आत्मसुख मिल जाता है और यही कारण है कि वह इस शरीरसे सम्बन्धित सुख-दुःखकी सारी बातें ही भूल जाता है। (३६९—३७१)

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥

जिस सुखकी मधुरताका आस्वादन कर लेनेपर सांसारिक बन्धनोंमें जकड़ा हुआ मन वासनाओंको कभी याद ही नहीं करता, जो सुखयोगकी शोभा और संतोषकी राजसम्पत्ति है तथा जिस सुखके लिये ही ज्ञानका ज्ञातृत्व काम आता है, वह सुख योगाभ्यासके द्वारा मूर्तिमान् होकर दृष्टिगोचर होने लगता है। अब इस प्रकार उसके दर्शन हो जायँ, तभी हम भी उसके साथ मिलकर तद्रूप हो सकेंगे। (३७२—३७४)

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

हे पार्थ! जो यह योग तुम्हें अत्यन्त दुष्कर मालूम पड़ता है, यह वास्तवमें बहुत ही सुगम है। इसके लिये आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि संकल्पकी सन्तान काम-क्रोधादिका नाश कर डालना चाहिये। जिसमें उस संकल्पको पुत्र-शोक मिला हो। जिस समय संकल्पको यह ज्ञात होगा कि सारे विषय नष्ट हो गये हैं और उसे यह भी मालूम पड़ जायगा कि इन्द्रियोंका बिलकुल निग्रह हो गया है, उस समय वह अपना हृदय फाड़कर स्वयं ही अपने जीवनका नाश कर देगा। यदि मनको इस प्रकारका वैराग्य मिल जाय तो फिर इस संकल्पका आवागमन ही बन्द हो जायगा और बुद्धि धैर्यके मन्दिरमें सुखपूर्वक निवास करने लगेगी। (३७५—३७७)

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यदि बुद्धिको धैर्यका आश्रय मिल जाय तो वह मनको अनुभवके मार्गसे धीरे धीरे ले जाकर ब्रह्मस्वरूपमें स्थापित कर देगी। इसलिये तुम यह बात ध्यानमें रखो कि आत्म-प्राप्तिका यह भी एक मार्ग है। परन्तु यदि यह मार्ग तुम्हारे लिये कठिन हो तो इससे भी एक और सुगम मार्ग है, वह भी जान लो। हम अपने मनमें एक ऐसा दृढ़ निश्चय कर लें कि हम जो निश्चय कर लेंगे, उससे जरा-सा भी टस-से-मस न होंगे। यदि इतनेसे ही चित्त स्थिर हो जाय तो फिर जान लेना चाहिये कि सहज ही कार्य हो गया। पर यदि यह ज्ञात हो जाय कि इस प्रकार मन स्थिर नहीं रहता तो फिर उसे एकदम उन्मुक्त कर देना चाहिये। फिर इस प्रकारसे उन्मुक्त मन जहाँपर जाय, वहाँसे उसे प्रतिबन्धित करके वापस ले आना चाहिये। बस, इसी तरहसे चित्तको धीरे-धीरे स्थिरताका अभ्यास हो जायगा। (३७८—३८२)

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

इसके बाद किसी-न-किसी समय एक बार उसी स्थिरताके सहयोगसे चित्त सहज ही आत्मस्वरूपके निकट जा पहुँचेगा और फिर उसे देखकर उससे मिल जायगा। उस समय अद्वैतमें द्वैत डूब जायगा और उस एकताके प्रभावसे त्रिलोकी प्रकाशित हो जायगी। आकाशमें आकाशसे भी भिन्न जान पड़नेवाला मेघ दृष्टिगोचर होता है,परन्तु उस मेघके हट जानेपर जैसे सिर्फ सर्वव्यापी आकाश ही शेष रहता है, वैसे ही चित्तका भी लय हो जाता है और सब कुछ चैतन्यके ही रूपमें दृष्टिगोचर होने लगता है। इस सहज मार्गसे इस प्रकारकी फल-प्राप्ति होती है। (३८३—३८६)

जगत्को अपने ही सदृश देखता और समझता है, जिसके मनमें सुख-दुःखादिकी भावनाएँ अथवा शुभाशुभ कर्मोंके विषयमें कोई भेदभाव नहीं होता, जो सम-विषम तथा विचित्र हर तरहकी चीजोंको स्वयं अपने ही अवयवोंकी भाँति मानता है, यहाँतक कि जिसकी बुद्धिसे त्रिभुवन ही आत्मस्वरूप दिखलायी पड़ते हैं, उस व्यक्तिका भी शरीर होता ही है तथा लोकाचारमें प्रसंगानुसार उसे सुखी-दुःखी कहा जाता है। परन्तु मेरा अनुभव यह है कि ऐसा व्यक्ति वास्तवमें ब्रह्म स्वरूप ही होता है। इसीलिये हे पाण्डव! हमें स्वयंमें इस प्रकारके साम्यकी स्थापना करनी चाहिये कि स्वयंमें ही सारा विश्व दृष्टिगोचर हो और हम स्वयं ही विश्वरूप हो जायँ। यह बात जो मैं तुमसे बार-बार कह रहा हूँ, उसका मतलब यह है कि इस संसारमें इस साम्यसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं है।" (४०४—४१०)

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

तब अर्जुनने कहा—"हे देव! आपको मेरे हितका ही ध्यान लगा रहता है, इसीलिये आप मुझसे इतनी बातें कह रहे हैं। परन्तु इस मनके आगे हमारी एक नहीं चलती। यदि हम इस बातका विचार करना चाहें कि यह मन कैसा है और कितना बड़ा है तो इसकी थाह ही नहीं लगती। साधारणतया इसके विचरण करनेके लिये यह तीनों लोक भी छोटा है। फिर ऐसे मनको किस प्रकारसे रोका जाय? क्या बन्दरको कभी समाधि मिल सकती है? यदि महावायुको स्थिर रहनेके लिये कहा जाय तो क्या वह कभी शान्त और स्थिर हो सकती है? जो मन बुद्धिको भी धोखा देता है, निश्चयको भी अस्थिर कर देता है, धैर्यसे हाथ मिलाकर भी भाग

खड़ा होता है, विवेकको भी भ्रमित कर देता है, संतोषमें भी वासनाका कलंक लगा देता है, जो उस समय भी दसों दिशाओंको कँपा देता है, जिस समय हम स्वस्थ होकर बैठना चाहते हैं, जो निरोध करनेपर बड़े जोरसे भड़कता है, संयमकी चेष्टा करनेपर भी जिसका आवेश और भी तीव्र हो जाता है, भला वह मन अपना चपल स्वभाव कैसे त्यागेगा? इसीलिये मुझे तो प्रायः ऐसा ही भान होता है कि मेरा मन कभी न निश्चल होगा और न मैं कभी साम्यावस्थातक ही पहुँच सकूँगा।" (४११—४१७)

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ! तुम्हारी सारी बातें सत्य हैं। इस मनका स्वभाव सचमुच चपल ही है। परन्तु फिर भी यदि वैराग्यका सहारा लेकर इसे योगाभ्यासके मार्गपर नियुक्त किया जाय तो कुछ ही कालमें यह भी स्थिर हो जायगा। क्योंकि इस मनकी एक अच्छी आदत यह है कि इसे जिस चीजका रस मिल जाता है, फिर उसीका इसे चस्का लग जाता है। इसीलिये इसे कुतूहलसे आत्मसुखका चस्का लगाना चाहिये। (४१८—४२०)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

यह बात मैं मानता हूँ कि सामान्यतः जो विरक्त नहीं होते और जो कभी अभ्यासकी चेष्टा नहीं करते, वे इस मनको अपने अधीन नहीं कर सकते। पर यदि हम कभी यम-नियमके रास्तेपर चले ही न हों, कभी हमने वैराग्यका स्मरण भी न किया हो और हम केवल विषयरूपी जलमें निरन्तर डुबकी ही लगाते रहें तथा इस मनका कभी निग्रह न करें तो फिर भला यह मन क्यों और कैसे स्थिर होने लगा? इसीलिये तुम सर्वप्रथम ऐसे उपायोंका श्रीगणेश करो, जिनके द्वारा मनोनिग्रह हो सकता हो और फिर देखो कि यह मन कैसे तुम्हारे अधीन नहीं होता। यदि तुम यह बतलानेकी चेष्टा करो कि मन कभी वशीभूत

हो ही नहीं सकता, तो क्या योगके जितने साधन बतलाये गये हैं, वे सब झूठे ही हैं? परन्तु वे सारे साधन तो झूठे हैं नहीं; इसलिये तुम ज्यादा-से-ज्यादा यही कह सकते हो कि मुझसे अभ्यास नहीं होता। यदि व्यक्तिमें योगकी शक्ति आ जाय तो फिर उसके समक्ष मनकी चपलता क्या है? क्या उस शक्तिसे समस्त महत्तत्त्व इत्यादि मनुष्यके वशीभूत नहीं हो जाते''? इसपर अर्जुनने कहा—''ठीक है, हे देव! आपके सारे कथन ठीक हैं। सचमुच योग शक्तिके समक्ष मनकी सामर्थ्य एकदम नहीं टिक सकती। परन्तु इतने दिनोंतक मुझे यह मालूम नहीं था कि इस योगका किस प्रकार साधन करना चाहिये; इसीलिये मैं अबतक मनके वशीभूत हूँ। हे पुरुषोत्तम! इस पूरे जीवनमें केवल आपकी कृपासे मुझे इस योगका परिचय हुआ है। (४२१—४२९)

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

परन्तु हे स्वामी! मेरे चित्तमें एक संशय उत्पन्न हुआ है। उसका समाधान करनेकी सामर्थ्य आपके अलावा और किसीमें नहीं है। इसीलिये, हे श्रीगोविन्द! आप मेरे उस संशयका निवारण करें। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति योगसाधनाका उपाय तो नहीं जानता, पर फिर भी वह अत्यधिक श्रद्धासे मोक्षपद पानेकी चेष्टा करता है। वह इन्द्रियरूपी ग्रामसे निकलकर आत्मसिद्धिरूपी दूसरे नगरतक पहुँचनेके लिये आस्थावाले मार्गका अनुसरण करता है। किन्तु उसे आत्मसिद्धि भी नहीं मिलती और वह पलटकर भी नहीं आ सकता। इस प्रकार वह बीचमें ही पड़ा रह जाता है और इसी बीचमें उसका आयुरूपी सूर्य अस्त हो जाता है। जैसे असमयमें बादलका छोटा-सा

मामूली टुकड़ा बीचमें आ तो जाता है, पर न तो वह टिकता ही है और न ही बरसता है, वैसे ही वह व्यक्ति भी दोनों ही चीजोंसे पृथक् हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसके लिये आत्मसिद्धि मिलनी तो दूर ही रहती है और अपने श्रद्धा-सामर्थ्यसे वह जिन ऐन्द्रिक सुखोंका त्याग करता है, उनसे भी वह हाथ धो बैठता है। इस प्रकार वह श्रद्धाके चक्करमें पड़कर दोनों ओरसे जाता है। ऐसे व्यक्तिकी क्या गति होती है।" (४३०—४३६)

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ! जिसकी आस्था मोक्ष-सुखके विषयमें होती है, भला उसकी मोक्षके अलावा और कौन-सी गति हो सकती है? किन्तु ऐसी दशामें एक बात होती है। वह यह है कि उसे बीचमें ही रुककर विकल होना पड़ता है। परन्तु उस विकलतामें भी ऐसा सुख है जो देवोंको भी शीघ्र प्राप्त नहीं होता। किन्तु वही व्यक्ति यदि अभ्यासके मार्गमें वैसे ही चलता चला जाता, जैसे उसने शुरूमें उस मार्गपर चलनेके लिये कदम बढ़ाया था, तो निःसन्देह ही आयुष्यसूर्यके डूबनेसे पहले ही **'सोऽहम्'** सिद्धिके स्थानतक अवश्य ही जा पहुँचता। परन्तु उसमें इतना ज्यादा वेग नहीं होता, इसलिये उसका बीचमें ही कुछ रुकना स्वाभाविक है। लेकिन इतना होनेपर भी अन्तमें उसे मोक्ष तो मिलना ही मिलना है। (४३७—४४०)

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

ऐसे व्यक्तिके विषयमें एक और भी विलक्षण बात सुनो। जिन लोकोंको पानेके लिये इन्द्रको भी बहुत-से कष्ट झेलने पड़ते हैं, वे समस्त लोक मोक्ष चाहनेवालेको बिना परिश्रमके ही आसानीसे प्राप्त हो जाते हैं। फिर उन लोकोंमें जो नित्य रहनेवाले और अलौकिक भोग होते हैं, उन भोगोंको भोगते-भोगते वे लोग ऊब जाते हैं। उन भोगोंको भोगते समय उनके

मनमें पश्चात्ताप होता होगा और वे कहते होंगे कि हे भगवन्त! यह कहाँका बखेड़ा तुमने हमारे पीछे खड़ा कर दिया। तदनन्तर वे फिर संसारमें जन्म लेते हैं। किन्तु उनका जन्म बहुत ही धर्मशील कुलमें होता है। जैसे ठीक ढंगसे तैयार की गयी धान्यकी फसलमें लम्बी-लम्बी बालें निकलती हैं, वैसे ही वे भी ऐश्वर्यरूपी धान्यकी बालोंके सदृश बहुत तेजीसे बढ़ते हैं। वह अनवरत नीतिमार्गका अनुसरण करते हैं, सत्य बोलते हैं, शास्त्रकी दृष्टिसे ही हर एक चीजको देखते हैं, वेदको ही अपना जीवन्त देवता मानते हैं, स्वधर्मका ही व्यवहार करते हैं तथा सारासार विचारको ही अपना सलाहकार बनाते हैं। उनके कुलमें ईश्वर-चिन्तनके सिवा कोई और चिन्तन होता ही नहीं, ऐसे कुलमें चिंता ईश्वरकी पतिव्रता स्त्री बनी है और वे अपने कुलदेवको ही सारी सम्पत्ति समझते हैं। इस प्रकार वे योगभ्रष्ट पुरुष आत्मपुण्यका उचित फल प्राप्त करके और अनेक प्रकारके सुखोंकी बढ़ती हुई सम्पत्ति भोगते हुए उस जन्ममें सुखी होते हैं। (४४१—४४८)

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

अथवा जो योगी ज्ञानाग्निहोत्री हैं, जो परब्रह्मके उपदेशक हैं, जो सुखरूपी क्षेत्रके जमीनदार हैं, जो महासिद्धान्तका रहस्य जानकर तीनों लोकोंमें राज्य करते हैं, जो संतोषरूपी वनमें कूकनेवाली कोयलकी ही भाँति प्रतीत होते हैं और जो सदा फल देनेवाले विवेकरूपी वृक्षके मूलमें ही बैठे रहते हैं, उन योगियोंके कुलमें वे योगभ्रष्ट लोग जन्म लेते हैं। जिस समय उनकी छोटी-सी देहाकृति प्रकट होती है, उसी प्रकार आत्मज्ञानका उषःकाल भी होता है। जैसे सूर्योदय होनेसे पूर्व उसका प्रकाश प्रकट होता है, वैसा ही प्रौढ़ावस्था आनेके पूर्व ही और परिपक्वावस्थाकी उपेक्षा किये बिना ही बाल्यावस्थामें ही उसे सर्वज्ञता वरण कर लेती है। उस परिपक्व बुद्धिके

मिलते ही उनके मनको सारी विद्याएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं और तब उनके मुखसे सब शास्त्र आप-ही-आप प्रकट होते हैं। जिस प्रकारका जन्म पानेके लिये स्वर्गमें विराजमान देवता भी ध्यान लगाकर जप-होम आदि करते हैं तथा मृत्युलोकके महान् ऐश्वर्यकी भाटोंके समान स्तुतियाँ करते हैं, हे पार्थ! वही जन्म उस योगभ्रष्ट व्यक्तिको प्राप्त होता है। (४४९—४५६)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

पूर्व जन्ममें उनकी सुबुद्धिके जिस हदतक पहुँचनेपर उनके आयुकी समाप्ति हुई थी, उसी हदसे आगे उन्हें नूतन एवं अपार सुबुद्धि प्राप्त होती है। इतना होनेपर जैसे किसी भाग्यशाली तथा पैरोंके ओरसे जन्म लेनेवाले व्यक्तिके नेत्रोंमें दिव्यांजन लगाया जाय और तब उसे जैसे भूमिमें गड़ी हुई धन-सम्पत्ति बड़ी ही सरलतासे दृष्टिगोचर होने लगे, ठीक वैसे ही ऐसे व्यक्तिकी बुद्धि भी उन सब गूढ़ रहस्यों और सिद्धान्त-तत्त्वोंको स्वतः और ठीक तरहसे जानने लगती है, जिनका ज्ञान साधारणतः गुरुके उपदेशसे हुआ करता है। उसकी प्रकृष्ट बलवाली इन्द्रियाँ उनके मनके वशीभूत हो जाती हैं, मन वायुके साथ मिलकर एक जीव हो जाता है और वह वायु स्वतः चिदाकाशके साथ मिलकर समरस होने लगती है। अभ्यास स्वयं ही उसे इस दशातक ला पहुँचाता है और इस बातका जल्दी पता ही नहीं चलने पाता कि आत्मसमाधि उसके मनरूपी घरका समाचार पूछनेके लिये स्वेच्छापूर्वक चली आ रही है अथवा और कोई बात है। ऐसे व्यक्तिको योगस्थानका अधिदेवता अथवा जगत्-उत्पत्तिकी महत्ता तथा वैराग्य-सिद्धिकी अनुभूतिकी साक्षात् अवतरित मूर्ति ही जानना चाहिये; अथवा ऐसा पुरुष संसारको मापनेका माप है अथवा अष्टांगयोगके साहित्यका द्वीप है। जैसे सुगन्धि चन्दनका रूप ग्रहण करती है, वैसे ही ऐसा प्रतीत होता है कि संतोष इस व्यक्तिके रूपमें प्रादुर्भूत हुआ है अथवा साधकावस्थामें ही सिद्धियोंके भण्डारसे निकला है। (४५७—४६४)

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

जैसे करोड़ों वर्षों और सहस्रों जन्मोंके प्रतिबन्धोंको लाँघता हुआ वह आत्मसिद्धिके निकटतक पहुँचता है, वैसे ही मोक्ष-सिद्धिके सारे साधन स्वतः ही उसका अनुसरण करते हैं और इसीलिये वह स्वभावतः विवेकरूपी साम्राज्यका स्वामी हो जाता है। तत्पश्चात् उस विवेकका भी विचार करनेका वेग कुण्ठित हो जाता है और तब वह उस परब्रह्मके साथ मिलकर एकाकार हो जाता है जो विचारके क्षेत्रमें किसी प्रकार आ ही नहीं सकता। उस समय मनपर छाया हुआ मेघ दूर हो जाता है, पवनकी पवनता भी बन्द हो जाती है और चिदाकाश भी अपने-आपमें ही विलीन हो जाता है। उसे वह अगाध और वर्णनातीत सुख प्राप्त होता है जिनमें ओंकार भी आपादमस्तक डूब जाता है; इसीलिये उसका वर्णन करनेमें भाषा भी पहलेसे ही चुप्पी साध लेती है। ऐसी जो ब्राह्मी स्थिति है और जिसे सम्पूर्ण गतियोंकी गति अर्थात् परम गति कहते हैं, उस अमूर्त अवस्थाकी वह मूर्ति ही बन जाता है। वह अपने पूर्व जन्मोंका विपरीत ज्ञानरूपी जलका मल स्वच्छ कर चुका होता है, इसलिये उस अवस्थाके निकट पहुँचते ही उसके सारे विकट प्रसंग उसी जलमें डूब जाते हैं। ब्रह्म-स्थितिके साथ उसका वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वह उसी स्थितिमें उससे मिलकर एकाकार हो जाता है। जिस प्रकार इधर-उधर फैला हुआ मेघ आकाशके रूपमें बदल जाता है, उसी प्रकार वह अपने वर्तमान शरीरके रहनेपर भी वही ब्रह्म बन जाता है, जिसमेंसे सारा विश्व उत्पन्न होता है और फिर जिसमें विलीन हो जाता है। (४६५—४७३)

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

जिस लाभकी प्रत्याशासे धैर्यकी बाँह पकड़कर कर्मनिष्ठलोग षट्कर्मके प्रवाहमें कूद पड़ते हैं अथवा जिस एक चीजके लिये ज्ञानिजन अभेद्य कवच धारण करके युद्धभूमिमें संसारसे लड़ जाते हैं अथवा तपस्वीलोग अपने

चित्तमें जिसकी इच्छा रखकर तपरूपी किलेके जीर्ण-शीर्ण, फिसलनवाले कगारपर चढ़नेकी चेष्टा करते हैं, जो भक्तोंको लिये भक्ति और यज्ञ करनेवालोंके लिये यज्ञ देवता है, अभिप्राय यह कि जो सर्वदा सबको पूज्य है, वही परब्रह्म वह स्वयं हो जाता है और जिस विचारसे यह सिद्ध तत्त्व ही सब साधकोंका साध्य होता है, उसी विचारसे वह कर्मनिष्ठोंके लिये वन्दनीय होता है, ज्ञानवानोंके लिये ज्ञानका विषय होता है और तपस्वियोंके लिये तपस्याका अधिदेवता होता है। जिसके मनोधर्मके साथ जीव और परमात्माका संगम होता है, वह शरीरधारी होनेपर भी यह महिमा प्राप्त कर ही लेता है। इसीलिये, हे पाण्डुकुँवर! मैं तो तुम्हें सदाके लिये यही उपदेश देता हूँ कि तुम अन्तःकरणसे योगी बनो। (४७४—४८१)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

जिसे लोग योगी कहते हैं, उसे देवोंका भी देव जानना चाहिये। वह न केवल मेरा सुख सर्वस्व अपितु जीवन ही होता है अर्थात् वो मेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है। भक्ति, भजन और भजनीय जो भक्ति-साधनकी त्रिपुटी हैं, उनके सम्बन्धमें व्यक्तिका अखण्ड अनुभव यही होता है कि वह तीनों मैं ही हूँ। उस व्यक्तिमें और मुझमें आपसकी जो प्रीति होती है, हे सुभद्रापति! वह वर्णनातीत है। उसमें जो तन्मयता होती है, यदि उसके लिये किसी ऐसी उपमाकी जरूरत हो जो प्रेमकी दृष्टिसे उचित जान पड़े, तो उसकी यही उपमा हो सकती है कि मैं देह हूँ और वह आत्मा है।" इस प्रकार भक्त-चकोर-चन्द्र, सद्गुण-सिन्धु और त्रिलोकीके एकमात्र नरेन्द्र श्रीकृष्णने पृथापुत्र अर्जुनसे जो कुछ कहा था, वह सब संजयने धृतराष्ट्रको एक-एक करके बतला दिया। उस समयतक श्रीकृष्ण यह बात समझ चुके थे कि शुरूसे ही अर्जुनमें उपदेश सुननेकी जो उत्कण्ठा

थी, वह अब द्विगुणित हो गयी है। इसलिये श्रीकृष्णके चित्तमें बहुत ही संतोष हुआ। श्रीकृष्णको यह जानकर अत्यन्त आनन्द हुआ कि जैसे दर्पणमें प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही अर्जुनकी मुद्रापर मेरे उपदेशकी भी प्रतिच्छाया दीख रही है और उसी आनन्दके कारण वे अब यह विषय और भी विस्तारसे अर्जुनको बतलावेंगे। अगला अध्याय उसी प्रसंगसे सम्बन्धित होगा। वह प्रसंग शान्तरससे इतना सराबोर होगा कि उसमें महासिद्धान्तरूपी बीजोंमें अंकुर निकलते हुए दृष्टिगोचर होंगे। इसका प्रमुख कारण यह है कि सात्त्विक भावनाओंकी वृष्टिसे आत्मभावनारूपी ढेले फूट गये हैं और श्रोताओंके चतुर चित्तरूपी क्यारियाँ बीज धारण करनेके लिये तैयार हो गयी हैं। तिसपर चित्तकी एकतानताको स्वर्णके सदृश प्राप्त होनेके कारण श्रीनिवृत्तिनाथके चित्तमें भी सिद्धान्तरूपी बीज-वपनका उत्साह उमड़ पड़ा है। इसलिये यह निवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव कहता है कि श्रोतागण, इस बीज बोनेके काममें मुझे श्रीसद्गुरुने बीज रखनेवाला चोंगा बनाया है तथा मेरे सिरपर हाथ रखकर मेरे अन्तःकरणमें बोये जानेवाले बीज डाले हैं। इसीलिये मेरे मुखसे जो-जो बातें निकलती हैं, वह सन्तोंके अन्तःकरणमें तुरन्त ही अच्छी तरह बैठ जाती हैं। परन्तु बहुत कुछ विषयान्तर हो चुका। अब मैं यह बतलाऊँगा कि श्रीकृष्णने इसके बाद अर्जुनसे और क्या कहा। परन्तु श्रोताजनोंको वे सारी बातें मनके कानोंसे सुननी चाहिये, बुद्धिकी आँखोंसे देखनी चाहिये और अपना चित्त मुझे सौंपकर मेरी बातें ग्रहण करनी चाहिये। फिर सतर्कताके हाथोंसे इन सब बातोंको उठाकर अपने अन्तःकरणके भीतरी भागमें रखनी चाहिये, तब कहीं जाकर सज्जनोंकी वासना पूरी होगी। ये बातें आत्मकल्याणको प्राप्त कराती हैं, परिणाममें चैतन्यता लाती हैं और जीवोंपर सुखरूपी फूलोंकी लखौरी माला चढ़ाती हैं। अब अर्जुनके साथ श्रीमुकुन्दका जो उत्तम संवाद हुआ था, वह मैं श्रोताओंको बतलाता हूँ। (४८२—४९७)

५७

अध्याय सातवाँ

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

हे श्रोतावृन्द! सुनिये, इसके बाद श्रीअनन्तने पार्थसे कहा कि अब तुम वास्तवमें योगयुक्त हो गये हो। अब मैं तुम्हें ऐसा ज्ञान और विज्ञान यानी प्रपंच-ज्ञान बतलाऊँगा जिससे तुम मुझे उसी प्रकार समस्त अवयवोंसे अच्छी तरहसे जान लो, जिस प्रकार अपने करतलपर रखे हुए रत्नको लोग जान लेते हैं। हो सकता है कि तुम अपने मनमें यह सोचते हो कि इस प्रापंचिक ज्ञानसे मुझे क्या लेना-देना? तो मैं तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि सर्वप्रथम प्रापंचिक ज्ञानको ही प्राप्त कर लेना बहुत जरूरी है। कारण कि फिर जिस समय ज्ञानकी बात आती है, उस समय इस प्रापंचिक ज्ञातृत्वके नेत्र बन्द हो जाते हैं। जैसे तटपर लगी हुई नौका इधर-उधर नहीं चलती, वैसे ही जहाँ प्रापंचिक ज्ञातृत्वकी भी दाल नहीं गलती, जहाँसे विचार भी वापस आ जाता है और जिसका मार्ग तर्क भी नहीं ढूँढ़ पाता, हे अर्जुन! उसीको ज्ञान कहते हैं। ज्ञानसे भिन्न जो कुछ है, वह सब प्रपंच है और उसीको विज्ञान कहते हैं और इस प्रपंचमें सत्यबुद्धिकी जो परिकल्पना होती है, उसीको अज्ञान जानना चाहिये। अब मैं तुम्हें वह गूढ़ रहस्य बतलाता हूँ, जिससे अज्ञान मिट जाता है, विज्ञान समाप्त हो जाता है और हम एकमात्र ज्ञानस्वरूप हो सकते हैं। जिस समय इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, उस समय बोलनेवालेकी बोलती

बन्द हो जाती है, श्रोताकी सुननेकी अभिलाषा भी लुप्त हो जाती है और छोटे-बड़ेका भेद-भाव भी शेष नहीं रह जाता। यदि व्यक्तिको ऐसे गूढ़ रहस्यका जरा-सा भी ज्ञान हो जाय, तो भी उसके मनका बहुत कुछ समाधान हो जाता है। (१—९)

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

सहस्रों मनुष्योंमें कभी कोई विरला मनुष्य ही ऐसा होता है, जिसकी इस विषयमें प्रीति होती है और ऐसी प्रीति रखनेवाले बहुत-से मनुष्योंमें सच्चा ज्ञानी कोई विरला ही दिखायी पड़ता है। हे अर्जुन! जैसे त्रिभुवनमेंसे एक परम वीरका चयन कर सेनाके लाखों मनुष्योंकी भर्ती की जाती है अथवा सेना भर्ती कर चुकनेपर भी जैसे रणभूमिमें शस्त्रोंके द्वारा अनेक लोगोंके मारे जानेपर विजयश्रीके सिंहासनपर कोई एकाध मनुष्य ही बैठता है, वैसे ही इस ब्रह्मज्ञानरूपी जलाशयमें भी करोड़ों मनुष्य कूदते हैं, किन्तु इस जलाशयके उस पार कोई एकाध मनुष्य ही पहुँचता है। इसीलिये मैं तुमसे बार-बार कहता हूँ कि यह कोई सामान्य बात नहीं है। यह कहनेमें भी अत्यन्त दुरूह है। परन्तु फिर भी मैं तुम्हें यह बात बतलानेकी चेष्टा करूँगा। तुम मनोयोगपूर्वक सुनो। (१०—१४)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

हे धनंजय! जिस प्रकार व्यक्तिके शरीरकी छाया पड़ती है, उसी प्रकार यह महत्तत्त्व इत्यादि माया भी मेरी ही प्रतिच्छाया है। इसी मायाको प्रकृति भी कहते हैं। यह आठ प्रकारकी है और यही त्रिभुवनकी जन्मदात्री भी है। यदि तुम्हारे चित्तमें यह संशय हो कि इसके आठ प्रकार कौन-से हैं तो मैं बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। अप्, तेज, आकाश, पृथ्वी, वायु, मन, बुद्धि और अहंकार यही प्रकृतिके आठ भेद हैं। (१५ -१८)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

हे पार्थ! इन्हीं आठों भेदोंकी जो साम्यावस्था है, उसीको तुम मेरी परम प्रकृति जानो। इसीको जीव कहते हैं; क्योंकि यही अचेतन शरीरको चेतन करती है, यही शरीरमें गति इत्यादि उत्पन्न करती है और यही मनको शोक, मोह आदि विकारोंका भास कराती है। किंबहुना, बुद्धिमें जो जाननेकी शक्ति है, वह भी इस मायाके सान्निध्यका ही परिणाम है और इसीमें उत्पन्न होनेवाले अहंकारने इस जगत्‌का अस्तित्व बनाये रखा है।◌ (१९—२१)

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

यह सूक्ष्म प्रकृति जिस समय अपनी कामनासे स्थूल महाभूतोंके अंगोंसे संयुक्त होती है, उस समय भूत-सृष्टिकी मानो टकसाल ही खुल जाती है। इस टकसालमेंसे चार तरहके जीवरूपी सिक्के अपने-आप निकलने लगते हैं। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्‌भिज्ज—ये ही चार तरहके सिक्के हैं। मूल्यकी दृष्टिसे तो ये सिक्के समान ही हैं, पर जातिकी दृष्टिसे ये एक-दूसरेसे भिन्न होते हैं। सब मिलाकर ये जातियाँ चौरासी लाख हैं। इनके अलावा और भी अनगिनत जातियाँ हैं। इसी प्रकारके जीवरूपी अनगिनत सिक्कोंसे उस निर्गुण, निराकार और अव्यक्त बीजका भण्डार भर जाता है। इस प्रकार पंचमहाभूतोंके बराबरकी तौलके इतने पर्याप्त सिक्के हो जाते हैं कि उनकी गणना केवल प्रकृति ही कर सकती है, जिन सिक्कोंका निर्माण वह पहले कर लेती है, उन्हींको वह बादमें नष्ट भी कर डालती है। केवल उनकी मध्य या अस्तित्ववाली अवस्थामें ही वह उन्हें कर्म और अकर्मके व्यवहारमें प्रवृत्त करती है। परन्तु अब इस रूपकका यहीं समापन किया जाता है। अब मैं स्पष्टरूपसे समझनेयोग्य यह बात बतलाता हूँ कि यह प्रकृत्ति (माया) ही जगत्‌की उन समस्त वस्तुओंका प्रसार करती है जिनकी प्रतीति नाम और रूपोंके द्वारा होती है और इसमें कुछ सन्देह ही नहीं है कि यह प्रकृति मुझमें ही समरस होकर रहती है। इसलिये इस सम्पूर्ण जगत्‌का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ। (२२—२८)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

यह जो मृगजल हमलोगोंको दृष्टिगोचर होता है, यदि इसके मूल कारणको खोजा जाय तो ज्ञात होता है कि वह कारण केवल रश्मि ही नहीं है, अपितु भानु ही है। वैसे ही, हे किरीटी! इस प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाली सृष्टिका जब लय होगा और यह फिर अपनी मूल स्थितिमें जाकर ज्यों-की-त्यों समा जायगी, तब यह केवल मेरे ही रूपकी हो जायगी; यानी यह मुझमें ही विलीन हो जायगी और तब केवल मेरा ही रूप रह जायगा। इस प्रकार जो यह विश्व उत्पन्न होकर फिर विलीन हो जाता है, वह सदा मुझमें ही रहता है। जिस प्रकार सूत्रमें मणियाँ गुँथी रहती हैं, उसी प्रकार यह विश्व भी मुझमें ही रहता है। जैसे स्वर्णनिर्मित मणियाँ स्वर्णके ही सूत्रमें गुँथी रहती हैं, वैसे ही इस विश्वको बाह्याभ्यन्तर सर्वतः मैं ही धारण किये रहता हूँ। (२९—३२)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

इसीलिये हे पार्थ! तुम यह अच्छी तरहसे जान लो कि जलमें जो रस-गुण है या वायुमें जो स्पर्श-गुण है या चन्द्रमा और सूर्यमें जो तेज-गुण है, वह मैं ही हूँ। इसी प्रकार पृथ्वीमें स्थित नैसर्गिक शुद्ध गन्धगुण, आकाशमें स्थित शब्द-गुण तथा वेदोंमें स्थित ओंकार मैं ही हूँ। मैं यह प्रमुख तत्त्व पहले ही बतला चुका हूँ कि मनुष्योंमें जो मनुष्यत्व है और जिस अहंभावके बलको पौरुष कहते हैं, वह भी मैं ही हूँ। तेजपर जो अग्नि नामका कवच या आवरण है, उसे हटा देनेपर जो केवल स्वरूप-तेज शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ। इस त्रिलोकीमें प्राणिमात्र नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेकर अपने अपने जीवन निर्वाहका साधन करते रहते हैं। कोई वायु पीकर जीवन-निर्वाह करते हैं, कोई तृण खाकर जीते

हैं, कोई अन्नसे अपना जीवन चलाते हैं और कोई केवल जलपर ही आश्रित रहकर अपनी जीवन-यात्राका निर्वहन करते रहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्राणियोंके जीवनके जो स्वभावतः भिन्न-भिन्न साधन हुआ करते हैं, उन समस्त साधनोंमें एकमात्र मैं ही अभिन्न स्वरूपसे निवास करता हूँ। (३३—३९)

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

जो उत्पत्तिके समय आकाशके अंकुरके साथ-साथ विस्तृत होता है और संसारका नाश होनेके समय जो प्रणवके अक्षर (अ,उ,म)भी विनष्ट कर देता है, जो अस्तित्व रखनेवाले इस दृश्यमान जगत्‌पर विश्वके आकारमें जान पड़ता है और महाप्रलयका समय आनेपर जो ऊपरसे देखनेमें विनष्ट हो जानेपर भी यथार्थतः कभी विनष्ट नहीं हो सकता, वह स्वयंसिद्ध और अनादि विश्वबीज भी मैं ही हूँ। यह गहन ज्ञान मैं तुम्हारे हाथमें देता हूँ। हे पाण्डव! जिस समय तुम इस ज्ञानका आत्म और अनात्मके विचारसे उपयुक्तता स्थापित करोगे, उस समय इसके वास्तविक महत्त्वका तुम्हें अनुभव होगा। पर अब इस विषयान्तरको त्याग देना चाहिये। अब मैं तुम्हें एक और चीज संक्षेपमें बतलाता हूँ, वह यह है कि तपस्वियोंकी जो तपस्या है, उसे भी तुम मेरा ही रूप जानो। बलवानोंमें रहनेवाला जो बल है, वह मैं ही हूँ, बुद्धिमानोंमें रहनेवाली जो बुद्धि है, वह भी मैं ही हूँ। प्राणिमात्रमें अर्थके द्वारा धर्म-संचयकी जो शुद्ध काम-वासना है, वह भी आत्माराम मैं ही हूँ। यह शुद्ध काम यद्यपि साधारणतया विकारोंके प्रवाहके अनुरूप ऐन्द्रिक तृप्ति करनेवाले कर्म करता है, तो भी वह इन्द्रियोंको उनके धर्मके विपरीत नहीं जाने देता। यह काम कर्म-संन्यासका वंकिम मार्ग त्यागकर विधियुक्त कर्माचरणके राजमार्गपर लगता है और नियमरूपी मशाल निरन्तर इसके संग रहती है। जब इस प्रकार

सावधानीपूर्वक काम होने लगता है, तब धर्मकी पूर्णता हो जाती है और तब ससारको मोक्षरूपी तीर्थका पट्टा प्राप्त होता है। श्रुतियोंमें गाये गये गौरवके मण्डपपर जो काम सृष्टिरूपी बेल इस प्रकार चढ़ाता है कि उसमें लगनेवाली कर्मरूपी शाखा फलके बोझसे लटककर अन्तमें मोक्षपर आ लगती है। प्राणियोंके नाथ योगीश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह समस्त प्रकारका और सम्पूर्ण जीवोंको उत्पन्न करनेवाला बीजरूप काम भी मैं ही हूँ। पर ऐसी एक-एक बात मैं तुम्हें कहाँतक बतलाऊँ। संक्षेपमें तुम्हें यही समझना चाहिये कि सारी वस्तुएँ मुझसे विस्तार प्राप्त करती हैं—सबका विस्तार मैं ही करता हूँ। (४०—५२)

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

यह बात तुम अच्छी तरहसे जान लो कि जितने सात्त्विक, राजस और तामस-भाव होते हैं, वे सारे-के-सारे भाव मेरे ही स्वरूपसे उत्पन्न होते हैं। यद्यपि ये विकार मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, पर फिर भी इन विकारोंमें मैं ठीक वैसे ही नहीं रहता, जैसे स्वप्नावस्थाके दहमें जाग्रत् अवस्था नहीं होती। बीजकणिका वस्तुतः रस-द्रव्यसे ही बनी हुई और उसीसे ओत-प्रोत होती है, परन्तु अंकुर और शाखाओंमें जो कठोर काष्ठ होता है, वह उसी बीजकणिकासे ही बना हुआ होता है। परन्तु फिर भी क्या कभी उस काष्ठमें कहीं बीजका गुण दिखलायी पड़ता है? इसी प्रकार बाहरसे भले ही यह जान पड़े कि मुझमें ही विकार उत्पन्न हुए हैं, तो भी मैं उन विकारोंमें नहीं रहता। गगनमें मेघ तो आते हैं, पर मेघोंमें गगन नहीं रहता। मेघोंमें पानी तो होता है, पर उस पानीमें मेघ नहीं रहते। फिर मेघोंमें स्थित पानीमें जब हलचल होती है, तब उसमें विद्युत्की चमक दृष्टिगोचर होती है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि उस चमकनेवाली विद्युत्में पानी रहता है? अग्निसे धूम्र निकलता है, पर क्या उस धूम्रमें भी कभी अग्नि रहती है? इसी प्रकार मुझपर विकार होते हैं, किन्तु वह विकार मैं नहीं हूँ। (५३—५९)

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

पानीमें पैदा होनेवाला सेवार जैसे पूरे पानीको आच्छादित कर लेता है अथवा जैसे मेघोंसे सम्पूर्ण आकाश ढक जाता है अथवा स्वप्नको यद्यपि असत्य कहा जा सकता है, पर फिर भी जिस समयतक नींद रहती है, उस समय तक स्वप्न जिस प्रकार सत्य प्रतीत होता है और हमें स्वयं अपनी ही स्मृति नहीं रहती अथवा नेत्र ही अपनी पुतलीपर जो जाला उत्पन्न कर देता है, और वह जाला जैसे नेत्रकी दृष्टि समाप्त कर देता है, वैसे ही यह त्रिगुणात्मक माया भी मेरी परछाईं है और वह मेरे आत्मस्वरूपकी ओटमें ही यवनिकाकी भाँति पड़ी हुई है। यही कारण है कि ये प्राणी मुझे पहचान नहीं सकते। वे मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, परन्तु यह बात नहीं है कि जो कुछ वे हैं, वह मैं ही हूँ। जलमें ही उत्पन्न होनेवाला मोती जैसे जलमें कभी नहीं गलता अथवा जैसे मिट्टीका घट बनाकर उसे शीघ्र ही फिर मिट्टीमें मिला दिया जाय तो वह मिट्टीमें मिलकर एकाकार हो जाता है, किन्तु यदि वही घट अग्निमें तपाया जाय तो वह मिट्टीसे भिन्न रूपवाला हो जाता है, वैसे ही ये सब जितने प्राणी हैं, वे सब के-सब हैं तो मेरे ही अंश, परन्तु प्रकृतिके संयोगसे वे सब जीव-दशाको प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि वे मेरे हैं, किन्तु 'मैं' नहीं हैं। वे मेरे ही हैं, परन्तु फिर भी वे मुझे नहीं पहचानते, क्योंकि अहंता, ममता और भ्रमके कारण वे विषयान्ध हो रहे हैं। (६०—६७)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

हे धनंजय! अब ज्वलन्त प्रश्न यह खड़ा होता है कि महत्तत्त्वादि जो मेरी माया है, उससे पार होकर मेरा मूल स्वरूप कैसे प्राप्त करना चाहिये परब्रह्मरूपी गिरि-शिखरपर सर्वप्रथम संकल्परूपी जलके साथ-साथ जो मायारूपी नदीका छोटा-सा महाभूतरूपी बुलबुला निकलता है, इसके बाद जो सृष्टि-निर्माणके प्रभावसे और कालक्रमसे निरन्तर बढ़ते

हुए वेगसे कर्म-मार्ग और मोक्ष-मार्ग—इन दो ऊँचे तटोंमेंसे होता हुआ जल-स्रोत मनमाने ढंगसे इधर-उधर चलता है, फिर सत्त्वादि गुणोंकी वृष्टिके कारण भलीभाँति भरकर अपनी मोहरूपी बाढ़के द्वारा यम (मनोनिग्रह) तथा नियम (इन्द्रिय-निग्रह)-रूपी नगरोंको बहा ले जाता है, जिसमें जगह-जगह द्वेषरूपी भँवर पड़ते रहते हैं, मत्सरके चक्कर पड़ते रहते हैं और तरुण स्त्री आदिरूपी भयंकर मगरमच्छ दृष्टिगोचर होते रहते हैं, जिसमें प्रपंचरूपी अनेक मोड़ तथा कर्म और अकर्मकी तरंगोंपर सुख-दुःखरूपी कतवार बहता रहता है, जिस नदीमें रतिरूपी टापूपर कामवासनाओंकी लहरें टकराती रहती हैं और जीवरूपी फेनसमूह चतुर्दिक् दृष्टिगोचर होते हैं, जिस नदीके अहंकाररूपी प्रवाहमें विद्या, धन और बल—इन तीन मदोंकी लहरें उठती रहती हैं तथा विषय-वासनाके हिलोरे आते रहते हैं, जिसमें उदय तथा अस्तकी बाढ़ आनेके कारण जीवन-मरणके दह पड़ते हैं और उनमें पंचभूतात्मक सृष्टिके बुलबुले निरन्तर उठते रहते हैं, जिस नदीमें मोह और भ्रमरूपी मछलियाँ धैर्यरूपी मांस छीन-झपटकर खाती रहती हैं और टेढ़े-मेढ़े अज्ञानके चक्कर खाती हुई इधर-उधर भ्रमण करती रहती हैं तथा जिस मायारूपी नदीमें भ्रमके गँदलेपनके कारण आशाकी दलदल बनती है और रजोगुणरूपी गर्जना स्वर्गतक सुनायी पड़ती है, जिस मायारूपी नदीमें तमोगुणका वेग अत्यधिक प्रबल रहता है और सत्त्वरूपी दहोंको तैरकर पार करना अत्यन्त कठिन होता है, वह मायारूपी नदी बहुत ही कठिन है। इसमें जीवन और मरणकी जो बाढ़ आती है, उसके कारण सत्यलोकके किले ढह जाते हैं और ब्रह्माण्डरूपी विशाल शिलाएँ भी डगमगाकर गिरने लगती हैं। इस मायारूपी नदीके प्रचण्ड जल प्रवाहके कारण अभीतक उसकी लहरें थमनेका नाम ही नहीं लेतीं तो फिर भला इस मायारूपी बाढ़को तैरकर कौन पार कर सकता है? इसमें एक बात और भी है कि इस माया नदीको तैरकर पार करनेके लिये जो-जो उपाय किये जाते हैं, उनसे उलटे और भी अहित ही होता है। अब यह ध्यानपूर्वक सुनो कि ये अहित कैसे होते हैं। कुछ लोग अपनी बुद्धिके बलपर इस

ाया-नदीमें प्रवेश करते हैं, परन्तु वे जल्दी ही अपनी सुध-बुध खो बैठते ं। कुछ लोग अज्ञानके दहमें अभिमानके मुखमें जा गिरते हैं। कुछ लोग से पार करनेके लिये अपने कटिप्रदेशमें वेदत्रयीका जो तुम्बा बाँधते हैं सके साथ-ही-साथ अहंकाररूपी एक विशाल शिला भी अपनी कटिमें ्सकर बाँध लेते हैं और उस दशामें उन्मादरूपी मछली उन्हें पूरा-का- ूरा ही घोंट जाती है। कुछ लोग अपनी युवावस्थाके बलपर ही इसे रकर पार करना चाहते हैं, पर वे विषयोंके चक्करमें पड़ जाते हैं तथा न्हें विषयरूपी मगरमच्छ खा जाते हैं और फिर आगे चलकर वे लोग स नदीके वार्धक्यरूपी लहरोंमें इधर-उधर उलझ जाते हैं। फिर शोकरूपी ्कनारेसे टकराकर और क्रोधरूपी भँवरमें गोते खाकर वे जब-जब सिर ठाते हैं; तब-तब आपदारूपी गिद्ध उन्हें नोचने लगते हैं। फिर वे दुःखरूपी कसे सराबोर हो जाते हैं और अन्ततः मरणकी रेतीमें पहुँचकर उसीमें ्स जाते हैं, अर्थात् मर जाते हैं। इस प्रकार जो लोग विषयोंके चक्करमें ड़े रहते हैं, उनका जीवन ही निरर्थक हो जाता है। कुछ ऐसे लोग ी हैं जो यजन-क्रियाको ही अपने लिये तुम्बा बनाते हैं और उसीको पने पेटके नीचे बाँधकर चल पड़ते हैं, और चलते-चलते स्वर्ग-सुखरूपी पाटमें फँसकर रह जाते हैं। कुछ लोग मोक्ष पानेकी आशासे कर्मरूपी ाहोंका भरोसा करते हैं, किन्तु वे विधि और निषेधरूपी भँवरमें उलझ ाते हैं। जिसमें वैराग्यरूपी नावका भी प्रवेश नहीं हो सकता, जिसमें विवेकरूपी डोरी भी काम नहीं करती और जिसे योग-बलसे ही कुछ- छ और वह भी कभी-कभार ही पार किया जा सकता है, उस मायारूपी दीके विषयमें यदि यह कहा जाय कि जीवमें उसे तैरकर पार करनेकी ामर्थ्य है, तो ऐसे कथनकी किससे उपमा दी जा सकती है? यदि अपथ्यसे ण व्यक्तिकी व्याधि ठीक हो सकती हो, यदि इस बातकी जानकारी सके कि दुष्ट व्यक्तिकी मति कैसे वशमें की जा सकती है अथवा दे लालची व्यक्ति हाथ लगी सम्पत्तिका त्याग कर सकता हो, सभा रसे डर सकती हो अथवा बंसी मछलीको ही निगल सकती हो, यदि

कायर व्यक्ति किसी यक्षिणीको डरा-धमकाकर पीछे हटा सकता हो या मृगशावक जाल तोड़ सकता हो अथवा पिपीलिका मेरुपर्वतको लाँघ सकती हो तो जीव भी मायारूपी नदीके उस पार पहुँचा हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है। हे पाण्डुपुत्र! जैसे स्त्रीको ही सर्वस्व समझनेवाला व्यक्ति स्त्रीको अपने अधीन नहीं कर सकता, वैसे ही जीव भी मायारूपी नदीको तैरकर पार नहीं कर सकता। इस माया नदीको वही पार कर सकते हैं, जो अनन्य भावसे केवल मुझको ही भजते हैं। बल्कि यों कहना चाहिये कि ऐसे लोगोंको मायारूपी नदीके उस पार जानेकी जरूरत ही नहीं होती, क्योंकि उनके समक्ष इसी पार जल नहीं रह जाता। जिन लोगोंको सचमुच सद्गुरुरूपी नाव प्राप्त हो गयी है, जिन्होंने कसकर अनुभवका फेंटा बाँध लिया है और जिन्हें आत्मबोधरूपी नौका प्राप्त हो गयी है, जिन लोगोंने अहंकाररूपी गुरुतर भारका परित्याग कर संकल्प-विकल्पकी लहरों तथा विषयासक्तिकी प्रचण्ड धारसे बचकर एकताके घाटपर पहुँचकर आत्मबोधरूपी पुल पा लिया है और तब जो शीघ्रतासे नैराश्यके उस पार पहुँच गये हैं, वही लोग जल्दी-जल्दी वैराग्यकी भुजाओंसे तैरते हुए '**सोऽहम्**' भाववाली श्रद्धाके बलसे आगे बढ़ते हुए अन्ततः बिना प्रयासके ही बड़ी सरलतासे निवृत्ति-तटपर जा पहुँचते हैं। जो लोग इस मार्गसे मेरी भक्ति करते हैं, वे ही तैरकर मेरी इस मायाको पार कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकारके भक्त एकाध ही होते हैं, बहुतेरे नहीं। (९८—१०२)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

इस प्रकारके भक्तोंके अलावा बहुतेरे ऐसे ही लोग होते हैं, जिनपर अहंकारका भूत चढ़ा रहता है; इसीलिये वे लोग आत्मज्ञानका विस्मरण कर जाते हैं।

वेदका कथन है कि जिस समय व्यक्तिके अन्दर इस प्रकारके

अहंकारका संचरण होता है, उस समय नियमरूपी वस्त्रकी सुधि ही नहीं रहती, भावी अध:पतनकी लज्जा विनष्ट हो जाती है और प्राणी न करने योग्य कार्यको भी करने लगता है। इस प्रकारके जीव इन्द्रियग्रामके राजमार्गमें अहंता और ममताकी निरर्थक वार्ता करते हुए नानाविध विकारोंका समुदाय इकट्ठा करते हैं और जब अन्तमें उनके ऊपर शोक और दु:खके बराबर आघात होने लगते हैं, तब उनको स्मृतिका विनाश हो जाता है। यही माया ही इन सबका मूल कारण है। इसीके कारण वे सारे जीव मुझे भुला बैठे हैं। आत्महितका साधन करनेवाले मेरे भक्तोंकी चार कोटियाँ हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। (१०३—१०९)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

इनमेंसे जो आर्तलोग हैं, वे अपने दु:खोंका निवारण करनेके लिये मुझे भजते हैं, जिज्ञासुकोटिके भक्त ज्ञानकी अभिलाषासे और अर्थार्थी-लोग अर्थ सिद्धिके लिये मेरे भक्त होते हैं। किन्तु चौथे कोटिके जो भक्त होते हैं, उनमें कोई ऐसी वासना नहीं होती, जिसकी वे तृप्ति करना चाहते हों और यही कारण है कि वही ज्ञानीलोग मेरे वास्तविक और सच्चे भक्त होते हैं। क्योंकि उसी ज्ञानरूपी प्रकाशसे भेद-भावरूपी अन्धकार समाप्त हो जाता है; इसीलिये वे मद्रूप हुए रहते हैं तथा मेरे भक्त भी हो जाते हैं। पर जैसे स्फटिक-शिला—उसपरसे प्रवाहमान पानीकी गतिके कारण—सामान्य लोगोंकी दृष्टिमें पलभरके लिये पानीकी भाँति प्रतीत होती है, ठीक वैसी ही अवस्था इस प्रकारके ज्ञानी व्यक्तिकी भी होती है। यह वर्णन करनेका कोई विलक्षण प्रकार नहीं है। जिस समय वायु शान्त होकर आकाशमें विलीन हो जाती है, उस समय आकाशसे भिन्न उसका कोई वायु-भाव नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार जिस समय वह ज्ञानी मुझमें मिलकर एकाकार हो जाता है, उस समय ऐसे कथनकी कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि 'वह भक्त है'। यदि वायुको हिला-डुलाकर देखा जाय तभी उसका आकाशसे भिन्न स्वरूप दृष्टिगोचर होता है और तभी

इस बातका ज्ञान होता है कि वह आकाशसे भिन्न है और नहीं तो वह स्वभावतः आकाशके रूपमें ही रहती है। इसी प्रकार जिस समय वह ज्ञानी शरीरके द्वारा कर्मोंका आचरण करता है, उस समय लोगोंको ऐसा अनुभव होता है कि वह भक्त है। परन्तु वह अपने आत्मानुभवके कारण मद्रूप हुआ रहता है। वह ज्ञानालोकके (ज्ञानरूपी प्रकाशके) कारण यह समझता है कि मैं आत्मा ही हूँ और इसीलिये मैं भी प्रेमावेशमें उसे आत्मा ही समझता हूँ। जो जीवत्वके उस पारका आत्मस्वरूपका संकेत पहचानकर व्यवहार कर सकता है, वह क्या केवल देहकी भिन्नताके कारण ही कभी परमात्मतत्त्वसे अलग हो सकता है? (११०—११८)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

इसीलिये एकमात्र अपना हित करनेके लोभसे जिसे देखो, वही भक्त बनकर मुझे भजने लगता है; पर ऐसा भक्त केवल ज्ञानी ही है, जिसका प्रिय पात्र सिर्फ मैं ही रहता हूँ। इस प्रकार भगवान्‌ने जो कुछ कहा, वह मिथ्या नहीं था; क्योंकि देखो, दूधकी आशासे यह जगत् गौको डोरीसे बाँधकर रखता है; पर उस बन्धनका अंश रस्सीके बिना ही उस गौके बछड़ेको भी किस प्रकार मिल जाता है? बिना बाँधे ही वह बछड़ा बन्धनमें पड़ा रहता है, इसका प्रमुख कारण यही है कि तन-मन और प्राणसे वह बछड़ा अपनी माँके साथ ही जुड़ा रहता है तथा माँके सिवाय अन्य किसीको वह नहीं जानता। उसे देखते ही उसके मुखसे यह निकल पड़ता है कि यही मेरी माँ है। इस प्रकार जिस समय वह गौ देखती है कि मेरे बिना यह बछड़ा असहाय और बेसहारा है, उस समय वह गौ भी उस बछड़ेपर वैसी ही पक्की प्रीति रखती है। इसीलिये लक्ष्मीपतिने जो कुछ कहा है, वह एकदम ठीक है। अस्तु।

भगवान् श्रीकृष्णने पुनः कहना शुरू किया—"हे पार्थ! शेष जो और तीन तरहके भक्त मैंने तुम्हें बतलाये हैं, वे भी अपनी-अपनी जगहपर अच्छे ही हैं और मुझे भी वे प्रिय लगते हैं। किन्तु मेरे विषयमें ज्ञान

हो जानेपर जो फिर पीछे वापस जाना ठीक वैसे ही भूल जाते हैं, जैसे समुद्रके साथ नदीके मिल जानेपर उसका पीछे वापस जाना असम्भव हो जाता है और इसी प्रकार जिनके चित्तरूपी गुहामें उत्पन्न होनेवाली अनुभूतिरूपी गंगा मेरे स्वरूपरूपी सागरमें आकर समा जाती है, उस भक्तको एकदम मेरा ही स्वरूप जानना चाहिये—यह जानना चाहिये कि वह भक्त नहीं है, स्वयं मैं ही हूँ। अब इस बातका और कहाँतक विस्तार करूँ? सच्चाई तो यह है कि जो ज्ञानी है, वह मेरा शुद्ध चैतन्य और साक्षात् आत्मा ही है। वास्तवमें यह बात तो किसीसे कहनेलायक ही नहीं है। पर क्या किया जाय! जो बात नहीं कहनी चाहिये थी, वही मैं कह बैठा हूँ। (११९—१२६)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

इस प्रकारका व्यक्ति विषयोंकी भयंकर झाड़ीके काम और क्रोधरूपी विकारोंके संकटोंसे सुरक्षित निकलकर सद्वासनारूपी पहाड़पर आ पहुँचता है। फिर हे वीरशिरोमणि अर्जुन! वह साधु-संग प्राप्त करके और कर्म संन्यासका टेढ़ा मार्ग एक तरफ त्यागकर सरल सत्कर्म-योगके राजमार्गपर चल पड़ता है। फिर वह सैकड़ों जन्मोंतक उसी मार्गका प्रवासी बन जाता है। इस प्रवासमें वह अपने पैरोंमें आशाके खड़ाऊँतक नहीं पहनता। फिर वहाँ फल-हेतुके विचारके लिये कहाँ स्थान रह जाता है? वह इस प्रकार जन्म-जन्ममें शरीरधारण करनेकी मायाके रात्रिकालमें वासनाका संग त्यागकर कर्मयोगके मार्गपर बड़ी तेजीके साथ एकाकी ही चलता रहता है। बस, इसी दौरान कर्मोंका नाश होते ही उसके लिये ज्ञानका प्रभात हो जाता है। तत्काल गुरु कृपासे उषःकाल हो जाता है, ज्ञानरूपी सूर्यकी रश्मियाँ आकर उसपर पड़ने लगती हैं और तब उसकी दृष्टिके समक्ष समतारूपी ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है। ऐसी दशामें वह जिस-जिस तरफ देखता है, उस-उस तरफ उसे सिर्फ

मैं ही दृष्टिगोचर होता हूँ और यदि वह देखनेकी क्रिया बन्द भी कर दे और एकदम शान्त रहे, तो भी उसके अन्तःकरणमें सिर्फ मैं ही भासमान रहता हूँ। मेरे अलावा उसके लिये किसी जगह कुछ भी नहीं होता। जैसे जलमें डूबे हुए घटके बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र जल-ही-जल रहता है, वैसे ही वह भी मुझमें निमग्न रहता है और उसके भीतर तथा बाहर भी एकमात्र मैं ही रहता हूँ। किन्तु यह स्थिति इस प्रकारकी नहीं है, जिसका वर्णन वाणीके द्वारा किया जा सके। इसीलिये अब मैं सिर्फ यही कहता हूँ कि जिस समय ऐसे ज्ञानरूपी ऐश्वर्यका भण्डार उसके लिये खुल जाता है, उस समय वह उस ज्ञानकी पूँजीको अपने आचरणमें लाकर सारे विश्वको अपने-जैसा बना लेता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि इस दृष्टिपथमें आनेवाली समस्त चीजें श्रीवासुदेव ही हैं और इस अनुभव-रससे उसका अन्तःकरण स्वतः इतना अधिक भर जाता है कि अन्ततः वही श्रेष्ठ भक्त और सच्चा ज्ञानी ठहरता है। हे धनुर्धर! उसके आत्मानुभवका स्थान इतना विस्तृत होता है कि उसमें चराचर सृष्टि ही समा सकती है; इस प्रकारका महात्मा अत्यन्त ही दुर्लभ होता है। पर हे किरीटी! जो केवल भोगके लिये मेरी भक्ति करते हैं और जो आशातिमिरमें अन्धे होकर इधर उधर भटकते रहते हैं, ऐसे बहुतेरे भक्त हैं जो आसानीसे मिल सकते हैं। (१२७—१३८)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

फलकी कामना रखनेके कारण उनके हृदयमें कामका प्रवेश हो जाता है और उसी कामके संसर्गसे ज्ञानरूपी दीपक बुझ जाता है। इससे वे बाह्याभ्यन्तर अज्ञानरूपी भयानक अन्धकारमें जा गिरते हैं। यद्यपि मैं उनके निकट ही रहता हूँ, पर फिर भी वे मुझे नहीं देख पाते और तब वे तन-मनसे अन्यान्य देवोंकी आराधनामें तत्पर हो जाते हैं। इस प्रकारके मनुष्य पहलेसे ही प्रकृति (माया)-के दास बने हुए रहते हैं; तिसपरसे विषय-भोगके चक्करमें उलझ-

कर वे और भी अधिक दीन-हीन हो जाते हैं और तब वे लोलुपताके कारण अन्य देवताओंकी भक्ति बड़े कौतुकके साथ करते हैं। वे स्वयं अपनी ही बुद्धिसे स्वयंके लिये न जाने कितने-कितने नियम बना लेते हैं, न जाने कितनी पूजा-सामग्री एकत्रित कर लेते हैं और न जाने विधिपूर्वक कितनी विहित वस्तुएँ देवताओंको अर्पण करते हैं। (१३९—१४२)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

फिर भी भक्त अपनी इच्छानुसार जिस देवताका भजन-पूजन करना चाहे, उस देवताका भजन-पूजन करे, पर उस भक्तके उस भजन-पूजनका फल मैं ही पूर्ण करता हूँ। समस्त देवी-देवताओंमें मैं ही निवास करता हूँ, इस प्रकारकी निश्चयात्मक बुद्धि उसकी नहीं रहती। यही कारण है कि उसके अन्तःकरणमें यह भेदभाव बना रहता है कि जितने देवी-देवता हैं, वे सब वास्तवमें पृथक्-पृथक् ही हैं। (१४३-१४४)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

वह ऐसी श्रद्धासे युक्त होकर अपने इष्ट देवकी कार्य-सिद्धिपर्यन्त विधिपूर्वक आराधना करता रहता है। इस प्रकारके भक्त अपने अन्तःकरणमें जिस फलकी इच्छा करते हैं, वह फल उन्हें प्राप्त हो जाता है, परन्तु वह फल भी मुझसे ही उत्पन्न हुआ रहता है। (१४५-१४६)

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

पर ये जो भक्त अपनी संकीर्ण सोचों और कल्पनाओंके बाहर कभी नहीं जाते, उन्हें मेरा कुछ भी ज्ञान नहीं होता और इसीलिये उन्हें नाशवान् फल ही प्राप्त होते हैं। किंबहुना, ऐसी भक्तिसे एकमात्र सांसारिक साधन ही मिलते हैं, क्योंकि आत्मानुभवके बिना ये समस्त फल-भोग क्षणभर दिखायी पड़नेवाले स्वप्नके समान ही होते हैं। यदि हम इस विचारका क्षणभरके लिये परित्याग कर भी दें तो भी एक और बात यह है कि ये जिस देवी-

देवताका प्रेमपूर्वक भजन-पूजन करते हैं, उसी देवी-देवताका स्वरूप वे प्राप्त करते हैं। किन्तु जो भक्त तन, मन और प्राणसे मेरा ही अनुसरण करते हैं, वे देहका अन्त होते ही मद्रूप हो जाते हैं। (१४७—१५०)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

परन्तु साधारण प्राणी ऐसा नहीं करते और निरर्थक ही अपने हितकी हानि करते हैं, क्योंकि वे चुल्लूभर पानीमें तैरनेकी चेष्टा करते हैं। किन्तु जो सचमुचमें तैरना चाहते हों, उन्हें गहरे जलमें पैठना चाहिये। जिस समय अमृतके सागरमें डुबकी लगाया जाय, उस समय अपना मुँह ही क्यों बन्द कर लिया जाय और अपने मनमें किसी डाबर (गड्ढा)-के जलका स्मरण रखकर क्यों दुःख किया जाय? अमृतमें पैठ करके भी बलात् अपने ऊपर मृत्यु क्यों ली जाय? इसकी अपेक्षा स्वयं अमृत बनकर अमृतमें ही क्यों न रहा जाय? इसी प्रकार हे धनुर्धर! यह फलहेतुवाला पिंजरा त्यागकर और अनुभवरूपी पंख लगाकर ज्ञानाकाशमें (चिदाकाशमें) अच्छी तरह क्यों न उड़ा जाय और उसके स्वामी बनकर क्यों न रहा जाय? जिस समय व्यक्ति ऐसी ऊँचाईपर उड़ान भरने लगता है, उस समय उसके शौर्यसे सुखका इतना ज्यादा विस्तार होता है कि व्यक्ति अपने आनन्दके आवेशमें जितने वेगसे चाहे उतने वेगसे उड़ सकता है। जिसका माप न किया जा सके, उस आत्मसुखको मापनेकी चेष्टा क्यों किया जाय? मैं तो अव्यक्त और निराकार हूँ; फिर मुझे कोई व्यक्त तथा साकार क्यों माने? मेरा स्वरूप तो प्राणियोंमें ही स्वतःसिद्ध है, फिर उसे पानेके लिये निरर्थक साधनोंके चक्करमें पड़नेकी क्या जरूरत है? पर हे पाण्डव! विचार करनेसे यह मालूम होता है कि यदि इस प्रकारके प्रश्न किये जायँ, तो वे जीवोंको कुछ अच्छे नहीं लगते। (१५१—१५७)

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

प्राणियोंके नेत्रोंपर योगमायाका पर्दा लगा रहता है जिससे लोग अन्धे बने रहते हैं और उन्हें कुछ भी नहीं सूझता। यही कारण है कि उजालेमें

भी वे मुझे देख नहीं सकते। अन्यथा क्या तुम एक भी ऐसी चीजका नाम बतला सकते हो, जिसमें मेरा निवास न हो? भला, क्या कोई ऐसा जल है जिसमें रस न हो? अथवा क्या कोई ऐसा पदार्थ है जो वायुके स्पर्शसे दूर हो? अथवा क्या कोई ऐसी जगह है जो आकाशसे रहित हो? बस, सिर्फ यही जान लो कि समस्त विश्वमें एक अकेला मैं-ही-मैं हूँ। (१५८—१६०)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

हे अर्जुन! आजतक जो जीव हो गये हैं, वे इस समय मद्रूप होकर ही रहते हैं और वर्तमान समयमें भी जितने जीव हैं, वे सब मद्रूप ही हैं यानी उनमें मैं ही हूँ और भविष्यमें जो जीव अभी उत्पन्न होनेवाले हैं, वे भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। यदि सच पूछा जाय तो केवल मायाकी ही बातें हैं और नहीं तो वास्तवमें न कुछ होता ही है और न जाता ही है। जैसे रस्सीमें भ्रमसे दृष्टिगोचर होनेवाले सर्पके विषयमें यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह काला है अथवा चितकबरा आदि है, वैसे ही जीवमात्रके सम्बन्धमें भी निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि उनके मूलपर दृष्टिपात किया जाय तो वे सब मिथ्या ही हैं।

हे पाण्डुपुत्र! इस प्रकार मैं ही जीवमात्रमें पूर्णरूपसे भरा रहता हूँ। किन्तु इतनेके बावजूद वे जीव जिस संसारके फेरमें पड़े हुए हैं, उस संसारकी बातें कुछ विलक्षण ही हैं। अब मैं उस संसारकी थोड़ी-सी बातें संक्षेपतः बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। जब अहंकार और शरीरकी प्रीति होती है, (१६१—१६५)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

—तब उनके संयोगसे इच्छा नामक कन्या (कुमारी)-का जन्म होता है, जिस समय यह कन्या तारुण्यावस्थाको प्राप्त होती है, उस समय वह द्वेषके संग अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करती है, फिर इच्छा और द्वेषके इस युगलसे द्वन्द्व-मोहका जन्म होता है। इस बालकका लालन-

पालन इसका नाना अहंकार ही करता है। यह बालक सदा धैर्यका विरोधी रहता है और यह इतना ढीठ होता है कि नियम अर्थात् इन्द्रियनिग्रहके अधीन नहीं रहता। फिर वह आशारूपी दूध (रस)-का पान कर हट्टा-कट्टा हो जाता है। हे धनुर्धर! वह असंतोषरूपी मदिरासे मतवाला होकर विषयरूपी कोठरीमें विकृतिरूपी स्त्रीके संग पड़ा रहता है। फिर वह शुद्ध भावरूपी रास्तेमें संकल्प-विकल्परूपी काँटोंका जाल बिछा देता है तथा कुत्सित कर्मोंके टेढ़े-मेढ़े मार्ग बना देता है। द्वन्द्व-मोहके इस प्रकारके कृत्योंसे प्राणिमात्र भ्रममें पड़ जाते हैं और तब वे संसाररूपी जंगलमें आकर भटकने लगते हैं तथा महादुःखके डण्डेसे पीटे जाते हैं। (१६६—१७१)

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

इस प्रकारके मिथ्या संकल्प-विकल्परूपी तीक्ष्ण काँटोंको देखते हुए भी जो व्यक्ति मतिभ्रम अर्थात् द्वन्द्व-मोहको अपने निकट आने ही नहीं देते, जो सरल एकनिष्ठाके डग भरते हुए तथा संकल्प-विकल्परूपी काँटोंको रौंदते हुए महापातकोंके जंगलसे पार हो जाते हैं और फिर जो पुण्यकी शक्तिसे दौड़ मारते हुए मेरे सन्निकट आ पहुँचते हैं, उनके गुणोंका वर्णन कहाँतक किया जाय! वे कामादि बटमारोंसे बच निकलते हैं। (१७२—१७४)

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

हे पार्थ! इसके बाद इस जन्म-मरणकी कहानी स्वतः बन्द हो जाती है। जिनकी आस्थामें ऊपर बतलायी गयी चेष्टाओंका फल लगता है, उन्हें वह चेष्टा एक-न-एक दिन अवश्य ही सिद्धि प्रदान करती है और तब उनके हाथ वह परब्रह्मरूपी परिपक्व समग्र फल लगता है, जिसमें पूर्णताका रस लबालब भरा हुआ होता है। उस समय समस्त जगत् कृतकृत्यताकी धन्यतासे भर जाता है, आत्मज्ञानरूपी गौरवको पूर्णता मिल जाती है, कर्मोंकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है और मन सुखी तथा शान्त हो जाता है।

हे धनंजय! जो मुझे ही अपने व्यापारकी पूँजी बनाता है, उसे इसी प्रकारके आत्मबोधका लाभ होता है। उसे साम्यरूपी ब्याज मिलता है, उसका ब्रह्मैक्यरूपी किसानीका भी विस्तार होता जाता है और तब फिर भेद-भाववाली दीनतासे कभी उसकी भेंट नहीं होती। (१७५—१७९)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

जिन लोगोंको यह अनुभव हो जाता है कि यह मायायुक्त सृष्टि मेरा ही रूप है और जो इसी अनुभवके हाथोंसे मेरे पंचभूतात्मक रूपका आश्रय लेकर सारे देवताओंके अधिष्ठान मेरे आधिदैविक स्वरूपतक आ पहुँचते हैं और फिर जिन लोगोंको पूर्ण ज्ञानके सामर्थ्यसे मेरा अधियज्ञ (परब्रह्मस्वरूप) दृष्टिगोचर होने लगता है, वे इस शरीरके नष्ट हो जानेपर कभी दु:खी नहीं होते और नहीं तो आयुष्यकी रस्सीके टूटते ही जीवमात्रको इतनी ज्यादा व्याकुलता होती है कि उसे देखकर इर्द-गिर्दके लोगोंको ऐसा प्रतीत होने लगता है कि आज मानो कल्पका अन्त ही हो गया। इस प्रकारके लोगोंकी चाहे जो भी दशा होती हो, पर जो मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, वे उस देहावसानकालकी व्याकुलतामें भी मुझे नहीं भूलते। सामान्यतः यही जानना चाहिये कि जो इतनी पूर्णतातक पहुँच जाते हैं, वही सच्चे युक्तचित्त हैं और वही सच्चे योगी हैं।" श्रीभगवान् इस प्रकार शब्दरूपी गंगाजलीमेंसे वाणीरूपी रस उलट रहे थे, पर अर्जुनकी अवधानरूपी अंजलि आगे बढ़कर वह रस ग्रहण नहीं कर रही थी, क्योंकि उस समय वह पलभरके लिये पूर्व श्लोकोंमें वर्णित बातोंपर विचार कर रहा था। प्रचुर अर्थरूपी रससे लबालब भरे हुए चतुर्दिक् सद्भावरूप सुगन्ध बिखेरनेवाले और परब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले वे वचनरूपी फल जब कृपारूपी वायुके झोंकोंसे श्रीकृष्णरूपी वृक्षपरसे अर्जुनके श्रवणेन्द्रियरूपी थैलीमें पड़े थे, तब उसे ऐसा मालूम पड़ा था कि मानो ये वचनरूपी

फल स्वयं महासिद्धान्तसे ही निर्मित हैं अथवा ब्रह्मरसके सागरमें डुबाये हुए हैं, और तब परमानन्दरूपी रसमें अच्छी तरह धोकर निकाले हुए हैं। उनमें इस प्रकारकी मोहकता थी कि अर्जुनके अपलक नेत्र गटागट विस्मयरूपी अमृतके घूँट पीने लगे। उस दिव्य सुखका स्वाद ले करके अर्जुन स्वर्गको भी नगण्य समझने लगा तथा उसके हृदयमें आनन्दकी गुदगुदी होने लगी। जिस समय इस प्रकार उन वचनरूपी फलोंके सिर्फ बाह्य दर्शनके सौन्दर्यसे ही अर्जुनका सुख बढ़ने लगा, उस समय उसे उन वचनरूपी फलोंका रसास्वादन करनेकी तीव्र लालसा उत्पन्न होने लगी। उन वचनरूपी फलोंको वह तर्क-बुद्धिरूपी हाथोंसे झटसे उठाकर अनुभवरूपी मुखमें डालकर चखने लगा। किन्तु वे वचन फल-विचारकी जिह्वाको नहीं रुचते थे और हेतुके दाँतोंसे नहीं टूटते थे। इसलिये उस सुभद्रापति अर्जुनने उन्हें चबानेका विचार ही त्याग दिया।

अब अर्जुन विस्मित होकर मन-ही-मन कहने लगा कि क्या ये सब पानीमें ही दृष्टिगोचर होनेवाले तारागण हैं? केवल अक्षरोंके बाहरी तड़क-भड़कके चक्करमें ही मैं कैसा फँस गया! और मैं कैसा छला गया! अरे, ये कैसे और कहाँके अक्षर हैं? ये तो केवल आकाशके परत हैं। यहाँ मेरी मति चाहे कितनी ही ऊँची उड़ान क्यों न भरे, पर इसे क्या कभी उसकी थाह लग सकती है? किन्तु जबतक उसकी थाह न लगे, तबतक इन वचनोंका अर्थ कभी समझमें ही नहीं आ सकता। अपने चित्तमें इस प्रकारकी बातोंका विचार करके अर्जुनने फिर यादवेन्द्रकी ओर दृष्टि की और तब उस वीरशिरोमणिने विनम्रतापूर्वक कहा—"हे देव! ये जो सातों पद (ब्रह्म अध्यात्म कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, प्रयाणकालमें योगियोंको होनेवाला तुम्हारा स्मरण) यहाँ इकट्ठे हुए हैं, इनको कभी किसीने चखा ही नहीं और ये अपूर्व हैं। यदि यह चीज न होती तो भला यह कैसे सम्भव था कि ठीक तरह एकाग्रचित्त होकर ध्यान देनेपर भी श्रवणके द्वारा बड़े-बड़े सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण हुए बिना रह जाता, परन्तु यह विषय वैसा नहीं है। अक्षरोंकी यह सजावट देखकर स्वयं विस्मयको भी विस्मय होता

है। श्रवणेन्द्रियोंके वातायन-मार्गसे ज्यों ही आपकी वाग्-रश्मियाँ हृदयमें प्रविष्ट कीं त्यों ही मुझे अत्यन्त विस्मय हुआ और मेरी विचार-शक्ति ही बन्द हो गयी। इसलिये मेरे चित्तमें इस बातका बहुत अनुराग है कि मैं इनके अर्थका ज्ञान प्राप्त करूँ। पर समयकी इतनी अधिकता नहीं है कि मैं अपने उस अनुरागका विवेचन कर सकूँ, इसलिये हे देव, आप स्वयं ही अतिशीघ्र समस्त बातोंका वर्णन करें।'' इस प्रकार पिछली बातोंका विचार करते हुए, आगेके हेतुपर दृष्टि रखते हुए और बीचमें अपना उत्कट अनुराग दृढ़तापूर्वक स्थापित करके अर्जुनका प्रश्न करनेका यह ढंग कितना अनोखा है। इस प्रकार प्रश्न करते समय अर्जुनने मर्यादाका अतिक्रमण भी नहीं किया; अन्यथा उसने अपनी भुजा फैलाकर भगवान्‌का प्रगाढ़ालिंगन भी कर लिया होता। यह केवल अर्जुनको ही पता था कि यदि श्रीगुरुसे प्रश्न करना हो तो इसी मार्गका आश्रय लेना चाहिये।

अब श्रोताओंको इस बातपर ध्यान देना चाहिये कि अर्जुनके द्वारा पूछे गये प्रश्न और श्रीकृष्णके द्वारा दिये हुए उत्तर संजय कैसे प्रेमसे बतलाते हैं। ये सारी बातें देशी भाषामें बतलायी जायँगी। इन्हें देशी भाषामें बतलानेका प्रमुख कारण यह है कि श्रवणेन्द्रियोंको इनका श्रवण होनेसे पूर्व ही बुद्धि अपना उपयोग करने लगे। बुद्धिकी जिह्वासे अक्षरोंके आन्तरिक अर्थका रसास्वादन करनेसे पूर्व ही अक्षरोंके सिर्फ आकृति-सौन्दर्यसे ही इन्द्रियाँ अत्यन्त मुग्ध हो जाती हैं। देखिये, मालतीकी कलियोंकी महक घ्राणेन्द्रियको तो तृप्त करती ही है, पर उन कलियोंका बाह्य रूप देखकर आँख क्या उनसे पूर्व ही सन्तुष्ट नहीं हो जाती? ठीक इसी प्रकार देशी भाषाके सौन्दर्यसे इन्द्रियोंको शक्ति मिल जाती है और तब वे सिद्धान्तरूपी नगरतक आसानीसे पहुँच सकती हैं। अब इस प्रकारके भाषा-सौन्दर्यसे मैं वह बातें स्पष्टतः बतलाना चाहता हूँ। जो शब्दोंके लिये अलभ्य ही हैं। इसलिये श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव अपने श्रोतागणोंसे निवेदन करता है कि आपलोग मनोयोगपूर्वक सुनें। (१८०—२१०)

~~~o~~~
~~~

53

अध्याय आठवाँ

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अर्जुनने कहा—"अब मेरा पूरा ध्यान आपकी ही बातोंकी तरफ है। मैंने जो कुछ पूछा है, वह आप मुझे समझावें और यह भी बतलावें कि ब्रह्म-कर्म और अध्यात्म क्या है। अधिभूत और अधिदैवका भी आप निरूपण करें। आप इन सब बातोंको इस ढंगसे बतलावें कि मेरी समझमें अच्छी तरहसे आ जाय। (१—३)

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

हे देव! आप जिसे अधियज्ञ नामसे पुकारते हैं, वह इस देहमें कौन है तथा कैसा है? मैं उसके विषयमें जानना चाहता हूँ, पर वह किसी भी तरह मेरे अनुमानकी पकड़में नहीं आता। साथ-ही-साथ हे शार्ङ्गपाणि, मुझे यह भी बतलाइये कि स्वाधीन अन्तःकरणवालोंको देहत्यागके समय आपका जो ज्ञान होता है, वह किस प्रकार होता है।" देखो, कोई सौभाग्यशाली व्यक्ति चिन्तामणि रत्नोंसे निर्मित भवनमें शयन करता है और उस शयनावस्थामें ही यदि वह कुछ बड़बड़ाता है, तो उसकी वह बड़बड़ाहट भी कभी बेकार नहीं जाती। इसी प्रकार अर्जुनके मुखसे ये सब बातें अभी ठीकसे निकलने भी नहीं पायी थीं कि देवने कहा कि हे अर्जुन! तुमने जो कुछ पूछा है, उसका वर्णन अच्छी तरह सुनो।

अर्जुन वास्तवमें उस समय एक कामधेनुका बछड़ा ही हो रहा था और उसपर कल्पतरुके मण्डपकी प्रसन्न छाया थी। ऐसी स्थितिमें यदि

मनोरथ सिद्धि स्वयं ही उसके समक्ष साकार होकर आ जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? श्रीकृष्ण जिसे कुपित होकर मार डालें, वह भी परब्रह्मके साक्षात्कारका भाजन हो जाता है। फिर वही श्रीकृष्ण जिसे कृपापूर्वक ब्रह्मका उपदेश दें, उसे ब्रह्मका साक्षात्कार क्यों न प्राप्त होगा? जब हम कृष्णरूप होते हैं, तब हमारे अन्तःकरणमें कृष्ण ही विराजमान रहते हैं और उस अवस्थामें सिद्धि स्वतः हमारे संकल्पके आँगनमें आ धमकती है। परन्तु ऐसा अद्भुत प्रेम सिर्फ अर्जुनमें ही था और इसीलिये उसके मनोरथ भी सर्वदा सफल हुआ करते थे। यही कारण है कि श्रीअनन्त भगवान्‌ने पहलेसे ही यह जान लिया था कि अब अर्जुन ऐसा ही सवाल करेगा; और इसीलिये श्रीकृष्णने अर्जुनके लिये उत्तररूपी पक्वान्न पहलेसे ही परोस कर रखा था। बच्चा ज्यों ही स्तनकी तरफ लपकता है, त्यों ही माता समझ लेती है कि यह भूखा है। उस समय यह बात नहीं होती कि बच्चेको पहले मातासे दूध पिलानेके लिये कुछ कहना पड़े और तब वह उसे दूध पिलावे। माता बिना उसके कहे ही उसकी लालसा समझ लेती है और उसे पूरी भी कर देती है। अतएव यदि कृपालु गुरुमें अपने शिष्यके प्रति इतना अगाध प्रेम दिखायी पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। अच्छा, अब यह ध्यानपूर्वक सुनिये कि इसपर देवने क्या कहा। (४—१४)

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

सर्वेश्वरने कहा—"जो वस्तु इस छिद्रयुक्त शरीरमें रहनेपर भी उसमें-से कभी बाहर नहीं गिरती, इसके विपरीत जो वस्तु इतनी सूक्ष्म है कि हम उसे शून्य भी नहीं कह सकते और जो आकाशके आँचलमेंसे छानी गयी हो, पर इतनी विरल और सूक्ष्म होनेपर भी जो हिलोरनेपर भी प्रपंचकी इस झोलीमेंसे नीचे नहीं गिरती, वह परब्रह्म है। वह ब्रह्म-तत्त्व ऐसा है कि यदि आकार उत्पन्न भी हो जाय तो भी वह जन्मका विकार नहीं

जानता और आकारका नाश हो जानेपर भी उसका नाश नहीं होता। इस प्रकारका जो ब्रह्म-तत्त्व अपनी सहजावस्थामें सदा रहता है, हे सुभद्रापति! उसीको अध्यात्म कहते हैं। निर्मल गगनमें अनेक रंगोंवाले घनपटल उत्पन्न तो होते हैं, पर उनके विषयमें कोई यह नहीं जानता कि ये कैसे उत्पन्न होते हैं और कहाँसे आते हैं। इसी प्रकार उस अमूर्त और शुद्ध ब्रह्मसे प्रकृति और अहंकारादि कई तरहके भूत उत्पन्न होते हैं और उन्हींसे ब्रह्माण्डका सृजन शुरू होता है। **'एकोऽहं बहुस्याम्'** वाले संकल्पका बीज सर्वप्रथम निर्विकल्प ब्रह्मकी भूमिमें ही जमकर अंकुरित होता है और तब वह बहुत जल्दी ही ब्रह्माण्डके रूपमें चतुर्दिक् फैलकर भर जाता है यदि प्रत्येक ब्रह्माण्डके गोलकको ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वह उस आदि बीजसे ही भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है; परन्तु उनके मध्यमें उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाले जीवोंकी गणना भी नहीं की जा सकती। फिर उन ब्रह्माण्डोंके भिन्न-भिन्न अंश भी उसी आदि संकल्प (एकोऽहं बहुस्याम्)-का शीघ्रतासे जय करने लगते हैं, जिससे नाना प्रकारकी इस अनन्त सृष्टिकी वृद्धि होती है। किन्तु सृष्टिके इन समस्त पदार्थोंमें वह एक परब्रह्म ही भरा रहता है और यह अनेकत्व, यह भेद-भाव उसपर बाढ़के सदृश छाया रहता है। इसी प्रकार यह भी बात समझमें नहीं आती कि इस सृष्टिमें जो सम और विषम भाव दृष्टिगोचर होते हैं, वे कैसे उत्पन्न होते हैं। यदि यह कहा जाय कि इस चराचर जगत्की रचना व्यर्थ मनोरंजनके लिये ही हुई है, तो उसमें उत्पन्न होनेवाले जीवमात्रकी लक्षाधिक प्रजातियाँ दृष्टिगत होती हैं। यदि सामान्य रूपसे देखा जाय तो जीवोंके इन अंकुरोंकी न तो गिनती ही की जा सकती है और न ही उनके भेद-भावकी कोई सीमा ही स्थिर की जा सकती है। किन्तु यदि उनके मूलके विषयमें जानने का प्रयास किया जाय तो यही जान पड़ता है कि इन सबकी उत्पत्तिका मूल वही शून्य-ब्रह्म ही है। इस सृष्टिके मूल कर्ताका तो कहीं पता ही नहीं मिलता; साथ-ही-साथ इस सृष्टिका कहीं कोई कारण भी नहीं दिखायी पड़ता। परन्तु बीचमें ही यह सृष्टिरूपी

कार्य स्वतः तीव्र गतिसे आगे बढ़ने लगता है, इस प्रकार बिना किसी कर्ताके ही उस अमूर्त ब्रह्मपर यह जो इन्द्रियगम्य आकारकी छाप पड़ती है, उसीको कर्म कहते हैं। (१५—२१)

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

अब मैं संक्षेपमें अधिभूतके सम्बन्धमें बतलाता हूँ। जिस प्रकार अभ्र उत्पन्न होते और विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जो ऊपरसे तो देखनेमें आता है, पर सचमुच नश्वर है, जो पंचमहाभूतोंके अंशोंके परस्पर मिश्रणसे बना हुआ है, जो भूतमात्रका आश्रय ग्रहण करके और उन्हींमें मिश्रित होकर भासमान होता है, किन्तु जो नाम-रूप इत्यादिसे विशिष्ट भूत संयोगके बिगड़ते ही विनष्ट हो जाता है, उसीको अधिभूत कहते हैं। अधिदैवसे पुरुषका आशय समझना चाहिये। जिन-जिन वस्तुओंकी उत्पत्ति प्रकृतिके द्वारा होती है, यह पुरुष ही उन सबका उपभोग करता है। यह ही बुद्धिका द्रष्टा है, यह पुरुष ही इन्द्रियरूपी देशका राजा है और यही वह वृक्ष है जिसपर देहावसानके बाद संकल्प-विकल्परूपी पक्षी जाकर विश्राम करते हैं। यह अधिदैव नामका पुरुष वास्तवमें मूलवाला परमात्मा ही है, पर परमात्मासे कुछ भिन्न दिखायी पड़ता है; क्योंकि यह अहंकाररूपी निद्राके अधीन रहता है और इसीलिये स्वप्नसदृश मायाके बखेड़ेमें हर्ष-शोकादिका अनुभव करता है। जिसे लोग स्वभावतः जीव-नामसे पुकारते हैं, वह इसी पंचभूतात्मक देहरूपी पिण्डका अधिदैव है।

हे पाण्डुकुँवर! जो इस शरीररूपी ग्राममें शरीर-भावका लय करता है, वह मैं ही हूँ और मुझे ही इस शरीरमेंका अधियज्ञ जानना चाहिये। इसके अलावा जो अधिदैव और अधिभूत हैं, वे दोनों भी वास्तवमें मैं ही हूँ। परन्तु जब विशुद्ध स्वर्ण निकृष्ट स्वर्णमें मिल जाता है, तो क्या वह विशुद्ध स्वर्ण भी हलके स्तरका सोना नहीं हो जाता? पर फिर भी वह विशुद्ध स्वर्ण स्वयं कभी अपनी उत्तमता नहीं खोता और न ही उस निकृष्ट स्वर्णका अंश ही होता है। परन्तु जबतक वह हलके और निकृष्ट

स्वर्णके साथ मिला रहता है, तबतक उसे हलका और निकृष्ट स्वर्ण ही कहना उचित है। वैसे ही ये अधिभूत इत्यादि जिस समयतक अविद्याके पर्देसे ढके हुए हैं, उस समयतक उन्हें मूल ब्रह्मसे भिन्न ही मानना चाहिये। परन्तु जब अविद्याका पर्दा हट जाता है और भेद-बुद्धिकी ग्रन्थि टूट जाती है, तब ये अधिभूत इत्यादि समस्त दृश्य समाप्त होकर और परब्रह्मके साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं। उस समय उनमें आपसी भेद भला कैसे रह सकता है? केशोंके गाँठपर यदि स्वच्छ स्फटिक-शिला रख दी जाय तो आँखोंको वह स्फटिक-शिला विदीर्ण-सी दृष्टिगत होती है। किन्तु यदि उसके नीचेसे केशोंकी वह गाँठ अथवा लट हटा ली जाय तो फिर कौन कह सकता है कि उस स्फटिक-शिलाका वह विदीर्ण हुआ रूप कहाँ चला जाता है? क्या उस समय कोई उसके विदीर्ण अंशोंको फिरसे जोड़ देता है? वास्तवमें यह बात तो होती ही नहीं। उस समय भी वह स्फटिक-शिला पहलेकी ही तरह अखण्ड ही रहती है। वह तो केवल केशोंके गाँठके कारण ही विदीर्ण-सी प्रतीत होती है और इसीलिये उस गाँठके हटते ही वह फिर अखण्ड दृष्टिगत होती है। इसी प्रकार जब अधिभूत इत्यादिका अहंभाव समाप्त हो जाता है, तब परब्रह्मके साथ उसका वह मूलवाला ऐक्य पूर्वकी ही भाँति बना रहता है। जिसमें यह ऐक्य विद्यमान होता है, वही अधियज्ञ मैं हूँ।

हे पार्थ! अपने चित्तमें यही भाव रखकर मैंने पहले तुम्हें यह बतलाया है कि कर्मोंसे ही समस्त यज्ञ उत्पन्न होते हैं। सारे जीवोंके विश्रान्तिका यह निष्काम ब्रह्म-सुखका गुप्त भाण्डार मैंने आज तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया है। सर्वप्रथम वैराग्यरूपी ईंधन लगाकर इन्द्रियरूपी अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये और तब उसी प्रज्वलित अग्निमें शब्दादि विषयरूपी द्रव्योंका हवन करना चाहिये। फिर वज्रासनरूपी पृथ्वीका शोधन करके इस शरीररूपी मण्डपमें मूलबन्धकी मुद्रारूपी यज्ञवेदी बनानी चाहिये। इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त हो जानेपर इन्द्रिय-निग्रहरूपी अग्निकुण्डमें योगरूपी मन्त्रका घोष करते हुए यथोचित अनुपातमें इन्द्रियरूपी द्रव्योंको समर्पित करना चाहिये,

फिर मन और प्राणवायुके निग्रहको ही इस यज्ञ-विधानका शुभारम्भ मानकर निर्मल ज्ञानरूपी अग्निको सन्तुष्ट करना चाहिये। जिस समय इस प्रकार ज्ञानाग्निमें सर्वस्व समर्पित कर दिया जाता है, उस समय वह ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तुओंमें विलीन हो जाता है और तब केवल ज्ञेयवाले स्वरूपमें ही सर्वत्र अवशिष्ट रह जाता है। इस ज्ञेयको ही अधियज्ञ नामसे पुकारते हैं।" इस प्रकार सर्वज्ञ श्रीकृष्णने जो-जो बातें अर्जुनको बतलायीं, वे सब-की-सब बातें शीघ्र ही बुद्धिमान् अर्जुनके समझमें आ गयीं। यह जानकर देवने कहा—"हे पार्थ! तुम ठीक तरहसे मेरी बातें सुन रहे हो न?" श्रीकृष्णके इन शब्दोंको सुनकर अर्जुनने स्वयंको कृतकृत्य माना। बालककी सन्तुष्टि देखकर माता भी सन्तुष्ट होती है और शिष्यका समाधान देखकर गुरुका भी समाधान होता है; और इस चीजका ठीक-ठीक अनुभव उस माता अथवा उस गुरुको ही हो सकता है; किसी अन्यको नहीं। यही कारण है कि अर्जुनके शरीरमें सात्त्विक भावोंकी लहर उठनेसे पहले ही श्रीकृष्णके शरीरमें सात्त्विक भावोंकी इतनी प्रबल लहर उठी कि वह रोके नहीं रुकती थी। परन्तु फिर भी देवने जान-बूझकर उसका निग्रह किया और फिर उन्होंने पूर्णताको प्राप्त परिमलके सदृश अथवा अमृतकी शीतल तरंगोंकी तरह कोमल और सरस वचन कहना आरम्भ किया। भगवान्‌ने कहा—"हे श्रोता-शिरोमणि, तात धनंजय! सुनो। जिस समय एक बार माया इस प्रकार जलने लगती है, उस समय उसे जलानेवाला ज्ञान भी जलकर भस्म हो जाता है। (३०—५८)

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

जिसे लोग अधियज्ञके नामसे पुकारते हैं और जिसका निरूपण मैंने अभी तुमसे किया है, उस अधियज्ञके विषयमें जो लोग यह जानते हैं कि वह आदिसे अन्ततक मैं ही हूँ, वे अपने देहको उसी मठके सदृश समझते हैं जो आकाशको अपने अन्दर भी समेटे रहता है और स्वयं भी बाहरके उसी आकाशमें रहता है। बस, इसी प्रकार वे लोग ब्रह्मरूप

होकर बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र-सर्वदा ब्रह्मस्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। जिस समय वे ब्रह्मके अनुभवरूपी भीतरी घरमें दृढ़ निश्चय-कोठरीमें प्रवेश करते हैं, उस समय उन्हें ब्रह्मके अलावा बाहरकी और किसी चीजका थोड़ा सा भी स्मरण नहीं रहता। इस प्रकार जो लोग भीतर और बाहर एकरूप होकर मद्रूप हो जाते हैं, उनके लिये बाहरका पंचभूतात्मक शरीररूपी आवरण इस प्रकार ढह जाता है कि उन्हें भान भी नहीं होता। जिस समय यह देह खड़ा रहता है, जब उसी समय उन्हें उसकी कोई परवाह नहीं रहती, तब फिर यदि वह ढह भी जाय तो भला, उन्हें उसके ढहनेका क्या कष्ट हो सकता है? अब यदि उनका देह ढह भी जाय अथवा विनष्ट भी हो जाय, तो भी उनके ब्रह्मके अनुभवमें रत्तीभरकी भी कमी नहीं होती। उनकी वह अनुभूति मानो ऐक्यकी जीवन्त पुत्तलिका ही होती है। वह पुत्तलिका नित्यताके चौखटेमें बैठायी हुई होती है और समरसताके सागरमें प्रक्षालित कर वह इतनी स्वच्छ की हुई होती है कि फिर उसमें लेशमात्र भी कहीं मल अवशिष्ट नहीं रह जाता। यदि किसी जलाशयमें घटको डुबाया जाय तो वह अन्दर भी जलसे भरा रहता है और बाहर भी चतुर्दिक् जलसे घिरा रहता है। अब उस दशामें यदि वह घट दैवयोगसे टूट जाय तो क्या उसके साथ वह जल भी टूट जाता है? अथवा जब सर्प अपनी केंचुलीका परित्याग कर देता है अथवा गर्मीके कारण व्यक्ति अपने देहमें पहने हुए वस्त्रको उतार कर रख देता है, तब क्या कभी उस सर्प या व्यक्तिके अवयवोंमें भी किसी प्रकारका परिवर्तन होता है? ठीक इसी प्रकार यह नाम-रूपवाला शरीर भी विनष्ट हो जाता है, पर उसमें जो ब्रह्म-नामवाली सद्वस्तु उस शरीरादिके बिना ही स्व स्वरूपसे ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। फिर जो बुद्धि उस ब्रह्मस्वरूपके साथ समरस होकर स्वयं ब्रह्म ही बन जाती है, वह किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट और अव्यवस्थित हो सकती है? इसीलिये जो लोग इस प्रकार अन्तकालके समय अर्थात् देहावसानके समय मुझे जानते हुए देहका परित्याग करते हैं, वे मद्रूप ही हो जाते हैं। साधारणतः यही नियम है कि जब

मृत्यु आती है, तब व्यक्ति जिसका स्मरण करता है, वही वह हो जाता है। जैसे कोई भयग्रस्त होकर पवनकी गतिसे दौड़ने लगे और दौड़ता हुआ अकस्मात् कुएँमें गिर पड़े, उस समय उसके गिरनेसे पूर्व उसे गिरनेसे बचानेके लिये वहाँ कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती, और इसी कारण उस व्यक्तिके लिये, कुएँमें गिरनेके अलावा और कोई रास्ता ही शेष नहीं रह जाता, वैसे ही जिस समय मृत्यु आती है, उस समय जीवके समक्ष जो कल्पना आकर खड़ी होती है, उसी कल्पनाके रूपके साथ मिल जानेके अलावा उस जीवके लिये अन्य कोई उपाय ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें प्राणीको जिस चीजका सदा ध्यान बना रहता है, वही चीज आँख लगनेपर उसे स्वप्नावस्थामें भी दृष्टिगत होती है। (५९—७३)

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

इसी प्रकार जीवित अवस्थामें प्राणीके अन्तःकरणमें जो अभिलाषा शेष रह जाती है, मृत्युके समय उसी अधूरी लालसाके प्रति उस जीवका अनुराग अत्यधिक बढ़ जाता है। और यह नियम है कि मृत्युके समय जीवको जिसका स्मरण होता है, वह उसीकी गति (योनि)-को प्राप्त होता है। (७४)

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशय ॥ ७॥

इसीलिये तुम सदा मेरा ही स्मरण करो। तुम अपने नेत्रोंसे जो कुछ देखो, कर्णेन्द्रियोंसे जो कुछ श्रवण करो, मनमें जो भावना करो या वाणीसे जो कुछ बोलो, वह सब बाह्याभ्यन्तर मद्रूप होकर ही सब प्रकारके आचरण करो। बस, फिर सदा-सर्वत्र मैं ही सहजभावसे सिद्ध रहूँगा। हे अर्जुन! यदि तुमसे इस प्रकारका आचरण हो सके तो फिर चाहे शरीरका विनाश ही क्यों न हो जाय, पर फिर भी तुम्हें मृत्युका रंचमात्र भी भय न होगा। फिर भला केवल युद्ध करनेमें तुम्हें क्या भय हो सकता है? यदि तुम सचमुच अपना मन और बुद्धि मेरे आत्मस्वरूपमें समर्पित कर दोगे, तो मैं यह संकल्प करता हूँ कि तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त कर लोगे और

मद्रूप ही हो जाओगे। यदि तुम्हारे अन्तःकरणमें अभीतक यह आशंका बनी हुई हो कि यह किस प्रकार होगा, तो तुम पहलेसे ही इसका अभ्यास करके अनुभव कर लो और यदि फलकी प्राप्ति न हो तो तुम बड़ी खुशीसे मुझपर कोप कर सकते हो। (७५—८०)

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

इसी प्रकारके अभ्याससे यह कर्मयोग चित्तको निर्मल और सामर्थ्यवान् बनाता है। जैसे युक्तिके बलसे लँगड़ा भी पर्वतपर चढ़ जाता है, वैसे ही कर्मयोगके अभ्याससे तुम अपने चित्तको परम पुरुषके मार्गमें लगाओ, बस, फिर मन और शरीर चाहे रहें अथवा न रहें, उससे कुछ भी नुकसान नहीं होगा। जो चित्त व्यक्तिको नाना प्रकारकी गतियोंमें पहुँचाता है, वह यदि आत्मामें रत हो जाय तो फिर यह शरीर नष्ट हो गया अथवा बचा हुआ है, इस बातका ध्यान किसे रह सकता है? जो जल नदीके प्रवाहके साथ वेगसे बहता हुआ जाकर सिन्धुमें समा जाता है, क्या वह कभी मुड़कर देखता है कि पीछे क्या हो रहा है? कभी नहीं। वह तो सिन्धुके साथ एकाकार होकर उसीमें रह जाता है। इसी प्रकार चित्त भी चैतन्य होकर परब्रह्ममें ही लीन हो जाता है, जिसमें जन्म-मरणके समस्त बखेड़ोंका अवसान हो जाता है, जो परमानन्दस्वरूप है; (८१—८५)

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

—जो आकारहीन होता है, जिसमें जन्म और मृत्युका नामोनिशान-तक नहीं होता, जो सब कुछ देखनेवाला है,जो आकाशसे भी पुरातन है, जो परमाणुओंसे भी अति सूक्ष्म है, जिसके सान्निध्यसे विश्वको चैतन्यता मिलती है, जो समस्त जगत्‌को उत्पन्न करता है, जिसके कारण यह समस्त विश्व जीवन्त है, जिसके समक्ष कार्य-कारणवाला सम्बन्ध टिक नहीं सकता, जो कल्पनातीत है, जो दिनमें चर्मचक्षुओं (स्थूल दृष्टि)-के लिये वैसे ही अन्धकारके सदृश अगोचर रहता है, जैसे दीपक अग्निके अन्दर

पहुँच नहीं सकता अथवा जैसे तेजमें अन्धकार प्रविष्ट नहीं हो सकता, जो पूर्णरूपसे निर्मल किये हुए सूर्य-रश्मियोंका पुंज है, जो ज्ञानिजनोंके लिये नित्य उदित होनेवाले सूर्यके सदृश है और जिसके लिये लक्षणसे भी अस्तमान शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता, (८६—९०)

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

उस परिपूर्ण ब्रह्मको जो मृत्युके समय शान्तचित्तसे ज्ञानपूर्वक स्मरण करता है, जो इस बाह्यशरीरसे पद्मासन लगाकर उत्तराभिमुख बैठता है, जो कर्मयोगका शाश्वत सुख पूरी तरहसे स्वयंमें भरकर भीतर-ही-भीतर एकत्रित मनकी शक्तिसे और ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिके प्रेमसे अतिशीघ्र आत्मस्वरूप पानेके लिये सिद्ध किये हुए योगके सहयोगसे, सुषुम्नाके बीच-वाले मार्गसे, जब अग्निचक्रसे ब्रह्मरन्ध्रकी ओर जाने लगता है और जब प्राणवायु महदाकाशमें संचरण करने लगता है, तब शरीरादिका और चित्तका संयोग जिसे अत्यन्त तुच्छ और ऊपरी दृष्टिगत होता है,पर जो मनकी शान्तिसे सँभला रहता है, भक्तिकी भावनासे परिपूर्ण रहता है और योगबलसे भलीभाँति सिद्ध हुआ रहता है, वही जड़ (अचेतन) और अजड़का (चेतन) लय करता है और भौंहोंके बीचमें घूमता रहता है। जैसे घण्टा-नादका लय घण्टेमें ही हो जाता है अथवा जैसे घटके नीचे दबाकर रखे हुए दीपकके विषयमें किसीको यह मालूम ही नहीं पड़ता कि वह कब बुझ गया, वैसे ही हे पाण्डव! जो इस प्रकारकी शान्त अवस्थामें यह देह त्याग देता है, वही पूर्ण परब्रह्म होता है। परम पुरुष नामका जो मेरा स्वयंसिद्ध तेजस्वरूप है, ठीक वही स्वरूप होकर वह रहता है। (९१—९९)

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

जो सर्वोत्तम ज्ञान सब प्रकारके ज्ञानोंका अन्त और चरम सीमा है, उसी सर्वोत्तम ज्ञानकी खान ज्ञानिजनोंकी बुद्धिने जिसे 'अक्षर' नामसे पुकारा है और जो प्रचण्ड वायु-वेगसे भी कभी उड़ नहीं सकता, वही वास्तविक

आकाश है। यदि वास्तविकता यह न हो और वह केवल मेघ ही हो, तो भला वह पवन-वेगके समक्ष कैसे टिक सकता है? इसीलिये ज्ञानिजन कहते हैं कि जिसका ज्ञान सिर्फ ज्ञानी लोगोंको ही होता है और जिसकी नाप सिर्फ ज्ञानसे ही होती है, परन्तु फिर भी जो स्वभावत: अक्षर है, वह कभी जाना ही नहीं जा सकता। इसीलिये वेदविद् पुरुष जिसे अक्षर कहते हैं और जो प्रकृतिसे भी परे है,जो परमात्मरूप है और जो विषयोंमेंका विष निकालकर सब इन्द्रियोंको निर्मल करके तटस्थ वृत्तिसे देहरूपी वृक्षकी छायामें बैठा हुआ है, वह विरक्त पुरुष भी जिसकी सदा बाट जोहता रहता है और निष्काम पुरुषोंको भी जिसकी इच्छा होती है, जिसके प्रति होनेवाले अनुरागके कारण कुछ लोग ब्रह्मचर्यादि व्रतके संकटोंकी भी चिन्ता न करके निर्ममतापूर्वक अपनी इन्द्रियोंको दुर्बल कर डालते हैं, वह दुर्लभ, अचिन्त्य और अनन्त पद, जिसके तटपर ही वेद डूबते रहते हैं, वही पुरुष प्राप्त करते हैं जो उपर्युक्त प्रकारसे अन्त समयमें मुझे स्मरण करते हैं। अब, हे पार्थ! मैं फिर एक बार तुम्हें इस स्थितिके विषयमें बतलाता हूँ।'' तब अर्जुनने कहा—''हे स्वामी! मैं तो स्वयं ही आपसे यही प्रार्थना करनेवाला ही था, पर इसी बीचमें आपने स्वयं ही यह बात मुझे फिरसे बतलानेकी कृपा की है। अत: हे देव! आप अब वह बात मुझे बतलावें। किन्तु आप जो कुछ मुझे बतलावें, वह अत्यन्त ही सरल और सुगम होना चाहिये।'' उस समय त्रिभुवनके दीपक श्रीकृष्णने कहा—''अर्जुन, क्या तुम मुझे नहीं पहचानते? मैं संक्षेपमें ही इन सब बातोंको तुम्हें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। परन्तु तुम्हें सिर्फ इस बातकी चेष्टा करनी चाहिये कि मनकी जो बाहरकी ओर दौड़नेकी आदत है, वह छूट जाय और वह अनवरत हृदयरूपी दहमें ही डूबा रहे। बस, फिर सारी बातें स्वत: तुम्हारी समझमें आ जायँगी। (१००—१११)

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥

परन्तु यह बात तभी होगी, जब इन्द्रियरूपी दरवाजोंको संयम ठीक तरह

बन्द कर देगा। उस स्थितिमें मन सहजमें ही भीतर-ही-भीतर दबकर जम जायगा और वह दबाया हुआ मन हृदयमें ही स्थित रहेगा। जैसे लूला-लँगड़ा व्यक्ति अपना घर छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाता, ठीक वैसे ही हे पाण्डव! जब चित भी भलीभाँति अन्दर बन्द हो जाय, तब व्यक्तिको प्राणवायुके द्वारा प्रणव (ओंकार)-ध्यान करना चाहिये और तब क्रमशः उस प्राणवायुको ब्रह्मरन्ध्रतक ले आना चाहिये। जिस समय प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें ले आते हैं, उस समय धारणाकी शक्तिसे उसे वहाँ इस प्रकार स्थिर रखनेकी जरूरत होती है कि वह वहाँ इस तरहसे रहे कि ब्रह्माकाशमें मिलता हुआ-सा हो। इसके बाद ओंकारकी तीन मात्राओं (अ,उ,म)-का जबतक अर्धमात्रामें विलय न हो जाय, तबतक प्राणवायुको चिदाकाशमें स्थिर करना चाहिये, इससे ऐक्य प्राप्त होते ही वह ओंकार मूल ब्रह्ममें भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है अर्थात् वह प्राण मूर्धि-आकाशमें विलीन होता है। (११२—११६)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

इससे ओंकारका स्मरण भी बन्द हो जाता है और प्राणवायुका विलय भी हो जाता है। तत्पश्चात् ओंकारसे भी परे रहनेवाला एकमात्र शुद्ध ब्रह्मानन्द-स्वरूप ही शेष रहता है। अतएव प्रणव ही जिसका नाम है तथा जो एकाक्षर ब्रह्म है, वह मेरा मुख्य स्वरूप है। जो मेरे इस शुद्ध स्वरूपका स्मरण करता हुआ शरीरका परित्याग करता है, वह निःसन्देह मेरा ही शुद्ध शरीर प्राप्त करता है; और जिस समय वह स्वरूप मिल जाता है, उस समय इससे आगे कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। हे अर्जुन! यदि तुम्हारे चित्तमें यह आशंका उठ खड़ी हो कि यह कैसे जाना जाय कि देहावसानकालमें वह स्मरण होगा ही, जिस समय सारी इन्द्रियाँ सुस्त हो गयी हों; जीवनका समस्त सुख और समाधान चला गया हो, इस प्रकारके साफ-साफ लक्षण दीखने लग गये हों कि बाह्याभ्यन्तर दोनों ओर मृत्युने अपना शिकंजा कस लिया है ? उस समय आसन लगाकर कौन बैठ सकता है और इन्द्रियनिग्रह कौन कर सकता है तथा व्यक्ति किसके अन्तःकरणसे ओंकारका स्मरण करे ? ये सब बातें तो सम्भव ही नहीं हैं।" तो तुम्हें इस

चीजका खयाल रखना चाहिये कि जो नित्य अखण्डरूपसे मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनके अन्तिम समय मैं स्वयं ही सेवकोंकी भाँति उनकी सेवामें जुट जाता हूँ। (११७—१२३)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

जो विषयोंको तिलांजलि दे करके प्रवृत्तिके पाँवोंमें बेड़ियाँ डालकर सदा मुझे ही अपने हृदय-प्रान्तमें रखते हैं तथा मेरे स्वरूपका अनुभव करते हैं और इस सुखके भोगनेकी दशामें जिन्हें भूख और प्यास कभी नहीं सताती, फिर नेत्र हिलानेके सदृश मामूली बातोंको तो पूछना ही क्या है, और इस प्रकार जो अनवरत एकाग्रचित्त होकर मेरे स्वरूपमें मिले रहते हैं और मेरी भक्ति करते हैं तथा अन्तःकरणसे मेरे साथ संलग्न होकर मद्रूप ही हुए रहते हैं, उन लोगोंके विषयमें भी यदि यही बात हो कि देहावसानके समय जब ये मेरा स्मरण करें, केवल तभी वे मुझे मिल सकें, तो फिर उपासनाका महत्त्व ही क्या? यदि कोई दीन-हीन मनुष्य संकटापन्न होकर निर्मल हृदयसे मुझे पुकारे और कहे कि हे नारायण! शीघ्र पधारकर मेरी सहायता करो तो क्या उसकी यह पुकार सुनकर और उसके दुःखसे कातर होकर मैं उसकी मदद करनेके लिये नहीं दौड़ पड़ता? अब यदि मैं अपने एकनिष्ठ भक्तोंकी भी ऐसी ही दशा होने दूँ और अवसानकालमें तभी उनके निकट पहुँचूँ, जब वे मेरा स्मरण करें, तो फिर भक्ति करनेकी लालसा किसे रह जायगी? इसीलिये मैं यह कहता हूँ कि ऐसी शंकाको तुम पलभरके लिये भी अपने चित्तमें मत आने दो। वे भक्त जिस समय मुझे याद करेंगे। उसी समय मुझे तीव्र गतिसे उनके सन्निकट पहुँचना ही पड़ेगा। उस अनन्योपासनाका बोझ यों ही मुझसे सहन नहीं हो सकता। मेरे ऊपर उन लोगोंकी उस भक्तिका कर्ज रहता है और वही कर्ज चुकानेके लिये भक्तोंके अवसानकालमें उनकी शुश्रूषाके

लिये मुझे बहुत ही तत्परताके साथ उद्यत होना पड़ता है। मुझे सदा यह डर बना रहता है कि मेरे उन सुकुमार भक्तोंको देहकी कृशताके कारण कहीं किसी प्रकारका क्लेश न हो; यही कारण है कि मैं उन लोगोंको आत्मज्ञानरूपी पिंजरेमें सुरक्षित रूपसे रखता हूँ तथा उनपर आत्म-स्मरणकी शान्त और शीतल छाया रखता हूँ। इस प्रकार मैं उनकी बुद्धि सदा अचल और शान्त कर देता हूँ, इसीलिये मेरे भक्तोंको शरीरका परित्याग करते समय लेशमात्र भी किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं होती। मैं सहजमें ही अपने उन परम प्रिय भक्तोंको अपने स्वरूपकी ओर ले आता हूँ। उनके ऊपर लगे हुए शरीररूपी कवचको मैं उनसे अलग कर देता हूँ, उनके ऊपर लगे मिथ्या अहंकारकी धूलको साफ कर देता हूँ और उनकी शुद्ध वासनाको निर्लिप्त रखकर उन्हें अपने स्वरूपके संग मिला लेता हूँ। इसके अलावा भक्तोंको भी एकत्वके कारण अपने देहके लिये विशेष ममता नहीं होती और इसलिये अपने देहका परित्याग करते समय उन्हें भी उसके वियोगका दुःख नहीं होता। इसी प्रकार उन भक्तोंके अन्तःकरणमें यह भावना भी नहीं उमड़ती कि शरीरके नष्ट होते ही मैं उनके सन्निकट पहुँच जाऊँ और उन्हें आत्मस्वरूपमें ले आऊँ; क्योंकि शरीरधारी रहनेकी स्थितिमें ही वे मेरे स्वरूपमें घुले-मिले रहते हैं। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो इस संसारमें उनका जो अस्तित्व होता है, वह देहरूपी जलमें एकमात्र छायाकी ही भाँति होता है। जलमें चन्द्रमाकी प्रतिच्छाया पड़ती है; पर जिस समय वह जल सूख जाता है, उस समय वह प्रतिच्छाया वास्तवमें स्वतः चन्द्रमामें ही समा जाती है। ठीक इसी प्रकार जिस समय इस देहरूपी जलका अन्त हो जाता है, उस समय वे लोग वास्तवमें आत्मस्वरूपमें ही रहते हैं। इस संसारमें उनकी जो सत्ता (अस्तित्व) होती है, वह यथार्थ नहीं होती, अपितु सिर्फ प्रतिच्छायाकी ही भाँति होती है और उनका यथार्थस्वरूप ब्रह्मस्वरूप ही होता है।

इस प्रकार जो मद्रूप हुए रहते हैं, उन्हें मैं नित्य बिना प्रयासके ही प्राप्त होता हूँ और इसीलिये शरीरके अन्त होनेके समय निःसन्देह वे मेरा

स्वरूप प्राप्त करते हैं। फिर जो देह दुःखरूपी वृक्षोंका बागीचा है, जो तीनों तापों (आध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक)-की केवल अँगीठी ही है, जो मृत्युरूपी कौवेके सामने रखी हुई केवल बलि है, जो दीनताका उत्पत्ति-स्थान है, जो मृत्युके भयको बढ़ानेवाला और समस्त दुःखोंका भाण्डार है, जो दुर्गतिकी जड़ है और भ्रान्तिकी साक्षात् प्रतिमा है, जो संसारका मूलाधार है, जो विकारोंका उद्यान है तथा सब प्रकारके रोगोंकी परोसी हुई थाली है, जो कालकी जूठी खिचड़ी, आशाका आश्रय-स्थान है, जो स्वभावतः जन्म-मरणके आवागमनका रास्ता है, जो भ्रमसे पूर्ण, विकल्पसे निर्मित और दुःखरूपी बिच्छुओंसे परिपूर्ण है, जो बाघकी गुफा, वारांगनाओंके साथ रहनेवाला और विषयभोगका सर्वमान्य साधन है, जो यक्षिणीके प्रेमकी तरह है अथवा शीतल किये हुए विषके घूँटके सदृश अथवा ठगके दिखावटी विश्वसनीय सद्व्यवहारके तुल्य है, जो कुष्ठ रोगियोंका आलिंगन, कालसर्पकी मृदुता और बहेलियेका स्वाभाविक गान है, जो वैरियोंके द्वारा किया हुआ आतिथ्य है, दुर्जनोंके द्वारा प्रदर्शित मान-सम्मान है, किंबहुना, जो समस्त अनर्थोंका सागर है, जो निद्रामें देखे हुए स्वप्नके समान है अथवा मृगजलसे सिंचित वन या धूम्रकणसे निर्मित आकाश है, वह शरीर वे लोग फिर कभी प्राप्त नहीं करते, जो एक बार मेरे अपार ब्रह्मस्वरूपमें पहुँचकर तद्रूप हो जाते हैं। (१२४—१५१)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

सामान्यतया जिन लोगोंको ब्रह्मपद प्राप्त हो गया वे भी अपने जीवन और मृत्युके चक्रसे बच नहीं सकते। जैसे मृत व्यक्तिके पेटमें पीड़ा नहीं होती अथवा जैसे जागनेपर कोई स्वप्नदृष्ट बाढ़में नहीं डूब सकता, वैसे ही जो लोग मेरे स्वरूपमें आ पहुँचते हैं वे संसारमें कभी लिप्त नहीं होते। व्यावहारिक दृष्टिसे देखनेपर जो ब्रह्मभुवन इस नाम-रूपात्मक संसारका मस्तक है, जो चिरस्थायी गुणोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ है और लोकरूपी पर्वतका सर्वोच्च शिखर है, जिस ब्रह्म-भुवनका एक पहर दिन चढ़नेतक

एक इन्द्रकी आयुष्य भी नहीं टिकती और जिसका एक दिन पूरा होनेमें चौदह इन्द्रोंकी पंक्ति क्रमशः उदित होकर अन्तमें अस्त हो जाती है, (१५२—१५५)

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

चतुर्युगोंकी सहस्र चौकड़ियाँ व्यतीत होनेपर जिस ब्रह्म-भुवनका एक दिन होता है और इसी प्रकारकी और भी एक सहस्र चौकड़ियाँ व्यतीत होनेपर जिसकी एक रात होती है और जहाँकि दिन-रातका मान इस प्रकारका है, उस ब्रह्मभुवनमें पदार्पण करनेवाले सौभाग्यशाली व्यक्ति कभी भी मृत्युका वरण नहीं करते और वे स्वर्गमें चिरंजीवी होकर सब कुछ देखते रहते हैं। वहाँ साधारण देवताओंके विषयमें भला क्या कहा जाय! और-तो-और सारे देवताओंके स्वामी जो इन्द्र हैं, स्वयं उनकी वहाँ क्या दशा होती है। चौदह-चौदह इन्द्र एक ही दिनमें आते और चले जाते हैं। परन्तु ब्रह्माके आठों पहरोंवाले दिनको जो स्वयं अपने नेत्रोंसे देखते हैं, वे ही 'अहोरात्रविद्' कहलाते हैं। (१५६—१५९)

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

उस ब्रह्मभुवनमें जिस समय दिन निकलता है, उस समय ऐसे निराकार ब्रह्मका, जिसकी गिनती भी नहीं की जा सकती, यह नाम-रूपवाला व्यक्त विश्व बनता है। जिस समय उस ब्रह्मभुवनके दिनके चारों प्रहर निकल जाते हैं, उस समय इस नाम-रूपवाले विश्वका पूर्णतया विनाश होने लगता है; फिर जिस समय उस ब्रह्मभुवनका ऊषाकाल होता है, उस समय इस विश्वका पुनर्निर्माण होने लगता है। जैसे शरद्-ऋतुके आते ही समस्त मेघ आकाशमें ही अदृश्य हो जाते हैं, और फिर ग्रीष्म-ऋतुके समाप्त होते ही जैसे वे फिर उसी आकाशमें उत्पन्न होकर दृष्टिगोचर होने लगते

हैं, वैसे ही ब्रह्माके दिनके आरम्भमें इस भूत-सृष्टिका उदय होता है और जबतक उस दिवसकी हजार युग चौकड़ियोंकी गिनती पूरी नहीं हो जाती, तबतक इस सृष्टि-समुदायकी सत्ता बनी रहती है। फिर जब ब्रह्माकी रात्रिका समय आता है, तब इस व्यक्त विश्वका उस अव्यक्त ब्रह्ममें विलय हो जाता है। ब्रह्माका यह रात्रिकाल भी हजार युग चौकड़ियोंका ही है। जिस समय उस रात्रिकालका अवसान हो जाता है, उस समय फिर पूर्वकी भाँति नाम-रूपवाले जगत्की सृष्टि होने लगती है परन्तु इन सब बातोंके कहनेका आशय क्या है? इसका आशय यही है कि इस ब्रह्मभुवनके एक दिवसमें जगत्का उदय और एक ही रात्रिमें जगत्का प्रलय होता है। हे धनुर्धर! इस ब्रह्मभुवनका विस्तार इतना व्यापक है कि उसमें सम्पूर्ण सृष्टिका बीज सन्निहित है, परन्तु इस ब्रह्मभुवनको भी अन्तमें जन्म और मृत्युके चंगुलमें पड़ना ही पड़ता है। हे पार्थ! वास्तविकता तो यह है कि उस ब्रह्माके नगरका यह विश्वरूपी हाट दिवस होते ही लग जाता है और जब रात्रिका समय आता है, तब यह हाट अपने आप उठ जाता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अपने आदि बीजमें ही जाकर समा जाता है और उसीके साथ मिलकर एक रूप हो जाता है। जैसे वृक्षका भी विलय अन्ततः बीजमें ही होता है अथवा जैसे गगनमें मेघका अवसान होता है, ठीक वैसे ही अनेकत्वका भेद-भाव जिस स्थितिमें एक रूप होकर समा जाता है, उसी स्थितिको 'साम्य' कहते हैं। (१६०—१६९)

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

इस साम्यमें न तो किसीकी न्यूनता रहती है और न ही अधिकता। यही कारण है कि उसमें भूत शब्दके लिये भी कोई जगह नहीं रहती। जैसे दहीका रूप प्राप्त कर लेनेपर दूधका नाम एवं रूप समाप्त हो जाता है, वैसे ही जिस समय जगत्के रूपका उस साम्यमें विलय हो जाता है, उस समय संसारकी संसारताका भी लोप हो जाता है। पर फिर भी जिस बीजसे उस साकारकी उत्पत्ति हुई थी, उस बीजमें साम्य स्थितिमें वह ज्यों-का-त्यों बना

रहता है। उस समय स्वभावतः उसे अव्यक्त कहते हैं और उससे जिस आकारका निर्माण होता है, उसीको 'व्यक्त' नामसे पुकारते हैं। अव्यक्त और व्यक्त—ये दोनों नाम केवल समझनेके लिये बतलाये जाते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वे दोनों कोई भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं। स्वर्णको जिस समय गलाकर ढाल दिया जाता है, उस समय उसको पासा कहते हैं। किन्तु जब उस स्वर्णका अलंकार बन जाता है, तब उस पासेका वह अनगढ़रूप विनष्ट हो जाता है। परन्तु जैसे ये दोनों ही विकार उसी साक्षीभूत और एक स्वरूप स्वर्णके ही होते हैं,वैसे ही व्यक्त और अव्यक्त—ये दोनों ही विकार उस एक परब्रह्ममें ही होते हैं। किन्तु वह परब्रह्म इन दोनों ही विकारोंसे परे और अनादि-सिद्ध है, अर्थात् न तो वह व्यक्त है और न ही अव्यक्त; न तो वह नित्य है और न ही अनित्य। वह स्वयं ही समस्त विश्व हो जाता है; परन्तु विश्वका अन्त हो जानेपर भी उसका अन्त नहीं होता। जैसे लिखित अक्षर यदि मिटा दिये जायँ तो भी उनके अर्थको मिटाया नहीं जा सकता अथवा जैसे तरंगोंके उत्पन्न होने और विलीन होनेपर भी जलके स्वरूपकी अखण्डता बनी रहती है, वैसे ही भूतमात्रके विनष्ट हो जानेपर भी जो अविनाशी रहता है अथवा उस अलंकारमें जिसका स्वरूप गलाकर नष्ट किया जा सकता है, वह स्वर्ण रहता है जिसका स्वरूप गलानेपर भी नष्ट नहीं होता और किसी-न-किसी रूपमें बना रहता है, वैसे ही जीवरूपी साकार वस्तुके नष्ट हो जानेपर भी जो सदा अमर ही रहता है, (१७०—१७८)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

—जिसे समझनेके लिये यदि चाहें तो कौतुकसे अव्यक्त कह सकते हैं परन्तु जिसके विषयमें यह विशेषण उपयुक्त नहीं जान पड़ता, कारण कि वह मन अथवा बुद्धिके हाथमें ही नहीं आता तथा आकार धारण

करनेपर भी उसकी निराकारताका नाश नहीं होता और आकारका नाश हो जानेपर भी जिसकी नित्यता भंग नहीं होती और इसीलिये जिसे अक्षर कहते हैं और इसी नामसे जिसके अविनाशी होनेका बोध होता है तथा उसके आगे और कोई मार्ग ही न होनेके कारण जिसे परम गति कहते हैं, परन्तु जो इन शरीररूपी नगरोंमें सोया हुआ-सा रहता है, वही अव्यक्त ब्रह्म है। क्योंकि वह न तो कोई व्यापार कराता ही है और न ही करता है, पर फिर भी हे सुभट (हे अर्जुन)! देहके जितने व्यापार हैं, उनमें एक भी व्यापार बन्द नहीं होता तथा दसों इन्द्रियोंके मार्ग समान रूपसे चलते रहते हैं। मनके चतुष्पथपर विषयोंका हाट खुलता है और उसके सुखों और दु:खोंका उत्तम हिस्सा अन्दर स्थित जीवको भी प्राप्त होता है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार राजाके सुखपूर्वक सोये रहनेपर भी देशके व्यापार बन्द नहीं होते और प्रजाजन अपनी-अपनी इच्छासे समस्त व्यापार करते ही रहते हैं, इसी प्रकार बुद्धिका जानना, मनका आदान-प्रदान, इन्द्रियोंके कर्म, वायुका चलन इत्यादि देहके सारे व्यापार उसके न करनेपर भी भलीभाँति चलते रहते हैं। जैसे सूर्यके न चलानेपर भी सारे लोक स्वत: चलते रहते हैं; हे अर्जुन! वैसे ही इस देहमें सोये हुएकी भाँति रहनेपर भी जिसे लोग पुरुष कहते हैं और पतिपरायणा प्रकृतिके साथ एक पत्नी-व्रती होनेके कारण भी जिसे पुरुष कहा जा सकता है और इतनी व्यापक बुद्धि रखनेवाले वेद भी जिसका घरतक नहीं देख सकते, फिर आँगन देखनेकी बात तो कोसों दूर है और जिसकी व्यापकता सम्पूर्ण गगन-मण्डलको भी आच्छादित कर लेती है, ऐसा जानकर योगीश्वर लोग जिसे परात्पर कहते हैं, जो एकनिष्ठ भक्तोंका घर खोजता हुआ स्वयं आ पहुँचता है, जो शरीर, वाणी अथवा मनसे भी दूसरी बातकी ओर ध्यान ही नहीं देता, ऐसे एकनिष्ठ भक्तोंको जो अनवरत फसल देनेवाला उपजाऊ सुक्षेत्र है, हे पाण्डव! जिसके चित्तमें यह विश्वास हो चुका है कि यह सम्पूर्ण त्रिलोकी केवल ब्रह्म ही है, उस श्रद्धालु भक्तका जो विश्राम-स्थल है, जो निरहंकारियोंको महत्ता प्रदान करता है, जो निर्गुणियोंको ज्ञान देता है,

जो स्पृहारहित मनुष्योंको सुखका राज्य देता है, जो सन्तुष्टोंको अन्नसे भरा हुआ थाल देता है, जो संसारकी चिन्ता न करनेवाले अनाथोंको माताकी भाँति रक्षा करता है और जिसके घरतक पहुँचनेका सरल मार्ग एकमात्र भक्ति ही है, वही वह अव्यक्त और अक्षर ब्रह्म है।

हे धनंजय! इस प्रकारके वर्णन करके मैं क्यों व्यर्थ विस्तार करूँ। कहनेका आशय यह है कि जिस जगहपर पहुँचते ही जीव तद्रूप हो जाता है, जैसे ठण्डकके कारण उष्ण जल भी एकदम शीतल हो जाता है अथवा सूर्यके समक्ष पड़ते ही जैसे अँधेरा भी प्रकाशमें परिवर्तित हो जाता है, वैसे ही जिस जगहपर पहुँचते ही संसारका एकदम मोक्ष ही हो जाता है अथवा जैसे अग्निमें पड़नेवाला ईंधन भी अग्निस्वरूप ही हो जाता है, फिर चाहे कितनी ही तलाश क्यों न की जाय, पर फिर भी उसका ईंधनपन कहीं नहीं मिलता अथवा हे पाण्डव! एक बार इक्षुरससे शक्कर बन जानेपर चाहे कितना ही बुद्धिमान् व्यक्ति क्यों न हो, किन्तु फिर उस शक्करसे इक्षुका निर्माण नहीं कर सकता अथवा पारसके स्पर्शसे एक बार लोहेसे सोना बन जानेपर फिर करोड़ों उपाय करनेपर भी उस लोहेका वह लोहापन वापस नहीं आ सकता जो पहले विनष्ट हो चुका होता है अथवा एक बार दूधसे घी बन जानेपर फिर उससे कभी दूध नहीं बनाया जा सकता, वैसे ही जिस स्थानपर पहुँचकर मिल जानेपर फिर पुनर्जन्म नहीं होता, वही वास्तवमें मेरा सबसे श्रेष्ठ धाम है। अपने अन्तःकरणका यह गूढ़ भाव मैं तुम्हें खोलकर और स्पष्ट करके दिखला रहा हूँ। (१७९-२०३)

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

शरीर परित्याग करते समय योगी व्यक्ति मेरे जिस स्वरूपमें मिल जाते हैं, वह स्वरूप और भी एक प्रकारसे सरलतासे जाना जा सकता है। यदि कभी अचानक शरीरका परित्याग हो जाय अथवा असमयमें शरीर-त्याग हो जाय, तो फिर शरीर धारण करना अत्यावश्यक होता है, परन्तु

यदि शास्त्रोक्त शुद्ध समयमें वह शरीर छोड़ दे, तो शरीर छोड़ते ही वह ब्रह्मरूप हो जाता है। पर यदि असमयमें शरीरका त्याग हो तो उसे पुनः जन्म और मृत्युके चक्करमें पड़ना पड़ता है। इसलिये सायुज्य (परब्रह्मके साथ एकरूप होना) और पुनर्जन्म—ये दोनों ही बातें देह-त्यागके समयपर ही निर्भर करती हैं। इसीलिये इस सन्दर्भमें मैं तुम्हें देह-त्यागके समयका तत्त्व बतला देना चाहता हूँ। हे सुभट! सुनो। जिस समय मृत्युरूपी तन्द्रा आती है, उस समय पंचमहाभूत अपने-अपने मार्गसे निकलकर चल देते हैं। अतः जब प्रयाणकाल आवे, तब बुद्धि भ्रान्त न हो, स्मरण अन्धा न हो जाय और देहके साथ-ही-साथ मन भी नष्ट न हो जाय, ब्रह्मस्वरूपके अनुभवका कवच मिल जाय तथा सम्पूर्ण प्राणसमुदाय मृत्युके समय प्रफुल्लित दिखायी दे और इसी प्रकार अन्तरिन्द्रियोंका समूह भी ठीक अवस्थामें रहे और पूरा पूरा काम दे तथा प्राणोंके प्रयाणके समयतक ज्यों-का-त्यों बना रहे, इन सब बातोंके लिये यह परमावश्यक है कि शरीरके भीतरकी अग्नि (उष्णता) अन्ततक बनी रहे। देखो, यदि वायुके वेगसे अथवा पानीके थपेड़से दीपककी ज्योति बुझ जाय और उसकी दीपकता नष्ट हो जाय तो फिर यदि अपनी दृष्टि अच्छी भी हो तो भी भला उसे क्या दिखलायी पड़ सकता है? इसी प्रकार शरीर-त्यागके समयके वायु-प्रकोपसे जब शरीरके भीतर और बाहर कफ-ही-कफ हो जाता है, जब शरीरके अन्दरकी अग्नि बुझ जाती है, उस समय स्वयं प्राणोंमें भी प्राण नहीं रह जाते, फिर बुद्धिकी तो बात ही क्या है? शरीरके भीतरकी अग्निके बिना शरीरमें जीवन-तत्त्व रह ही नहीं सकता। जब इस शरीरकी अग्नि ही चली गयी, तब यह शरीर ही क्यों और कैसे रह सकता है? उस दशामें तो इसे मिट्टीका लोंधा ही जानना चाहिये। ऐसी दशामें आयुष्यका काल अँधेरेमें पड़कर व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है और यह ज्ञात ही नहीं होता कि कब इस देहका अन्त होगा। अब ऐसी दशामें जब व्यक्ति अपने मनमें यह सोचता है कि मैं अपनी पुरानी स्मृति जाग्रत् रखूँ और शरीर त्यागकर आत्मस्वरूपमें मिल जाऊँ, त्यों ही कफ आदिके कारण मिट्टीका लोंधा

बनी हुई इस देहकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है और अगली-पिछली सारी यादें चली जाती हैं। इसीलिये जैसे खजाना दृष्टिगत होनेसे पूर्व ही हाथका दीपक बुझ जाय, वैसे ही पूर्वकृत योगाभ्यास मृत्यु आनेसे पूर्व ही नष्ट हो जाता है। कहनेका आशय यह है कि ज्ञानका मूलाधार शरीरके अन्दरकी अग्नि या उष्णता ही है और मृत्युके समय इस शरीरमें स्थित अग्निके भरपूर बलकी जरूरत होती है। (२०४—२१९)

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

उस समय शरीरके भीतर तो अग्निकी ज्योतिका प्रकाश रहना चाहिये तथा बाहर शुक्लपक्ष, दिन और उत्तरायणके छः महीनोंमेंसे कोई महीना होना चाहिये; और इस प्रकार समस्त सुयोग मिलने चाहिये। ऐसे सुयोगमें जो ब्रह्मविद् शरीरका परित्याग करते हैं, वे ब्रह्मस्वरूपमें मिल जाते हैं। हे धनुर्धर! याद रखो, इस योगकी इतनी अधिक महत्ता है और यही मोक्षतक पहुँचनेका सुगम मार्ग है। इस मार्गका प्रथम सोपान शरीरके अन्दर स्थित अग्नि, द्वितीय सोपान उस अग्निकी ज्योति, तृतीय सोपान दिनका समय, चतुर्थ सोपान शुक्लपक्ष और फिर पंचम सोपान उत्तरायणके छः मासोंमेंसे कोई एक मास है। इसी पंच सोपानवाले मार्गसे ही योगी लोग सायुज्य सिद्धिसदनमें पहुँचते हैं। इसीलिये इन्हें शरीरके विसर्जनका उत्तम काल जानो! इसीको अर्चिरादि अर्थात् सूर्यकी किरणोंवाला मार्ग भी कहते हैं। अब मैं तुम्हें शरीर छोड़नेके लिये अयोग्य समय कौन-सा है, इसके विषयमें भी बतला देता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (२२०—२२५)

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासादक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

मृत्युके समय वात और कफकी अधिकतासे अन्तःकरणमें अन्धकार भर जाता है, समस्त इन्द्रियाँ काष्ठवत् जड़ हो जाती हैं, स्मृति भ्रममें डूब जाती है, मनमें पागलपन सवार हो जाता है और प्राण घुटने लगते हैं। शरीरके अन्दर विद्यमान अग्निका तेज नष्ट हो जाता है और चतुर्दिक्

धूम्र-ही-धूम्र फैल जाता है जिससे शरीरकी चेतना विलुप्त हो जाती है। जैसे चन्द्रमाके समक्ष सजल घनघोर बादल आ जानेपर न तो पूर्ण अँधेरा ही रहता है और न ही पूर्ण उजाला, अपितु कुछ-कुछ धुँधला-सा प्रकाश रहता है, वैसे ही उस समय जीवमें एक ऐसी स्तब्धता-सी आ जाती है जिसमें वह मरा हुआ भी नहीं होता और न होशमें ही रहता है; और उसका जीवन मृत्युके कगारपर पहुँचकर रुक-सा जाता है। इस प्रकार जब उस जीवपर चतुर्दिक् मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका दबाव पड़ता है, तो फिर जन्मभर कष्ट सहकर एकत्रित किया हुआ लाभका (योगाभ्यासका) अन्त हो जाता है और जब हस्तगत वस्तु भी गँवा दी जाती है, उस समय यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वह वस्तु फिरसे बटोरी जा सकती है। बस मृत्युके समय ऐसी ही दुरवस्था होती है। यह तो हुई देहकी भीतरी स्थिति। अब यदि बाहरकी स्थिति भी ऐसी ही प्रतिकूल हो, अर्थात् कृष्णपक्ष हो रातका समय हो और दक्षिणायनके छः मासोंमेंसे कोई मास हो, अर्थात् जिसके प्राणान्तके समय जीवन और मृत्युका चक्र प्रचलित रखनेवाले ऐसे लक्षण एक साथ इकट्ठे हों तो भला उसके कानोंको ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिकी बात कैसे सुनायी पड़ सकती है? जिस व्यक्तिका शरीर-त्याग इस प्रकारकी बुरी अवस्थामें होता है, वह ज्यादा-से-ज्यादा केवल चन्द्रलोकतक ही जा सकता है और फिर वह वहाँसे कुछ समय पश्चात् लौटकर इसी संसारमें जन्म लेता है। हे पाण्डव! मैंने जिसे देहत्यागके लिये अकाल कहा है, वह यही है और यही जन्म-मृत्युरूपी ग्रामतक पहुँचानेवाला कष्टप्रद धूम्रमार्ग है। इसके अलावा जो दूसरा अर्चिरादि नामका मार्ग है, वह पूर्णरूपसे बसा हुआ स्वतन्त्र, सब प्रकारकी शान्ति, सुख और सुविधासे भरा हुआ निवृत्ति (मोक्ष) तक पहुँचानेवाला है। (२२६—२३७)

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

इस प्रकार शुक्ल (अर्चिरादि मार्ग) और कृष्ण (धूम्र मार्ग)—ये

दोनों मार्ग अनादि कालसे चले आ रहे हैं, इनमेंसे प्रथम मार्ग सीधा और दूसरा तिरछा (टेढ़ा) है, इसीलिये मैंने बुद्धि-बलसे ही उनका विस्तृत वर्णन करके तुम्हें बतलाया है। इसमें हेतु यही है कि तुम अच्छे और बुरे मार्गको देख लो, सत्य और असत्यकी पहचान कर लो, हित तथा अहित जान लो और तब अपने कल्याणका साधन करो। देखो, यदि किसी व्यक्तिको अच्छी-खासी नौका दिखायी पड़ती हो, तो क्या फिर वह किसी अथाह जलाशयमें कूदेगा? अथवा यदि किसीको कोई सुविधाजनक चलताऊ और उत्तम मार्ग मालूम हो, तो क्या वह किसी जंगलके रास्ते चलेगा? जो अमृत और विषके अन्तरको पहचानता हो, वह क्या कभी अमृतको छोड़ देगा? इसी प्रकार जिसे सुगम मार्ग दृष्टिगोचर होता हो, वह कभी टेढ़े-मेढ़े मार्गपर नहीं जायगा। इसी प्रकार सामने आये हुए भले-बुरेकी तथा सच्चे और झूठेकी परख अच्छी तरहसे कर लेनी चाहिये; जो व्यक्ति इसकी परख कर लेता है, उसके सामने यदि कोई आपदा आकर खड़ी भी हो जाय तो भी उसकी कुछ हानि नहीं होती, अन्यथा देहावसानके समय बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता है और इन दोनों मार्गोंके विषयमें भ्रान्ति होनेके कारण बड़ी खराबी होती है और आजन्म जिस योगका अभ्यास किया जाता है, वह एकदम बेकार ही हो जाता है। यदि अन्तकालमें जीव अर्चिरादि मार्गसे भटककर धूम्रमार्गमें लग जाय तो फिर उसे संसारके बन्धनमें बँधना पडता है और जीवन-मृत्युके चक्रमें पड़कर भटकना पड़ता है। मुझे इन दोनों मार्गोंको इसलिये स्पष्ट करके दिखलानेकी आवश्यकता पड़ी है कि तुम्हारे ध्यानमें इस अवस्थाके महाकष्ट आ जायँ और तुम यह अच्छी तरहसे जान लो कि इन सब कष्टोंका किस तरह अन्त किया जा सकता है। इन दोनों योगमार्गोंमेंसे एकके द्वारा जीव ब्रह्मस्वरूपका महत्त्व प्राप्त करता है और दूसरेके द्वारा वह जीवन-मृत्युके झंझटोंमें उलझता है। परन्तु अन्त समयमें जिसको इन दोनों मार्गोंमेंसे जो मार्ग दैवयोगसे मिल जाय, वही उसका मार्ग है। (२३८—२४६)

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

यहाँ ऐसी शंका खड़ी हो सकती है कि देहावसानके समय अपनी इच्छानुसार समस्त बातें तो हो ही नहीं सकतीं। जो कुछ हमें मिलना होता है, वही एकाएक दैवयोगसे मिल जाता है। ऐसी दशामें यह कैसे सम्भव है कि हम इन दोनों मार्गोंमेंसे ही किसी एक मार्गसे चलकर ब्रह्मस्वरूप हो सकें? इस शंकाका समाधान यह है कि व्यक्तिको सदा यही सोचना और समझना चाहिये कि चाहे देह रहे अथवा न रहे, पर हम ब्रह्मस्वरूप ही हैं; क्योंकि रस्सीमें जो सर्पका आभास होता है, उसका मूल कारण भी रस्सी ही होती है। क्या कभी जलको इस बातकी प्रतीति होती है कि हममें तरंगता है अथवा नहीं? उस जलमें चाहे तरंग रहे अथवा न रहे, पर वह हर समय जल ही रहता है। तरंगके उत्पन्न होनेके साथ न तो वह उत्पन्न ही होता है और न तो तरंगके नष्ट होनेके साथ वह नष्ट ही होता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति शरीरके रहते हुए भी ब्रह्मस्वरूप ही होते हैं, उन्हींको 'विदेही' कहना चाहिये। अब यदि ऐसे विदेही व्यक्तिमें शरीरका नाम और ठिकाना ही न बच रहा हो, तब क्या उनका किसी कालमें मरना सम्भव है? अभिप्राय यह है कि इस प्रकारके लोग सचमुचमें कभी मरते ही नहीं। फिर उन्हें मार्ग तलाशनेकी क्या जरूरत है और उनके लिये कहाँ-से-कहाँ और कब जाना हो सकता है? कारण कि उनके लिये तो समस्त देश-काल आत्मरूप ही हुए रहते हैं। और फिर देखो कि जिस समय घट फूट जाता है, उस समय घटमें स्थित आकाश सरल मार्गसे जाय, तो भी वह आकाशमें ही विलीन होता है। उस घड़ेका आकाश चाहे जिस मार्गसे जाय, पर क्या कभी यह सम्भव है कि आकाश-तत्त्वमें न मिले? वास्तविकता यही है कि जिस समय उस घटका विनाश होता है, उस समय उसका सिर्फ आकार विनष्ट होता है और उसमें जो मूल आकाश रहता है, वह घड़ेका आकार बननेसे पहले भी रहता है और उसके नष्ट हो जानेपर भी वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

अब जो योगी इस प्रकारके ब्रह्म-ज्ञानकी सहायतासे ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं, उनके लिये कौन-सा मार्ग है और कौन-सा अमार्ग है, इसका कोई बखेड़ा ही नहीं रह जाता। इसीलिये हे पाण्डुसुत! तुम्हें सदा योगयुक्त होकर रहना चाहिये। बस, इससे तुम्हें स्वतः ब्रह्मस्वरूप प्राप्त हो जायगा। फिर इस शरीरका बन्धन जबतक चाहे, तबतक रहे और जब चाहे, तब नष्ट हो जाय, पर तुम्हारे बन्धनरहित ब्रह्मस्वरूपमें रत्तीभर भी बाधा नहीं हो सकती। वह ब्रह्मस्वरूप न तो संसारकी रचनाके समय ही जन्मके बन्धनमें पड़ता है और न संसारका प्रलय होनेपर भी वह मृत्युके ही बन्धनमें पड़ता है और न कल्पके आदि तथा कल्पान्तके बीचवाले समयमें ही इस प्रकारके व्यामोहमें पड़ता है कि वह स्वर्ग है और यह संसार है। जो इस प्रकारका बोध प्राप्त करके योगी होता है वही इस बोधका भरपूर उपयोग कर सकता है, क्योंकि वह विषय-भोगोंपर लात मारकर आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। इन्द्रादि देवोंका राज्य जिन सर्वस्व सुखोंके कारण प्रसिद्ध है, उन्हें वह त्याज्य समझकर दूर फेंक देता है।

(२४७—२६०)

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

यदि कोई व्यक्ति समस्त वेदोंका अध्ययन करके अथवा सब प्रकारके यज्ञोंका सम्पादन करके अपार पुण्य संचित कर ले अथवा तप, दान इत्यादि करके पुण्य प्राप्त कर ले तो भी इन समस्त पुण्योंका समूह अथवा कर्म-फलोंकी पूर्णता भी कभी निर्मल परब्रह्मकी बराबरी नहीं कर सकती। जो स्वर्ग-सुख यदि तराजूपर रखकर तौले जायँ तो वजनमें ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा कम नहीं जान पड़ते, वेद और यज्ञ इत्यादि जिन स्वर्ग सुखोंके साधन हैं, जिन स्वर्ग-सुखोंसे कभी मनुष्यका जी नहीं भरता अथवा जिन स्वर्ग-सुखोंका कभी अवसान नहीं होता, अपितु जो स्वर्ग-सुख भोगनेवालेकी

इच्छानुसार और अधिक बढ़ते जाते हैं; जो स्वर्ग-सुख अपने बढ़ते हुए गुणोंके कारण ब्रह्म-सुखके सम्बन्धी बल्कि प्रायः सहोदरकी ही भाँति प्रतीत होते हैं, जो स्वर्ग सुख इन्द्रियोंको तृप्त करनेके कारण इन्द्रियोंमें ब्रह्म सुखकी जगहपर आसन लगानेके योग्य समझे जाते हैं, जो स्वर्ग-सुख सौ यज्ञ करनेवालेको भी शीघ्र नहीं मिलते, उन्हीं स्वर्ग-सुखोंको जब श्रेष्ठ योगी अपनी उस दृष्टिसे देखते हैं जो ब्रह्मज्ञानके कारण दिव्य हो जाती है और उन स्वर्ग-सुखोंको हाथपर रखकर उनके वजनका अनुमान करते हैं, तब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वे स्वर्ग सुख उस सुखके समक्ष बहुत ही तुच्छ हैं जो ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिके कारण होता है। हे किरीटी! उस समय योगीलोग उन स्वर्ग-सुखोंको धूल समझकर अपने पैरोंके नीचे सीढ़ी बनाकर उन्हींपर पैर रखकर परब्रह्मकी पीठपर सवार हो जाते हैं।"

इस प्रकार जो चराचर सृष्टिके एकमात्र भाग्य हैं, जो ब्रह्मा और शंकरके द्वारा आराधित हैं, जो एकमात्र योगिजनोंकी ही भोग्य वस्तु हैं, जो सम्पूर्ण कलाओंको भी कला प्रदान करनेवाले हैं, जो परमानन्दकी मूर्ति हैं, जो जगत्के समस्त जीवोंके जीवन हैं, जो सर्वज्ञताके मूल उद्गम हैं, जो यादवकुलके कुलदीपक हैं, उन श्रीकृष्णने पाण्डुपुत्र अर्जुनसे ये सब बातें कहीं। इस प्रकार कुरुक्षेत्रमें जो-जो घटनाएँ घटी थीं, संजय उनका विशद वर्णन महाराज धृतराष्ट्रसे कर रहे थे। मैं ज्ञानदेव आप श्रोतागणोंसे प्रार्थना करता हूँ कि आपलोग वही वर्णन और आगे सुनें। (२६१—२७१)

~~०~~

60

अध्याय नवाँ

हे श्रोतावृन्द! मेरी यह स्पष्ट प्रतिज्ञा है कि यदि आपलोग पूर्ण मनोयोगसे मेरा प्रवचन सुनें, तो निश्चय ही आपलोगोंको सब प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होगी। पर यह बात मैं गर्वके साथ नहीं कह रहा हूँ, कारण कि आप सबलोग तो सब कुछ जाननेवाले ही हैं; परन्तु फिर भी मैं आप सब श्रोताजनोंसे अत्यन्त ही आत्मीयताके साथ विनम्र निवेदन करता हूँ कि आपलोग मेरी बातोंकी ओर ध्यान दें। इसका प्रमुख कारण यही है कि जैसे किसी स्त्रीको ऐश्वर्यसम्पन्न नैहर (समर्थ माँ-बाप) प्राप्त होता है और उस नैहरसे उसके समस्त लाड़-चाव एवं मनोरथ पूरे होते हैं, वैसे ही मुझे आपलोगोंका सहारा मिला हुआ है और आप ही लोगोंसे मेरे सारे मनोरथ सिद्ध होंगे। आप सब लोगोंकी कृपादृष्टिकी वृष्टिके कारण मेरी प्रसन्नताका बागीचा खूब फल-फूल रहा है और उस बागीचेकी ठंडी छाया देखकर संसारके तापसे संतप्त मेरा जीव उस छायामें लोट-पोट रहा है तथा उसके तापका भी शमन हो रहा है। आप सबलोग सुखरूपी अमृतके गम्भीर देह हैं, इसलिये मैं मनमाना सुखामृत ले सकता हूँ। अब इतना बढ़िया सुअवसर पाकर भी यदि मैं प्यारभरी बातें करनेमें भय खाऊँ, तब फिर मुझे सुख और शान्ति कब मिल सकती है? वास्तविकता तो यह है कि जैसे अपने बालककी तोतली बातें सुनकर और उसके टेढ़े-मेढ़े पड़नेवाले पैरोंको प्रसन्नतापूर्वक देखकर उस बच्चेकी माता आनन्दित होती है, वैसे ही मैं भी आप सब सन्तोंका प्रेम पानेकी लालसासे प्यार भरी ये सब बातें कह रहा हूँ और नहीं तो यदि मेरे वक्तृत्वकी योग्यता देखी

जाय तो वह कुछ भी नहीं है और आपलोग तो सब कुछ जाननेवाले ही हैं। ऐसी दशामें यदि मैं आप सब श्रोताओंके समक्ष बैठकर प्रवचन करूँ और आपलोग उसे सुनें, तो मेरा यह प्रयास स्वयं सरस्वतीके पुत्रको पटियापर पाठ लिखाकर उन्हें शिक्षा देनेके सदृश ही होगा। देखिये, खद्योत चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो, पर फिर भी सूर्यके महातेजके समक्ष उसकी कुछ भी नहीं चल सकती। भला इस प्रकारका रस-परिपाक कहाँ प्राप्त हो सकता है जो अमृतसे भरी थालीमें परोसा जा सके? भला, यह कभी सम्भव है कि सबको शीतलता प्रदान करनेवाले चन्द्रमाको पंखेसे हवा की जाय? अथवा स्वयं नाद-तत्त्वको गाना सुनाया जाय? अथवा अलंकारको ही अलंकार पहनाया जाय? जो स्वयं सुगन्ध हो, वह भला कौन-सी चीज सूँघे? स्नान करनेके लिये स्वयं समुद्र किस दहमें जाय? और ऐसी कौन-सी विस्तृत जगह है, जिसमें सम्पूर्ण आकाश समा सके? इसी प्रकार भला ऐसा वक्तृत्व मैं कहाँसे ला सकता हूँ जिससे आप सबका चित्त सन्तुष्ट हो और आप सबको इतना आनन्द हो कि आप सब लोगोंके मुखसे इस प्रकारका धन्यताका उद्‌गार निकले—''वाह! वक्तृत्व हो तो ऐसा हो।'' पर फिर भी क्या सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करनेवाले सूर्यकी आरती हस्तनिर्मित बत्तीसे न की जाय? अथवा अपार जलराशिवाले समुद्रको क्या चुल्लूभर जलसे अर्घ्य न दिया जाय? आप सब लोग भगवान् शंकरकी मूर्ति हैं और आपलोगोंकी आराधना करनेवाला मैं भक्त दुर्बल हूँ, बिल्व-पत्र अर्पण करनेकी जगह एक साधारण पेड़की पत्ती जैसे शिवलिंगपर चढ़ायी जाय उसी प्रकार मेरा व्याख्यान है। फिर भी आप सब लोग उसको सादर स्वीकार करेंगे ही। बालक अपने पिताके भोजनकी थालीमें बार-बार हाथ डालता है और अपने पिताके मुखमें ही अन्नका ग्रास डालने लगता है और पिता भी बड़ी प्रसन्नतासे वह ग्रास लेनेके लिये अपने मुखको आगे बढ़ाता है। ठीक इसी प्रकार यदि मैं बाल-बुद्धि और प्यारसे निरर्थक और अतिरिक्त अपनापन प्रकट करूँ, तो भी प्रेमका यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उससे

आप सब लोग सन्तुष्ट ही होंगे। आप सन्तजनोंके अन्तःकरणमें अपने आश्रितोंके विषयमें अपनापनके कारण अत्यधिक प्रेम होता है; इसीलिये मैं प्यारसे जो अपनापन दिखला रहा हूँ, वह आपलोगोंको बोझस्वरूप नहीं मालूम होगा। जिस समय गायके स्तनमें भूखे बछड़ेके मुखका झटका लगता है, उस समय गायके स्तनमें और भी अधिक दूध भर आता है तथा वह बछड़ेको दुग्ध-पान करानेके लिये और भी अधिक उत्सुक हो जाती है। जो अपनेको प्रिय होता है, वह यदि एक बार क्रोधसे झटकार भी दे, तो उससे प्रेम और भी द्विगुणित हो जाता है। इसीलिये मैंने भी यही समझकर ये सब बातें कही हैं कि मुझ-जैसे बालककी निरर्थक वार्तासे आपलोगोंकी सुषुप्त कृपालुता जाग उठी है। क्या कभी चाँदनीको पकानेके लिये भी कोई उसे पालमें रखकर ढँकता है? अथवा क्या वायुके चलनेके लिये कोई मार्ग बनाया जा सकता है? अथवा आकाशको क्या कभी कोई खोली पहना सकता है अर्थात् आकाशको कोई सीमामें बाँध नहीं सकता। जैसे पानीको पतला नहीं करना पड़ता अथवा मक्खनको मथनेके लिये कोई उसमें मथानी नहीं डालता, वैसे ही गीताके जिस अर्थको देखकर मेरा दुर्बल व्याख्यान लज्जित होकर स्वतः पीछे हट जाता है, केवल इतना ही नहीं, जो वेद शब्द ब्रह्म है, वह भी शब्दकी गति समाप्त हो जानेपर जिस गीतार्थरूपी खाटपर स्तब्ध होकर सो जाता है, वह गीतार्थ देशीभाषामें लानेकी योग्यता भला मुझमें कहाँसे आ सकती है। किन्तु मुझ-जैसे दुर्बलने भी जो यह हिम्मत की है, उसमें हेतु सिर्फ यही है कि मैं इस ढिठाईसे ही आप-जैसे लोगोंका प्रेम-पात्र बनूँ। इसलिये चन्द्रमासे भी अधिक शीतल और अमृतसे भी अधिक जीवनदाता जो आपलोगोंका अवधान है, उसका दान करके आपलोग मेरे मनोरथका पोषण करें; क्योंकि ज्यों ही आपलोगोंके कृपादृष्टिकी वृष्टि होगी, त्यों ही मेरे समस्त मनोरथ सिद्ध हो जायँगे। पर यदि मुझे आपलोगोंका यह कृपाभाव प्राप्त न होगा और आपलोग उदासीन रहेंगे तो मेरा ज्ञानांकुर भी सूख जायगा। सुनिये, वक्ताके वक्तृत्वका

स्वाभाविक भोजन श्रोताओंकी सावधानता ही है और यदि उसे यह भोजन मिलता रहे तो सिद्धान्त प्रतिपादक शब्दकी तोंद फूल जाती है, ज्यों ही ऐसे शब्द निकलते हैं, त्यों ही अर्थकी प्रतिपत्ति होती है; क्योंकि अर्थ तो शब्दोंकी ही बाट जोहता है और जिस समय अर्थकी प्रतिपत्ति होती है उस समय उद्दिष्ट अर्थकी परम्परा लग जाती है और बुद्धिपर मानो भावोंकी पुष्प-वृष्टि होती है। जब इस प्रकार वक्ता और श्रोताके मेलकी अनुकूल वायु बहने लगती है, तब हृदयाकाशमें वक्तृत्वके रस-मेघका संचार होता है; परन्तु यदि श्रोतागण उदासीनताके कारण अच्छी तरहसे ध्यान न देंगे, तो वक्तृत्व-रसका बना-बनाया मेघ भी तितर-बितर हो जायगा, यह बात ठीक है कि चन्द्रकान्तमणि पसीजती है, पर उसको पसीजनेमें प्रवृत्त करनेकी सामर्थ्य केवल चन्द्रमामें ही होती है। इस प्रकार जबतक योग्य श्रोता न हों, तबतक कोई वक्ता कभी वक्ता हो ही नहीं सकता। पर क्या कभी चावलको खानेवालेसे यह विनम्र निवेदन करना पड़ता है कि मुझे मीठा समझकर खाइये? अथवा क्या कभी कठपुतलियोंको अपने नचानेवाले सूत्रधारसे यह अनुनय-विनय करना पड़ता है कि हमें नचाओ और फिर कठपुतलियोंको नचानेवाला वह सूत्रधार कठपुतलियोंको स्वयं उनकी भलाईके लिये नचाता है अथवा लोगोंमें अपने ज्ञानके महत्त्वकी प्रसिद्धि करनेके लिये नचाता है? फिर हमलोग इस प्रश्नकी व्यर्थकी मीमांसा क्यों करें? ज्यों ही वक्ताने यह कहा, त्यों ही श्रीसद्गुरुने कहा कि अरे, इन सब बातोंमें क्या रखा है? हमें तुम्हारा आशय मालूम है। अब तुम यह बतलाओ कि श्रीकृष्णदेवने क्या कहा। यह सुनकर श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्यने अत्यन्त ही प्रसन्नतापूर्वक और उल्लासके साथ कहा कि अच्छा महाराज! सुनिये, श्रीकृष्णने क्या कहा। (१—३३)

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—"हे अर्जुन! मैं तुम्हें वह गूढ़ रहस्य फिरसे बतलाता हूँ जो मेरे अन्त:करणके सबसे भीतरी स्थानके समस्त ज्ञानका आदि बीज है। अब यदि तुम यह सोचते हो कि हृदय फोड़कर यह रहस्य प्रकट करनेका ऐसा कौन-सा प्रसंग आया है, तो हे बुद्धिमान् अर्जुन! सुनो। तुम आस्थाकी मूर्ति हो। मैं जो कुछ कहूँगा, तुम कभी उसकी अवज्ञा नहीं करोगे। इसीलिये चाहे मनकी गूढ़ता भले ही नष्ट हो जाय और जो कहनेयोग्य बातें नहीं हैं, वे भी चाहे भले ही कहनी पड़ें; पर फिर भी मेरी यही लालसा है कि मेरे अन्त:करणमें जो कुछ है, वह सब एक बार तुम्हारे अन्त:करणमें समा जाय। थनमें दूध भरा रहता है, पर स्वयं वह दूध थनको स्वादिष्ट नहीं लगता। पर जब कोई एकनिष्ठ व्यक्ति मिलता है, तब सहज ही यह अभिलाषा होती है कि उसकी रसास्वादनकी लालसा पूरी हो। यदि अन्नके बखारमेंसे बीज निकाले जायँ, और तैयार की हुई भूमिमें कुछ बीज बो दिये जायँ, तो क्या कोई यह कह सकता है कि वे बीज निरर्थक ही गवाँ दिये गये? इसीलिये जिसका मन अच्छा और बुद्धि शुद्ध है तथा जो अनिन्दक और एकनिष्ठ है, उसे अपने मनकी बात प्रसन्नतापूर्वक बतला देनी चाहिये और इस अवसरपर मुझे इन गुणोंसे युक्त तुम्हारे सिवा और कोई नहीं दिखायी पड़ता; इसीलिये तुमसे कोई रहस्य छिपाना उचित नहीं है। बारम्बार यह 'गुप्त' शब्द सुनते-सुनते तुम्हारे मनमें आश्चर्य होता होगा, इसलिये अब मैं तुम्हें विज्ञानसहित ज्ञानकी बातें साफ-साफ बतलाता हूँ। यदि बहुत-सी शुद्ध और अशुद्ध वस्तुएँ एकमें मिल गयी हों, तो जैसे उन्हें परखकर और छाँटकर ही उनके पृथक्-पृथक् ढेर लगानेकी जरूरत होती है, वैसे ही मैं ज्ञान और विज्ञानकी परख करके उन्हें पृथक्-पृथक् तुम्हारे समक्ष रखना चाहता हूँ अथवा जैसे राजहंस अपनी चोंचरूपी सँड़सीसे नीर और क्षीर पृथक्-पृथक् करता है, वैसे ही मैं भी ज्ञान और विज्ञानको पृथक्-पृथक् करके तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। फिर जैसे वायुके प्रवाहमें पड़ा हुआ भूसा उड़

जाता है और सिर्फ अनाजके दानोंका ही ढेर अवशिष्ट रह जाता है, वैसे ही जब समझदारीसे ज्ञान और विज्ञानकी परख तथा पृथक्त्व हो जाता है, जब जीवन-मरणवाले संसारका इस नाम-रूपवाले संसारके साथ मेल-मिलाप हो जाता है और वह परम ज्ञान हमें मोक्षरूपी लक्ष्मीके सिंहासनपर ले जाकर बैठा देता है। (३४—४६)

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

जो ज्ञान समस्त विद्याओंमें सर्वश्रेष्ठ आचार्यपदपर विराजमान हो चुका है, जो समस्त रहस्य-ज्ञानके स्वामित्वका सेवन करता है, जो समस्त पवित्र वस्तुओंका राजा है, जो ज्ञान-धर्मका निजधाम है, जो ज्ञान उत्तमोत्तम है, जिसको पा जानेपर जीवन और मृत्युके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता, जो ज्ञान गुरुमुखसे किंचित् उदित हुआ-सा जान पड़ता है, परन्तु वास्तवमें जो प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें स्वयम्भू ही होता है और जो चाहे वह उसे स्वतः प्राप्त कर सकता है, इसके अलावा आत्मसुखरूपी सोपानपर चढ़ते ही जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है और फिर सद्यः भोक्ता, भोग्य तथा भोगकी त्रिपुटीका नाश हो जानेके कारण भोगनेवालेका भोक्तृत्व भी उसीमें विलीन हो जाता है, पर उस लयवाली स्थितिकी इधरवाली सीमापर ही जिसके कारण हृदय परम सुखसे भर जाता है, वह ज्ञान यद्यपि सुलभ और सहज है, परन्तु फिर भी वह साक्षात् परब्रह्म ही है। इस ज्ञानका एक विशेष लक्षण यह भी है कि जब एक बार वह प्राप्त हो जाता है, तब फिर वह कभी खोया नहीं जा सकता और न कभी उसकी मधुरता ही कम होती है।

हे पार्थ! हो सकता है कि तुम अपनी तर्क-बुद्धि लगाकर इस विषयमें यह शंका खड़ी करो कि यदि यह इतनी अनुपम और अनमोल वस्तु है, तो फिर यह आजतक सब लोगोंकि पकड़से बाहर कैसे रह गयी, जो लोग अपने धनकी वृद्धिके लिये धधकती हुई आगमें भी कूदनेकी

हिम्मत करते हैं, वे अनायास ही मिलनेवाले इस आत्मसुखके माधुर्यसे क्यों वंचित रहते हैं, जो आत्मसुख पवित्र, रमणीय और सुखसे प्राप्त होने योग्य है तथा जो धर्मके अनुकूल होनेके अलावा आत्मतत्त्वकी भी उपलब्धि करा देता है और जिसमें समस्त सुखोंका समावेश है, वह लोगोंके पकड़से अबतक बाहर कैसे रहा! तुम्हारे मनमें ऐसी शंकाओंका उठना स्वाभाविक है, पर तुम इस शंकाको अपने मनमें मत आने दो। (४७—५६)

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

देखो, दूध अत्यन्त पवित्र और स्वादिष्ट होता है और वह दूध गौके थनमें अत्यन्त ही पतली त्वचाकी ओटमें भरा रहता है। फिर भी थनमें लगी हुई किलनी क्या दूधका परित्याग करके उसके रक्तका पान नहीं करती? भ्रमर और दर्दुर—ये दोनों ही कमलके सन्निकट रहते हैं, पर कमल-परागका पान सिर्फ भ्रमर ही करता है और दर्दुरके हिस्सेमें सिर्फ कीचड़ ही आता है। इसी प्रकार यदा-कदा किसी भाग्यहीनके घरमें सहस्रों मोहरोंसे भरे हुए कलश पड़े रहते हैं; पर वह अभागा उसी घरमें रहकर भी भूखों मरता है अथवा दरिद्रतामें ही रहकर अपना जीवन काटता है। उसी प्रकार हृदयमें स्थित समस्त सुखोंके भण्डार मुझ आत्मारामके रहते हुए भी मायासे मोहित व्यक्तियोंकी वासना विषय-भोगोंकी तरफ ही दौड़ती है। जिस प्रकार अपार मृगजल देखकर मुखका अमृतका घूँट उगल दिया जाय अथवा गलेमें बँधा हुआ पारस पत्थर तो तोड़कर फेंक दिया जाय और उसके स्थानपर एक सीपी बाँध ली जाय, ठीक वैसे ही 'मैं और मेरा' के चक्करमें पड़कर वे बेचारे जीव मेरे निकटतक आकर पहुँच नहीं सकते और इसीलिये जन्म-मरणके दोनों तीरोंके मध्यमें डूबते रहते हैं और नहीं तो मैं ऐसा हूँ कि नित्य नेत्रोंके सामने ही रहता हूँ। मैं उस सूर्यकी भाँति नहीं हूँ जो कभी तो दृष्टिगोचर होता है और कभी मेघोंकी ओटमें छिप जानेके कारण

अथवा रात्रि-वेलामें दृष्टिगत नहीं होता, यह उनमें अवगुण है, परन्तु मैं तो नित्य नेत्रोंके समक्ष चमकनेवाला और निर्मल हूँ। (५७—६३)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

यदि तुम मेरे विस्तारकी बात पूछो तो क्या यह बात ठीक नहीं है कि यह जो सारा संसार है, वह मैं ही हूँ? जैसे दूध अपनी प्रकृतिके अनुसार जमकर दहीका रूप धारण कर लेता है अथवा बीज ही वृक्षके रूपमें प्रकट होता है अथवा जैसे स्वर्णके ही आभूषण बनते हैं, वैसे ही यह सारा संसार एकमात्र मेरा ही विस्तार है। मेरा अव्यक्त तत्त्व ही जमकर इस नाम रूपवाले विश्वका आकार धारण करता है और मैं अमूर्त ही तत्क्षण त्रिभुवनका विस्तार करता हूँ। जैसे जलका फेन प्रकटरूपसे दिखायी पड़ता है, वैसे ही महदादि समस्त जीव मुझमें ही दिखायी पड़ते हैं। पर जैसे उस फेनके अन्दर देखनेपर जल दृष्टिगोचर नहीं होता अथवा स्वप्नावस्थामें दृष्टिगोचर होनेवाले नाना प्रकारके आकार जाग्रत्-अवस्थामें दृष्टिगोचर नहीं होते, वैसे ही यद्यपि ये जीवमात्र मुझमें ही भासमान होते हैं, पर फिर भी इन जीवोंमें मेरा निवास नहीं होता। इस तत्त्वका निरूपण मैं इससे पहले भी एक बार तुम्हें बतला चुका हूँ। अतएव एक बार बतलायी हुई बातका पुनर्विस्तार करना उचित नहीं है, इसलिये यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है; पर तुम्हारी दृष्टि मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट होकर विस्तृत होनी चाहिये। (६४—७०)

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

यदि कार्य-कारणवाली कल्पनाका परित्याग कर तुम मेरे उस स्वरूपका विचार करोगे जो प्रकृति (महामाया)-के भी उस पार और उससे परे है, तो यह सिद्धान्त मिथ्या ठहरेगा कि सब जीवोंका अस्तित्व मुझमें ही है, कारण कि सब कुछ मैं ही हूँ और मुझसे पृथक् अन्य कोई चीज

नहीं है। पर जब प्रथम संकल्पके कारण परब्रह्ममें ज्ञान और अज्ञानका संधिकाल उत्पन्न हुआ, तब बुद्धिके ज्ञानरूपी आँखोंमें कुछ अँधेरा-सा छा गया और इसीलिये जो परब्रह्म विकार और आकार-शून्य था, उसमें अविद्यारूपी सन्ध्याके कारण जीवमात्र परब्रह्मसे भिन्न भासित होने लगे; किन्तु जब संकल्पजन्य अविद्यारूपी सन्ध्याका अवसान हो जाता है, तब जैसे शंका मिटते ही पुष्पमालाके सम्बन्धका वह सर्पाभास समाप्त हो जाता है, जो कुछ-कुछ अन्धकार और कुछ-कुछ प्रकाश रहनेके समय उत्पन्न होता है, वैसे ही जीवमात्रके सम्बन्धमें होनेवाले भासका नाश हो जाता है और सिर्फ परब्रह्म ही अपने अखण्ड और शुद्ध स्वरूपमें बाकी रह जाता है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या भूमिके अन्दरसे मिट्टीके घट इत्यादिके अंकुर निकलते हैं? वास्तवमें घटादिकी सृष्टि तो कुम्हारके कल्पनारूपी गर्भसे होती है। अथवा क्या समुद्रके जलमें तरंगोंकी कोई अलग खान होती है? तरंगें तो वास्तवमें वायुके बहनेसे ही उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार क्या कपासके फलमें कपड़ोंकी पेटी भरी रहती है? वह तो केवल पहननेवालेकी दृष्टिसे ही कपाससे बने कपड़े कहलाते हैं। यदि स्वर्णका अलंकार बना डाला जाय तो भी उसका स्वर्णपन नष्ट नहीं होता। उसमें सिर्फ बाह्यतः अलंकारता होती है और यह भी सिर्फ अलंकार धारण करनेवालेकी दृष्टिसे ही होती है। प्रतिध्वनिसे जो शब्द उठता है अथवा दर्पणमें जो रूप दिखलायी पड़ता है, वह हमारी ही कही हुई बात अथवा हमारा ही रूप होता है अथवा स्वयं उस प्रतिध्वनिका या उस दर्पणका अंग होता है? इसी प्रकार जो मेरे शुद्ध स्वरूपपर जीवोंकी सृष्टिका आरोप करता है, वास्तवमें वह जीव-सृष्टि स्वयं उसीके संकल्प या विचारोंमें ही होती है। पर जिस समय उस कल्पना करनेवाली प्रकृति (माया)-का अवसान हो जाता है, उस समय भूताभास मूलतः मिथ्या होनेके कारण मेरा केवल अखण्ड शुद्ध स्वरूप ही बचा रह जाता है। जिस

समय हमें चक्कर आता है, उस समय अगल-बगलकी चट्टानें और गिरि-कन्दराएँ आदि घूमती हुई दिखायी पड़ती हैं। ठीक इसी प्रकार अपनी ही कल्पनाके कारण अविकृत, शुद्ध, बुद्ध परब्रह्ममें भी भूतमात्रका आभास होता है; परन्तु यदि वही कल्पना हटा दी जाय, तब साफ-साफ मालूम पड़ता है कि यह बात स्वप्नमें भी सच माननेलायक नहीं है कि मैं जीवमात्र हूँ और जीवमात्र मुझमें हैं। इसीलिये प्रायः लोग यह कहा करते हैं कि केवल मैं ही इन जीवमात्रको धारण करता हूँ अथवा ये जीवमात्र मेरेमें रहते हैं। सो ये सब संकल्परूपी वातके प्रकोपके कारण उत्पन्न होनेवाली भ्रमिष्ट स्थितिमें मुँहसे निकलनेवाली बड़बड़ाहट है। इसीलिये हे प्रियोत्तम! तुम यह बात अच्छी तरहसे जान लो कि मुझे विश्वकी आत्मा मानना मिथ्या भूतमात्रकी मिथ्या कल्पना है। जैसे सूर्यकी रश्मियोंके कारण कुछ न रहनेपर भी मृगजल भासमान होता है, वैसे ही भूतमात्र भी मुझमें भासमान होते हैं। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि वे मुझे भी अपनेमें भासमान कराते हैं। इस प्रकार मैं भूतभावन हूँ, पर जैसे प्रभा और सूर्य दोनों एक ही हैं, वैसे ही मैं भी भूतमात्रके साथ एक रूप ही हूँ। तत्त्वतः इसे ऐश्वर्ययोग कहते हैं। अब तुम यह बात अच्छी तरहसे समझ गये न? अब भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या इसमें भेद-भावके लिये कहीं रत्तीभर भी जगह है? इसीलिये यह सिद्धान्त ठीक है कि जीवमात्र मुझसे भिन्न नहीं हैं और तुम मुझे जीवोंसे कभी भिन्न मत समझो। (७१—८८)

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

गगनका जितना विस्तार है, उतना ही विस्तार पवनका भी है और पंखा इत्यादि झलनेसे ही पवनका पृथक् रूपसे भास होता है और नहीं तो पवन सदा गगनके साथ एकाकार ही रहता है। इसी प्रकार यदि कल्पना की जाय तो भूतमात्रका मुझमें ही भास होता है और नहीं तो निर्विकल्प-

अवस्थामें ये भूतमात्र नहीं रह जाते और केवल मैं ही अपने अविकृत रूपमें बच रहता हूँ। इसीलिये 'नहीं' और 'हाँ'—ये दोनों केवल कल्पनाकी ही बातें हैं। जिस समय कल्पनाका नाश हो जाता है, उस समय नाम-रूपवाला विश्वका भी अवसान हो जाता है और जिस समय कल्पना उत्पन्न होती है, उस समय यह सब कुछ रहता ही है। कल्पनाका अवसान हो जानेपर 'हाँ' और 'नहीं' वाली बातोंके लिये कहीं कोई आधार ही नहीं रह जाता। इसलिये यह ऐश्वर्ययोग तुम फिरसे ठीक तरह समझ लो। सर्वप्रथम तुम इस ज्ञानरूपी समुद्रमें तरंगाकार बनो। फिर जब तुम देखोगे, तब तुम्हें इस बातका भान होगा कि स्वयं तुम्हीं यह सब चराचर जगत् हो।''

श्रीदेव कहते हैं—''हे पार्थ! तुम्हें इस ज्ञानका प्रकाश प्राप्त हुआ अथवा नहीं? तुम्हारा द्वैतरूपी स्वप्नका अन्त हो गया अथवा नहीं? अब यदि फिर किसी समय बुद्धिको कल्पनाकी नींद आ जाय, तो फिर यह अभेद-ज्ञान मिट जायगा, क्योंकि उस समय तुम फिर स्वप्नवाली अवस्थामें ही पहुँच जाओगे। इसलिये अब मैं तुम्हें वह रहस्य ज्ञान साफ-साफ बतलाता हूँ, जिससे इस अविद्यारूपी निद्राका कहीं नामो-निशान भी न रह जायगा और तुम्हारी आत्मज्ञानवाली जाग्रति सतत बनी रहेगी। इसलिये हे धनुर्धर धनंजय! तुम धैर्यपूर्वक मेरी बातोंकी ओर ध्यान दो। तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि माया (प्रकृति) ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और संहार करती है। (८९—९७)

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

जिसे लोग प्रकृतिके नामसे पुकारते हैं, उसके दो प्रकार मैं तुम्हें पहले ही बतला चुका हूँ। उनमें पहला प्रकार अपरा प्रकृतिकी है, जो आठ भिन्न-भिन्न स्वरूपोंमें व्यक्त होती है और दूसरा प्रकार परा प्रकृतिका है जो जीवरूपमें व्यक्त होती है। इस प्रकृतिविषयक कुछ बातें मैं तुमको

पहले ही बतला चुका हूँ। इसलिये बार-बार उसका वर्णन करनेसे कोई लाभ नहीं है। महाप्रलयके समय इस मेरी प्रकृतिमें ही निराकार अभेदसे समस्त भूत एकरूपसे विलीन होते हैं। ग्रीष्म-ऋतुमें जब भीषण तपन होती है, तब बीजसहित घास जमीनमें ही समग्ररूपसे विलीन हो जाती है अथवा वर्षा-ऋतुमें दृष्टिगोचर होनेवाले मेघोंका उस समय आकाशमें ही लय हो जाता है जिस समय शरद्-ऋतुकी निर्मल शान्तिका गुप्त भण्डार खुलता है, आकाशमें बहनेवाली वायुका अन्ततः उसी आकाशमें विलय हो जाता है और जलकी तरंगें जलमें ही लुप्त हो जाती हैं। स्वप्नमें देखे गये दृश्य जागनेपर मन-ही-मनमें समा जाते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले समस्त जगत् कल्पके अन्तमें प्रकृतिमें ही घुल-मिल जाते हैं। फिर नये कल्पके आरम्भमें जो लोग यह कहा करते हैं कि मैं ही फिरसे जगत्को उत्पन्न करता हूँ, सो अब मैं उसके सम्बन्धमें स्पष्ट विवेचन करता हूँ। तुम मनोयोगपूर्वक सुनो। (९८—१०५)

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

हे किरीटी! जैसे धागोंका समुदाय बुनावटके कारण स्वयं ही वस्त्रका रूप धारण करता है, ठीक वैसे ही मैं भी अपनी इस प्रकृतिको सहज लीलाके रूपमें धारण करता हूँ। फिर जैसे धागोंकी बुनावटके कारण उनसे छोटे-छोटे चौकोर चार खाने बनते हैं; वैसे ही मेरी प्रकृतिसे ही नाम-रूपवाली पांचभौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है। जैसे जामनके संगसे दूध जमने लगता है, वैसे ही मूल प्रकृतिमें सृष्टिका भाव प्रतिबिम्बित होने लगता है। जब बीजको जलका सान्निध्य प्राप्त होता है, तब उसमेंसे अंकुर निकलने लगते हैं और उनसे जो शाखाएँ और उपशाखाएँ बनती हैं, वे ही वृक्षका रूप धारण कर लेती हैं। ठीक इसी प्रकार मुझसे प्रकृतिजन्य भूत-सृष्टिका विस्तार होता है। प्रायः लोग कहते हैं कि राजाने अमुक नगर बसाया और एक दृष्टिसे लोगोंका यह कथन ठीक भी होता है, पर यदि

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या कोई यह कह सकता है कि उस नगरके बसानेमें राजाका कभी हाथ भी लगा था? ठीक इसी प्रकार मैं भी प्रकृतिको उसी तरह स्वीकार करता हूँ, जिस तरह स्वप्नावस्थामें रहनेवाला व्यक्ति जाग्रत् अवस्थामें प्रवेश करता है। जिस समय स्वप्नकी स्थितिमें रहनेवाला व्यक्ति जाग्रत्-अवस्थामें आता है, उस समय क्या उसके पैरोंको कभी कोई मेहनत करनी पड़ती है? अथवा उसे स्वप्नसे चलकर कोई प्रवास करना पड़ता है? इन सब बातोंको कहनेका अभिप्राय क्या है? इनका आशय यही है कि इस सृष्टिकी रचना करते समय मुझे किसी प्रकारकी क्रिया नहीं करनी पड़ती। जिस प्रकार राजाके आश्रित प्रजा रहती है, पर फिर भी प्रजाके बीचके सारे लोग स्वेच्छानुसार अपने समस्त व्यापार करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृतिका स्वीकारमात्र मुझमें आता है, शेष समस्त व्यवहार स्वयं उस प्रकृतिके ही होते हैं। उनके साथ मेरा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। देखो, जब पूर्णिमाका चन्द्रमा होता है, तब समुद्रमें अपार लहरें उठने लगती हैं। हे किरीटी! क्या उन लहरोंके लिये चन्द्रमाको श्रम करना पड़ता है? लोहा यद्यपि जड़ होता है, पर फिर भी जब चुम्बकके निकट आता है, तब वह गतिशील हो जाता है; परन्तु क्या कभी लोहेको गतिशील करनेके लिये चुम्बकको किसी प्रकारका श्रम करना पड़ता है? बस, इसी प्रकार ज्यों ही मैं अपनी प्रकृतिको अंगीकार करता हूँ अर्थात् मूल मायाको धारण करता हूँ त्यों ही भूत सृष्टि स्वतः अस्तित्वमें आने लगती है।

हे पाण्डव! जैसे बीजमेंसे शाखाएँ और पल्लवादि उत्पन्न करनेमें भूमि सहायक होती है, वैसे ही यह समस्त सृष्टि प्रकृतिके सहयोगसे प्रकट होती है अथवा जैसे बाल्य, युवा इत्यादि अवस्थाओंका मुख्य कारण शरीर-संग है अथवा जैसे मेघमाला आकाशमें आनेके लिए वर्षा-ऋतु ही मूल कारण होती है अथवा जैसे निद्रा स्वप्नका मूल कारण होती है, ठीक वैसे ही, हे नरेन्द्र! इस समस्त सृष्टिका समर्थ कारण प्रकृति ही है। स्थावर,

जंगम, स्थूल और सूक्ष्म, समस्त भूतग्रामका मूल कारण यह प्रकृति ही है। इसीलिये भूत-सृष्टिको उत्पन्न करने अथवा उसका पालन करने आदिकी क्रियाओंका सम्पर्क मुझसे एकदम नहीं होता। जलमें जो चन्द्रकिरणें पड़ती हैं, वे लहरोंकी ही भाँति सुदीर्घ दिखायी पड़ती हैं; पर उनकी यह बाढ़ चन्द्रमाके द्वारा की हुई नहीं होती। ठीक इसी प्रकार सारे कर्म मुझतक पहुँचकर भी मुझसे पृथक् और दूर ही रहते हैं। (१०६—१२३)

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

जैसे समुद्रमें उठनेवाली जलकी तरंगोंको लवणका बना हुआ बाँध रोक नहीं सकता, वैसे ही जिन कर्मोंका अन्त मुझमें ही होता है, वे कर्म भी मुझे बाँधनेमें समर्थ नहीं हो सकते। यदि धूम्रकणोंसे निर्मित पिंजरा वायुको यह कहकर रोक सकता हो कि बस, रुक जाओ अथवा सूर्यमण्डलमें यदि अन्धकारका प्रवेश हो सकता हो, तो फिर ये कर्म भी मेरे लिये बन्धनकारक हो सकते हैं। जैसे भीषण वृष्टिकी धारोंसे पर्वतका हृदय विदीर्ण नहीं होता, वैसे ही प्रकृतिके द्वारा किये गये कोई भी कर्म मुझे बाँध नहीं सकते। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह प्रकृति जो नाम-रूप आदि विकार उत्पन्न करती है, उनका आधार मैं ही हूँ। पर मैं सदा उदासीन रहता हूँ; यही कारण है कि न तो मैं कोई कर्म करता ही हूँ और न कराता ही हूँ। यदि घरमें प्रज्वलित दीपक रख दिया जाय तो न तो वह किसीसे कोई कर्म कराता ही है और न किसीको कोई कर्म करनेसे रोकता ही है। वह तो यह भी नहीं देखता कि कौन क्या कर रहा है। जैसे वह दीपक उदासीन या तटस्थ भावसे एक ओर पड़ा रहता है; परन्तु फिर भी घरमें रहनेवाले व्यक्तियोंकी क्रियाओंका कारण होता है, वैसे ही यद्यपि मैं जीवमात्रमें रहता हूँ, परन्तु फिर भी जीवमात्रके कर्मोंके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। हे सुभद्रापति! यह एक ही विचार मैं भिन्न-भिन्न प्रकारसे बार बार तुम्हें कहाँतक बतलाऊँ! तुम सिर्फ इतना ही जान लो कि— (१२४—१३०)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

जैसे सूर्य समस्त प्राणियोंके व्यापारका केवल निमित्त होता है, वैसे ही हे पाण्डुसुत! मैं भी जगत्‌की उत्पत्तिका तटस्थरूपसे निमित्तमात्र होता हूँ। इसका कारण यही है कि मैं जो मूल प्रकृतिको धारण करता हूँ, उसीसे इस स्थावर, जंगम जगत्‌की उत्पत्ति होती है और इस दृष्टिसे विचार करनेपर मैं ही इस जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ। अब तुम इस दिव्य ज्ञानके आलोकमें मेरे इस ऐश्वर्ययोगका तत्त्व देखो। वह तत्त्व यह है कि भूतमात्र मुझमें हैं, परन्तु मैं भूतमात्रमें नहीं हूँ अथवा ये भूतमात्र भी मुझमें नहीं हैं और मैं भी इनमें नहीं हूँ। हे पार्थ! यह मुख्य बात तुम कभी मत भूलो। यह गूढ़ ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है और आज यह बात मैं तुम्हें एकदम खुले शब्दोंमें साफ-साफ बतला रहा हूँ। अब तुम इधर-उधर भटकनेवाली इन्द्रियोंके द्वार बन्द करके अपने हृदयमें इस रहस्यके माधुर्यका उपभोग करो। हे पार्थ! जिस समयतक यह रहस्य हाथ नहीं लगता, उस समयतक इस नाम-रूपवाले संसारमें मेरे सत्य स्वरूपका ठीक वैसे ही पता नहीं चलता, जैसे भूसेमें अनाजके दानोंका। सामान्यतया ऐसा मालूम पड़ता है कि तर्कके रास्तेसे ही मर्मका पता चलता है; पर यथार्थतः बिना अनुभूतिके इस मर्मका ज्ञान भी व्यर्थ है; कारण कि मृगजलकी आर्द्रतासे जमीन कभी गीली नहीं हो सकती। यदि जलमें जाल फैला दिया जाय तो ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रबिम्ब उसी जालमें आकर उलझ गया है। परन्तु जब वह जाल जलसे किनारे निकाल दिया जाता है, तब उसमेंका चन्द्रमा कहाँ चला जाता है? इसी प्रकार लोग व्यर्थकी वाचालता करके अनुभवकी आँखोंमें धूल झोंकते हैं तथा अनुभव न होनेपर भी वाचालतापूर्वक कह बैठते हैं कि हमें अनुभव हो गया; परन्तु जिस समय यथार्थ-बोधका अवसर आता है, उस समय उनके उस अनुभवका कहीं ठौर-ठिकाना ही नहीं रह जाता। (१३१—१३९)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

किंबहुना, यदि तुम्हें सचमुच संसारका डर मालूम होता हो और मेरे प्रति तुम्हारा विशुद्ध अनुराग हो, तो तुम्हारे लिये यही समीचीन है कि तुम इस तत्त्व-विचारको भलीभाँति प्रयत्नपूर्वक स्मरण रखो। नहीं तो जिस प्रकार आँखोंमें पीलिया रोग हो जानेपर धवल चाँदनी भी पीली जान पड़ती है उसी प्रकार मेरा निर्मल स्वरूप भी दोषयुक्त प्रतीत होने लगता है अथवा जैसे ज्वरके कारण मुखका स्वाद बदल जानेसे दूध भी कड़वा लगने लगता है, वैसे ही मेरे मनुष्य न रहते हुए भी लोग मुझे मनुष्य मानने लगते हैं। इसीलिये, हे धनंजय! मैं बारम्बार तुमसे कहता हूँ कि तुम इस रहस्य-ज्ञानको मत भूलो; कारण कि बिना इस रहस्यके केवल स्थूल दृष्टि किसी कामकी नहीं। मुझे स्थूल दृष्टिसे देखना ही वास्तवमें अज्ञान है, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति स्वप्नमें अमृतका पान कर ले, तो उससे वह व्यक्ति कभी अमर नहीं हो सकता। सामान्यतया मूढ़जन मुझे स्थूल दृष्टिसे देखते हैं और उसी रूपमें मुझे जानते भी हैं; परन्तु जिस प्रकार उस हंसका अन्त होता है, जो जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले नक्षत्रोंके धोखेमें आ जाता है और उन्हींको रत्न समझकर उन्हें पानेकी आशा करता है, उसी प्रकार यह ऊपरी ज्ञान भी यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके मार्गमें बहुत बड़ा रोड़ा होता है। यदि हम मृगजलको ही गंगा मानकर उसके निकट जायँ तो उससे भला हमें किस फलकी प्राप्ति हो सकती है? यदि हम बबूलवृक्षको ही कल्पवृक्ष समझकर उसकी सेवा करें तो उससे क्या लाभ होगा? यदि हम विषैले सर्पको नीलमणिका हार समझकर हाथमें पकड़ें अथवा सफेद पत्थरको ही रत्न मानकर उसे बटोरें अथवा खैरके जलते हुए अंगारोंको यह समझकर झोलीमें भर लें कि यह तो गुप्त धनका भण्डार खुल गया अथवा यदि कोई सिंह किसी कूपमें अपनी परछाईं देखकर वास्तविक सिंह और

परछाईंमें अन्तरका विचार न करके उस कूपमें कूद पड़े, तो उसका क्या परिणाम होगा? इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने चित्तमें इस बातका निश्चय कर लेते हैं कि मैं परमात्मा वास्तवमें साकार होकर संसारमें अवतार लेता हूँ और यही जानकर इस सांसारिक प्रपंचमें लीन होते हैं, उनके विषयमें यही जान लेना चाहिये कि वे जलमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बको ही चन्द्रमा समझकर उसका संग्रह करते हैं।

इस प्रकार बुद्धिका भ्रमिष्ट निश्चय केवल व्यर्थ ही होता है। जैसे कोई कांजी (माड़) पीये और परिणाम अमृतका देखना चाहता हो, तो ठीक वैसी ही बात यह भी है कि इस विनाशी नाम-रूपवाले स्थूल रूपपर श्रद्धायुक्त चित्तसे पूर्ण भरोसा रखा जाय और तब उसीमें मेरा अविनाशी रूप देखा जाय। भला इस प्रकारकी चेष्टासे मैं कैसे दिखलायी पड़ सकता हूँ? क्या पूर्व दिशाकी तरफ जानेवाले रास्तेसे चलकर कभी कोई पश्चिमी समुद्रके उस पारवाले तटपर पहुँच सकता है? अथवा हे सुभट! क्या भूसा कूटनेसे उसमेंसे कभी अनाजका दाना मिल सकता है? इसी प्रकार जिस स्थूल विश्वका आकार सिर्फ विकारसे निर्मित है, उसीको जानकर मेरा केवल, निराकार और निर्गुण स्वरूप भला कैसे जाना जा सकता है? क्या फेन पीनेसे ही जल पीनेका फल हो सकता है? इसी प्रकार मनमें मोह उत्पन्न होनेके कारण लोग भ्रमसे यह कल्पना कर लेते हैं कि यह विश्व मैं परमात्मा ही हूँ और तब यह मान लेते हैं कि यहाँके जो जन्म और मृत्यु आदि कर्म हैं, वे मुझपर भी प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार वे लोग मुझ अनामका नामकरण कर लेते हैं, क्रियाहीनपर कर्मका और विदेहपर देह-धर्मका आरोप कर लेते हैं। वे लोग मुझ निराकारका आकार मान लेते हैं, मुझ उपाधिहीनपर उपचार विधिका आरोप करते हैं, मेरे निष्क्रिय होनेपर भी मुझपर व्यवहारका, वर्णहीन होनेपर भी वर्णका, निर्गुण होनेपर भी गुणका, हाथ-पैर न होनेपर भी हाथ-पैरका अपरिमित होनेपर भी परिमितका, सर्वव्यापी होनेपर भी एकदेशीय होनेका आरोप

करते हैं। जैसे सुषुप्त व्यक्ति स्वप्नावस्थामें अपने बिस्तरपर ही अरण्य देखता है, वैसे ही वे लोग मुझ श्रवणहीनपर श्रवण, नेत्रहीनपर नेत्र, गोत्ररहितपर गोत्र और रूपहीनपर रूपका आरोप करते हैं। यद्यपि मुझमें इच्छा, तृप्ति, वस्त्र, भूषण और कारण इत्यादि कुछ भी नहीं है, पर फिर भी वे मुझमें इन सब चीजोंका आरोप करते हैं। यद्यपि मैं स्वयंसिद्ध हूँ, पर फिर भी वे मेरी मूर्तिका निर्माण करते हैं; मैं स्वयम्भू हूँ, पर फिर भी मेरी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं और मैं नित्य-निरन्तर और सर्वव्यापक हूँ, पर फिर भी वे मेरा आवाहन और विसर्जन करते हैं। यद्यपि मैं सदा स्वयंसिद्ध हूँ परन्तु वे अपनी बुद्धिसे मेरे विकारहीन एकरूपके साथ बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थाका सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। यद्यपि मैं द्वैतहीन हूँ, पर फिर भी वे मुझमें द्वैतभावका आरोप करते हैं। मुझ अकर्ताको कर्ता और मुझ अभोक्ताको भोगोंका उपभोग करनेवाला समझते हैं। यद्यपि मेरा कोई कुल नहीं है, पर फिर भी वे मेरे कुलका निरूपण करते हैं। मेरे अविनाशी होनेपर भी मेरी मृत्युकी कल्पना करके दुःखी होते हैं और यद्यपि मैं सबके भीतर समान रूपसे रहता हूँ, पर फिर भी मेरे विषयमें शत्रु और मित्र इत्यादि भावोंकी सम्भावना करते हैं, यद्यपि मैं आत्मानन्दका साक्षात् भण्डार हूँ, परन्तु फिर भी वे समझते हैं कि मैं भाँति-भाँतिके सुखोंकी लालसा करता हूँ। यद्यपि मैं सर्वत्र समभावसे रहता हूँ, पर फिर भी वे मुझे एकदेशीय समझते हैं और यह मानते हैं कि मैं अमुक स्थल-विभागमें रहता हूँ और यद्यपि मैं समस्त जड़-जंगमकी आत्मा हूँ, पर फिर भी वे मेरे विषयमें यह कहते हैं कि मैं एकका पक्ष लेता हूँ और दूसरेपर कोप करके उसे मारता हूँ। कहनेका अभिप्राय यह है कि इस प्रकारके जो अनेक मनुष्य-धर्म हैं, उन्हींको वे 'मैं' कहने लगते हैं और उन सबका मुझमें आरोप करते हैं। इस प्रकार उनके ज्ञानका स्वरूप सत्यके एकदम विपरीत होता है। वे जिस समय कोई मूर्ति अपने समक्ष देखते हैं, उस समय उसीको देवता कहने

लगते हैं, पर जिस समय वही मूर्ति खण्डित हो जाती है, उस समय यह कहकर उसे फेंक देते हैं कि यह देवता नहीं है। आशय यह है कि वे लोग नाना प्रकारसे यही मानते हैं कि मैं साकार मनुष्य ही हूँ। इस प्रकार उनका यह विपरीत ज्ञान ही सच्चे ज्ञानको अँधेरेमें रखता है और सच्चा ज्ञान उनकी दृष्टिके समक्ष नहीं आने पाता। (१४० १७१)

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

इसीलिये ऐसे व्यक्तियोंका जन्म लेना व्यर्थ ही सिद्ध होता है, वर्षा ऋतुके अलावा अन्य ऋतुओंमें जो मेघ दृष्टिगोचर होते हैं अथवा मृगजलकी जो तरंगें उठती हुई दृष्टिगत होती हैं, वे सब दूरसे ही देखनेभरकी होती हैं। यदि उनके समीप जाकर उनकी परीक्षा की जाय तो वे दोनों ही निस्सार और व्यर्थ सिद्ध होते हैं। बालकोंके खेलनेके लिये मिट्टीके जो घुड़सवार आदि खिलौने बनाये जाते हैं अथवा जादूगरोंके द्वारा जो अलंकार इत्यादि बनाये जाते हैं अथवा आकाशमें बादलोंसे निर्मित जो गन्धर्व नगर दिखायी देते हैं, वे सब वास्तवमें कुछ न होनेपर भी देखनेवालोको भासमान होते ही हैं सरपत सीधा बढ़ता तो रहता है पर उसमें फल नहीं लगते और उसके काण्ड (तना) भी भीतरसे पोले ही होते हैं अथवा बकरीके गलेमें जो स्तन निकलते हैं, वे भी सिर्फ दिखाऊ ही होते हैं, ठीक इसी प्रकारका मूर्ख व्यक्तियोंका जीवन भी होता है। उनके किये हुए कर्म सेमलके फलोंकी ही भाँति लेन देनके कामके नहीं होते और सिर्फ धिक्कारनेके योग्य होते हैं। इस प्रकारके लोग जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह बन्दरके द्वारा तोड़े हुए नारियलकी भाँति अथवा अन्धेके हाथ लगे हुए मोतियोंके सदृश निष्फल होता है। किंबहुना, उनके सीखे हुए शास्त्र छोटी सी लड़कीके हाथमें दिये हुए शस्त्रके समान अथवा अपवित्र मनुष्योंके बीजमन्त्रोंके समान केवल निरर्थक सिद्ध होते हैं, इसी प्रकार उनके समस्त ज्ञान संग्रह और कर्म सग्रह दोनों निरर्थक ही होते हैं, कारण कि उनके चित्तमें स्थिरताका सर्वथा अभाव होता है। सद्बुद्धिको

भी ग्रसनेवाली, विवेकका ठौर-ठिकाना मिटा देनेवाली और अज्ञानरूपी अन्धकारमें विचरण करनेवाली तामसी राक्षसी प्रकृति (माया)-के चंगुलमें वे लोग फँसे रहते हैं और इसीलिये उनके चित्तके धुर्रे उड़ जाते हैं और वे तमोगुणी राक्षसीके मुखमें जा पड़ते हैं। उस तामसी राक्षसीके मुखमें आशारूपी लारके अन्दर हिंसारूपी जीभ लपलपाती रहती है जो असन्तोषरूपी मांसके लोंदेको निरन्तर चबाती रहती है। यह हिंसारूपी जिह्वा होंठ चाटती हुई अनर्थरूपी कानोंतक बाहर निकलती है। यह तामसी राक्षसी दोषोंके प्रमादरूपी पर्वतोंकी कंदराओंमें बराबर मत्त होकर विचरण करती है, उसकी द्वेषरूपी दाढ़ें ज्ञानको चबाकर पीस डालती हैं। जिस प्रकार अगस्त ऋषिको कुम्भका आवरण था उसी प्रकार स्थूल बुद्धिवाले मूढजनोंके लिये वह त्वचा और अस्थिके आवरणके समान होती है। इस प्रकार इस तामसी माया राक्षसीके मुखमें जो लोग भूतोंको दी हुई बलिकी भाँति पड़ते हैं, वे भ्रान्ति (अज्ञान)-रूपी कुण्डमें डूबकर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार तमोगुणके गड्ढेमें गिरे हुए लोगोंतक सहायताके लिये विचारका हाथ पहुँच ही नहीं सकता। इस प्रकारके लोगोंकी तो कोई बात ही नहीं करनी चाहिये; कारण कि इस बातका पता भी नहीं चलता कि वे कहाँ चले गये। इसीलिये इन मूढ़जनोंकी यह व्यर्थ कथा अब बन्द की जाती है; क्योंकि व्यर्थ विस्तारसे वाणीको ही कष्ट होगा।'' देवकी इस प्रकारकी बातें सुनकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने कहा—''हे महाराज! आप जो कुछ कहते हैं, वह बिलकुल ठीक है।'' इसपर श्रीकृष्णने कहा—''हे पाण्डुपुत्र! अब मैं साधुजनोंकी स्थिति बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (१७२—१८७)

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

अनवरत पावन स्थानोंमें निवास करनेका संकल्पक मैं क्षेत्र संन्यासी जिनके विशुद्ध मनमें निवास करता हूँ, जिन्हें वैराग्य कभी सुप्तावस्थामें भी त्यागकर कहीं नहीं जाता; जिनकी श्रद्धायुक्त शुद्ध भावनाओंमें धर्मका

साम्राज्य रहता है, जिनके मनमें निरन्तर विवेककी आर्द्रता रहती है, जो ज्ञानरूपी गंगामें स्नान कर चुके होते हैं, जो पूर्णतारूपी भोजन कर तृप्त हो चुके होते हैं, जो शान्तिरूपी बेलमें मानो नूतन पल्लवकी भाँति निकले हुए होते हैं, जो उस परब्रह्ममें निकले हुए अंकुरके समान होते हैं जिसमें जगत्‌की परिणति होती है, जो धैर्य मण्डपके खम्भे जान पड़ते हैं, जो आनन्दरूपी समुद्रमें डुबाकर भरे हुए कुम्भके समान होते हैं, जिनका भक्तिके प्रति इतना प्रगाढ़ अनुराग होता है कि उसके समक्ष मुक्तिको भी 'पीछे हट' ऐसा कहते हैं, जिनके सहज आचरणमें भी नीति जीवितरूपसे विहार करती हुई जान पड़ती है, जिनकी सारी इन्द्रियाँ शान्तिरूपी अलंकारको धारण की होती हैं और जिनका चित्त इतना व्यापक होता है कि वह मुझ-जैसे सर्वव्यापकको भी चतुर्दिक् आच्छादित कर लेता है, इस प्रकार जो महानुभाव मेरा वह सत्य स्वरूप पूर्णरूपसे जान लेते हैं, जो दैवी सम्पत्तिका सौभाग्य ही है और दिनोंदिन बढ़ते हुए प्रेमसे मेरा भजन करते हैं, पर जिनका मनोधर्म द्वैतभावका कभी स्पर्श भी नहीं करता, हे पाण्डव! वे लोग मद्रूप होकर ही रहते हैं वे मेरी सेवा तो करते हैं; परन्तु उस सेवामें जो एक विलक्षणता होती है, वह भी मनोयोगपूर्वक सुनो। (१८८—१९६)

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

इस प्रकारके भक्त प्रायश्चित्तका व्यापार तो बन्द कर देते हैं और कीर्तन करते हुए भक्तिके आवेशमें नृत्य करने लगते हैं। उनका प्रायश्चित्तका व्यापार इसलिये बन्द हो जाता है कि उनमें पाप लेशमात्र भी नहीं होता। ये यम और दम इत्यादिको तेजहीन कर देते हैं, तीर्थोंके नामो-निशानतक मिटा देते हैं और यमलोकके सम्पूर्ण क्रिया-कलापको बन्द कर देते हैं, क्योंकि यम कहता है कि इन लोगोंने तो पहलेसे ही इन्द्रियोंको अधीन कर रखा है तो फिर मैं अब किसका नियमन करूँ? इसी प्रकार इन लोगोंके मनोनिग्रहको देखकर दम कहता है कि मैं अब किसका दमन

करूँ? तीर्थ कहते हैं कि इनके शरीरके अवयवोंमें इतना भी दोष नहीं है, जो औषधभरको भी मिल सके। फिर हम अपने पावन गुणसे इनका कौन-सा मल दूर करें। इस प्रकार वे लोग सिर्फ मेरे नामके घोषसे ही जगत्के दुःखोंका अन्त करके पूरे संसारको महासुख (आत्मसुख)-से लबालब भर देते हैं। वे बिना प्रभातके ही ज्ञानरूपी दिनका उदय करा देते हैं, बिना अमृतके ही अमर कर देते हैं और बिना योगके ही आँखोंको कैवल्यका दर्शन करा देते हैं; परन्तु वे यह भेद नहीं करते कि यह राजा है और यह रंक है, वे यह नहीं विचारते कि यह छोटा है और यह बड़ा है; वे तो सम्पूर्ण जगत्के लिये आनन्दका बाड़ा समान रूपसे खुला रखते हैं। वैकुण्ठमें तो शायद ही कभी कोई जाता हो, पर वे सारे संसारको ही वैकुण्ठ बना डालते हैं। इस प्रकार वे एकमात्र नाम-कीर्तनके घोषसे सारे विश्वको प्रकाशमय बना देते हैं। वे सूर्यके सदृश तेजस्वी होते हैं, पर सूर्यको जो अस्त होनेका दोष लगता है, वह दोष उन्हें कभी छू भी नहीं सकता। चन्द्रमा तो सिर्फ पूर्णिमाको ही पूर्ण मण्डलाकार दृष्टिगोचर होता है, पर वे सदा पूर्ण ही रहते हैं। निःसन्देह मेघ उदार होते हैं, पर उनकी पूँजी भी कभी-न-कभी खाली हो जाती है और इसलिये वे भी उन महात्माओंकी बराबरी नहीं कर सकते। इन्हें सचमुच उड़ते हुए सिंह कहना चाहिये। एक बार मेरा जो नाम मुखपर लानेके लिये सहस्रों जन्म लेने पड़ते हैं, वह नाम उनकी जिह्वापर प्रेमके कारण सदा थिरकता रहता है। मैं ऐसा हूँ कि वैकुण्ठमें भी नहीं रहता, मैं भानुमण्डलमें भी नहीं रहता और यहाँतक कि मैं योगियोंके मनको भी पार करके निकल जाता हूँ। यदि मैं कहीं न मिलूँ तो भी, हे पाण्डव! जिस जगहपर मेरे भक्त प्रेमसे मेरे नामका घोष करते रहते हैं, उस जगहपर मैं सहजमें मिल जाता हूँ। जरा देखो कि वे लोग मेरे गुणोंमें किस हदतक और कैसे लीन हो जाते हैं। उन्हें देश-कालका भी स्मरण नहीं रह जाता और वे मेरे नाम-संकीर्तनमें आत्मसुख प्राप्त करते हैं। उनकी कृष्ण, विष्णु,

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

जैसे सूर्य समस्त प्राणियोंके व्यापारका केवल निमित्त होता है, वैसे ही हे पाण्डुसुत! मैं भी जगत्की उत्पत्तिका तटस्थरूपसे निमित्तमात्र होता हूँ। इसका कारण यही है कि मैं जो मूल प्रकृतिको धारण करता हूँ, उसीसे इस स्थावर, जंगम जगत्की उत्पत्ति होती है और इस दृष्टिसे विचार करनेपर मैं ही इस जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ। अब तुम इस दिव्य ज्ञानके आलोकमें मेरे इस ऐश्वर्ययोगका तत्त्व देखो। वह तत्त्व यह है कि भूतमात्र मुझमें हैं, परन्तु मैं भूतमात्रमें नहीं हूँ अथवा ये भूतमात्र भी मुझमें नहीं हैं और मैं भी इनमें नहीं हूँ। हे पार्थ! यह मुख्य बात तुम कभी मत भूलो यह गूढ़ ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है और आज यह बात मैं तुम्हें एकदम खुले शब्दोंमें साफ साफ बतला रहा हूँ। अब तुम इधर उधर भटकनेवाली इन्द्रियोंके द्वार बन्द करके अपने हृदयमें इस रहस्यके माधुर्यका उपभोग करो। हे पार्थ! जिस समयतक यह रहस्य हाथ नहीं लगता, उस समयतक इस नाम-रूपवाले संसारमें मेरे सत्य स्वरूपका ठीक वैसे ही पता नहीं चलता, जैसे भूसेमें अनाजके दानोंका। सामान्यतया ऐसा मालूम पड़ता है कि तर्कके रास्तेसे ही मर्मका पता चलता है; पर यथार्थतः बिना अनुभूतिके इस मर्मका ज्ञान भी व्यर्थ है; कारण कि मृगजलकी आर्द्रतासे जमीन कभी गीली नहीं हो सकती। यदि जलमें जाल फैला दिया जाय तो ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रबिम्ब उसी जालमें आकर उलझ गया है। परन्तु जब वह जाल जलसे किनारे निकाल दिया जाता है, तब उसमेंका चन्द्रमा कहाँ चला जाता है? इसी प्रकार लोग व्यर्थकी वाचालता करके अनुभवकी आँखोंमें धूल झोंकते हैं तथा अनुभव न होनेपर भी वाचालतापूर्वक कह बैठते हैं कि हमें अनुभव हो गया; परन्तु जिस समय यथार्थ-बोधका अवसर आता है, उस समय उनके उस अनुभवका कहीं ठौर-ठिकाना ही नहीं रह जाता। (१३१—१३९)

और दूसरा मच्छर है और इन दोनोंके अन्तरालमें जो कुछ है, वह सब मेरा ही स्वरूप है। फिर ये छोटे-बड़े और सजीव-निर्जीवका कोई भेद नहीं करते। उस समय जो भी चीज उनके दृष्टिपथमें पड़ती है, उसे वे मेरा ही स्वरूप समझकर उसको दण्डवत् करते हैं। उन्हें अपनी श्रेष्ठताका ध्यान ही नहीं रह जाता और न दूसरोंकी योग्यता तथा अयोग्यताकी ही कोई भावना रह जाती है। उन्हें एक सिरेसे जीवमात्रका विनम्रतापूर्वक सम्मान करना ही रुचिकर लगता है; जैसे ऊँची जगहपर गिरा हुआ जल स्वतः एकत्रित होकर फिर नीचेकी ओर ही बहता हुआ आ जाता है, वैसे ही उन भक्तोंका यह स्वभाव ही हो जाता है कि वे जीवमात्रको देखते ही विनम्र हो जाते हैं अथवा जैसे फलदार वृक्षकी शाखाएँ स्वतः झुककर जमीनकी ओर आ जाती हैं, वैसे ही वे जीवमात्रके समक्ष स्वभावतः नम्र हो जाते हैं। वे सदा गर्वशून्य रहते हैं। वे विनम्रताको ही अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य समझते हैं और उसे वे जय-जय मन्त्रपूर्वक मुझे समर्पित कर देते हैं। इस प्रकार निरन्तर जीवमात्रके समक्ष विनम्र होते रहनेके कारण उनकी मान-अपमानकी भावना एकदम नष्ट हो जाती है और इसीलिये वे स्वतः मद्रूप होकर और सदा समरस रहकर उपासना करते रहते हैं। हे अर्जुन! इस प्रकार मैंने तुम्हें सच्ची और महत्त्वपूर्ण भक्तिकी सब बातें बतला दी हैं, अब जरा तुम उन लोगोंकी भी बातें सुन लो जो ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरी उपासना करते हैं। हे किरीटी! भजन करनेका कौशल तो तुम जानते ही हो, क्योंकि इस विषयका विवेचन मैं पहले ही कर चुका हूँ।" श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर अर्जुनने कहा—"हाँ महाराज! यह देवकी कृपा ही है इस सौभाग्यका प्रसाद मुझे एक बार प्राप्त हो चुका है। तो भी यदि अमृत बार-बार परोसा जाय तो क्या कभी कोई यह कह सकता है कि बस, अब और नहीं चाहिये।"

अर्जुनकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णको यह भान हो गया कि अब इसे इस विषयका चस्का पड़ गया है और ज्ञान-सुखसे इसका अन्तःकरण

डोलने लग गया है। अतः श्रीकृष्णने कहा—"शाबाश! पार्थ, तुमने यह बहुत अच्छी बात कही और नहीं तो यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो इस विषयके निरूपणका यह कोई उचित प्रसंग नहीं था; परन्तु मेरे हृदयमें तुम्हारे लिये जो आदर-भाव रहता है, वही मुझे कुछ कहनेमें प्रवृत्त करता है।" यह सुनकर अर्जुनने कहा—"हे देव! आप यह कैसी बातें कहते हैं? यदि चक्रवाक पक्षी न हो तो क्या चन्द्रिका नहीं छिटकती? जगत्को शीतल करना क्या चन्द्रिकाका सहज स्वभाव नहीं है? जैसे चक्रवाक पक्षी अपने अनुरागके कारण चोंच खोलकर चन्द्रमाकी तरफ देखता है, वैसे ही हे देव! हे कृपासिन्धु!! मैं भी आपसे थोड़ी-सी प्रार्थना करता हूँ; परन्तु महाराज! आप तो कृपाके प्रत्यक्ष सागर ही हैं। मेघ अपनी सामर्थ्यसे ही संसारकी पीड़ा हरता है और नहीं तो यदि मेघसे होनेवाली वर्षाका विचार किया जाय तो उसके समक्ष चातककी प्यास कितनी अल्प ठहरती है! परन्तु जैसे अंजलिभर जलके लिये भी गंगा-तटपर जानेकी आवश्यकता होती है, वैसे ही मेरी इच्छा चाहे थोड़ी हो और चाहे बहुत, पर हे देव! आपको सब बातें विस्तारपूर्वक ही बतानी चाहिये।" यह सुनकर देवने कहा—"अच्छा, अब इन बातोंको जाने दो। मुझे जो तुष्टि मिली है, उसके कारण अब तुम्हारे मुखसे निःसरित स्तुति सहन करनेके लिये अवकाश ही नहीं रह गया। तुम मेरी बातें सच्चे मनसे सुन रहे हो और यही बात मेरे वक्तृत्वके लिये उत्साह बढ़ानेवाली हो रही है।" इस प्रकारकी बातें कहकर श्रीहरिने अपनी वक्तृताको आगे बढ़ाया— (१९७—२३८)

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

67

"अब मैं ज्ञान-यज्ञका सम्पादन किस प्रकार होता है, उसके सम्बन्धमें बतलाता हूँ। परब्रह्ममें जो '**एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय**' वाला आदि संकल्प उत्पन्न होता है, वह इस यज्ञका यज्ञ-स्तम्भ है। पंचमहाभूत यज्ञमण्डप हैं

और द्वैत यज्ञ-पशु है। फिर पंचमहाभूतोंके जो विशेष गुण अथवा इन्द्रियाँ तथा प्राण हैं वही इस ज्ञानयज्ञकी सामग्री है। अज्ञान घृत है, जो इस यज्ञमें हवन करनेके काम आता है। इस ज्ञान-यज्ञमें मन और बुद्धिरूपी कुण्डोंमें ज्ञानाग्नि धधकती रहती है और हे पार्थ! साम्यभावनाको ही इस ज्ञान-यज्ञकी सुन्दर वेदी जानना चाहिये। विवेकयुक्त बुद्धिकी कुशलता ही मन्त्रकी शक्ति है, शान्ति ही इसका यज्ञपात्र है तथा जीव यज्ञ करनेवाला यजमान है। यही यज्ञकर्ता जीव ब्रह्मानुभवके पात्रमेंसे विवेकरूपी महामन्त्रके द्वारा ज्ञानरूपी अग्निके होममें द्वैतकी आहुति देता है। जिस समय अज्ञानका अन्त हो जाता है, उस समय यज्ञ करनेवाला यजमान और यज्ञविधि दोनोंका अवसान हो जाता है। फिर जब आत्मैक्यके जलमें जीव अवभृथस्नान करता है, तब भूत, विषय और इन्द्रियाँ अलग-अलग नहीं दिखायी देतीं। आत्मैक्य बुद्धिके पूर्णतया प्रतिबिम्बित हो जानेके कारण सब कुछ एक ब्रह्मरूप ही जान पड़ता है। हे अर्जुन! जैसे निद्रासे जागा हुआ व्यक्ति कहता है कि सुप्तावस्थामें जो स्वप्न मैंने देखा था उसकी विचित्र सेना मैं ही बना हुआ था; पर अब मैं जाग्रत्-अवस्थामें हूँ। वह स्वप्नावस्थाकी सेना एकमात्र भ्रमजाल थी। यह सब कुछ मैं ही था और अब भी मैं ही हूँ।'' वैसे ही ज्ञान-यज्ञ सम्पादन करनेवालेकी समझमें यह बात भलीभाँति आ जाती है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक अभिन्न ब्रह्मरूप ही है। इससे उसका जीव-भाव ही समाप्त हो जाता है। वह परमात्मज्ञानसे भर जाता है और ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है। बस, कुछ लोग इसी एक भावसे ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरी भक्ति करते हैं और कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो यह मान्यता रखते हैं कि यह विश्व अनादि है। इस विश्वमें होते तो सब एक-दूसरेके समान ही हैं, पर नाम और रूप इत्यादिके कारण वे भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं। यही कारण है कि इस विश्वमें भेद-भाव भासमान होता है, पर फिर भी भेद-भावके कारण उनके ज्ञानमें भेद नहीं होता। जिस प्रकार अवयव पृथक्-पृथक् होनेपर भी वे वास्तवमें एक ही शरीरके होते हैं अथवा शाखाएँ छोटी-

बड़ी होनेपर भी जिस प्रकार वे एक ही वृक्षकी होती हैं अथवा रश्मियाँ अनगिनत होनेपर भी वे सब एक ही सूर्यकी होती हैं, उसी प्रकार उनके लिये तरह-तरहकी रूपात्मक वस्तुएँ, उनके भिन्न-भिन्न नाम, उनके भिन्न-भिन्न व्यापार और उन सबसे सम्बन्धित भेद भौतिक विश्वभरके लिये ही होते हैं और उन भक्तोंको यह बात अच्छी तरहसे मालूम है कि मैं पूर्णरूपसे भेद-भावसे रहित हूँ। हे पाण्डव! जो इस भिन्न प्रकारसे अपने ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानको भेद भावका स्पर्श नहीं होने देते, वे ही अच्छी तरहसे ज्ञान-यज्ञ करते हैं; क्योंकि जिस समय और जिस जगहपर उन्हें जो कुछ दृष्टिगत होता है, उसके विषयमें पहलेसे ही उनका यह ज्ञान रहता है कि वह मुझ परब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। देखो, जो बुलबुला बनता है वह जलरूप ही होता है, अब चाहे वह फूट जाय और चाहे रहे, पर उसके विषयमें जो कुछ होता है, वह जलसे ही होता है। धूलके कण वायुके वेगसे भले ही इधर उधर उड़ने लगें, पर फिर भी उनका पृथ्वीभाव कभी विनष्ट नहीं होता और जिस समय वे गिरते हैं, उस समय पृथ्वीपर ही गिरते हैं। इसी प्रकार चाहे कोई नाम-रूपवाली वस्तु क्यों न हो, फिर चाहे वह रहे अथवा नष्ट हो जाय, पर वह अनवरत ब्रह्मरूप ही रहती है। मैं जिस प्रकार सर्वव्यापक हूँ, उसी प्रकार उनका ब्रह्मानुभव भी सर्वव्यापक होता है। इस प्रकारके लोग यह ज्ञान रखकर सब प्रकारके व्यवहार करते हैं कि नानाविध विश्व एकविध ब्रह्म ही है।

हे धनंजय! जैसे इस सूर्य-बिम्बको जो देखना चाहता है, यह उसके सामने ही रहता है, वैसे ही इस विश्वको अपने ब्रह्मबोधसे व्याप्त रखनेके कारण वे भी सबको अपने सामने ही दिखायी देते हैं। हे अर्जुन! उनके ज्ञानमें लेशमात्र भी भेद-भाव नहीं होता। जैसे आकाशमें वायु सर्वत्र समान भावसे भरी रहती है, वैसे ही उनका ज्ञान भी समस्त विश्वको समभावसे व्याप्त रखता है। जितनी अधिक मेरी व्याप्ति है उतनी ही उनके ब्रह्मबोधकी भी व्याप्ति रहती है और इसीलिये चाहे वे उपासना करें अथवा न करें,

पर फिर भी उनके द्वारा मेरी स्वतः उपासना हो जाती है। यूँ तो सर्वत्र एकमात्र मैं ही हूँ, फिर भला मेरी उपासना किससे और कब नहीं होती! पर उन सब लोगोंको वह सर्वव्यापक ज्ञान नहीं होता, इसलिये जीव अप्राप्त स्थितिमें रहते हैं—वे मेरे यथार्थ स्वरूपको प्राप्त नहीं होते। पर अब विशेष विस्तारकी आवश्यकता नहीं। इस प्रकारके योग्य ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरी उपासना किस तरह की जाती है, इसके विषयमें मैंने तुम्हें बतला दिया है। भिन्न-भिन्न मनुष्योंके द्वारा और भिन्न-भिन्न साधनोंसे जिन-जिन कर्मोंका आचरण होता है, वे सब अन्ततः मुझे ही अर्पित होते हैं; परन्तु मूर्ख व्यक्तियोंको इस रहस्यका ज्ञान नहीं होता और इसीलिये वे मेरा शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं करते। (२३९—२६४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

पर जिस समय उस शुद्ध ब्रह्मज्ञानका उदय हो जाता है, उस समय इस बातका ज्ञान हो जाता है कि जो मुख्य वेद हैं, वह भी मैं ही हूँ और वेदोंमें वर्णित अनुष्ठान-विधिसे जो क्रतु या यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, वह भी मैं ही हूँ। फिर उन क्रतु-कर्मोंसे जो यथास्थित यज्ञ होते हैं, वे सांगोपांग यज्ञ भी मैं ही हूँ। स्वाहा मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, सोमवल्ली इत्यादि नाना प्रकारकी औषधियाँ मैं हूँ, घृत और समिधा मैं हूँ, मन्त्र और होमद्रव्य भी मैं ही हूँ, ऋत्विज् मैं हूँ, जिसमें यज्ञ किया जाय वह अग्नि ही मेरा स्वरूप है और जिन-जिन वस्तुओंका हवन किया जाय, वह सब मैं ही हूँ। (२६५—२६८)

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

जिसके सम्बन्धसे इस अष्टधा प्रकृति (माया)-से यह नाम-रूपवाला जगत् उत्पन्न होता है, उस जगत्का पिता भी मैं ही हूँ। अर्धनारी नटेश्वरकी मूर्तिमें स्थित जो पुरुष होता है, वह नारी भी होता है और इसी प्रकार

इस चराचर जगत्‌की माता भी मैं ही हूँ। फिर उत्पन्न होनेवाला जगत् जिसके आधारपर बना रहता है और बढ़ता है, वह आधार भी मेरे अलावा अन्य कोई नहीं है। यह प्रकृति और पुरुष (शिव-शक्ति) जिसके सहज संकल्पसे अस्तित्वमें आये हैं, वह त्रिलोकीका पिता भी मैं ही हूँ। हे सुभट! समस्त भिन्न-भिन्न ज्ञानमार्ग अन्ततः जिस एक चौराहेपर आकर मिलते हैं, जिसका नाम वेद्य (जाननेकी वस्तु) है, जहाँ नाना मत एकमत हो जाते हैं, जहाँ भिन्न-भिन्न शास्त्र परस्पर एक-दूसरेको पहचान लेते हैं और जहाँ उनका भेद-भाव बिलकुल समाप्त हो जाता है। जहाँ एक-दूसरेसे पृथक् रहनेवाला ज्ञानमार्गोंका मेल-मिलाप होता है, जिसे पवित्र नामसे पुकारते हैं और आदि संकल्परूपी ब्रह्मबीजसे अंकुरित नाद-स्वरूप घोष (ध्वनिमय अंकुर) का मूल स्थान जो ओंकार है, वह भी मैं ही हूँ। उस ओंकारके कुक्षिमें रहनेवाले जो अकार, उकार और मकार—ये तीनों अक्षर वेदोंके साथ उत्पन्न हुए हैं, वे अक्षर भी मैं ही हूँ। आत्माराम श्रीकृष्णने कहा कि ऋक्, यजुस् और साम ये तीनों वेद भी मैं ही हूँ और मैं ही वेदकी वंश-परम्परा भी हूँ। (२६९—२७७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् जिस प्रकृतिमें समाया हुआ है, वह प्रकृति थक जानेपर जिसमें विश्राम करती है, वह परम धाम भी मैं ही हूँ जिससे प्रकृति जीवन धारण करती है, जिसके अधिष्ठानसे वह इस विश्वको उत्पन्न करती है और जो इस प्रकृतिका संग करके गुणोंका उपभोग करता है, हे पाण्डुसुत! वह इस विश्व-लक्ष्मीका भर्ता भी मैं ही हूँ मैं ही इस सम्पूर्ण त्रैलोक्यका स्वामी भी हूँ। आकाश जो समस्त स्थानको व्याप्त करता है, वायु जो पलभर भी स्थिर नहीं रहती, अग्नि जो जलाती है, जल जो बरसता है, पर्वत जो अडिग रहते हैं, समुद्र जो अपनी मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करता, पृथ्वी जो जीवमात्रका बोझ ढोती है, वह सब

मेरी ही आज्ञासे। यदि मैं बोलूँ, तभी वेद भी बोलते हैं। मैं चलाऊँ तभी सूर्य भी चलता है। मेरे गति देनेसे ही संसारको गतिशील बनानेवाले प्राण भी चलते रहते हैं। मैंने जो नियम बना दिये हैं, उन्हींके अनुसार ही काल भी प्राणियोंका नाश करता है। हे पाण्डुसुत! जिसके संकेतमात्रसे ही ये सब काम होते हैं और जो जगत्का सामर्थ्यवान् प्रभु है, वह भी मैं ही हूँ तथा गगनकी भाँति कुछ भी न करके जो उदासीन रहनेवाला है, वह भी मैं ही हूँ। हे पाण्डव! जो इन सब नाम रूपोंमें व्याप्त है तथा जो इन सबका मूलाधार है, जो इस समस्त भौतिक सृष्टिका उसी प्रकार आधार होकर रहता है, जिस प्रकार जलकी तरंगोंका आधार जल ही होता है, वह आधार भी मैं ही हूँ। जो अनन्य भावसे मेरी शरणमें आता है, उसके जीवन-मृत्युके चक्रका अन्त मैं ही करता हूँ; इसलिये शरणागतोंका शरण्य भी मैं ही हूँ। मैं ही अनेकत्व धारण करके प्रकृतिके भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा जगत्के प्राणरूपसे कर्म करता हूँ। यह समुद्र है और यह गड्ढा है—इस प्रकारका भेद भाव सूर्य कभी नहीं करता। वह समस्त जलाशयोंपर एक समान प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर समस्त प्राणियोंमें समान भाव और सुहृद्-रूपसे रहनेवाला भी मैं ही हूँ। हे पाण्डव! मैं ही इस त्रिभुवनका जीवन हूँ। इस सृष्टिकी उत्पत्ति, नाशका कारण भी मैं ही हूँ। बीज ही समस्त शाखाओंको उत्पन्न करता है, पर फिर भी सारा वृक्षत्व उस बीजमें ही समाया रहता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् आदि संकल्पसे ही उत्पन्न होता है और अन्तमें उसीमें समाया रहता है। इस प्रकारका अव्यक्त वासनारूपी जो संकल्प जगत्का बीज है, वह संकल्प कल्पके अन्तमें वापस आकर जिसमें समाता है, वह भी मैं ही हूँ। जिस समय नाम और रूप विनष्ट होते हैं, व्यक्तियोंकी विशिष्टता नहीं रह जाती, जाति भेद समाप्त हो जाता है और आकार नहीं रह जाता, उस समयसे लेकर आदि संकल्पकी वासनाका फिरसे स्फुरण होनेके समयतक समस्त स्थावर जंगम जिसमें सुखपूर्वक निवास करते हैं, वह भी मैं ही हूँ। (२७८—२९५)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

जिस समय मैं सूर्यका वेश धारणकर तपता हूँ, उस समय जल सूख जाता है। फिर मैं ही इन्द्रके रूपमें वृष्टि करता हूँ, जिससे सर्वत्र फिर जल भर जाता है। जैसे अग्नि जिस समय लकड़ीको जलाती है उस समय वह लकड़ी ही अग्नि हो जाती है, उसी प्रकार मरने और मारनेवाले—ये दोनों मेरे ही स्वरूप होते हैं। यही कारण है कि जो लोग मृत्युके मुखमें प्रवेश करते हैं, वे भी मेरे ही रूप हैं और जो अमर हैं, वे तो स्वभावतः मेरे रूप हैं ही। जो बात बहुत विस्तारसे बतलानेकी है, वह अब मैं तुम्हें एक ही बारमें बतला देता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो।

सत् और असत् अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त, सब कुछ मैं ही हूँ। इसीलिये हे अर्जुन! ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ मैं न होऊँ। पर प्राणियोंका दुर्भाग्य ही है कि मैं उन्हें दिखायी ही नहीं देता। यदि लहरें पानी नहीं है, यह कहकर सूख जायँ अथवा सूर्यकी रश्मियाँ दीपक नहीं है, यह कहकर अन्धी हो जायँ, तो यह कितने आश्चर्यकी बात है! इसी प्रकार यह भी एक आश्चर्यकी ही बात है कि लोग मद्रूप होते हुए भी यह कहकर भ्रान्त होते हैं कि 'मैं नहीं हूँ'। इस सारे जगत्के अन्दर और बाहर केवल मैं ही हूँ और यह समस्त विश्व मेरी ही मूर्ति है; पर इन भाग्यहीनोंका कर्म कैसा विपरीत होता है कि वे यह कहते हैं कि 'मैं नहीं हूँ'। यह बात भी ठीक वैसी ही है, जैसे कोई पहले तो अमृतके कुएँमें गिर पड़े और फिर कुएँसे बाहर निकाले जानेकी इच्छा करे, तो फिर भला ऐसे अभागेके लिये क्या किया जाय? हे किरीटी! जैसे कोई अन्धा कौरभर अन्नके लिये दर-दरकी ठोकरें खाता रहता है और अपने अन्धेपनके कारण पैरमें लगनेवाले चिन्तामणिको ठुकरा देता है, वैसी ही दशा ज्ञानविहीन जीवोंकी भी होती है। इसीलिये व्यक्तिको जो कुछ करना चाहिये, वह उससे ज्ञानाभावके कारण नहीं हो सकता। अन्धे

गरुडको भी पंख होते हैं; पर वे किस कामके? इसी प्रकार ज्ञानके बिना सत्कर्मका परिश्रम (प्रयास) व्यर्थ जाता है। (२९६—३०६)

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

हे किरीटी! देखो, जो लोग आश्रम-धर्मका व्यवहार करनेके कारण स्वयं ही विधि-मार्गकी कसौटी बन जाते हैं, जिनकी यज्ञ-क्रिया देखकर तीनों वेद भी सन्तुष्ट होकर सिर हिलाते हैं और जिनके समक्ष यज्ञ-फल मूर्तिमान् होकर खड़ा रहता है, उन सोमपान करनेवाले यज्ञकर्ताओंके सम्बन्धमें जो स्वयं ही यज्ञ-रूप होते हैं, तुम यही जान लो कि उन्होंने पुण्यके नामसे पापोंको ही बटोरा है; कारण कि वे लोग तीनों वेदोंका पठन करके और सैकड़ों यज्ञोंका सम्पादन करके उस मुझको भुला बैठते हैं जिसको समस्त यज्ञ पहुँचते हैं और भूलकर वे लोग स्वर्ग-सुखकी इच्छा करते हैं, जैसे कोई भाग्यहीन व्यक्ति कल्पतरुके नीचे बैठकर अपनी झोलीमें गाँठ लगावे और तब उठकर भिक्षाटनके लिये दर-दर भटकता फिरे, ठीक वैसे ही जब ये लोग भी सैकड़ों यज्ञोंके द्वारा मेरी ही उपासना करके अन्ततः स्वर्ग सुखकी आकांक्षा करते हैं, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके कर्म वास्तवमें पुण्य ही हैं, पाप नहीं हैं? इसीलिये मेरा परित्याग कर स्वर्ग-सुखकी इच्छा करना अज्ञानका पुण्य मार्ग है, पर ज्ञानिजन इसे केवल उपद्रव ही समझते हैं। वास्तवमें नरकके दुःखोंको देखकर ही लोग स्वर्गको सुख समझते हैं। पर एकमात्र मेरा स्वरूप ही ऐसा है जो निर्दोष तथा अविनाशी सुख है। हे वीरशिरोमणि अर्जुन! मुझतक पहुँचनेमें जो दो टेढ़े और बाधक मार्ग हैं, वे यही हैं। स्वर्ग और नरक तो चोरोंके मार्ग हैं। विधान यह है कि पुण्यमिश्रित पापसे लोग स्वर्ग पहुँचते हैं, शुद्ध पापसे नरक प्राप्त करते हैं तथा दोषरहित विशुद्ध पुण्य करके मुझे प्राप्त करते हैं। हे पाण्डुसुत! मुझमें रहते हुए भी जिस कर्मके कारण लोग मुझे प्राप्त नहीं कर सकते, उसी कर्मको

पुण्य कहनेवाली जिह्वाके क्या सहस्रों टुकड़े नहीं हो जायँगे? पर ये दूसरे विषयकी बातें हैं और अब इन्हें जाने दो, अब अपने विषयमें ध्यान दो।

इस प्रकार ये यज्ञकर्ता यज्ञके द्वारा मेरा यजन करके स्वर्गके सुखको भोगनेकी याचना करते हैं और फिर अपने उस पापरूपी पुण्यकी सामर्थ्यसे, जिससे कभी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती, वे लोग स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। उस स्वर्गमें एक अमरत्व ही सिंहासन है। वहाँ बैठनेके लिये ऐरावत और रहनेके लिये अमरावती नामकी राजधानी है। वहाँ महासिद्धियोंके भण्डार हैं, अमृतके कुण्ड हैं और झुण्ड-के-झुण्ड कामधेनु हैं। वहाँ परिचर्याके लिये नित्य देवता लोग उपस्थित रहते हैं, धरतीपर चिन्तामणिके फर्श बने हैं और क्रीडाके लिये चतुर्दिक् कल्पवृक्षोंके बागीचे हैं। वहाँ गन्धर्व गान करते हैं, रम्भा-जैसी अप्सराएँ नृत्य करती हैं और उर्वशी-सरीखी विलासिनी स्त्रियाँ मिलती हैं। वहाँ शयन कक्षमें स्वयं मदन सेवा करता है, आँगनका सिंचन स्वयं चन्द्रमा करता है और पवन-जैसे सेवक दौड़-धूपकर सब काम करते रहते हैं। वहाँ ऐसे स्वस्तिवाचन करनेवाले ब्राह्मण होते हैं, जिनमें प्रमुखरूपसे बृहस्पति हैं। वहाँ चारणोंका काम करनेके लिये बहुतेरे देवता उपस्थित रहते हैं। वहाँ सरदारोंकी भाँति पंक्तिबद्ध होकर खड़े रहनेवाले लोकपाल रहते हैं तथा उच्चैःश्रवा-जैसा कोतवाल घोड़ा है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस समयतक उनकी गाँठमें पुण्य रहता है, उस समयतक वे इन्द्रके सुखके सदृश इसी प्रकारके अनेक सुखोंका उपभोग करते हैं (३०७—३२७)

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

परन्तु जिस समय उनके पुण्यकी पूँजी समाप्त हो जाती है और साथ ही इन्द्रपदका तेज भी उतर जाता है, उस समय वे लोग फिर इसी मृत्युलोकमें वापस चले आते हैं। जैसे कोई विषयासक्त व्यक्ति वेश्याके

चक्करमें पड़कर अपना सर्वस्व लुटाकर दरिद्र हो जाता है और तब उस अवस्थामें उसके लिये उस वेश्याके देहली (द्वार)-पर पैर रखना भी असम्भव हो जाता है, वैसे ही एकत्रित पुण्य समाप्त हो जानेपर उन यज्ञ करनेवालोंकी जो लज्जास्पद अवस्था होती है, उसका मैं क्या वर्णन करूँ! इस प्रकार जो मेरी शाश्वत आत्माको न पहचानकर अपने पुण्यके प्रतापसे स्वर्गके सुखको प्राप्त करते हैं, उन्हें यथार्थ अमरत्व नहीं प्राप्त होता और अन्तमें उन्हें इस मृत्युलोकमें ही लौटना पड़ता है। वे माताके गर्भाशयमें, गन्दगीमें नौ महीनेतक रहकर बार-बार जन्म लेते और मरते हैं। स्वप्नमें धन-दौलतका खजाना देखा तो जाता है, पर नींद खुलते ही सारा खजाना न जाने कहाँ लुप्त हो जाता है, ठीक इसी तरह वेदके जाननेवालोंको प्राप्त होनेवाला स्वर्ग-सुख भी मिथ्या ही समझना चाहिये। हे अर्जुन! अन्न निकाल लेनेपर जो भूसा अवशिष्ट रहता है, उसे ओसाना बिलकुल व्यर्थ ही होता है। इसी प्रकार चाहे कोई व्यक्ति वेदज्ञ भले ही हो जाय, पर यदि उसे मेरे नित्य स्वरूपका ज्ञान न हो तो समझ लेना चाहिये कि उसका सम्पूर्ण जीवन बेकार ही गया। इसीलिये यदि मेरे शाश्वत स्वरूपका ज्ञान न हो तो सारे वेदोक्त धर्म निष्फल ही होते हैं। पर यदि तुम्हें मेरे स्वरूपका ज्ञान हो जाय और तब तुम्हें अन्य किसी भी चीजका ज्ञान न हो तो भी तुम सुखी ही होगे। (३२८—३३४)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

जिस व्यक्तिने पूरे मनोयोगसे अपने चित्तको मुझे अर्पित कर दिया है, जो उसी प्रकार मेरे अलावा अन्य किसीको भी अच्छा नहीं समझता, जिस प्रकार गर्भाशयका पिण्ड अन्य कोई व्यापार नहीं जानता और जिसे सारे जीवनका ही ज्ञान मेरे नामके रूपमें होता है और इस प्रकार जो अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करता है तथा मेरी उपासना करता है, उसीकी मैं भी निरन्तर सेवा करता रहता हूँ। जिस समय वह पूरे मनोयोगसे एकीकरण

करके मेरी उपासनाका मार्ग स्वीकार कर लेता है, उसी समयसे उसकी चिन्ता मुझे सताने लगती है। तब जो-जो कार्य उसके लिये अभीष्ट होते हैं, वे सब मुझे ही करना पड़ता है। पक्षिणी अपने उन्हीं बच्चोंके लिये अपना जीवन धारण करती है, जिन बच्चोंके अभीतक पंख नहीं निकले होते। वह अपने बच्चोंके भलेके लिये ही सब काम करती है। यहाँतक कि इनकी देख-रेखके पीछे अपनी भूख-प्यास भी भूल जाती है। इसी प्रकार जो लोग मुझपर भरोसा रखकर मेरी उपासना करते हैं, उनकी सब प्रकारसे देख-रेख मैं ही करता हूँ। यदि वे मोक्षकी रुचि रखते हैं, तो उनकी वह रुचि भी मैं ही पूरी करता हूँ और यदि उन्हें मेरी सेवा ही रुचिकर लगती है तो मैं उन्हें प्रेमका दान देता हूँ। इस प्रकार वे लोग अपने मनमें जिन-जिन बातोंकी कामना करते हैं, वे सब मैं उन्हें बार-बार देने लगता हूँ। इतना ही नहीं, उन्हें जो कुछ मैं देता हूँ, उसकी रक्षा भी मुझे ही करनी पड़ती है। हे पाण्डव! उनकी समस्त क्रियाएँ मुझपर ही अवलम्बित रहती हैं, इसलिये उनका योगक्षेम मुझे ही वहन करना पड़ता है। (३३५—३४३)

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

इसके अलावा और भी बहुत-से सम्प्रदाय हैं, पर उनके अनुगामी मेरा सर्वव्यापक रूप नहीं जानते। वे अग्नि, इन्द्र, सूर्य और सोमके प्रीत्यर्थ यजन करते हैं। वे यजन भी मुझे ही मिलते हैं, कारण कि यह समस्त विश्व मैं ही हूँ। परन्तु यह मेरे भजनका सुगम मार्ग नहीं है, बल्कि, टेढ़ा-मेढ़ा है। देखो, वृक्षकी शाखाएँ और पल्लवादि सब एक ही बीजसे उत्पन्न होते हैं, पर सबके लिये जल ग्रहण करनेकी क्रिया जड़ ही करती है, इसलिये जड़में ही जल डालना उचित होता है अथवा व्यक्तिके देहमें दस इन्द्रियाँ होती हैं और वे सब एक ही देहमें होती हैं और वे इन्द्रियाँ जिन विषयोंका सेवन करती हैं, वे भी अन्तमें एक ही जगह पहुँचते हैं।

तो भी क्या कोई उत्तम रसोई बना करके कर्णेन्द्रियोंमें डालता है? अथवा यदि पुष्पका सम्बन्ध आँखोंसे करा दिये जायँ तो काम चल सकता है? नहीं। रसोईका सेवन मुखसे ही करना होगा और सुगन्धका अनुभव नाकसे। इसी प्रकार मेरा भजन मेरे स्वरूपको समझकर ही करना चाहिये। यदि मेरे वास्तविक स्वरूपको बिना समझे ही मेरा भजन किया जायगा, वह व्यर्थ किये हुए कार्यकी ही भाँति निष्फल होगा। अतः कर्मके लिये ज्ञानरूपी दृष्टिकी आवश्यकता होती है और उस दृष्टिका निर्दोष तथा निर्मल होना भी परमावश्यक है। (३४४—३५०)

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

हे पाण्डुसुत! देखो, इन यज्ञोंके सम्पूर्ण उपचारोंका भोक्ता मेरे सिवा और कौन हो सकता है? मैं ही समस्त यज्ञोंका आदिकारण हूँ और मैं ही यज्ञोंकी अन्तिम मर्यादा हूँ, परन्तु इन यज्ञकर्ताओंको इस बातका ज्ञान ही नहीं है और इसीलिये वे मुझे भूलकर अन्यान्य देवताओंके भजनमें लगे हुए हैं। जैसे देवों और पितरोंके निमित्त दिया गया गंगाका जल गंगामें ही अर्पित किया जाता है, वैसे ही यज्ञादि विधि-विधानोंके द्वारा वे लोग मेरी ही वस्तु मुझको ही अर्पित करते हैं; पर केवल अर्पण-विधि अन्य देवताओंके उद्देश्यसे करते हैं। इसीलिये हे पार्थ! वे इन विधि-विधानोंके द्वारा मुझतक आकर नहीं पहुँचते, बल्कि यज्ञकर्तालोग जिन देवताओंके उद्देश्यसे इन सब कर्मोंका आचरण करते हैं, उन्हीं अपने उपास्य देवताओंको वे लोग प्राप्त होते हैं। (३५१—३५४)

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

जो लोग अपने मन, वाणी और इन्द्रियोंके द्वारा देवताओंका भजन करते हैं, वे देहावसान होते ही उन देवताओंके रूपको प्राप्त करते हैं। अथवा जिनके चित्त पितृ-व्रतके आचरणमें रँगे हुए हैं, वे शरीर छोड़नेके

बाद पितरोंके स्वरूपको प्राप्त करते हैं। जिन लोगोंको भूत-पिशाच और शूद्र देवतादि ही सर्वश्रेष्ठ जान पड़ते हैं, तथा मारण इत्यादि मन्त्रोंके लिये जो उनकी उपासना करते हैं, उनके शरीरका अन्त होते ही वे लोग शीघ्र ही भूतयोनिको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सब लोग अपने-अपने संकल्पानुसार ही अपने-अपने कर्मोंका फल प्राप्त करते हैं। पर जिनके नेत्रोंने मेरे ही दर्शन किये हैं, जिनके श्रवणेन्द्रियोंने मेरे ही विषयमें श्रवण किया है, जिनके मनने सिर्फ मेरा ही चिन्तन किया है, जिनकी वाणीने मेरा ही यशोगान किया है। जो अपने सर्वांगोंसे सर्वत्र मुझे ही नमन करते हैं, जो दान-पुण्य इत्यादि क्रिया मेरी प्रसन्नताके लिये ही करते हैं, जो मेरा ही अध्ययन करते हैं, जो बाह्याभ्यन्तर मद्रूप होकर संतृप्त होते हैं, जिनका जीवन मुझे ही समर्पित है, जो सिर्फ हरिभक्तोंके लक्षण धारण करनेके लिये ही अहंभावको अंगीकार करते हैं, जिन्हें एकमात्र मेरा ही लोभ है, जो मुझे पानेकी अभिलाषासे ही सकाम रहते हैं, जो मेरे ही प्रेममें व्याकुल होते हैं, मेरे सर्वव्यापी स्वरूपसे भरे होनेके कारण जिन्हें लौकिक भाव भासमान भी नहीं होते, जिनके शास्त्र और मन्त्र-तन्त्र सब मेरे प्रीत्यर्थ होते हैं, तात्पर्य यह कि जो अपने समस्त व्यवहारों और आचारोंमें मेरा ही भजन करते हैं, वे शरीर छोड़नेके पहले ही मेरा सत्य-स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, फिर भला मृत्युके बाद वे और कहाँ जा सकते हैं? इसीलिये जो अपने सम्पूर्ण क्रिया-कलाप स्वयं ही मेरे स्वरूपको समर्पित करते हैं, वे मेरे उपासक मेरा ही स्वरूप प्राप्त करते हैं।

हे अर्जुन! आत्मस्वरूपका अनुभव हुए बिना मैं कभी किसीको प्रिय नहीं होता। मैं अन्य किसी उपायसे किसीके लिये साध्य नहीं हो सकता। इन विषयोंमें जो अपने ज्ञानका गर्व करता हो, उसीको अज्ञानी जानना चाहिये। जो अपना बड़प्पन दिखलाता हो, उसके विषयमें निश्चितरूपसे जान लेना चाहिये कि उसीमें कुछ कमी है। जो अभिमानपूर्वक यह कहता है कि अब मैं परिपूर्ण हो गया हूँ, उसके सम्बन्धमें खूब अच्छी तरह समझ

लेना चाहिये कि उसमें कुछ भी महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार, हे किरीटी! जो लोग अपने तपश्चरणकी डींग हाँकते हैं, उनके इन सब कर्मोंका तृणभर भी उपयोग नहीं होता। भला तुम्हीं बतलाओ कि ज्ञान बलमें क्या कोई वेदोंसे भी बढ़कर है? अथवा वक्तृत्वकी शक्तिमें क्या कोई शेषनागसे भी बढ़कर कुशल वक्ता है? पर वह शेषनाग भी मेरी शय्याके नीचे दबा रहता है और वेद भी नेति-नेति कहकर पीछे हट जाते हैं। इस विषयमें सनकादिक ज्ञाता भी पागल बन गये हैं। यदि तपश्चरणका विचार करो तो शंकरके समान कठोर तपस्या किसने की है? पर वे भी अभिमानका परित्याग करके मेरे चरण-तीर्थ अपने मस्तकपर धारण करते हैं। सम्पन्नतामें लक्ष्मीकी बराबरी कौन कर सकता है, जिसके घरमें श्री-सरीखी परिचारिकाएँ सेवारत रहती हैं? उसी लक्ष्मीने खेल-खेलमें जो घरौंदा बनाया है, उसीको लोग अमरपुरी कहते हैं। ऐसी स्थितिमें क्या इन्द्रादि देव उन लक्ष्मीकी पुतलियाँ नहीं सिद्ध होते? वह लक्ष्मी जिस समय ऐसे खेलसे ऊबकर ये घरौंदें तोड़ डालती है, उस समय महेन्द्रादि समस्त देवता कंगाल हो जाते हैं। वे परिचारिकाएँ जिन वृक्षोंकी ओर दृष्टिपात करती हैं, वे वृक्ष कल्पवृक्ष हो जाते हैं। जिस लक्ष्मीके घरकी दासियोंमें भी इस प्रकारकी अलौकिक सामर्थ्य है, उस मुख्य नायिका लक्ष्मीका भी नारायणके समक्ष कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसलिये हे पाण्डव! वे लक्ष्मी पूरे मनोयोगसे मेरी सेवा करती हैं और अभिमान छोड़कर उन्होंने नारायणके पाँव पखारनेका सौभाग्य प्राप्त कर लिया है। इसलिये सबसे पहले अपने महत्त्वके सब विचार त्यागने पड़ते हैं, ज्ञान-सम्बन्धी अभिमानको छोड़ना पड़ता है और अन्त:करणमें इस प्रकारकी निर्मल भावना रखकर विनम्र होना पड़ता है कि मैं जगत्के समस्त जीवोंसे तुच्छ हूँ। तब जाकर व्यक्तिको मेरे सान्निध्यका लाभ प्राप्त होता है। देखो, हजार रश्मियोंवाले सूर्यकी दृष्टिके सम्मुख चन्द्रमा भी फीका पड़ जाता है तो फिर खद्योत (जुगनू) भला अपने प्रकाशसे क्या प्रतिष्ठा पा सकता है? इसलिये जहाँ लक्ष्मीका महत्त्व और शंकरका तप भी कोई चीज न हो, वहाँ

अज्ञानी और दुर्बल व्यक्तियोंका भला क्या पूछना है! इसीलिये देहाभिमानका परित्याग कर देना चाहिये, समस्त सद्‌गुणोंकी प्रतिष्ठा राई-नोनकी* भाँति उतारकर फेंक देनी चाहिये और सम्पत्तिके मदको निछावर करके उसका नाश कर डालना चाहिये। (३५५—३८१)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

इस प्रकार भक्त जब असीम प्रेमरससे सराबोर होकर किसी भी प्रकारका फल मुझे देनेके लिये मेरी तरफ बढ़ाता है, तब मैं बड़ी उत्सुकतासे उसे लेनेके लिये अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाता हूँ। यहाँतक कि उसके डंठल तोड़नेतकके लिये भी नहीं रुकता और बड़े प्रेमसे ज्यों-का-त्यों उसे ग्रहण करता हूँ। हे अर्जुन! यदि मेरा कोई भक्त भक्तिपूर्वक एक फूल भी मुझे देता है, तो उस समय भक्तके प्रेमसे इतना अधिक भर जाता हूँ कि वह फूल भी मैं सूँघनेके बजाय अपने मुखमें रखकर खा जाता हूँ। परन्तु फूलकी तो बात ही क्या है; यदि मेरा भक्त एक पत्ता भी अर्पित करता है, तो भी मैं यह नहीं देखता कि वह पत्ता ताजा है अथवा बासी या सूखा हुआ। मैं तो सिर्फ अपने भक्तका प्रेमभरा भाव ही देखता हूँ और वह पत्ता भी मैं वैसे ही सुखपूर्वक खाकर सन्तुष्ट होता हूँ, जैसे कोई बुभुक्षित (भूखसे पीड़ित) व्यक्ति अमृत पीकर तृप्त होता है अथवा कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसीको पत्ता भी नहीं मिलता, पर पानीकी तो कहीं कमी नहीं रहती। वह तो सर्वत्र मुफ्तमें ही मिल जाता है। किन्तु वही मुफ्तमें मिला हुआ जल मेरा भक्त मुझे पूरे मनोयोगसे अर्पित करता है तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उस भक्तने मानो मेरे लिये वैकुण्ठसे भी बढ़कर कोई निवासस्थान बनवा दिया है अथवा कौस्तुभसे भी बढ़कर निर्मल कोई अलंकार मुझे पहना दिया है अथवा क्षीरसागरसे भी बढ़कर सुख देनेवाले दूधके अपरिमित

* महिलाएँ अपने बच्चोंकी नजर उतारनेके लिये सरसों और नमकको उसके सिरपर फिराकर फेंक देती हैं अथवा जला देती हैं।

शयनस्थल मेरे लिये बनवा दिये हैं अथवा कपूर, चन्दन और कृष्ण अगर—इन तीनों वस्तुओंका सुगन्धिमय, बहुत ऊँचा मेरुपर्वत मेरे उपभोगके लिये उत्पन्न कर दिया है अथवा दीपमालाके बदले एक दूसरा सूर्य ही लाकर खड़ा कर दिया है अथवा उसने गरुड जैसे वाहन या कल्पवृक्षोंके उपवन या कामधेनुके झुण्ड ही मुझे अर्पित किये हैं अथवा अमृतसे भी अधिक स्वादिष्ट अनेक प्रकारके दिव्य पक्वान्न उसने मेरे सामने परोस दिये हैं। जब मेरा भक्त मुझे जलकी एक बूंद भी देता है, तब मुझे अपार सन्तोष तथा आनन्द होता है। हे किरीटी! यह बहुत जरूरी नहीं है कि मैं तुम्हें ये सब बातें बतलाऊँ ही; कारण कि तुम तो अपनी आँखोंसे यह देख चुके हो कि भक्तिपूर्वक लाये हुए तीन मुट्ठी चावलोंके लिये मैंने सुदामाके पोटलीको गाँठें अपने हाथसे खोली हैं। मैं तो केवल भक्ति ही देखता हूँ और जहाँ भक्ति होती है, वहाँ मैं छोटे और बड़ेके भेद-भावकी कभी कल्पना भी नहीं करता। चाहे कोई भी हो और चाहे जैसा भी मेरा आतिथ्य करे, पर यदि मुझे उसमें सच्चा भाव दृष्टिगोचर होता है तो मैं तुरन्त ही प्रेमपूर्वक उसको ग्रहण करता हूँ। वास्तवमें पत्र, पुष्प और फल इत्यादि वस्तुएँ तो भक्ति प्रदर्शित करनेका साधनमात्र हैं। मुझे इन वस्तुओंसे कोई लेना-देना नहीं। भक्ति-तत्त्व ही मेरे लिये सब कुछ है। इसलिये हे अर्जुन! इस योगसाधनकी मैं एक सहज युक्ति तुम्हें बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। यदि तुम वास्तवमें भक्ति-तत्त्वकी साधना करना चाहते हो तो अपने मन-मन्दिरसे कभी मुझे विस्मृत मत होने दो। (३८२—३९७)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

तुम जो-जो व्यापार करो, जिन विषयोंका सेवन करो, जिन यज्ञोंका सम्पादन करो, जो कुछ दान-पुण्य करो अथवा सेवकोंके जीवन-निर्वाहकी

जो व्यवस्था करो अथवा तप और व्रत इत्यादिका जो आचरण करो अर्थात् जो भी क्रियाएँ तुम्हारे द्वारा सम्पन्न हों, वे सब मेरे ही उद्देश्यसे समर्पित करते चलो। परन्तु हाँ, ऐसा करते समय उसमें अहंकारका प्रवेश रत्तीभर भी नहीं होना चाहिये। इस प्रकार अहंकारका दोष सर्वथा प्रक्षालित कर देना चाहिये और समस्त कर्मोंको अहंकारके दोषसे निर्मल रखकर मुझे समर्पित करना चाहिये। (३९८—४०१)

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

जैसे अग्निकुण्डमें भूना हुआ बीज कभी अंकुरित नहीं हो सकता, वैसे ही मुझे समर्पित किये हुए कर्मोंका कभी कोई फल नहीं हो सकता। कहनेका आशय यह है कि जो कर्म मुझे अर्पित किये जाते हैं, उनके फलके बन्धनमें कर्ता कभी नहीं बँधता। अर्थात् वे कर्म उसके लिये कभी बन्धनकारक नहीं हो सकते। हे पार्थ! जब कर्म शेष रहते हैं, तभी उनके फल भी उत्पन्न होते हैं और उन फलोंका भोग करनेके लिये जीवको कोई-न-कोई शरीर धारण करना पड़ता है, परन्तु यदि वे सारे कर्म पूर्णरूपसे मुझे समर्पित कर दिये जायँ, तो उसी समय जीवन और मृत्युका सारा चक्कर ही समाप्त हो जाता है। हे अर्जुन! यह कहनेका कि आज ही कौन-सी जल्दी है! कल देखा जायगा और इस प्रकार आजका काम कलपर टरकानेका समय नहीं है; इसीलिये आत्मस्वरूप प्राप्त करनेका सबसे सहज उपाय फल-संन्यासयुक्त कर्मयोग है और उसके विषयमें मैंने तुम्हें बतला दिया है। तुम इस देहके बन्धनमें मत रहो तथा सुख-दुःखके समुद्रमें डुबकी मत लगाओ और सहजमें इस सुगम मार्गसे चलकर प्रसन्नतापूर्वक मेरे आनन्दमय स्वरूपमें मिलकर रहो। (४०२—४०६)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

हो सकता है कि तुम यह पूछो कि वह मैं कैसा हूँ? तो उसका एकमात्र उत्तर यह है कि मैं सब भूतोंमें समभावसे रहता हूँ। मुझमें अपने और परायेका लेशमात्र भी भेद-भाव नहीं है। जो जीव मेरा सत्य-स्वरूप पहचान लेते हैं, अहंकारका नाश कर देते हैं, सब कर्मों और भावोंके द्वारा मेरा ही भजन करते हैं, यानी अपना समस्त जीवन और कर्म मुझे ही समर्पित कर देते हैं; वे चाहे शरीरमें भी रहें, पर यथार्थतः वे शरीरमें नहीं होते, बल्कि वे पूर्णरूपसे मेरे स्वरूपमें ही रहते हैं और मैं भी उन्हींमें रहता हूँ। इतना विशाल वट-वृक्ष अपने पूर्ण विस्तारके साथ एक तुच्छ बीजमें विलीन रहता है और वह बीज उसी वट-वृक्षमें रहता है। इसी प्रकार मुझमें और ऐसे भक्तोंमें सिर्फ बाहरी और नाममात्रका अन्तर रहता है; पर यदि अन्दरकी वस्तुस्थितिका विचार किया जाय तो जो कुछ मैं हूँ, वही मेरे भक्त भी हैं और हम दोनोंमें कोई भेद-भाव नहीं होता। जैसे किसी व्यक्तिसे माँगकर लाया हुआ आभूषण यदि पहन लिया जाय तो भी उसके सम्बन्धमें किसीको यह भाव नहीं होता कि यह आभूषण मेरा है, वैसे ही मेरे भक्त यद्यपि शरीर धारण करते हैं, परन्तु फिर भी वे कभी उसे अपना नहीं मानते। पुष्पकी सुगन्ध वायुके साथ मिलकर सुदूर निकल जाती है और पीछे जो खाली पुष्प रह जाता है, वह तबतक डण्ठलके साथ संलग्न रहता है, जबतक कुम्हलाकर गिर नहीं जाता। इसी प्रकार वह भक्त भी, जिसके अन्तःकरणसे अपनेपनका भाव निकल जाता है, अन्तकालतक किसी प्रकार अपनी आयुष्य धारण किये रहता है। हे किरीटी! जो अपने कर्तृत्वके अहंकारका मुझपर आरोप कर देता है, उसका अहंकार मुझमें ही समा जाता है और फिर वह अहंकार मेरे भक्तके लिये किसी प्रकार बन्धनकारक नहीं हो सकता। (४०७—४१४)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

इस प्रकार निर्मल प्रेमभावसे जो लोग मेरा भजन करते हैं, उनको

पुनः शरीर प्राप्त नहीं होता, फिर चाहे वे लोग किसी भी जातिके हों, इसमें कुछ भी हानि नहीं है। हे सुभट (अर्जुन)! यदि आचरणकी दृष्टिसे ऐसा मनुष्य दुराचारी भी हो, तो भी यह नहीं भूलना चाहिये कि देहावसानके समय वह भक्तिके चबूतरेपर चढ़ चुका होता है। शरीरपात होनेके समयमें जैसी बुद्धि होती है, तदनुसार आगेकी गतिका स्वरूप भी निश्चित होता है। इसीलिये जो अन्तकालमें अपना जीवन भक्तिके हाथमें सौंप देता है, वह पहले चाहे दुराचारी भी रहा हो, पर अब वह अपनी भक्तिके बलसे सर्वश्रेष्ठ ही गिना जाना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति एक बार किसी बाढ़में डूब जाय और बिना मरे ही सकुशल बाहर निकल आवे, तब उसका पहलेका डूबना जैसे व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही यदि देहावसानकालमें व्यक्ति भक्ति ग्रहण कर ले, तो उसके पूर्वकृत समस्त पाप मिट जाते हैं। इसलिये यदि कोई व्यक्ति किसी समय दुराचारी भी रहा हो, पर यदि वह पश्चात्तापरूपी तीर्थमें अवगाहन करके शुद्ध मनसे मेरे स्वरूपमें समा जाय तो उसका कुल पवित्र ही समझना चाहिये और यह मान लेना चाहिये कि उसकी कुलीनता निर्मल है और वास्तवमें उसने अपना जन्म सार्थक कर लिया है। फिर उसके लिये ऐसा हो जाता है कि मानो उसने समस्त विद्याओंको पढ़ लिया हो, सब प्रकारके तपको कर चुका हो और अष्टांगयोगका अभ्यास कर लिया हो। हे पार्थ! अब इस विषयके विस्तारकी आवश्यकता नहीं। कहनेका अभिप्राय यही है कि जिसके चित्तमें मेरा अखण्ड अनुराग उत्पन्न हो जाता है, वह पूर्णतया सब कर्मोंसे पार हो जाता है। हे किरीटी! जो अपने मन और बुद्धिकी सारी क्रियाएँ एक निष्ठाको पिटारीमें भरकर पूर्णरूपसे मेरे अधीन कर देता है, वह इसी प्रकार कर्मातीत हो जाता है। (४१५—४२४)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

यदि तुम्हारे अन्तःकरणमें यह भाव उमड़ा हो कि मेरा भक्त कुछ

कालके बाद अर्थात् मृत्युके बाद मेरे समान होगा, तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि जिसका निवास स्वयं अमृतमें ही हो तो फिर भला उसकी मृत्यु कैसे हो सकती है? जिस समय सूर्यका उदय नहीं हुआ रहता, उस समयको रात कहते हैं। इसी प्रकार जो कर्म बिना मेरी भक्तिके सम्पन्न किये जायँ, क्या उन्हें महापाप ही नहीं कहना चाहिये? अतएव हे पाण्डुसुत! जिस समय उसकी चित्तवृत्तिको मेरा सान्निध्य मिल जाता है, उसी समय वह तत्त्वतः मेरे स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। यदि किसी प्रज्वलित दीपसे कोई अन्य दीप प्रज्वलित कर लिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि इनमेंसे पहलेसे जलनेवाला दीपक कौन-सा है और दूसरा कौन-सा। इसी प्रकार जो पूरी तरहसे मेरी भक्ति करता है, वह तत्क्षण ही मद्रूप हो जाता है। फिर मेरी जो कभी नष्ट न होनेवाली नित्य शान्ति है, वही उसे प्राप्त हो जाती है, जिससे उसकी तेजस्विता बढ़ जाती है; बल्कि यूँ कहना चाहिये कि वह मेरे जीवनसे ही जीवन धारण करता है। हे पार्थ! इस विषयमें अब कहाँतक कही हुई बातको ही बार-बार कहा जाय। मुख्य तत्त्व यही है कि यदि किसी व्यक्तिको मुझे पानेकी अभिलाषा हो तो उसे पूर्णरूपसे मेरी भक्ति करना नहीं भूलना चाहिये। कुलकी शुद्धताके पीछे मत दौड़ो, कुलीनताका बखान मत करो तथा ज्ञानका मिथ्या अभिमान त्याग दो। रूप-लावण्य तथा तारुण्यसे मतवाले मत बनो और सम्पत्तिका गर्व मत करो; कारण कि यदि एक मेरी भक्ति न हो तो ये सारी बातें व्यर्थ साबित हो जाती हैं। यदि पौधेमें अनाजकी बालें तो बहुत लगी हों, पर उन बालोंमें दाने बिलकुल न हों अथवा नगर तो बहुत सुन्दर और बड़ा हो, पर वह बिलकुल वीरान पड़ा हो, तो वह किस कामका? अथवा जैसे हो तो सरोवर, पर सूखा पड़ा हो अथवा जंगलमें किसी दुःखी व्यक्तिकी किसी दूसरे दुःखीसे भेंट हो अथवा वृक्ष तो हो, पर वन्ध्या फूलोंसे लदा हो, बस इसी प्रकार सारा ऐश्वर्य अथवा कुल और जातिका महत्त्व भी जानना चाहिये। यदि देहके समस्त अवयव विद्यमान

हों, किन्तु वह चेतनाशून्य हो तो उस दशामें वह देह एकदम निरुपयोगी होगा। ठीक इसी प्रकार मेरी भक्तिसे विरहित प्राणी धिक्कारका पात्र होता है; क्योंकि इस प्रकार जीवन धारण करनेवाले व्यक्तियों और पृथ्वीपर पड़े हुए पत्थरोंमें अन्तर ही क्या है? जैसे कँटीले सेंहुड़के पेड़की छाया बुद्धिमान् लोग जान-बूझकर बचा जाते हैं और उसकी छायामें नहीं बैठते, वैसे ही पुण्य भी अभक्तको बचा जाते हैं और उसके निकट नहीं जाते। नीमका वृक्ष चाहे फलसे भरकर झुक ही क्यों न जाय, पर फिर भी उसपर सिर्फ कौए ही मौज करते हैं। इसी प्रकार भक्तिसे विरहित व्यक्ति चाहे अत्यधिक सामर्थ्यवान् क्यों न हो जाय, पर फिर भी वह एकमात्र दोषोंका ही विस्तार करता है। यदि किसी खपड़ेमें षड्रस व्यंजन परोसकर चतुष्पथपर रख दिया जाय तो उससे कुत्तोंका खौरा रोग ही बढ़ता है। इसी प्रकार भक्तिसे हीन व्यक्तिका जीवन भी होता है। उससे स्वप्नमें भी कोई सुकृत्य नहीं होते। वह जीवन ऐसी थालीके सदृश होता है जिसमें संसारके दुःखरूपी पक्वान्न परोसे हुए होते हैं। अतएव चाहे उत्तम कुल न हो, चाहे शूद्रकी जाति हो, इतना ही नहीं, यदि पशुका भी शरीर हो तो भी कुछ हानि नहीं है। हे पार्थ! देखो; जिस समय ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ लिया था, उस समय उसने मुझे पुकारा था। बस, भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करते ही वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो गया और उसका पशुत्व भी तत्क्षण ही सदा-सदाके लिये मिट गया। (४२५—४४२)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

हे किरीटी! जिसका नाम लेना भी निन्दाके योग्य है, उस अधम नामवाली जातियोंमें भी जो अधमाधम जाति है, उस नीचतम जातिवाली पापयोनिमें जिसने जन्म लिया है; उस पापयोनिमें उत्पन्न होनेके अलावा जो ज्ञानके नामसे केवल पत्थर है, पर फिर भी जिसमें मेरे प्रति कूट-कूटकर भक्ति भरी हुई है, जिसकी वाणी अनवरत मेरा ही गुणानुवाद करती है,

जिसकी दृष्टि अनवरत मेरा ही रूप देखती है, जिसका मन सदा मेरे ही विषयमें विचार करता है, जिसकी श्रवणेन्द्रियाँ मेरी कीर्तिके श्रवणसे कभी खाली नहीं रहतीं, जिसे मेरी सेवा ही अपने शरीरका अलंकार जान पड़ती है, जिसे विषयोंका कोई भान भी नहीं होता, जो सिर्फ मुझे ही जानता है और इन सब बातोंके न होनेपर जिसे अपना जीवन मरणतुल्य जान पड़ता है, हे पाण्डव! इस प्रकार जिसने अपनी समस्त वृत्तियोंसे जीवनके लिये एकमात्र मुझे ही अपना आश्रय बना रखा है, फिर चाहे उसने पापयोनिमें ही क्यों न जन्म लिया हो और चाहे वह विद्याविहीन ही क्यों न हो, तो भी यदि मेरे साथ उसकी तुलना की जाय तो वह मुझसे तिलभर भी कम न ठहरेगा। देखो, इस भक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण ही दैत्योंने भी देवताओंको नीचा दिखलाया है। मेरे भक्त प्रह्लादने दैत्य-कुलमें ही जन्म लिया था, पर उसकी पावन भक्तिने मुझे नृसिंहरूप धारण करनेके लिये विवश किया था। उस प्रह्लादको मेरे लिये ही बहुत-से लोगोंने नाना प्रकारके कष्ट पहुँचाये थे। इसीका यह फल हुआ कि जो कुछ मैं प्रदान कर सकता था, वह सब उसे पहलेसे ही मिला हुआ था। अन्यथा उसका कुल बिलकुल दैत्योंका था; पर देवेन्द्र भी उसकी बराबरी न कर सका। कहनेका अभिप्राय यही है कि यहाँ सिर्फ भक्ति ही काममें आती है, जातिका कुछ भी महत्त्व नहीं है। यदि राजाज्ञाके अक्षर किसी चर्मखण्डपर भी अंकित कर दिये जायँ तो उस चर्मखण्डके बदलेमें भी समस्त वस्तुएँ मिल सकती हैं। किन्तु यदि राजाज्ञाके अक्षरोंका अंकन न हो तो सोनेके टुकड़ोंको भी कोई हाथमें नहीं लेता। अतः यह सिद्ध हुआ कि सारा महत्त्व राजाज्ञाका ही है और यदि कोई ऐसा चमड़ेका टुकड़ा प्राप्त हो जाय जिसपर राजाज्ञाके अक्षर अंकित हों, तो उसके सहयोगसे हम जो चीज चाहें, वह खरीद सकते हैं। इसी प्रकार जब मेरे प्रेमसे मन और बुद्धि लबालब भर जाती है, तभी उसमता और सर्वज्ञता भी उपयोगी हो सकती है। इसीलिये कुल और जाति इत्यादि सब बेकारकी बातें हैं।

हे अर्जुन! वास्तविक धन्यता तो मेरी सच्ची भक्तिमें ही निहित है। फिर वह भक्ति चाहे जैसी भी हो, एक बार जब उस भक्तिसे सम्पृक्त मन मुझमें समा जाता है, तब उससे पूर्वके समस्त कर्म पूर्णतया मिट जाते हैं। छोटे छोटे नाले इत्यादि तभीतक नाले कहलाते हैं, जबतक वे गंगामें प्रविष्ट नहीं हो जाते; पर एक बार गंगामें प्रविष्ट हो जानेपर जिस प्रकार वे गंगाका रूप ही हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार काष्ठके चन्दन, खैर इत्यादि वर्ग तभीतक रहते हैं, जबतक वे अग्निमें पड़कर उसके साथ एकाकार नहीं हो जाते, उसी प्रकार जबतक कोई मेरे स्वरूपके साथ मिलकर समरस नहीं हो जाता, तभीतक वह क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज इत्यादिके रूपमें भासमान होता है। पर जैसे समुद्रमें डाला हुआ लवण-कण उसीमें विलीन हो जाता है। वैसे ही मेरे साथ मिलते ही जाति-भेदवाले भासका नामो-निशान मिट जाता है। भिन्न-भिन्न नदों और नदियोंका नाम तभीतक है, जबतक वे जाकर समुद्रमें मिल नहीं जातीं और तभीतक उनके विषयमें यह भेद भी किया जा सकता है कि अमुक नदीका प्रवाह पूर्वकी ओर है और अमुकका पश्चिमकी ओर। इसलिये जिस किसी भी बहानेसे चित्तका प्रवेश एक बार भी मेरे स्वरूपमें हो जाय, तो फिर वह व्यक्ति स्वतः मद्रूप हो जाता है। चाहे पारसको तोड़नेका ही उद्देश्य क्यों न हो, पर एक बार लोहेका पारसके साथ स्पर्श हो जाना चाहिये; बस फिर काम हो जाता है, क्योंकि पारसका स्पर्श होते ही वह लोहा भी सोना हो जायगा। हे अर्जुन! जिस समय प्रेमके निमित्त व्रजांगनाओंका अन्तःकरण मेरे रंगमें रँगा गया, उस समय वे सद्यः मद्रूप हो गयीं अथवा नहीं? इसी प्रकार भयग्रस्त होनेके कारण कंस, शत्रुताके निमित्तसे शिशुपाल इत्यादि शत्रु, सगोत्र एवं सम्बन्धी होनेके कारण यादव और ममता रखनेके कारण वसुदेव इत्यादि क्या मेरे साथ मिलकर एकरूपता नहीं प्राप्त कर चुके हैं? जैसे नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक और सनत्कुमार इत्यादिके लिये मैं भक्तिके गुणसे साथ

हो गया, वैसे ही, हे पार्थ! मैं विषय-बुद्धिसे गोपियोंको, भयसे कंसको और शिशुपाल इत्यादि अन्य अनेक लोगोंको उनकी दुष्प्रवृत्तियोंके कारण ही प्राप्त हो गया। मैं सबका अन्तिम ध्येय हूँ, फिर चाहे लोग मेरे सन्निकट भक्ति-भावसे, चाहे विषय बुद्धिसे, चाहे शत्रुतासे और चाहे किसी भी मनोवृत्तिसे ही क्यों न आवें। इसीलिये हे पार्थ! मेरे स्वरूपमें मिलनेके लिये इस संसारमें साधनोंकी कमी नहीं है। व्यक्तिका जन्म चाहे जिस जातिमें हुआ हो और वह चाहे मेरी भक्ति करे अथवा विरोध, पर उसे होना चाहिये मेरा ही भक्त अथवा मेरा ही शत्रु; बस, यही प्रमुख बात है। चाहे किसी बहाने व्यक्तिको मेरापन मिल जाय, उसे भलीभाँति जान लेना चाहिये कि मेरा स्वरूप उसके हाथ लग गया। इसीलिये, हे अर्जुन! चाहे पापयोनि हो और चाहे वैश्य-शूद्र हो अथवा स्त्री, सब-के-सब मेरी उपासनासे ही मेरे परमधाम पहुँचते हैं। (४४३—४७४)

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

सचमुच जब स्थिति ऐसी है, तब जो ब्राह्मण सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हैं, स्वर्ग जिनकी जागीर है और जो मन्त्र-विद्याके जन्मस्थान हैं, जो भूसुर हैं, जो तपके मूर्तिमन्त अवतार हैं, जिसके योगसे तीर्थोंका भी भाग्योदय हो जाता है, जो यज्ञके आश्रय हैं, जो वेदोंके कवच हैं, जिनकी कृपा-दृष्टिकी गोदमें ही बैठकर मंगल भी वृद्धिको प्राप्त होता है, जिनकी आस्थाकी आर्द्रतासे सत्कर्मका विस्तार होता है, जिनके संकल्पसे ही सत्यका जीवन बना हुआ है, जिनके आशीर्वादसे अग्निने आयुष्य प्राप्त किया है और इसीलिये अग्निके जन्मजात शत्रु समुद्रने भी बड़वाग्निको अपना जल समर्पित करके उसका पोषण किया है, जिनके चरणोंकी धूलि पानेके लिये मैंने स्वयं लक्ष्मीको भी एक ओर हटाकर और बीचमें बाधा उत्पन्न करनेवाली कौस्तुभमणिको भी निकालकर अपने हाथोंमें ले लिया और अपने वक्षःस्थलका पुट उनके चरणोंके आगे रख दिया है और हे अर्जुन!

अपने सौभाग्यशाली होनेका लक्षण बनाये रखनेके लिये मैं अबतक अपने वक्षःस्थलपर जिनके चरण-चिह्न धारण किये रहता हूँ, हे सुभट! जिनकी क्रोधरूपी अग्निमें प्रत्यक्ष रुद्रका निवास है और जिनकी कृपासे अष्ट महासिद्धियाँ अनायास ही और बिना मूल्यके प्राप्त होती हैं; उन परम पूज्य पुण्यवान् ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें तो यह कहनेकी जरूरत ही नहीं है कि मेरे स्वरूपमें लीन रहनेवाले उन ब्राह्मणोंको मेरी प्राप्ति होती है। देखो, चन्दन-वृक्षके साथ लगकर जो हवा आती है, उसके संसर्गसे अगल बगलके नीमके पेड़ भी महकने लगते हैं और वे जड-वृक्ष भी देवताओंके सिरपर जगह प्राप्त करते हैं। फिर जो साक्षात् चन्दन ही हो, वह भला देवोंके सिरपर कैसे जगह न पायेगा? अथवा उसके विषयमें यह कहनेकी जरूरत ही क्या है कि उसे देवोंके सिरपर जगह मिलेगी।" यदि भगवान् शिव यह सोचकर अर्ध चन्द्रमा अपने सिरपर धारण किये रहते हैं कि विषपान करनेसे उत्पन्न दाहकता चन्द्रमाके स्पर्शसे शान्त हो जायगी, तो फिर वह चन्दन शरीरके समस्त अवयवोंमें क्यों न लगाया जाय, जिसके दाह शमन करनेके गुणका साक्षात् अनुभव होता है और जो पूर्णता तथा सुगन्धमें चन्द्रमासे भी बढ़कर है? अथवा जिस गंगाका सहारा लेकर मार्गमें बहनेवाला जल भी जाकर समुद्रमें मिल जाता है, उस गंगाके सम्बन्धमें भला यह कब हो सकता है कि वह समुद्रमें जाकर न मिले। ऐसी दशामें जो राजर्षि अथवा ब्राह्मण निर्मल अन्तःकरणसे मुझे ही अपना शरण्य अर्थात् अपने रक्षणका साधन समझते हैं, निःसन्देह मैं ही उनके अन्तिम शाश्वत सुखका साधनस्थान होता हूँ। ऐसी स्थितिमें उस नौकामें व्यक्ति चिन्तामुक्त होकर क्यों पड़ा रहे, जिसमें सैकड़ों छिद्र हो चुके हों? जिस जगहपर शस्त्रोंकी बौछार हो रही हो, उस जगहपर व्यक्ति अपना बिलकुल खुला हुआ शरीर लेकर क्यों रहे? जहाँ शरीरपर पत्थर बरस रहे हों वहाँ यह कैसे सम्भव है कि व्यक्ति अपनी रक्षाका कोई उपाय न करे? जब शरीरको रोग घेर लिया हो, तब औषधिके विषयमें व्यक्ति कैसे मौन रह सकता

है? जब चतुर्दिक् आगजनी हो, तब यह कैसे सम्भव है कि बाहर निकलनेका उद्योग ही न किया जाय? इसी प्रकार हे अर्जुन! संकटापन्न इस मृत्युलोकमें आनेपर यह कैसे हो सकता है कि व्यक्ति मेरा भजन न करे और व्यक्तिमें ऐसी कौन-सी सामर्थ्य है जिसके भरोसे वह मेरा भजन न करनेकी ढिठाई कर सके? घर-बार इत्यादिमें ऐसी कौन-सी बात है कि उसके सहारे व्यक्ति चिन्तामुक्त होकर रह सके? क्या बिना मेरा भजन किये व्यक्ति अपने मनमें यह विश्वास कर सकता है कि विद्या और तारुण्यसे ही वास्तविक सुख मिल सकता है? जितने विषय-भोग हैं, वे सब वास्तवमें शरीरके स्वस्थ रहनेपर ही निर्भर करते हैं और यह शरीर निरन्तर कालके गालमें समाया हुआ है। इस मृत्युलोकमें जीवन और मृत्युका एक ऐसा हाट लगा हुआ है जिसमें दुःखों और संकटोंका माल चतुर्दिक् खुला पड़ा है तथा मृत्युरूपी मालके गट्ठर-पर-गट्ठर निरन्तर चले आते हैं और प्राणी इस हाटमें आ पहुँचे हैं। ऐसी स्थितिमें हे पाण्डुसुत! सुखका व्यवहार कैसे हो सकता है? इस लोकमें जीवनको सुख देनेवाला सौदा कैसे हो सकता है? क्या राखको फूँककर कभी दीपको प्रज्वलित किया जा सकता है? जैसे कोई व्यक्ति किसी विषकन्दको निचोड़कर उसमेंसे रस निकाले और फिर उसका नाम अमृत-रस रखकर उसका पान कर जाय और उसके बलपर अमर होनेकी आशा रखे, ठीक वैसे ही अमृत-रसकी तरह विषय-सुख है जो वास्तवमें परम दुःख है। पर क्या किया जाय! जो मूढ़जन हैं, वे उन विषयोंके बिना रह ही नहीं सकते। यदि पाँवमें घाव हो जाय और उस घावपर कोई व्यक्ति अपना सिर काटकर बाँध दे, तो यह बात उसके लिये कहाँतक कल्याणकारक हो सकती है? बस, मृत्युलोकके समस्त सुखोंको भी इसी प्रकारका हितकारक समझना चाहिये। ऐसी स्थितिमें इस मृत्युलोकमें वास्तविक सुखकी बात भला किसके कर्णेन्द्रियोंको सुनायी पड़ सकती है? अंगारोंकी शय्यापर भला सुखपूर्वक कौन सो सकता है? जिस लोकका चन्द्रमा भी क्षयरोगसे पीड़ित हो, जहाँ

सूर्य भी केवल अस्त होनेके लिये ही उदित होता हो, जहाँ दुःख ही सुखका वेष धारण कर सारे जगत्को छलता हो, जहाँ मंगलके उगते हुए अंकुरोंमें ही तत्क्षण अमंगलके कीड़े लग जाते हों, जहाँ माताके उदरके गुप्त गर्भाशयतकमें मृत्यु पहुँचकर अपना काम कर डालती हो, जहाँ लोगोंको निरन्तर मिथ्या और असत्य बातोंकी ही चिन्ता लगी रहती हो और उसी मिथ्या बात अर्थात् जीवनको यमदूत बलपूर्वक पकड़कर ले जाते हों और इस बातका पता भी न लगता हो कि वे उसे कहाँ ले जाते हैं, जहाँ चतुर्दिक् भलीभाँति खोजनेपर भी कहींसे निकलनेका कोई रास्ता ही न दृष्टिगोचर होता हो, जहाँ सिर्फ पुराणों अर्थात् मृतकोंकी ही बातें होती हों, जहाँ ब्रह्माकी तरह आयुष्य रखनेवाला व्यक्ति भी वस्तुमात्रकी अनित्यताका चिरकालतक वर्णन करनेपर भी उसका पूरा-पूरा वर्णन न कर सकता हो; जिस लोककी ऐसी अनित्य स्थिति हो, उस लोकमें जन्म लेकर जीव यदि चिन्तामुक्त रहे तो यह बात कितनी आश्चर्यजनक और हास्यास्पद है!

जो लोग लौकिक अथवा पारलौकिक लाभके लिये गाँठकी एक कौड़ी भी नहीं निकालते, वही लोग पूर्णरूपसे हानि पहुँचानेवाली वस्तुओंके लिये करोड़ों रुपये खर्च करनेमें भी नहीं हिचकते। जो व्यक्ति नाना प्रकारके विषय विलासमें उलझा रहता है, उसीके विषयमें लोग कहते हैं कि यह आजकल बहुत सुखसे रहता है और जो व्यक्ति लोभके बोझसे दबा रहता है, उसीको लोग सज्ञान (बुद्धिमान्) समझते हैं। जिसकी आयु थोड़ी ही शेष रहती है और जिसकी बुद्धि बिलकुल समाप्त हो जाती है, उसीको लोग बड़ा कहते हैं और उसके पैरोंपर सिर रखकर लोटते हैं। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, वैसे-वैसे माता-पिता इत्यादि मारे आनन्दके नाचने लगते हैं; पर इस विषयमें उनके मनमें जरा-सा भी दुःख नहीं होता कि बच्चेके बढ़नेके साथ-ही-साथ उसके आयुष्यकी डोर भी छोटी होती जाती है। जन्म लेते ही व्यक्तिको दिनोंदिन कालके और भी अधिक

अधीन होना पड़ता है, तो भी लोग जन्मदिनका उत्सव बड़े धूम-धामसे मनाते हैं और आनन्दकी ध्वजा भी फहराते हैं। लोगोंको श्रवणेन्द्रियोंमें मरणका शब्द भी भला नहीं सुनायी पड़ता और जिस समय किसीकी मृत्यु हो जाती है, उस समय लोग जोर-जोरसे चिल्लाने लगते हैं, परन्तु वे लोग अपनी मूढ़ताके वशीभूत होनेके कारण कभी इस बातका विचार भी नहीं करते कि स्वयं हमारी ही आयु दिनोंदिन क्षीण होती चली जा रही है। जिस समय मेढकको सर्प निगलने लगता है, उस समय भी वह मेढक मक्खियोंको खानेके लिये अपने मुँहसे बलपूर्वक पकड़े रहता है। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी तृष्णाएँ निरन्तर बढ़ाता चलता है, पर इससे उसका क्या हित हो सकता है? इस मृत्युलोककी दशा भी कैसे खराब हो रही है! हे अर्जुन! यद्यपि तुमने इस लोकमें अपने कर्मोंकी गतिसे ही जन्म ग्रहण किया है, पर फिर भी तुम यहाँसे झटपट अलग होकर निकल जाओ और उस मार्गसे चलो, जिसपर चलनेसे तुम्हें मेरे निर्दोष, अविनाशी पदकी प्राप्ति हो सकती है। (४७५—५१६)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

तुम अपना मन मद्रूप कर लो और मेरे प्रेमके भजनमें रँग जाओ और सर्वत्र मेरा अस्तित्व मानकर मेरा नमन करो। एकमात्र मेरी ही ओर लक्ष्य रखकर सारे संकल्पोंका नाश कर डालना ही मानो मेरा निर्मल यजन करना है। जब इस प्रकार तुम मेरे ध्यानसे सम्पन्न हो जाओगे, तभी तुम मेरे वास्तविक स्वरूपको प्राप्त कर सकोगे। अपने अन्तःकरणका यह रहस्य आज मैंने तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया है। आजतक मैंने जो बात सब लोगोंसे एकदम छिपाकर रखी है, उसे प्राप्त करके तुम सुखसे भर जाओगे।'' संजयने कहा—''भक्त कल्पद्रुम उन परब्रह्म साँवले श्रीकृष्णने

इस प्रकार अर्जुनको उपदेश दिया।'' बूढ़ा धृतराष्ट्र इन सब बातोंको सुनकर ठीक उसी प्रकार बैठा रहा, जिस प्रकार कोई आलसी भैंसा नदीका जल बढ़ जानेपर भी चुपचाप आरामसे बैठा रहता है। उस समय संजयने सिर हिलाकर मन-ही-मन कहा कि यहाँ अमृतकी निरन्तर वृष्टि हो रही है और यह धृतराष्ट्र ऐसी चुप्पी साधे हुए है कि मानो यहाँ है ही नहीं। पर फिर भी यह हमारा दाता है, पोषक है; इसलिये इसके सम्मुख कोई बात साफ-साफ कहना अपनी वाणीको दूषित करनेके सिवाय कुछ भी नहीं है। अब क्या किया जाय! इसका स्वभाव ही ऐसा है। परन्तु फिर भी मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ क्योंकि युद्ध-क्षेत्रका सारा हाल सुनानेके लिये श्रीव्यासदेवने मुझे नियुक्त किया है। इस प्रकार बहुत प्रयत्नपूर्वक अपने मनको दृढ़ करके संजय ये सब बातें अपने मन-ही-मनमें कह रहे थे कि उस समय सात्त्विक भावका उनमें आवेश हुआ और वे स्वयंको न सँभाल सके। उनका चित्त विस्मित हो गया, वाणी स्तब्ध हो गयी और आपादमस्तक रोमांचित हो उठा। उनकी अर्धोन्मीलित आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। उनके मनमें सुखकी जो तरंग उठी थी, उससे उनका शरीर काँपने लगा। उनके रोम मूलोंमें स्वेदके निर्मल कण चमकने लगे और ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो उन्होंने अपने पूरे शरीरपर मोतियोंका एक जाल-सा ओढ़ लिया है। इस प्रकार महासुखके उस अपार रसमें डूबनेके कारण उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रह गयी और युद्धका वृत्तान्त सुनानेका जो काम श्रीवेदव्यासजी महाराजने उन्हें सौंपा था, उसके विषयमें ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो वह काम अब उनसे न हो सकेगा। इतनेमें भगवान् श्रीकृष्णकी वाणीने उनके श्रवणेन्द्रियोंमें प्रविष्ट किया, जिससे संजयके होश फिर ठिकाने हुए और वे फिर युद्धका वृत्तान्त सुनानेको उद्यत हुए। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी आँखोंके आँसू पोंछे, पूरे शरीरका स्वेद भी पोंछा और तब धृतराष्ट्रसे कहा कि हे महाराज! अब मैं आपको इसके आगेका समाचार सुनाता हूँ; मनोयोगपूर्वक सुनें। श्रीकृष्णके

वचन तो सुन्दर बीज हैं ही, पर अब ऐसा सुअवसर आया है कि संजयकी सात्त्विक वृत्तिरूपी जमीन उस बीज बोनेके लिये तैयार है। अतएव अब निःसन्देह श्रोताओंको सिद्धान्तकी बढ़िया फसल तैयार होकर मिलेगी। हे श्रोतावृन्द! आपलोग इस कथनकी ओर और थोड़ा ध्यान दें तथा आनन्दकी राशिपर बैठें। आज आपलोगोंके कानोंका भाग्य खुल गया है। अब सिद्धोंके स्वामी श्रीकृष्ण अर्जुनके समक्ष ईश्वरीय विभूतिके स्थानका वर्णन करेंगे। श्रीनिवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवका आपलोगोंसे विनम्र निवेदन है कि वह वर्णन आपलोग ध्यानपूर्वक सुनें। (५१७—५३५)

अध्याय दसवाँ

ब्रह्म-ज्ञानका स्पष्ट बोध करानेमें परम समर्थ हे गुरुदेव, आपको नमस्कार है। हे गुरुदेव, विद्यारूपी कमलका विकास आप ही हैं। परा-प्रकृतिरूपी तरुणीके साथ सुखपूर्वक क्रीडा करनेवाले आप ही हैं। आपको नमस्कार है। संसाररूपी अन्धकारका नाश करनेवाले सूर्य आप ही हैं। आपका स्वरूप अमर्याद है। आपकी सामर्थ्य अनन्त है। जो तुरीयावस्था अर्थात् आत्म-समाधि अभी हालमें युवावस्थामें प्राप्त होनेको है, सहज रीतिसे उसका लालन-पालन करनेवाले आप ही हैं, आपको नमस्कार है। आप सारे जगत्का पालन-पोषण करनेवाले और मंगलमणि-निधान हैं। हे गुरुदेव, सज्जनरूपी वनको सुगन्धित करनेवाले चन्दन तथा आराधना करनेयोग्य देवता आप ही हैं, आपको नमस्कार है। जैसे चक्रवाक पक्षी-के चित्तको चन्द्रमा शान्त करता है, वैसे ही चतुर व्यक्तियोंके चित्तको आप शान्त करते हैं। आप आत्म साक्षात्कारके सर्वाधिकारी हैं, वेदके ज्ञानरसके सागर हैं और सारे जगत्को मथनेवाला जो काम-विकार है, उसका भी मन्थन करनेवाले आप ही हैं; आपको नमस्कार है। आप सद्भक्तोंके भजनके पात्र हैं, संसाररूपी गजराजका गण्डस्थल तोड़नेवाले आप ही हैं और संसारकी उत्पत्तिके आदि स्थान भी आप ही हैं। हे गुरुदेव, आपको नमस्कार है। हे महाराज, आपके अनुग्रह यही विद्यापति गणेश हैं और जिस समय उन गणेशजीकी कृपा मिलती है, उस समय मतिमन्द बालक भी समस्त विद्याओंके क्षेत्रमें प्रवेश कर सकता है। जिस समय गुरुकी उदार वाचा अभय वचन देती है, उसी समय शृंगार इत्यादि नौ रसोंरूपी दीपक प्रज्वलित हो जाता है अर्थात् दीख जाता है। हे महाराज! यदि आपकी स्नेहिल

वागीश्वरी किसी गूँगेपर भी कृपा करे, तो वह भी ग्रन्थ-प्रणयनमें स्वयं बृहस्पतिके साथ प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा कर सकता है। सिर्फ इतना ही नहीं, जिस किसीपर आपकी कृपादृष्टिका प्रकाश पड़ जाता है अथवा आपका कोमल हाथ जिसके मस्तकपर जा पड़ता है, वह जीव होनेपर भी शिवके समकक्ष हो जाता है। जिसके कार्योंकी ऐसी महिमा है; उसका मैं अपनी मर्यादित वाचाकी सामर्थ्यसे भला कैसे वर्णन कर सकता हूँ। क्या कभी कोई सूर्यके शरीरमें भी उबटन लगा सकता है? पुष्पोंके द्वारा भला कल्पतरुका कहाँतक शृंगार किया जा सकता है? क्षीरसागरका आवभगत भला किस प्रकारके व्यंजनोंसे किया जा सकता है? कपूरको किस सुगन्धित चीजसे सुगन्धित किया जा सकता है? चन्दनपर किस वस्तुका लेप लगाया जा सकता है? अमृतको कैसे राँधा (पकाया) जा सकता है? क्या गगनको और भी ऊपर उठानेका कोई उपाय हो सकता है? ठीक इसी प्रकार श्रीगुरुदेवकी महिमाका पूरा-पूरा आकलन करनेके लिये कहाँ और कौन-सा साधन मिल सकता है? इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर ही मैंने उन गुरुदेवको चुपचाप नमन किया है। यदि कोई अपने प्रज्ञाबलके अभिमानमें आकर यह कहे कि मैं गुरुदेवकी सामर्थ्यका सम्यक् वर्णन करता हूँ, तो उसका यह काम आबदार मोतीपर अभ्रककी कलई करनेके सदृश ही उपहासका विषय होगा। अथवा गुरुदेवकी वह जो कुछ स्तुति करेगा, वह स्तुति विशुद्ध स्वर्णपर चाँदीका मुलम्मा करनेके सदृश ही होगी। इसलिये कुछ भी न कहकर चुपचाप गुरुदेवके चरणोंपर माथा टेकना ही सबसे अच्छा है। फिर मैंने श्रीगुरुदेवसे कहा—"हे स्वामी! आपने प्रेमपूर्वक मेरी ओर दृष्टिपात किया है, अतएव इस श्रीकृष्णार्जुन संवादरूपी संगममें मैं भी ठीक वैसा ही हो गया हूँ, जैसा गंगा और यमुनाके संगममें प्रयागका वट-वृक्ष है। जिस प्रकार प्राचीनकालमें उपमन्युने भगवान् शंकरसे दूधकी याचना किया था, तब शंकरने स्वयं क्षीरसागर ही उसके समक्ष दूधके कटोरेकी भाँति रख दिया था अथवा रुष्ट ध्रुवको मनानेके लिये वैकुण्ठके

अधिपति भगवान् विष्णुने उसे ध्रुव-पदरूपी मिष्ठान दी थी, उसी प्रकार आपने प्रसन्न होकर कृपापूर्वक उस भगवद्‌गीताकी टीका करनेमें मुझे समर्थ किया है, जो ब्रह्मविद्यामें सर्वश्रेष्ठ है, जो सब शास्त्रोंकी विश्रान्तिका स्थान है, जिस वाणीरूपी वनमें दर-दरकी ठोकर खानेपर भी सार्थ अक्षरके फलका कहीं नाम भी सुनायी नहीं पडता, उस मेरी रूखी वाणीको आपने ही आज विवेककी कल्पलता बना दिया है। मेरी जो देह-बुद्धि थी, उसे आपने अब आनन्दरूपी भण्डारकी कोठरी बना दिया है। मेरा मन गीतार्थरूपी क्षीरसमुद्रमें महाविष्णु बन गया है। श्रीगुरुदेवके समस्त कृत्य ऐसे ही अलौकिक हैं, फिर भला उसकी अपार कृतियोंका विवेचन मुझसे किस प्रकार हो सकता है? तो भी मैंने यहाँ उनकी कुछ कृतियोंका विवेचन करनेका साहस किया है और इसके लिये श्रीगुरुदेव मुझे क्षमा करें। आपके कृपा-प्रसादसे मैंने श्रीभगवद्‌गीताके पूर्व खण्डकी टीका बड़े उत्साहसे की है। प्रथम अध्यायमें अर्जुनके उस विषादका वर्णन है जो उसे अपने बन्धु-बान्धवोंके विनाशकी परिकल्पनासे हुआ था द्वितीय अध्यायमें निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया गया है और साथ-ही-साथ ज्ञानयोग और बुद्धियोगमें जो भेद है, उसका भी स्पष्टीकरण किया गया है। तृतीय अध्यायमें कर्मकी महिमाका विवेचन किया गया है और चतुर्थ अध्यायमें उन्हीं कर्मोंका ज्ञानके साथ प्रतिपादन किया गया है। पंचम अध्यायमें योगतत्त्वका महत्त्व दिखलाया गया है और षष्ठ अध्यायमें वह योगतत्त्व और अधिक स्पष्ट किया गया है। आसनोंसे आरम्भ करके अन्तकी ब्रह्मैक्यवाली स्थितितककी समस्त बातें बहुत ही साफ-साफ बतलायी गयी हैं। इसी प्रकार इस अध्यायमें योगब्रह्मस्थिति क्या है और योगभ्रष्टोंको कौन-सी गति प्राप्त होती है, इसका भी प्रतिपादन किया गया है इसके बाद सप्तम अध्यायमें सर्वप्रथम मायाके स्वरूप इत्यादिका विवेचन किया गया है और उन चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन है जो ईश्वरकी उपासना या भजन करते हैं इसके उपरान्त अष्टम अध्यायमें सात प्रश्नोंकी व्याख्या

की गयी है और मरनेके समय लोगोंकी कैसी बुद्धि रहती है, इस बातका विचार अध्यायके अन्तमें किया गया है। अपार शब्द ब्रह्म माने जानेवाले वेदोंमें जो कुछ तत्त्व-ज्ञान मिलता है, वही सब एक लाख श्लोकोंवाले महाभारतमें भी मिलता है और पूरे महाभारतमें जो ज्ञान भरा हुआ है, वह सब कृष्णार्जुन संवादमें मिलता है और श्रीकृष्णार्जुन संवादके सात सौ श्लोकोंमें जो कुछ तत्त्व है, वह सब गीताके सिर्फ नवें अध्यायमें संग्रहीत है। उसी नवें अध्यायका अर्थ स्पष्ट करनेमें मैं एकदम घबरा गया था। फिर मैं व्यर्थ घमण्ड क्यों करूँ? गुड़ और शक्कर दोनों एक ही इक्षुरससे बने हुए होते हैं; पर फिर भी उनकी मिठास भिन्न भिन्न होती है। इसी प्रकार यद्यपि ये सभी अध्याय गीताके ही हैं, पर फिर भी इनमेंसे कुछ अध्याय ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं, कुछ अध्याय सिर्फ थोड़ा बहुत सुझाव देकर रह जाते हैं और कुछ अध्यायोंके सम्बन्धमें यह जान पड़ता है कि वे अपने ज्ञानके गुणके साथ ब्रह्ममें मिल गये हैं। गीताके ये सब अध्याय इसी प्रकारके हैं। परन्तु नवें अध्यायकी महिमा वर्णनातीत है। यह एकमात्र गुरुदेवकी ही सामर्थ्यका फल था कि मैं उसका वर्णन कर सका। किसी (वसिष्ठसे अभिप्राय है)-का अंगोछा सूर्यकी भाँति चमकने लगा, किसी (विश्वामित्रसे अभिप्राय है)-ने इस सृष्टिके टक्करकी एक दूसरी सृष्टि ही बना डाली, किसी (भगवान् श्रीरामसे अभिप्राय है)-ने पत्थरोंका पुल बनाकर अपनी सेनाको पैदल ही समुद्रके पार पहुँचाया, किसी (हनुमान्‌जीसे अभिप्राय है)-ने सूर्यको पकड़ लिया, किसी (अगस्त्यसे अभिप्राय है)-ने अपने एक चुल्लूमें ही सारा समुद्र भर लिया। इसी प्रकार हे गुरुदेव, आपने भी मुझ-जैसे गूँगेके मुखसे आज अनिर्वाच्य ब्रह्मका निरूपण करा दिया है, परन्तु अपने इस विस्मयकारी कृत्यकी उपमा तलाश कर पाना असम्भव है। यदि कोई पूछे कि राम और रावणका युद्ध कैसा हुआ, तो इसका एकमात्र उत्तर यही दिया जा सकता है कि वह राम और रावणके युद्धके सदृश ही हुआ। इसी प्रकार इस नवें अध्यायमें

श्रीकृष्णका जो उपदेश है वह इस नवें अध्यायके उपदेशके ही सदृश है और इसकी दूसरी उपमा अन्यत्र ढूँढ़नेसे भी नहीं मिल सकती और जिन व्यक्तियोंने गीताका अर्थ एकदम अपना-सा लिया है, वे तत्त्वज्ञ लोग यह बात भलीभाँति जानते हैं। इसी प्रकार मैंने भी अपनी मतिके अनुसार गीताके आरम्भके नौ अध्यायोंका वर्णन किया है और अब आपलोग शान्तचित्तसे गीताके उत्तरखण्डका श्रवण करें।

इस खण्डके आरम्भमें अर्जुनको श्रीकृष्ण अपनी प्रमुख और गौण विभूतियाँ बतलावेंगे और अब उसीकी सरस तथा सुन्दर कथा सुनायी जायगी। यह है तो देशी भाषा, पर इसके सौन्दर्यके आधारपर शान्तरस शृंगाररससे भी आगे निकल जायगा अर्थात् शान्तरस शृंगाररसपर विजय प्राप्त कर लेगा और इस देशी भाषाके सुन्दर साहित्यका उससे शृंगार हो जायगा। मूल संस्कृत श्लोकोंका मैंने देशी भाषामें जो आशय स्पष्ट किया है, उससे अर्थको भलीभाँति समझ लेनेके बाद श्रोताओंको यह भ्रान्ति होने लगेगी कि इसमें मूल कौन-सा है और टीका कौन-सी है और ये चकित हो जायँगे। जैसे सुन्दर शरीर अपने जातीय लावण्यके कारण स्वयं ही आभूषणोंका अलंकार हो जाता है और तब यह कहना मुश्किल हो जाता है कि आभूषणोंके कारण शरीरकी शोभा बढ़ी है अथवा शरीरके कारण आभूषणोंकी शोभा बढ़ी है, वैसे ही आपलोग शुद्ध मतिसे यहाँ यह देखें कि देशी भाषा और संस्कृत भाषा प्रकृति विषयमें अर्थके एक ही आसनपर विराजमान होकर कैसे समानरूपसे शोभा दे रही है। ज्यों ही कोई भाव आकार धारण करता है, त्यों ही नौ रसोंकी वृष्टि होने लगती है और चातुर्यकी शोभा द्विगुणित हो जाती है और वह अधिक खिलने लगता है। इसी प्रकार देशी भाषाका लावण्य तथा रसतारुण्य लूटकर लाया गया है और उसीके द्वारा इस गहन गीता-तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। अब आपलोग यह श्रवण करें कि सारे जड़ जंगमके परम गुरु और चतुरजनोंके चित्तको सन्तृप्त करनेवाले उन यादवेश्वर श्रीकृष्णने क्या कहा। श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव कहता

है कि श्रीहरिने कहा—"हे अर्जुन, अब आत्मज्ञानका सम्यक् विवेचन सुननेके लिये तुम अपने अन्त:करणसे सचमुच योग्य हो गये हो। (१—४९)

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

मैंने अभीतक जितनी बातें कही थीं, वह सब सिर्फ यही जाननेके लिये कि इस विषयकी ओर तुम्हारा कितना ध्यान है। इस परीक्षासे यह सिद्ध हुआ कि इस विषयकी ओर तुम्हारा ध्यान अधूरा नहीं बल्कि भरपूर है। सबसे पहले घटमें थोड़ा-सा जल डालकर यह देखा जाता है कि वह जल उस घटमें ठहरता है अथवा चू जाता है और जब वह पहलेका डाला हुआ जल चूता नहीं तो उसमें और अधिक जल डालकर वह घट भरा जाता है। इसीलिये मैंने तुम्हें पहले-पहल थोड़ी-सी बातें बतलायी थीं और अब यह सिद्ध हो गया है कि तुम्हें सब बातें बतला देना ही समीचीन (ठीक) है। जिस समय कोई नया भृत्य नियुक्त किया जाय उस समय उसकी परख करनेके लिये कोई कीमती वस्तु किसी ऐसी जगहपर रख देनी चाहिये, जहाँ सहजमें ही उसकी दृष्टि उस वस्तुपर पड़े और जब उसके मनमें उस वस्तुके प्रति लालसा न उत्पन्न हो और इस प्रकार वह अपनी विश्वसनीयताका पूरा-पूरा भरोसा दिला दे, तब उस भृत्यको भण्डार आदिके कामपर लगाना चाहिये। इसी प्रकार हे किरीटी, तुम मेरी कसौटीपर खरे उतरे हो और इसलिये अब तुम मेरे सब कुछ हो गये हो।" सर्वेश्वर श्रीकृष्णने इस प्रकार अर्जुनसे कहा और तब जैसे ऊँचे पर्वतोंको देखकर मेघ भर जाता और वृष्टि करनेके लिये तत्पर हो जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी प्रेमसे भर गये और कहने लगे—"हे वीरशिरोमणि अर्जुन, ध्यानपूर्वक सुनो। पहले जितनी बातें मैं तुम्हें बतला चुका हूँ वही अब मैं फिरसे बतलाता हूँ। जब मनुष्य प्रत्येक वर्ष खेती करता रहता है और प्रत्येक वर्ष उसे अच्छी फसल भी प्राप्त होती रहती है, तब खेतीके

लिये मेहनत करनेमें उसका जी नहीं ऊबता। बार-बार अग्निमें तपानेपर और उसे साफ करनेपर स्वर्णकी कान्ति और भी अधिक बढ़ती है। इसीलिये, हे पाण्डुसुत! लोग यह समझने लगते हैं कि स्वर्णको अच्छी तरह तपाकर शुद्ध करना चाहिये। इसी प्रकार हे पार्थ। मैं तुमपर कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ, बल्कि स्वयं अपनी लालसा और अनुरागसे अपने ही संतोषके लिये ये बातें तुमसे बार-बार कहता हूँ। लोग नन्हें-नन्हें बच्चोंको आभूषण पहना देते हैं। भला उन बच्चोंको उन आभूषणोंका क्या ज्ञान होता है? पर उन आभूषणोंका सुखोपभोग माताकी आँखें ही करती हैं। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों तुम्हें आत्मकल्याणका लाभ होता है, त्यों-त्यों मेरा सुख भी निरन्तर द्विगुणित होता जाता है। पर हे अर्जुन, अब इन अलंकारिक बातोंको जाने दो। अब तो मैं स्पष्टरूपसे तुम्हारे स्नेहमें भूल गया हूँ। इसीलिये अब प्रेमसे परिपूर्ण मेरा मन तुमसे वही बातें बार-बार कहता हुआ भी नहीं अघाता। पर अब ये बातें बहुत हो चुकीं। अब तुम अपने चित्तको एकाग्र करके मेरी बातें सुनो। हे अर्जुन! मेरा परम श्रेष्ठ वचन सुनो। इन वचनोंमें स्वयं परब्रह्म अक्षरोंका रूप धारण करके तुम्हारा प्रगाढ़ालिंगन करनेके लिये आ रहा है। पर फिर भी, हे किरीटी! मेरा वास्तविक और निश्चित ज्ञान अभीतक तुम्हें नहीं हुआ है। जो मैं यहाँ तुमको दृष्टिगत हो रहा हूँ, वही मैं यह समस्त विश्व हूँ। (५०—६३)

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मेरे स्वरूपका प्रतिपादन करनेमें वेदोंने भी चुप्पी साध ली। मन और प्राण भी पंगु हो गये हैं। सूर्य और चन्द्र बिना रातके ही अस्त हो गये हैं अर्थात् ये सब मेरा वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। जैसे माताके उदरमें स्थित गर्भ माताका वय नहीं देख सकता, वैसे ही किसी देवताको कभी मेरा ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे कोई जलचर अगाध समुद्रको माप नहीं सकता, अथवा मसक जैसे लाँघकर आकाशमण्डलका विस्तार पार नहीं कर

सकता, वैसे ही इन महर्षियोंका ज्ञान भी मुझे नहीं जान सकता। मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, किससे उत्पन्न हुआ हूँ, इत्यादि प्रश्नोंको निर्णय करते-करते लोगोंको अनेक कल्प बीत गये। इसका प्रमुख कारण यही है कि ये जितने देवता, महर्षि और अन्य सारे जीव हैं, उनका आदि कारण मैं ही हूँ। इसीलिये, हे पाण्डव! मेरे विषयमें जानना अत्यन्त कठिन है। यदि नीचेकी ओर प्रवाहमान जल फिर उलटकर पर्वतपर चढ़ सकता हो अथवा ऊपरकी ओर बढ़ता हुआ वृक्ष यदि फिर अपनी जड़की ओर लौट सकता हो तो फिर मुझसे उत्पन्न होनेवाला यह जगत् भी मुझे जान सकता है। यदि वट-वृक्षके सूक्ष्म अंकुरमें संपूर्ण वट-वृक्ष आवृत्त किया जा सकता हो अथवा जलकी तरंगोंमें सारा समुद्र भरा जा सकता हो अथवा मिट्टीके परमाणुमें यह पूरा भूमण्डल समा सकता हो, तभी ये जीवमात्र, महर्षि तथा देवता इत्यादि, जो मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मुझे जान सकते हैं। किन्तु इतना होनेपर भी जो कोई लौकिक प्रवृत्तिकी आगे बढ़ानेवाली चालका परित्याग कर इन्द्रियोंकी ओर अपनी पीठ कर लेता है अथवा जिसकी प्रवृत्तिकी वह आगेवाली चाल जारी रहती है, वह भी यदि पीछेकी ओर पलटकर और अपना देह-भाव भूलकर पंचमहाभूतोंके शिखरपर चढ़ जाता है— (६४—७३)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

—और वहाँ स्थिर रहकर निर्मल आत्म-प्रकाशमें अपने नेत्रोंसे मेरा अजत्व-स्वरूप देखता है और जो इस प्रकार मेरा वह विशुद्ध अविनाशी स्वरूप जानता है, जो मूल कारणसे परेका और सब लोगोंका महेश्वर है, उसके सम्बन्धमें तुम्हें यह अच्छी तरहसे जान लेना चाहिये कि वह जीवरूपी पत्थरोंमें पारसकी ही तरह है। जैसे समस्त रसोंमें अमृत-रस श्रेष्ठ है, वैसे ही उसके सम्बन्धमें तुम्हें यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि वह मनुष्योंमें साक्षात् मेरा ही अंश है। ऐसे व्यक्तिको चलता हुआ

ज्ञानरूपी सूर्यका मण्डल ही जानना चाहिये। उसके अवयव मानो सुखरूपी वृक्षके कोमल अंकुर ही होते हैं। उसमें जो मनुष्य-भाव दृष्टिगत होता है वह वास्तवमें भ्रम है और केवल लौकिक दृष्टिके कारण दृष्टिगत होता है। उसके उस मनुष्य-भावमें सत्यांश नहीं है। यदि कपूरमें किसी प्रकार हीरा भी मिल जाय और दोनोंके ऊपर कहींसे जल आ पड़े तो कपूर तो गल जायगा, पर उसके साथ वह हीरा नहीं गलेगा। इसी प्रकार ऐसा व्यक्ति मनुष्यलोकमें निवास करनेके कारण भले ही ऊपरसे देखनेपर प्राकृत मनुष्योंकी तरह दृष्टिगोचर हो, पर फिर भी उसमें प्रकृति (माया)-के दोषकी गन्ध भी नहीं होती। पाप स्वतः उसका परित्याग कर भाग जाते हैं और जैसे जलते हुए चन्दन-वृक्षका त्यागकर सर्प दूर चला जाता है, वैसे ही समस्त संकल्प उस मनुष्यको भी त्यागकर दूर चले जाते हैं जो मुझे जानता है। अब यदि तुम्हारे चित्तमें यह जिज्ञासा उठ खड़ी हो कि मेरा इस प्रकारका ज्ञान मनुष्यको कैसे हो सकता है, तो वह उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो कि मेरे भाव (विकार) कौन-कौन-से हैं, मैं कैसा हूँ और मेरे धर्म कैसे हैं। मेरे जो भाव भिन्न-भिन्न समस्त जीवोंमें भरे हैं, वे इस प्रकार त्रिभुवनमें फैले हुए हैं कि जिस जगहपर और जिसमें वे रहते हैं, उसकी स्थितिके अनुरूप ही रहते हैं। (७४—८२)

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

उन भावोंमें प्रथम स्थान बुद्धिका है। इसके बाद निरवधि ज्ञान, मोहाभाव, सहिष्णुता, क्षमा और सत्य हैं। तत्पश्चात् मनोनिग्रह और इन्द्रिय-नियन्त्रण—ये दो चीजें हैं। इसी प्रकार हे अर्जुन! संसारके सुख-दुःख और जीवन-मृत्यु भी मेरे ही भावोंके अन्तर्गत हैं; और हे पाण्डुसुत! भय

और निर्भयता, अहिंसा और समता, सन्तोष तथा तप, दान, यश और अपयश इत्यादि जो भाव प्राणिमात्रमें दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी उत्पत्ति भी मुझसे हुई है। जैसे समस्त जीव पृथक्-पृथक् हैं, वैसे ही यह भाव भी पृथक्-पृथक् हैं। पर इनमेंसे कुछको तो मेरे विषयमें ज्ञान होता है और कुछको नहीं होता। सूर्यके कारण ही प्रकाश और अन्धकार दोनों होते हैं। जिस समय सूर्योदय होता है, उस समय प्रकाश दृष्टिगोचर होता है और जिस समय वह अस्ताचलकी ओर जाता है, उस समय अन्धकार हो जाता है। इसी प्रकार मेरे स्वरूपका ज्ञान होना अथवा न होना उन प्राणियोंके कर्मोंके (दैवके) फलके अनुसार होता है। इसी कारण प्राणिमात्रके लिये मेरे भावोंका अस्तित्व विषम होता है। इस प्रकार, हे पाण्डुकुँवर, यह समस्त जीव-सृष्टि मेरे भावोंमें कसकर बँधी हुई है। अब इस सृष्टिका पालन करनेवाले और समस्त लोक-व्यवहारको अपने अधीन रखनेवाले ग्यारह भाव और भी हैं। अब उनका भी वर्णन ध्यानपूर्वक सुनो—(८३—९१)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥६॥

सम्पूर्ण महर्षियोंमें गुणों और ज्ञानमें सर्वश्रेष्ठ जो कश्यप इत्यादि सात ऋषि हैं और चतुर्दश मनुओंमें जो स्वयम्भू इत्यादि चार प्रमुख मनु हैं, हे धनुर्धर, वही ग्यारह मेरे ये भाव हैं। वे सृष्टिके व्यापारके लिये मेरे मनसे उत्पन्न हुए हैं। जबतक लोकोंकी सृष्टि नहीं हुई थी और जबतक इन तीनों लोकोंका विस्तार नहीं हुआ था, तबतक महाभूतोंका समुदाय भी क्रियाशून्य ही था। पीछे इन ग्यारहोंका अस्तित्व हुआ और इन्होंने समस्त भुवनोंको उत्पन्न किया तथा उन भुवनोंमें भिन्न-भिन्न अष्ट-लोकपालाधिपति नियुक्त किये। इस प्रकार ये ग्यारहों राजा हैं और शेष समस्त संसार इनकी प्रजा है। कहनेका आशय यह है कि तुम्हें इस बातको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि यह सारा जगत् मेरा ही विस्तार है। देखो, आरम्भमें सिर्फ एक ही बीजका अस्तित्व रहता है। फिर उसी

बीजके बढ़नेसे जड़ निकलती है। तब उस जड़मेंसे अंकुर प्रस्फुटित होता है, तब उन्हीं अंकुरोंसे शाखाएँ और प्रशाखाएँ निकलती हैं और फिर समस्त शाखाओंमें पत्ते निकलते हैं। उन्हीं पत्तोंमें फल और फूल आते हैं। इस प्रकार वृक्षत्व पूर्णता प्राप्त करता है। पर यदि इस वृक्षत्वको सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो यही सिद्ध होता है कि वह सब केवल उसीके छोटे-से बीजका विस्तार है। इसी प्रकार मैं भी एक ही मूल तत्त्व हूँ। उस 'मैं' ने ही मन उत्पन्न किया है और इसी मनसे सप्तर्षि तथा चारों मनु उत्पन्न हुए हैं। इन्हीं ग्यारहोंने लोकपालोंको उत्पन्न किया है और इन लोकपालोंने विविध लोकोंकी रचना की और उन लोकोंसे सारी प्रजाने जन्म धारण किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वका मैंने ही विस्तार किया। पर ये सब बातें उसीकी समझमें आती हैं, जिसके मनमें इन भावोंकी उत्पत्तिके विषयमें श्रद्धा होती है। (९२—१०३)

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

इस प्रकार, हे सुभद्रापति! ये भाव मानो मेरी विभूतियाँ ही हैं और इन्होंने समस्त विश्व व्याप्त कर रखा है। इसीलिये ब्रह्मासे लेकर पिपीलिका-पर्यन्त इस पूरी सृष्टिमें मेरे अलावा अन्य कोई वस्तु नहीं है। जिस व्यक्तिको इस तथ्यका ज्ञान हो जाता है, उसमें ज्ञानकी जागृति हो जाती है और तब उसे छोटे-बड़े और भले-बुरे इत्यादि भेद-भावकी कल्पनाओंके दुःस्वप्न नहीं आते। मैं जो कुछ हूँ, वही मेरी विभूति है और सब मनुष्य मेरी उसी विभूतिसे व्याप्त हैं। अतएव आत्मयोगके अनुभवसे इन सबको एक ही आत्मस्वरूप मानना सर्वथा समीचीन और परमावश्यक है। इस विषयमें सन्देह करनेके लिये रत्तीभर भी जगह नहीं है कि जो अपने मनोबलके सहयोगसे इस आत्मयोगके द्वारा मेरे साथ मिलकर समरस हो जाता है, वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। हे किरीटी! जो इस प्रकार अभेद-दृष्टिसे मुझे भजता है, उसके भजनके देहलीमें पहुँच करके मेरा रहना नितान्त

आवश्यक हो जाता है। इसीलिये मैंने जो अभेदात्मक भक्तियोग बतलाया है, उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती और उसमें दुर्बलताके लिये भी कोई जगह नहीं है। जिस समय यह भक्तियोग चलता रहे, यदि उसी समय देहावसान हो जाय तो भी कुछ हानि नहीं होती, बात छठे अध्यायमें स्पष्टरूपसे बतलायी जा चुकी है। अब यदि तुम्हारे मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती हो कि इस अभेदका स्वरूप क्या है, तो सुनो। मैं तुम्हें उसका स्वरूप भी साफ-साफ बतलाता हूँ। (१०४—१११)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

हे पाण्डव! इस समस्त जगत्‌का मूल मैं ही हूँ और मुझसे ही इन सबका जन्म और स्थिति—दोनों होते हैं। तरंगें जलमें उत्पन्न होती हैं और उनका आश्रय तथा जीवन भी जल ही होता है। जैसे बिना जलके तरंगें हो ही नहीं सकतीं; वैसे ही इस विश्वमें कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जो मेरे बिना हो और जिसमें मेरा निवास न हो। जिन लोगोंको मेरे इस विश्वव्यापक स्वरूपका ज्ञान है, वे चाहे जिस स्थानपर रहकर मेरा भजन करें, पर वे वास्तवमें उदित होनेवाले प्रेमभावसे ही वह भजन करते हैं। ऐसे लोग देश-काल और वर्तमान इत्यादि सबको मुझसे अभिन्न मानते हैं और जैसे वायु गगनरूप होकर गगनमें विचरण करती है, वैसे ही वे मुझ जगद्‌रूपको मनमें रखकर अपने आत्मज्ञानसे तीनों लोकोंमें सुखपूर्वक क्रीडा करते हैं। तुम यह बात निश्चितरूपसे जान लो कि जीवमात्रमेंसे जो कुछ दृष्टिगोचर हो, उसीको भगवद्‌रूप मानना ही मेरा सच्चा भक्तियोग है। (११२—११८)

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

जिन भक्तोंका चित्त मद्‌रूप हो जाता है, मेरे स्वरूपसे जिनके अन्तःकरणका सम्यक्-रूपसे समाधान हो जाता है अर्थात् जिनके प्राण मेरे स्वरूपानुभवसे तृप्त हो गये हैं और जो आत्मबोधके प्रेममें पड़कर

जीवन और मृत्यु सब कुछ भुला बैठते हैं, वे लोग उसी आत्मबोधके बढ़ते हुए प्रभावसे अद्वैतानन्दके सुखमें नृत्य करने लगते हैं और परस्पर केवल आत्मबोधका ही लेन देन करते हैं। जैसे एक-दूसरेके निकट स्थित सरोवर बाढ़ आनेपर परस्पर मिल जाते हैं और उनकी तरंगोंका निवास आपसकी तरंगोंमें ही होता है, वैसे ही अभेद भक्तिवाले भक्त जिस समय एक-दूसरेसे मिलते हैं और उनमें ऐक्य भावकी स्थापना हो जाती है, उस समय मानो आनन्दके आगार आपसमें पिरोये जाते हैं और आत्मबोधको आत्मबोधके ही द्वारा आत्मबोधका ही अलंकार प्राप्त होता है और इस प्रकार उस आत्मबोधकी शोभाकी वृद्धि हो जाती है। जैसे एक सूर्य दूसरे सूर्यकी आरती करे अथवा एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमाका आलिंगन करे, अथवा दो समान जल-प्रवाह परस्पर मिल जायँ, ठीक वैसे ही जिस समय भक्तियोगसे युक्त भक्त एक-दूसरेके साथ मिलते हैं, उस समय उनकी समरसताका पावन प्रयाग तीर्थ बन जाता है और तब उस तीर्थके जलमें सात्त्विक भावोंकी बाढ़-सी आ जाती है और वे ऐक्यके चतुष्पथके गणेश बन जाते हैं। इसके बाद उस आत्मानन्दके अत्यन्त सुखसे भरे हुए वे भक्तियोगी देहभानवाली सीमा पार करके और मेरे लाभसे पूर्ण समाधान प्राप्त करके उच्च स्वरसे घोष करने लगते हैं। गुरु एकान्तमें अपने शिष्यको जिन मन्त्राक्षरोंका उपदेश करता है, उन्हीं मन्त्राक्षरोंका उद्घोष वे लोग सबके समक्ष मेघोंकी भाँति गरज-गरजकर करते हैं। कमलकलिका जब अपनी विकासकी पूर्णावस्थाको प्राप्त होती है, तब वह अपने अन्दर स्थित मधुरस किसी प्रकार दबाकर नहीं रख सकती और वह राजासे लेकर रंकपर्यन्त सबका समानरूपसे आतिथ्य करती है। इसी प्रकार वे भक्तियोगी अतिशय आनन्दमें भरकर पूरे संसारमें मेरा घोष करते हैं और उस कीर्तनके घोषसे उत्पन्न होनेवाले सन्तोषसे इतने अधिक भर जाते हैं कि अन्तमें वे कीर्तन भूलकर स्तब्ध हो जाते हैं और उसी विस्मृतिमें तन-मनसे रमण करते रहते हैं। इस प्रेमातिरेकमें उन्हें दिन और रातका भी ध्यान नहीं

रह जाता। इस प्रकार जो लोग मेरे स्वरूप लाभका दोषरहित पूर्ण सुख पा जाते हैं, (११९—१२९)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

उन्हें हे अर्जुन, मैं जो कुछ देना चाहता हूँ, उसका उत्तमोत्तम अंश पहलेसे ही उनके पास होता है। क्योंकि हे सुभट (अर्जुन)! जिस मार्गसे वे निकलते हैं, यदि उस मार्गकी सम्पूर्ण व्यवस्थापर दृष्टिपात किया जाय तो स्वर्ग और मोक्षके मार्ग भी उसके सामने टेढ़े-मेढ़े और छोड़ देनेके योग्य जान पड़ते हैं। इसलिये वे लोग अपने चित्तमें जो प्रेम सँजोये रहते हैं, उनका वही प्रेम मैं उन्हें देना चाहता हूँ। पर वह प्रेम भी जो मैं उन्हें प्रदान करना चाहता हूँ, उसे वे पहलेसे ही सिद्ध तथा प्राप्त कर चुके होते परन्तु वह प्रेम मैंने दिया है, ऐसा वह भक्त मानते हैं। अब उनके लिये सिर्फ इतना ही शेष रह जाता है कि उनका वह प्रेम-सुख निरन्तर बढ़ता रहे और एतदर्थ मुझे सिर्फ इतनी ही व्यवस्था करनी पड़ती है कि उनके उस प्रेमपर कालकी दृष्टि न पड़े और वह विनष्ट न होने पावे।

हे किरीटी, माता अपने लाड़ले बच्चेपर अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टिका आवरण डालकर उसे सुरक्षित रखती है और जिस समय वह जहाँ-तहाँ खेलता रहता है, उस समय उसके पीछे-पीछे दौड़ती रहती है और तब वह बच्चा जिन-जिन खिलौनोंकी माँग करता है, उन-उन खिलौनोंको बनाकर वह अपने लाड़ले बच्चेके समक्ष रखती है। ठीक इसी प्रकार अपने भक्तोंके लिये मैं भी वही काम करता हूँ जिनसे उपासनाके मार्गका पोषण होता है। इस मार्गके पोषणसे वे लोग सुखपूर्वक मेरे पास आ पहुँचें, बस इसीकी व्यवस्था करना मेरे लिये परमावश्यक हो जाता है। भक्तोंका मेरे प्रति अगाध प्रेम होता है और मुझे भी उनकी अनन्य शरणागतिका पूरा खयाल रखना पड़ता है, क्योंकि प्रेमी भक्तोंपर यदि संकट आये तो मानो वह संकट स्वयं मेरे घरपर ही आता है। फिर स्वर्ग और मोक्ष—ये दोनों ही मार्ग मैं उनके अधीन कर

देता हूँ। इतना ही नहीं बल्कि लक्ष्मीसहित मैंने स्वयं अपना सम्पूर्ण शरीर भी शेषनागको बेच डाला। परन्तु जिसमें 'मैं' पनेका बिलकुल लेश नहीं है ऐसा नित्य ताजा बना रहनेवाला जो आत्मसुख है, उसे मैं एकमात्र अपने प्रेमी भक्तोंके लिये अलग रख देता हूँ। हे किरीटी, इस सुखकी पराकाष्ठातक मैं अपने प्रेमी भक्तोंको अनुरागपूर्वक अपने पास रखता हूँ। पर यह बात इस प्रकारकी नहीं है, जो शब्दोंके द्वारा कही जा सके। (१३०—१४०)

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

अतएव जिन्होंने मेरे आत्मस्वरूपके अस्तित्वको ही अपने जीवनका आधार बना लिया है और जो मेरे सिवाय और किसीपर श्रद्धा नहीं रखते, मेरे अलावा सबको जिन्होंने असार मान रखा है, हे सुभट (अर्जुन)! उन महान् तत्त्वज्ञोंके लिये मैं नित्य कपूरकी मसाल जलाकर और उनके लिये स्वयं ही मसाल दिखानेवाला मसालची बनकर उनके आगे आगे चलता हूँ। अज्ञानरूपी रातमें जो घनघोर अँधेरा छाया रहता है, उनका विनाश करके मैं उनके लिये कभी नष्ट न होनेवाले नित्य प्रकाशका उदय करता हूँ। जब प्रेमी भक्तोंके प्रियोत्तम श्रीपुरुषोत्तमने ये सब बातें कहीं, तब अर्जुनने कहा—"मैं अब पूर्णतया संतृप्त हो गया हूँ। हे प्रभु, सुनिये। आपने मेरी संसाररूपी मैल हटा दी है। मैं अब जीवन और मृत्युकी अग्निसे मुक्त हो गया हूँ फिरसे माताके गर्भमें आना समाप्त हो गया। मैंने आज अपना जन्म अपनी आँखोंसे देखा। आज मुझे जीवनकी वास्तविकताका भान हो गया है और मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि आज मेरा जीवन सार्थक हो गया है। आज मेरा आयुष्य सफल हो गया है। आज मेरा भाग्योदय हो गया है, क्योंकि आज परमात्माकी प्रसाद-वाणी मेरे श्रवणेन्द्रियोंमें पहुँची है। आज इस वाणीके प्रकाशसे मेरे बाह्याभ्यन्तरका अन्धकार मिट गया है इसीलिये इस समय मुझे आपका वास्तविक स्वरूप दिखायी दे रहा है। (१४१—१४८)

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥

हे जगन्नाथ, इस संसारका जो विश्रामस्थल परब्रह्म है, वह आप ही हैं। आप परम पवित्र हैं। आप त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश)-के भी आराध्यदेव हैं। पचीसवाँ तत्त्व जो पुराण पुरुष है, वह आप ही हैं। आप ही मायासे परे हैं। जो अनादिसिद्ध विश्वका स्वामी है और जो जन्म-बन्धनसे मुक्त है, वह आप ही हैं। अब आपको मैंने पहचान लिया है, अब यह बात खूब अच्छी तरह मेरी समझमें आ गयी है कि आप ही भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों काल-यन्त्रोंके सूत्रधार हैं। आप ही इस जीवात्माके अधिपति तथा इस ब्रह्माण्डके आधार भी हैं। (१४९—१५२)

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

इस अनुभवकी सत्यता (बड़प्पन) एक और रीतिसे सिद्ध होती है। अबतक जितने भी श्रेष्ठ ऋषि हुए हैं उन सभीने भी आपका ऐसा ही वर्णन किया है। उनके किये हुए वर्णनकी सत्यता अब मुझे भलीभाँति प्रतीत होने लगी है और ये सब आप (देव) की ही कृपाका फल है। यों तो देवतालोग और ऋषि नारद नित्य मेरे सन्निकट आकर आपका गुणानुवाद किया करते थे, पर उनका अर्थ मेरी समझके बाहर था और इसलिये मुझे सिर्फ उन गुणगानोंके सुखकी मधुरताका ही स्वाद मिलता था। यदि अन्धोंके गाँवमें सूर्यका प्रकाश आवे तो वे अन्धे सिर्फ सूर्यकी रश्मियोंका (गरमीका) ही आनन्द उठा सकेंगे। सूर्यके प्रकाशका अनुभव वे कैसे कर सकते हैं? इसी प्रकार जिस समय नारद मेरे निकट आकर अध्यात्मविषयक गीत गाया करते थे, उस समय राग-रागिनियोंके द्वारा ऊपर-ऊपर जो माधुर्य छलकता था, वही मेरे चित्तको भाता था। इसके अलावा और कुछ भी मेरे हाथ नहीं लगता था। असित और देवल नामक

ऋषियोंके मुखारविन्दसे भी मैंने आपके इस स्वरूपका वर्णन सुना था, पर उस समय मेरी मनोवृत्ति विषयरूपी विषसे भरी हुई थी। उस विषयरूपी विषका इतना प्राबल्य था कि उस समय मुझे सुमधुर अध्यात्म भी कटु जान पड़ता था और कटु विषय ही सुमधुर लगते थे। अब इस समय दूसरोंकी बात क्या कहूँ, स्वयं महर्षि व्यास भी मेरे गृह पधारकर नित्य आपके स्वरूपका वर्णन किया करते थे। परन्तु जैसे अन्धकारमें चिन्तामणि प्राप्त होनेपर यह कहकर फेंक दिया जाता है कि यह चिन्तामणि नहीं है और फिर सूर्योदय होनेपर उसके स्वरूपको पहचानकर कहा जाता है कि यह चिन्तामणि ही है, वैसे ही यद्यपि उन व्यास इत्यादि ऋषियोंकी वाणी तत्त्वज्ञानरूपी रत्नोंकी खानि ही थी, पर फिर भी, हे श्रीकृष्ण, वह आप नहीं थे जो सूर्यके समान हैं और इसीलिये आपका प्रकाश भी नहीं था, जिससे मैं उन ज्ञानरूपी रत्नोंकी उपेक्षा कर रहा था। (१५३—१६२)

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

पर अब आपकी वाक्यरूपी सूर्य किरणोंका मेरे हृदयपर प्रसार हो गया है और इसीलिये अब मैं उन ऋषियोंके द्वारा निर्दिष्ट मार्गको पहचानने लगा हूँ। हे देव, उनके वचन थे तो ज्ञानके बीज ही, पर वे हृदयरूपी भूमिमें यों ही पड़े हुए थे। पर अब उसपर आपकी कृपा-वृष्टि हो गयी है जिससे वे बीज अंकुरित हुए हैं और उनमें एकवाक्यतारूपी फल लगा है। हे अनन्त, नारदादिक सन्तोंके वचन युक्तिरूपी नदियोंके सदृश थे, परन्तु उन नदियोंके द्वारा आज मैं एकवाक्यताके सुखका अगाध सागर ही बन गया हूँ। हे प्रभु! मैंने वर्तमान जन्ममें जो-जो उत्तम पुण्य अर्जित किये हैं, उन पुण्योंमें, हे सद्गुरु, वह वस्तु देनेकी एकदम सामर्थ्य नहीं है जो वस्तु आप मुझे प्रदान कर सकते हैं और नहीं तो, बड़ों-बूढ़ोंके मुखसे आपका गुणानुवाद मैंने न जाने कितनी बार सुना था। परन्तु जिस समयतक एक आपकी कृपा नहीं हुई थी, उस समयतक कुछ भी मेरी समझमें नहीं आता था। जब भाग्य

अनुकूल होता है, तब जो उद्योग करो, वह अपने-आप ही सफल हो जाता है। इसी प्रकार जब गुरुकी कृपा होती है, तभी सुना और पढ़ा हुआ ज्ञान भी फलदायक होता है। माली आजन्म परिश्रम करके पौधे सींचता रहता है, परन्तु उन पौधोंसे फल तभी मिलते हैं, जब वसन्त-ऋतु आती है। हे देव, जब विषम ज्वर उतर जाता है, तभी मीठी वस्तुकी मिठासका अनुभव होता है। जब रोगोंका नाश होता है, तभी रसायनका माधुर्य मनको रुचता है। इन्द्रियों, वाचा और प्राणवायुकी सार्थकता तभी है, जब उनमें चैतन्यका संचार होता है। इसी प्रकार साहित्यका लोग जो यथेच्छ मन्थन करते हैं अथवा योग इत्यादिका जो अभ्यास करते हैं, उन सबका वास्तविक फल तभी प्राप्त होता है, जब श्रीगुरुराज कृपा करते हैं।''

इस प्रकार आत्मानुभवके रंगमें रँगा हुआ अर्जुन निःशंक होकर पुत्तलिकाकी भाँति नृत्य करने लगा और कहने लगा—''हे देव, आपकी बातें भलीभाँति मेरे चित्तमें समा गयी हैं। हे कैवल्यपति, मुझे अब अच्छी तरह यह भान हो गया है कि देवताओं अथवा दानवोंकी बुद्धि भी आपके सच्चे स्वरूपका आकलन नहीं कर सकती। इस बातका मुझे पूर्णरूपसे विश्वास हो गया है कि बिना आपके बोध-वचन प्राप्त किये जो एकमात्र अपनी बुद्धिके बलपर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसे सिर्फ निराशा ही हाथ लगेगी। (१६३—१७५)

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

जैसे आकाशके विस्तारका एकदम सही पता स्वयं आकाशको ही होता है अथवा पृथ्वीकी घनताकी वास्तविक माप स्वयं पृथ्वी ही कर सकती है, वैसे ही हे लक्ष्मीपति! अपनी अपरम्पार सामर्थ्यका सम्यक् आकलन सिर्फ आप ही कर सकते हैं। अन्य जो वेद इत्यादि हैं, उनकी बुद्धि इस विषयमें व्यर्थ ही यहाँ-वहाँ भटकती फिरती है। भला किसमें ऐसी शक्ति है, जो वेगमें मनको भी पछाड़ सके अथवा पवनको अपनी

मुट्ठीमें बन्द कर सके अथवा आदिशून्य (माया) तत्त्वसे आगे निकल सके? इसी प्रकार आपका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना भी किसीके वशकी बात नहीं है। आपके सम्बन्धका पूरा-पूरा ज्ञान केवल आपकी कृपासे ही प्राप्त किया जा सकता है। एकमात्र आप ही ऐसे हैं, जो स्वयंको जान सकते हैं और अन्योंको भी आप ही वह ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं! यही कारण है कि मैं भी अब वह ज्ञान पानेके लिये व्यग्र हो रहा हूँ। आप एक बार मुझे वह ज्ञान प्राप्त कराकर मेरे कुतूहलको शान्त कीजिये।

हे देव, आप ही जीवमात्रके आदिकारण हैं, संसारके भ्रमरूपी गजको मारनेवाले सिंह आप ही हैं समस्त देवगण आपकी आराधना करते हैं, आप ही जगन्नायक हैं और मैंने सुना है कि यदि आपकी महिमाको देखा जाय तो वह इतना अधिक है कि मुझमें आपके पास खड़े होनेकी भी योग्यता नहीं है। परन्तु यदि वही विचारकर मैं संकोच करूँ और आत्मज्ञानके बोधके सम्बन्धमें आपसे प्रार्थना करनेमें डरूँ तो उस बोधकी प्राप्तिके लिये मुझे और कोई उपाय ही नहीं सूझता। चतुर्दिक् चाहे कितनी ही अधिक समुद्र और नदियाँ क्यों न भरे पड़े रहें, पर चातककी दृष्टिमें वे सब जलाशय बेकार ही होते हैं; क्योंकि उसके लिये उपयोगी तो वही जल होता है, जो मेघोंसे टपकता है। इसी प्रकार, हे प्रभु, गुरु तो सर्वत्र हैं; पर हे श्रीकृष्ण, मेरी गति केवल आप ही हैं। अब आप कृपापूर्वक मुझे अपनी विभूतिके बारेमें बतलावें। (१७६—१८४)

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

हे देव! आपकी विभूतियाँ तो सभी हैं, पर आप मुझे अपनी वह विभूति बतलावें, जो अपनी दिव्य शक्तिसे सर्वत्र व्याप्त हो रही है। अपनी जिन विभूतियोंसे आपने इस अनन्त लोकको व्याप्त कर रखा है, उनमेंसे प्रमुख विभूतियोंके नाम आप कृपाकर मुझे बतलावें। (१८५-१८६)

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

हे प्रभु, मैं आपको किस प्रकार जानूँ और क्या समझकर आपका चिन्तन करूँ, यह आप मुझे कृपापूर्वक बतलावें। यदि यह कहा जाय कि यह समस्त संसार तो आप ही हैं, तो फिर चिन्तन करनेके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इसीलिये अभी आपने संक्षेपमें जो अपने भाव बतलाये हैं, उनका अब थोड़ा-सा विस्तारपूर्वक वर्णन करें। आप अपने वे भाव मुझे स्पष्ट करके बतलावें, जिनके द्वारा आपका चिन्तन करना मेरे लिये दुष्कर न हो और इस प्रकार मुझे आपकी प्राप्ति सुगमतासे हो जाय। (१८७—१८९)

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

हे भूतपति, मैंने आपकी जिन विभूतियोंके बारेमें पूछा है, कृपापूर्वक उन विभूतियोंका वर्णन करें। इसपर शायद आप यह कहें कि एक बार तो उन विभूतियोंके सम्बन्धमें मैं तुमको बतला चुका हूँ। इसलिये अब उन्हीं विभूतियोंका मैं बार-बार क्यों वर्णन करूँ? तो हे जनार्दन, आप इस शंकाको रत्तीभर भी महत्त्व न दें, क्योंकि यदि किसीको जरा-सा भी साधारण अमृत पीनेको मिले, तो भी उसके लिये कोई 'बस करो', 'रहने दो', नहीं कहता; और फिर वह अमृत भी कैसा? जो कालकूटका सहोदर है और मृत्युसे भयभीत देवताओंने अमरत्व प्राप्त करनेकी लालसासे जिसका पान किया था, परन्तु जिसके पान कर लेनेपर भी ब्रह्माके एक ही दिवसमें चतुर्दश इन्द्र अमर राजाओंके सिंहासनपर आसीन होते और समाप्त हो जाते हैं— जो अमृत इस प्रकार क्षीरसागरमेंसे निकला हुआ एक साधारण रस है और जिसके विषयमें लोगोंमें यह मिथ्या भ्रान्ति फैली हुई है कि वह अमृत लोगोंको अमरत्व प्रदान करनेवाला है। जब ऐसे नामधारी अमृतका मधुरांश भी लोगोंको यथेष्ट नहीं जान पड़ता और उसे पीनेसे लोग नहीं तृप्त होते तथा इतनी तुच्छ चीजकी मधुरता भी जब इतना अधिक सम्मान पाती है,

तव फिर आपके इन बोध-वचनोंका तो कहना ही क्या है! ये तो साक्षात् परमामृत ही हैं। इनके लिये न तो मन्दराचलकी मथानी बनाकर ही फिराया गया है और न क्षीरसागरको ही मथा गया है। यह तो अनादि और स्वयंसिद्ध है। यह न तो पतला ही है और न गाढ़ा ही; न इसमें रस अथवा गन्धका ही कहीं नाम है और इसका स्मरण करते ही सहजमें हर एक मनुष्य इसे पा सकता है। इस अमृतका वर्णन सुनते ही समस्त संसार तत्त्वहीन हो जाता है और सुननेवालेको ऐसी नित्यता प्राप्त होने लगती है, जिसका कभी अन्त हो ही नहीं सकता। जन्म और मृत्युकी बात बिलकुल मिट जाती है और बाह्याभ्यन्तर, सर्वत्र आत्मानुभवके महासुखकी वृद्धि होने लगती है। अब यदि भाग्यवशात् इस प्रकारका परमामृत सेवन करनेके लिये प्राप्त हो जाय तो वह सद्यः जीवको आत्मस्वरूप कर डालता है और वह अमृत जब आप मुझे दे रहे हों, तो यह सम्भव ही नहीं है कि मेरा चित्त उसके लिये कहे—'बस कीजिये।'

हे महाराज, आपका नाम ही मुझे अत्यन्त मधुर जान पड़ता है। तिसपर आपकी प्रत्यक्ष भेंट हुई है और आपकी निकटताका भी लाभ है। इसके अलावा आपकी मेरे साथ आनन्दपूर्वक बातचीत भी होती है। ऐसी दशामें, हे प्रभु, मैं क्या बतलाऊँ कि यह परम सुख कैसा है। मेरे हृदयको इतनी अधिक सन्तुष्टि मिली है कि वाणीसे उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। परन्तु हाँ, इतना अवश्य मेरी समझमें आता है कि आपके मुखारविन्दसे इस परमामृतकी पुनरावृत्ति होनी चाहिये। प्रतिदिन वही सूर्य उदय होता है, पर फिर भी क्या कभी कोई उसके बारेमें यह कहता है कि यह तो वही कलवाला बासी सूर्य है। सभी लोगोंको पावन करनेवाली अग्निके बारेमें कभी यह कहा जा सकता है कि यह अपावन हो गयी है; अथवा अनवरत प्रवहमान गंगाजलके बारेमें कभी यह कहा जा सकता है कि यह बासी हो गया है? जिस समय आपने अपने मुखारविन्दसे परमामृत वचनका लाभ कराया, उस समय मुझे ऐसा मालूम

पड़ा कि आज शब्द-ब्रह्मने स्वयं ही मूर्तिमान् होकर अवतार लिया है। अथवा चन्दनके पेड़में फूल भी लगे हैं और मैं उन फूलोंका आनन्द ले रहा हूँ।" पार्थकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके सर्वांग समाधानजन्य प्रेमसे हिलने लगे। वे अपने मनमें कहने लगे कि यह अर्जुन अब भक्ति और ज्ञानका भण्डार बननेके योग्य हो गया है। जिस अर्जुनकी योग्यता श्रीकृष्णने इस प्रकार स्वीकार की थी, उस अर्जुनके परम सन्तोषके कारण श्रीकृष्णके प्रेमका प्रवाह उमड़ पड़ा। किन्तु उस प्रेम-प्रवाहको बड़े यत्नसे थामकर श्रीअनन्तने जो कुछ कहा, वह ध्यानपूर्वक सुनिये। (१९०—२०५)

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान्ने अब अर्जुनसे इस प्रकार बातें करना शुरू किया कि मानो उन्हें यह याद ही नहीं रहा कि हम पितामह (ब्रह्मा)-के पिता हैं। वे बोले—"बाबा पाण्डुसुत, तुमने बहुत अच्छी बात कही है।" इस अवसरपर भगवान्ने अर्जुनको जो 'बाबा' शब्दसे सम्बोधित किया, इसके लिये आश्चर्य नहीं होना चाहिये, कारण कि वे स्वयं नन्दके पुत्र थे ही। उस समय उनके मुखसे यह शब्द प्रेमातिरेकके कारण निकल गया था। अस्तु। फिर श्रीकृष्णने कहा "हे धनुर्धर, सुनो। हे सुभद्रापति, तुमने मेरी विभूतियोंके बारेमें पूछा है, पर मेरी विभूतियाँ असंख्य हैं। यह बात सत्य है कि वे समस्त विभूतियाँ मेरी ही हैं, पर वे इतनी अनगिनत हैं कि स्वयं मेरी बुद्धि भी उनकी गिनती नहीं कर सकती। जैसे कोई यह नहीं बतला सकता कि मेरे अपने शरीरपर कितने रोम हैं वैसे ही मैं अपनी विभूतियाँ भी नहीं गिना सकता। मुझे स्वयं ही इस बातका ठीक-ठीक पता नहीं होता कि मैं कितना बड़ा और कितना व्यापक हूँ। इसलिये मैं तुम्हें अपनी केवल प्रमुख विभूतियाँ ही बतलाता हूँ, सुनो।

हे किरीटी! इन प्रसिद्ध विभूतियोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर उनके

द्वारा अन्य गौण विभूतियोंके सम्बन्धमें भी जाना जा सकता है। जैसे बीज मुट्ठीमें आ जानेपर स्वयं वृक्ष ही मानो अपनी मुट्ठीमें आ जाता है, अथवा समस्त उद्यान ही अपनी मुट्ठीमें आ जाता है अथवा फल-फूल इत्यादि सब कुछ स्वतः प्राप्त हो सकते हैं, वैसे ही इन विभूतियोंको देखनेपर मानो समस्त विश्व ही देखा जा सकता है और नहीं तो, हे धनुर्धर! मेरा विस्तार, मेरी सम्पूर्ण विभूतियाँ अपार ही हैं। देखो, यह गगन इतना अपार है, पर वह भी मुझमें न जाने कहाँ समा जाता है। (२०६—२१४)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

मस्तकपर सुन्दर काले केश धारण करनेवाले और धनुर्विद्यामें दूसरे शंकर, हे पार्थ, सुनो। मैं प्राणिमात्रमें आत्मरूपसे निवास करता हूँ। प्राणियोंके अन्तःकरणमें भी मैं ही निवास करता हूँ और उनके बाह्य स्वरूपपर भी मेरा ही आवरण है। उनका आदि, मध्य और अन्त सब कुछ मैं ही हूँ। जैसे मेघोंके नीचे ऊपर, अन्दर बाहर सर्वत्र आकाश ही-आकाश रहता है, वे आकाशरूप ही होते हैं और उनका आधार भी आकाश ही होता है और जब वे विलीन होते हैं, तब भी वे आकाशरूप होकर रहते हैं, वैसे ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा गति सब कुछ मैं ही हूँ। इस प्रकार विभूतियोंके द्वारा मैं नाना प्रकारका और व्यापक हूँ। इसलिये तुम अपनी समस्त चैतन्य-शक्तिको अपनी श्रवणेन्द्रियोंमें एकत्र करके सुनो। अब हे सुभद्रापति, जिन विभूतियोंका वर्णन करनेके लिये मैंने तुम्हें वचन दिया है, उनमेंसे मुख्य-मुख्य विभूतियाँ सुनो।" (२१५—२२०)

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

इतना कहकर कृपालु श्रीकृष्णने फिर कहा—"द्वादश आदित्योंमें विष्णु मेरी प्रमुख विभूति हैं और प्रकाशमान पदार्थोंमें मैं रश्मियुक्त सूर्य हूँ। श्रीशार्ङ्गीने कहा कि उनचास मरुद्‌गणोंमें मैं ही मरीचि हूँ और तारागणोंमें मैं चन्द्रमा हूँ। (२२१-२२२)

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

गोविन्दने कहा कि मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें मरुद्‌बन्धु महेन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें ग्यारहवीं इन्द्रिय मन हूँ और प्राणिमात्रमें जो स्वाभाविक चेतनाशक्ति है, वह सब मैं ही हूँ। (२२३-२२४)

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

चतुर्दश रुद्रोंमें मैं मदनारि शंकर हूँ, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। श्रीअनन्तने कहा कि मैं यक्षों और राक्षसोंमें शम्भु-सखा कुबेर हूँ, अष्ट वसुओंमें अग्नि हूँ और समस्त पर्वतोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ मेरुपर्वत हूँ। (२२५—२२७)

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

जो इन्द्रका सहायक, सर्वज्ञताका आदि पीठ और पुरोहितोंमें सर्वश्रेष्ठ है, वह बृहस्पति भी मैं ही हूँ। इस त्रिलोकीके सेनापतियोंमें कृत्तिकान्त शंकरसे उत्पन्न महाज्ञाता कार्त्तिक स्वामी भी मैं ही हूँ। समस्त सरोवरोंमें अपार जलराशिवाला जो समुद्र है, वह मैं हूँ और महर्षियोंमें महान् तपस्वी भृगु भी मैं ही हूँ। वैकुण्ठ-विलासी श्रीकृष्णने कहा कि सम्पूर्ण वाचाओंमें जिस सत्यका व्यवहार है, वही एक सत्य अक्षर मैं ही हूँ। कर्मकाण्डका परित्याग करके ओंकार इत्यादिके द्वारा जिस जप-यज्ञकी

सांगता की जाती है वह जप यज्ञ समस्त यज्ञोंमें मेरी प्रधान विभूति है। नामके जपका यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसके लिये स्नान इत्यादि नित्य कर्मोंकी भी आवश्यकता नहीं होती। नामके घोषसे धर्म-अधर्म दोनों ही पवित्र होते हैं। वेदार्थसे भी नाम ही परब्रह्म ठहरता है। लक्ष्मीपतिने कहा कि पर्वतोंमें पुण्यपुंज जो पर्वतराज हिमालय है, वह भी मैं ही हूँ। (२२८—२३४)

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

पारिजात तो साक्षात् कल्पद्रुम ही है और चन्दनका गुण भी बहुत विख्यात है, तो भी वृक्षोंकी कोटिमें मेरी प्रमुख विभूति अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष ही है। हे पाण्डव, देवर्षियोंमें नारद और गन्धर्वोंमें चित्ररथ भी मुझे ही जानना चाहिये। हे ज्ञानवन्त, समस्त सिद्धोंमें कपिलाचार्य मैं ही हूँ और मैं ही समस्त, अश्व जातिमें प्रसिद्ध उच्चैःश्रवा भी हूँ। हे अर्जुन, जो हाथी राजाओंके भूषणकी तरह जान पड़ते हैं, उनमें ऐरावत भी मैं ही हूँ। समुद्रका मन्थन करनेपर देवताओंको जो अमृत मिला था, वह भी मैं ही हूँ। जिसकी आज्ञा सारे लोककी प्रजा शिरोधार्य करती है, सारी प्रजामें उसी राजाको मेरी प्रमुख विभूति जानना चाहिये। (२३५—२३९)

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

हे धनुर्धर! समस्त शस्त्रोंमें मैं वज्र हूँ, जो शतक्रतु इन्द्रके हाथमें रहता है। श्रीकृष्णने कहा कि मैं ही गौओंमें कामधेनु हूँ और जन्म देनेवालोंमें जो मदन है, वह भी मैं ही हूँ। हे कुन्तीसुत, सर्पकुलका नायक वासुकि और समस्त नागोंमें अनन्त नामका नाग मेरी प्रधान विभूति है। समस्त

जलचरोंमें जो पश्चिम दिशाका स्वामी वरुण है, वह भी मैं ही हूँ। मैं ही समस्त पितृगणोंमें अर्यमा नामक पितृदेवता हूँ। आत्मामें रमण करनेवाले रमापतिने कहा कि पूरे संसारके शुभ और अशुभ कर्मोंका लेखा-जोखा रखनेवाला, सबके अन्तःकरणकी परख करनेवाला और उन्हें कर्मानुसार फल-भोग करानेवाला जो नियन्ता है और सबके कर्मोंको सदा देखनेवाला जो यम है, वह भी मैं ही हूँ। (२४०—२४६)

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

दैत्योंके कुलमें जो प्रह्लाद हैं, वह भी मैं ही हूँ, इसीलिये वह दैत्य-स्वभावके समुदायमें लिप्त नहीं हुआ। श्रीगोपालने कहा कि ग्रसकर नष्ट करनेवाला महाकाल और वन्य पशुओंमें शार्दूलको भी मेरी प्रधान विभूतिके अन्तर्गत ही जानना चाहिये। पक्षियोंमें जो गरुड है, वह भी मैं ही हूँ और इसीलिये वह मुझे अपनी पीठपर बैठा करके उड़ सकता है। (२४७—२४९)

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

हे धनुर्धर! इस पृथ्वीके असीम विस्तारमें जो बिना एक घड़ी भी लगाये और एक ही उड़ानमें सातों समुद्रोंकी प्रदक्षिणा कर सकता है, वह सबसे बढ़कर तेज गतिसे चलनेवाला पवन भी मेरी ही प्रधान विभूति है। हे पाण्डुसुत, समस्त शस्त्रधारियोंमें मुझे श्रीराम समझो, क्योंकि श्रीरामने संकटापन्न धर्मका पक्ष लेकर त्रेतायुगमें केवल एक धनुषकी ही सहायतासे विजयलक्ष्मीको अपनी ओर कर लिया था। तदनन्तर लंकाके निकट स्थित सुवेल पर्वतपर खड़े होकर उन्हीं श्रीरामने लंकेश्वर रावणकी मस्तक-पंक्ति गगनमें जयघोष करनेवाले भूतोंके हाथोंपर बलि-स्वरूप रखी थी। उन्हीं श्रीरामने देवोंके सम्मानकी सुरक्षा की थी तथा धर्मका जीर्णोद्धार किया था। ये वास्तवमें सूर्यवंशके सूर्य ही थे। अतएव समस्त शस्त्रधारियोंमें वह सीतापति श्रीरामचन्द्र मैं ही हूँ। मैं ही पुच्छधारी जलचरोंमें मकर

हूँ। जिस समय गंगाको भगीरथ पृथ्वीपर ला रहे थे, उस समय जह्नु उस गंगाको पी गये थे और फिर उन्होंने अपना जंघा फाड़कर उसमेंसे गंगाको निकाला था। वही तीनों लोकोंमें प्रवाहमान जाह्नवी समस्त जल प्रवाहोंमें मेरी प्रमुख विभूति है। पर हे पाण्डुसुत, यदि मैं इस प्रकार पूरी सृष्टिकी एक-एक विभूतिका नाम गिनाने लगूँ तो हजारों जन्म बीत जानेपर भी उनमेंसे आधीकी भी गिनती नहीं की जा सकेगी। (२५०—२५८)

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

यदि सारे नक्षत्रोंको चुननेकी इच्छा हो तो जिस प्रकार गगनकी गठरी बाँधनेकी आवश्यकता होगी अथवा यदि पृथ्वीके परमाणुओंको गिननेकी अभिलाषा हो तो पूरी पृथ्वीको बगलमें दबानेकी जरूरत होगी, उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियोंको देखनेकी अभिलाषा हो तो स्वयं मेरा ही ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। जिस प्रकार यदि शाखाओंसहित सारे पुष्पों और फलोंको अपने हाथमें लेनेकी कामना हो तो जड़सहित वृक्षको ही उखाड़कर हाथमें लेना पड़ेगा। उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियोंके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो तो मेरे निर्दोष व्यापक स्वरूपका ही ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा और नहीं तो मैं अपनी अलग-अलग विभूतियाँ कहाँतक गिनाऊँगा? इसलिये हे महामति, तुम संक्षेपमें यही जान लो कि मैं ही सब कुछ हूँ।

हे किरीटी, जैसे वस्त्रके आदि, मध्य और अन्तमें सूत ही-सूत रहता है, वैसे ही इस सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश—इन तीनों अवस्थाओंमें मैं ही रहता हूँ। जब मेरी इस व्यापकताका ज्ञान न हो, तब फिर पृथक्-पृथक् सब विभूतियाँ बतलानेकी क्या जरूरत है? परन्तु तुममें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि तुम मेरी व्यापकताको जान सको; इसलिये मैंने तुम्हें इतनी बातें

बतला दी हैं और तुम्हारे लिये यही बातें यथेष्ट हैं। परन्तु तुमने जिस दृष्टिसे मेरी विभूतियोंके विषयमें पूछा है, उसी दृष्टिसे मैं भी बतलाता हूँ; सुनो। समस्त विद्याओंमें अध्यात्म विद्या ही मेरी प्रधान विभूति है। बोलनेवालोंमें जो वाद होता है और जिसके बारेमें न तो कभी सब शास्त्रोंकी एकवाक्यता ही होती है और न जिसका कभी अवसान ही होता है, वह वाद भी मैं ही हूँ। मिटानेकी चेष्टा करनेपर जो वाद और भी बढ़ता है तथा जोर पकड़ता है, जिसके कारण सुननेवालोंके मनमें उत्प्रेक्षासे ईर्ष्या बढ़ती है और जिससे वक्ताओंके भाषणमें माधुर्य आता है, वह वाद भी मैं ही हूँ। श्रीगोविन्दने कहा कि अक्षरोंमें जो पहला अक्षर 'अ'-कार है, वह भी मेरी ही विभूति है। मैं ही समासोंमें द्वन्द्व समास हूँ। मसकसे लेकर ब्रह्मदेवपर्यन्त सबका ग्रास करनेवाला काल भी मैं ही हूँ। अनन्तकाल मेरुप्रभृति पर्वतोंसहित समस्त भूमण्डलको पिघला देता है, प्रलयकालमें समस्त विश्वको जलमग्न करनेवाले असीम सागरको भी जो महाकाल जहाँ-का-तहाँ सुखा देता है और आकाश जिसके पेटमें समा जाता है, लक्ष्मीके संग क्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्णने कहा कि वह महाकाल भी मैं ही हूँ और इसी प्रकार फिरसे सृष्टिका सृजन करनेवाला भी मैं ही हूँ। (२५९—२७३)

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

मैं ही सारे जीवोंकी रचना करता हूँ, मैं ही उन जीवोंकी रक्षा करता हूँ और मैं ही उनका नाश भी करता हूँ; इसलिये मृत्यु भी मेरी ही विभूति है। अब स्त्री-समुदायमें मेरी सात विभूतियाँ हैं; वह भी मैं तुम्हें यों ही बतला देता हूँ।

हे अर्जुन, नित्य नूतन जो कीर्ति है, वह भी मेरी विभूति है और उदारताका साथ जिसे मिला हुआ है, वह सम्पत्ति भी मुझे ही जानो। न्यायके सुखासनपर चढ़कर विवेकके मार्गपर जो वाचा (वाणी) चलती रहती है, वह वाचा भी मैं ही हूँ। दृष्टिगत होनेवाली वस्तुके साथ-ही-साथ

उसके सम्बन्धकी सब बातोंको याद दिलानेवाली स्मृति भी मैं ही हूँ इसी प्रकार आत्महितका साधन करनेवाली जो बुद्धि है, वह भी मैं ही हूँ। मैं ही धैर्यकी वृत्ति और सर्वत्र दृष्टिगोचर होनेवाली क्षमा भी हूँ। इस प्रकार स्त्री-समुदायमें ये सातों शक्तियाँ भी मैं ही हूँ।" संसाररूपी हाथीका विनाश करनेवाले सिंह श्रीकृष्णने ये समस्त बातें उस समय अर्जुनसे कहीं। (२७४—२८०)

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

इसके बाद रमापति श्रीकृष्णने कहा— "हे प्रियोत्तम! वेदत्रयीके सामवेदमें जो बृहत् साम है, वह भी मैं ही हूँ। इस विषयमें तुम्हें जरा सा भी सन्देह नहीं होना चाहिये कि समस्त छन्दोंमें जिसे गायत्री छन्द कहते हैं, वह मेरा ही स्वरूप है। शार्ङ्गधरने कहा कि द्वादश मासोंमें मार्गशीर्ष और षड्-ऋतुओंमें कुसुमाकर वसन्त-ऋतु भी मैं ही हूँ। (२८१—२८३)

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

छल करनेवाले कर्मोंमें जो द्यूतकर्म है, हे विचक्षण, वह मैं ही हूँ। इसीलिये जब कोई व्यक्ति द्यूतकर्मके द्वारा खुल्लमखुल्ला चोरी करता है तो उसका कोई निवारण नहीं कर सकता। समस्त तेजस्वी पदार्थोंमें जो तेज विद्यमान है, वह मैं हूँ। समस्त कार्य करनेके संकल्पोंमें जो विजय है, वह भी मैं ही हूँ। देवताओंके स्वामी श्रीकृष्णने कहा कि समस्त व्यवसायोंमें न्यायको उज्ज्वल करनेवाला व्यवसाय भी मैं ही हूँ। मैं ही सात्त्विक जनोंका सत्त्व हूँ। समस्त यादवकुलमें जो ऐश्वर्यसम्पन्न वसुदेव और देवकीका पुत्र था, परन्तु जिसे यशोदाजीकी पुत्रीके बदलेमें गोकुलमें ले गये थे और जिसने पूतनाके स्तनपान करनेके साथ-ही-साथ उसके

प्राणोंको भी पी लिया था, जिसने अभी अपनी बाल्यावस्था पार करते-करते ही पूरी सृष्टिको दैत्योंसे शून्य कर डाला था और गोवर्धन पर्वत नखके अग्र भागपर उठाकर महेन्द्रकी महिमाकी परीक्षा की थी, जिसने कालिन्दी (यमुना)-के हृदयरूपी दहमेंसे कालियरूपी शल्य (काँटा) निकाल बाहर किया था, जिसने जलते हुए गोकुलकी रक्षा की थी और गौओंके हरणके समय ब्रह्माको अपनी मायासे पागल बना दिया था, जिसने अपनी बाल्यावस्थाके श्रीगणेशकालमें ही कंस-जैसे बड़े-बड़े शूरवीरोंको भी धूलमें मिला दिया था, पर इतनी बड़ी-बड़ी बातोंसे क्या लाभ; हे अर्जुन! जिसके पराक्रमके कृत्य तुमने स्वयं देखे हैं अथवा सुने हैं, वह श्रीकृष्ण इन सब यादवोंमें मेरी प्रधान विभूति है। सोमवंशीय पाण्डवोंमें जो अर्जुन है, उसके विषयमें भी तुम यही जान लो कि वह भी मैं ही हूँ और यही कारण है कि उसके तथा मेरे प्रेम-भावमें कभी अन्तर नहीं होता और उसके साथ कभी मेरी खटपट नहीं होती। तुम संन्यासीका वेश धारण करके मेरी भगिनीको चुरा ले गये थे; पर फिर भी तुम्हारे प्रति मेरे मनमें कोई विपरीत भावना नहीं जगी; क्योंकि मैं और तुम दोनों एक ही स्वरूप हैं। यादवोंके स्वामी श्रीकृष्णने आगे और भी कहा कि मैं ही समस्त मुनियोंमें व्यासदेव और कवीश्वरोंमें शुक्राचार्य भी हूँ। (२८४—२९५)

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

चींटीसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सबका नियमन करनेवाला जो दण्ड है, समस्त शासकोंमें वह दण्ड मैं ही हूँ। सार और असारका निर्णय करनेवाला और धर्म-ज्ञानका पक्ष लेनेवाला सम्पूर्ण शास्त्रोंमें जो नीतिशास्त्र है, वह भी मैं ही हूँ। हे सुहृद् अर्जुन! समस्त गूढ़ोंमें मैं मौन हूँ, क्योंकि मौन रहनेवालेके सम्मुख ब्रह्मदेवकी भी कुछ नहीं चलती। ज्ञानियोंमें जो ज्ञान रहता है, वह भी मैं ही हूँ। पर इन विभूतियोंका कहाँतक विवेचन किया जाय! इनका कहीं अवसान ही नहीं है। (२९६—२९९)

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

हे धनुर्धर! वर्षाके धारोंकी गणना की जा सकती है अथवा पृथ्वीपरके तृणों और अंकुरोंको भी गिना जा सकता है; पर जैसे महासागरके तरंगोंको नहीं गिना जा सकता है वैसे ही मेरी प्रमुख विभूतियोंकी भी कोई सीमा नहीं है। इनमेंसे जो पाँच-सात मुख्य विभूतियाँ मैंने तुम्हें बतलायी हैं, हे अर्जुन! वे सब तो सिर्फ तुम्हें परिचय करानेके लिये ही हैं। मेरी अवशिष्ट विभूतियोंके विस्तारकी कोई सीमा ही नहीं है, अतएव तुम सुनोगे क्या और मैं बतलाऊँगा क्या? इसलिये अब मैं तुम्हें अपना पूरा मर्म ही बतला देता हूँ। इन जीवरूपी अंकुरोंमें जिस बीजका विस्तार होता है, वह बीज मैं ही हूँ, अतएव किसीको कभी छोटा अथवा बड़ा नहीं कहना चाहिये, ऊँच-नीचका भेद-भाव त्याग देना चाहिये और यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब मेरी ही विभूति हैं। तो भी सुनो, मैं अब तुम्हें एक साधारण चिह्न बतला देता हूँ, हे अर्जुन, उसी चिह्नके माध्यमसे तुम मेरी विभूतियोंको जान सकोगे। (३००—३०६)

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

हे धनंजय! जिन-जिन प्राणियोंमें सम्पत्ति और दयालुता दोनों एक साथ निवास करते हैं, उसके विषयमें तुम यह अच्छी तरहसे समझ लेना कि वे मेरी विभूति हैं। (३०७)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

गगनमण्डलमें सूर्यका सिर्फ एक ही बिम्ब रहता है, पर उसकी प्रभा तीनों लोकोंमें व्याप्त रहती है। ठीक इसी प्रकार जिस एकको आज्ञाको सब लोग शिरोधार्य करते हों, उसे तुम कभी अकेला अथवा धनहीन मत समझना। क्या जहाँ-जहाँ कामधेनु जाती है वहाँ-वहाँ उसके साथ वस्तुओंकी गठरी भी बँधी चलती है? नहीं। परन्तु उससे जो कोई जो चीज माँगता है, वह चीज कामधेनु तत्काल प्रकट करने लगती है। इसी प्रकार उस एक विश्व बीजमें विश्वका सम्पूर्ण वैभव भरा रहता है, उसे पहचाननेका लक्षण यह है कि पूरा विश्व उसके आगे घुटना टेकता है और उसकी आज्ञाकी वन्दना करता है। हे प्राज्ञ, जिस व्यक्तिमें इस प्रकारका लक्षण दिखलायी दे, उसे ही तुम मेरा अवतार समझो। ऐसे अवतारोंमें किसीको साधारण और किसीको असाधारण समझना और उनमें इस प्रकारका भेद भाव करना महापाप ही है, क्योंकि यह सारा जगत् मैं ही हूँ। ऐसी स्थितिमें साधारण और विशिष्ट भेदोंकी परिकल्पना किस दृष्टिसे की जाय? इस प्रकारके भेद-भावकी परिकल्पना करना मानो व्यर्थ ही अपनी बुद्धिको कलंकित करना है। निरर्थक ही घृतका मन्थन क्यों किया जाय? अमृतको पकाकर आधा करनेसे क्या लाभ है? क्या वायुमें भी कभी दाहिने और बायें अंग होते हैं? यदि कोई व्यक्ति सूर्यबिम्बका पेट और पीठ देखनेका प्रयत्न करे तो इसका परिणाम सिर्फ यही होगा कि वह अपनी दृष्टिसे ही हाथ धो बैठेगा। इसी प्रकार मेरे स्वरूपमें भी सामान्य और विशेषवाली कोई भी भेदमूलक बात नहीं है। तुम मेरी एक-एक विभूतिको पृथक्-पृथक् लेकर मेरे अपार स्वरूपको कहाँतक नापोगे? इसीलिये हे सुभद्रापति! मेरे स्वरूपको जाननेका इस प्रकारका प्रयत्न रहने दो। मेरे तो एक ही अंशने पूरे जगत्को व्याप्त कर रखा है, अतएव तुम सारा भेद-भाव त्यागकर समबुद्धिसे मेरा भजन करो।" ज्ञानिजनरूपी वनमें पुष्पित होनेवाले वसन्त और विरक्तजनोंके सम्पूर्ण ध्येय उन ऐश्वर्य-सम्पन्न श्रीकृष्णने अर्जुनसे इस प्रकार कहा।

इसपर अर्जुनने कहा—"हे स्वामी! आपने तो सिर्फ यही एक रहस्य मुझे बतलाया कि मैं सारा भेद-भाव एकदम त्याग दूँ। अब यदि मैं यह कहूँ कि आपका यह कहना भी वैसा ही अनुचित है, जैसा सूर्यका संसारसे यह कहना कि 'यह अन्धकार दूर कर दो' तो मेरा ऐसा कहना छोटे मुँह बड़ी बात होगी। आपके तो नामकी ही इतनी बड़ी महिमा है कि यदि किसीके मुखसे किसी भी समय आपका नाम निकल जाय अथवा किसीके श्रवणेन्द्रियोंमें ही आपका नाम पड़ जाय तो भेद-भाव उसके हृदयसे तत्क्षण ही निकलकर भाग जाते हैं। आप तो साक्षात् परब्रह्म ही हैं और वही परब्रह्म इस समय सौभाग्यसे मुझे मिल गये हैं। फिर यहाँ कौन-सा भेद-भाव रह सकता है और वह किसके लिये बाधक हो सकता है? क्या चन्द्रबिम्बके गर्भमें प्रवेश करनेपर भी कहीं उष्णताकी अनुभूति हो सकती है? परन्तु हे शार्ङ्गधर, आप अपने बड़प्पनके कारण ही इस समय ऐसी बात कह गये हैं।" यह सुनकर श्रीकृष्णको अत्यन्त सन्तोष हुआ और उन्होंने अर्जुनको हृदयसे लगा करके कहा—"हे सुभट (अर्जुन), तुम रोष मत करो। मैंने भेदका अंगीकार करके जिन अलग-अलग विभूतियोंका विवेचन किया है, उनके विषयमें सिर्फ इसी बातकी परख करनेके लिये मैंने कुछ ऊपरी बातें कही हैं कि उन बातोंकी अभिन्नता तुम्हारे हृदयमें अंकित हुई है अथवा नहीं। परन्तु अब मुझे इसका भान हो गया है कि तुम्हें मेरी विभूतियोंका भलीभाँति बोध हो गया है।"

यह सुनकर अर्जुनने कहा—"हे महाराज, अपनी बात तो आप ही जानें, पर मुझे तो सारा विश्व आपसे ही ओत-प्रोत दिखायी देता है " परन्तु संजयने जो यह कहा था—"हे महाराज, अर्जुन इस प्रकार आत्मरूपका अनुभव करने लगा।" सो संजयका यह वचन धृतराष्ट्र एकदम मौन होकर सुनता रहा। उस समय संजयके अन्तःकरणमें बहुत दुःख हुआ और उसने मन-ही-मन कहा—"इतना बढ़िया सौभाग्यका सुन्दर फल सामने उपस्थित है, पर फिर भी वह इस धृतराष्ट्रसे बहुत दूर है। यह भी एक आश्चर्यकी

ही बात है। मैं समझता था कि इसकी बुद्धि कुछ ठीक होगी; पर यह तो भीतरसे भी अन्धा है।" अस्तु। अब वह अर्जुन अपने आत्मकल्याणकी वृद्धि करता जा रहा था, क्योंकि अब उसके अन्तःकरणमें एक और ही बातकी उत्कण्ठा जाग्रत् हो उठी थी। उसने कहा—"हे देव, मेरे हृदयमें जो आत्मस्वरूपका अनुभव प्रतिबिम्बित हुआ है, उसके बारेमें अब मेरा चित्त इस उत्कण्ठासे व्याकुल हो रहा है कि वही अनुभव मैं इस बाह्य जगत्में स्वयं अपनी आँखोंसे करूँ।" अर्जुन अत्यन्त सौभाग्यशाली था, इसीलिये उसके चित्तमें अपने दोनों आँखोंसे सम्पूर्ण विश्वका आकलन करनेकी महान् अभिलाषा उत्पन्न हुई थी। हे श्रोतावृन्द, वह अर्जुन स्वयं कल्पवृक्षकी शाखा ही था और इसीलिये यह सम्भव नहीं था कि वह वन्ध्या अर्थात् फलहीन अथवा विफल होता। यही कारण है कि उसके मुखसे जो जो बातें निकलती थीं, वह सब श्रीकृष्ण पूरी करते चलते थे। जिन परमात्माने अपने भक्त प्रह्लादके वचनोंकी रक्षाके लिये स्वयं विषतकका रूप धारण किया था, वही परमात्मा इस अर्जुनको सद्गुरुके रूपमें मिले हुए थे। अब अगले अध्यायमें श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओंको यह बतलावेगा कि उस समय उस अर्जुनने किन शब्दोंमें श्रीकृष्णसे यह विनम्र प्रार्थना की थी कि मुझे विश्वरूप दिखलाइये। (३०८—३३५)

८५

अध्याय ग्यारहवाँ

इस एकादश अध्यायमें पृथापुत्र अर्जुनको विश्वरूपके दर्शन होनेकी जिस कथाका वर्णन है, वह कथा दो रसोंसे भरी हुई है। इस कथामें मुख्य तो शान्तरस ही है, पर उसके घर अद्भुत रस अतिथि बनकर आया हुआ है और अन्य रसोंको भी उसके साथ आदर मिला हुआ है। हे श्रोतावृन्द! जिस प्रकार वर और वधूके विवाहके समय बराती भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारणकर सानन्द विचरण करते हैं, उसी प्रकार यहाँ देशी भाषाके सुखासनपर समस्त रस सुशोभित हो रहे हैं। परन्तु हरि और हरके सदृश आपसमें प्रेमपूर्वक प्रगाढ़-आलिंगन किये हुए शान्त और अद्भुत रस इतने अधिक और ऐसे अच्छे ढंगसे हैं कि यों नेत्रोंसे भी दृष्टिगोचर होते हैं अथवा अमावास्यामें जिस प्रकार सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल दोनों इकट्ठे हो जाते हैं; उसी प्रकार यहाँ इन दोनों रसोंका मिलन हुआ है। गंगा और यमुनाके प्रवाहोंके मिलनकी ही भाँति इन दोनों रसोंका भी संगम हुआ है, जिससे यहाँ प्रयाग-क्षेत्र ही बन गया है। अब समस्त विश्व इस पावन प्रयाग-तीर्थमें स्नान करके निर्मल हो सकता है। इस अवसरपर गीताको गुप्त सरस्वती समझना चाहिये और सिर्फ उपर्युक्त दोनों रस प्रवाह व्यक्त हैं; अतः हे श्रोतावृन्द! इस प्रस्तुत अध्यायको मानो त्रिवेणीका संगम ही कहना चाहिये। ज्ञानदेव कहता है कि मेरे परम उदार दाता गुरु श्रीनिवृत्तिनाथने ऐसा सुभीता कर दिया है कि इस त्रिवेणीमें सिर्फ श्रवणमार्गसे ही लोग सहजमें प्रवेश कर सकें। इस संस्कृत तीर्थके संस्कृत भाषात्मक तटको पार करना अत्यन्त ही दुष्कर है, इसलिये श्रीगुरुने उन्हें काट-छाँटकर देशी भाषाके शब्दोंकी ऐसी सीढ़ी बना दिया है, जिसमें धर्मके भण्डार सहजमें ही प्राप्त हो सकें। अब इस जगहपर

जो श्रद्धालु चाहें, वे स्नान कर सकते हैं, विश्वरूपी प्रयाग माधवके दर्शन कर सकते हैं और जीवन-मृत्युकी सांसारिक परम्पराको तिलोदक दे सकते हैं। इस अध्यायमें रसोंकी ऐसी सुन्दर बहार आयी हुई है कि संसारको श्रवण-सुखका मानो राज्य ही मिल गया है। इसमें शान्त और अद्‌भुत रस तो मुख्य है ही, पर साथ ही अन्य रसोंका भी ध्यान रखा गया है और केवल कैवल्यको ही स्पष्ट किया गया है। इस प्रकारका यह ग्यारहवाँ अध्याय है। यह अध्याय तो स्वयं श्रीकृष्णका विश्रामस्थल है; पर समस्त सौभाग्यशाली व्यक्तियोंमें अर्जुन वास्तवमें श्रेष्ठ है, जो यहाँ भी आ पहुँचा। परन्तु हम यह क्यों कहें कि एक अर्जुन ही इस जगहपर पहुँचा है? अब तो यही कहना समीचीन होगा कि जो चाहे, वह इस जगहपर पहुँच सकता है, क्योंकि अब गीतार्थ देशी भाषाके रूपमें प्रकट हो गया है। इसलिये हे श्रोतावृन्द! आप सब लोग मेरी विनम्र प्रार्थना ध्यानपूर्वक सुनें। इस समय आप सन्तजनोंकी सभामें मुझे ऐसी ढिठाईभरी बातें नहीं कहनी चाहिये; पर फिर भी आपलोग प्रेमपूर्वक मुझे अपना बालक ही समझें। आप यदि किसी तोतेको बोलना सिखलावें और वह तोता आपसे सीखकर बोलने लगे तो आपलोग आनन्दसे सिर हिलावेंगे अथवा यदि माता किसी बालकको किसी कुतूहलपूर्ण कार्यमें नियुक्त कर दे और वह बालक उस कामको करने लगे, तो क्या माता उस बालकपर रीझती नहीं? इसीलिये हे प्रभु! मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सब आप ही लोगोंका सिखलाया हुआ है। अतः अब आपलोग अपनी ही सिखलायी हुई बातें सुनें। हे देव! यह साहित्यका सुमधुर वृक्ष आपलोगोंने ही लगाया है, अतएव अब अपने अवधानरूपी अमृत-जलसे सींचकर आप ही लोग इसे बड़ा भी करें। यदि आप सब लोग ऐसा करेंगे तो यह वृक्ष रसभावरूपी फूलोंसे भर जायगा, अनेक अर्थरूपी फलोंसे लद जायगा और आपके पुण्य-प्रतापसे जगत्‌को सुखी होनेका अवसर मिलेगा। इन वचनोंसे सन्तोंको अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—"वाह! वाह!! तुमने बहुत अच्छा किया।

अब यह बतलाओ कि उस अवसरपर अर्जुनने क्या कहा।" इसपर श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि महाराज! श्रीकृष्ण और अर्जुनका वह गहन संवाद मैं निर्बुद्धि क्या बतलाऊँ! हाँ, आप ही लोग वह सब बातें मुझसे कहलावेंगे। वनके पत्ते खानेवाले बन्दरोंके हाथों भी लंकेश्वर रावणका पराभव हो गया और उधर अर्जुन एकदम अकेला था, पर फिर भी उसने ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका नाश किया। इसीलिये कहना पड़ता है कि सामर्थ्यवान् व्यक्ति जो कुछ चाहते हैं, वह चराचरमें हो ही जाता है। इसी प्रकार आपलोग भी मुझे बोलनेमें प्रवृत्त कर रहे हैं। अब मैं श्रीवैकुण्ठाधिपतिके मुखसे निकली हुई गीताका भाव बतलाता हूँ, आपलोग ध्यानपूर्वक सुनें।

इस गीताकी भी कैसी महिमा है! वेदोंके जो प्रतिपाद्य देवता श्रीकृष्ण हैं, वही इस ग्रन्थके वक्ता हैं। इसका अर्थ-गौरव इतना अधिक है कि स्वयं शंकर भी उसका आकलन नहीं कर सकते। अतएव जीव-भावसे उनकी वन्दना करना ही समीचीन है। अब आपलोग यह मनोयोगपूर्वक सुनें कि वह अर्जुन भगवान्के विश्वरूपपर ध्यान रखकर क्या कहने लगा। उसके मनमें इस बातकी बहुत बड़ी लालसा थी कि मेरे मनमें इस सिद्धान्तपर जो अटल विश्वास हो गया है कि सम्पूर्ण जगत् ही परमेश्वर है, उसे मैं अपने चक्षुओंसे भी देखूँ और इस प्रकार बाहरसे भी इस सिद्धान्तपर मेरा पूरा-पूरा विश्वास हो जाय। परन्तु अपने मनकी यह लालसा भगवान्पर प्रकट करना अत्यन्त ही दुष्कर था, क्योंकि वह सोचता था कि विश्व-रूप-सरीखे गूढ़ रहस्यके विषयमें मैं खुलकर कैसे प्रश्न करूँ। अर्जुन अपने अन्त:करणमें सोचने लगा कि जो बात आजतक भगवान्के किसी प्रिय भक्तने कभी नहीं पूछी, वह बात मैं एकदमसे कैसे पूछ बैठूँ? यह बात पूर्णतया ठीक है कि मैं श्रीकृष्णका अत्यन्त ही प्रिय मित्र हूँ, पर क्या कभी मैं लक्ष्मी माताके समान प्रिय हो सकता हूँ? लक्ष्मी माता भी विश्वरूपके विषयमें पूछनेसे डरती थीं। मैंने चाहे इनकी कितनी ही

सेवा क्यों न की हो, पर फिर भी गरुडने जो इनकी सेवा की है, क्या मेरी सेवा उसकी बराबरी कर सकती है? परन्तु वह भी कभी इनसे विश्वरूपके बारेमें कुछ नहीं पूछता। क्या मैं सनक इत्यादिकी अपेक्षा भी इनका अधिक निकटवर्ती हूँ? परन्तु वे सनक इत्यादि भी कभी विश्वरूप-दर्शनका पागलपनवाला आग्रह नहीं करते। क्या मैं श्रीकृष्णके लिये गोकुलवासियोंसे भी बढ़कर प्रिय हूँ? पर उन लोगोंको भी भगवान्‌ने केवल अपनी बालसुलभ क्रीड़ासे ही प्रसन्न किया था। अम्बरीष इत्यादि भक्तोंके लिये इन्होंने गर्भवासका भी दुस्सह कष्ट झेला। परन्तु उनसे भी इन्होंने अपना विश्वरूप छिपाकर ही रखा, कभी किसीको अपना वह रूप नहीं दिखलाया। इन्होंने अद्यतन यह गूढ़ रहस्य अपने अन्तरंगमें ही छिपाकर रखा। फिर मैं सहसा इनसे उसके विषयमें कैसे कुछ कहूँ। यदि मैं यह समझूँ कि इस सम्बन्धमें कुछ न पूछना ही उचित है तो बिना विश्वरूपके दर्शन किये मुझे चैन न मिलेगा। इतना ही नहीं अपितु इस बातमें भी मुझे सन्देह ही है कि बिना वह दर्शन किये मैं जीवित भी रह सकूँगा अथवा नहीं। इसलिये अब मैं दबी जबानसे ही उसकी चर्चा छेड़ूँ। फिर देवको जो कुछ भायेगा, वह करेंगे। इस प्रकार अपने मनमें निश्चय करके अर्जुनने सहमते हुए कहना प्रारम्भ किया। परन्तु उसका वह सहम-सहमकर बोलना भी ऐसी विशेषता लिये हुए था कि उसके केवल एक-दो शब्द सुनते ही भगवान् अपने सारे विश्वरूपका उसे सद्यः दर्शन करा दें। बछड़ेको देखते ही गौ खड़बड़ा जाती है और उससे मिलनेके लिये व्यग्र हो उठती है। पर जिस समय बछड़ा आकर स्तनमें मुख लगा दे, उस समय भला यह कब सम्भव है कि उसके स्तनोंमें दूध न भर आवे? पाण्डवोंकी सुरक्षाके लिये श्रीकृष्ण जंगलोंतकमें दौड़े-धूपे थे। अब अर्जुनके इस प्रकार निवेदन करनेपर वे भला कैसे चुप्पी साध सकते थे? श्रीकृष्ण तो स्नेहके साक्षात् अवतार ही थे और अर्जुन उस स्नेहका मानो अच्छा खाद्य पदार्थ था। अब यदि इस प्रकारका उत्तम योग

होनेपर भी वे दोनों पृथक्-पृथक् रहें तो यह आश्चर्यकी ही बात है। अतएव अर्जुनके मुखसे ये शब्द निकलते ही श्रीदेव स्वयं ही एकदम विश्वरूप हो जायँगे। यही प्रथम प्रसंग है। आपलोग इसका वर्णन ध्यानपूर्वक सुनें। (१—४३)

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

पार्थने श्रीकृष्णसे कहा—"हे कृपानिधि! जो बात शब्दोंके द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती, उसे आपने मेरे लिये ऐसा स्वरूप प्रदान कर दिया कि वह वाणीके द्वारा समझमें आ सके। जब भूतमात्र ब्रह्मस्वरूपमें विलीन हो जाते हैं, तब और जीवों तथा मायाका कहीं नामोनिशान भी नहीं रह जाता। उस समय परब्रह्म जिस स्वरूपमें उतरता है, वही उसका अन्तिम रूप है। अपना जो स्वरूप आपने अपने हृदयके अन्तरप्रान्तमें कृपणके ऐश्वर्यकी भाँति छिपाकर रखा था और जिसका पता स्वयं वेदोंको भी नहीं चला था, वही अपने हृदयका रहस्य आज आपने मेरे सम्मुख खोलकर रख दिया है। श्रीशंकरने जिस अध्यात्म-रहस्यपरसे समस्त ऐश्वर्य निछावर करके फेंक दिया, हे स्वामी! आज वही रहस्य आपने मुझे एकदमसे बतला दिया। पर यदि मैंने इस बातकी चर्चा की, तो मैंने आपका व्यापक स्वरूप पाया कैसे? पर महामोहके अथाह सागरमें मुझे आपादमस्तक डूबा हुआ देखकर, हे श्रीहरि! आपने स्वयं ही कूदकर मुझे बाहर निकाला है। अब मेरे लिये इस जगत्में आपके सिवा अन्य कोई बात ही नहीं रह गयी है। पर मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा खोटा है कि अभीतक मेरे मुखसे यही बात निकल रही है कि—'मैं आपसे कोई पृथक् व्यक्ति हूँ।' अभीतक मेरे साथ ऐसा देहाभिमान लगा हुआ था कि इस संसारमें मैं अर्जुन नामका एक पुरुष हूँ और इन कौरवोंको मैं अभीतक अपना 'स्वजन' कहता था। सिर्फ यही नहीं, मैं इस प्रकारका दु:स्वप्न भी देख

रहा था। मैं इन्हें मारूँगा और इस प्रकार मैं पापमें लिप्त होऊँगा। इतनेमें ही आपने मुझे जगा दिया। हे देव! हे लक्ष्मीपति! अभीतक मैं सच्ची बस्तीका परित्याग कर झूठे गन्धर्वनगरमें घूम रहा था और जलके धोखेमें मृगजलका पान कर रहा था। कपड़ेका सर्प वास्तवमें मिथ्या तथा नकली था, पर मेरे अन्दर यह मिथ्या भावना भर गयी थी कि सचमुच सर्पने ही मुझे डस लिया है और इसीलिये सचमुच विषकी लहरें चढ़ रही थीं और यह जीव व्यर्थ ही जीवन-लीला समाप्त कर रहा था। परन्तु उसे बचानेका श्रेय आपको ही है। जैसे सिंह एक कूपमें अपनी ही प्रतिछाया देखकर यह समझ रहा हो कि यह मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी दूसरा सिंह है और इसी भ्रममें वह उस कूपमें कूदना चाहता हो और तत्क्षण कोई बीचमें आकर उसे आत्महत्या करनेसे बचा ले। बस ठीक इसी प्रकार आज आपने मुझे बचा लिया है, अन्यथा हे देव! मैंने तो आज यह निश्चय ही कर लिया था कि चाहे सातों समुद्र एकमें क्यों न मिल जायँ, यह समस्त जगत् प्रलयके जलमें क्यों न डूब जाय, चाहे ऊपरसे आकाश ही क्यों न टूट पड़े, पर मैं अपने इन गोत्रजोंसे कभी युद्ध न करूँगा। ऐसे अहंकारके कारण मैं आग्रहरूपी जलमें डूब ही गया था और यदि आप-जैसा सामर्थ्यवान् सुहृद् मेरे सन्निकट न होता तो फिर मुझे कौन सुरक्षित बाहर निकालता? जो चीज एकदम थी ही नहीं, उसके विषयमें मैं जबरदस्ती मानता था कि वह है और उसीका नामकरण मैंने 'गोत्र' किया था। मेरा यह पागलपन था; पर आपने मेरी रक्षा की। एक बार आपने ही मुझे जलते हुए लाक्षागृहसे सुखपूर्वक बाहर निकाला था; पर उस समय केवल मेरे शरीरके ही नष्ट होनेका भय था, पर आज यह दूसरी पीड़ा तो मेरी आत्माको ही विनष्ट कर देनेवाली थी। जैसे हिरण्याक्षने पृथ्वी बगलमें दबा ली थी, वैसे ही इस समय दुराग्रहने भी मेरी बुद्धि अपने बगलमें दबा ली थी और इस कारण जो उत्पात मचा, उससे मेरे अन्दर मोहरूपी समुद्र हिलोरे लेने लगा था। ऐसे कुसमयपर एकमात्र आपकी

सामर्थ्यके कारण ही मेरी बुद्धि फिरसे ठिकाने आयी है। अतः मैं कह सकता हूँ कि आज आपको दूसरी बार वाराह अवतार ही धारण करना पड़ा। आपकी कृति असीम है और मैं अकेला भला उसका कहाँतक वर्णन कर सकता हूँ। परन्तु निःसन्देह आज आपने मेरे पंचप्राण ही मुझे फिरसे लौटाये हैं। हे प्रभु! आपका इतना बड़ा पुण्यकर्म क्या कभी बेकार जा सकता है? हे देव! आपको अत्यन्त उत्तम यश मिला हुआ है, क्योंकि आपने मेरी माया जड़से उखाड़ डाली है। हे स्वामी! आनन्द-सरोवरके प्रस्फुटित कमल-सदृश आपके जो ये नेत्र हैं, ये जिसे अपने प्रसादका स्थान बनाते हैं, उस जीवके विषयमें इस बातकी परिकल्पना करना निरा पागलपन ही है कि उसका मोहके साथ योग होगा—उसे कभी आकर मोह ग्रस सकेगा। भला बड़वानलके सामने मृगजल क्या चीज है? और यदि आप मेरे सम्बन्धमें कहें तो मैं तो इस समय आपके कृपाप्रसादके प्रत्यक्ष गर्भगृहमें प्रवेश करके सानन्द ब्रह्म-रसका आस्वादन कर रहा हूँ। यदि इससे मेरा मोह नष्ट हो गया तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? हे महाराज! आपके चरणोंके स्पर्शसे आज सचमुच मेरा उद्धार हो गया। (५४—६८)

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

हे कमलके समान विशाल नेत्रोंवाले और करोड़ों सूर्योंके समान तेज धारण करनेवाले महेश! मैंने आज आपसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया है। जिस मायासे ये जीवमात्र उत्पन्न होते हैं और जिसके कारण ये अन्तमें लयको प्राप्त होते हैं, उस मायाका स्वरूप आपने मुझे स्पष्ट करके बतला दिया है और फिर मेरी वह माया दूर करके मुझे उस परब्रह्मके स्थानका दर्शन करा दिया है। जिस परब्रह्मका गौरव धारण करके वेद अबतक संसारमें सुशोभित होते थे। यह जो साहित्यका सागर बढ़ रहा है और टिका हुआ है तथा धर्म-सिद्धान्तोंके रत्न और मोती इत्यादि उत्पन्न कर

रहा है, वह भी उस परमात्माके तेजके लाभका ही परिणाम है। इस प्रकार जो समस्त साधन-मार्गोंका ही ध्येय परमात्मा है और जिसके माधुर्यका ज्ञान एकमात्र आत्मानुभवसे ही हो सकता है, उस परमात्माका अनन्त और अपार माहात्म्य आपने मुझे साफ-साफ बतला दिया है, जैसे आकाशके मेघोंका जल बरस जानेपर सूर्यमण्डल दिखायी देने लगता है अथवा ऊपरकी सेवार हाथसे हटानेपर नीचेका जल दृष्टिगोचर होने लगता है अथवा चन्दनके पेड़पर कुण्डली मारकर बैठनेवाले साँपको भगा देनेपर चन्दनका पेड़ दृष्टिगत होने लगता है अथवा पिशाचोंके भाग जानेपर पृथ्वीमें गड़ा हुआ धन प्राप्त हो जाता है, ठीक वैसे ही बीचमें पर्देके समान पड़ी हुई यह माया (प्रकृति) आज आपने दूर हटाकर मेरी बुद्धिको परब्रह्मरूपी शय्यापर लिटा दिया है, अर्थात् मेरी मति तत्त्वनिष्ठ कर दी है। इसलिये हे देव, इस सम्बन्धमें अब मेरे मनमें पूर्ण भरोसा हो गया है; पर अब मेरे चित्तमें एक और नयी बात उत्पन्न हुई है। यदि मैं संकोचवश आपसे उस बातकी चर्चा न करूँ तो फिर और किससे मैं वह बात पूछने जाऊँ? आपके अतिरिक्त मुझे और किसका आश्रय मिल सकता है? यदि जलमें निवास करनेवाले जीव अपने मनमें इस बातका संकोच करें कि हमारे अमुक क्रिया-कलापसे जलको कष्ट होगा अथवा बालक यदि हठपूर्वक स्तनपानकी याचना न करे तो उसके लिये जीवन धारण करनेका और उपाय ही कौन-सा है? अतएव अब मुझसे कुछ भी संकोच नहीं किया जाता। इस समय मेरे मनमें जो बात आवे, वह मुझे आपसे स्पष्टरूपसे कह देनी चाहिये।" यह सुनकर श्रीकृष्ण बीचमें ही बोल पड़े—"हे पार्थ! अब यह व्यर्थका विस्तार छोड़ो। अब तुम मुझे यह साफ साफ बतलाओ कि तुम्हारी और क्या इच्छा है?" (६९—८०)

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

किरीटीने कहा—"हे महाराज! आपने मुझे जो ज्ञानोपदेश किया है,

उससे मुझे समाधान प्राप्त हुआ है। अब जिसके संकल्पसे यह लोक-परम्परा उत्पन्न और विलीन होती है, जिसे आप स्वयं 'मैं' कहते हैं, आपका जो वह मूलस्वरूप है, जिससे आप देवताओंके कष्टोंको दूर करनेके लिये दो भुजावाले और चार भुजावाले रूप धारण करते हैं, पर जल-शयनके निमित्तसे अथवा मत्स्य, कच्छप इत्यादिके रूपमें किये जानेवाले नाटकोंके समाप्त होनेपर आपकी सगुणता जिस जगहमें विलीन होती है, उपनिषद् जिसका गान करते हैं, योगी हृदयस्थ होकर जिसे देखते हैं, सनक इत्यादि जिसे अपने हृदयसे लगाये रहते हैं और आपके जिस अनन्त विश्वरूपका वर्णन मैं सदा अपने श्रवणेन्द्रियोंसे श्रवण करता आया हूँ, हे देव! आपका वही विश्वरूप अपने नेत्रोंसे देखनेके लिये मेरा चित्त बहुत उतावला हो रहा है। हे प्रभु! आपने मेरी समस्त आपदाओंको मिटा करके अबतक बड़े प्रेमसे मेरी प्रत्येक लालसा पूरी की है। अब मेरी सिर्फ एक ही अभिलाषा शेष रह गयी है कि आपके उस विश्वरूपके दर्शन मुझे इन आँखोंसे हो जायँ। (८१—८८)

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

परन्तु हे शार्ङ्गी! इस विषयमें एक शंका है। यह बात मैं स्वयं नहीं जानता कि आपके विश्वरूपका दर्शन करनेकी योग्यता मुझमें है अथवा नहीं। हे देव! यदि आप यह पूछें कि यह बात तुम क्यों नहीं जानते, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या कोई रोगी स्वयं ही अपने रोगका निदान कर सकता है? और मेरी उत्कण्ठा इतनी प्रबल है कि उसके सामने मैं यह बात भी भूल जाता हूँ कि इस उत्कण्ठाके अनुरूप मुझमें योग्यता भी है अथवा नहीं। जैसे किसी पिपासित व्यक्तिके समक्ष स्वयं समुद्र भी उपस्थित कर दिया जाय तो भी वह कभी 'बस' नहीं कहता, वैसे ही इस प्रबल उत्कण्ठाके चक्करमें मैं अपने आपको सँभाल नहीं सकता। इसीलिये जैसे सिर्फ माता ही जानती है कि मेरे बालकमें कितनी योग्यता

है, वैसे ही हे जनार्दन! आप ही मेरी योग्यताका आकलन करें और मुझे विश्वरूपके दर्शन कराना आरम्भ करें। हे देव! आप इतनी कृपा अवश्य करें, अन्यथा यही कह दें कि तुम्हारी यह उत्कण्ठा पूरी नहीं हो सकती। यदि किसी बधिर व्यक्तिके समक्ष व्यर्थ ही संगीतके पंचम स्वरका गान किया जाय तो भला उससे उसे क्या सुख मिल सकता है? क्या सिर्फ चातककी प्यास शमन करनेके व्याजसे ही मेघ सारे जगत्के लिये यथेष्ट वृष्टि नहीं करता? पर यदि वह वृष्टि भी किसी चट्टानपर हो तो वह व्यर्थ ही जाती है। यह बात नहीं है कि चन्द्रमा सिर्फ उतनी ही चाँदनीका विस्तार करता हो जितनी चक्रवाक पक्षीके लिये परमावश्यक होती है और अन्योंको उससे वंचित ही रखता हो। परन्तु यदि कोई दृष्टिहीन हो तो उसके लिये चन्द्रमाका वह प्रकाश व्यर्थ होता है यही कारण है कि मेरे चित्तमें इस बातका भरपूर भरोसा है कि आप मुझे अपने विश्वरूपके अवश्य दर्शन देंगे। क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी सभीके लिये आपका स्वरूप सदा अद्भुत और दिव्य ही है। आपका औदार्य (ऐश्वर्य) एकदम निराला है, स्वयंसिद्ध और बन्धनरहित है। आप दान देते समय पात्र और अपात्रका कुछ भी विचार नहीं करते। मोक्ष-जैसी पावन वस्तु आपने अपने कट्टर शत्रुओंतकको दे डाली है। सचमुचमें मोक्ष प्राप्त होना कितना कठिन है, पर वह भी आपके श्रीचरणोंमें सेवारत रहता है और इसीलिये आप उसे जहाँ भेज देते हैं, वह वहाँ ही चला जाता है। जो पूतना स्तनमें विष भरकर आपको दूध पिलानेके बहाने मार डालनेके लिये आयी थी, उसे भी आपने सनकादिकोंकी भाँति ही सायुज्य मुक्तिका रसास्वादन कराया था। फिर हमारे राजसूय यज्ञमें तीनों लोकोंके सभासदोंके समक्ष जिसने सैकड़ों दुर्वचनोंसे आपका अपमान किया था, उस अपराधी शिशुपालको भी, हे गोपाल! आपने अपना पद प्रदान किया। राजा उत्तानपादके पुत्र ध्रुवको क्या ध्रुव-पद (अक्षयपद) पानेकी लालसा थी? वह तो वनमें सिर्फ इसी निमित्तसे गया था कि मुझे अपने पिताकी गोदमें बैठनेकी योग्यता

मिल जाय। पर आपने उसे स्वयं ध्रुव-पद प्रदान करके चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर श्रेष्ठ बना दिया।

इस प्रकार दुःखसे पीड़ित मनुष्योंको बिना आगा-पीछा सोचे उदारतापूर्वक कृपादान देनेवाले एकमात्र आप ही हैं। अजामिलने केवल अपनी ममताके वशीभूत होकर अपने नारायण नामक पुत्रको पुकारा था। परन्तु उसके नारायण नाम बोलते ही आपने उसे मुक्ति-पद प्रदान कर दिया। जिन भृगु ऋषिने आपके वक्षःस्थलपर चरण-प्रहार किया था, उनका चरण-चिह्न आप अबतक आभूषणकी भाँति धारण करते हैं। आपके परम वैरी शंखासुरका शरीर जो शख है, उसे आप कभी नहीं भूलते। इस प्रकार आप अपकारीका भी उपकार करते हैं; अपात्रके प्रति भी उदारता दिखलाते हैं। आपने सबसे पहले तो राजा बलिसे दान माँगा और तब स्वयं ही उलटे उसके द्वारपाल हो गये। जो गणिका न तो कभी आपकी पूजा करती थी और न तो कभी आपका गुणानुवाद ही सुनती थी और सिर्फ अपने मनोरंजनके लिये अपने तोतेको 'राम-राम' कहना सिखलाती थी, उसे भी केवल इस राम-नाम लेनेके बहाने ही आपने वैकुण्ठका सुख प्राप्त करवा दिया था। इस प्रकार सिर्फ झूठे बहाने निकालकर आप स्वेच्छासे ही बलपूर्वक मुक्ति-पदका दान बहुतोंके पल्ले बाँध देते हैं। फिर भला वही आप मेरे लिये अपनी उदारता त्यागकर दूसरे प्रकारका व्यवहार कैसे करेंगे? जो कामधेनु अपने दूधके प्रभावसे ही सारे जगत्‌के संकटका निवारण करती है, क्या स्वयं उसके बच्चे कभी भूखे रह सकते हैं? इसीलिये मैंने आपसे जो कुछ दिखलानेकी विनती की है, हे देव! निःसन्देह वह आप मुझे अवश्य दिखलावेंगे; किन्तु पहले आप उसे देखनेकी योग्यता मुझमें उत्पन्न करें। यदि आपका विश्वरूप देखनेकी योग्यता मेरी आँखोंमें हो तो हे प्रभु! आप मेरी यह लालसा पूरी करें।" जिस समय सुभद्रापतिने ऐसी स्पष्ट प्रार्थना की, उस समय षड्‌गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न वे श्रीकृष्ण चुप न रह सके। भगवान् श्रीकृष्ण केवल दयामृतसे लबालब भरे हुए

मेघ थे और अर्जुन मानो निकट आया हुआ वर्षाकाल था अथवा यदि हम श्रीकृष्णको कोयल कहें तो अर्जुन उसके लिये वसन्तकाल था अथवा जैसे पूर्णिमाके चन्द्रबिम्बको देखते ही क्षीरसागर आवेशसे भरकर उछलने लगता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी द्विगुणित प्रेमसे भरकर उल्लसित हो गये। फिर चित्तकी उस प्रसन्नताके आवेशमें अत्यन्त कृपालु श्रीकृष्णने गंभीर वाणीमें कहा—"हे पार्थ! यह मेरा अनन्त और अपार स्वरूप देखो।" अर्जुनकी तो केवल एक ही विश्वरूप देखनेकी इच्छा थी, पर श्रीकृष्णने अपने उस विश्वरूपमें सम्पूर्ण विश्व दिखला दिया। सामर्थ्यसम्पन्न श्रीकृष्णकी उदारता अपरिमित ही है। किसी व्यक्तिको अपनी इच्छासे माँगनेके लिये तैयार भर होना चाहिये। फिर वे उस याचकको अपना वह सब कुछ न्योछावर कर देते हैं जो उसकी याचनासे सहस्रगुना बढ़कर होता है। जिस गुप्त रहस्यको भगवान्‌ने हजारों नेत्रोंवाले शेषनागसे भी दूर रखा, जिसका पता वेदोंको भी नहीं लगा, जिसके दर्शनसे लक्ष्मी ही वंचित रहीं, वही रहस्य आज भगवान्‌ने अनेक प्रकारसे प्रकट करके परम सौभाग्यशाली अर्जुनको अपने विश्वरूपके दर्शन करा दिये थे। जैसे जागनेवाला व्यक्ति स्वप्नावस्थामें पहुँचकर उस स्वप्नका ही हो रहता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी स्वयं ही इस समय अनन्त ब्रह्माण्ड हो रहे हैं। उन्होंने अपने कृष्णरूपका अवसान करके और स्थूल अर्थात् माया दृष्टिका आवरण हटा करके अपना योग-सर्वस्व ही बिलकुल प्रकट कर दिया है। उस समय भगवान्‌को इसका ध्यान ही नहीं रहा कि अर्जुनमें मेरा रूप देखनेकी पात्रता है अथवा नहीं। उन्होंने स्नेहातुर होकर कहा—"अच्छा, यह देखो विश्वरूप।" (८९—१२२)

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—"हे अर्जुन! तुमने केवल एक विश्वरूप ही

दिखलानेके लिये कहा था, पर यदि मैं तुमको सिर्फ वही विश्वरूप दिखलाऊँ तो इसमें कौन-सी बड़ी बात है! मेरे विश्वरूपमें जो-जो चीजें भरी हुई हैं, वह सब की-सब तुम इस समय देख लो। देखो, इसमें कितने नाना प्रकारके आकार और रूप हैं! कोई अत्यन्त ही लघु हैं तो कोई अत्यन्त ही दीर्घ; कोई बहुत ही कृश हैं तो कोई बहुत स्थूल; कोई बहुत ह्रस्व हैं तो कोई बहुत विशाल; कोई अत्यन्त पृथु हैं तो कोई अत्यन्त सरल और कुछ तो केवल असीम ही हैं। कुछ तो अत्यन्त ही अवश हैं और कुछ एकदम सीधे-सादे हैं; कुछ चंचल हैं तो कुछ निश्चल; कुछ उदासीन हैं तो कुछ स्नेहिल और कुछ अत्यन्त तीव्र प्रेमसे युक्त हैं। कुछ मत्त हैं तो कुछ सावधान; कुछ उथले हैं तो कुछ अगाध; कुछ उदार हैं तो कुछ कृपण और कुछ क्रोधी हैं। कुछ शान्त हैं तो कुछ अभिमानसे भरे हुए हैं, कुछ विकाररहित हैं तो कुछ आनन्दित, कुछ गर्जन करनेवाले हैं तो कुछ मौन और कुछ मिलनसार हैं। कुछ सकाम हैं तो कुछ विषयी, कुछ जागे हुए हैं तो कुछ सोये हुए; कुछ सन्तुष्ट हैं तो कुछ लोलुप और कुछ समाधानयुक्त हैं। कुछ सशस्त्र हैं तो कुछ शस्त्ररहित, कुछ अत्यन्त भयंकर हैं तो कुछ अत्यन्त प्रेमपूर्ण, कुछ भीषण हैं तो कुछ विलक्षण और कुछ समाधिमें ही मग्न हैं। कुछ जनन-लीलामें लगे हुए हैं तो कुछ प्रेमसे पालन करनेवाले, कुछ क्रोधमें भरकर विनाश करनेवाले हैं तो कुछ केवल तटस्थरूपसे साक्षीभूत हैं। ऐसे नाना प्रकारके अनन्तरूप इसमें हैं। इसके अलावा कुछ तो दिव्य तेजसे दीप्त हो रहे हैं और उनके प्रकाशके रंग भी एक-दूसरेसे पृथक् हैं। कुछ तो मानो तपाये हुए स्वर्णके सदृश प्रतीत होते हैं, कुछ एकदम पीतवर्णके हैं और कुछके समस्त अंग सिन्दूर पोते हुए आकाशकी भाँति सुशोभित हो रहे हैं। कुछ तो स्वभावतः ऐसे सुन्दर हैं कि मानो मणियों और मानिकोंसे जड़े हुए ब्रह्माण्डके सदृश जान पड़ते हैं और कुछ कुंकुमसे रँगे हुए अरुणोदयकी प्रभाके सदृश चमक रहे हैं। कुछ स्वच्छ स्फटिककी भाँति निर्मल हैं, कुछ इन्द्रनील मणिकी

भाँति नीले हैं। कुछ अंजनकी भाँति बिलकुल काले हैं और कुछ लाल रंगके हैं। कुछ चमकते हुए स्वर्णकी भाँति पीतवर्णके हैं, कुछ वर्षा-ऋतुके मेघोंकी भाँति श्यामवर्णके हैं, कुछ सोन-चम्पाकी भाँति गौर वर्णके हैं और कुछ सिर्फ हरे हैं। कुछ तपाये हुए ताम्रवर्णके सदृश लाल हैं, कुछ श्वेत चन्द्रके सदृश एकदम सफेद हैं। इस प्रकार तुम अनेक रंगोंके मेरे रूप देखो। जैसे ये सब वर्ण पृथक् पृथक् तरहके हैं, वैसे ही उनके आकार भी अलग-अलग हैं। कुछ तो इतने सुन्दर हैं कि मदन भी लज्जित होकर उनकी शरणमें आता है। कुछकी बनावट ही अत्यन्त हलकी है और कुछके शरीर अत्यन्त मनोहर हैं। कुछ तो ऐसे जान पड़ते हैं कि मानो वे शृंगार-लक्ष्मीके खुले हुए भण्डार ही हों। कुछके अवयव अत्यन्त पुष्ट और मांसल हैं तो कुछ अत्यन्त शुष्क हैं। कुछ अति विकराल हैं, कुछ लम्बी ग्रीवावाले हैं; कुछ अत्यन्त विशाल सिरवाले हैं और कुछ बहुत ही भयंकर तथा बेडौल हैं। इस प्रकार ऐसी अनेक प्रकारकी आकृतियोंकी कोई सीमा नहीं है। देखो, इन आकृतियोंके एक-एक अंग-प्रदेशमें तुम्हें सारा जगत् ही दिखायी पड़ेगा। (१२३—१४०)

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

इन्हीं आकृतियोंमेंसे जब किसी एककी दृष्टि खुलती है, तब आदित्य आदि द्वादश सूर्य उत्पन्न होते हैं। पर यही दृष्टि जब बन्द हो जाती है, तब वे सब आदित्य एकत्र होकर लीन हो जाते हैं। इन आकृतियोंके मुखके उष्ण श्वाससे सब जगह ज्वालामय हो जाता है और उसी ज्वालामेंसे पावक इत्यादि अष्टवसुओंका जन्म होता है। इनकी तिरछी भौंहोंके सिरे जब क्रोधके कारण एक-दूसरेसे मिलने लगते हैं, तब एकादश रुद्रोंका उदय होता है। पर जब उन्हींमें सौम्यका प्राकट्य होता है, तब अश्विनी-कुमार-जैसे अनगिनत जीवनदाता प्रकट होते हैं। इन्हींके कर्णेन्द्रियोंमेंसे नाना प्रकारके पवन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ही रूपके सहज

लीलासे देवता और सिद्ध उत्पन्न होते हैं। देखो, मेरे विश्वरूपमें ऐसे अनगिनत और अनन्त रूप हैं, जिनका वर्णन करते-करते वेद भी असमर्थ हो गये, कालका आयुष्य भी थोड़ा है और ब्रह्माको भी जिनकी थाह नहीं लगी तथा जिनकी चर्चा भी कभी वेदत्रयीके श्रवणेन्द्रियोंतक नहीं पहुँची, वे अनेक रूप तुम प्रत्यक्ष देखो और आश्चर्यमय आनन्द तथा पूर्ण सफलताका उपभोग करो। (१४१—१४७)

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

हे किरीटी! जैसे कल्पतरुके नीचे तृणांकुर प्रस्फुटित होते हैं; वैसे ही इन मूर्तियोंके रोमकूपोंमें सृष्टिके अंकुर भरे पड़े हैं। जैसे गवाक्षमेंसे आनेवाली रश्मियोंमें परमाणु उड़ते हुए दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही इन मूर्तियोंके अवयवोंकी सन्धियोंमें अनेक ब्रह्माण्ड उड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। देखो, इनमेंसे हर एक अवयव-प्रदेशमें समस्त विश्वका विस्तार दिखायी पड़ता है। अब यदि तुम्हारी यह लालसा हो कि इस विश्वके उस पार भी जो कुछ है, उसके भी दर्शन हों, तो यह भी कोई कठिन बात नहीं है; क्योंकि तुम जो कुछ चाहो, वही मेरे इस स्वरूपमें देख सकते हो। करुणामय भगवान्‌ने ये सब बातें तो कहीं, पर उन्होंने जो यह प्रश्न किया था कि तुम यह सब देख रहे हो अथवा नहीं? उसका अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उस समय श्रीकृष्णके मनमें यह शंका उठ खड़ी हुई कि अर्जुन इस प्रकार स्तब्ध क्यों हो रहा है। इसी विचारसे जब श्रीकृष्णने उसपर अपनी दृष्टि डाली, तब उन्होंने देखा कि अर्जुन पूर्वकी ही भाँति ज्यों-का-त्यों उत्कण्ठासे भरा हुआ है। (१४८—१५३)

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

भगवान्‌ने मन-ही-मनमें कहा कि अभीतक अर्जुनकी उत्कण्ठा कम नहीं हुई है। अभीतक इसे आत्मसुखका लाभ नहीं हुआ। मैंने अपना

जो स्वरूप इसे दिखलाया है, उसका आकलन करनेकी सामर्थ्य इसमें नहीं दिखलायी देती है। यह सोचकर श्रीकृष्ण हँस पड़े और उन्होंने उस अर्जुनसे कहा कि मैंने तो तुम्हें विश्वरूपका दर्शन कराया, पर तुम तो उसे देख ही नहीं रहे हो। इसपर बुद्धिमान् अर्जुनने कहा—"पर महाराज! इसमें दोष किसका है? आप बगुलेको चाँदनी चुगानेका निष्फल प्रयास कर रहे हैं। आप दर्पणको झाड़ पोंछकर अन्धेके समक्ष रख रहे हैं अथवा हे हृषीकेश! आप बधिर व्यक्तिके समक्ष संगीतका अलाप कर रहे हैं। आप जान-बूझकर फूलोंके पराग-कणोंका चारा दादुरके समक्ष डाल रहे हैं और वे पराग-कण व्यर्थ विनष्ट कर रहे हैं। ऐसी दशामें हे प्रभु, आप दूसरेपर व्यर्थ ही कोप क्यों कर रहे हैं? जो चीज इन्द्रियोंकी पकड़के बाहर है और जिसकी अनुभूति सिर्फ ज्ञान-दृष्टिसे ही की जा सकती है, वह चीज यदि आप मेरे स्थूल-दृष्टि चर्मचक्षुओंके समक्ष रखते हैं तो मैं उसे कैसे देख सकता हूँ? परन्तु आपकी कमी निकालना उचित नहीं है। अतएव मेरा मौन धारण करना ही ठीक है।"

यह बात सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"हे तात! ठीक है, यह बात मुझे भी स्वीकार है। जिस समय मैं तुम्हें अपना विश्वरूप दिखलाना चाहा था, उस समय मेरे लिये यही उचित था कि मैं तुम्हें पहले-पहल वह रूप देखनेकी सामर्थ्य प्रदान करता। पर प्रेमावेशमें बातें करते-करते मैं यह बात एकदम भूल ही गया था। परन्तु उसका परिणाम क्या निकला? वही जो जमीनको बिना जोते उसमें बीज बोनेसे होता है। इसमें पूरा समय बेकारमें ही नष्ट होता है और यही अब भी हुआ है। परन्तु अब मैं तुम्हें ऐसी दृष्टि प्रदान करता हूँ जिससे विश्वरूपका दर्शन किया जा सके। हे पाण्डव! उस दृष्टिके सहयोगसे तुम मेरे विश्वव्यापक ऐश्वर्ययोगको देखकर आनन्दसे आत्मानुभवमें प्रवेश करोगे।" वेद जिनका प्रतिपादन करना चाहते हैं, जो समस्त जगत्‌के आदि बीज हैं और जो सारे संसारके लिये पूजनीय हैं, उन श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा। (१५४—१६४)

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ १॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे कौरवकुल-चक्रवर्ती! मुझे रह-रहकर एक बातका अत्यन्त विस्मय होता है। देखिये, इस त्रिलोकीमें लक्ष्मीसे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन है? अथवा वेदोंके अतिरिक्त अन्य कौन-सा ऐसा साधन है जिसके द्वारा आत्मस्वरूपका कुछ ज्ञान हो सके? इसी प्रकार सेवकाईमें शेषनागसे बढ़कर दूसरा और कौन है? आठों पहर योगियोंकी भाँति एकनिष्ठ होकर प्रेमपूर्वक नारायणकी सेवा करनेवाला गरुडके समान क्या और कोई भक्त भी है? परन्तु ये सब-के-सब एक ओर पड़े-के-पड़े रह गये और जिस दिनसे इन पाण्डवोंका जन्म हुआ, उसी दिनसे मानो श्रीकृष्णके सुखको अपनी ओर खींचनेवाला एक नवीन स्थल उदित हुआ है तथा पंचपाण्डवोंमेंसे भी इस अर्जुनके तो ये श्रीकृष्ण स्वयं ही पूरी तरहसे अधीन हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक विषयी व्यक्तिको एक लावण्यवतीने लम्पट बना डाला है। कदाचित् कोई सिखाया हुआ पक्षी भी इस तरह न बोलता होगा, मनोरंजनके लिये पाला हुआ मृग भी ऐसी क्रीड़ा न करता होगा, जिस तरह ये श्रीकृष्ण अर्जुनके चक्करमें पड़कर पटापट बातें करते हैं और उसके साथ नृत्य तथा क्रीड़ा करते हैं। कुछ पता नहीं चलता कि इस अर्जुनका ऐसा कौन-सा भाग्योदय हुआ है! स्वयं परब्रह्मका दर्शन करनेका सौभाग्य इसकी आँखोंको मिला हुआ है। देखिये, श्रीकृष्ण अर्जुनकी बातोंके एक-एक शब्दका कैसे प्रेमसे पालन कर रहे हैं यदि यह कोप भी करता है तो देव उसे आनन्दपूर्वक सहन करते हैं और यदि यह रूठ जाय तो देव उसको मनाते हैं। यह बहुत ही अद्भुत बात है कि अर्जुनके लिये श्रीकृष्ण ऐसे पागल हो रहे हैं। विषयोंको जीत करके जो शुक इत्यादि योगी सामर्थ्यवान् बने थे, वही इन श्रीकृष्णकी रासलीला और विषय-विलासके वर्णन करते-करते

इनके भाट बन गये। योगिजन आत्मचिन्तनकी समाधि लगाकर इन श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं। पर हे राजन्! मुझे अत्यन्त विस्मय हो रहा है कि वही श्रीकृष्ण आज इस प्रकार पार्थके वशीभूत हो रहे हैं।'' फिर संजयने कहा कि—हे कौरवराज! इसमें विस्मयकी कौन-सी बात है? श्रीकृष्ण जिसको स्वीकार कर लेते हैं; उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है। यही कारण है कि देवाधिपति भगवान् श्रीकृष्णने पार्थसे कहा—''हे पार्थ! अब मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ। इसके सहयोगसे तुम मेरा विश्वरूप देख सकोगे।'' अभी भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे पूरी बात निकलने भी नहीं पायी थी कि अर्जुनका अविद्यारूपी अँधेरा बिलकुल मिटने लगा। वे श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुए अक्षर नहीं थे अपितु ब्रह्मस्वरूपके साम्राज्यका जो दीपक है उसीकी यह ज्ञानरूपी ज्योति श्रीकृष्णने अर्जुनके लिये प्रज्वलित की थी। इसके बाद अर्जुनको दिव्य ज्ञान-नेत्र प्राप्त हो गये और उन्हीं नेत्रोंमें ज्ञान-दृष्टिके अंकुर प्रस्फुटित हुए। इस प्रकार भगवान्ने अर्जुनको अपने विश्वरूप-योगका ऐश्वर्य दिखलाया। परमात्माके भिन्न-भिन्न अवतार जिस समुद्रकी लहरोंकी भाँति हैं, जिसकी रश्मियोंके योगसे यह विश्वरूप मृगजलका आभास उत्पन्न करता है, जिस अनादिसिद्ध, स्वयंभू, समान और सपाट भूमिकापर इस चराचरका चित्र अंकित होता है, वही अपना विश्वरूप श्रीकृष्णने उस समय अर्जुनको दिखलाया।

एक बार बचपनमें जब श्रीपतिने मिट्टी खायी थी, तब यशोदाने क्रोधाविष्ट होकर उनकी कलाई पकड़ ली थी। इसपर इस बातका प्रमाण देनेके लिये कि मेरे मुखमें कुछ भी नहीं है, श्रीकृष्णने डरते डरते अपनी तलाशी देनेके उद्देश्यसे अपना मुख खोला था। उस समय उस मुखमें यशोदाको चतुर्दश भुवनोंके दर्शन हुए थे। अथवा मधुवनमें एक बार भगवान्ने ध्रुवपर भी ऐसी ही अनुकम्पा की थी। ज्यों ही उन्होंने उसके कपोलसे अपना शंख स्पर्श कराया था, त्यों ही वह अविराम गतिसे ऐसी

बातें कहने लगा था जो वेदको भी समझसे परे था। हे राजन्! श्रीहरिने धनंजयपर भी इस समय वैसा ही अनुग्रह किया था। यही कारण है कि उस समय पार्थके लिये मायाका मानो कहीं नामोनिशान भी नहीं रह गया था। उस समय एकदमसे प्रभुके स्वरूपकी ऐश्वर्य प्रभा प्रकट हुई और उसे चतुर्दिक् चमत्कारका समुद्र ही दृष्टिगोचर होने लगा। इससे अर्जुनका मन विस्मयके समुद्रमें डूब गया। जैसे मार्कण्डेयके सम्बन्धमें यह कथा है कि ब्रह्मलोकतक पूर्णरूपसे भरे हुए जलमें किसी समय अकेला मार्कण्डेय ही तैरता था, वैसे ही आज विश्वरूपके महोत्सवमें एकमात्र अर्जुन ही लोट रहा था। वह कहने लगा—''अरे, यहाँ कितना बड़ा आकाश था। वह सब कौन कहाँ ले गया? चराचरसहित वह समस्त जीव-सृष्टि कहाँ चली गयी? दिशाओंके चिह्न भी मिट गये। अधोर्द्धकी परिकल्पना ही समाप्त हो गयी। उसके लिये सृष्टिके आकारका आज वैसे ही लोप हो गया था जैसे जागनेपर स्वप्नकी समस्त बातोंका अन्त हो जाता है अथवा जैसे सूर्यके तेजके प्रभावसे चन्द्रमासहित समस्त तारागण अदृश्य हो जाते हैं, वैसे ही मालूम पड़ता है कि मानो प्रभुके इस विश्वरूपने सृष्टिकी सारी रचनाको ग्रस लिया है। उस समय उसके मनका मनत्व भी जाता रहा। बुद्धि स्वयंको सँभाल न सकी और इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ उलटकर हृदयमें भर गयीं। उस समय स्तब्धता और एकाग्रता चरम सीमापर पहुँच गयी, मानो सारे विचार-समूहपर किसीने मोहनास्त्र चला दिया था। जब इस प्रकार विस्मित होकर अर्जुन कौतुकसे देखने लगा, तब उसे अपने समक्ष चतुर्भुज श्रीकृष्णका कोमल स्वरूप दिखायी पड़ा। परन्तु वही रूप चतुर्दिक् नाना प्रकारके वेशोंमें दिखायी पड़ रहा था। जैसे वर्षा-ऋतुमें मेघोंके समूह निरन्तर बढ़ते जाते हैं अथवा महाप्रलयकालके सूर्यका तेज निरन्तर बढ़ता जाता है, वैसे ही उस समय भगवान्‌के विश्वरूपने अपने सिवा और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहने दिया था। पहले तो आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होनेपर अर्जुनको समाधान प्राप्त हुआ, फिर उसने सहज भावसे आँखें खोलीं तो उसे

विश्वरूपके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। अर्जुनके चित्तमें जो इस चीजकी लालसा थी कि मैं अपनी इन्हीं आँखोंसे विश्वरूपका दर्शन करूँ, सो उसकी वह लालसा भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार पूरी कर दी। (१६५—१९६)

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥

अर्जुनने भगवान्‌के ऐसे सुन्दर-सुन्दर मुख देखे कि मानो वे विष्णुके राजभवन थे अथवा लावण्यलक्ष्मीके अनेक भण्डार थे अथवा बाहरसे पूर्ण आनन्दवन अथवा सौन्दर्य साम्राज्य थे; परन्तु इन सुन्दर मुखोंके बीच-बीचमें बहुतेरे ऐसे मुख भी थे, जो बहुत ही भयानक जान पड़ते थे। उन्हें देखकर ऐसा भान होता था कि मानो कालरात्रिकी सेना ही उमड़ पड़ी हो अथवा स्वयं मृत्युके मुख निकल आये हों अथवा भयके किले ही बनाये गये हों अथवा प्रलयाग्निके महाकुण्ड ही खुल गये हों। उस विश्वरूपमें अर्जुनने ऐसे बहुत से विकराल मुख देखे तथा बहुत-से सजे-सजाये सौम्य मुख भी देखे। वास्तवमें उस ज्ञान-दृष्टिको भी कहीं उन मुखोंका अवसान दृष्टिगोचर नहीं होता था। फिर अर्जुन बड़े कौतुकसे उस विश्वरूपके आँखोंकी ओर देखने लगा। वे आँखें नाना प्रकारके प्रस्फुटित कमल-वनकी भाँति थीं। इस प्रकार सूर्यके रंगके और ऐसे तेजस्वी आँख अर्जुनने देखे। जैसे कल्पान्तकालमें श्यामवर्णके मेघ-समूहमें विद्युत्‌की चमक दृष्टिगत होती है, वैसे ही उन श्याम और टेढ़ी भौंहोंके नीचे अग्निकी तरह पीतवर्णकी दृष्टिकी किरणें सुशोभित हो रही थीं। इस प्रकार उस एक ही रूपमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक चमत्कार देखकर अर्जुनको उस रूपकी अनेकता पूर्णरूपसे विदित हो गयी। वह मन-ही-मन कहने लगा कि इसके चरण कहाँ हैं? मुकुट किस ओर हैं तथा हाथ कहाँ हैं? इस प्रकार विश्वरूप-दर्शनकी उसकी उत्सुकता बढ़ने लगी। उस अवसरपर अर्जुन मानो भाग्यनिधि ही बन गया था। फिर भला उसके मनकी कामना निष्फल कैसे हो सकती थी? क्या शिवके तूणीरमें भी कभी

निरर्थक जानेवाले बाण होते हैं? अथवा ब्रह्मदेवकी वाणीमें क्या कभी मिथ्या अक्षरोंके साँचे रह सकते हैं? बस अर्जुनको सद्यः उस अपार स्वरूपके पूर्ण दर्शन होने लगे। जिनकी थाह वेदोंको भी नहीं लगती, उनका प्रत्येक अंग अर्जुन अपने दोनों नेत्रोंसे एक ही समयमें और एक ही साथ देखने लगा। आपादमस्तकपर्यन्त उस स्वरूपका ऐश्वर्य देखते समय अर्जुनको ऐसा मालूम पड़ा कि वह विश्वरूप अनेक प्रकारके रत्नों और अलंकारोंसे सुशोभित है। वह परब्रह्मस्वरूप देव अपने शरीरपर धारण करनेके लिये स्वयं ही नाना प्रकारके अलंकार और आभूषण बन गये थे। यह बताना अत्यन्त कठिन है कि वे आभूषण कैसे और किसके सदृश थे? जिस तेजसे चन्द्र और सूर्यमण्डल भी प्रकाशित होते हैं, विश्वके जीवनरूपी महातेजका जो जीवन-सर्वस्व है, वह तेज ही इस विश्वरूपका शृंगार था। भला उसका ज्ञान किसकी बुद्धिको हो सकता है? वीरशिरोमणि अर्जुनने देखा कि ऐसा ही तेजसम्पन्न शृंगार देवने धारण किया है। जब अर्जुन ज्ञानरूपी दृष्टिसे उस विश्वरूपके सरल हाथोंकी ओर दृष्टिपात किया, तब उसे उन हाथोंमें ऐसे चमकते हुए शस्त्र दिखायी पड़े कि मानो उनमेंसे कल्पान्तकी ज्वाला ही निकल रही हो। उस समय अर्जुनकी समझमें यह बात आयी कि इस रूपमें अंग और अलंकार, हाथ और हथियार, जीव और शरीरके युग्मकी दोनों वस्तुएँ स्वयं देव ही हैं और इसी प्रकारसे देवने सारा चराचर जगत् खचाखच भरकर व्याप्त कर रखा है। उन हथियारोंकी किरणोंकी प्रबल अग्निमें नक्षत्र मानो भूने जानेवाले चनेकी भाँति फूट रहे थे और उसके तापसे अग्नि मानो व्याकुल होकर समुद्रमें प्रविष्ट होनेके लिये तत्पर हो रही थी। तत्पश्चात् अर्जुनने देवके ऐसे अनगिनत हाथ देखे, जिनमें ऐसे शस्त्र थे जो मानो कालकूट विषकी लहरोंमें बुझाये हुए थे अथवा प्रचण्ड विद्युत्से युक्त थे। (१९७—२१७)

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

अर्जुनने मानो डरकर ही इन शस्त्रयुक्त हाथोंकी ओरसे अपनी आँखें फेर ली और तब वह भगवान्‌का कण्ठ और मस्तक देखने लगा। जिनसे पारिजातकी सृष्टि हुई थी, जो महासिद्धियोंके मूल पीठ हैं और जिनमें श्रमप्राप्त-लक्ष्मी विश्राम लेती हैं, वे अत्यन्त निर्मल पुष्प उस कण्ठ और मस्तकपर धारण किये हुए दिखायी दिये। मस्तकपर फूलोंके गुच्छे, अलग-अलग अवयवोंपर फूलोंके जाल, गजरे और झालरें इत्यादि तथा कण्ठमें अलौकिक पुष्पमालाएँ लहरा रही थीं। प्रभुके नितम्बपर पीताम्बर इस प्रकार शोभा दे रहा था कि मानो स्वर्गने सूर्यके तेजका परिधान धारण किया हो अथवा मेरुगिरि स्वर्णसे आच्छादित कर दिया गया हो। जैसे कपूर-वर्ण शंकरको कपूरका उबटन लगाया गया हो अथवा कैलाशके धवलगिरिपर पारेका लेप चढ़ाया गया हो अथवा क्षीरसमुद्रको दुग्धके सदृश धवल वस्त्र पहनाया गया हो अथवा चाँदनीकी तह लगाकर आकाशपर उसकी खोली चढ़ायी गयी हो, वैसे ही चन्दनका लेप भगवान्‌के पूरे शरीरमें लगा हुआ दिखायी दिया। जिस सुगन्धके द्वारा आत्मस्वरूपका तेज और अधिक द्युतिमान् होता है, जिससे ब्रह्मानन्दके दाहका शमन होता है, जिससे पृथ्वीको जीवन प्राप्त होता है, विरक्त संन्यासी भी जिसकी संगति करते हैं और अनंग (कामदेव) भी जो अपने सर्वांगमें लगाता है, उस सुगन्धकी महिमाका वर्णन भला और कौन कर सकता है?

इस प्रकार एक-एक शृंगारकी शोभा देखता-देखता अर्जुन इतना व्याकुल हो गया कि उसे इस बातका पता ही नहीं चला कि प्रभु खड़े हैं अथवा बैठे हैं अथवा सोये हैं। बाह्य चक्षु खोलकर देखनेपर सब कुछ विश्वरूप ही दृष्टिगत होता था और जिस समय वह अपनी आँखें बन्द कर लेता था, उस समय अन्दर भी उसे सब कुछ देवमय ही दिखायी देता था। सामने असंख्य मुख दिखायी देते थे, इसलिये जब अर्जुन भयभीत

होकर पीछेकी ओर देखने लगा तब उसने देखा कि उधर भी प्रभुके मुख, हाथ और चरण इत्यादि सब कुछ वैसे ही हैं। यदि ये सब वस्तुएँ आँखें खोलकर देखनेपर दिखायी पड़ती हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! परन्तु श्रवणीय बात यह है कि न देखनेकी स्थितिमें भी, आँखें बन्द किये रहनेपर भी, प्रभुके वही दर्शन होते थे। प्रभु-कृपाकी भी यह कैसी विलक्षण करनी है! पार्थका देखना और न देखना—ये दोनों ही क्रियाएँ नारायणने पूर्णतया व्याप्त कर रखी थीं और यही कारण है कि उन दोनों क्रियाओंमें उसे नारायणके ही दर्शन होते थे। जिस समय अर्जुन चमत्कारकी एक बाढ़में से निकलकर शीघ्रतासे किनारेकी ओर आ रहा था, उस समय इसी बीचमें वह चमत्कारके एक दूसरे महासिन्धुमें जा पड़ा। इस प्रकार उस अनन्त स्वरूपवाले नारायणने अपने दर्शनकी अलौकिक शक्तिसे अर्जुनको एकदम व्याकुल कर दिया। प्रभु तो स्वभावतः विश्वतोमुख (सर्वव्यापी) हैं और तिसपर अर्जुनने यह विनम्र प्रार्थना की थी कि आप मुझे अपना विश्वरूप दिखलावें; इसलिये प्रभु स्वयं ही सम्पूर्ण विश्वका रूप धारण करके उसके समक्ष प्रकट हुए थे और फिर नारायणने अर्जुनको कोई ऐसी स्थूल दृष्टि तो प्रदान ही नहीं की थी कि यदि दीपक या सूर्यका प्रकाश हो, तभी उसे दिखायी पड़े और यदि दीपक या सूर्यका सहयोग न मिला हो तो उस दृष्टिसे दिखायी ही न पड़े। अतएव हे राजन्! आप यह बात ध्यानमें अवश्य रखें कि अर्जुन चाहे अपने नेत्र बन्द रखता अथवा खुला रखता, दोनों ही स्थितियोंमें अर्जुनके लिये देखनेके अलावा और कोई चारा नहीं था।" यही बात हस्तिनापुरमें संजय राजा धृतराष्ट्रसे निवेदन कर रहे हैं। संजयने निवेदन करते हुए धृतराष्ट्रसे पुनः कहा—"हे महाराज! और नहीं तो, कम-से-कम इतना तो आप अवश्य ध्यानमें रखें कि अर्जुनने श्रीकृष्णका विश्वरूप देखा और वह रूप भाँति-भाँतिके अलंकारोंसे भरा हुआ होनेपर भी विश्वतोमुख अर्थात् सर्वव्यापी था। (२१८—२३६)

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

हे महाराज! मैं क्या बतलाऊँ कि विश्वरूपके उन अंगोंकी कान्तिका अद्‌भुत दृश्य कैसा और किसके सदृश था। कल्पान्तकालमें द्वादश आदित्य इकट्ठे होते हैं। यदि उस प्रकारके सहस्रों दिव्य सूर्य एक साथ उदय हों, तो भी उन्हें उस विश्वरूपके महातेजकी महिमाकी उपमा नहीं दी जा सकती। यदि सारे संसारकी समस्त विद्युत् इकट्ठी कर ली जाय और प्रलयाग्निकी समस्त सामग्री एक जगह कर ली जाय और उनमें दस महातेजोंको भी मिला दिया जाय तो शायद उस विश्वरूपकी अंग-प्रभाके तेजके समक्ष वे कुछ अल्प-से ही सिद्ध होंगे; पर इस प्रकारका तेज सम्भवतः कहीं न मिलेगा, जो अच्छी तरहसे उसका पासंग भी ठहरे। इस प्रकारकी अपार महिमा इन श्रीहरिमें स्वाभाविक ही है। उनके सर्वांगका सर्वत्र फैलनेवाला तेज जो मुझे देखनेको मिला, यह व्यासमुनिकी ही कृपाका फल है।'' (२३७—२४१)

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

उसी विश्वरूपके एक कोणमें यह समस्त जगत् अपने पूरे विस्तारके साथ उसी प्रकार पड़ा हुआ था, जिस प्रकार महोदधिमें भिन्न-भिन्न बुलबुले दृष्टिगत होते हैं अथवा आकाशमें गन्धर्वनगर होते हैं अथवा भूतलपर चींटियोंके बने हुए घर होते हैं अथवा मेरुगिरिपर बहुत-से परमाणु रहते हैं। बस ठीक इसी प्रकार सारा संसार उन देवाधिदेवके शरीरमें उस समय अर्जुन देख रहा था। (२४२—२४४)

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

धनंजयके अन्तःकरणमें उस समयतक जो इस प्रकारका किंचित् भेद-भाव अवशिष्ट था कि यह विश्व एक अलग वस्तु है और मैं उससे पृथक् अन्य वस्तु हूँ, सो वह भेद-भाव भी अब समाप्त हो गया तथा

उसका अन्तःकरण एकदम द्रवित हो गया। अर्जुनके अन्दर आनन्दका संचार हुआ और बाह्य शरीरके अवयवोंकी शक्ति तुरन्त विनष्ट हो गयी तथा आपादमस्तक रोमांच हो आया। जैसे वर्षाकालके पहले झोंकेमें जल बह जानेके बाद पर्वतके सारे हिस्से कोमल तृणांकुरोंसे व्याप्त हो जाते हैं, वैसे ही अर्जुनके पूरे शरीरपर रोमांचके अंकुर निकल आये। जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंका स्पर्श होते ही सोमकान्तमणि द्रवित होती है, वैसे ही उसके शरीरमें स्वेद-बिन्दु भर आये। कमलके कोशमें आबद्ध भ्रमरके हिलने डुलनेसे जैसे कमल कलिका जलपर हिलने लगती है, अन्तःकरणमें सुखकी तरंगें उठनेके कारण बाहरसे उसका शरीर भी वैसे ही कम्पन करने लगा। जैसे कपूर-कदलीके दल खोलनेपर उसमें स्थित कपूरके कण निकलकर गिरने लगते हैं, वैसे ही अर्जुनके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु टपकने लगे। चन्द्रोदय होनेपर जैसे लबालब भरा हुआ समुद्र और भी अधिक भर जाता है, वैसे ही अर्जुन भी आनन्दकी तरंगोंसे और भी अधिक भर गया। इस प्रकार आठों सात्त्विक भाव मानो आपसमें प्रतिद्वंद्विता करते हुए अर्जुनके अंगोंमें समा गये जिससे उसके जीवको ब्रह्मानन्दका राज्य प्राप्त हो गया; किन्तु इस प्रकारके आत्मानन्दके अनुभवके बाद भी उसकी दृष्टिमें द्वैतभावका अस्तित्व बना ही रहा। यही कारण है कि पार्थने एक ठण्डी साँस लेकर यहाँ-वहाँ देखा और जिधर भगवान् विराजमान थे, उधर ही उसने उनको सिर झुकाकर नमन किया और फिर हाथ जोड़कर उसने कहना शुरू किया। (२४२—२५४)

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अर्जुनने कहा—"हे स्वामिन्। मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। सचमुच आपने मुझपर विलक्षण कृपा की है, क्योंकि इसी कृपाके कारण आज मुझ-जैसे साधारण व्यक्तिको भी यह अद्भुत विश्वरूप देखनेका

सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पर हे गोस्वामिन्! आपने यह बहुत ही अच्छा काम किया है और मुझे भी इससे अत्यन्त संतोष हुआ है, क्योंकि आज मुझे यह बात प्रत्यक्षत: दिखायी पड़ी है कि आप ही इस सृष्टिके आधार हैं। हे देव! जैसे मन्दरगिरिके पठारपर सर्वत्र जंगली पशुओंके दल इकट्ठे रहते हैं, वैसे ही चतुर्दश भुवनोंके अनेक संघ आपके शरीरपर झूलते हुए दृष्टिगत होते हैं। विस्तृत आकाशमें जैसे तारागण रहते हैं अथवा किसी विशाल वृक्षमें जैसे अनेक पक्षियोंके घोंसले झूलते रहते हैं, वैसे ही हे श्रीहरि! आपके इस विश्वमय शरीरमें स्वर्ग और उसमें रहनेवाले देवगण मुझे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हे प्रभु, इस शरीरमें महाभूतोंके अनेक पंचक और भूत-सृष्टिका प्रत्येक भूतसमूह मुझे दृष्टिगत हो रहा है। हे स्वामी! आपके पूरे शरीरमें सत्यलोक प्रतिष्ठित है; फिर भला यह कैसे सम्भव है कि उसमें दृष्टिगत होनेवाले ब्रह्मदेव न हों? यदि दूसरी तरफ दृष्टि दौड़ायी जाय तो कैलाश भी दिखायी देता है। हे देव! आपके शरीरके एक अंशमें भवानीसहित श्रीमहादेव भी दिखायी पड़ते हैं। सिर्फ यही नहीं, हे हृषीकेश स्वयं आप भी अपने इस विश्वरूपमें दिखायी देते हैं। इसमें कश्यप इत्यादि ऋषिगण और नागसमुदायके सहित पाताल भी दिखायी देता है। किंबहुना, हे त्रैलोक्यपति! आपके रूपके एक-एक अवयवकी भीतिपर चतुर्दश भुवनोंके चित्र अंकित दिखायी पड़ते हैं। इन भुवनोंके जो-जो लोक हैं, वे सभी इसमें चित्रित दिखायी देते हैं। इस प्रकार आपके अगाध महत्त्वकी अलौकिकता आज मुझे दृष्टिगोचर हो रही है। (२५५—२६५)

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिंपश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

इस दिव्य दृष्टिके सहयोगसे जो मैं चतुर्दिक् देखता हूँ, तो मुझे यह दिखायी पड़ता है कि आपके भुजदण्डोंसे आकाशके अंकुरोंके सदृश आपके अनेक अग्रहस्त निकले हुए हैं और उनमेंसे प्रत्येक अग्रहस्त सब

प्रकारके व्यापार कर रहे हैं। आपके ये अपार उदर मुझे उसी प्रकारके जान पड़ते हैं, जिस प्रकार अव्यक्त ब्रह्मके विस्तारमें अनेक ब्रह्माण्डोंके भण्डार खुले हुए दिखायी पड़ते हैं। इस शरीरमें एक ही कालमें सहस्र शीर्षत्वकी करोड़ों आवृत्तियाँ होती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो परब्रह्मरूपी वृक्षमें ये सहस्रों मस्तकरूपी फल अपने बोझसे हिल रहे हैं। हे विश्वमूर्ति! आपके सारे मुख मुझे दृष्टिगोचर हो रहे हैं और उनकी आँखोंके रंगोंके अनेक समुदाय भी मैं देख रहा हूँ। सिर्फ यही नहीं, स्वर्ग, पाताल, भूमि, दिशा और आकाश इत्यादि समस्त बातोंका यहाँ अवसान हो जाता है तथा सब यहाँ मूर्तिमान् ही दिखायी देते हैं। मेरी इच्छा यही है कि मुझे परमाणुके बराबर भी कोई ऐसा अवकाश दिखायी पड़े जिसमें आप न हों; पर मेरी यह चेष्टा व्यर्थ हो रही है, क्योंकि आपने सभीको व्याप्त कर रखा है। असंख्य प्रकारके इतने महाभूत इसमें इकट्ठे हैं, जिनके विस्तारकी गिनती ही नहीं हो सकती और हे अनन्त! उनका वह समग्र विस्तार आपसे ही व्याप्त हुआ दृष्टिगत होता है। ऐसी महत्तावाले आप कहाँसे आये हैं, आप यहाँ बैठे हैं अथवा खड़े हैं, आप किस माताके गर्भमें थे, आपका स्थान कितना बड़ा था, आपकी उप आकृति कैसी है, आपका वय कितना है, आपके उस पार और क्या है, आपका मूलाधार क्या है, इत्यादि बातें जब मैं देखने और विचारने लगा तो मुझे यही दिखायी पड़ा कि आप स्वयं ही अपने मूलाधार हैं और आप किसी अन्यसे उत्पन्न नहीं हुए हैं। इस प्रकार आप अनादि और स्वयंसिद्ध हैं। आप न तो खड़े ही हैं और न बैठे ही हैं। आप न ऊँचे ही हैं और न ठिगने ही हैं। नीचे तलपर और ऊपर, हे प्रभु! सर्वत्र आप ही हैं। हे देव! अपना रूप, यौवन, पीठ और पेट सब कुछ स्वयं आप ही हैं। किंबहुना, हे अनन्त! बारम्बार देखनेपर मुझे यही ज्ञात होता है कि अपना सर्वस्व आप ही हैं; परन्तु आपके रूपमें केवल एक कमी दृष्टिगत होती है कि उसमें आदि, मध्य और अन्त—इन तीनोंमें एक भी नहीं है। आप सब

जगहोंमें विद्यमान हैं; पर इसका पता कहीं नहीं लगता। इसीलिये यहाँ निश्चितरूपसे यह निर्णय होता है कि आपमें ये तीनों बातें एकदम नहीं हैं; इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तसे रहित हे विश्वनाथ! मैंने वास्तवमें आपके विश्वरूपका दर्शन कर लिया है। हे प्रभु! आपकी इस महामूर्तिमें ही भिन्न भिन्न समस्त मूर्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं और ऐसा जान पड़ता है कि आपने अनेक रंगोंके ये अँगरखे ही धारण कर रखे हैं अथवा ये भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ आपके शरीररूपी महापर्वतपर निकली हुई बेलें ही हैं और वे दिव्यालंकाररूपी पुष्पों और फलोंसे लदी हुई हैं अथवा हे देव! आप महासिन्धु हैं और इन मूर्तिरूपी तरंगोंसे हिल रहे हैं अथवा आप कोई विशाल वृक्ष हैं और ये मूर्तियाँ उस वृक्षके फलोंकी भाँति लगी हैं। हे स्वामी! जैसे भूतमात्रसे भरा हुआ भूमण्डल दिखायी पड़ता है अथवा नक्षत्रोंसे भरा हुआ आकाश होता है, वैसे ही असंख्य मूर्तियोंसे भरा हुआ आपका स्वरूप दिखायी देता है। जिन मूर्तियोंमेंसे एक-एक मूर्तिके अंगोंसे तीनों लोक उत्पन्न तथा विलीन होते हैं, वे समस्त मूर्तियाँ आपके शरीरपर मानो रोमोंकी भाँति दिखायी देती हैं। अब यदि मैं यह जानना चाहूँ कि इतना अधिक विस्तार रखनेवाले आप हैं कौन तो मुझे यह पता चलता है कि आप मेरे ही सारथी श्रीकृष्ण हैं। अतः हे मुकुन्द! मैं समझता हूँ कि आप सदा ऐसे ही व्यापक रहते हैं और अपने भक्तपर कृपा करनेके लिये ही इस प्रकारका प्रेममय स्वरूप धारण करते हैं। वह चतुर्भुजस्वरूप देखते ही मन और आँखें जुड़ा जाती हैं और यदि आलिंगन करनेके लिये हाथ आगे बढ़ाये जायँ तो वह रूप सहजमें उपलब्ध भी हो जाता है। हे विश्वरूप! ऐसा सुन्दर रूप आप मुझपर अनुग्रह करनेके लिये ही धारण करते हैं न? अथवा वह मेरा दृष्टि-दोष है, जिसे आप ऐसे साधारण दिखायी देते हैं? जो हो, पर अब तो मेरी दृष्टिका दोष निकल गया है और आपने सहजमें ही मुझे दिव्य दृष्टि प्रदान कर दिया है। इसीलिये मैं आपकी वास्तविक महिमाका

ठीक-ठीक स्वरूप देख सका हूँ। मैं अच्छी तरहसे यह जान चुका हूँ कि मेरे रथके मकरमुखी जूएके पीछेकी ओर आसीन आपहीका यह सारा विश्वरूप है। (२६६—२९३)

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

हे श्रीहरि! आपके मस्तकपर अवस्थित यह वही मुकुट है जो बराबर रहता है, पर उसकी इस समयकी प्रभा और विशालता कुछ विलक्षण ही है। हे विश्वमूर्ति! ऊपरवाले हाथमें आप उसी प्रकार चक्र धारण किये हुए हैं कि मानो अभी उसे चलाना ही चाहते हैं। हे विश्वनाथ! जो चीज इसमें पहले दृष्टिगोचर होती थी, वह इस समय नहीं है। दूसरी ओर क्या यह वही जानी-पहचानी गदा नहीं है और नीचेके ये दोनों शस्त्ररहित और रिक्त हाथ अश्वोंकी लगाम पकड़नेके लिये आगे बढ़ रहे हैं। हे विश्वेश! अब यह बात भी मैं अच्छी तरहसे जान गया हूँ कि मेरे इच्छा करते ही और उतने ही वेगसे जितना वेग उस इच्छामें था, आप एकदमसे विश्वरूप हो गये। पर यह कितना अद्भुत चमत्कार है। यह देखकर चकित होनेके लिये विस्मयके जितने सामर्थ्यकी जरूरत होती है, उतना सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है। मेरा चित्त यह आश्चर्य देखकर मोहित हो जाता है। यह विश्वरूप यहाँ है अथवा नहीं है, इस बातका भी मेरे मनमें ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाता। इस मूर्तिकी प्रभाकी नवलताका भला मैं क्या वर्णन करूँ? यह सम्पूर्ण विश्व इसमें किस प्रकार भरा हुआ रखा है। इस तेजकी प्रखरता ऐसी है कि इसके समक्ष अग्निकी दृष्टि भी मन्द पड़ जाती है और सूर्य भी खद्योतकी भाँति फीका पड़ जाता है। इस प्रचण्ड तेजके महासिन्धुमें मानो पूरी सृष्टि ही डूब गयी है अथवा प्रलयकालकी विद्युत्‌ने सारा आकाश आच्छादित कर रखा है अथवा संसारके प्रलयकालकी अग्नि-ज्वालाको तोड़कर मानो हवामें यह ऊँचा मण्डप बनाया गया है। मेरी दिव्यज्ञानरूपी दृष्टिसे भी यह दृश्य देखा नहीं जाता। इसकी देदीप्यमान प्रभा हर पल इतनी

बढ़ रही है और इसका तेज तथा दाहकता इतना विलक्षण है कि इसकी ओर देखनेपर दिव्य नेत्र भी व्याकुल हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महारुद्रके तीसरे नेत्रमें महाप्रलयाग्निका जो भण्डार गुप्त था, वही मानो उस नेत्रकी कली खोलकर बाहर निकल पड़ा है। इस प्रकार चतुर्दिक् विस्तृत दाहक प्रकाशमें पंचाग्निकी ज्वालाके भँवर उठते ही मानो सारा ब्रह्माण्ड कोयला हो रहा है। हे स्वामी! आपका ऐसा अद्‌भुत तेजोमय स्वरूप मैंने आज ही देखा है। आपकी व्यापकता और तेजस्विताकी थाह ही नहीं लगती। (२९४—३०६)

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

हे देव! श्रुति जिसे तलाशती है, वह अक्षर और ओंकारकी साढ़े तीन मात्राओंके परे आप ही हैं। जो समस्त आकारोंका मूल है और जिसमें सारा संसार समाविष्ट है; वह अव्यय गूढ़ और अविनाशी तत्त्व आप ही हैं। आप ही धर्मके जीवन हैं, आप ही अनादि-सिद्ध हैं, नित्य नूतन हैं। आप ही सैंतीसवें तत्त्व हैं और समझता हूँ कि हे विश्वेश! आप ही पुराणपुरुष भी हैं। आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं, आप स्वयंसिद्ध और अपार हैं और आपकी भुजाएँ तथा चरण विश्वव्यापी हैं। चन्द्र और सूर्यरूपी नेत्रोंसे आप प्रसाद और कोपकी लीला बराबर दिखाते रहते हैं। आप किसीपर तमोरूपी नेत्रोंसे देखते हुए उसपर कोप करते हैं और किसीपर अपनी कृपादृष्टि बनाये रखते हैं। हे प्रभु! आपका इस प्रकारका स्वरूप अच्छी तरहसे मैं ही देख रहा हूँ। आपका यह मुख प्रलयाग्निकी भाँति दिखायी दे रहा है। पर्वतोंपर फैलनेवाली दावाग्निमेंसे जिस प्रकार वस्तुमात्रको भस्म करती हुई ज्वालाकी लपटें निकलती हैं; उसी प्रकार आपकी जिह्वा दाढ़ोंको चाटती हुई दाँतोंमें लपलपा रही है।

इस मुखके दाह और सर्वांगके तेजसे यह सम्पूर्ण विश्व तपकर अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है। (३०७—३१४)

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

स्वर्ग और पाताल, पृथ्वी और अन्तराल, दसों दिशाएँ और चतुर्दिक् छाये हुए क्षितिजके वर्तुल—इन सबको मैं एकमात्र आपसे ही भरा हुआ कुतूहलसे देख रहा हूँ। पर आकाशसहित इन सबको इस भयानक रूपने मानो निगल रखा है अथवा आपके इस रूपके अद्भुत रसकी तरंगोंमें चतुर्दश भुवन आ पड़े हैं। फिर भला ऐसे अद्भुत दृश्यका मेरी बुद्धि किस प्रकार आकलन कर सकती है? यह असाधारण व्यापकता किसी प्रकार मर्यादित नहीं की जा सकती और तेजकी यह प्रखरता सहन नहीं की जा सकती। संसारका सुख तो दूर रहा, वह प्राणधारण ही अत्यन्त कठिनतासे कर रहा है। हे देव! न जाने क्यों आपका यह रूप देखकर भयकी बाढ़ आ जाती है? अब इस दुःखकी तरंगोंमें तीनों लोक डूबे जा रहे हैं। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो आपके इस माहात्म्यके दर्शनमें भय होनेकी क्या जरूरत है? पर आपके दर्शनके जिस गुणका अनुभव मुझे हो रहा है, निःसन्देह उसमें सुख लेशमात्र भी नहीं है। जबतक आपका स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, तभीतक जगत्को सांसारिक सुख अच्छा मालूम पड़ता है, परन्तु अब आपके विश्वरूपके दर्शन हो जानेपर विषय-इच्छाकी ओरसे विकर्षण हो गया है और चित्तमें उद्वेग उत्पन्न हुआ है। आपका यह रूप देखनेपर क्या आपको प्रेमालिंगन किया जा सकता है और यदि ऐसा आलिंगन न किया जा सकता हो तो फिर कोई इस शोक-संकटमें निवास ही कैसे कर सकता है? यदि आपका परित्याग कर कोई पीछे हटता है तो यह जीवन-मृत्युका अपरिहार्य संसार मुँह बाये हुए सम्मुख खड़ा दिखायी देता है और उसे पीछे भी नहीं हटने देता और यदि वह आगे बढ़े तो आपका यह विलक्षण और अतर्क्य रूप

सहन नहीं होता। इस प्रकार बीचमें ही संकटापन्न तीनों भुवन भुने जा रहे हैं। इस समय मेरे अन्तःकरणकी ठीक ठीक यही अवस्था हुई है। जैसे कोई पहले अग्निसे जल जाय और जलन दूर करनेके लिये समुद्रकी तरफ जाय और वहाँ समुद्रमें उठनेवाली तरंगोंको देखकर और भी अधिक भयग्रस्त तथा व्याकुल हो जाय। बस, ठीक वही दशा इस जगत्‌को भी हो रही है। वह आपको देखकर सिर्फ तिलमला रहा है। (३१५—३२६)

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

इनमेंसे उस पार गये हुए जो ज्ञानसम्पन्न देवताओंके उत्तम समुदाय हैं ये आपके अंगकान्तिसे सब कर्मोंके बीज जलाकर उत्तम भावनाके बलपर आपके स्वरूपमें मिल जाते हैं। इधर कुछ ऐसे हैं जो स्वभावतः भयभीत हैं और ये सब प्रकारसे आपके सम्मुख होकर करबद्ध प्रार्थना कर रहे हैं कि हे देव! हमलोग अविद्या-सिन्धुमें पड़े हुए हैं, विषयोंके जालमें उलझे हुए हैं और स्वर्ग तथा संसारके बीचकी विषम-अवस्थामें फँसे हुए हैं; अब आपके अतिरिक्त इस संसारसे हमको कौन उबार सकता है? इसीलिये हमलोग विशुद्ध अन्तःकरणसे आपकी शरणमें आये हैं। बस इसी प्रकारकी बातें वे देवता आपसे कह रहे हैं और इधर महर्षियों, सिद्धों और विद्याधरोंके समूह कल्याणसूचक वचनोंसे आपकी स्तुति कर रहे हैं। (३२७—३३१)

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या-
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा-
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

रुद्रादित्योंके समूह, अष्ट वसु, समस्त साध्यदेव, दोनों अश्विनीकुमार, विश्वेदेव और वायुदेव—ये सब अपने वैभवसहित तथा अग्नि, गन्धर्व, यक्ष,

राक्षस और इन्द्रादि देवता तथा सिद्ध इत्यादि भी अपनी-अपनी जगहसे उत्सुक दृष्टिसे आपकी यह देदीप्यमान महामूर्ति देख रहे हैं और देखते-देखते अपने अन्तःकरणमें विस्मयपूर्ण होकर अपने मस्तक, हे प्रभो! आपके चरणोंपर रख रहे हैं। वे अपने जयघोषसे सातों स्वर्गोंको गुँजा रहे हैं और दोनों हाथ जोड़कर अपने मस्तकपर रखकर आपको नमन कर रहे हैं। इन विनयरूपी वृक्षोंके अरण्यमें सात्त्विक भावोंका वसन्तकाल सुशोभित हो रहा है और उनके कर-सम्पुटरूपी पल्लवोंमें आपका रूप-फल स्वतः लटक रहा है। (३३२—३३७)

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

हे महाराज! आज इनके आँखोंका भाग्योदय हुआ है और मनके लिये सुखका सुसमय उदित हुआ है; क्योंकि इन्होंने आज आपके अगाध विश्वरूपके दर्शन किये हैं। तीनों भुवनोंको व्याप्त करनेवाला आपके इस रूपका दर्शन कर देवतालोग भी चौंक पड़ते हैं; पर आज उस स्वरूपके दर्शनोंका सौभाग्य एक अधमको भी मिल रहा है। इस प्रकारका यह रूप एक ही है, पर अनेक प्रकारके विचित्र और भयानक मुखों, अनेक नेत्रों, सशस्त्र अनगिनत हाथों, अनगिनत जाँघों, अनगिनत भुजदण्डों तथा चरणों, अनेक उदरों तथा वर्णोंसे युक्त यह स्वरूप है। हर एक मुखमें कैसा आवेश भरा हुआ है! मानो विश्व-प्रलयके अन्तमें संतप्त यमने इधर-उधर प्रलयाग्निकी अँगीठियाँ जला रखी हैं अथवा ये संसारका संहार करनेवाले भगवान् शिवके यंत्र हैं अथवा प्रलय उपस्थित करनेवाले भैरवोंकी टोलियाँ अथवा ऐसे पात्र हैं जिनमें भूतमात्रकी खिचड़ी पकानेकी शक्ति है बस, हे देव! ठीक इसी प्रकार आपके प्रचण्ड मुख चतुर्दिक् दृष्टिगोचर हो रहे हैं; जैसे कोई विशालकाय सिंह गुफामें न समाता हो और उसकी कोपमुद्रा गुफाके बहुत कुछ बाहर दृष्टिगत होती है,

वैसे ही आपके भयंकर दाँत मुखके बाहर निकले हुए दिखायी देते हैं। जैसे घनघोर रात्रिका सहारा लेकर घात करनेवाले पिशाच बड़े आनन्दसे बाहर निकलते हैं, वैसे ही प्रलयके नाशके रक्तसे लथपथ आपकी दाढ़ें मुखसे बाहर निकल रही हैं। सिर्फ यही नहीं, आपके मुखपर भयंकरता इस प्रकार दृष्टिगोचर हो रही है कि मानो कालने युद्धको आमंत्रित किया हो अथवा प्रलयने मृत्युका पोषण किया हो। इस बेचारी लोक-सृष्टिपर जब आपकी थोड़ी-सी भी दृष्टि पड़ जाती है, तब वह वैसे ही दु:खसे संतप्त दिखायी पड़ती है जैसे कालिन्दीके तटपर कालिय-विषसे संतप्त वृक्ष दिखायी पड़ते हैं। आप मानो महामृत्युके समुद्र हैं और उसमें यह तीनों लोकके जीवनकी नौका शोकरूपी बादलोंसे घिरी हुई और आँधीमें पड़ी हुई निरन्तर हिल रही है। हे प्रभु! यदि इसपर भी आप रुष्ट होकर यह कहें कि तुम्हें इन लोगोंके लिये इतनी चिन्ता करनेकी क्या जरूरत है? तुम सानन्द इस विश्वरूपके दर्शनका सुख भोगो। तो हे महाराज! इसके उत्तरमें मेरी प्रार्थना है कि मैंने इन लोगोंकी कहानीकी ढाल निरर्थक ही बीचमें रख ली है। यदि आप पूछें कि मैंने ऐसा क्यों किया है, तो इसका एकमात्र कारण यह है कि मारे भयके स्वयं मेरे ही प्राण थर-थर काँप रहे हैं। यह ठीक है कि मुझसे प्रलयंकारी रुद्र भी भय खाता है तथा यम भी मुझसे भयभीत होकर छिप जाता है; पर वही मैं इस समय थर-थर काँप रहा हूँ। इस समय आपने मेरी ऐसी ही स्थिति कर दी है; परन्तु हे तात! यह रूप एक विचित्र महामारी है। इसका नाम विश्वरूप भले ही हो, पर इसने अपनी भयंकरतासे स्वयं भयको भी हार मनवा दी है। (३३८—३५२)

नभ:स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

भयंकरतामें महाकालको भी जीतनेवाले आपके ऐसे अनेक क्रोधपूर्ण

मुख हैं, जिनके विस्तारके समक्ष आकाश भी अत्यल्प जान पड़ता है। इनमेंसे वह भाप निकल रही है, जो आकाशके विस्तारमें भी नहीं समा सकती और जिसे तीनों लोकको वायु भी न आच्छादित कर सकती है और न रोक सकती है; वह भाप स्वयं अग्निको भी जला रही है, इस मुखसे अग्निकी लपटें किस ढंगसे बाहर आ रही हैं। फिर सारे मुख एक समान नहीं हैं और उनमें वर्ण-भेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रलयाग्नि संसारका नाश करनेके लिये मानो इन्हींकी सहायता लेती है। जिस स्वरूपके शरीरकी तेजस्विता इतनी प्रबल है कि उसके समक्ष तीनों लोक जलकर राख हो सकते हैं, उसी स्वरूपमें ये समस्त मुख हैं और उन मुखोंमें भी ऐसे विशाल, भयंकर तथा दृढ़ दाँत और दाढ़ें हैं। मानो वायु भी धनुर्वातके चपेटमें पड़ गया हो अथवा स्वयं समुद्र ही भयंकर बाढ़का शिकार हो गया हो अथवा बड़वानलका आश्रय लेकर विषाग्नि ही सर्वनाश करनेके लिये तत्पर हुई हो अथवा हलाहल अग्निको ग्रास बना रहा हो अथवा सबसे बढ़कर आश्चर्यजनकरूपमें मृत्युको ही किसी अन्य मृत्युका सहयोग मिला हुआ हो; बस इसी प्रकार इस सर्वविनाशकारी तेजमें ये मुख निकले हुए जान पड़ते हैं। और मैं क्या बतलाऊँ कि ये मुख कितने विशाल हैं! ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो आकाश टूटनेपर जिस तरह आकाशमें छेद पड़ जाता है अथवा पृथ्वीको बगलमें दबाकर हिरण्याक्ष विवरमें प्रविष्ट कर गया हो अथवा पातालके महादेवने पातालकी गुफा खोल दी हो; बस इसी प्रकारका इन मुखोंका विस्तार है। इस प्रकारके मुखोंमें जिह्वाकी भयंकरता तो और भी आश्चर्यजनक है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति समझती है कि यह चराचर जगत् मेरे लिये एक भरपूर निवाला (ग्रास) भी नहीं है और इसीलिये वह कौतूहलसे ही इसे निगल नहीं रही है। जैसे पातालके नागोंकी फुफकारसे विषकी ज्वाला आकाशपर्यन्त जा पहुँचती है, वैसे ही इस विस्तृत मुखके गुफा-सदृश जबड़ेमें यह जिह्वा फैली हुई है। जैसे प्रलयकालकी विद्युत्के जालमें

गन्धर्वनगरके मेघसमूह सजे हुए दृष्टिगत होते हैं; वैसे ही इन होठोंके बाहर चमकनेवाली ये तीक्ष्ण दाढ़ें दिखायी देती हैं और इस ललाटपटपरकी आँखें तो मानो स्वयं भयको भी भय दिखलाकर उसे दबा रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महामृत्युके दल घनघोर अन्धकारमें छिपे हुए बैठे हैं। हे देव! ऐसा डरावना स्वाँग बनाकर आप कौन-सा अभीष्ट कार्य सिद्ध करना चाहते हैं? और तो कुछ मेरी समझमें नहीं आता, पर यह बात एकदम ठीक है कि मुझे अपनी मृत्युका अवश्य भय हो रहा है। महाराज! आपके विश्वरूपको देखनेकी जो मैंने इच्छा की थी उसका यथेष्ट फल मुझे प्राप्त हो गया। हे स्वामी! मैं आपका रूप देख चुका और अब मेरी आँखें भी पूर्णतया तृप्त हो गयी हैं; अब यह जड़ शरीर रहे अथवा चली जाय तो मुझे इससे कोई हानि नहीं है; पर अब तो मुझे यही चिन्ता सता रही है कि मेरा यह चैतन्य भी बचता है अथवा नहीं और यदि यह चीज न हो तथा डरसे सिर्फ शरीर ही काँपे, पलभरके लिये मन भी अधिक संतप्त हो अथवा बुद्धि भी कदाचित् कुछ क्षणके लिये भयग्रस्त हो जाय अथवा अभिमान भी विलगित हो जाय, पर इन सबसे भी और जो केवल आनन्दकी मूर्ति ही है वह मेरी निश्चल अन्तरात्मा भी आज काँप उठी है। इस साक्षात्कारका बड़ा ही प्रताप है! मेरा सारा बोध आज जाता रहा। यह गुरु-शिष्यवाला सम्बन्ध भी किस प्रकार बना रह सकेगा?

हे देव! आपके इस स्वरूपके दर्शनसे मेरे अन्तःकरणमें जिस दुर्बलताका उदय हुआ है, उसे सँभालनेके लिये मैं उसपर धैर्यका यदि आवरण डालना चाहता हूँ तो मुझे ऐसा भान होता है कि मेरा सारा धैर्य ही समाप्त हो गया है, क्योंकि उस धैर्यको भी आपके इस विश्वरूपके दर्शन हो गये हैं। पर जो हो; फिर भी मुझे एक बहुत सुन्दर उपदेश अवश्य प्राप्त हुआ है कि जीव विश्राम पानेकी अभिलाषासे यहाँ-वहाँ भटकता-फिरता है, पर उस बेचारेको यहाँ आकर कोई थाह ही नहीं मिलती।

इस प्रकार हे महाराज! इस विश्वरूपकी महामारीसे इस चराचरका जीवन नष्ट हो गया है। हे प्रभु! यदि मैं इन सब बातोंको न कहूँ तो मैं शान्त कैसे रह सकता हूँ? (३५३—३७४)

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

जैसे मिट्टीका बहुत बड़ा बर्तन फूट जाय वैसे ही आपके ये विशाल और भयंकर मुख मुझे अपने समक्ष विस्तृत दृष्टिगोचर होते हैं। केवल इतना ही नहीं, उनमें दाँतों तथा दाढ़ोंका अद्भुत जमाव होनेके कारण और होंठोंकी ओटमें उनके न समा सकनेके कारण दोनों होंठोंपर मानो नाना प्रकारके प्रलयकालके शस्त्रोंकी बाढ़-सी लगी है। जैसे तक्षकको नूतन विष मिल जाय अथवा कालरात्रिमें भूत संचरण करें अथवा अग्न्यास्त्रपर विद्युत्का पुट चढ़े, ठीक वैसे ही आपके प्रचण्ड मुखमें भरा हुआ आवेश बाहर निकल रहा है और ऐसा ज्ञात होता है कि इस आवेशके रूपमें हमलोगोंपर मृत्युकी लहर ही आ रही है। जब सारे संसारका नाश करनेवाली प्रचण्ड वायु और कल्पान्त समयकी प्रलयाग्निका मिलन होता है, तब भला ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है जो उन दोनोंके मिलनसे भस्म न हो जाय? इसी प्रकार आपके ये प्रचण्ड मुख देखकर भला मेरा धैर्य मुझे त्यागकर क्यों न चला जाय? इस समय मैं अपनी सुध-बुध खो दिया हूँ। यहाँतक कि मुझे दिशाएँ भी नहीं दिखायी पड़तीं और स्वयं अपना भी भान नहीं होता। मैंने अभी आपका थोड़ा-सा ही विश्वरूप देखा है और इसका दर्शन करते ही मेरे समस्त सुखोंका अवसान हो गया। बस, हे देव! अब आप अपने इस अपार और विस्तृत विश्वरूपको समेट लीजिये; हे स्वामी! इसे समेट लीजिये। यद्यपि

मुझे यह पता होता कि आप ऐसा करोगे (अर्थात् भयंकर विश्वरूप दिखाओगे) तो मैं 'यह विश्वरूप मुझे दिखाओ' ऐसा क्यों कहता? तो मैं यही कहूँगा कि अब आप एक बार अपने इस रूपकी संहारक कृतिसे मेरे जीवनकी रक्षा करें। हे अनन्त! यदि आप मेरे स्वामी हों तो आप मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिये अपनी ढाल आगे बढ़ावें और इस महामारीका प्रलयंकर विस्तार समेटकर फिर इसे पूर्ववत् अपने स्वरूपमें गुप्त रखें। हे देवोंके देव! इस विश्वको बसानेवाले एकमात्र चैतन्य आप ही हैं, परन्तु यह बात भूलकर आज आपने उलटे सर्वनाशका ही कार्य शुरू कर दिया है। यह क्या बात है? हे देवाधिदेव! अब आप प्रसन्न होइये। आप अपनी इस मायाका अवसान करें तथा मुझे भयमुक्त करें मैं इतनी देरसे बारम्बार आपसे बहुत ही दीनतापूर्वक प्रार्थना कर रहा हूँ।

हे विश्वमूर्ति! आज मैं इतना भीरु बन गया हूँ और वही मैं पहले ऐसा था कि जब अमरावतीपर शत्रुका आक्रमण हुआ था, तब मैंने अकेले ही उस आक्रमणका सामना किया था और प्रत्यक्ष कालका मुख देखनेपर भी मुझे जरा-सा भी भय नहीं हुआ था, परन्तु हे प्रभु. आजकी यह घटना कुछ ऐसी-वैसी नहीं है। इस समय तो आप कालको भी मात करके सारे संसारके साथ मुझे भी ग्रसना चाहते हैं। यदि सचमुचमें देखा जाय तो यह कोई प्रलयका काल नहीं था; पर न जाने क्यों बीचमें ही आपके इस कालस्वरूपके दर्शन हो गये और तत्क्षण ही यह बेचारा त्रिभुवन अल्पायु हो गया। अहो, कैसा विपरीत भाग्य है। मैंने तो शान्ति पानेकी चेष्टा की थी; पर बीचमें यह विघ्न आ उपस्थित हुआ। हाय, हाय! अब तो यह सारा विश्व ही डूब गया। हे स्वामी! क्या आप सचमुच इस विश्वको निगल जाना चाहते हैं? क्या मुझे स्पष्टरूपसे यह दिखायी नहीं पड़ रहा है कि आप अपने ये अनगिनत मुख फैलाकर चतुर्दिक् इन सेनाओंको निगल रहे हैं। (३७५—३९१)

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

ये कौरवकुलके समस्त वीर और अन्धे धृतराष्ट्रके लड़के सपरिवार आपके मुखमें प्रवेश करनेहीवाले हैं और जो इनके सहायक देश-देशके राजे-महाराजे आये हुए हैं, उन सबको आप इस प्रकार निगल जाना चाहते हैं कि फिर पीछे कोई उनका नामलेवा भी न रह जाय। हाथियोंके झुण्ड और महावतोंकी टोलियाँ भी आप निगलते चले जा रहे हैं। तोपचियों और पैदल सिपाहियोंके समूह भी आप खाते चले जा रहे हैं। जो कृतान्त (यम)-के भाई-बन्धु हैं और जिनमेंसे प्रत्येक समस्त विश्वको चबा सकता है, उन करोड़ों शस्त्रोंको भी आप निगल रहे हैं। हाथी, अश्व, रथ, पैदल, सबकी चतुरंगिणी सेनाएँ और घोड़े जुते हुए रथोंको आप बिना दाँत गड़ाये ही निगलते चले जा रहे हैं। पर हे देव! यह पता नहीं चलता कि इसमें आपको कौन-सा बहुत बड़ा आनन्द मिलता है। सत्य और शौर्यमें जिनके समकक्षका अन्य कोई नहीं है, उन भीष्म और ब्राह्मण द्रोणाचार्यको भी आपने खा लिया है। अहा, सूर्यपुत्र वीरवर कर्ण भी इसमें प्रविष्ट हो गया और देखिये मेरे पक्षके वीरोंको तो आप कचरेकी (केशोंकी) भाँति उड़ाते चले जा रहे हैं अर्थात् नष्ट कर रहे हैं। हे विधाता! भगवान्‌के इस अनुग्रहसे कैसी विपरीत स्थिति बन गयी कि मैंने आपसे 'अपना विश्वरूप दिखा दो' ऐसी प्रार्थना करके इस दीन जगत्‌पर अच्छा-खासा संकट बुला बैठा। पहले आपने अपनी दिव्य विभूतिका थोड़ा-बहुत वर्णन करके उसे स्पष्ट किया था; पर उतनेसे ही मेरा मन नहीं भरा। मैं और भी अधिक विभूति जाननेका हठ कर बैठा। इसलिये यही मानना पडता है कि प्रारब्ध कभी टलता नहीं। भवितव्यताके अनुसार व्यक्तिकी बुद्धि भी हो जाती है। लोग मेरे ही सिरपर इसका ठीकरा फोड़नेको थे। फिर भला यह बात कैसे न होती?

पूर्वकालमें जिस समय देवताओंको अमृत मिला हुआ था, उस समय

देवोंको उससे भी सन्तोष नहीं हुआ था। इसीलिये जैसे कालकूट उत्पन्न हुआ था—पर एक हिसाबसे उस कालकूटको भी निम्न श्रेणीका ही जानना चाहिये, कारण कि उसका प्रतीकार हो सकता था और उस समय भगवान् शिवने सब लोगोंको उस संकटसे मुक्त भी किया था—परन्तु अब इस प्रज्वलित वायुरूपी विश्वरूपको कौन रोक सकता है, यह विषसे भरा हुआ आकाश अब कौन निगल सकता है? महाकालके साथ खेलनेकी सामर्थ्य भला किसमें हो सकती है?" इस प्रकार दु:खसे व्याकुल होकर अर्जुन अपने हृदयमें शोक कर रहा था, पर श्रीकृष्णका अभिप्राय उसकी समझमें नहीं आया। जो अर्जुन यह कह रहा था कि मैं मारनेवाला हूँ तथा ये सब कौरव मरनेवाले हैं और इस प्रकार वह जो मोहपाशमें जकड़ा हुआ था, उसका वह मोह मिटानेके लिये ही उन श्रीकृष्णने अपना यह स्वरूप उसको विशेषरूपसे दिखाया था। श्रीकृष्ण उस समय विश्वरूपके व्याजसे अर्जुनको यह बताना चाह रहे थे कि कोई किसीको मारता नहीं। मैं ही सबका संहार करता हूँ; परन्तु अर्जुनको फिर भी इस बातका ज्ञान नहीं होता था कि मेरा यह दु:ख अकारण है। इसीलिये उसका वह अहेतुक और व्यर्थ शोक भयको निरन्तर बढ़ाने लगा। (३९२—४०९)

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

फिर अर्जुनने कहा—"देखिये, जैसे गगनमें बादल समा जाते हैं; वैसे ही दोनों ओरकी सेनाएँ खड्गों और कवचोंके सहित आपके मुखमें समा गयीं। महाप्रलयके अन्तमें जब सृष्टिपर कृतान्त (यम) कोप करता है, तब वह जैसे पातालसमेत इक्कीसों स्वर्गोंको लपेटकर निगल लेता है अथवा दैवके विपरीत होनेपर जैसे एक एक पैसा इकट्ठा करनेवालोंकी सारी सम्पत्ति जहाँ-की-तहाँ अपने-आप विनष्ट हो जाती है, वैसे ही शस्त्र-अस्त्रोंसे सुसज्जित ये दोनों सेनाएँ एकमें मिलकर आपके मुखमें

प्रविष्ट हो गयी हैं; पर दैवकी गति ऐसी है कि उनमेंसे एक भी आपके मुखसे छूटकर बाहर नहीं निकल रहा है। जैसे ऊँटके चबानेसे अशोक वृक्षकी कोमल पत्तियाँ एकदम बेकार हो जाती हैं; वैसे ही ये लोग भी आपके मुखमें समाकर विनष्ट हो रहे हैं। दाँतोंके बीचमें पड़े हुए मुकुटोंके सहित सबके सिर किस प्रकार चूर-चूर होते हुए दिखायी देते हैं, उन मुकुटोंके रत्नोंमेंसे कुछ रत्न इन्हीं दाँतोंमें उलझ गये हैं, कुछ चूर-चूर होकर जिह्वाके मूलपर फैल गये हैं और कुछ दाढ़ोंके अग्रभागमें लगे हुए हैं। यह सब देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वरूप कालने लोगोंके शरीर बलपूर्वक ग्रस लिये हैं, परन्तु जीव-देहके सिर्फ ये मस्तक जान-बूझकर छोड़ दिये हैं। इसी प्रकार पूरे शरीरमें ये मस्तक ही सर्वोत्तम थे और इसीलिये वे महाकालके मुखमें प्रविष्ट होकर भी अन्ततक बच रहे हैं।" इसके उपरान्त अर्जुन फिर कहने लगा—"जिसने जन्म धारण किया है, उसके लिये इसके अलावा अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। यह सारा जगत् स्वयं ही इस मुखमें समा रहा है। यह बात ठीक है अथवा नहीं? इस सृष्टिमें बनी हुई समस्त वस्तुएँ स्वतः इस मुखमें प्रविष्ट हो रहीं हैं और यह विश्वरूप महाकाल चुपचाप जहाँ-का-तहाँ पड़ा हुआ है और जिस समय ये सब वस्तुएँ उसके सन्निकट आती हैं, उस समय वह शान्तचित्तसे उन सबका भक्षण करता चलता है। ब्रह्मा इत्यादि समस्त देव ऊँचे मुखमें समा रहे हैं और ये सामान्य वीर इधरवाले छोटे मुखमें प्रविष्ट हो रहे हैं। दूसरे कुछ जीव ऐसे भी हैं कि वे जहाँ उत्पन्न होते हैं, वहीं निगल लिये जाते हैं; परन्तु यह कहीं नहीं दिखायी पड़ता कि कोई इस मुखकी चपेटसे बच निकला हो। (४१०—४२२)

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा-
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

जैसे महानदियोंका प्रवाह बड़े वेगसे समुद्रके विस्तारमें समा जाता है, ठीक वैसे ही चारों ओरसे आकर यह समस्त जगत् इसी मुखमें प्रविष्ट हो रहा है। ये समस्त प्राणिगण आयुष्यके मार्गपर अहर्निशकी सीढ़ियाँ बनाकर बड़े वेगसे इस मुखमें प्रविष्ट हो रहे हैं। (४२३-४२४)

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा-
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

जैसे प्रज्वलित पर्वतकी कन्दराओंमें पतंगोंके झुण्ड-के-झुण्ड स्वतः आ टपकते हैं; वैसे ही ये सब लोग भी कूद-कूदकर इस मुखमें गिर रहे हैं, परन्तु जैसे तप्त लौह जलका शोषण कर लेता है, वैसे ही इस मुखमें जो-जो आ गिरते हैं वे सब-के-सब जलकर राख हो जाते हैं। उन सबके नाम-रूप व्यवहारतः मिटते चले जा रहे हैं। (४२५-४२६)

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

किन्तु इतना खानेपर भी इसकी भूख जरा-सा भी कम नहीं होती, प्रत्युत उनमें कुछ तीव्रता ही आ जाती है। जैसे कोई रुग्ण व्यक्ति ज्वरसे मुक्त होनेपर अथवा कोई भिक्षुक अकाल पड़नेपर अपने होंठ चाटता है, वैसे ही यह लपलपाती हुई जिह्वा भी होंठ चाटती हुई प्रतीत होती है। फिर इस मुखके विषयमें एक और बात है। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो इस मुखके लिये अखाद्य हो—जो कुछ इसके सम्मुख उपस्थित होता है, उन सबको यह निगल जाता है, यह भूख भी व्यक्तिको एकदम अचम्भित करनेवाली और बहुत ही अनोखी है। हे देव! आपके इस स्वरूपका कुछ ऐसा स्वाभाविक भूखापन दिखायी देता है कि मानो आप हमेशा

यही सोचते रहते हैं कि इस समुद्रको एक घूँटमें पी जाऊँ अथवा इस पर्वतको एक ही ग्रासमें चबा जाऊँ अथवा इस ब्रह्माण्डको ही अपनी दाढ़के नीचे रख लूँ अथवा दसों दिशाओंको ही ग्रस लूँ अथवा इन तारोंको ही निगल जाऊँ। जैसे विषयोंके भोगसे कामकी और भी वृद्धि होती है अथवा ईंधन डालनेसे अग्नि और भी अधिक भड़कती है, वैसे ही निरन्तर खाते रहनेसे इस मुखकी भूख उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दिखायी देती है। इनमेंसे एक ही मुखको देखिये कि वह किस प्रकार खुला हुआ है। इसमेंकी जिह्वापर पड़ा हुआ तीनों लोक बड़वानलमें पड़े हुए कैथकी तरह जान पडता है। इस स्वरूपमें ऐसे अनगिनत मुख हैं और यद्यपि इन सबके लिये यथेष्ट आहार मिलना सम्भव नहीं है, पर फिर भी कौन जाने, इनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ी हुई क्यों है? हे देव! यह बेचारा जीवलोक इन मुखोंकी ज्वालामें वैसे ही उलझ गया है, जैसे दावाग्निके चपेटमें मृग पड़ जाते हैं। इस समय इस विश्वकी ऐसी ही स्थिति हो रही है। ये देव नहीं हैं, अपितु अनिष्ट कर्मोंके भोग ही प्रकट हुए हैं अथवा ऐसा ज्ञात होता है कि जगत्‌रूपी जलचरोंको कालरूपी जालमें फँसा लिया गया है। अब इस विश्वरूपके अंग-प्रभाके पाशसे चराचरका किस प्रकार छुटकारा होगा? ये मुख नहीं हैं, अपितु जगत्‌के लिये प्रज्वलित लाक्षागृह ही हैं। स्वयं अग्निको यह बात कभी समझमें नहीं आ सकती कि अग्निमें पड़कर जलना कैसा होता है और उससे कितना क्लेश मिलता है, परन्तु हाँ, जो उस प्रखर तापका शिकार होता है, उसे अपने प्राण ही गँवाने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे उसका छुटकारा नहीं होता अथवा जैसे शस्त्रको इस बातका पता नहीं रहता कि मेरी तीक्ष्णताके कारण दूसरोंकी कैसे मृत्यु होती है अथवा जैसे विष अपना मारक-गुण नहीं जानता, वैसे ही, हे प्रभो! आपको अपनी भयानक तीव्रताका जरा-सा भी बोध नहीं है। परन्तु इधर-वाले इन मुखोंसे जगत्‌की एकदम खाई बन गयी है। हे प्रभु! यदि आप

समस्त जगत्में व्याप्त रहनेवाले सिर्फ आत्मस्वरूप ही हैं; तो फिर आज आप हमलोगोंपर अन्तककी भाँति घातक होकर क्यों टूट पड़े हैं? ऐसी विषम परिस्थिति आ खड़ी हुई है, अतएव अब मैंने भी अपने जीवनकी आशा छोड़ दिया है और आप भी निःसंकोच अपने मनकी सब बातें स्पष्टरूपसे कह डालें। यह उग्ररूप अब और कितना बढ़ेगा? हे स्वामी! आप अपना भगवन्तपन याद करें और नहीं तो कम-से-कम मुझपर ही अनुग्रह करें। (४२७—४४३)

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो-
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

"हे वेदोंके जाननेयोग्य, त्रिभुवनके आदिकारण, विश्ववन्द्य! एक बार मेरी विनम्र प्रार्थना तो सुनिये।" यह कहकर उस वीरशिरोमणि अर्जुनने भगवान्के चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया और तब फिर कहना प्रारम्भ किया—"हे सर्वेश्वर! आप जरा इधर ध्यान दें। मैंने तो सिर्फ अपना समाधान करनेके लिये आपसे विनम्र प्रार्थना किया था कि मुझे अपना विश्वरूप दिखलाइये और आप तो ये तीनों लोक बिलकुल निगलने ही लग गये। ऐसी स्थितिमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं? आपने ये अनगिनत भयंकर मुख किसलिये निकाले हैं और अपने सब हाथोंमें आपने ये सब शस्त्र किसलिये धारण किये हुए हैं? आप तो विस्तृत होते-होते इतने फैल गये हैं कि गगन भी अब आपके सम्मुख बहुत छोटा मालूम पड़ता है। आप ये भयानक आँखें फैलाकर मुझे डरा क्यों रहे हैं? हे देव! आपने इस समय सबका भक्षण करनेवाले कृतान्त (यम)-के साथ प्रतिस्पर्धा करना क्यों शुरू कर दिया है? अपना अभिप्राय मुझे साफ-साफ बतलावें।" इसपर अनन्तभगवान्ने कहा—"यदि तुम यह पूछते हो कि मैं कौन हूँ और ऐसा उग्ररूप धारण करके क्यों इतना बढ़ता चला जा रहा हूँ?(४४४—४५०)

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

—तो सुनो! मैं वास्तवमें काल हूँ और लोक-संहारके लिये ही बढ़ रहा हूँ। यह देखो, मेरे अनन्त मुख फैले हुए हैं और अब यह सम्पूर्ण विश्व मैं निगल जाऊँगा।" यह सुनकर अर्जुनने मन-ही-मन कहा कि हाय! हाय! उस पहलेवाले संकटसे ही इतना व्याकुल हो गया था और इसीलिये मैंने इनसे यह प्रार्थना की थी; पर अब यह उससे भी भयंकर उग्रता दिखला रहे हैं जिसके सम्मुख पूर्ववाली उग्रता कोई चीज ही नहीं थी। उधर भगवान्‌ने भी अपने मनमें विचार किया कि मैंने जो यह कड़ा जवाब दिया है उससे अर्जुन और भी संतप्त हो जायगा, इसलिये उन्होंने झटसे यह कह दिया कि इसमें एक बात और है, वह यह कि तुम पाण्डवलोग इस संसाररूपी संकटसे पूर्णतया बाहर हो। यह सुनकर अर्जुनको कुछ ढाढ़स बँधा और उसके प्राण निकलते निकलते बचे। वह मृत्युरूपी महामारीके अधीन हो गया था; पर अब उसके होश कुछ ठिकाने हुए और वह फिर श्रीकृष्णके वचनोंकी ओर चित्त लगाने लगा। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन! यह बात तुम सदा अपने ध्यानमें रखो कि तुम पाण्डवलोग मेरे हो। तुमलोगोंके सिवाय अन्य शेष लोगोंको निगल जानेके लिये मैं इस समय तत्पर हुआ हूँ। जैसे प्रचण्ड बड़वानलमें मक्खनकी गोली डाल दी जाय, वैसे ही तुम देख रहे हो कि यह समस्त जगत् मेरे मुखमें पड़ा हुआ है, इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। ये सेनाएँ मिथ्या अभिमानसे ऐंठ रही हैं, पर इनकी सारी ऐंठन व्यर्थ है। इस चतुरंगिणी सेनाके पराक्रमका अभिमान मानो महाकालसे स्पर्धा कर रहा है। देखो, इनपर शौर्य-वृत्तिका कैसा मद चढ़ा है। वे कहते हैं कि हम एक दूसरी

सृष्टिकी रचना कर सकते हैं। प्रतिज्ञा करके मौतको ही मौतके घाट उतार सकते हैं। केवल यही नहीं, इस समस्त जगत्‌को एक ही घूँटमें पी सकते हैं, पूरी पृथ्वीको चबा सकते हैं, आकाशको ऊपर-ही-ऊपर भस्म कर सकते हैं तथा अपने बाणोंकी शक्तिसे पवनको भी एक ही स्थानपर रोककर जर्जर कर सकते हैं। ये सैनिकोंकी टोलियाँ एक जगह इकट्ठी होकर अपने शौर्यकी कृतियोंमें फूली नहीं समातीं और वीर अपनी सेनाओंकी प्रशंसा करते हुए उन्हें यमराजसे भी बढ़कर भयंकर बतलाते हैं। इनके वचन शस्त्रोंसे भी तीक्ष्ण हैं, इनकी आकृति अग्निसे भी अधिक दाहक है और इनकी घातकताके समक्ष कालकूट विष मधुर ही जान पड़ता है। पर ये सब गगनमें दृष्टिगोचर होनेवाले बादलोंके गन्धर्वनगर अथवा सिर्फ पोलेपिण्ड ही हैं। ये वीर सचमुच चित्रमें बने हुए फलोंके ही सदृश हैं। हे पार्थ! यह एकमात्र मृगजलकी बाढ़ है। यह कोई सेना नहीं है, अपितु कपड़ेका बनाया हुआ सर्प है अथवा शृंगार कर रखी हुई कोई गुड़िया है। (४५१—४६५)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

इनमें चेष्टा करनेवाला जो बल है वह तो मैंने पहले ही हर लिया है। अब जो वीर बचे हुए दिखायी देते हैं, वे सिर्फ कुम्भकारके द्वारा बनाये हुए निर्जीव पुतले हैं। जब कठपुतलियोंको बाँधकर रखनेवाली और उनसे नृत्य करानेवाली डोरी टूट जाती है, तब वे कठपुतलियाँ स्वतः वैसे ही धड़ाधड़ गिर पड़ती हैं, जैसे धक्का देनेसे कोई गिर जाता है और वे पुत्तलिकाएँ गिरकर उलटी-पुलटी हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार अब इन सेनाओंके उलटकर गिर पड़नेमें कुछ भी समय न लगेगा। अतएव हे अर्जुन! अब तुम तुरन्त उठो और कुछ बुद्धिमत्ता दिखलाओ। तुमने

गो-ग्रहणके अवसरपर कौरव-सेनाओंपर एकदमसे मोहनास्त्रका प्रयोग किया था और जब उससे समस्त सेनाएँ मूर्च्छित हो गयी थीं तब राजा विराटके कायर पुत्र उत्तरके द्वारा तुमने शत्रुपक्षके लोगोंका वस्त्र छिनवा लिये थे और उन्हें नंगा करा दिया था। पर इस समयका कार्य तो उससे भी कहीं सूक्ष्म हो गया है। इस रणभूमिकी ये समस्त सेनाएँ तो पहले ही मृत्युका वरण कर चुकी हैं। अब इन पहलेसे मृत पड़ी सेनाओंका नाश कर डालो और यह कीर्ति सम्पादन करो कि अकेले अर्जुनने ही सारे शत्रुओंका विनाशकर विजयश्री प्राप्त की थी और फिर तुम्हें यह केवल कीर्ति ही नहीं मिलेगी, अपितु इसके साथ-ही-साथ समग्र राज्य-लक्ष्मी भी तुम्हारे हाथ लगेगी। अतएव हे सव्यसाची! अब इन सब कार्योंमें तुम केवल निमित्तमात्र ही बनो। (४६६—४७१)

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

तुम द्रोणकी चिन्ता मत करो, भीष्मका भय मत मानो और अपने अन्त:करणमें इस बातकी शंका मत करो कि इस कर्णपर मैं कैसे शस्त्र चलाऊँ। तुम यह भी चिन्ता न करो कि अब मैं जयद्रथको किस उपायसे मारूँ। इनके अलावा और भी जो बड़े-बड़े शूरवीर हैं, उन सबको तुम सिर्फ चित्रोंमें बने हुए प्रचण्ड सिंहकी ही भाँति समझो और इनका वैसे ही नाश कर डालो, जैसे चित्रांकित सिंहोंकी पंक्तियाँ हाथोंसे पोंछ डाली जाती हैं। हे पाण्डव! क्या इतनी बातें बतला देनेके बाद भी युद्धभूमिमें जमे हुए इन सैनिकोंका कुछ महत्त्व बाकी रह जाता है? अरे, यह सब भ्रममात्र है। जो कुछ वास्तविक था, उसको तो मैं पहले ही नष्ट कर चुका हूँ। जिस समय तुमने इन शूरवीरोंको मेरे मुखमें प्रवेश करते हुए देखा था, उसी समय उनके आयुका अन्त हो चुका था। अब यहाँ जो

कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब सिर्फ छिलका ही छिलका है, इसलिये अब तुम झटपट उठो। जो लोग पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, उन सबको अब तुम मार डालो और मिथ्या शोक मत करो। जैसे क्रीड़ामें स्वयं ही कोई लक्ष्य बनाकर खड़ा किया जाता है और फिर स्वयं ही बाणसे उसका वेध किया जाता है वैसे ही मैं ही इन सबका कर्ता भी हूँ और हन्ता भी हूँ। मैंने तो तुम्हें सिर्फ एक दिखावटी साधन बना रखा है। हे सुहृद्! तुम्हें जिस चीजकी चिन्ता सता रही थी, वह चीज अब एकदम नहीं है। अतएव अब तुम सानन्द उस कीर्तिका भोग करो जिसमें सारा वैभव भरा पड़ा है। हे किरीटी! तुम जगत्‌की जिह्वापर ऐसी लिपि लिखकर विजय सम्पादित करो कि स्वभावतः जो भाई-बन्धु अपने ऐश्वर्यके मदसे मतवाले हो रहे थे और जो अपनी शक्तिके कारण पूरे विश्वको भारस्वरूप प्रतीत होते थे, उन्हें एकदम सहजमें और अनायास ही अर्जुनने बिलकुल नष्ट कर डाला।" (४७२—४८१)

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं-
सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

ज्ञानदेव कहते हैं कि हे श्रोतागण! इस प्रकारकी यह पूरी कथा संजय उस अपूर्ण मनोरथ कौरवपति धृतराष्ट्रको सुना रहा है। जैसे सत्यलोकसे निकली हुई गंगा प्रचण्ड घोषसे धड़धड़ाती हुई नीचे आयी थी, वैसे ही गम्भीर वाणीसे जब भगवान्‌ने अर्जुनसे यह कहा अथवा जैसे भयंकर मेघोंके समूह एकदमसे सिरपर आकर गड़गड़ाने लगते हैं अथवा जिस समय मन्दर गिरिसे क्षीरसिन्धुका मन्थन किया गया था, उस समय उस मथानीको मथनेसे जैसा भीषण शब्द हुआ होगा, उसी प्रकारकी गम्भीर वाणीमें जब विश्वकन्द अनन्तस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने इन वाक्योंका

उच्चारण किया, उस समय प्रभुके शब्द अर्जुनको कुछ यों ही-से सुनायी पड़े और न जाने वे शब्द सुननेसे उसे सुख हुआ अथवा भय जान पड़ा, पर यह ठीक है कि उस समय उसका शरीर थर-थर काँपने लगा। वह इतना झुक गया कि मानो उसके शरीरकी पोटली बँध गयी हो और वह उसी दशामें करबद्ध होकर अनेक बार भगवान्‌के चरणोंपर अपना मस्तक रखने लगा। उसी समय उसके मनमें विचार आया कि मैं अब कुछ कहूँ; पर उसका गला इतना अवरुद्ध हो गया कि उसके मुखसे शब्द ही नहीं निकलता था। अब इसका विचार आपलोग स्वयं ही कर लें कि भगवान्‌की बातें सुनकर उसे सुख हुआ था अथवा उसके मनमें भय उत्पन्न हुआ था। यदि आप यह जानना चाहें कि अर्जुनकी उस समयकी इस दशाका पता मुझे कैसे चला, तो मैं यह कहूँगा कि इस श्लोकके शब्दोंसे ही मुझे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि श्रीकृष्णकी बातें सुनकर उस समय अर्जुनकी ऐसी ही दशा हुई होगी। फिर उसी प्रकार डरते-डरते चरण-वन्दना करके अर्जुनने कहा—"हे महाराज! आपने अभी यह कहा है कि— (४८२—४९०)

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

हे अर्जुन! मैं काल हूँ और संसारको निगल जाना मेरा यह एक खेल है। हे स्वामी! मैं यह मानता हूँ कि आपकी यह वाणी अटल सत्य है। परन्तु विचारकी कसौटीपर यह बात कुछ खरी नहीं उतरती कि आज संसारकी स्थिति अथवा अस्तित्वका समय होनेपर भी आप अपना काल-स्वरूप प्रकट करके सारे संसारको निगल रहे हैं। शरीरमें भरा हुआ तारुण्य किस प्रकार निकाला जा सकता है और उसकी जगहपर असमयमें

ही वृद्धावस्था भला कैसे भरी जा सकती है? इसीलिये आप जो कुछ कह रहे हैं, वह प्रायः असम्भव-सा जान पड़ता है। हे अनन्तभगवान्! क्या चार पहर पूरे होनेसे पूर्व ही बीचमें भी कभी सूर्यास्त होता है? यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो आप अखण्डित कालस्वरूप हैं और आपके तीन पृथक्-पृथक् कार्योंके लिये अलग-अलग समय नियत हैं और उनमेंसे प्रत्येक समय अपने-अपने क्षेत्रमें सबल रहता है। जिस समय उत्पत्ति होने लगती है, उस समय स्थिति और प्रलयका अभाव रहता है और स्थितिकालमें उत्पत्ति तथा प्रलय उपस्थित नहीं रहता। तदनन्तर, जिस समय प्रलयकाल आता है उस समय उत्पत्ति और स्थितिके लिये कोई स्थान नहीं रहता। इस अनादि परिपाटीमें किसी कारण भी कोई अन्तर नहीं होता और इस समय जगत्‌का ठीक उपभोगका स्थितिकाल है और इसीलिये यह बात मेरे अन्तःकरणमें नहीं बैठती कि आप इसी समय उसे निगल लेना चाहते हैं तथा उसका नाश कर डालना चाहते हैं।" उस समय भगवान्‌ने संकेतसे यह कहा कि हे अर्जुन! यह बात मैंने तुम्हें अभी प्रत्यक्ष करके दिखला दी है कि इन दोनों सेनाओंकी आयु पूरी हो गयी है। पर यदि सचमुच देखा जाय तो यह बात उचित अवसर आनेपर ही होगी। भगवान्‌को यह संकेत करते जरा-सी भी देर न हुई थी कि अर्जुनने जब फिरसे पीछेकी ओर मुड़कर देखा तो उसे सब बातें पूर्ववत् ज्यों-की-त्यों दिखायी पड़ीं। तब उसने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव! आप इस विश्वके नाटकके सूत्रधार हैं। मैं देख रहा हूँ कि यह सम्पूर्ण जगत् फिर अपनी पूर्व स्थितिमें पहुँच गया है; परन्तु हे श्रीहरि! इस समय मुझे आपकी इस कीर्तिका भी स्मरण हो रहा है कि दुःखरूपी समुद्रमें गोते खानेवाले जगत्‌का उद्धार करनेवाले भी आप ही हैं और समय-समयपर इस कीर्तिका स्मरण होनेसे जिस अपार सुखकी अनुभूति होती है उसी सुखामृतकी लहरोंपर मैं इस समय लहरा रहा हूँ। हे देव! जीवन धारण करनेके कारण ही यह जगत् आपपर प्रीति रखता है तथा दुष्टोंका अधिक-से-अधिक

संहार होता है। हे हृषीकेश! आप इस त्रिभुवनके दुष्ट राक्षसोंको अत्यन्त भयंकर जान पड़ते हैं और इसीलिये आप दसों दिशाओंके भी बाहर भाग जाना चाहते हैं और यहाँ आस-पास, हे महाराज! सुर, सिद्ध, किन्नर किंबहुना, यह चराचर आपके दर्शनसे आह्लादित होकर आपको नमन कर रहा है। (४९१—५०६)

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

हे नारायण! इसका क्या कारण है कि ये राक्षस आपके चरणोंमें नहीं पड़ रहे हैं और आपसे दूर भाग रहे हैं। परन्तु यह बात मैं आपसे ही क्यों पूछूँ? यह तो मैं भी जान सकता हूँ कि सूर्यके समक्ष अँधेरा टिक ही कैसे सकता है? हे स्वामी! आप स्वप्रकाशके आगार हैं और यदि आपके सम्मुख ये निशाचररूपी अँधेरा अपने-आप मिट जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इतने दिनोंतक यह बात मेरी पकड़से बाहर थी; परन्तु हे श्रीराम! अब आपकी सारी महिमाका भरपूर ज्ञान हो गया है। जिससे इस विविध सृष्टिकी बेलें निकलती हैं, जिससे जीवमात्रकी बेलोंका विस्तार होता है, यह विश्व-बीज महद्ब्रह्म ही आपके महासंकल्पसे उत्पन्न हुआ है। हे देव! आप सर्वदा निःसीम तत्त्वसे भरे हुए हैं। हे देव! आप निःसीम और अनन्त गुणोंसे ओत-प्रोत हैं हे देव! आप ही अत्यन्त साम्यकी अखण्डित अवस्था हैं और आप ही देवाधिपति भी हैं। हे देव! आप ही इन तीनों लोकोंके जीवन हैं। हे सदाशिव! आप अविनाशी तथा नित्य मंगलस्वरूप हैं। आप ही सत्-असत्—इन दोनोंसे परे रहनेवाले तत्त्व हैं। (५०७—५१३)

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

आप प्रकृति और पुरुषके आदि कारण हैं; आप ही महत्तत्त्वकी सीमा हैं। स्वत. अनादिसिद्ध पुरातन हैं। आप सम्पूर्ण विश्वके जीवन और मूल कारण हैं। भूत और भविष्यका ज्ञान केवल आपके ही हाथमें है। हे अभिन्न प्रभो! श्रुतिके आँखोंको आपके ही स्वरूपके दर्शनोंसे सुख होता है। आप ही तीनों भुवनोंके आधारके आधार हैं। इसीलिये आपको परम महाधाम कहा जाता है। कल्पान्तके समय महद्ब्रह्म आपमें ही प्रवेश करता है। किंबहुना, हे देव! इस समस्त संसारको आपने ही उत्पन्न करके इसका विस्तार किया है। फिर भला हे अनन्तरूप भगवन्! आपका वर्णन कौन कर सकता है? (५१४—५१८)

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

हे देव! ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसमें आप नहीं हैं, ऐसी कौन-सी जगह है जहाँ आप नहीं हैं। पर अब इन बातोंको छोड़िये आप चाहे जैसे हों, मैं आपको नमन करता हूँ। हे अनन्त! आप वायु हैं, सबका नियमन करनेवाले यम हैं और प्राणिमात्रमें रहनेवाले अग्नि भी हैं। आप वरुण और सोम हैं आप ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और उस विश्वपितामह ब्रह्माके आदि जनक हैं। इसके अतिरिक्त और जो-जो रूप हों अथवा अरूप हों; वह सब आप ही हैं। ऐसे जगन्नाथभगवान्‌को मैं नमन करता हूँ।'' पाण्डुपुत्र अर्जुनने इस प्रकार

अनुरागयुक्त चित्तसे भगवान्‌को नमन करके फिर कहना आरम्भ किया। "हे प्रभो! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। नमस्कार करता हूँ।" तदनन्तर, उसने भगवान्‌की श्रीमूर्तिको आपादमस्तक ठीक तरह देखकर बारम्बार नमस्ते, नमस्ते कहा। उस मूर्तिके पृथक्-पृथक् अवयवोंको देखकर उसे अत्यन्त समाधान हुआ और उसने फिर कहा कि हे प्रभो! नमस्ते, नमस्ते। इस चराचर जगत्‌के प्राणिमात्रमें उन्हींको देखकर उसने फिर कहा कि हे प्रभो, नमस्ते, नमस्ते। उसे इस प्रकार प्रभुके अत्यन्त आश्चर्यजनक अनन्त स्वरूपोंका जैसे-जैसे स्मरण होने लगा, वैसे-वैसे वह नमस्ते-नमस्ते कहने लगा। उसकी समझमें ही नहीं आता था कि इसके अलावा भगवान्‌की और कौन-सी स्तुति की जाय तथा उससे मौन भी नहीं रहा जाता था। उसे इस बातका भी ज्ञान नहीं रहा कि प्रेमावेशमें मैं क्या बका जा रहा हूँ। किंबहुना, उसने हजारों बार नमस्कार किया और फिर उसने कहा—"हे श्रीहरि! मैं आपके सम्मुख नमस्कार करता हूँ। मुझे इस बातसे कुछ भी सरोकार नहीं है कि प्रभुके पीठ अथवा पेट हैं अथवा नहीं, पर फिर भी, हे स्वामी! मैं आपके पृष्ठ-प्रान्तको भी नमस्कार करता हूँ। आप मेरे पृष्ठ भागमें मेरे पक्षमें खड़े हैं, इसीलिये मैं आपके पृष्ठ-प्रान्तका नाम लेता हूँ; परन्तु वास्तवमें आप न तो संसारके सम्मुख ही हैं और न उसकी पीठके पीछे ही हैं। मैं आपके अलग-अलग अवयवोंका वर्णन नहीं कर सकता; इसलिये हे सर्वात्मक देव! मैं आपके सर्वरूपको ही नमस्कार करता हूँ। हे महाराज! जिसकी शक्ति-सामर्थ्य अनन्त है, जो अमित पराक्रमी है, जो सभी कालोंमें समानरूपसे रहनेवाला है, जो सर्वरूप है, उसे मेरा नमस्कार है। जैसे आकाश ही समस्त आकाशको आच्छादित करके अवकाशरूपसे रहता है, वैसे ही आप भी अपने सर्वत्वसे सबमें व्याप्त रहते हैं। किंबहुना, आप ही अखिल विश्व हैं; परन्तु जैसे क्षीरसिन्धुमें क्षीरकी ही लहरें उठती हैं, ठीक वैसे ही यह सम्बन्ध है। इसीलिये, हे देव! अब यह बात मेरे अन्तःकरणमें ठीक-ठीक बैठ गयी है कि आप इस सारे संसारसे भिन्न नहीं हैं और यह सब कुछ आप ही हैं (५१९—५३६)

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं-
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥

पर हे स्वामी! आपके इस स्वरूपके सम्बन्धमें मुझे अबतक कुछ भी ज्ञात नहीं था, इसीलिये मैं अबतक आपके साथ सगे-सम्बन्धियों-जैसा ही व्यवहार करता था। यह मुझसे कैसी अनुचित बात हुई! मैंने अमृतका उपयोग आँगन सींचनेमें कर डाला। मैंने कामधेनुको घोड़ेका बछेड़ा समझ लिया। मेरे हाथ तो पारस पत्थर लगा था, पर उसे तोड़कर मैंने अपने घरकी नींवमें भर दिया। कल्पतरु काटकर उससे खेतका घेरा बना डाला। जैसे चिन्तामणिकी खान मिलनेपर कोई पत्थर समझकर उनका उपयोग पशुओंको हाँकनेमें कर डालता है, वैसे ही मैंने भी आजतक आपकी संगति सिर्फ सगा-सम्बन्धी ही समझकर की। भला और दूर क्यों जाऊँ; यह आजका ही प्रसंग देखिये। यह कितना बड़ा युद्ध है और इसमें मैंने आपको अपना सारथी बनाया है। हे दाता! इन कौरवोंके घर मैंने आपको बिचवई (मध्यस्थता) करनेके लिये भेजा था। इस प्रकार हे जगदीश्वर! मैंने अपने लाभके लिये मानो आपको खरीद ही लिया था। योगिजन समाधिमें आपका ही ध्यान करके सुख-भोग करते हैं; पर मुझ अज्ञानीको इस बातका कुछ भी पता नहीं लगा। और तो और, मैं सदा आपके सम्मुख अवरोध ही खड़ा किया करता था। (५३७—५४३)

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

आप इस विश्वके अनादि और आदि कारण हैं; परन्तु जिस समय आप सभामें विराजमान होते थे, उस समय मैं सगे-सम्बन्धीके नातेसे

हँसी मजाक भी किया करता था। मैं, जब कभी भी आपके घर जाता था वहाँ आप मेरा अत्यधिक सम्मान करते थे और यदि उस सम्मानमें आप जरा-सा भी कमी करते थे तो मैं अपने लाड़-प्यारके कारण आपसे रुष्ट भी हो जाया करता था। हे शार्ङ्गधर! मैंने आपके साथ अनेक बार इसी प्रकारका आचरण किया है, जिसके लिये अब मुझे आपके चरणोंपर गिरकर आपसे क्षमा माँगनी चाहिये। स्नेहके कारण मैं अनेक बार आपके सम्मुख पीठ करके बैठा हूँ, पर हे देव क्या इस प्रकार बैठना मेरे लिये उचित था? कभी नहीं। मैंने बहुत बड़ी भूल की। हे देव! कभी कभी मैं आपके गलेमें बाँहें डाल दिया करता था, अखाड़ेमें आपके साथ हुड़दंग मचाया करता था तथा उठा पटक किया करता था। चौपड़ खेलते समय बेईमानीकी चाल चलकर उलटे आपके साथ झगड़ा कर बैठता था। जिस समय कोई सुन्दर चीज दिखायी देती थी, उस समय आपसे यह हठ करता था कि पहले यह चीज मुझको ही मिलनी चाहिये। केवल इतना ही नहीं आपको अक्ल देनेमें भी मैंने कभी कोर-कसर नहीं छोड़ी और अनेक बार तो मैंने आपसे ऐसी अमर्यादित बातें भी कही हैं कि हम तुम्हारे कौन होते हैं? मेरा यह अपराध इतना विशाल है कि वह तीनों लोकोंमें भी नहीं समा सकता। पर हे देव! मैं आपके चरण छूकर कहता हूँ कि मुझसे ये सब त्रुटियाँ एकदम अनजानमें हुई हैं हे प्रभु! आप तो भोजनके समय मुझे याद करते थे, पर मेरा यह व्यर्थका अहंकार देखिये कि मैं उलटे आपसे रुष्ट होकर बैठ जाया करता था, आपके शयनकक्षमें आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता रहता था और आपकी शय्यापर आपके ही साथ सोया करता था। मैं आपको 'कृष्ण' कहकर बुलाया करता था; आपको भी दूसरे यादवोंकी भाँति समझा करता था और जब आप मेरे बुलानेपर मेरी बात अनसुनी करके जाने लगते थे, तब मैं आपको अपनी शपथ देकर रोकता था और ऐसा प्रायः किया करता था। एक ही आसनपर आपके साथ सटकर बैठा करता था अथवा आपकी

बातोंपर ध्यान नहीं देता था और परस्पर निकट सम्बन्ध होनेसे ऐसी धृष्टता मुझसे बार-बार हुई है। हे अनन्तप्रभु! इस प्रकारकी बातें मैं कहाँतक कहूँ। मैं समस्त अपराधोंकी राशि ही हूँ।

अतएव हे प्रभु! मैंने परोक्षरूपसे अथवा प्रत्यक्षरूपसे आपके साथ जो कुछ अपराध किये हों, उन सबको आप माताकी भाँति अपनी ममतारूपी पेटमें रख लें और मुझे क्षमा करें। जिस समय कोई नदी मटमैले जलको लेकर आती है, उस समय समुद्रको वह जल भी स्वीकार करना ही पड़ता है। इसके अलावा उसके लिये अन्य कोई उपाय ही नहीं होता। इसी प्रकार प्रीतिसे अथवा प्रमादसे मैंने आपके विरुद्ध जो-जो व्यवहार किये हों, वे सब, हे मुकुन्द! आपको अपने क्षमा-गुणके कारण सहन करने ही पड़ेंगे। हे देव! आपकी क्षमाशीलताके कारण ही इस जीव-सृष्टिमें यमका राज्य रह सकेगा। इसलिये हे पुरुषोत्तम! इस विषयमें आपकी जितनी विनती की जाय, वह सब थोड़ी ही होगी, पर फिर भी हे अप्रमेय! आप मुझ शरणागतको इन सब अपराधोंके लिये क्षमा करें। (५४४—५६०)

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

हे देव! अब आपकी वास्तविक महिमा मेरी समझमें पूरी तरहसे आ गयी है। आप ही इस चराचर जगत्‌के जन्मस्थान हैं; आप ही हरि और हर इत्यादि समस्त देवताओंके परम देवता हैं। वेदोंको भी आपसे ही ज्ञान प्राप्त हुआ है और आप ही आदि गुरु हैं। हे श्रीराम! आप भूतमात्रके साथ समानभावसे व्यवहार करते हैं। आप समस्त गुणोंमें अप्रतिम और अद्वितीय हैं। यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है कि आपके समान दूसरा कोई नहीं है। आप आकाश हैं और आपमें ही यह सारा संसार

समाविष्ट है। ऐसी स्थितिमें यह कहना सिर्फ लज्जाका विषय है कि आपकी ही भाँति और कोई सर्वव्यापी है। अब इस सम्बन्धमें और अधिक क्या कहा जाय! अतएव त्रिभुवनमें एकमात्र आप ही अद्वितीय हैं। आपकी समकक्षताका अथवा आपसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। आपकी महिमा अलौकिक और अवर्णनीय है।" (५६१—५६६)

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

अर्जुनने ये सब बातें कहकर भगवान्‌को दण्डवत् किया और तत्क्षण ही उसके शरीरमें सात्त्विक भावोंकी बाढ़-सी आ गयी। फिर वह गद्गद स्वरसे कहने लगा—"हे प्रभु! आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। इस अपराध-सिन्धुसे मुझे निकालें। आप समस्त जगत्‌के सुहृद् हैं; पर मैंने भाईचारेके नातेसे कभी आपका विशेष सम्मान नहीं किया। हे विश्वेश्वर! आपके साथ मैंने ऐसा आश्चर्यजनक और लज्जास्पद आचरण किया है। यदि सचमुच देखा जाय तो प्रशंसाके पात्र स्वयं आप ही थे; पर आपने भरी सभामें मेरी प्रशंसा की और मैं अहंकारपूर्वक बैठा हुआ डींग हाँकता रहा। हे मुकुन्द! मेरे ऐसे अपराधोंका कहीं अन्त ही नहीं है। इसलिये आप इन अपराधोंसे मुझे उबारें। मुझमें तो इस प्रकारकी क्षमा याचना करनेकी योग्यता नहीं है। परन्तु जिस प्रकार बालक अपने पिताके समक्ष बड़े प्रेमसे बोलता है और यदि उसका अपराध भी होता है, तो भी जिस प्रकार पिता अपने चित्तमें परायेपनका भाव न रखकर प्रेमसे उसके समस्त अपराध क्षमा कर देता है, उसी प्रकार आप भी मेरे सारे अपराध क्षमा करेंगे, मित्रका अपराध मित्र ही सहन करते हैं बस इसी प्रकार आप भी मेरा अपराध सहन करें। जैसे कोई प्रेमी व्यक्ति अपने किसी प्रेमी व्यक्तिसे सम्मानकी कामना नहीं करता, वैसे ही हे देव! आपने जो

मेरे घरमें जूठन उठायी और मैंने आपको उठाने दी, उसके लिये भी आप मुझे क्षमा करें अथवा जिस समय किसी घनिष्ठ और प्रियजनसे भेंट होती है, उस समय संसारमें अनुभव किये हुए समस्त संकटोंका वर्णन करनेमें कोई संकोच नहीं होता अथवा जब अपना तन, मन और आत्मा—इन तीनोंको पूर्णरूपसे अपने पतिको समर्पित कर चुकी कोई पतिपरायणा स्त्री मिलती है, तब उसके साथ बिना खुले दिलसे बातें किये रहा ही नहीं जाता। इसी प्रकार, हे गोस्वामी! मैंने भी आपसे विनती की है। इसके अतिरिक्त ये बातें कहनेका और भी एक कारण है। (५६७—५७८)

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

हे देव! विश्वरूपके दर्शन करानेका जो मैंने धृष्टतापूर्वक आपसे आग्रह किया, उसे तो इस विश्वके आप माता-पिताने अत्यन्त प्रेमपूर्वक पूरा कर दिया। मैंने ऐसे नाना प्रकारके हठ किये कि मेरे घरके आँगनमें कल्पतरुके झाड़ लग जायँ, कामधेनुके बछड़े मुझे क्रीड़ा करनेको मिलें। मेरे चौपड़ खेलनेके लिये नक्षत्रोंके पासे बनें और मुझे क्रीड़ा करनेके लिये चन्द्रमाका गेंद मिले और एक प्रेमपूर्ण माताकी भाँति आपने मेरे वे सभी हठ पूरे किये। जिस अमृत-बिन्दुको पानेके लिये अपार दुःख झेलना पड़ता है, उस अमृतकी आपने चातुर्मासभर वर्षा की और पृथ्वीकी जुताई करके मानो आपने क्यारी क्यारीमें चिन्तामणियोंकी बोआई कर दी. हे स्वामी! आपने इस प्रकारसे मुझे कृतार्थ किया है और बड़े दुलारसे मेरा पालन-पोषण किया है। आपने मुझे उस विश्वरूपके दर्शन कराये हैं जिस रूपके बारेमें कभी शंकर और ब्रह्माने कानोंसे भी नहीं सुना था। आपके जीवनका यह रहस्य देखना तो दूर रहा, पर जो उपनिषदोंके विचार-क्षेत्रमें भी नहीं आ सकता, वही रहस्य आज आपने खोलकर मेरे सामने रख दिया है।

हे स्वामी! कल्पारम्भसे लेकर आजतक मैंने जितने जन्म ग्रहण किये, यदि उन सब जन्मोंको अच्छी तरहसे निरीक्षण किया जाय तो भी कहीं यह पता नहीं चलेगा कि मेरे लिये कभी वह रहस्य देखने अथवा सुननेका प्रसंग आया था; मेरे अन्त:करणको भी कभी इस बातकी भनक भी नहीं मिली थी; तो फिर नेत्रोंको इसके प्रत्यक्ष दर्शनकी बात ही कहाँ रही। कहनेका आशय यह है कि मैंने आजतक कभी यह विश्वरूप न देखा था और न सुना था परन्तु वही विश्वरूप आज आपने मेरे आँखोंके सामने लाकर खड़ा कर दिया जिससे मेरा मन अत्यधिक आनन्दित हुआ है, परन्तु मेरे मनमें इस समय यह आता है कि मैं आपके साथ जी भरकर वार्तालाप करूँ, आपके सन्निकट रहूँ तथा आपको गले लगा लूँ। अब यदि मैं आपके इस विश्वरूपके साथ ये सब बातें करना चाहूँ तो मेरी समझमें यह नहीं आता कि आपके इन अनगिनत मुखोंमेंसे किस मुखके साथ मैं बातें करूँ और किसके गले मिलूँ, क्योंकि आपका यह स्वरूप सीमारहित है। ऐसी स्थितिमें भला वायुके साथ कैसे दौड़ा जा सकता है, गगनके गले कैसे मिला जा सकता है और अथाह सागरमें कैसे जल-क्रीड़ा की जा सकती है? हे देव! आपके इस स्वरूपसे मुझे डर लगता है, इसलिये अब आप मेरी यह एक लालसा और पूरी कर दें कि अपना यह विश्वरूप समेट लें। कौतुकसे इस चराचर जगत्‌का अवलोकन करनेके बाद जैसे यह जी चाहता है कि चुपचाप चलकर घरपर शान्तिपूर्वक पड़े रहें, वैसे ही आपका जो सौम्य चतुर्भुजस्वरूप है, वह मुझे विश्रामका स्थान जान पड़ता है। यदि मैंने योगमार्गका अभ्यास किया तो भी अन्तमें मुझे यही अनुभव करना पड़ेगा और यदि मैं शास्त्रोंका अवलोकन करूँगा तो भी अन्तत: यही सिद्धान्त मेरे हाथ लगेगा। यदि मैं यजन करूँ तो उनका भी यही फल होगा। तीर्थयात्रा भी इसीके निमित्त की जाती है। इसके अतिरिक्त और भी जितने दान-पुण्य इत्यादि मैं करूँगा, उनका भी फल यही आपका चतुर्भुजरूप है। मेरे मनमें उस चतुर्भुजरूपको देखनेकी बहुत बड़ी लालसा है और मैं उसे देखनेके लिये बहुत अधीर हो रहा हूँ। बस मेरी यही

एक चिन्ता आप शीघ्रातिशीघ्र दूर कर दें। हे सर्वान्तर्यामी! हे समस्त विश्वमें व्याप्त रहनेवाले! हे देवताओंके भी पूज्य! हे देवाधिदेव! अब आप प्रसन्न होइये। (५७९—५९९)

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

जिसके शरीरकी कान्ति नीलकमलके लिये भी आदर्श है, जो आकाशके रंगकी भी शोभामें वृद्धि करती है और जो इन्द्रनीलमें भी तेजस्विता लाती है, जिसकी कटिकी शोभासे मदनकी शोभा भी वैसी ही बढ़ती है, जैसे मरकतमणिमें मानो सुगन्ध उत्पन्न हुई हो अथवा आनन्दमें अंकुर प्रस्फुटित हुए हों, जिसके गोदका आश्रय पाकर मदन शोभायमान हो गया हो, जिसके विषयमें ऐसी भ्रान्ति होती है कि मस्तककी शोभा मुकुट बढ़ा रहा है अथवा मुकुटकी शोभा मस्तकसे बढ़ रही है—क्योंकि उस अंगकी शोभा ही शृंगारके लिये भूषण हो रही है—जिस प्रकार गगनमें इन्द्रधनुषपर मेघ दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही जिस शार्ङ्गपाणिने वैजयंती माला धारण कर रखी है और असुरोंको भी मोक्ष प्रदान करनेमें जो गदा इतनी उदार है और हे गोविन्द! जिसका चक्र अप्रतिम सौम्य तेजसे चमक रहा है, उसी सुन्दर रूपका दर्शन करनेके लिये मैं अधीर हो रहा हूँ। इसलिये हे स्वामी! अब आप अपना वही स्वरूप धारण करें। इस विश्वरूपको देख करके मेरी आँखें तृप्त हो चुकी हैं और अब ये आपकी कृष्णमूर्तिका दर्शन करनेके लिये लालायित हो रही हैं। अब इन आँखोंको उस सौम्य मूर्तिको देखनेके सिवा और कुछ भी भाता नहीं। उस मूर्तिके सम्मुख इन्हें इस विश्वरूपका कुछ भी महत्त्व नहीं जान पड़ता। हमलोगोंको उस मूर्तिके अलावा अन्यत्र कहीं भोग और मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिये

हे महाराज! अब आप अपना यह विश्वरूप समेटकर वही पहलेवाला सगुणरूप धारण करें। (६००—६०८)

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं-
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं-
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

अर्जुनकी ये सब बातें सुनकर उन विश्वरूपधारी श्रीकृष्णको अत्यन्त विस्मय हुआ। उन्होंने कहा—"मैंने तुम्हारे जैसा रूखा (अविचारी) व्यक्ति कहीं नहीं देखा। तुम्हें कैसी दिव्य वस्तुकी उपलब्धि हुई है, पर इस लाभसे भी तुम्हें सुख नहीं होता। न जाने तुम अपनी भीरुतासे ये सब बोल रहे हो अथवा अपनी हेकड़ीके कारण। जिस समय मैं सहजतः प्रसन्न होता हूँ, उस समय सिर्फ इस जड़-मर्यादातक ही सब कुछ देता हूँ और जबतक किसी सच्चे भक्तसे भेंट न हो, तबतक यह रहस्य भला और किसपर प्रकट किया जा सकता है? आज सिर्फ तुम्हारे लिये मुझे अपना यह गूढ़ रहस्य खोलकर यह विशाल विश्वरूप धारण करना पड़ा है। यह बात मेरी समझमें एकदम नहीं आती कि मैं तुम्हारे चक्करमें इतना क्यों पड़ गया हूँ। पर यह बात एकदम ठीक है कि मैं तुमपर प्रसन्न होकर पागल-सा हो गया हूँ और मैंने अपने आन्तरिक गूढ़ रहस्यकी मूर्ति पूरे विश्वके समक्ष प्रत्यक्षरूपसे उपस्थित कर दी है। मेरा यह स्वरूप अपरम्पार और परात्पर है। इसी स्वरूपसे कृष्ण इत्यादि अवतार उत्पन्न हुए हैं। यह स्वरूप ज्ञान तेजका साररूप है। यह विश्वरूप शुद्ध, अनन्त, अटल और सबका आदि बीज है। हे अर्जुन! तुम्हारे अलावा इससे पूर्व अन्य किसीने यह विश्वरूप न कभी देखा था और न सुना था, क्योंकि यह स्वरूप किसी साधनसे साध्य नहीं है। (६०९—६१६)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८ ॥

इस विश्वरूपके मार्गतक पहुँचते ही वेदोंने चुप्पी साध ली और यजनकर्ता स्वर्गसे लौट आये। जब साधकोंको इस बातका ज्ञान हुआ कि योग-साधनसे भी यह स्वरूप प्राप्त नहीं होता, अपितु कष्टकर ही होता है, तब उन्होंने योगाभ्यासका ही परित्याग कर दिया। इसी प्रकार अध्ययनसे भी यह स्वरूप प्राप्त नहीं होता। प्रथम श्रेणीके जो पुण्य कर्म हैं, वे भी बड़े आवेशसे चलकर जैसे-तैसे सत्यलोकतक ही पहुँच सके हैं। तपने इस रूपका सिर्फ ऐश्वर्य ही देखा है और इतनेसे ही उसकी सारी उग्रता खड़े-खड़े न जाने कहाँ चली गयी। इस प्रकार जो विश्वरूप तपकी परिधिसे बाहर और उससे बहुत दूर है, वह रूप आज तुमको अनायास ही देखनेको मिला है और नहीं तो मनुष्यलोकमें कभी किसीको इस विश्वरूपके दर्शन नहीं होते। इस पूरे विश्वमें एकमात्र तुम्हीं ऐसे व्यक्ति हो, जो इस रूप-सम्पत्तिसे सम्पन्न हो। इस प्रकारका परम भाग्य स्वयं ब्रह्माको भी प्राप्त नहीं हुआ है। (६१७—६२२)

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो-
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं-
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९ ॥

अतएव इस विश्वरूपके दर्शनका लाभ प्राप्त करके तुम अपनेको श्लाघ्य मानो और इससे रत्तीभर भी भय मत करो। अपने मनमें जरा-सा भी मत सोचो कि इससे बढ़कर और कोई दूसरी चीज भी हो सकती है। यदि अमृतसे भरा हुआ समुद्र अचानक मिल जाय तो क्या कभी कोई डूबनेके भयसे उसका परित्याग कर देगा? अथवा यदि किसी व्यक्तिको

स्वर्णका पहाड़ दिखायी पड़े तो क्या वह कभी यह समझकर उसकी अवहेलना करेगा कि यह इतना विशाल पर्वत यहाँसे कैसे ले जाऊँगा? यदि भाग्यसे चिन्तामणिका आभूषण मिल जाय तो उसे कोई अंगपर धारण करेगा अथवा बोझ समझकर उसे फेंक देगा? क्या कोई कामधेनुका पालन-पोषण करनेका सामर्थ्य मुझमें नहीं है, यह सोचकर उसका परित्याग कर देगा? यदि चन्द्रमा घरमें आवे तो क्या कभी कोई उससे यह कह सकता है कि तुमसे हमारा शरीर जल गया, इसलिये तुम यहाँसे निकल जाओ? अथवा यदि घरमें सूर्य प्रवेश करे तो क्या उससे कोई यह कहेगा कि दूर हटो, तुम्हारी परछाई पड़ती है और यदि कोई ऐसा कहे तो क्या उसका इस प्रकारका कथन बुद्धिमत्तापूर्ण समझा जायगा? इसी प्रकार मेरे विश्वरूपका परम तेजस्वी ऐश्वर्य आज आसानीसे ही तुम्हारे हाथ लगा है तो तुम इससे व्याकुल क्यों हो रहे हो? पर तुम मूढ़ हो और यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है।

हे धनंजय! अब मैं तुमपर क्या आक्रोश करूँ, परन्तु तुम वास्तविक शरीरका परित्याग कर सिर्फ छायाको ही गले लगाना चाहते हो। तुम यह बात अच्छी तरहसे जानते हो कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है, और वह वास्तविक स्वरूप नहीं है और तुम मेरे इस यथार्थस्वरूपसे भयभीत होकर बस चतुर्भुजरूपके साथ प्रेम करते हो, जो अच्छा नहीं है। तो भी, हे अर्जुन! अब तुम इस हठका परित्याग कर दो और इस चक्करमें मत पड़ो। यद्यपि यह विश्वरूप देखनेमें विकराल और प्रचण्ड है, तो भी सिर्फ यही स्वरूप वास्तविक है, यह बात तुम अपने मनमें अच्छी तरह जान लो। जैसे किसी कृपण व्यक्तिका चित्त सदा द्रव्यमें ही लगा रहता है और वह केवल शरीरसे ही व्यवहार करता है अथवा जैसे पक्षिणी अपना जीवन (चित्त) घोसलेमें पड़े हुए उन बच्चोंके पास, जिनके पंख अभी नहीं निकले हैं, छोड़कर आकाशमें उड़नेके लिये जाती

है अथवा गौ अपने बछड़ेके पास अपना वात्सल्यपूर्ण चित्त छोड़कर जंगलमें चरनेके लिये जाती है, वैसे ही तुम भी अपना प्रेम इसी स्वरूपसे बाँध रखो। हाँ, बाहरी मनसे, स्नेह-सुखके लाभके लिये, उस चतुर्भुज श्रीमूर्तिका ध्यान करो; पर फिर भी मैं बारम्बार तुमसे यही कहता हूँ कि तुम मेरा एक उपदेश कभी मत भूलो। वह यह कि तुम मेरे इस विश्वरूपपरसे कभी अपनी श्रद्धा मत हटने दो। तुम्हें इस विश्वरूपसे सिर्फ इसलिये भय हो रहा है कि इसे पहले तुमने कभी नहीं देखा था, परन्तु तुम उस भयका परित्याग कर इसी विश्वरूपपर अपना सारा प्रेम स्थिर करो।'' तदनन्तर, भगवान्‌ने कहा कि अब तुम जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करता हूँ, वह मेरा पहलेवाला स्वरूप अब तुम खुशीसे मन भरकर देखो। (६२३—६३९)

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

श्रीकृष्णने इन शब्दोंका उच्चारण करते ही फिर वह मनुष्यरूप धारण कर लिया। इसमें तो आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है, पर अर्जुनके प्रति भगवान्‌के मनमें जो प्रेम था, वह अवश्य ही आश्चर्यजनक है। श्रीकृष्ण मानो कैवल्य-धाम थे और उनका जो सार-सर्वस्व विश्वरूप था, वह उन्होंने अर्जुनके हवाले कर दिया था पर उनका वह स्वरूप अर्जुनको भाया नहीं। जैसे लोग पहले तो किसी व्यक्तिसे कोई चीज माँगते हैं और तब उसे उपेक्षापूर्वक अलग रख देते हैं अथवा किसी रत्नको देख-सुनकर उसमें छिद्रान्वेषण करते हैं अथवा वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये कन्याको देखने जाते हैं, तो उसे देखकर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं, ठीक वैसा ही व्यवहार उस समय अर्जुनने किया था। भगवान्‌ने तो

अर्जुनके प्रति अपना इतना अधिक प्रेम दिखलाया था कि उसे विश्वरूपतकका दर्शन करा दिया था। भला इससे अधिक वे अर्जुनके लिये और क्या कर सकते थे। स्वर्ण-खण्ड गलाकर उससे स्वेच्छानुसार आभूषण बनाया जाता है और यदि वह आभूषण पसन्द न आवे तो फिरसे गला डालनेके अलावा और दूसरा उपाय ही क्या है? बस अपने शिष्य अर्जुनके लिये श्रीकृष्णको भी उस समय ऐसा ही करना पड़ा था। पहले उनका चतुर्भुज कृष्णरूप था और उससे उन्होंने अपना विश्वरूप बनाया था, परन्तु वह रूप शिष्यको रुचिकर नहीं लगा, इसलिये उन्हें अब फिरसे वही कृष्णरूप धारण करना पड़ा था। इस हदतक अपने शिष्यका हठ माननेवाले गुरु भला और किस देशमें मिलेंगे? संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा "परन्तु यह पता नहीं चलता कि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके अन्तःकरणमें जो इतना अगाध प्रेम था, वह किसलिये था?"

तत्पश्चात् जो दिव्य तेज समस्त विश्वको व्याप्त करके उसके चतुर्दिक् फैला हुआ था, वह सब अब उस श्रीकृष्णरूपमें समाविष्ट हो गया। जैसे आत्मविचार करते समय 'त्वम्' पदका 'तत्' पदमें समावेश हो जाता है अथवा सम्पूर्ण वृक्षका अन्तर्भाव सूक्ष्म बीजमें हो जाता है अथवा स्वप्नकी सारी बातें जीवके जागनेपर लुप्त हो जाती हैं, वैसे ही श्रीकृष्णने अपने सगुणस्वरूपमें इस विश्वरूपका योग इकट्ठा करके रख लिया। यह बात भी उसी प्रकार हुई थी, जिस प्रकार सूर्यकी प्रभा सूर्यमें अथवा मेघ-समूह गगनमें अथवा समुद्रकी बाढ़ समुद्रमें समा जाती है। कृष्णमूर्तिके आकारमें विश्वरूप-वस्त्रकी तह लगी हुई रखी थी; उसे श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रेमसे प्रेरित होकर खोलकर अर्जुनको दिखला दिया; पर जब उन्होंने देखा कि उस वस्त्रकी लम्बाई-चौड़ाई और रंग इत्यादि भलीभाँति देख लेनेपर ग्राहकको वह वस्त्र पसन्द नहीं आया, तब उन्होंने उस वस्त्रको फिर पूर्वकी ही भाँति तह लगा ली। इस प्रकार जिस स्वरूपने अपने असीम विस्तारके कारण समस्त चीजोंको आच्छादित कर रखा था, वह स्वरूप

अब शान्त और सौम्य हो गया। आशय यह है कि उन अनन्तभगवान् श्रीकृष्णने फिर वही पुराना छोटा रूप धारण कर लिया और भयग्रस्त अर्जुनका फिरसे समाधान किया। जैसे स्वप्नावस्थामें कोई व्यक्ति एक बार स्वर्गमें जाकर सुखी होता है, पर अचानक जाग उठनेपर वह विस्मित होता है, ठीक वैसी ही दशा इस समय अर्जुनकी हुई थी अथवा जैसे सद्गुरुका अनुग्रह होनेपर समस्त प्रपंच-ज्ञान समाप्त हो जाता है और यथार्थ तत्त्वका ज्ञान होता है, ठीक वैसी ही दशा श्रीकृष्णकी मूर्तिके देखनेसे उस समय अर्जुनकी हुई थी। उस समय अर्जुनको ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे नेत्रोंके समक्ष विश्वरूपका जो पर्दा आ पड़ा था, वह अब हट गया, यह बहुत ही बढ़िया हुआ। उस समय जब अर्जुनने फिरसे भगवान्‌का वही पहलेवाला रूप देखा, तब तुरन्त ही उसे इस प्रकारका अपार आनन्द हुआ कि मानो वह महाकालपर विजय प्राप्त करके आया हो अथवा मेघ और महावायुको भी प्रतिस्पर्धामें पीछे छोड़ आया हो अथवा हाथके सहारे सातों समुद्र पार कर आया हो। जैसे सूर्यास्त होनेपर गगनमण्डलमें तारागण दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वैसे ही उसे पृथ्वी और उसमेंके समस्त जीव दृष्टिगत होने लगे। जब उसने अपने चतुर्दिक् देखा, तो उसे पहलेवाला कुरुक्षेत्र दिखायी पड़ा। उसने अपने दोनों तरफ अपने सब भाई-बन्धुओंको देखा, उस युद्धभूमिमें समस्त शूरवीर एक-दूसरेपर शस्त्र-अस्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे। उन शूरवीरोंके बाणोंके मण्डपके नीचे उसने अपना रथ भी पूर्वकी भाँति खड़ा हुआ देखा, उसने यह भी देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण तो सारथ्यके स्थानपर बैठे हैं और मैं नीचे खड़ा हूँ। (६४०—६६२)

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

पराक्रमी अर्जुनने भगवान्‌से जिस चीजकी विनती की, उसके उसे इस प्रकार दर्शन हुए। उसने कहा—"अब मेरी जानमें जान आयी। नहीं

तो मेरा ज्ञान भयसे बुद्धिको छोड़कर चतुर्दिक् जंगलमें भटक रहा था और अहंकारसहित मन सुदूर चला गया था। इन्द्रियाँ अपनी क्रिया-कलाप भूल चुकी थीं, वाणी भी प्राणशून्य होकर मूक बन गयी थी। मेरे शरीरकी इस प्रकारकी दुर्दशा हो गयी थी, परन्तु अब वह सारी जीवनावस्था अपनी ठीक स्थितिमें आ गयी है और मानो फिरसे मुझे जीवन मिल गया है। इस कृष्णमूर्तिके दर्शनसे फिर मुझमें प्राण आ गये हैं।" इस प्रकार अपने अन्तःकरणके समाधानके उद्‌गार निकालकर उसने भगवान्‌से कहा—"हे महाराज! मैंने आपके इस मनुष्य-रूपका दर्शन किया। हे देवादिदेव! आपने अपने इस स्वरूपका दर्शन देकर मुझपर उसी प्रकार उपकार किया है, जिस प्रकार माता अपने अपराधी बालकको हृदयसे लगाकर उसे स्तनपान कराती है। मैं उस विश्वरूपके दर्शनके समुद्रमें दोनों हाथोंसे तरंगोंके साथ संघर्ष कर रहा था, पर अब आपकी इस सगुण मूर्तिरूपी तटपर आ पहुँचा हूँ। हे द्वारिकाधीश! आपने मुझे यह दर्शन नहीं दिये हैं, अपितु सूखे हुए वृक्षपर मेघ-वृष्टि की है। मैं स्वाभाविक प्याससे तड़प रहा था। ऐसे समयमें आपका यह सगुणस्वरूप मुझे अमृतकी ही भाँति मिला है। अब मुझे विश्वास हो रहा है कि मैं जीवित हूँ। मेरे हृदयरूपी भूमिपर हर्षकी लताएँ लहरा रही हैं और मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हो रहा है।" (६६३—६७२)

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

पार्थके ये वचन सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ! तुम यह क्या बकते चले जा रहे हो? तुम्हें इस विश्वरूपके प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिये और तब मेरी इस सगुण मूर्तिकी निःशंक होकर सेवा करनी चाहिये। हे सुभद्रापति! क्या तुम मेरे द्वारा बतलाये गये सारे उपदेश भूल गये? हे अन्धे अर्जुन! तुम्हारे हाथ तो मेरुगिरि ही लगा था, पर तुमने उसे

भूलवश बहुत तुच्छ ही समझ लिया; परन्तु मैंने अभी तुम्हें जिस विश्वरूपके दर्शन कराये हैं, उस विश्वरूपका दर्शन शंकरको भी अपनी पूरी तपस्या लगा देनेसे भी नहीं हो सकता। हे किरीटी! योगके अष्टांगोंके साधनका कष्ट सहनेवाले योगियोंको भी जिस विश्वरूपके दर्शन नहीं हो सकते, उसके विषयमें देवगणोंका समय भी इस सोचमें व्यतीत हो जाता है कि हमें भी किसी प्रकार उस विश्वरूपकी थोड़ी-सी झलक मिल जाय। जैसे आशारूपी अंजलि अपने हृदयरूपी मस्तकपर रखकर चातक मेघकी प्रतीक्षामें आकाशकी ओर टकटकी लगाये रहता है, वैसे ही समस्त देवता जिस विश्वरूपको देखनेके लिये आठों पहर चिन्ता करते रहते हैं, पर फिर भी जिस विश्वरूपके दर्शन उन्हें स्वप्नमें भी नहीं होते, वही रूप आज तुमने सुखपूर्वक देख लिया है। (६७३—६८१)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

हे सुभट! ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे इस विश्वरूपके निकटतक पहुँचनेका रास्ता मिल सकता हो। छहों शास्त्र और वेद भी इस विषयमें मात खा गये हैं। हे धनुर्धर! बड़ी-बड़ी तपश्चर्याओंके द्वारा भी कोई मेरे विश्वरूपके मार्गपर नहीं पहुँच सकता तथा दान इत्यादिके द्वारा भी इस मार्गतक पहुँचना अत्यन्त दुरुह है। तुम्हें मेरा इस समय जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह यज्ञ इत्यादि क्रियाओंसे भी किसीको प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार आज मैं तुमको प्राप्त हुआ हूँ, उस प्रकार प्राप्त होनेका केवल एक ही मार्ग है। अब तुम यह ध्यानपूर्वक सुनो कि वह मार्ग कौन-सा है। जब चित्त प्रेमपूर्ण भक्तिके वशीभूत होता है, तभी मैं इस प्रकार साध्य होता हूँ। (६८२—६८५)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

पर यह भी सुन लो कि वह भक्ति कैसी होनी चाहिये। जैसे वृष्टिकी

छूटी हुई धार जमीनके अलावा अन्यत्र जा ही नहीं सकती अथवा जैसे समस्त जल-सम्पदा अपने साथ लेकर गंगा सागरकी ही तलाश करती हुई निरन्तर आगे बढ़ती जाती है और मार्गमें बिना कहीं रुके सीधे सागरमें ही जाकर समा जाती है, वैसे ही भक्तके लिये यह परमावश्यक है कि वह अपनी समग्र भावनाओंको इकट्ठा करके प्रेमसे सराबोर होकर मेरी ओर बढ़े, और मुझमें समाकर समरस हो जाय। भक्तको जिस 'मैं' वाले स्वरूपमें समाकर एकाकार हो जाना चाहिये, वह 'मैं' वैसा ही हूँ, जैसा क्षीरसिन्धुके तटपर भी क्षीर ही होता है और मध्यमें भी क्षीर ही होता है। सच्ची भक्ति वही है, जिसमें व्यक्ति छोटी-सी चींटीको भी मेरा ही स्वरूप समझे और पूरे चराचरको भी मुझसे पृथक् न माने। बस इसके अलावा और किसी प्रकारकी भक्ति सच्ची भक्ति नहीं है। जिस समय ऐसी ऐक्य स्थिति प्राप्त होगी, उसी समय मेरे स्वरूपका वास्तविक ज्ञान हो जायगा और ज्यों ही किसीको स्वरूप-ज्ञान होगा, त्यों ही उसे स्वाभाविकरूपसे मेरे दर्शन भी हो जायँगे। फिर जैसे ईंधनमें अग्नि भड़क उठती है और ईंधनका कहीं नामो-निशान भी नहीं रह जाता, क्योंकि वह अग्निका ही रूप हो जाता है अथवा जबतक प्रकाशका प्राकट्य नहीं होता, तबतक सम्पूर्ण आकाश अन्धकारमय बना रहता है; परन्तु जिस समय सूर्यका उदय हो जाता है, उस समय समस्त वातावरण प्रकाशमय हो जाता है; वैसे ही मेरे स्वरूपका साक्षात्कार होते ही अहंकारका नाश हो जाता है और उसके नष्ट होते ही द्वैतभाव भी स्वतः समाप्त हो जाता है। तब फिर 'मैं' और 'वह' दोनों स्वभावतः मिलकर एक 'मैं' ही हो जाते हैं। किंबहुना, वह भक्त मुझमें समाकर एकाकार हो जाता है। (६८६—६९५)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

जो एकमात्र मेरी प्रसन्नताके लिये ही सारे कर्मोंको करता है, जिसे जगत्में मेरे अतिरिक्त और कुछ भी भाता नहीं तथा जिसके लिये इहलोक और परलोक दोनों मैं ही हूँ, जिसने अपने जीवनका फल मुझे ही निश्चित कर रखा है, जो 'भूत' शब्दको ही एकदम भूल जाता है—क्योंकि उसके दृष्टिमें सर्वत्र मैं ही समाया हुआ प्रतीत होता हूँ—और इस प्रकार जो अपने अन्तःकरणको पूर्णतया निर्वैर बनाकर सर्वत्र समबुद्धि रखता है, उस भक्तका जिस समय यह त्रिधातुक (कफ, पित्त, वात) शरीर छूटता है, उस समय, हे पाण्डव! वह भक्त मेरे स्वरूपके साथ मिलकर एक हो जाता है।" इतना कहकर संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"जिसका उदर इतना विशाल है, जिसमें समूचा ब्रह्माण्ड समाविष्ट हो जाय और जो करुणारस-रसाल हैं, उन श्रीकृष्णदेवने पाण्डुकुँवरसे ये सब बातें कहीं। भगवान्‌की ये सब बातें सुनकर अर्जुन आनन्द-लक्ष्मीसे सम्पन्न हो गया। श्रीकृष्णके चरणोंकी सच्ची भक्ति करनेकी योग्यता इस जगत्में सिर्फ उस अर्जुनमें ही है। उसने देवकी दोनों ही मूर्तियाँ खूब ठीक तरह देखी थीं और उसे विश्वरूपकी अपेक्षा कृष्णमूर्ति अधिक भायी थी; परन्तु देवने उसके इस भानेका आदर नहीं किया, क्योंकि विश्वरूप तो अत्यन्त व्यापक है और कृष्णमूर्ति एकदेशीय है; इसे सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌ने एक-दो उत्तम उपपत्तियोंका निरूपण किया था। वह स्पष्टीकरण सुनकर सुभद्रापति अपने मनमें कहने लगा, अब मैं यह बात फिर पूछूँगा कि इन दोनों स्वरूपोंमेंसे श्रेष्ठ स्वरूप कौन-सा है।" इस प्रकार अपने मनमें यह संकल्प करके उसने यह बात कैसी युक्तिसे पूछी, यह कथा श्रोतावृन्द अग्रिम अध्यायमें सुनें। सरल, सुलभ ओवी छन्दमें मैं यह कथा अत्यन्त प्रेमपूर्वक कहूँगा और इस ज्ञानदेवकी यह विनम्र विनती है कि श्रोतावृन्द यह कथा आनन्दपूर्वक श्रवण करें। सद्भावकी अंजलिमें मैं इन ओवी छन्दके पुष्प लेकर विश्वरूपके दोनों चरणोंपर अर्पण करता हूँ। (६९६—७०८)

~~~ ○ ~~~
~~~

L/03

अध्याय बारहवाँ

हे सद्गुरुकी कृपादृष्टि! तू शुद्ध, सुप्रसिद्ध, उदार और अखण्ड आनन्दकी वृष्टि करनेवाली है। तेरी जय हो, जय हो। विषयरूपी व्यालके लिपट जानेपर अंग ऐंठने न लगें और विषका वेग उतर जाय, यह प्रभुत्व तेरा ही है। अब यदि प्रसाद-रसकी तरंगें उठने लगें और उसकी बाढ़ आने लगे तो फिर संताप किसे संतप्त कर सकता है और शोक किसे पीड़ा दे सकता है? हे गुरुकी कृपादृष्टि! तू प्रेमसे भरी होनेके कारण अपने सेवकोंकी ब्रह्मानन्दकी लालसा पूरी करती है और उनके आत्म-साक्षात्कारके हौसले भी पूरे करती है। मूलाधार चक्ररूपी शक्तिकी गोदमें उन शिष्य बालकोंको लेकर तू प्रेमपूर्वक उनका पालन-पोषण करती है तथा हृदयाकाशरूपी पालनेमें उन्हें रखकर आत्मज्ञानके झोंके देती है। तू जीवात्मवाले भावोंको उनपरसे निछावर करके मन और प्राणवायु उन्हें खेलनेके लिये देती है और उनके अंगोंपर आत्मानन्दके आभूषण चढ़ाती है। तू उन्हें अमृत कलारूपी दूध पिलाती है, उनके मनोरंजनके लिये तू अनाहत नामक नादघोषके गीत गाती है और उन्हें समाधि-सुखसे शान्त करके सुलाती है। इसलिये सब साधकोंका पालन-पोषण करनेवाली माता तू ही है। तेरे चरणोंसे समस्त विद्याएँ उत्पन्न होती हैं, इसलिये मैं तेरी शीतल छायाका परित्याग कभी नहीं करूँगा।

हे सद्गुरुकी कृपादृष्टि! तेरा दयारूपी अमृत जिसे मिल जाता है, वह समस्त विद्याओंकी निष्पत्ति करनेके कामोंमें ब्रह्मा ही होता है। इसलिये हे माता गुरु-कृपादृष्टि! तू ऐश्वर्यशाली है और अपने सेवकोंकी इच्छा

पूरी करनेवाली कल्पलता है, तो भी तू मुझे ग्रन्थका निरूपण करनेकी आज्ञा दे। हे माता! तू मेरे द्वारा इस निरूपणमें नवरसोंका सागर भरवा दे, उत्तम रत्नोंका आगर तैयार होने दे और गीताके सच्चे अर्थका पर्वत उठने दे। इस देशीभाषाके क्षेत्रमें वाङ्मय सौन्दर्यकी खान खुलने दे और चतुर्दिक् विवेकरूपी लताएँ लगने दे। इस प्रकारके महासिद्धान्तरूपी वृक्षोंका घना बगीचा बनने दे, जिनमें एक वाक्यरूपी फलोंकी समृद्धि हो। पाखण्डियोंकी गुफाओं, वितण्डावादियोंके टेढ़े-मेढ़े रास्तों और कुतर्कियोंके दुष्ट श्वापदोंका पूर्णतया नाश होने दे। हे माता! तू मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कर जिससे मैं भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंका ठीक-ठीक वर्णन कर सकूँ और श्रोताओंको भी श्रवण-सुखका साम्राज्य प्राप्त होने दे। इस देशीभाषारूपी नगरमें ब्रह्म-विद्याकी सुखका लेन देन करने दे। हे माता! यदि तुम मेरे ऊपर अपनी प्रेमपूर्ण आँचलकी छाया करेगी और मेरे भाग्यमें वह छाया प्राप्त करना लिखा होगा तो यह सब कुछ मैं तत्क्षण ही निर्माण कर सकूँगा। शिष्यकी यह विनती सुनकर गुरुने उसकी तरफ कृपादृष्टिसे देखा और कहा कि अब गीताके अर्थका निरूपण आरम्भ करो, प्रस्तावनाका अत्यधिक विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं, यह सुनते ही शिष्यको अत्यधिक आनन्द हुआ और उसने कहा—"हे स्वामी! ठीक है, यह आपका महाप्रसाद ही है।" और तब उसने श्रोतओंसे कहा कि अब मैं ग्रन्थका निरूपण करता हूँ, आपलोग मनोयोगपूर्वक सुनें। (१—१९)

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

फिर सम्पूर्ण वीरोंमें श्रेष्ठ और सोमवंशका विजयध्वज राजा पाण्डुका पुत्र अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे प्रभु! आपने मेरी बात सुन ली न? आपने मुझे जो विश्वरूपका दर्शन कराया था, वह अत्यन्त

ही अद्भुत था, इसीलिये मेरा चित्त उस अद्भुत स्वरूपको देखकर व्यग्र हो गया था और मैं सदासे इस कृष्ण-मूर्तिसे परिचित था, इसलिये मेरा चित्त सिर्फ यही चाहता था कि मैं इसीका आश्रय लूँ; परन्तु आपने ऐसा करनेसे मना कर दिया; परन्तु व्यक्त (सगुण) और अव्यक्त (निर्गुण)—ये दोनों आपके ही स्वरूप हैं। व्यक्त अर्थात् सगुणरूपका साधन भक्तिसे होता है और अव्यक्त अर्थात् निर्गुणका साधन योगसे होता है। हे वैकुण्ठके स्वामी! ये दोनों ही मार्ग आपके सन्निकट पहुँचानेवाले हैं। सगुण और निर्गुण इन मार्गोंके प्रवेश-द्वार हैं। कसौटीपर स्वर्णके ईंटको कसनेसे जो कस आता है, वही कस उसमेंसे निकाले हुए रत्तीभर स्वर्णका भी आता है। अतएव एकदेशीय सगुण और सर्वव्यापक निर्गुण दोनोंकी योग्यता समान ही है। अमृतके समुद्रमें जो सामर्थ्य है, वही सामर्थ्य अमृतकी तरंगके एक चुल्लूमें भी रहती है। हे देव! अब मुझे इस प्रकारका निश्चित ज्ञान हो गया है। पर हे योगेश्वर! मैंने जो यह प्रश्न किया है, वह सिर्फ इसीलिये कि आपने अभी कुछ समयके लिये जो विश्वरूप धारण किया था, उसके बारेमें मेरी यही समझनेकी लालसा है कि वह स्वरूप वास्तविक था अथवा बनावटी; परन्तु एक तो वे भक्तियोगी होते हैं जो सिर्फ आपके प्रीत्यर्थ समस्त काम करते हैं, सिर्फ आपको ही सबसे श्रेष्ठ समझते हैं अथवा सारा मनोधर्म आपकी भक्तिसे अंकित कर लेते हैं और सब प्रकारसे आपको अपने अन्तःकरणमें विराजमान कर आपकी उपासना करते हैं तथा दूसरे वे ज्ञान-योगी होते हैं, जो आत्मैक्य भावसे उस चीजकी उपासना करते हैं जो ओंकारसे भी परे है, जो स्पष्ट वाणीके लिये अप्राप्य है, जो अनुपमेय है और जो अविनाशी, निर्गुण, अवर्णनीय तथा स्थलहीन है। अतः हे अनन्त! आप कृपापूर्वक यह बतलावें कि उन भक्तियोगियों और इन ज्ञानयोगियोंमेंसे यथार्थ ज्ञान किसको होता है।" अर्जुनकी यह बात सुनकर जगद्बन्धु श्रीकृष्णको संतोष हुआ और उन्होंने कहा—"हे अर्जुन! प्रश्न पूछनेका बहुत अच्छा तरीका तुझे मालूम है। अच्छा सुनो। (२०—३४)

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

हे किरीटी! अस्ताचलके निकट पहुँच जानेपर और सूर्यके ओटमें हो जानेपर भी जैसे उस अदृश्य बिम्बके पीछे भी सूर्यकी रश्मियाँ संचरण करती रहती हैं अथवा हे पाण्डुसुत! जैसे वर्षाकालके आनेपर नदियोंका जलस्तर बढ़ने लगता है, वैसे ही जब व्यक्ति भजन करता रहता है, तब उसकी श्रद्धा भी दिनोदिन बढ़ती जाती है; किन्तु नदी जिस समय समुद्रके निकट पहुँच जाती है, उस समय भी उसके पीछेवाले प्रवाहका जोर निरन्तर ज्यों-का-त्यों बना रहता है। बस यही नदीके प्रवाहवाली सारी प्रक्रिया प्रेम-भावके सम्बन्धमें भी है। इसी प्रकार जो लोग अपनी समस्त इन्द्रियोंसहित अपने चित्तको मुझमें समर्पित करके अहर्निश समय और असमयका कुछ भी विचार किये बिना, नित्य मेरी उपासना करते हैं और इस प्रकार जो भक्त अपना सर्वस्व वहन करते हैं, उन्हींको मैं परम योगयुक्त समझता हूँ। (३५—३९)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥

हे पाण्डव! जो और अन्य लोग 'सोऽहम्' भावपर आरूढ़ होकर निर्गुण अविनाशी तत्त्वको देखते हैं; जिसके सन्निकट मन पहुँच ही नहीं सकता और जिसमें बुद्धिकी दृष्टि जा ही नहीं सकती, उसका साधन भला इन्द्रियोंसे कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, वह तो ध्यानको भी प्राप्त नहीं होता और यही कारण है कि वह किसी एक जगहपर मिल नहीं सकता और न किसी आकारमें ही हो सकता है। जो सर्वत्र, सभी भावोंसे और सभी कालोंमें रहता है, पर जिसकी परिकल्पना करते-करते चिन्तन शक्ति भी चिन्तित होने लगती है, जिसके बारेमें न तो यही कहा जा सकता है

कि वह होता है और न यही कहा जा सकता है कि वह नहीं होता, इसके विषयमें न तो यही कहा जा सकता है कि वह है और न यही कहा जा सकता है कि वह नहीं है और यही कारण है कि इसकी साधना करनेमें कोई उपाय नहीं चलता, जो न तो चलता ही है और न हिलता ही है, जो न तो कभी समाप्त होता है और न कभी दूषित ही होता है, उसे जो लोग अपने बलपर प्राप्त कर लेते हैं—(४०—४५)

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

जो वैराग्यरूपी प्रचण्ड अग्निमें विषयसमूहको भस्म कर देते हैं तथा इन्द्रियोंकी तपी हुई स्थितिमें धैर्यपूर्वक नियन्त्रित रखते हैं और फिर इन्द्रियनिग्रहके बलपर जो लोग अपनी इन्द्रियोंको मोड़कर अपने हृदयरूपी गुफामें बन्द कर रखते हैं, अपना द्वार भलीभाँति बन्द करके और ठीक तरह आसनमुद्राका साधन करके मूल बन्धका किला बाँध लेते हैं, जो आशासे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं, भयका अन्त कर डालते हैं तथा अज्ञान-निद्राका अन्धकार हटा करके उसका नाश कर डालते हैं; जो मूल बन्धकी अग्निकी ज्वालाओंसे शरीरस्थ सप्त धातुओंको भस्म कर व्याधियोंके मस्तकपर षट्-चक्रकी तोपें चलाते और स्फुरित होनेवाली कुण्डलिनीकी तेजस्वी दीपक आधार चक्रपर रखकर उसकी प्रभासे मस्तकपर्यन्त अपना पूरा शरीर देदीप्यमान कर लेते हैं और तब इन्द्रियोंके नव द्वारोंपर निग्रहरूपी अर्गला लगाकर केवल सुषुम्ना नाड़ीकी खिड़की खुली रखते हैं। प्राणवायुकी शक्तिरूपी चामुण्डा देवीके लिये संकल्परूपी मेढ़े काटकर मनरूपी महिषासुरके मुण्डका बलिदान करते हैं, जो चन्द्र (इडा) और सूर्य (पिंगला) नाड़ियोंका मिलाप करके नाद-घोषकी सहायतासे सत्रहवीं पूर्णामृत कलाका जल शीघ्रतासे अपने अधीन कर लेते हैं और तब मध्यमा यानी सुषुम्ना नाड़ीके विवररूपी रास्तेसे चलकर अन्तिम

ब्रह्मरन्ध्रतक जा पहुँचते हैं, सिर्फ इतना ही नहीं अपितु जो मकार यानी सुषुम्नाके विवरकी सीढ़ियाँ चढ़कर तथा महदाकाशको बगलमें दबाकर ब्रह्ममें जा मिलते हैं और इस प्रकार समबुद्धि होकर जो लोग तत्क्षण ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिये योगका दुर्गम मार्ग अपने अधीन कर लेते हैं और जो अपने मनोभावके बदलेमें निर्गुण, निराकार शून्यस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं, हे किरीटी! वही लोग आकर मुझमें मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि इसके अलावा उन्हें योग-बलसे कुछ और अधिक प्राप्त होता हो। हाँ, यदि कुछ अधिक प्राप्त होता है, तो वह है सिर्फ कष्ट। (४६—५९)

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

जो उस निराधार तथा अव्यक्त तत्त्वकी बिना भक्तिके ही साधना करना चाहते हैं, जो सारे जीवोंका कल्याण करनेवाला है, उनके मार्गमें महेन्द्र इत्यादि पदोंकी वासनाएँ बाधक होती हैं और ऋद्धि-सिद्धिकी जोड़ियाँ भी उनके मार्गमें रुकावट डालती हैं। उनके मार्गमें काम-क्रोधरूपी अनेक उपद्रव होते हैं और इन सब बातोंके साथ-साथ उन्हें शून्य ब्रह्मके बलपर जूझना पड़ता है। उन्हें प्याससे ही प्यास शान्त करनी पड़ती है और भूखसे ही भूखको मिटाना पड़ता है तथा अहर्निश हाथोंसे हवा करनी पड़ती है। उन्हें दिनमें जाग्रत्-अवस्थामें ही शयन करना पड़ता है, इन्द्रिय-निग्रहका सुख भोगना पड़ता है और वृक्षोंके संग सुहृद्भाव रखना पड़ता है। उन्हें शीत और उष्णताको ही अपने वस्त्र तथा ओढ़ना-बिछौना बनाना पड़ता है और वृष्टिकी झाड़ियोंमें ही निवास करना पड़ता है। किंबहुना, हे पाण्डव! यह योग ठीक वैसा ही है, जैसा किसी स्त्रीका उस अवस्थामें सती बनकर चितापर बैठना, जिस अवस्थामें उसका कोई पति हो ही नहीं। इसमें न तो किसी स्वामीका कोई कार्य करना पड़ता है और न किसी प्रकारके

कुलाचारका ही पालन करना पड़ता है, परन्तु नित्य नयी मृत्युके साथ युद्ध अवश्य करना पड़ता है। इस प्रकार यह मृत्युसे भी भयंकर विष किस प्रकार पीया जाय? यदि कोई पर्वतको निगलनेके लिये अपना मुख फैलावे तो क्या उसका मुख फट नहीं जायगा? इसीलिये हे सुभट! जो लोग इस योगके मार्गपर चलते हैं, उनके हिस्सेमें अधिक-से-अधिक दुःख ही रखा रहता है। हे अर्जुन! देखो यदि पोपले मुखवालेको लोहेके चने चबाने पड़ें, तो तुम्हीं बतलाओ कि उसका पेट भरेगा अथवा प्राण जायँगे? क्या केवल हाथोंके सहारे तैरकर समुद्र पार किया जा सकता है अथवा आकाशमें क्या कभी कोई पैदल चल सकता है? युद्धभूमिमें जानेके बाद क्या कभी सम्भव है कि शरीरपर लाठीका एक भी वार सहे बिना कोई सूर्यलोककी सीढ़ीपर चढ़ सके? अतएव हे पाण्डुकुँवर! जैसे किसी लँगड़ेके लिये हवाके साथ प्रतिस्पर्धा करना समीचीन नहीं है, वैसे ही निर्गुणकी उपासनाके लिये देहधारी जीवोंका प्रयत्न करना समीचीन नहीं है। लेकिन फिर भी जो लोग इतनी धृष्टता करके अव्यक्तको पानेके लिये उद्यत होते हैं, उन्हें अत्यधिक दुःख ही उठाने पड़ते हैं। परन्तु हे पार्थ! जो लोग भक्तिमार्गका आश्रय ग्रहण करते हैं; उन्हें इन सब दुःखोंको सहनेका कोई सवाल ही नहीं उठता। (६०—७८)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

जो लोग अपने वर्ण-भेदके अनुसार अपने हिस्सेमें आये हुए सारे कर्म अपनी कर्मेन्द्रियोंके द्वारा सुखपूर्वक करते हैं, विधिके अनुसार आचरण करते हैं, निषिद्ध कर्मोंका परित्याग कर देते हैं तथा सब प्रकारके कर्म मुझे अर्पण करके उनके बन्धक गुणोंका अन्त कर डालते हैं और इस प्रकार हे अर्जुन! सारे कर्मोंका मुझमें अवसान करके उनका क्षय कर देते हैं तथा कायिक, वाचिक और मानसिक भावोंकी दौड़ मेरे अलावा अन्यत्र

कहीं नहीं लगाते और इस प्रकार जो मेरी अखण्ड उपासना करते हैं, जो ध्यानके निमित्त मेरे निरन्तर निवासस्थान बन गये हैं, जो अपने प्रेमपूर्ण गुणसे एकमात्र मेरे साथ व्यवहार रखते हैं और विषय-भोग तथा मोक्षपद—दोनोंके ही दरिद्रकुलका परित्याग कर देते हैं, इस प्रकार जो अनन्य भक्तियोगसे अपने सारे मनोभाव, अन्तःकरण और शरीर सिर्फ मेरे अधीन कर देते हैं, उनका मैं कहाँतक वर्णन करूँ। उनकी सारी इच्छाएँ मुझे ही पूरी करनी पड़ती हैं। (७६—८२)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

किंबहुना, हे धनुर्धर! जो माताके पेटमें आता है, वह माताको कितना अधिक प्रिय होता है, इसी प्रकार वे भक्त भी चाहे जैसे हों, मुझे प्रिय होते हैं। कलियुगकी समस्त बाधाओंको उनसे दूर रखकर उनकी रक्षा करनेका मानो मैंने पट्टा ही लिखा लिया है और यदि ऐसा न हो, तो भी एक ओर तो मेरी भक्ति और दूसरी ओर संसारकी चिन्ता। यह कैसी बेमेल बात है। क्या किसी धनाढ्य व्यक्तिकी पत्नी भी भिक्षाटन कर सकती है? इसी प्रकार मेरा भक्त भी मेरा प्रिय पात्र होता है। फिर भला क्या उसकी लज्जा मुझे न होगी? जीवन और मरणकी तरंगे समस्त सृष्टिपर पड़ती हैं। यह देखकर मेरे चित्तमें यह भावना जगी कि कौन ऐसा प्राणी है जो इस संसार-सागरकी तरंगोंसे पीड़ित न होता हो? ऐसी स्थितिमें हो सकता है कि मेरे भक्त भी भयभीत हो जाते हों। इसीलिये हे पाण्डव! राम और कृष्ण इत्यादिके सहस्रों नामोंको तुम सहस्रों नौकाएँ ही समझो। इन नौकाओंको इस संसार-सागरमें सजाकर मैं अपने उन भक्तोंका तारक बन गया हूँ। फिर मेरे जो भक्त सबसे अलग-थलग थे, उनके लिये मैंने अपने ध्यानका आधार प्रस्तुत किया और जो संसारी थे, उन्हें मैंने इन नौकाओंपर बैठाया। कुछ भक्तोंके पेटके नीचे प्रेमकी पेटी बाँधी। इस प्रकार अपने सारे

भक्तोंको मैंने सायुज्यके तटपर ला लगाया। सिर्फ यही नहीं, जिन-जिन लोगोंने मेरी भक्ति की, उन सबको, फिर चाहे वे पशु ही क्यों न रहे हों, मैंने अपना भक्त मानकर उन्हें वैकुण्ठके साम्राज्यका स्वामी बनाया। यही कारण है कि मेरे भक्तोंको किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं सताती और मैं उनका उद्धार करनेके लिये सदा तत्पर रहता हूँ। ज्यों ही भक्तगण अपनी चित्तवृत्ति मुझे समर्पित करते हैं, त्यों ही वे मानो अपने प्रपंचरूपी खेलोंमें मुझे भी शामिल कर लेते हैं। इसलिये हे भक्तराज धनंजय! तुम अनवरत इस मन्त्रका पाठ किया करो कि जिस समय जीव इस अनन्य भक्तिका मार्ग ग्रहण करता है, उसी समय वह श्रेष्ठ भक्त हो जाता है। (८३—९६)

> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥

बुद्धिसे निश्चय करके सारी मनोवृत्तियाँ मेरे स्वरूपमें स्थिर करो। हे पार्थ! यदि बुद्धि और मन दोनों प्रेमपूर्वक पूर्णतया मुझमें रमण करने लगें, तब तुम आकर मुझमें मिल जाओगे; क्योंकि यदि मन और बुद्धि—दोनोंने मेरे स्वरूपमें अपना निवास बना लिया तो फिर भला 'मैं' और 'तुम' का भेद ही कहाँ रह जायगा? जैसे आँचलसे हवा करनेपर दीपक बुझ जाता है तथा उसका तेज समाप्त हो जाता है अथवा सूर्यबिम्बके अस्त होते ही उसका प्रकाश नहीं रह जाता अथवा जिस समय जीव ऊर्ध्व-गमन करने लगता है, उस समय उसकी इन्द्रियाँ भी शरीरका साथ त्याग देती हैं, वैसे ही मन और बुद्धिके साथ अहंकार भी स्वतः मेरी ही तरफ आने लगता है। इसीलिये तुम अपने मन और बुद्धिको मेरे स्वरूपमें स्थिर करो और तब इस क्रियाके सहयोगसे तुम मेरे सर्वव्यापक स्वरूपको प्राप्त करोगे। मैं स्वयं अपनी शपथ लेकर तुमसे कहता हूँ कि इस सिद्धान्तमें कोई अपवाद नहीं है। (९७—१०३)

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

यदि तुम मन और बुद्धिसहित अपना चित्त पूर्णरूपसे मेरे हाथ नहीं सौंप सकते, तो तुम ऐसा करो कि अहर्निशके अष्ट प्रहरोंमेंसे कम-से-कम पलभरके लिये ही मन और बुद्धिसमेत अपना चित्त मुझे अर्पण करते चलो। फिर जिन क्षणोंमें मेरा सुख भोगनेको प्राप्त हो सके, कम-से-कम उन क्षणोंमें तुम्हारे चित्तमें विषयोंके प्रति वितृष्णा उत्पन्न होगी और तब जैसे शरद्काल निकल जानेपर नदियाँ धीरे-धीरे उतरने (सूखने) लगती हैं, वैसे ही तुम्हारा चित्त भी शनैः शनैः प्रपचोंके वेगसे बाहर निकलने लगेगा। फिर ऐसा होनेपर जैसे पूर्णिमासे चन्द्रबिम्ब दिनोदिन क्षीण होते-होते अन्ततः अमावास्याके दिन एकदम क्षीण हो जाता है, वैसे ही विषय-भोगोंसे बाहर निकलते-निकलते और मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट होते-होते, हे सुभट! तुम्हारा चित्त शनैः-शनैः मद्रूप हो जायगा। जिसे अभ्यासयोगके नामसे पुकारते हैं, वह यही है। इस जगत्में कोई ऐसी चीज नहीं है जो इस अभ्यासयोगसे न सध सकती हो। इस अभ्यासके बलपर कुछ लोग आकाशमें विचरण करने लगते हैं, कुछ लोग व्याघ्रों और सर्पोंको अपने अधीन कर लेते हैं, कुछ लोग विषको ही आहार बना लेते हैं, कुछ लोग समुद्रपर पैरोंसे चलने लगते हैं तथा कुछ लोग वेद-विद्यामें पारंगत हो जाते हैं। इसलिये ऐसी कोई चीज नहीं है, जो अभ्याससे प्राप्त न किया जा सके। इसलिये तुम अभ्यासयोगके द्वारा ही मेरे स्वरूपमें आ मिलो। (१०४—११३)

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

इस प्रकार अभ्यास करनेकी शक्ति यदि तुम्हारे शरीरमें न हो तो फिर तुम जिस जगहपर और जैसे हो, उसी जगहपर और वैसे ही रहो। इन्द्रियोंका अवरोध मत करो, भोगोंका त्याग मत करो और अपनी जातिका

अभिमान भी मत त्यागो। अपने कुल-धर्मका पालन करते चलो तथा विधि-निषेधका ध्यान रखो। इस प्रकारका आचरण करनेकी तुम्हें पूरी स्वतन्त्रता है। पर मनसा-वाचा और शरीरसे जो-जो कर्म हों, उनके विषयमें तुम कभी यह मत कहो कि ये कर्म मैंने किये हैं। करना और न करना तो केवल परमात्मा ही जानता है जो इस विश्वका संचालक है। यह कर्म न्यून है और यह कर्म पूर्ण है, इस बातका विचार तुम अपने मनमें कभी मत करो। अपने मनोभाव स्वयं अपनी आत्माके साथ एकरूप करके अपने जीवनके समस्त कर्मोंको सम्पन्न करो। माली जिधर जल ले जाता है, वह चुपचाप उधर ही चला जाता है। उसी प्रकार तुम भी अपने कर्तृत्वका अभिमान त्यागकर शान्त रहो। कहनेका आशय यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्तिके बोझ अपने चित्तपर मत लादो, अपनी चित्तवृत्ति अनवरत मुझमें ही स्थिर रखो। हे सुभट! अब तुम्हीं बतलाओ कि क्या रथ कभी इस बातको सोचता है कि यह मार्ग सीधा है अथवा टेढ़ा? इस प्रकार स्वयंको पृथक् रखते हुए जो-जो कर्म होते चलें, उनके बारेमें न तो कभी यह कहो कि ये न्यून हैं और न यह कहो कि ये बहुत हैं तथा शान्तिपूर्वक वे समस्त कर्म मुझे समर्पित करते चलो। हे अर्जुन! यदि तुम्हारी भावना इस प्रकारकी हो जायगी तो तुम शरीर छोड़नेके उपरान्त मेरे सायुज्य-सदनमें आ पहुँचोगे। (११४—१२४)

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अथवा यदि यह कर्म-समर्पण भी तुम्हारे द्वारा सम्भव न हो तो हे पाण्डुकुँवर! तुम मेरी भक्ति करो। यदि कर्मारम्भ और कर्मके अन्तमें अपनी सारी बुद्धिसे मुझे स्मरण करना तुम्हें कठिन जान पड़ता हो तो तुम उसे भी रहने दो। यदि मेरा ध्यान एक किनारे कर दिया जाय तो भी काम चल सकता है; पर इन्द्रिय-निग्रहके बारेमें तुम्हारी बुद्धि अवश्य

जागरूक रहनी चाहिये और तब जिस समय तुम्हारे द्वारा जो कर्म किये जायँ, उसी समय तुम उन समस्त कर्म-फलोंका परित्याग करते चलो। जैसे वृक्ष अथवा बेलें अपने फलोंको अन्ततः नीचे गिरा देती हैं; वैसे ही जो-जो कर्म सिद्ध होते चलें, उन सबका तुम परित्याग करते चलो। यही नहीं, वे कर्म सम्पन्न करते समय मेरा स्मरण करनेकी भी कोई जरूरत नहीं है और उन्हें मेरे प्रीत्यर्थ समर्पित करनेकी भी कोई जरूरत नहीं है। तुम सानन्द उन कर्मोंको उनके फलोंसमेत शून्यमें विलीन हो जाने दो। जैसे, पाषाणपर गिरा हुआ वृष्टि-जल अथवा अग्निमें बोये हुए बीज निष्फल होते हैं, वैसे ही तुम अपने सारे कर्मोंको भी स्वप्नकी भाँति निष्फल जानो। जैसे कोई अपनी कन्याके बारेमें अपने मनमें वासना नहीं रखता, ठीक वैसे ही तुम्हें भी अपने सारे कर्मोंके विषयमें सदा निष्काम रहना चाहिये। जैसे अग्निकी ज्वाला आकाशमें जाकर समाप्त हो जाती है, वैसे ही तुम भी अपने सारे कर्मोंको शून्यमें विलीन हो जाने दो। हे अर्जुन! यद्यपि कर्म-फलोंका यह त्याग देखनेमें सुगम मालूम पड़ता है, तो भी यह सम्पूर्ण योगोंमें सर्वाधिक श्रेष्ठ योग है। इस कर्म-फल-त्यागसे जिन कर्मोंका नाश होता है, वे कर्म कभी बढ़ते नहीं—उनसे कभी दूसरे कर्म उत्पन्न नहीं होते। जिस समय बाँसमें एक बार बीज आ जाते हैं; उस समय वे बाँस वन्ध्या हो जाते हैं, और वहींसे उनका अवसान हो जाता है। ठीक इसी प्रकार फलके त्यागके द्वारा जब वर्तमान शरीरका अन्त होता है, तब व्यक्तिको फिर कभी शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता। इतना ही नहीं, जीवन और मृत्युका चक्र ही सदाके लिये बन्द हो जाता है।

हे किरीटी! अभ्यासकी सीढ़ियाँ चढ़कर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और ज्ञानकी साधना हो जानेपर ध्यानकी प्राप्ति की जा सकती है। फिर जिस समय ध्यानमें सम्पूर्ण वृत्तियाँ रँग जाती हैं, उस समय सारे कर्म व्यक्तिसे दूर हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मोंके दूर हो जानेपर स्वतः

फलका परित्याग हो जाता है और इस फलके परित्यागसे पूर्ण शान्ति व्यक्तिके अधीन हो जाती है। हे सुभद्रापति! शान्ति पानेका यह ऐसा मार्ग है जिसमें व्यक्ति क्रमशः चलकर तथा सीढ़ियाँ पार करता हुआ आगे बढ़ सकता है, इसलिये अभ्यासको ही स्वीकार करना चाहिये।(१२५—१४०)

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

हे पार्थ! अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानको विशेष कहा गया है, ध्यानकी अपेक्षा कर्म-फलका त्याग श्रेष्ठ है और कर्म-फल-त्यागकी अपेक्षा शान्ति-सुखकी प्राप्ति श्रेष्ठ है। यही इस मार्गकी आगे बढ़नेवाली परम्परा है। हे सुभट! इस प्रकार एक-एक कदम आगे बढ़ते हुए शान्ति अथवा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति की जा सकती है।(१४१—१४३)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

जो व्यक्ति प्राणिमात्रसे कभी किसी प्रकारका द्वेष नहीं करता, जिसे चैतन्यकी तरह यह भेद-भाव कभी स्पर्श ही नहीं करता कि यह अपना है और वह पराया है, जिसके चित्तमें वसुधाकी तरह यह भावना कभी नहीं जगती कि उत्तम कोटिके लोगोंको तो आश्रय प्रदान करना चाहिये और अधम कोटिके लोगोंको यों ही त्याग देना चाहिये, जो प्राणवायुकी भाँति अपने चित्तमें यह कभी नहीं सोचता कि मैं राजाके शरीरमें तो रहूँगा, पर रंकके शरीरको स्पर्श नहीं करूँगा, जो सदा सबपर कृपा रखता है, जैसे जल कभी यह भेद-भाव नहीं रखता कि मैं गौकी पिपासाको तो शान्त करूँगा, किन्तु व्याघ्रके लिये मैं विष बनकर उसे मार डालूँगा, वैसे ही जो जीवमात्रको एकरूप समझकर उनके साथ सुहृद्भाव रखता है, और समभावसे उनपर कृपा रखता है और जो यह बात कभी जानता ही नहीं कि यह मैं हूँ और यह मेरा है, जिसे सुख-दुःखका विचार कभी सताता ही नहीं, जिसमें उतनी

ही क्षमाशीलता होती है, जितनी सहनशीलता पृथ्वीमें होती है, जो संतोषको नित्य अपनी गोदमें क्रीड़ा कराता रहता है। (१४४—१५०)

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

जो कोई उपाय न करते हुए स्वयं ही सन्तोषसे ठीक वैसे ही लबालब भरा रहता है, जैसे बिना वर्षाके भी समुद्र, जो अपने अन्तःकरणको संकल्पपूर्वक अपने वशीभूत रखता है, जिसका निश्चय सदा अखण्ड रहता है, जिसके हृदयभुवनमें जीव और परमात्मा दोनों एक ही आसनपर विराजमान रहते हैं, जो इस प्रकार योगयुक्त होकर अपना मन और बुद्धि पूर्णतया मुझे समर्पित कर देता है, बाह्याभ्यन्तर योगके उत्तम रीतिसे दृढ़ हो जानेके कारण जो मेरी प्रेमपूर्ण भक्तिमें रँग जाता है, हे अर्जुन! उसीको भक्त, उसीको योगी और उसीको मुक्त जानना चाहिये। जैसे पतिको पत्नी प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय होती है, वैसे ही वह भक्त भी मुझको प्रिय होता है। इतना ही नहीं, उसके प्रति मेरा जो अगाध प्रेम होता है, उसका स्वरूप पूर्णरूपसे इस उपमासे भी स्पष्ट नहीं होता कि वह मुझे प्राणोंके समान प्रिय होता है। पर यह प्रेमकथा मानो भ्रममें डालनेवाला जादू है। वास्तवमें यह प्रेमकथा शब्दातीत है। पर यह थोड़ा-सा वर्णन सिर्फ श्रद्धाके बलसे किया गया है। यही कारण है कि यह पति पत्नीके प्रेमकी उपमा मुँहसे निकल गयी है। पर इस अगाध प्रेमका यथार्थ वर्णन करना किसी प्रकार सम्भव नहीं है; परन्तु हे किरीटी! ऐसी बातें बहुत हो चुकीं, क्योंकि जब प्रिय भक्तकी चर्चा चल पड़ी है, तब भक्तके प्रति मेरे मनका प्रेम द्विगुणित हो गया है। तिसपर यदि श्रोता भी वैसा ही मिल जाय तो फिर ऐसा तराजू कहाँ मिलेगा, जिसपर इस विषयकी मधुरताका वजन किया जा सके? इसीलिये हे पाण्डुसुत! मैं तुमसे यह कहता हूँ कि वह प्रिय भक्त और प्रेमपूर्ण श्रोता तुम्हीं हो । तिसपर प्रिय भक्तकी चर्चा भी चल पड़ी, इसीलिये चर्चा करते-करते मैं स्वयं ही इस

चचकि आनन्दमें खो गया।'' इतना कहकर देव तुरन्त ही प्रेमानन्दसे झूमने लगे। फिर उन्होंने कहा—'' हे, पृथापुत्र! ऐसे जिस भक्तको मैं अपने अन्तःकरणमें बैठाता हूँ, अब उस भक्तका लक्षण ध्यानपूर्वक सुनो। (१५१—१६४)

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

जिस प्रकार सिन्धु-गर्जनासे जलचरोंको भय नहीं लगता और जैसे जलचरोंसे कभी समुद्र नहीं ऊबता, वैसे ही जिसे इस जगत्की उन्मत्ततासे कभी खेद नहीं होता और जिससे जगत्को भी कभी कोई दुःख नहीं होता और हे पाण्डव! जैसे शरीर कभी अपने अवयवोंसे नहीं उकताता, वैसे ही आत्मैक्य भावसे जो कभी प्राणिमात्रसे दुःखी नहीं होता, जिसके चित्तमें यह भाव भरा रहता है कि यह सारा जगत् अपना ही है, जिसके चित्तमें प्रिय और अप्रियका भेद-भाव नहीं रह जाता और द्वैतभाव न रह जानेके कारण जिसमें हर्ष (आनन्द) और शोक (क्रोध)-का नामोनिशान भी नहीं रह जाता, इस प्रकार द्वन्द्व-बुद्धिके झंझटसे छुटकारा पाकर जो भय और उद्वेग इत्यादि विकारोंसे अलिप्त हो जाता है और साथ ही जो मेरा अनन्य भक्त भी है, उस व्यक्तिके प्रति मेरे अन्दर मोह अथवा प्रेम उत्पन्न होता है। उस मनमोहक प्रेमका भला मैं क्या वर्णन करूँ! वह तो मेरे जीवका भी जीव होता है अर्थात् वह मेरे योगसे ही जीता है। जो आत्मानन्दसे संतृप्त हो गया है, जो सबका अन्तिम गन्तव्य स्थान ब्रह्म है, उसी रूपमें जन्मको प्राप्त हो गया और वह पूर्ण ब्रह्मस्थितिरूप स्त्रीका प्रिय पति हो गया। (१६५—१७१)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

हे पाण्डव! जिसके मनमें विषय वासनाका कभी प्रवेश नहीं होता है, जिसके अस्तित्वसे ही आत्मसुख बढ़ता है, वही मेरा प्रिय भक्त होता है। काशी मोक्ष प्रदान करनेमें परम उदार है, पर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये

उस काशीमें शरीरका त्याग करना पड़ता है। हिमालय भी पापोंका क्षय करता है; परन्तु इन पापोंके नाशके लिये प्राणोंसे हाथ धोना पड़ता है; किन्तु सज्जनोंमें जो शुचिता होती है, वह ऐसी नहीं होती। गंगाजल अपने पावन गुणसे परम पवित्र है तथा वह पाप और तापका भी नाश करता है; परन्तु फिर भी एतदर्थ उस गंगाजलमें स्नान करना पड़ता है, जिसमें डूब जानेका भय सदा बना रहता है। इस भक्तिरूपी नदीकी गहराईकी थाह यद्यपि अबतक किसीको नहीं मिली है, तो भी यह ऐसी है कि इसमें भक्त कभी डूबकर अपने प्राण नहीं गँवाता। उसे जीते-जी ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। जिन सन्तोंके संसर्गसे गंगामें शुचिता आती है, उन सन्तोंकी शुचिता कितनी श्रेष्ठ कोटिकी होनी चाहिये। कहनेका आशय यह है कि जो अपनी शुचिताके कारण तीर्थोंका भी आश्रय बनता है, जो अपने मनका अज्ञानरूप मैल सब दिशाओंके उस पार भगा देता है, जो बाह्याभ्यन्तर सूर्यके सदृश निर्मल है, जो तत्त्वार्थका रहस्य ठीक वैसे ही जानता है, जैसे पैरोंमें दृष्टिकी शक्ति रखनेवालेको जमीनके अन्दरका खजाना दिखायी पड़ता है, वही मेरा भक्त है। आकाश सबको आच्छादित कर लेता है, पर फिर भी वह सबसे अलिप्त रहता है। ठीक इसी प्रकार जिसका चित्त सदा-सर्वत्र व्यापक रहनेपर भी सबसे उदासीन रहता है, जो संसारके व्यथाओंसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार कोई पक्षी किसी बहेलियेके हाथसे छूट जाता है और इस प्रकार जो वैराग्यमें पूर्ण पारंगत हो जाता है, नित्य आत्मसुखमें रँगे रहनेके कारण जिसे कोई क्लेश पीड़ित नहीं करता, जिसे लज्जा उसी प्रकार स्पर्श नहीं करती, जिस प्रकार किसी मृतकको। कोई कर्मारम्भ करनेके विषयमें जिसे अहंकारकी कुछ भी बाधा नहीं होती, ईंधन न मिलनेके कारण अग्निमें जिस प्रकारकी शान्ति स्वतः आ जाती है, मोक्ष पानेके लिये आवश्यक वही सहजशान्ति जिसके हिस्सेमें आ पड़ी है, हे अर्जुन! जो इस उच्चतातक पहुँचनेके योग्य 'सोऽहम्' भावसे भरा हुआ है और द्वैतके उस पारके तटतक पहुँच चुका है, भक्ति-

सुख पानेके लिये जो स्वयं ही दो भागोंमें विभक्त होकर प्रथम भागमें तो स्वयं अपनी सेवकता रखता है, दूसरेमें 'मैं' यानी 'देव' का (ईश्वरका) नाम देता है और जो योगी भक्तिहीनोंको भक्तिपर भरोसा दिला देता है, उससे मुझे अत्यधिक प्रीति होती है। किंबहुना, मैं स्वयं ही ऐसे भक्तोंका ध्यान करता रहता हूँ। ऐसे भक्तोंके भेंट होते ही मुझे सन्तुष्टि मिलती है। इस प्रकारके ही भक्तोंके लिये मैं सगुणरूप धारण करता हूँ, उनके लिये मैं इस जगत्में विचरण करता हूँ। वे मुझे इतने अधिक प्रिय होते हैं कि मैं उनपर जीव और प्राण निछावर कर देता हूँ। (१७२—१८९)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

जिसकी यह मान्यता है कि आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके समान उत्तम चीज और कुछ भी नहीं है, इसीलिये जिसे किसी प्रकारके विषय-भोगोंसे आनन्द नहीं होता, जिसे इस चीजका सम्यक् ज्ञान हो जाता है कि मैं ही सारा विश्व हूँ और इस ज्ञानके कारण सहजमें ही जिसका भेद-भाव समाप्त हो जाता है, जिसमें द्वेष लेशमात्र भी नहीं रह जाता, जिसे इस बातका पूरा भरोसा हो जाता है कि हमारे जो वास्तविक तत्त्व हैं, कल्पके अन्तमें भी विनष्ट नहीं होंगे और इस भरोसेके कारण जो नित्य होती रहनेवाली बातोंका शोक नहीं करता, जिस आत्मस्वरूपसे बढ़कर अन्य कोई चीज नहीं है, उस आत्मस्वरूपको प्राप्त कर चुकनेके कारण जो अन्य किसी चीजकी कामना नहीं करता, जिसे भले-बुरेका भेद उसी प्रकार कभी नहीं जान पड़ता, जिस प्रकार सूर्यके लिये रात और दिन कभी नहीं होता और इस प्रकार जो ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति ही बन जाता है तथा उसमें भी जो मेरा परम प्रिय भक्त होता है मैं तुम्हारी शपथ खाकर कह रहा हूँ—उस भक्तके सदृश मुझे और कुछ भी प्रिय नहीं होता। (१९०—१९६)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥

हे पार्थ! जिसमें वैषम्य (भेद-भाव) लेशमात्र भी नहीं होता, जो शत्रु और मित्र दोनोंको एक समान ही मानता है, जो दीपककी भाँति ही रहकर कभी यह विचार नहीं करता कि मैं अपने घरवालोंके लिये तो प्रकाश करूँगा और बाहरी लोगोंके लिये अँधेरा ही रखूँगा, वह मेरा परम प्रिय भक्त होता है। कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी लेकर वृक्षको काटता है और कोई बीज बोकर वृक्ष लगाता है; पर वृक्ष उन दोनोंको ही समानरूपसे अपनी छाया प्रदान करता है। जो किसान अपने खेतमें जल डालकर ईखका सिंचन करता है, उसे भी ईख अपनी मिठास ही देती है और जो उसे कोल्हूमें पेरता है, उसे भी वही मिठास मिलती है। यह बात नहीं होती कि वह जल-सिंचन करनेवालेको तो मिठास दे और पेरनेवालेको कड़वा लगे। इसी प्रकार हे अर्जुन! जो अपने शत्रु और मित्र दोनोंके साथ समानरूपसे व्यवहार करता है, जो मान-अपमानको एक तुल्य समझता है, जो शीतोष्ण इत्यादि द्वन्द्वोंमें वैसे ही समभावसे रहता है, जैसे आकाश तीनों ऋतुओंमें एक समान रहता है, जो सहजभावसे मिलनेवाले सुखों और दुःखोंके बीचमें उसी प्रकार अचल और विकारहीन रहता है, जिस प्रकार दक्षिणी और उत्तरी वायु—दोनोंके मध्यमें मेरुगिरि अचल और विकारहीन रहता है, जो जीवमात्रके साथ वैसे ही समभावसे व्यवहार करता है, जैसे चन्द्रिका राजा और रंक सबके साथ समानरूपसे व्यवहार करके उन्हें प्रियता तथा मधुरता देती है, जिसको तीनों लोक उसी प्रकार चाहते हैं, जिस प्रकार समस्त जगत् जलको चाहता है, जो बाह्याभ्यन्तर विषय-इच्छाका परित्याग कर और स्वयं अपने-आपमें ही रमण करता हुआ एकान्तसेवन करता है। (१९७—२०६)

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

जो निन्दाकी परवा नहीं करता और स्तुतिसे भी प्रसन्न नहीं होता, जो इन सब चीजोंसे वैसे ही निर्लिप्त रहता है, जैसे आकाशको रंगोंका लेप

नहीं लगता और निन्दा तथा स्तुतिको एक ही श्रेणीमें रखता है, जो जनसमुदायमें तथा निर्जन वनमें भी प्राणके समान अचंचल-वृत्तिसे (उदास) और समभावसे विचरण करता है, जो न तो कभी झूठ ही बोलता है और न कभी सत्य ही, बल्कि सदा मौन रहता है और उन्मनी नामक ब्रह्म-स्थितिसे कभी नहीं अघाता, जो सदा समुद्रकी भाँति ठीक वैसे ही भरा रहता है, जैसे वह वृष्टि न होनेपर भी भरा रहता है, जो लाभ प्राप्त होनेपर भी अति आनन्दसे भर नहीं जाता और हानि होनेपर भी दुःखसे भी दुःखी नहीं होता, जो उसी प्रकार सारे जगत्‌को अपनी विश्रान्तिका स्थान बनाये रहता है, जिस प्रकार वायु सदा पूरे आकाशमण्डलमें संचरण करती रहती है, जो इस प्रकार-का ज्ञान प्राप्त करके अपना मन सदा स्थिर रखता है कि यह सारा जगत् ही मेरा घर है, बहुत क्या कहें, जो यह समझता है कि यह चराचर स्वयं मैं ही हूँ और हे पार्थ! ऐसी स्थितिके प्राप्त हो जानेपर भी जिसे मेरी भक्तिके प्रति श्रद्धा रहती है, उसे मैं अपने मस्तकपर मुकुटकी भाँति धारण करता हूँ। यदि किसी उत्तम भक्तके समक्ष मस्तक झुकाया जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? पर तीनों लोक भी जिसके चरणतीर्थ आदरपूर्वक अपने मस्तकपर रखते हैं, वह मैं अपने भक्तका कितना अधिक सम्मान करता हूँ, यह अच्छी तरहसे जाननेके लिये स्वयं सदाशिव-सरीखा ही सद्गुरु होना चाहिये। पर इस विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है; क्योंकि यदि मैं शिवकी स्तुति करूँ तो मानो स्वयंकी ही स्तुति करनेके समान होगा; इसलिये यह बात जाने दो।''

रमानाथ श्रीकृष्णने कहा—''हे अर्जुन! ऐसे भक्तको मैं मस्तकपर धारण करता हूँ। मोक्ष नामक जो चौथा पुरुषार्थ है, उसे तो वह अपने हाथोंमें ही लेकर भक्तिके मार्गमें प्रवेश करता है और तब समस्त संसारको वह मोक्ष प्रदान करने लगता है। कैवल्यको तो वह हस्तगत कर लेता है तथा मोक्षरूपी द्रव्यको वह जैसे चाहता है, वैसे ही खोलता और बाँधता है।

पर फिर भी वह जल प्रवाहकी ही भाँति अपने लिये तलका स्थान ही स्वीकार करता है और सदा नम्र ही बना रहता है। यही कारण है कि मैं भी ऐसे भक्तको नमस्कार करता हूँ, उसे मुकुटकी तरह अपने मस्तकपर धारण करता हूँ तथा उसका चरण-प्रहार भी अपने वक्ष:स्थलपर सहन करता हूँ। उसका गुणगान करके मैं अपनी वाणीको अलंकृत करता हूँ और उसके गुण-श्रवणरूपी कुण्डल अपने श्रवणेन्द्रियोंमें धारण करता हूँ। उसके दर्शनकी लालसा होनेके कारण ही मैं आँख न होनेपर भी आँखोंसे युक्त हुआ हूँ। मैं अपने हाथके लीलाकमलसे उसकी पूजा करता हूँ, मैं जो अपनी दो भुजाओंके ऊपर और दो भुजाएँ धारण करके आया हूँ, इसका कारण यही है कि मैं ऐसे भक्तको दोनों भुजाओंसे अच्छी तरह आलिंगन करना चाहता हूँ। ऐसे भक्तकी संगतिका सुख पानेके लिये ही मैं विदेह होनेपर भी देह धारण करता हूँ। किंबहुना, ऐसा भक्त मुझे कितना प्रिय होता है, यह बात मैं किसी उपमाके द्वारा नहीं बतला सकता। यदि इस प्रकारके भक्तके साथ मेरी मैत्री हो तो इसमें आश्चर्य ही किस बातका? जो लोग ऐसे भक्तोंके चरित्र सुनते अथवा उनका गान करते हैं, नि:सन्देह वे भी मुझे प्राणोंसे भी कहीं अधिक प्रिय होते हैं। हे अर्जुन! आज मैंने तुमको भक्तियोग नामक जो यह सर्वश्रेष्ठ योग पूरी तरहसे बतलाया है, यह वही योग है जिसके कारण मैं अपने भक्तोंको परम प्रिय समझता हूँ और उन्हें अपने अन्त:करण अथवा सिरपर बैठाता हूँ। (२०७—२२९)

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्याय:॥ १२॥

जिस योगका माहात्म्य इतना अधिक है, उस योगकी रम्य, पावन

और अमृतधाराके सदृश मधुर बात जो लोग सुनकर उसका अनुभव करते हैं, जो श्रद्धापूर्वक ऐसी बातोंका विस्तार करते हैं तथा जो इस बातको सदा अपने अन्तःकरणमें धारणकर तदनुसार आचरण करते हैं, मैंने जैसी बातें बतलायी हैं वैसी ही मनकी स्थिति होनेपर उपजाऊ खेतमें बोये हुए बीजोंसे प्राप्त होनेवाले उत्तम फल की तरह जो मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ समझते हैं तथा मेरी भक्तिके प्रति अपना प्रेम समर्पित कर उसीको सर्वस्व मानते हैं, हे पार्थ! इस संसारमें वही सच्चे भक्त और सच्चे योगी हैं। मुझे अनवरत उन्हींकी उत्कण्ठा लगी रहती है। जिन व्यक्तियोंको भक्तिविषयक कथाओंका प्रेमपूर्ण अनुराग होता है, वही तीर्थ और वही क्षेत्र हैं तथा वही इस जगत्‌में पवित्र हैं। वही मेरे ध्यान और वही मेरे देवार्चन हैं। उनसे बढ़कर अच्छा मुझे अन्य कोई नहीं दीखता। वही मेरे व्यसन और वही मेरे द्रव्यनिधान हैं। किं बहुना, ऐसे भक्तोंके प्राप्त हुए बिना मेरे मनको समाधान ही नहीं होता। हे पाण्डुसुत! जो लोग ऐसे प्रेमी भक्तोंको कथाओंका गान करते हैं, उन्हें मैं परम देवता, मानता हूँ।" भक्तोंको आनन्दित करनेवाले और सारे संसारके आदिकारण श्रीमुकुन्दने पार्थसे ये सब बातें कहीं। ये सब बातें कहकर संजयने धृतराष्ट्रसे कहा कि हे महाराज! जो श्रीकृष्ण निर्मल, निष्कलंक, लोककृपालु, शरणागतका प्रतिपालन करनेवाले और रक्षक हैं, देवोंकी सहायता करना जिनका स्वभाव है, विश्वका पालन करना ही जिनकी लीला है, शरणागतोंकी रक्षा करना जिनका खेल है, जो धर्म और कीर्तिसे अत्यन्त निर्मल हैं, जो अत्यन्त सरल और अपरम्पार उदार हैं जो विषमभाव-रहित है, जिनका बल असीम है तथा जो बलिष्ठोंको बिना अपनी आज्ञामें लाये नहीं छोड़ते, जो भक्तजनवत्सल हैं, जो अपने प्रेमी भक्तोंके साथ प्रेम करनेवाले, सत्यका पक्ष लेनेवाले तथा समस्त कलाओंके निधि हैं, वे भक्तोंके चक्रवर्ती सम्राट् वैकुण्ठके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही ऐसी बातें कह रहे थे और

वह परम सौभाग्यशाली अर्जुन ये सब बातें धैर्यपूर्वक सुन रहा था। फिर संजयने धृतराष्ट्रसे कहा कि अब मैं इसके आगेकी कथाका निरूपण करता हूँ, आप सुनें। संजयकी कही हुई वही सरस कथा अब देशीभाषामें कही जायगी। श्रोतावृन्द इसकी ओर ध्यान दें। श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओंसे विनम्र निवेदन करता है कि हे महाराज! स्वामी निवृत्तिदेवने मुझे यही सिखलाया है कि मैं आप सन्तजनोंकी शरणमें आकर सेवा करूँ। (२३०—२४७)

१०१

अध्याय तेरहवाँ

जिनके स्मरणमात्रसे ही शिष्यमें समस्त विद्याएँ आ जाती हैं, उन श्रीगुरुचरणोंकी मैं वन्दना करता हूँ। जिनके स्मरणसे ही काव्य-शक्ति आ जाती है, सब प्रकारकी रसाल वक्तृताएँ जिह्वाग्रपर आ बैठती हैं, वक्तृत्वकी मधुरताके आगे अमृत भी फीका पड़ जाता है, हर एक अक्षरके सम्मुख समस्त रस टहल बजाते रहते हैं, उद्दिष्ट अर्थ खुल जाता है, रहस्य-ज्ञान हो जाता है तथा पूर्ण आत्मबोध हाथ लग जाता है, वे श्रीगुरुचरण ज्यों ही हृदयमें आ बैठते हैं, त्यों ही ज्ञानका भाग्योदय हो जाता है। इसीलिये उन गुरुचरणोंको नमन करके अब मैं यह बतलाता हूँ कि पितामह (ब्रह्मा)-के भी पिता लक्ष्मीपतिने क्या कहा। (१—६)

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—"हे पार्थ सुनो। देहको 'क्षेत्र' कहते हैं और जिसको इसका ज्ञान होता है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। (७)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

पर इस सम्बन्धमें तुम यह निश्चितरूपसे जान लो कि मैं ही 'क्षेत्रज्ञ' हूँ क्योंकि मैं ही समस्त क्षेत्रों (शरीरों)-का पोषण करता हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो वास्तविक ज्ञान है, वही मेरी दृष्टिमें सर्वोत्तम ज्ञान है। (८-९)

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

अब तुम यह ध्यानपूर्वक सुनो कि इस शरीरको क्षेत्र कहनेका उद्देश्य क्या है। इसे क्षेत्र क्यों कहते हैं, यह कैसे और कहाँ उत्पन्न होता है और किन-किन विकारोंसे इसकी वृद्धि होती है? यह क्षेत्र यही साढ़े तीन हाथका छोटा-सा ही है, अथवा बड़ा है तो कितना बड़ा है और किस आकारका है? यह उपजाऊ है अथवा अनुपजाऊ? इसका स्वामी कौन है? इत्यादि जितने प्रश्न हैं, अब मैं उन सबका सम्यक् वर्णन करता हूँ, सुनो।

हे पार्थ! इन्हीं प्रश्नोंकी मीमांसा करनेके लिये वेद बड़बड़ाते रहते हैं और तर्कका प्रलाप भारी रहता है। इन्हीं प्रश्नोंका समाधान करते-करते षट्दर्शनोंका अवसान हो गया, तो भी आजतक वे एकमत नहीं हो सके। इन्हीं सब चीजोंको लेकर शास्त्र परस्पर लड़ते रहते हैं और सारे जगत्में इन्हींको लेकर वाद-विवाद होते रहते हैं। इन विषयोंमें किसीकी बात किसीसे मेल नहीं खाती, कोई किसीका मुँह नहीं देखता, मतोंमें परस्पर पटरी नहीं बैठती, ऊहापोहकी दुर्दशा हो गयी है और चतुर्दिक् सिर्फ अव्यवस्था फैली हुई है। अभीतक किसीको यह ज्ञात ही नहीं हुआ कि इस क्षेत्रका स्वामित्व किसके हाथ है। किन्तु अहंकारका इतना प्राबल्य है कि घर-घर इसीसे सम्बन्धित बवाल खड़े रहते हैं। नास्तिकोंका मुकाबला करनेके लिये वेदोंने बड़े-बड़े आडम्बर रचकर खड़े किये हैं तथा पाखण्डियोंने वेद-विरुद्ध बहु-भाषण शुरू कर दिये हैं। वे कहते हैं कि इन वेदोंका कोई आधार ही नहीं है, ये झूठे ही शब्दाडम्बर फैलाते हैं। यदि हमारी बात झूठी हो तो इसे साबित करनेके लिये हमने यह प्रतिज्ञाका बीड़ा रखा है। यदि हिम्मत हो तो इसे उठा लो। जरा हम भी देखें। बहुतोंने पाखण्डमें प्रवेश करके वस्त्रोंका त्याग करके लुटिया डुबोयी है, पर उनके वितण्डावाद अपने-आप उन्हींको परास्त कर देते हैं। मृत्युकी सामर्थ्य देखकर योगी इस भयसे कुछ और आगे कदम बढ़ाये कि मृत्युके पदार्पण करनेपर यह देह-क्षेत्र बेकार हो जायगा। मृत्युसे घबरानेवाले वे योगी मनुष्योंकी आबादीसे दूर एकान्त स्थानमें रहने लगे

और उन्होंने यम-नियमोंके बखेड़े अपने संग चिपका लिये। इसी देह-क्षेत्रकी विवेचना करनेके लिये शिवने अपने लोकका परित्याग किया तथा चतुर्दिक् उपाधियाँ देखकर एकमात्र श्मशान-भूमिको ही अपना निवास-स्थान बना लिया। महेशकी प्रतिज्ञा इतनी प्रबल थी कि केवल दिगम्बर होकर मदनको इसलिये जला डाला कि वह लोगोंको लुभानेवाला है। सामर्थ्य बढ़ानेके लिये सत्यलोकके नाथ ब्रह्मदेवको चार मुख प्राप्त हुए, पर फिर भी इसका उन्हें ज्ञान नहीं हुआ। (१०—२६)

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

कुछ लोग कहते हैं कि सम्पूर्ण स्थल देह-क्षेत्र जीवका ही खेत है और प्राण उसमें खेती करनेवाला खेतिहर है। इस प्राणके घरमें अपान, व्यान, समान और उदान—ये चार भाई काम करनेवाले हैं तथा मन उन सबपर हल चलानेवाला और बीज बोनेवाला है। इस मनके पास इन्द्रियरूपी बैल हैं जो खेत जोतनेके काम आते हैं। यह न तो दिनको दिन और न रातको रात समझता है और हमेशा विषयरूपी खेतमें खूब मेहनत करता रहता है। यह इस प्रकारकी जोताई करके जो मिट्टी ऊपर-नीचे करता है, उसके कारण उसमेंसे कर्तव्य-कर्मके आचरणका तत्त्व निकल जाता है और तब वह खेतिहर इस तत्त्वका नाश करके अन्यायरूपी बीज बोता है तथा उसमें कुकर्मरूपी खाद डालता है। फलतः पापोंकी फसल पैदा होती है, जिससे जीवको कोटि-जन्मपर्यन्त दुःख झेलना पड़ता है। पर ऐसा न करके यदि कर्तव्य-कर्मोंके तत्त्वको स्थिर रहने दिया जाय और सत्कर्मोंके बीज बोये जायँ, तो वही जीव सैकड़ों जन्मोंतक सुख प्राप्त करता है। इसपर कुछ अन्य लोग कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। यह क्षेत्र केवल जीवका ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके विषयमें हमें सारी बातें जाननी चाहिये। यह जीव तो सिर्फ एक प्रवासी है। यह तो चक्कर काटता हुआ आता है और मार्गमें

कुछ कालके लिये इस क्षेत्रमें भी अपना डेरा डाल लेता है। इस क्षेत्रका अधिकारी प्राण है और वह नित्य इसका पहरा देता रहता है। सांख्यशास्त्रमें जिसे अनादि प्रकृति कहते हैं, उसीको इस क्षेत्रकी वृत्ति प्राप्त है; सारे प्रपंच उसीके हैं। इसलिये इस क्षेत्रकी जोताई इत्यादि कार्य उसीके कर्मचारी करते हैं। जो मुख्य तीन गुण हैं वे इसी प्रकृतिके पेटसे उत्पन्न हुए हैं, जो इस संसारमें खेतीका काम करते हैं। खेतकी जोताई रजोगुण करता है, फसलकी रखवाली सत्त्वगुण करता है और उचित समयपर फसल काटकर रखना तमोगुणका काम है। फिर महत्तत्त्वका खलिहान तैयार कर कालरूपी बैलोंके द्वारा फसलकी दँवायी होती है। प्रायः इसी समय अव्यक्तका सायंकाल हो जाता है। इसपर कुछ दूसरे बुद्धिमान् आपत्ति करते हुए कहते हैं कि ये सब बातें तो अर्वाचीन हैं। वास्तवमें परतत्त्व ब्रह्म ही है। फिर उस ब्रह्मके आगे प्रकृतिको कौन पूछता है तुम्हारा क्षेत्रविषयक विचार सुनना मानो बकवाद सुनना है। शून्यब्रह्मके शयनकक्षमें सत्यवाली अवस्थाकी शय्यापर जो आदि-संकल्प सोया हुआ था, वह अकस्मात् जाग उठा। वह अत्यन्त उद्यमी था, इसलिये उसने अपने मनोऽनुकूल यह विश्वका खाका तैयार किया। निर्गुण परब्रह्मका मैदान त्रिभुवनके बराबर खड़ा था। उसे इस आदि-संकल्पकी करनीसे रंग-रूप प्राप्त हुआ। फिर महाभूतोंका जो विशाल बंजर पड़ा हुआ था, उसके जारज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज—ये चार भाग हुए। फिर पंचमहाभूतोंका जो एक पिण्ड था, उसे तोड़कर पृथक्-पृथक् विभाग करके पांचभौतिक सृष्टिका सृजन किया गया। फिर कर्म और अकर्मरूपी पत्थरोंको इकट्ठा करके दोनों ओरसे बाँध बाँधे गये और उन्हींमें ऊसर जमीनें तथा जंगल बने। यहाँ आवागमनका काम सदा जारी रखनेके लिये उस आदि-संकल्पने जन्म और मृत्युरूपी दो सुरंगोंकी रचना इस प्रकार की थी कि ये सृष्टिसे चलकर निरालम्ब ब्रह्मतक पहुँच जायँ। फिर इस आदि संकल्पने अहंकारके साथ मिलकर बुद्धिकी मध्यस्थतासे ऐसी व्यवस्था बनायी कि

इस क्षेत्रका क्रम निरन्तर चलता रहे। प्रारम्भमें उस निर्गुण निरालम्ब ब्रह्ममें ही आदि-संकल्पका अंकुर प्रस्फुटित हुआ था, इसलिये यही सिद्ध होता है कि वही आदि-संकल्प इस प्रपंचका मूल है। जब इस प्रकार संकल्पवादियोंने अपने मतरूपी मोती प्रस्तुत किये, तब सद्यः एक अन्य मतावलम्बी आगे बढ़कर कहने लगे—''आप तो बहुत अच्छे चिकित्सक दिखायी देते हैं महाराज! यदि परब्रह्मके यहाँ आदि-संकल्पके शयन-कक्षको ही परिकल्पना करनी हो तो फिर सांख्य मतकी उस परब्रह्मवाली प्रकृतिको ही वास्तविक मान लेनेमें क्या हर्ज है? पर इन सब बातोंको जाने देना चाहिये, कारण कि ये बातें ठीक नहीं हैं। तुम लोग इन सबके चक्करमें मत पड़ो। इसकी वास्तविक उपपत्ति अब हम बतलाते हैं, ध्यानपूर्वक सुनो। आकाशमें मेघोंके समूह कौन भरता है? अन्तरिक्षमें तारागणको कौन सजाता है? गगनकी छत किसने और कब बनायी? वायुको निरन्तर बहनेका आदेश किसने दिया? रोमकी उत्पत्ति किसने की? सिन्धुको किसने भरा? वर्षाकी धाराएँ कौन चलाता है? जैसे ये सब चीजें स्वभावतः हुआ करती हैं, वैसे ही यह क्षेत्र भी स्वभावतः उत्पन्न हुआ है। यह किसीकी जागीर नहीं है, इसमें जो मेहनत करता है, उसीको उसका फल मिलता है; अन्यको वह फल नहीं मिलता।'' जिस समय स्वभाववादी इस सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रहे थे, उस समय कुछ और लोग बड़े तावसे बोले—''यदि आपकी बात मानी जाय तो फिर इस क्षेत्रपर केवल कालकी ही निरन्तर सत्ता क्यों रहती है? आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि इस कालकी सत्ता अनिवार्य है पर फिर भी आप अपने मतका मिथ्या अभिमान करते हैं। यह तो मानो क्रुद्ध मृत्यु अथवा सिंहकी गुफा है। परन्तु क्या किया जाय? आप-जैसे बड़बड़ानेवालेको यह बात भला कैसे ठीक जान पड़े? कालरूपी सिंह महाकल्पके उस पार पहुँचकर ब्रह्मलोकरूपी हाथीपर भी आक्रमण करनेसे नहीं चूकता। यह कालरूपी सिंह स्वर्गके अरण्यमें

भी प्रविष्ट कर जाता है तथा वहाँ पहुँचकर नये-नये लोकपालों और दिग्गजोंके समूहका भी नाश कर डालता है और दूसरे जो जीवरूपी हिरन इत्यादि होते हैं, ये इस कालरूपी सिंहके शरीरकी सिर्फ हवा लगनेसे ही निर्जीव होकर जन्म और मृत्युरूपी गड्ढोंमें चक्कर काटते रहते हैं। देखो, इसका जबड़ा कितना विस्तृत है। इसके जबड़ेमें जगत्के आकारका हाथी भी समा जाता है। अतएव वास्तविक सिद्धान्त यही है कि इस क्षेत्रपर केवल कालका ही एकाधिपत्य है।"

हे पाण्डुसुत। इस क्षेत्रके विषयमें अनेक पक्ष प्रस्तुत हो चुके हैं। नैमिषारण्यमें ऋषियोंने इस सम्बन्धमें बहुत कुछ विचार-विमर्श किया है। पुराणोंमें भी इस विषयकी ऊहापोह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। अनुष्टुप् इत्यादि छन्दोंमें इसकी बहुत-सी चर्चाएँ की गयी हैं, अब भी बड़े गर्वसे उनका आधार ग्रहण किया जाता है। वेदोंमें ज्ञानकी दृष्टिसे बृहद् सामसूत्र अत्यधिक पवित्र है, पर उसे भी इसकी थाह नहीं लगी। इसके अलावा और भी अनेक दूरदर्शी महाकवियोंने इस क्षेत्रका पता करनेमें अपनी बुद्धि खपा दी है। पर आजतक यह बात किसीके समझमें नहीं आयी कि वह क्षेत्र ऐसा है, इतना बड़ा है अथवा वह अमुकका है। अब मैं इस क्षेत्रके समग्र स्वरूपका वर्णन करता हूँ, मन लगाकर सुनो। (२७—७१)

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दसों इन्द्रियाँ और इनके अलावा एक मन, दसों विषय तथा सुख-दुःख, द्वेष, संघात, इच्छा, चेतना और धृति—इन सबका व्यक्त स्वरूप ही क्षेत्र है। मैंने क्षेत्रके तत्त्वोंकी यह नामावली तुमको बतला दी है। अब मैं तुमको यह अलग-अलग बतलाता हूँ कि महाभूत कौन हैं, विषय कौन हैं और इन्द्रियोंका क्या स्वरूप होता

है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पंचमहाभूत हैं। जाग्रत् अवस्थामें जैसे स्वप्नावस्थाका अभाव होता है अथवा जैसे दिनके समय चन्द्रमा अदृश्य रहता है अथवा प्रौढ़ावस्थाके सन्निकट पहुँचे हुए बालकोंमें जैसे तारुण्य दबा हुआ रहता है अथवा बन्द कलीमें जैसे सुगन्ध बन्द रहती है अथवा काष्ठमें अग्नि जैसे छिपी रहती है, वैसे ही जो प्रकृति (माया)-के पेटमें छिपा रहता है और फिर शरीरको रुधिर इत्यादि धातुओंमें छिपा हुआ ताप कुपथ्यके निमित्तकी प्रतीक्षा किया करता है तथा कुपथ्यका वह निमित्त मिलते ही तत्क्षण रोगीका बाह्याभ्यन्तर सब कुछ व्याप्त कर लेता है, वैसे ही जब पंचमहाभूत इकट्ठे होते हैं और इस देहका आकार बनता है तब जो इस देहको चतुर्दिक् नचाने लगता है, हे किरीटी! उसीको अहंकार जानना चाहिये। इस अहंकारकी बातें बहुत ही विलक्षण हैं। यह अज्ञानियोंको तो ज्यादा नहीं सताता, पर ज्ञानिजनोंका गला पकड़कर उन्हें नाना प्रकारके क्लेशोंमें डालकर नचाता रहता है। फिर यदुराजने कहा कि हे अर्जुन, जिसे बुद्धि कहते हैं, उसे आगे बतलाये हुए लक्षणोंसे पहचानना चाहिये। अब मैं तुमको वह लक्षण बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। जिस समय कामवासना प्रबल होती है, उस समय इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका भेदन करके विषयसमूह अन्दर प्रविष्ट करते हैं। तदनन्तर जीवको सुखों और दुःखोंका जो अनुभव करना पड़ता है, उस व्यवहारमें सुखों और दुःखोंकी जो ठीक-ठीक माप करती है, जो इस चीजका निश्चय करती है कि यह सुख है और यह दुःख है, यह पुण्य है और यह पाप है, यह अच्छा है और यह बुरा है, जिसके सहयोगसे भले-बुरे तथा बड़े-छोटे इत्यादिका ज्ञान होता है और जिसकी दृष्टिके द्वारा जीवको विषयोंकी परख होती है, जो ज्ञान, तेजका मूल कारण है, जो सत्त्वगुणकी वृद्धि है, जो जीव और आत्माको जोड़ती है, हे अर्जुन, उसीको तुम बुद्धि समझो। अब अव्यक्तके लक्षण सुनो। सांख्यशास्त्र और योगशास्त्रके अनुसार प्रकृतिके जो दो प्रकार हैं, वे पहले (सप्तम अध्यायमें)

तुमको बतलाये जा चुके हैं। उनमें दूसरी पराप्रकृति जो जीवदशा (ज्ञानदेवी) है, उसीका यहाँ दूसरा नाम अव्यक्त है। जैसे रात्रिका अवसान होते ही समस्त नक्षत्र गगनमण्डलमें ही छिप जाते हैं अथवा दिनका अवसान होनेपर जैसे प्राणियोंका संचरण बन्द हो जाता है अथवा हे किरीटी, जैसे देहके अन्त होनेपर किये हुए कर्मोंमें देहादि विकार गुप्त रहते हैं अथवा जैसे बीजके स्वरूपमें पूरा वृक्ष छिपा रहता है अथवा जैसे सूतके स्वरूपमें वस्त्र समाया रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण स्थूल धर्म त्यागकर महाभूत और भूत-सृष्टि लयको प्राप्त होकर सूक्ष्मरूपसे जिसमें निवास करती है, हे अर्जुन, उसीका नाम अव्यक्त है।

अब मैं तुम्हें इन्द्रियोंके विषयमें बतलाता हूँ, सुनो। कान, आँख, त्वचा, नाक और जिह्वा—इन पाँचोंको ज्ञानेन्द्रिय समझना चाहिये। जिस समय ये पंचज्ञानेन्द्रियाँ इकट्ठी होती हैं, उस समय इन्हींके द्वारा बुद्धि सुख-दुःखका विचार करती है। वाणी, हाथ, पैर, गुदा द्वार और उपस्थ—ये पाँच प्रकार और हैं। इन्हें कर्मेन्द्रिय नामसे जानना चाहिये। प्राणोंकी प्रिय सखी और शरीरस्थ जो क्रिया-शक्ति है, वह इन्हीं पाँच द्वारोंसे होकर आया-जाया करती है। देवने कहा कि हे अर्जुन, मैंने तुमको दसों इन्द्रियोंके विषयमें स्पष्टरूपसे बतला दी है, अब मैं तुमको मनके विषयमें बतलाता हूँ, सुनो। इन्द्रियों और बुद्धिके बीचकी सन्धिपर रजोगुणके कन्धेपर चढ़कर जो खेलता रहता है तथा गगनकी नीलिमा अथवा सूर्यरश्मियोंके मृगजलकी भाँति जो सिर्फ प्रतीत होनेवाली वायुकी चमक है, वही मन है। शुक्र और शोणितके एक स्थानपर मिलनेसे पंचमहाभूतोंकी जो सृष्टि होती है, उसमें वायुतत्त्वके दस प्रकार होते हैं। फिर उन दस प्रकारकी वायुओंका शरीरके दस भागोंमें अब स्थान होता है और वे अपने विशिष्ट धर्मोंसे युक्त होकर पृथक्-पृथक् रहती हैं। पर उनमें एक प्रकारकी चंचलता रहती है, जिससे उन्हें रजोगुणका बल प्राप्त होता है। यह चांचल्य बुद्धिके बाहर, पर अहंकारकी सीमापर यानी मध्यभागमें प्रबल होता है।

इसीका नामकरण मन किया गया है; परन्तु यथार्थतः वह कल्पनाकी ही मूर्ति है। जिसका साहचर्य ब्रह्मको जीवदशा प्राप्त करा देता है, जो मायाका मूल है, जिससे कामवासना बलवती होती है, जो निरन्तर अहंकारको भड़काता रहता है, जो कामनाओंको तो पूरा करता है, पर आशाओंकी वृद्धि करता है तथा भयको पुष्ट करता है, जो द्वैतभावका उत्थान करता है, अविद्याकी वृद्धि करता है और इन्द्रियोंको विषयोंमें लगाता है, जो सिर्फ काल्पनिक सृष्टिका सृजन करता है और फिर उसीको विनष्ट कर देता है, जो मनोरथोंके मठको बनाता और बिगाड़ता है, जो भ्रमागार तथा वायुतत्त्वका सार है, जो बुद्धिका द्वार बन्द कर देता है, हे किरीटी, उसीको मन समझना चाहिये। इसमें जरा-सा भी संदेह नहीं है। अब विषयोंके बारेमें सुनो। स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं। इन पाँचों द्वारोंसे ज्ञान भी बाहरकी ओर ठीक उसी प्रकार दौड़ता रहता है, जिस प्रकार हरा चारा देखकर कोई पशु बड़ी उत्कण्ठासे उसकी ओर दौड़ पड़ता है। स्वर, व्यंजन तथा विसर्गका उच्चारण करना, किसी वस्तुको ग्रहण करना अथवा परित्याग करना, चलना और मल-मूत्रका उत्सर्ग करना—ये पाँचों विषय कर्मेन्द्रियोंके हैं। क्रियाओंकी प्रवृत्ति इन्हींकी मचान अथवा भरतीके आधारपर होती है। इस प्रकार इस देहमें दस विषय हैं। अब मैं इच्छाका विवेचन करता हूँ। कोई विगत बात याद आनेपर अथवा उससे सम्बन्धित कोई बात सुनायी पड़नेपर जो भावना अशान्त होती है, इन्द्रियों और विषयोंके मिलते ही जो तुरन्त कामका हाथ पकड़कर उठ खड़ी होती है, जिसके उठते ही मन इधर उधर दौड़ने लगता है तथा जहाँ पैर रखनेलायक नहीं है, वहाँ इन्द्रियाँ मुँह डालने लगती हैं, जिस भावनाके चक्करमें पड़कर बुद्धि पागलोंकी भाँति हो जाती है और जिसे विषयोंका चसका लगा रहता है, हे पार्थ! वही भावना इच्छा है। जिस समय इन्द्रियोंको उनके इच्छानुकूल विषयोंका भोग नहीं मिलता, उस समय इस प्रकारका जो हठपूर्ण विकार उत्पन्न होता है कि वह विषय हमें चाहिये-ही-चाहिये,

उसी विकारका नाम द्वेष है। अब मैं तुम्हें सुखके बारेमें बतलाता हूँ। जिसके कारण जीव और सब बातोंको भूल जाता है; जो मन, वाणी तथा कायाको शपथ देकर बाँध देता है, जो शरीरकी स्मृतिको निराधार कर देता है, जो उत्पन्न होते ही प्राणोंको पंगु बना देता है, पर जो सात्त्विक भावोंका द्विगुणित लाभ कराता है, जो इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको थपकी देकर सुला देता है, किंबहुना, जिस अवस्थामें जीवको आत्मस्वरूपका मार्ग प्राप्त होता है उस अवस्थामें जो प्रतीत होता है, उसीको सुख कहते हैं। हे पार्थ, जिस अवस्थामें इस योगका अभाव होता है, उसीको तुम्हें दुःख समझना चाहिये। जबतक संकल्प-विकल्प रहते हैं, तबतक सुख कभी हो ही नहीं सकता; पर ज्यों ही संकल्प-विकल्पोंका क्षय होता है, त्यों ही सुख स्वतः प्राप्त होता है। अतः संकल्प-विकल्पोंके होने और न होनेके दो कारणोंसे ही दुःख और सुख होता है। हे पाण्डुसुत, इस देहमें जो असंग और उदासीन चैतन्यकी शक्ति रहती है, उसीको चेतना कहते हैं। जो नख-शिखपर्यन्त सम्पूर्ण शरीरमें एक समान जाग्रत् रहती है, जो जाग्रति इत्यादि तीनों अवस्थाओंमें अखण्ड रहती है, जो मन और बुद्धि इत्यादिमें चेतनाका निर्माण करती है, तथा उनको हरा-भरा रखती है, जो प्रकृतिवन-माधवी है, जो जड और चेतन पदार्थोंमें भी अंश-भेदसे सदा संचरण करती रहती है, वही चेतना है। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है। हे पार्थ, राजाको अपने सैन्यदलके लोगोंका अलग अलग ज्ञान नहीं होता, पर फिर भी उसकी आज्ञापर सेना शत्रुके चक्र (सेना)-का पराभव करती है अथवा जिस समय चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कलाओंसे परिपूर्ण होता है, उस समय सिन्धुमें स्वतः ज्वार आता है अथवा जिस समय चुम्बक लोहेके निकट रहता है, उस समय लोहा स्वतः हिलने लगता है अथवा जिस समय सूर्योदय होता है, उस समय लोग स्वतः जाग उठते हैं अथवा जैसे कच्छपी अपने बच्चोंके मुखके साथ मुख नहीं लगाती, सिर्फ उसकी दृष्टिसे ही उनका पोषण होता है, वैसे ही चेतना भी इस शरीरमें रहकर आत्माकी संगति जड़को सजीव करती

है। हे अर्जुन, यह तो हुई चेतनाकी बात। अब धृतिका विवेचन सुनो। इन पंचमहाभूतोंमें स्वाभाविक वैर बना रहता है। ऐसा नहीं होता कि जलसे पृथ्वीका विनाश न हो। तेज जलको सुखा देता है, वायुके साथ तेजका विवाद सदा रहता है और गगन बहुत सहजमें वायुको खा जाता है। इसी प्रकार आकाश किसी अन्य तत्त्वके साथ नहीं मिलता, पर फिर भी वह सबमें समाया रहता है और सर्वत्र अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखता है। इस प्रकार इन पंचमहाभूतोंकी एक-दूसरेसे नहीं पटती; परन्तु फिर भी ये पाँचों इस देह-क्षेत्रमें इकट्ठे रहते हैं। इतना ही नहीं, वे अपनी जन्मजात शत्रुताका परित्याग कर देहमें न केवल एक ही जगह रहते हैं, अपितु, अपने-अपने गुणोंसे एक-दूसरेका पोषण भी करते हैं। जिस धैर्यके कारण उनमें सहसा न होनेवाला इस प्रकारका मेल होता और बना रहता है, उसी धैर्यको लोग धृति नामसे पुकारते हैं और हे पाण्डव, इन पैंतीसों तत्त्वोंका जीवके साथ जो मेल होता है, उसीको इस प्रकरणमें संघात कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुमको छत्तीसों तत्त्वोंके बारेमें स्पष्टरूपसे बतला दिया है। इन सबको मिलाकर जो चीज बनता है, उसीको देह अथवा क्षेत्र कहते हैं। जैसे रथके अलग-अलग अंगोंके योगको ही 'रथ' कहते हैं, ऊपर और नीचेके सम्पूर्ण अवयवोंके समूहको जैसे 'देह' कहते हैं अथवा गज-अश्वों इत्यादिके समूहको जैसे 'सेना' कहते हैं, अथवा अक्षरोंके समूहको जैसे 'वाक्य' कहते हैं अथवा जलधरोंके समुदायको जैसे 'आकाश' और सम्पूर्ण लोकसमुदायको 'जगत्' कहते हैं', अथवा तेल, बत्ती तथा अग्नि—इन तीनोंका एक स्थानपर योग होनेपर जैसे 'दीपक' होता है, ठीक वैसे ही जिसके कारण ये छत्तीसों तत्त्व एकरूप होते हैं उसी एकरूपको सामुदायिक दृष्टिसे 'क्षेत्र' नामसे पुकारते हैं। इन्हीं महाभूतोंके एकरूप होकर कार्य करनेसे इसमें पाप और पुण्यकी फसल होती है और इसीलिये हम भी कौतुकसे इसे 'क्षेत्र' ही कहते हैं। कुछ लोगोंकी दृष्टिमें इसीका नाम 'देह' भी है। पर इन बातोंको खींचकर बढ़ानेकी जरूरत

नहीं है। वास्तवमें यह अनन्त नामोंवाला है। परन्तु परब्रह्मके इस पार तथा जड-जगत्की सीमापर्यन्त उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाले जितने पदार्थ हैं, वे सब क्षेत्र ही हैं पर उनमें देव, मानव तथा नाग इत्यादि जो योनि-विभाग होते हैं, वे सब गुणों (सत्त्व, रज, तम) और कर्मोंकी संगतिसे उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन, इन गुणोंके बारेमें मैं तुमको आगे चलकर बतलाऊँगा; पर अभी मैं तुमको ज्ञानके विषयमें बतलाता हूँ। क्षेत्र और उसके विकारोंका सम्पूर्ण वर्णन तो तुम सुन ही चुके हो और अब तुम निर्मल तथा श्रेष्ठ ज्ञान क्या है ? इसके विषयमें सुनो। जिस ज्ञानके लिये योगी लोग स्वर्गका कठिन मार्ग पार करके आकाशको भी निगल जाते हैं, ऋद्धि-सिद्धिके चक्करमें न पड़कर योग-साधना-जैसी दुःसाध्य बात भी सहते हैं, तपोंके दुर्गम पहाड़ पार करते हैं, कोटि यज्ञोंको निछावर कर देते हैं और कर्मकाण्डरूपी बेलको उखाड़ फेंकते हैं अथवा बड़े आवेशसे भजन-मार्गमें कूद पड़ते हैं तथा कोई-कोई सुषुम्नाकी सुरंगतकमें घुस जाते हैं और इस प्रकार जिस ज्ञानको पानेके लिये मुनियोंकी आशापूर्ण इच्छा वेद-वृक्षके पत्ते-पत्तेपर चक्कर लगाया करती है और हे अर्जुन! जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इस आशासे सैकड़ों जन्म गुरुकी सेवामें व्यतीत किये जाते हैं कि कभी तो वे अनुकम्पा करेंगे, जिस ज्ञानके मिलनेपर मोह पूर्णतया नष्ट हो जाता है, जो ज्ञान जीवको शिवके साथ मिला देता है, जो ज्ञान इन्द्रियोंका द्वार बन्द करता है, प्रवृत्तिके पाँव तोड़ डालता है और मनका संताप मिटा देता है, जिसके कारण द्वैतका अकाल पड़ जाता है और समभावना अथवा ऐक्यका सुकाल होता है, जो ज्ञान-मदका नामोनिशान मिटा देता है, महामोहको ग्रस लेता है तथा द्वैतका यह भाव कहीं रहने नहीं देता कि यह मैं हूँ और यह पराया है। जो संसारको निर्मूल कर डालता है, संकल्परूपी कीचड़ धो डालता है और ज्ञेय वस्तु अर्थात् परमात्मतत्त्वसे उसकी भेंट करा देता है, जिसका सामान्यतः आकलन करना भी अत्यन्त कठिन होता है, जिसका उदय होते ही जगत्को संचालित करनेवाले प्राण पंगु हो जाते

हैं, जिस ज्ञानके प्रकाशसे बुद्धिके नेत्र खुल जाते हैं और जीव आनन्दपुंजपर लोटने लगता है, जो ज्ञान परम पावन है, दोषोंसे भरा हुआ मन जिस ज्ञानके कारण निर्मल हो जाता है, जिसके योगसे आत्माको लगा हुआ जीव-भाववाला क्षयरोग एकदम ठीक हो जाता है, यद्यपि उस ज्ञानका निरूपण करना सम्भव नहीं है। पर फिर भी मैं उसका निरूपण करता हूँ। ज्ञानका यह निरूपण सुनकर बुद्धिसे ही उसे समझना चाहिये, कारण कि बिना बुद्धिके और सिर्फ आँखोंसे वह कभी दृष्टिगोचर ही नहीं हो सकता। पर जब एक बार बुद्धिके पकड़में वह आ जाता है और इस शरीरपर वह अपना अधिकार जमा लेता है, तब वह इन्द्रियोंकी क्रियाओंके रूपमें आँखोंको भी दृष्टिगत होने लगता है। जैसे वृक्षोंके हरे-भरे होनेसे वसन्त-ऋतुके शुभागमनका पता चलता है, वैसे ही इन्द्रियोंके व्यापारको देखकर ज्ञानका भी अनुमान किया जा सकता है। वृक्षोंकी जड़को पृथ्वीके गर्भमें भी जल मिल जाता है और तब वह जल शाखाओंके पत्तोंमें भी अपना प्रभाव दिखलाता है अथवा सुन्दर अंकुरोंको देखनेसे भी पृथ्वीमें रहनेवाली मृदुताका पता चलता है अथवा कुलीन व्यक्तियोंका महत्त्व उनके आचरणसे ही समझमें आ जाता है। जब व्यक्ति किसीका सत्कार करनेमें अत्यधिक व्यस्त होता है, तब उसकी उसी व्यस्ततासे उसका स्नेह प्रकट होता है अथवा व्यक्तिके पुण्यशील होनेका पता उसके शान्त और दिव्य आकृतिसे ही मिल जाता है अथवा जब केलेमें कपूर भर जाता है, तब चतुर्दिक् फैलनेवाली सुगन्धसे ही इस बातका ज्ञान हो जाता है कि केलेमें कपूर भर गया है अथवा काँचके अन्दर रखे हुए दीपकका प्रकाश चतुर्दिक् फैल जाता है। इसी प्रकार जब व्यक्तिके हृदयमें ज्ञान भर जाता है, तब बाहर भी उसके अनेक लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अब मैं वही लक्षण तुमको बतलाता हूँ, मन लगाकर सुनो। (७२—१८३)

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

जिसे किसी सांसारिक विषयमें पूरी तरहसे घुल-मिल जाना नहीं

रुचता, जिसे अपना बड़प्पन बोझस्वरूप जान पड़ता है, जो अपने गुणोंकी प्रशंसा होनेपर, अपने समान अथवा योग्यताको अपने साथ सम्बद्ध होते देखकर ठीक वैसे ही घबराता है, जैसे किसी व्याधके जालमें फँस जानेपर हिरन व्याकुल होता है अथवा कोई तैराक किसी भवँरमें फँस जानेपर घबराता है, हे पार्थ, जिसे लोगोंके द्वारा किया जानेवाला अपना सम्मान कष्टदायक जान पड़ता है, जो बड़प्पनको अपनी ओर आने ही नहीं देता, जो अपनी पूज्यता अपने नेत्रोंसे नहीं देख सकता, जो अपनी कीर्ति अपने कानोंसे नहीं सुन सकता, जो यह कभी नहीं चाहता कि लोग मेरी चर्चा करें, फिर आदर-सत्कारकी तो भला बात ही क्या है, जिसे उस समय अपनी मृत्यु ही सम्मुख दृष्टिगत होती है, जिस समय लोग उसे नमस्कार करते हैं, जो ज्ञानमें बृहस्पतिके समान होनेपर भी अपने महत्त्वके भयसे पागल-सा बना रहता है, जो प्रसिद्धिसे घबराता है, जो शास्त्रविषयक बकवाद छोड़कर एकान्त-सेवन करता है, जिसकी यह हार्दिक लालसा होती है कि संसार मेरा अनादर करे और मेरे हितैषी मेरी ओर देखें भी नहीं, जो अपना आचरण प्रायः ऐसा ही रखता है कि उसमें लघुता ही शोभा दे और अंगोंपर हीनताके ही भूषण दिखायी दें, जो निरन्तर यही कामना करता है कि मेरे बारेमें लोगोंकी यही धारणा रहे कि यह जीवित नहीं है, यह बिलकुल है ही नहीं, इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, जिसके जीवन-शैलीको देखकर लोगोंको यह भ्रम होता है कि यह चलता है अथवा हवाके साथ लुढ़कता चला जा रहा है, जो सदा यही कामना करता है कि मेरा अस्तित्व, नाम और रूप आदि सब कुछ नष्ट हो जाय, मुझे देखकर भूतमात्र डरकर भाग जायँ, जो नित्य एकान्तवास करता है और निर्जन स्थानकी कल्पनामात्रसे ही जिसकी जानमें जान आती है, जो एकमात्र वायुका ही सँघाती है, जिसे आकाशके साथ बातें करना ही रुचता है और वृक्ष ही जिसे सर्वाधिक प्रिय लगते हैं, किंबहुना जिस व्यक्तिमें तुम्हें ये सब लक्षण दिखायी पड़ें, उसके बारेमें यह समझ लो कि वह ज्ञानकी शय्यापर सो रहा है। इन्हीं चिह्नोंके माध्यमसे

यह जान लेना चाहिये कि किसी व्यक्तिमें अमानित्व है अथवा नहीं।

अब मैं तुम्हें 'अदम्भित्व' को पहचाननेका तरीका बतलाता हूँ; सुनो। हे किरीटी! जैसे लोभी व्यक्ति प्राणोंपर संकट आनेपर भी यह नहीं बतलाता कि मैंने अपने धनको कहाँ छिपाकर रखा है, वैसे ही जिसमें अदम्भित्व दम्भका अभाव होता है, वह प्राणोंपर संकट आनेपर भी अपने पुण्य-कर्मके बारेमें कभी नहीं बतलाता। हे अर्जुन! जिस प्रकार चोर-थनवाली गौ अपने थनमें आया हुआ दूध भी चुरा लेती है अथवा वेश्या अपनी ढली हुई उम्र छिपाती है, वनमें भटका हुआ धनवान् व्यक्ति जिस प्रकार किसीपर अपनी धनथानी (खजाना) प्रकट नहीं करता, कुलांगना जिस प्रकार अपना सर्वांग छिपाये रहती है अथवा किसान जिस प्रकार खेतमें बोये हुए अपने बीज मिट्टीके नीचे पूरी तरह छिपा देता है, उसी प्रकार जो अपने पुण्य-कर्म सदा गुप्त रखता है, जो शरीरके दिखावटी चोंचले नहीं करता, जो किसीको प्रसन्न करनेके फेरमें नहीं पड़ता और अपने धर्मानुष्ठानको अपनी वाणीरूपी ध्वजापर नहीं बाँधता, जो अपने किये हुए उपकृतिकी चर्चा नहीं करता, जो अपनी विद्याका प्रदर्शन नहीं करता, जो अपना ज्ञान लौकिक कीर्तिके लिये नहीं बेचता, जो अपने देहके लिये कानीकौड़ी भी नहीं खर्च करता, पर धर्मके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करनेमें भी नहीं हिचकता, जिसके घरमें दरिद्रता दिखायी दे और शरीर एकदम कृश तथा दीन-हीन दिखायी पड़े, परन्तु जो दान देनेमें कल्पवृक्षके साथ भी होड़ करता हो, आशय यह कि जो अपने धार्मिक क्रिया-कलापोंमें बहुत निपुण हो, दानके समय अत्यन्त उदार हो तथा अध्यात्म-चर्चामें प्रवीण हो, पर अन्य विषयोंमें पागलोंकी भाँति दिखायी दे, उसीको अदम्भी समझना चाहिये। केलेका स्तम्भ हलका और खोखला जान पड़ता है, पर रसयुक्त बड़े-बड़े फल उसीमें लगते हैं। बादल इतने पतले और हलके होते हैं कि जरा-सी हवाके झोंकेसे उड़ जाते हैं, पर आश्चर्यकी बात यह है कि उन्हीं बादलोंमेंसे जलकी बड़ी-बड़ी धाराएँ बरसती हैं।

इसी प्रकार यह परम साधनाका तो सम्यक् ज्ञान रखता है, पर लौकिक दृष्टिमें एकदम दीन-हीन दिखायी पड़ता है। हे पार्थ, जिसमें ये सब लक्षण ठीक तरह दृष्टिगत हों तो समझो कि ज्ञान उसके हाथ लग गया है। यही है अदम्भित्व।

अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि अहिंसा किसे कहते हैं। पहले यह बात सपझ रखो कि अहिंसाकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की जाती है। सब लोग अपने मतानुसार उसकी व्याख्या करते हैं। पर उन व्याख्याओंमें इतनी विक्षिप्तता है कि मानो किसी पेड़की डालियाँ काटकर उसके तनेके चतुर्दिक् बाड़ लगा दी गयी हो अथवा हाथ तोड़कर बेच दिया गया हो और फिर उसी पैसोंसे अपनी भूख शान्त की गयी हो अथवा मन्दिर तोड़कर देवताओंके बैठनेके लिये मिट्टीका चबूतरा बनाया गया हो। इसी प्रकार पूर्व मीमांसामें कुछ इस तरहका निर्णय लिया गया है कि हिंसा करके अहिंसाका साधन करना चाहिये। उनका मत है कि जब अनावृष्टिका संकट सम्मुख खड़ा हो और वह संकट पूरे विश्वमें फैलता हुआ दिखायी पड़े, तो अनेक पर्जन्येष्टि करने चाहिये पर उन यज्ञोंमें स्पष्टरूपसे पशुओंकी हिंसा होती है। फिर वहाँ अहिंसाका सवाल ही कहाँ? शुद्ध हिंसाके बीज बोकर अहिंसाकी फसल कैसे काटी जा सकती है? पर इन पाक्षिक्कोंका (याज्ञिकोंका) साहस भी कुछ विलक्षण ही है और हे पाण्डव, जिसे हम आयुर्वेद नामसे जानते हैं, वह भी इसी मार्गका अनुयायी है। एक जीवके प्राणकी रक्षा करनेके लिये एक-दूसरे जीवका घात करना ही उसका सिद्धान्त है। दु:खसे संतप्त और रोगग्रस्त जीवोंको देखकर उनका उपचार करना तो ठीक ही है; परन्तु उस उपचारके लिये पहले तो किसी वनस्पतिका कन्द खोदा जाय तथा अन्य किसी वनस्पतिके पत्ते जड़समेत उखाड़े जायँ, किसी वनस्पतिको बीचसे ही तोड़ लिया जाय तथा किसी वृक्षकी छाल छील ली जाय और कुछ वनस्पतियोंके कोमलांकुरोंको उबाला जाय, तब कहीं जाकर लोगोंका उपचार होता है।

जो वृक्ष जन्मसे ही कभी किसीके साथ वैर नहीं करते, उनका रस निकालनेके लिये उनके सर्वांगमें चीरे लगाये जाते हैं और इस प्रकार वृक्षोंके प्राण लेकर रोगियोंको रोगमुक्त किया जाता है। केवल यही नहीं, सजीव प्राणियोंको भी चीरकर उनके शरीरमेंसे पित्तादि पदार्थ निकालकर और उन्हींसे दवा बना करके कुछ रोगियोंके प्राण बचाये जाते हैं। रहनेके लिये बने हुए मकान तोड़कर उसकी सामग्रीसे मन्दिरका निर्माण करना, व्यापारमें गरीबोंको लूटकर अन्न-सत्र चलाना, सिर ढककर घुटने नंगे करना, घर तोड़कर मण्डप बनाना, कपड़े जलाकर उनकी आग सेंकना या हाथीको स्नान कराना या बैल बेचकर उसके रहनेका स्थान बनाना या तोतेको उड़ाकर पिंजरा बनाना इत्यादि-इत्यादि काम हैं अथवा दिल्लगी, इन सब बातोंको देखकर कोई कहाँतक न हँसे? कुछ लोग जलको छानकर पीते हैं और इसे पुण्य-कर्म भी बताते हैं। परन्तु जलको छाननेके चक्करमें ही बहुत-से जीवोंकी हत्या हो जाती है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो हिंसाके डरसे अन्नका एक दाना भी नहीं ग्रहण करते; मारे भूखके उनके प्राण छटपटाते रहते हैं। यह भी हिंसा ही है। अतएव हे पार्थ, कर्मकाण्डका जो यह सिद्धान्त है कि हिंसा ही अहिंसा है, सो वह सिद्धान्त इसी प्रकारका है। जिस समय हमने पहले-पहल इस अहिंसाका नाम लिया था, उसी समय यह भावना उत्पन्न हुई थी कि इस मतका स्वरूप स्पष्ट कर दें। उस समय ऐसा जान पड़ा कि यह मत भी सहजमें ही ध्यानमें आ गया है। फिर उसका स्पष्टीकरण क्यों त्याग दिया जाय। यही समझकर हमने ये सब बातें कही हैं। कहनेका आशय यह है कि तुम भी उसी दृष्टिसे यह बात समझ लो। इसके अलावा हे किरीटी, उपर्युक्त बातोंका अहिंसाके साथ मुख्यरूपसे सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता तो हम इस टेढ़े मार्गपर चलकर इस विषयका व्यर्थ इतना विस्तार क्यों करते? और हे धनुर्धर! एक बात यह भी है कि अपने मतको स्पष्ट करनेके लिये सम्मुख उपस्थित अन्य मतोंका सम्यक् विवेचन करना भी अत्यावश्यक

ही होता है। इसलिये अबतक जो निरूपण किया है, वह इसी कारणसे किया है। अब मैं स्वयं अपने मतका निरूपण करूँगा। जिस अहिंसाका बाना धारण करनेपर भीतरी ज्ञान व्यक्त होता है, उस अहिंसाके स्वरूपको अब बतलाया जायगा। परन्तु किसीमें अहिंसाका भाव पूर्णरूपसे है अथवा नहीं, इसका पता आचरणसे ही चलता है। जैसे कसौटीपर स्वर्णका कस आता है, वैसे ही जब ज्ञानका मनके साथ मिलाप होता है तब सद्यः मनमें अहिंसा प्रकट होता है। हे किरीटी! अब यह सुनो कि अहिंसाका यह प्राकट्य किस प्रकार होता है। लहरोंको बिना तोड़े, जलको बिना हिलाये, त्वरित गतिसे पर फिर भी एकदम हलके पैरोंसे केवल मछलीकी ओर ध्यान रखकर जैसे बगुला अत्यन्त सावधानीपूर्वक जलमें पैर रखता है अथवा मधुप पराग टूटनेके डरसे कमलपर धीरेसे पैर रखता है, वैसे ही अपने मनमें यह समझकर धीरे-धीरे पैर रखना कि प्रत्येक परमाणुके साथ बहुत ही छोटे-छोटे जीव लगे रहते हैं। यही अहिंसाका लक्षण है। इस प्रकारका मनुष्य जिस मार्गसे चलता है, वह मार्ग कृपासे भर जाता है और वह जिस दिशामें देखता है, उस दिशाको कृपा तथा प्रेमसे भर देता है। अन्य जीवोंके रक्षार्थ वह अपने जीवनको दाँवपर लगा देता है। हे अर्जुन, ऐसे व्यक्तिके ध्यानपूर्वक चलनेका वर्णन शब्दोंके द्वारा नहीं हो सकता और उसके लिये कोई माप भी नहीं हो सकती। प्रेमसे भरकर बिल्ली जिस समय अपने बच्चोंको मुँहसे पकड़ती है उस समय वह अपने दाँतोंकी नोंकोंको जितना हलका रखती होगी अथवा प्रेमसे सराबोर माता जिस समय अपने बच्चोंकी प्रतीक्षा करती है, उस समय उसकी दृष्टिमें जितनी अधिक कोमलता आ जाती है अथवा कमलके पत्ते हिलनेसे उसकी हवा नेत्रोंको जितनी कोमल लगती है, उतनी ही कोमलतासे उसके पैर भी जमीनपर पड़ते हैं। वे पैर जिस जगहपर पड़ते हैं, उस जगहपर रहनेवाले जीवोंको भी सुख ही होता है। हे पाण्डुसुत, इस प्रकार धीरे-धीरे पैर रखनेके समय यदि उसे मार्गमें कहीं कोई जीव (कीट इत्यादि)

दृष्टिगत होता है तो वह धीरेसे पीछे हट जाता है। वह पैर मानो यह कहता है कि यदि मैं तीव्र गतिसे चलूँगा तो स्वामीकी आत्मसमाधि भंग हो जायगी तथा उनकी स्थिर प्रकृतिको आघात लगेगा। यही सोचकर वह पीछे हट जाता है, पर वह किसी जीवपर पैर रखकर नहीं चलता। जहाँ इतनी सावधानी हो कि व्यक्ति तृणको भी जीव समझे और इसीलिये उसे अपने पैरोंसे न दबने दे, तो फिर वहाँ असावधानीपूर्वक चलनेका कोई सवाल ही नहीं उठता। चींटीसे जिस प्रकार मेरुगिरि लाँघा नहीं जा सकता अथवा मसकसे जैसे तैरकर समुद्र पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार रास्तेमें पड़नेवाला जीव उसके पैरोंसे दब नहीं सकता। जिसके चलनेमें इतनी कृपा भरी रहती है, उसके वचनमें तो तुम्हें मूर्तिमयी और जीवन्त दया ही दृष्टिगत होगी। उसके श्वास भी अत्यन्त मन्द तथा कोमल होते हैं। उसकी मुद्रा मानो प्रेमका पीहर होती है। उसके दाँत माधुर्यके अंकुर ही होते हैं। जिस समय ऐसे व्यक्तिके मुखसे अक्षर निकलते हैं, उस समय मानो उन अक्षरोंके आगे-आगे स्नेह पसीजता चलता है। केवल यही नहीं, उसका ऐसा ढंग रहता है कि कृपा आगे-आगे चलती है और उसके मुखसे निकले हुए शब्द पीछे-पीछे रहते हैं। प्रायः वह तो कुछ बोलता ही नहीं, पर यदि वह कभी बोलता भी है तो उसके शब्द इतने कोमल होते हैं कि उनसे कभी किसीको जरा-सा भी दुःख नहीं होता। बोलते-बोलते वह कभी कभी अधिक भी बोल जाता है, पर उसकी बातोंसे कभी किसीको कष्ट नहीं होता और किसीको उससे भय नहीं लगता। बोलते समय वह सदा इस बातका ध्यान रखता है कि मेरे मुखसे कभी कोई ऐसी बात न निकल जाय जिससे किसीको क्लेश हो अथवा किसीकी कोई बनी-बनायी बात बिगड़ जाय अथवा कहीं कोई मुझसे भयभीत हो जाय या चौंक पड़े अथवा कहीं कोई मेरे शब्दोंकी अवहेलना करे और मुझसे कभी किसीका कोई अहित होने पावे। इन्हीं सब बातोंको सोचकर वैसे तो वह कभी कुछ बोलता ही नहीं और यदि विशेष आग्रह

करनेपर वह कभी कुछ बोलता भी है, तो सुननेवालोंको ऐसा लगता है कि हमारे माता-पिता बोल रहे हैं। उसके शब्दोंको सुनते ही ऐसा प्रतीत होता है कि मानो शब्द-ब्रह्म ही मूर्तिमान् हो गया है अथवा गंगाजल ही उछल रहा है अथवा पतिव्रताको वृद्धावस्था प्राप्त हुई है। उसके द्वारा बोले गये नपे-तुले और मधुर शब्द अमृतकी लहरोंकी भाँति जान पड़ते हैं। क्रम-विरुद्ध बात, हठवाद, जीवको संतप्त करनेवाली कठोरता, परिहास, छलवाद, मर्मभेदी बातें, दूसरोंका विरोध करना अथवा किसीकी बातोंमें व्यवधान, उत्पन्न करना, चिढ़ना, कटुता, आशा दिखलाना, शंका करना और लम्बी-चौड़ी बातें करना इत्यादि दुर्गुण उसकी बातोंमें एकदम नहीं होते और हे किरीटी! उसका दृष्टिपात भी कुछ इस तरह होता है कि उसकी भौंहें एकदम तनावरहित दिखायी देती हैं। इसका कारण यही है कि वह यह अच्छी तरहसे समझता है कि जीवमात्रमें परब्रह्मका निवास है और इसीलिये वह किसी चीजकी तरफ इस भयसे दृष्टि गड़ाकर नहीं देखता कि कहीं मेरी यह दृष्टि किसीको चुभ न जाय। उसकी सदाकी यही वृत्ति रहती है, इसलिये यदि वह अपने अन्तःकरणसे उछलनेवाली कृपामात्रसे प्रसन्न होनेवाली आँखें खोलकर किसीकी तरफ एकाध बार दृष्टिपात करता है, तब जिसकी तरफ वह दृष्टि डालता है, उसका उसी प्रकार समाधान होता है, जिस प्रकार चन्द्रबिम्बसे निकलनेवाली अमृतधारा देखते ही चकोरका पेट सद्यः भर जाता है तथा उसका समाधान हो जाता है। उसकी कृपादृष्टि पड़ते ही जीवमात्रकी यही दशा होती है। कच्छपीकी दृष्टि प्रेमसे भरी हुई होती है, यह बात तो जगत्‌में प्रसिद्ध ही है। किन्तु जो बात ऐसे सत्पुरुषकी दृष्टिमें होती है, वह कच्छपीकी दृष्टिमें भी दृष्टिगोचर नहीं होती। जीवमात्रके सम्बन्धमें जिसकी दृष्टि इस प्रकारकी होती है, उसके हाथ भी ठीक इसी प्रकारके होते हैं। कृतार्थ हो जानेके कारण जैसे सिद्ध व्यक्तियोंके सारे मनोरथ जहाँ-के-तहाँ शान्त हो जाते

हैं, वैसे ही जिसके हाथ निष्क्रिय होते हैं, जिसके हाथ ऐसे होते हैं कि एक तो पहलेसे ही किसी कार्यको करनेमें समर्थ न हों और तिसपर उन्होंने कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली हो अथवा जो हाथ उस ईंधनकी तरह होते हैं कि पहले तो जलनेका नाम ही नहीं लेता और तिसपर जिसमें कि आग बुझी हुई रहती है अथवा उसकी दशा ऐसे व्यक्तिकी भाँति होती है जो एक तो पहलेसे ही मूक हो और ऊपरसे उसने मौन-व्रत धारण कर लिया हो; इसी प्रकार जिसके हाथोंको कुछ भी करना अवशिष्ट नहीं रह जाता—कारण कि वे हाथ एकदम व्यापार और क्रियासे शून्य व्यक्तिके शरीरमें लगे हुए होते हैं—जो वायुको धक्का लगनेके भयसे या आकाशमें नख चुभ जायगा, इसलिये अपने हाथोंको हिलने नहीं देता, फिर यह कहनेकी तो आवश्यकता ही नहीं है कि वह अपने देहपर बैठी हुई मक्खीको उड़ायेगा अथवा नेत्रोंमें प्रविष्ट होनेवाले कीड़ोंको झाड़कर दूर करेगा अथवा पशु-पक्षियोंको डराकर भगायेगा। हे किरीटी! जो कभी अपने हाथमें छड़ी भी न रखता हो, उसके बारेमें यह कहनेकी जरूरत ही नहीं है कि वह शस्त्रोंको कभी छूता भी नहीं। वह कमल अथवा फूलोंकी मालाको उछालनेके खेल भी नहीं खेलता, क्योंकि उसे यह भय बना रहता है कि कहीं मेरे हाथका कमल अथवा फूलोंकी माला किसीके ऊपर न जा गिरे और उसे चोट न लग जाय। वह रोम दबनेके भयसे अपने अंगपर हाथ नहीं फेरता तथा नखोंको कष्टसे बचानेके लिये उन्हें कटवाता भी नहीं। यहाँतक कि उसके नाखून बढ़ते-बढ़ते उसके अँगुलियोंपर कुण्डलका स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार ऐसे व्यक्तिके विषयमें कार्योंका सिर्फ अभाव ही रहता है। परन्तु किसी कार्यको करनेका अवसर आनेपर वह ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे ही कार्य करनेका अभ्यस्त होता है। उसके हाथ किसीको अभय प्रदान करनेके लिये ही उठते हैं, आश्रय देनेके लिये ही आगे बढ़ते हैं और आर्तजनोंको कोमलतापूर्वक स्पर्श

करनेके लिये ही हिलते हैं, ये समस्त काम उसके द्वारा एकमात्र लाचारीकी हालतमें ही होते हैं। पर आर्तजनोंकी पीड़ा दूर करनेमें उसकी जो शीतलता दृष्टिगत होती है, वह शीतलता चन्द्र-किरणोंमें भी नहीं दीखती। वे हाथ पशुपर इतने प्रेमसे फेरे जाते हैं कि उनका स्पर्श मानो मलय समीरके स्पर्शकी ही भाँति होता है। वे हाथ सर्वदा मुक्त रहते हैं और यद्यपि चन्दनकी शीतल शाखाओंकी भाँति उनमें कभी फल तो नहीं आते, पर फिर भी वे हाथ कभी निष्फल नहीं होते; क्योंकि उनकी शीतलता अथवा प्रेमार्द्रता अक्षय तथा सर्वव्यापी होती है। अब यह विस्तार रहने दो। हे पार्थ, तुम यही समझ लो कि उसके करतल साधुजनोंके शीतल शीलके समान होते हैं। अब इस प्रकारके व्यक्तिके मनका ही विवेचन होना चाहिये। पर अबतक मैंने इस प्रकारके व्यक्तिके जिस आचारके सम्बन्धमें वर्णन किया है, वह आचार क्या उसके मनका नहीं है? शाखाएँ क्या वृक्षकी ही नहीं होती हैं? बिना जलके समुद्र कैसे हो सकता है? क्या तेज और तेजस्वी दोनों एक-दूसरेसे पृथक् होते हैं? क्या अवयव और अवयवी अथवा जल और रस कभी पृथक् रह सकते हैं? इसीलिये अबतक मैंने ऐसे व्यक्तिके बाह्य आचारके बारेमें जो बातें बतलायी हैं, उन्हें तुम इन अवयवोंसे युक्त उस मनकी ही बातें समझो। पृथ्वीमें बीज बोनेका कार्य किया जाता है, वही वृक्षके रूपमें प्रगट होता है। इसी प्रकार तुम यह भी समझ लो कि अन्दरका मन ही इन इन्द्रियोंके माध्यमसे बाहर प्रकट होता है; क्योंकि यदि मनमें ही अहिंसाका अभाव हो तो फिर वह मनके बाहर निकलकर कैसे प्रकट हो सकती है? हे किरीटी! अहिंसाकी भावना सर्वप्रथम मनमें ही उत्पन्न होती है और तब वह वचन, दृष्टि और हाथमें प्रकट होती है, अन्यथा जो बात मनमें ही न हो, वह भला वचनमें कैसे आ सकती है? क्या बीजके अभावमें भी कभी पृथ्वीमें अंकुर प्रस्फुटित होते हैं? यही कारण है कि जब मनका मनत्व विनष्ट होता

है, उससे पूर्व ही इन्द्रियाँ एकदम निर्बल हो जाती हैं, क्योंकि सूत्रधारके बिना कठपुतलियाँ बेकार हो जाती हैं। यदि किसी जलका स्रोत ही सूख जाय, तो फिर उसके प्रवाहमें जल कहाँसे आ सकता है? जब जीव ही चला गया, तब फिर देह-व्यापार कहाँसे बाकी रह सकते हैं? इसी प्रकार हे पाण्डव, मन ही समस्त ऐन्द्रिक व्यापारोंका मूल है। मन ही समस्त व्यापार इन्द्रियोंके माध्यमसे सम्पन्न करता है। अन्दर स्थित मन जिस समय जिस स्थितिमें होता है, उस समय उसी स्थितिमें वह क्रियाओंके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा प्रकट होता है, जैसे पके हुए फलकी सुगन्ध तीव्र गतिसे बाहर निकलती है, वैसे ही मनकी वास्तविक अहिंसा भी दबनेपर वेगपूर्वक बाहर निकलती है और तब उसी अहिंसाकी सम्पदा लेकर इन्द्रियाँ अहिंसाका व्यापार आरम्भ करती हैं। जिस समय समुद्रमें ज्वार आता है, उस समय उसका जल खाड़ियोंको भर देता है। ठीक इसी प्रकार मन भी अपनी सम्पदासे इन्द्रियोंको सम्पन्न कर देता है। पर अब इसका अधिक विस्तार करनेकी जरूरत नहीं। जैसे पण्डित बच्चेका हाथ पकड़कर स्वयं ही अक्षर लिखते हैं। वैसे ही मन भी हाथ-पैर इत्यादि इन्द्रियोंमें प्रविष्ट करके उनके द्वारा दयालुतापूर्ण कृत्य कराता है और उनसे अहिंसाका आचरण कराता है। अतएव हे किरीटी, अभी मैंने इन्द्रियोंकी क्रियाओंका जो वर्णन किया है, वह वास्तवमें मनके व्यवहारोंका ही वर्णन है। इसलिये जिस व्यक्तिमें मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसाका पूर्ण त्याग तुम्हें दिखायी पड़े, वास्तवमें उसी व्यक्तिको ज्ञानका घर ही समझना चाहिये। इतना ही नहीं, उसे मूर्तिमान् ज्ञान ही जानना चाहिये। जिस अहिंसाका माहात्म्य हम अपने कानोंसे श्रवण करते हैं और ग्रन्थ जिसका निरूपण करते हैं, उस अहिंसाको यदि तुम अपनी आँखोंसे देखना चाहते हो तो तुम्हें उस व्यक्तिको देखना चाहिये। बस इतनेसे ही तुम्हारी सारी समस्या हल हो जायगी।" इस प्रकार श्रीकृष्णने पार्थसे ये सारी बातें कहीं।

वास्तवमें इस विषयका विवेचन मुझे बहुत ही थोड़े शब्दोंमें करना चाहिये था; पर विवेचनके आवेशमें अधिक विस्तार हो गया। एतदर्थ आपलोग मुझे क्षमा करें। हे श्रोतावृन्द, शायद आपलोग कहेंगे—"हरा चारा देखकर जैसे पशु अपना पिछला रास्ता भूल जाता है अथवा वायु-वेगके साथ उड़नेवाले पक्षी जैसे आकाशमें बराबर आगेको ओर बढ़ते चलते हैं, वैसे ही जिस समय इसके प्रेमकी स्फूर्ति होती है और यह रसाल भावनाओंके प्रवाहमें पड़ जाता है, उस समय इसका चित्त इसके अधीन नहीं रहता।" पर हे श्रोतावृन्द! मेरे विषयमें ऐसी बात नहीं है। इस विषयके विस्तारका कुछ और ही कारण है। वैसे तो देखनेमें यह हिंसा शब्द केवल तीन ही अक्षरोंका है और ऊपरसे ऐसा लगेगा कि इसका अर्थ बहुत ही थोड़ेमें समझाया जा सकता है, परन्तु अहिंसाका पूर्ण, स्पष्ट तथा नि:शंक अर्थ बतलानेके लिये अनेक मतोंका खण्डन करनेकी आवश्यकता होती है और नहीं तो भिन्न-भिन्न मत सामने खड़े रहते हैं। अब यदि मैं उन समस्त मतोंको दरकिनारकर सिर्फ अपना ही विवेचन कर चलूँ, तो वह विवेचन आपलोगोंको ठीक नहीं जान पड़ेगा। यदि कोई जौहरियोंके बस्तीमें जाय तो उसे उचित है कि वह वहाँ रत्नोंको परखनेकी गण्डकीशिला (शालिग्राम) सबके सामने रखे। वहाँ स्फटिकमणिकी प्रशंसा करनेसे क्या लाभ हो सकता है? इसके विपरीत जहाँ आटेकी भी बिक्री न होती हो, वहाँ कपूरकी सुगन्धिवाली चीजका क्या आदर हो सकता है? यही कारण है कि यदि आप-जैसे सुविज्ञ संतजनोंकी सभामें वक्तृतापर कुछ अधिक रंग चढ़ गया तो, हे प्रभु, उसके दोषके लिये कुछ विशेष स्थान नहीं रह जाता। सामान्य और विशेष श्रोताओंका संस्कृति-भेद ध्यानमें न रखकर यदि मैं सरसरी तौरपर उन सबको एक ही सूत्रमें पिरोकर निरूपण करूँ तो फिर आपलोग उस विवेचनको अपने श्रवणेन्द्रियोंतक पहुँचने भी न देंगे। यदि शुद्ध सिद्धान्तके निरूपणमें शंकाओंका निराकरण न हो और विषय ज्यों-का-त्यों जटिल ही बना रहे अथवा और अधिक जटिल हो

जाय, तो श्रोताओंका विषयकी ओर जानेवाला लक्ष्य पिछले पैरों वहाँसे भाग खड़ा होता है। सेवारसे भरे हुए जलकी ओर हंस कभी मुड़कर भी नहीं देखता अथवा मेघोंकी ओटमें चन्द्रमाके छिपते ही चकोर अपनी चोंचको उत्सुकतासे ऊपरकी ओर उठाकर कभी नहीं देखता। इसी प्रकार यदि मैं विवादरहित और निःशंकरूपसे अपना निरूपण न करूँ तो आपलोग भी श्रवणके प्रति अपना आदरभाव न दिखलावेंगे—इस ग्रन्थको स्पर्श भी नहीं करेंगे। यही नहीं, उलटे आपलोग आक्रोश भी करेंगे। जिस विवेचनमें अन्य मतोंका परिहार न होगा और जिसमें आक्षेपोंका मुँह बन्द न किया जायगा, वह विवेचन आपलोगोंको कभी ग्राह्य न होगा और इस ग्रन्थके प्रतिपादनका मेरा उद्देश्य केवल यही है कि आपलोग सदा मेरे साथ रहें—कृपादृष्टि बनाये रखें। यथार्थतः आप ही लोग इस गीतार्थके वास्तविक प्रेमी हैं। यही जानकर मैंने इस गीताको अपने हृदयसे लगाया है। इसीलिये मुझे यह मालूम है कि आपलोग अपना ज्ञान-सर्वस्व देकर इसे मेरे पाससे छुड़ा ले जायँगे। यह गीता कोई ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह आपलोगोंकी अमानत है। यदि आपलोग अपने ज्ञान-सर्वस्वका लोभ करेंगे और मुझसे छिपाकर रखेंगे तथा इस गीताको धरोहर-स्वरूप ही मेरे पास पड़ी रहने देंगे, तो इसका और मेरा एक ही परिणाम होगा। कहनेका भाव यह है कि मैं आपलोगोंकी कृपा सम्पादित करना चाहता हूँ, यह ग्रन्थ-प्रणयन तो एकमात्र बहाना है। यही कारण है कि मुझे ऐसा शुद्ध और निर्दोष निरूपण करना पड़ता है जो आपलोगोंको रुचिकर लगे। इसीलिये मैं भिन्न-भिन्न मतोंका ऊहापोह करनेके फेरमें पड़ गया था, इसी कारणसे इसका अधिक विस्तार हो गया और मूल श्लोकका अर्थ कहाँ-का-कहाँ चला गया। फिर भी आपलोग इस बालकको क्षमा करें। अन्न-ग्रासकी कंकणी निकालनेमें यदि समय लगे तो इसमें कुछ दोष नहीं है; क्योंकि कंकणी निकालना तो आवश्यक ही है। यदि बालकको मार्गमें कोई धोखेबाज आदमी मिल जाय और उससे अपना

पिण्ड छुड़ा करके घर आनेमें उस बालकको कुछ विलम्ब हो जाय, तो माताको उसपर क्रुद्ध होना चाहिये अथवा उसपरसे राई-नोन उतारकर उसका आलिंगन करना चाहिये? पर अब इसका और अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। आपने मुझे क्षमा कर दिया, बस इतना ही काफी है। अब आपलोग यह सुनें कि भगवान्‌ने क्या कहा।

श्रीकृष्णदेवने कहा—"हे अर्जुन! ज्ञानांजनके कारण तुम्हारी दृष्टि खुल तो गयी है, पर अब तुम सावधान हो जाओ। अब मैं तुम्हें यथार्थ ज्ञानका परिचय कराता हूँ। जिसमें इस प्रकारकी क्षमा विद्यमान हो, जिसमें दुःखका नामोनिशान न हो, तुम समझ लो कि सच्चा और यथार्थ ज्ञान उसीके हाथ लगा है। जैसे अगाध सरोवरोंमें कमल अथवा सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके घरोंमें सम्पत्ति होती है, वैसे ही हे पार्थ, जो सच्चे और ज्ञानी व्यक्ति हैं, उनमें क्षमा कूट-कूटकर भरी रहती है। अब मैं इस क्षमाको पहचाननेका लक्षण बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। जैसे मनको भानेवाले आभूषण हम बड़े चावसे धारण करते हैं, वैसे ही चावसे वह व्यक्ति सब बातें सहन करता है। यदि त्रयतापोंका पहाड़ भी उसपर टूट पड़े तो भी वह टस-से-मस नहीं होता। अनिष्ट वस्तुओंको भी वह उसी प्रकार आदरपूर्वक ग्रहण करता है, जिस प्रकार वह इष्ट वस्तुओंको स्वीकार करता है। वह मान और अपमान, सुख और दुःख, निन्दा और स्तुतिको समभावसे ही स्वीकार करता है। वह न तो गर्मीसे संतप्त होता है और न शीतसे पीड़ित होता है। उसके सामने चाहे कैसा ही विकट प्रसंग क्यों न आवे, पर न तो वह डरता ही है और न भागता ही है। जैसे मेरुगिरिको अपने शिखरके भारका कुछ भी ज्ञान नहीं होता अथवा जैसे भगवान्‌के अवतार यज्ञ-वराह पृथ्वीके भारको कुछ भी नहीं समझते अथवा अनन्त जीवोंके बोझसे जैसे पृथ्वी नहीं दबती, वैसे ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे वह जरा-सा भी विचलित नहीं होता। जैसे बहुत-सी नदियों और नदोंके साथ आनेवाले अपार जलराशिके लिये समुद्र अपना उदर बढ़ा लेता

है तथा उन सबको अपने उदरमें समाविष्ट कर लेता है वैसे ही उसके विषयमें कभी कोई ऐसी बात नहीं होती जो वह सहन न करे। यही नहीं, उसे यह भान भी नहीं होता कि मैं अमुक-अमुक बातें सहन करता हूँ। जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब आत्मस्वरूप मानकर सहन करता है तथा उसके लिये उस सहनशीलताका अभिमान करनेका कोई कारण नहीं होता। हे सुहृद्, ऐसी भेद भावरहित क्षमा जिस व्यक्तिमें हो, समझ लो कि उस व्यक्तिके कारण स्वयं ज्ञान ही महिमामण्डित होता है। हे पाण्डव! ऐसा व्यक्ति ज्ञानका आधार ही होता है।

अब मैं आर्जवके सम्बन्धमें बतलाता हूँ, सुनो। भूतमात्रके बारेमें जैसे प्राण-तत्त्व एक ही प्रकारका सौजन्य दिखलाता है, वैसे ही आर्जव भी सबके साथ भेद-भावरहित व्यवहार करता है। जैसे सूर्य किसीको अपना हितैषी समझकर उसपर अपने प्रकाशका विस्तार नहीं करता अथवा आकाश-तत्त्व जैसे समग्र आकाशको समभावसे व्याप्त रखता है, वैसे ही आर्जवसम्पन्न व्यक्ति सबके साथ एक-सा व्यवहार करता है। बात यह है कि ऐसा व्यक्ति जगत्‌की स्थिति बहुत अच्छी तरह जान चुका होता है और उसे इस बातका सम्यक् ज्ञान हो चुका रहता है कि जगत्‌के साथ मेरा आत्मैक्यका बहुत ही पुराना सम्बन्ध है। यही कारण है कि अपने और परायेका उसे कभी भान नहीं हो सकता। वह जलकी तरह प्रत्येक व्यक्तिके साथ तालमेल बैठा लेता है, उसके मनमें किसीके प्रति बुरा भाव नहीं आता, उसके विचार निरन्तर वायुके प्रवाहके समान एकदम सरलरूपसे चलते हैं और उसे किसी प्रकारकी शंका अथवा और कोई भाव स्पर्श ही नहीं करता। जैसे माताके समक्ष जानेमें बालकको किसी तरहकी शंका नहीं सताती, वैसे ही लोगोंके सम्मुख अपने मनोभाव प्रकट करनेमें भी उसे किसी तरहकी शंका नहीं जान पड़ती है। हे धनुर्धर! जिस समय कमल एक बार खिल जाता है, उस समय फिर उसका कोई भाग बन्द नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार उसका मन भी एकदम खुला

रहता है और उसमें कहीं कोई छिपा हुआ अंश नहीं रह जाता। जैसे कोई रत्न एक तो पहलेसे ही स्वच्छ हो और ऊपरसे उसपर तेजस्वी किरण पड़े, वैसे ही उसका मन एक तो पहलेसे ही निर्मल होता है और फिर उस मनके साथ होनेवाली क्रियाएँ भी उतनी ही निर्मल होती हैं। उसे किसीके विषयमें इस प्रकारका आगा-पीछा नहीं होता कि मैं यह बात कहूँ अथवा न कहूँ और वह अपना वास्तविक अनुभव बिलकुल ठीक-ठीक प्रकट कर देता है। वह अपने मनकी कुछ बात छिपाना और कुछ प्रकट करना बिलकुल नहीं जानता। उसकी दृष्टिमें कपटका नामोनिशान भी नहीं रहता और उसकी बातोंमें न तो कोई दुराव-छिपाव ही होता है और न अस्पष्टता ही होती है। वह किसीके साथ तुच्छताका व्यवहार नहीं करता। उसकी समस्त इन्द्रियाँ कपटरहित, सरल और शुद्ध होती हैं और अहर्निश उसके प्राणोंके द्वार खुले रहते हैं। उसका अन्तरंग अमृतकी धाराकी तरह सरल होता है। कहनेका आशय यह है कि जिस व्यक्तिमें ये सब लक्षण दृष्टिगत होते हों; हे सुभट! उसके विषयमें तुम यह जान लो कि वह आर्जवगुणका पुतला है और उसमें ज्ञान अपना डेरा डाले रहता है।

हे चतुरशिरोमणि अर्जुन! अब मैं गुरुकी भक्ति किस प्रकार की जानी चाहिये, इसके सम्बन्धमें बतलाता हूँ; सुनो। यह गुरु-भक्ति मानो सौभाग्यकी जननी है, क्योंकि यह शोकग्रस्त जीवोंको भी ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि करा देती है। इसी गुरु-भक्तिके बारेमें मैं तुमको स्पष्टरूपसे बतलाना चाहता हूँ; इसलिये तुम इसकी ओर ध्यान दो। जैसे समस्त जल-सम्पदाको अपने साथ लेकर नदियाँ समुद्रकी ओर जाती हैं अथवा समस्त महासिद्धान्तोंके साथ वेद-विद्या ब्रह्मपदमें स्थिर होती है अथवा जैसे पतिपरायणा स्त्री अपने पंचप्राण इकट्ठा करके अपने सब गुणों और अवगुणोंके सहित अपने प्रिय पतिको समर्पित करती है, वैसे ही जो अपना सर्वस्व गुरुकुलमें समर्पित कर देता है और जो स्वयं गुरुकी भक्तिका

मायका बन जाता है, जो गुरु-गृहका ठीक वैसे ही चिन्तन करता है, जैसे विरहिणी अपने पतिका चिन्तन करती रहती है, जिस जगह गुरु निवास करते हैं, उस जगहकी ओरसे हवाको आते हुए देखकर जो उसका आदर-सम्मान करनेके लिये दौड़कर उसके आगे जा खड़ा होता है और दण्डवत् कर उससे प्रार्थना करता है कि मेरे घर पधारिये। सच्चे प्रेमके कारण जिसे गुरु-गृहकी दिशाके साथ ही बातें करना रुचिकर लगता है और जो अपने जीवको गुरु-गृहका हकदार बना रखता है, जिसका शरीर गुरुकी आज्ञाके साथ बँधा होनेके कारण गुरुसे दूर और अपने घर रहनेपर भी उसी प्रकार बन्धनमें पड़ा रहता है, जिस प्रकार बछड़ा रस्सीसे बँधा हुआ गोशालाओंमें पड़ा रहता है, पर फिर भी उसी बछड़ेकी भाँति जो अनवरत यही सोचता रहता है कि यह रस्सीका बन्धन किस प्रकार टूटेगा और किस प्रकार कब मुझे गुरुदेवके दर्शन मिलेंगे, जिसे अपने गुरुके वियोगका एक-एक पल युगसे भी बढ़कर जान पड़ता है और ऐसी अवस्थामें यदि गुरु-गाँवसे कोई व्यक्ति आता है अथवा उसका गुरु किसीको उसके पास भेजता है तो उसे वैसा ही आनन्द मिलता है, जैसा किसी मरणासन्न व्यक्तिको आयुष्य प्राप्त होनेपर होता है अथवा सूखे हुए अंकुरको जैसे अमृत-वृष्टि होनेके कारण प्राप्त होता है अथवा किसी गड्ढेमें रहनेवाली मछलीको समुद्रमें पहुँच जानेपर होता है अथवा किसी अत्यन्त दरिद्रको कहीं कोई गड़ा हुआ धन दिखायी पड़नेपर होता है अथवा अंधेको दृष्टि मिल जानेपर होता है अथवा किसी रंकको इन्द्रासन मिल जानेपर होता है। इसी प्रकार वह गुरुकुलका नाम सुनते ही सुखके रससे इतना सराबोर हो जाता है कि वह आकाशको भी गले लगा लेता है। हे अर्जुन! गुरुकुलके प्रति इस प्रकारका प्रेम जिस व्यक्तिमें तुमको दिखायी पड़े, उसके विषयमें तुम यही जान लो कि ज्ञान उसकी सेवकाई करता है। वह अपने प्रेमकी शक्तिसे अपने अन्तःकरणमें अपने गुरुदेवकी मूर्ति स्थापित करके ध्यानके द्वारा उसीकी उपासना करता है। वह अपने

हृदयकी निर्मलताके कोटमें अपने आराध्य गुरुको बैठा करके स्वयं बहुत ही भक्ति-भावसे उनका सारा परिवार बन जाता है। ज्ञानके चबूतरेपर आत्मानन्दके मन्दिरमें अपने गुरुकी मूर्ति स्थापित करके वह ध्यानरूपी अमृतकी धारपर चढ़ाता है। ब्रह्मबोधका सूर्योदय होते ही अपनी बुद्धिरूपी टोकरी सात्त्विक भावोंसे भरकर अपने गुरुदेवरूपी शंकरपर उन्हीं भावोंकी पुष्पांजलि चढ़ाता है; प्रातः मध्याह्न और सायं—इन तीनों कालोंमें जीव भावका धूप जलाकर ज्ञानके दीपकसे वह नित्य गुरुदेवकी आरती करता है। फिर उन्हें ब्रह्मैक्यका नैवेद्य चढ़ाता है। इस प्रकार वह अपने गुरुको आराध्य देवता बनाता है और स्वयं उस देवका पुजारी बनता है। यदा-कदा उसकी बुद्धि जीवकी शय्यापर गुरुदेवकी पतिके रूपमें कल्पना करके उनकी संगतिका सुख भोगती है तथा प्रेमानन्दका अनुभव करती है। जब-तब उसके अन्तरंगमें प्रेमकी ऐसी तरंग उठती है कि वह उसका नाम क्षीरसिन्धु रख देता है। उसके इस प्रेम-सिन्धुमें ध्यान-सुखके निर्मल शेष-मंचकपर उसके गुरुरूपी नारायण जल-संचयमें निद्रा लेते हैं। फिर इन गुरुरूपी नारायणके पैर दबानेवाली लक्ष्मी और हाथ जोड़कर खड़ा रहनेवाला गरुड भी वह स्वयं ही बनता है। उन गुरुरूपी नारायणके नाभिकमलसे जन्म लेनेवाले ब्रह्माकी भी वह स्वयंमें ही परिकल्पना करता है। इस प्रकार वह गुरुमूर्तिके प्रेममें मानसिक ध्यान-सुखका अनुभव करता है। यदा-कदा वह यह भी कल्पना करता है कि गुरुदेव मेरी माता हैं और तब वह न केवल उनकी गोदमें लोटता है, अपितु उनके स्तन-पानका भी कल्पित सुख भोगता है अथवा हे किरीटी! यदा-कदा वह यह भी कल्पना करता है कि ज्ञानरूपी वृक्षकी शीतल छायामें गुरुदेव धेनुमाताकी तरह हैं और मैं उनका बछड़ा हूँ अथवा कभी-कभी वह यह भी कल्पना करता है कि गुरुदेवकी कृपा तो नीर (जल) है और मैं उसमेंकी मीन (मछली) हूँ अथवा गुरुकी कृपासे तो जल-वृष्टि है और मैं उस वृष्टिसे बढ़नेवाला सेवा वृत्तिरूपी पौधा हूँ। कहनेका आशय यह है कि

अनुरागके इन प्रकारोंका कहीं अवसान ही नहीं है। वह यदा-कदा यह भी समझता है कि मैं पक्षीका एक ऐसा बच्चा हूँ, जिसके चोंच और पंख अभी अधखुले ही हैं और गुरु मेरी माता पक्षिणी हैं और उनकी चोंचसे मैं चारा लेता हूँ। कभी-कभी वह यह भी समझता है कि गुरुदेव नौका हैं और मैं उन्हींके आश्रयमें पड़ा हुआ हूँ। आशय यह है कि जैसे ज्वार आनेपर समुद्रमें निरन्तर तरंगें उठती हैं, ठीक वैसे ही उसके प्रेमकी तरंगें भी ध्यानकी परम्परा निरन्तर चलाती चलती हैं। कहनेका भाव यह है कि इस प्रकार वह अपने मनमें अनवरत गुरुकी मूर्तिका उपभोग करता रहता है।

अब मैं यह बतलाता हूँ कि वह अपने आराध्यदेव गुरुकी प्रत्यक्ष सेवा किस प्रकार करता है। उसकी सदा यही लालसा रहती है कि मैं अपने गुरुदेवकी ऐसी सेवा करूँ कि वे प्रसन्न होकर मुझे वर माँगनेकी आज्ञा दें। उसके मनमें यह विचार आता है कि जब गुरुदेव सचमुच इस प्रकार प्रसन्न हो जायँ, तब मैं उनसे यह विनम्र प्रार्थना करूँ कि हे देव! मेरी अभिलाषा यही है कि एकमात्र मैं ही आपका सारा परिवार बन जाऊँ और आपके उपयोगमें आनेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबके रूप भी मैं ही धारण करूँ और जब मैं गुरुदेवसे इस प्रकारका वर माँगूँ, तब वे प्रसन्न होकर तथास्तु कहें और मैं ही उनका पूरा-का-पूरा परिवार बन जाऊँ। उसका भाव यह है कि जब गुरुदेवकी सेवाकी सारी चीजें मैं ही बन जाऊँगा, तभी मुझे गुरु-सेवाका वास्तविक कौतुक देखनेको मिलेगा। वैसे तो गुरुदेव सभीकी माता हैं, पर मैं उनपर ऐसा दबाव डालूँगा कि वे एकमात्र मेरी ही माता होकर रहें। उनके प्रेमको भी मैं इस प्रकार बेधूँगा कि मेरे साथ एक पत्नीव्रतवाला आचरण करें और उनसे क्षेत्रसंन्यासके व्रतका अनुष्ठान इस प्रकार कराऊँगा कि उनका प्रेम अनवरत मेरी ही सीमामें रहे। जैसे नित्य प्रवहमान वायु चारों दिशाओंकी सीमाका अतिक्रमण नहीं करती, वैसे ही मैं भी पिंजरा बनकर गुरु-कृपाको अपनेमें ही आबद्ध

रखूँगा। गुरुदेवकी सेवारूपी स्वामिनीको मैं अपने समस्त सद्‌गुणोंके अलंकारसे सजाऊँगा। इतना ही नहीं, अपितु मैं ही गुरुदेवकी भक्तिका सारा आच्छादन बन जाऊँगा और अन्य किसीको वह आच्छादन नहीं बनने दूँगा। जिस समय गुरु-कृपाकी वृष्टि होने लगेगी, उस समय एकमात्र मैं ही पृथ्वीका रूप धारणकर उसके नीचे रहूँगा। वह इसी प्रकारके अनेक मनोरथोंकी सृष्टि करता है। वह कहता है कि मैं गुरुदेवका स्वयं ही घर बनूँगा और उसमें सेवककी भाँति उनकी सेवा भी करूँगा। अन्दर-बाहर आते-जाते समय गुरुदेव जो ड्योढ़ी लाँघेंगे वह ड्योढ़ी भी मैं ही बनूँगा और पहरेदार बनकर मैं ही पहरा भी दूँगा। मैं ही उनकी चरण-पादुका बनूँगा और मैं ही उन्हें वह पादुका पहनाऊँगा। मैं ही छाता भी बनूँगा और छाता लगानेवालेकी सेवा भी मैं ही करूँगा। मैं ही मार्गकी ऊँची-नीची भूमि बतलानेवाला सेवक बनूँगा और मैं ही चँवर डुलानेवाला भी बनूँगा। मैं ही हाथ पकड़नेवाला बनूँगा और मैं ही मशालची भी बनूँगा। मैं ही उनकी झारी (कमण्डल) बनूँगा और मैं ही उन्हें कुल्ला भी कराऊँगा और वे जो कुछ कुल्ला करेंगे, उसे धारण करनेवाला पात्र भी मैं ही बनूँगा। मैं ही उनका पानदान और मैं ही पीकदान भी बनूँगा। उनके स्नानकी व्यवस्था भी मैं ही करूँगा। मैं ही उनका आसन, अलंकार, वस्त्र और पूजा-सामग्री भी बनूँगा। मैं ही उनका भोजन बनानेवाला रसोइया बनकर उनके आगे अन्नका नैवेद्य लगाऊँगा तथा मैं ही अपनी आत्मासे उनकी आरती उतारूँगा। जब गुरुदेव भोजन करनेके लिये बैठेंगे, तब मैं ही उनकी पंक्तिमें बैठूँगा तथा भोजनोपरान्त मैं ही उन्हें ताम्बूल भी दूँगा। उनका उच्छिष्ट पात्र मैं ही उठाऊँगा, उनका बिस्तर बिछाऊँगा और उनके पैर भी दबाऊँगा। गुरुदेवके बैठनेके लिये मैं ही उनका मंच बनूँगा और जिस समय गुरुदेव उस मंचपर विराजमान होंगे, उस समय अपनी गुरु-भक्तिकी पराकाष्ठा समझूँगा। गुरुदेवका मन जिन-जिन चीजोंमें रमेगा, वे समस्त चीजें मैं ही बनूँगा। जिस समय उनका ग्रन्थ-श्रवण होगा, उस समय

शब्दोंका समूह भी मैं ही बनूँगा और जब वे अपना कोई अंग खुजलावेंगे, तब मैं ही उनके स्पर्श-ज्ञानका रूप भी बनूँगा। गुरुदेवकी स्नेहिल दृष्टि जिन-जिन रूपोंको देखेंगी, वे समस्त रूप मैं ही धारण करूँगा। जो-जो रस उनकी जिह्वाको रुचेंगे, वे सब रस भी मैं ही बनूँगा। उनकी घ्राणेन्द्रियोंको जो-जो सुगन्धियाँ भायेंगी, वे सुगन्धियाँ भी मैं ही बनूँगा। इस प्रकार शिष्य अपनी प्रत्यक्ष सेवाके सम्बन्धमें यही सोचता रहता है कि अपने गुरुके उपयोगकी समस्त वस्तुएँ मैं ही बनूँगा और मैं ही अकेला समस्त गुरु-सेवाको व्याप्त कर लूँगा। जिस समयतक शरीरकी स्थिति बनी रहती है, उस समयतक तो इस प्रकारकी सेवा की जाती है और जब देहावसान हो जाता है, तब गुरुदेवकी सेवाका कुछ और ही प्रकार उसकी बुद्धिको सूझता है। वह कहता है कि देहावसान होनेपर मैं अपने इस देहकी मिट्टी उसी भूमिमें मिलाऊँगा जिसपर गुरुदेव अपने चरण रखकर खड़े होंगे। मेरे गुरुदेव जिस जलका स्पर्श करेंगे, उसी जलमें मैं अपने शरीरका जलीय अंश मिला दूँगा। गुरुदेव जिस दीपकसे आरती करेंगे, अथवा जो दीपक उनके घरमें जलेगा, उस दीपकके तेजमें मैं अपने शरीरका तेजवाला अंश मिला दूँगा। मैं अपनी प्राणवायु गुरुदेवके चँवरमें स्थापित करूँगा, जिससे मुझे उनकी सेवा और स्पर्श दोनोंका ही सौभाग्य प्राप्त होगा। जिन-जिन जगहोंमें गुरुकी मूर्ति रहेगी, उन-उन जगहोंके आकाश-तत्त्वमें मैं अपने शरीरका आकाशवाला अंश विलीन करूँगा। चाहे मैं जीता रहूँ और चाहे मर जाऊँ, पर गुरुदेवकी सेवाका यह व्रत मैं कदापि नहीं त्यागूँगा। मैं इस प्रकारकी सेवा कल्पकोटिपर्यन्त करता रहूँगा और पलभरके लिये वह सेवा किसी अन्यको करने न दूँगा। जो शिष्य इतना धैर्यशाली होता है और जिसकी गुरु-सेवाके लिये स्थान अथवा कालकी कोई सीमा या मर्यादा नहीं होती, जो सेवा करनेमें अहर्निश कुछ भी ध्यान नहीं करता और उसके विषयमें भूलकर भी यह नहीं कहता कि यह सेवा अत्यल्प हुई अथवा अत्यधिक; उलटे गुरुके निर्दिष्ट कार्यकी कठिनतासे और भी

हो चुका। हे किरीटी! जिसके चित्तमें ऐसी गुरु-भक्तिकी लालसा होती है, जिसमें इसके लिये प्रेम और उत्कण्ठा होती है, जिसे गुरुकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रुचता, वही व्यक्ति तत्त्व-ज्ञानका आधार है और उसीके कारण ज्ञानका अस्तित्व होता है इतना ही नहीं, वह ज्ञानी भक्त साक्षात् देवता ही होता है। वास्तवमें ऐसे भक्तके पास ज्ञान अपने सब द्वार मुक्त करके रहता है और उसका ज्ञान इतना अधिक रहता है कि वह पूरे विश्वको भरनेके बाद भी अवशिष्ट रहता है।" हे श्रोतावृन्द! इस प्रकारकी गुरु-सेवाके प्रति मेरे अन्तःकरणमें उत्कट उत्कण्ठा है और यही कारण है कि मैंने इसका इतना अधिक विस्तार किया है अन्यथा मैं हाथ होनेपर भी लूला हूँ, भजनके विषयमें अन्धा हूँ और गुरु-सेवाके काममें पंगुलोंसे भी बढ़कर पंगुल हूँ। गुरुके माहात्म्य-वर्णनमें मैं गूँगा हूँ और आलसी हूँ। पर फिर भी मेरे मनमें जो सच्चा गुरु-प्रेम है, उसीके बलपर मुझे इस विषयका इतना विस्तार करना पड़ा है। मैं ज्ञानदेव आप-लोगोंसे यही बात कहता हूँ। हे श्रोतावृन्द! मैंने अबतक जो कुछ कहा है, उसे आपलोग कृपाकर सहन करें और मुझे ऐसा अवसर प्रदान करें कि मैं आपलोगोंकी अधिक-से-अधिक सेवा करूँ। अब मैं ग्रन्थार्थका विशद विवेचन करूँगा। हे श्रोतावृन्द! आपलोग ध्यानपूर्वक सुनिये, सम्पूर्ण सृष्टिका भार सहन करनेमें समर्थ भगवान् विष्णुके पूर्णांश श्रीकृष्ण कहते हैं और अर्जुन सुनते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे पार्थ! सुनो। जिसमें इतनी अधिक शुचिता है कि मानो उसके सर्वांग और मन कपूरके ही बने हुए हैं अथवा जिसका बाह्याभ्यन्तर रत्न-पिण्डकी भाँति स्वच्छ होता है अथवा जो बाह्याभ्यन्तर सूर्यकी भाँति समानरूपसे तेजस्वी होता है, जो बाहर तो अपने कर्माचरणके कारण और अन्दर ज्ञानके कारण उज्ज्वल होता है और इसलिये जो दोनों ओर एक समान निर्मल होता है, वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेसे तथा जल और मिट्टीके योगसे इस प्रकार बाह्य शुद्धि होती है, जिस प्रकार हर एक काममें बुद्धि ही बलवती होती है, जिस

प्रकार बालू दर्पणको स्वच्छ करता है अथवा रेहसे जिस प्रकार कपड़ेका दाग साफ हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जो बाहरसे निर्मल होता है और अन्दरमें भी ज्ञान-दीप प्रज्वलित होनेके कारण जो शुद्ध हो चुका रहता है, वही ज्ञानी है। अन्यथा हे पाण्डुसुत! यदि अन्तरंग शुद्ध न हो तो बाह्य कर्मोंका आडम्बर सिर्फ दूसरोंको धोखा देनेके लिये ही होगा। यह सब वैसा ही होगा, जैसे किसी मरे हुए मनुष्यका शृंगार करना, गधेको तीर्थमें स्नान कराना, कडुए तुम्बेके ऊपर गुड़का लेप करना, उजड़े हुए घरको तोरणसे सजाना, भूखसे मरते हुए व्यक्तिके शरीरपर अन्नका लेप करना, विधवाको कुंकुम और सिंदूर लगाना, खोखले कलशके ऊपर सोनेका परत चढ़ाना अथवा मिट्टीके बने हुए फलको रँगना। बस, दिखावटी कर्मकाण्ड ऐसा ही होता है। जो रसहीन होता है, उसका अधिक मूल्य नहीं लगता। मदिराका पात्र गंगाजलसे धोनेपर भी शुद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये अन्तःकरण ज्ञानसम्पन्न होना चाहिये, यदि अन्तःकरणमें ज्ञान हो तो बाह्य शुद्धि स्वतः हो जाती है। पर क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि बाह्य शुद्धिसे और दिखावटी क्रिया-कलापोंसे ज्ञान प्राप्त हुआ हो? इसीलिये अच्छे कर्मोंके आचरणसे जिसका बाह्य प्रदेश अच्छी तरह शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है और साथ ही ज्ञानसे जिसका अन्तरंग भी कलंकरहित हो जाता है, उसमें बाह्याभ्यन्तरका कोई भेद ही नहीं रह जाता और सर्वत्र समानरूपसे निर्मलता दृष्टिगत होती है। कहनेका भाव यह है कि उसमें शुचिता-ही-शुचिता रहती है और यही कारण है कि जिस प्रकार काँचके आवरणके अन्दर रखे हुए दीपकका तेज बाहर भी खूब फैल जाता है, उसी प्रकार उसके अन्दरका शुद्ध भाव भी इन्द्रियोंके माध्यमसे बाहर प्रकट होता रहता है। जिन विषयोंके कारण संशय उत्पन्न होता है, व्यर्थके विचारोंका संचार होता है और कुकर्मोंके बीज प्रस्फुटित होते हैं, यदि इस प्रकारके विषयोंको वह देखे अथवा सुने या वे विषय स्वयं उससे संलग्न भी हो जायँ, तो भी जैसे मेघोंके रंगके कारण

आकाश कभी मटमैला नहीं होता, वैसे ही उसके मनपर विषयोंकी दाल नहीं गलती। वैसे तो वह इन्द्रियोंके साथ विषयोंमें लिप्त ही दृष्टिगोचर होता है, पर विकारोंका लेप उसमें रत्तीभर भी नहीं होता। यदि रास्तेसे ब्राह्मणकी स्त्री अथवा छोटी जातिकी स्त्री जाती है तो भी वह रास्ता उनसे अलिप्त रहता है, वैसे ही वह भी विषयोंके प्रति एकदम निस्पृह रहता है। एक ही स्त्री अपने पुत्र और पति दोनोंका ही आलिंगन करती है, पर उसके पुत्र-प्रेममें जिस प्रकार कामके विकारका कभी प्रवेश नहीं हो सकता, वैसे ही शुद्ध हृदयवाले व्यक्तिमें संकल्प-विकल्पकी दाल नहीं गलती; पर फिर भी वह भलीभाँति जानता है कि कौन-सा काम करणीय है और कौन-सा अकरणीय है। जैसे जलसे हीरा गीला नहीं होता अथवा अदहनमें जैसे कंकण नहीं पकते, वैसे ही उसके मनोभाव भी विकल्पोंसे दूषित नहीं होते। हे पार्थ! ऐसी ही स्थितिका नाम शुचित्व है और जहाँ यह शुचित्व होता है, वहाँ तुम समझ लो कि ज्ञान भी अवश्य ही होता है। जिस व्यक्तिमें स्थिरता अपना डेरा डाले रहती है, उस व्यक्तिके बारेमें तुम यह अच्छी तरहसे जान लो कि वह ज्ञानको जीवित रखता है। शरीर बाह्याचरणमें निमग्न रहता है, पर उस आचरणका उसके मनपर जरा-सा भी असर नहीं होता। जैसे गौका वात्सल्य अपने बछड़ेका परित्याग-कर वन-वन नहीं भटकता और पतिपरायणा स्त्रीका विलास जैसे वैषयिक प्रेमसे युक्त नहीं होता अथवा जैसे किसी लोभीके दूर चले जानेपर भी उसका सारा ध्यान अपने धनकी ओर ही लगा रहता है, वैसे ही शारीरिक कार्योंसे स्थिर व्यक्तिके मनकी विचलता कभी नष्ट नहीं होती। जैसे तीव्र गतिसे दौड़नेवाले मेघोंके साथ आकाश नहीं दौड़ता अथवा नक्षत्रोंकी गतिशीलताके कारण ध्रुवतारा कभी इधर-उधर चक्कर नहीं काटता अथवा राहगीरके कारण रास्ता स्वयं कभी चलने नहीं लगता अथवा हे धनुर्धर! उस रास्तेके अगल-बगलके वृक्ष इत्यादि कभी चलने नहीं लगते, वैसे ही पंचभूतोंसे निर्मित इस शरीरके क्रिया-कलापोंके कारण किसी भूतके

बलसे भी उसका अन्तरंग कभी प्रभावित नहीं होता—विचलित नहीं होता। जैसे तूफानकी तीव्रताके कारण पृथ्वी नहीं हिलती वैसे ही सुख-दुःख इत्यादिके उपद्रवसे भी वह स्थिर व्यक्ति कभी विचलित नहीं होता। वह दारिद्र्य-दुःखसे कभी संतप्त नहीं होता, भय अथवा शोकसे कभी नहीं काँपता और यहाँतक कि यदि उसके सन्निकट कभी मृत्यु भी आ जाय तो भी वह कभी विचलित नहीं होता। इच्छा और वासनाके प्रबल वेगसे अथवा विविध रोगोंके उपद्रवसे उसका सरल चित्त कभी व्यथित नहीं होता। निन्दा, अपमान अथवा दण्ड होनेपर या काम-क्रोधादिके उपद्रवोंसे भी उसके स्थिर मनका कभी बाल भी बाँका नहीं होता। चाहे आकाश टूट पड़े और चाहे धरती फट जाय, पर उसकी चित्तवृत्ति कभी पीछे नहीं मुड़ती। जैसे फूलोंके प्रहारसे हाथी कभी टस-से-मस नहीं होता, वैसे ही दुर्वचनोंके प्रहारसे भी वह कभी व्यथित नहीं होता। जैसे समुद्रमन्थनके समय क्षीर-सिन्धुकी तरंगोंके आगे मन्दरगिरिने अपना घुटना नहीं टेका था अथवा जैसे दावाग्निसे कभी आकाश नहीं जलता, वैसे ही सुख-दुःख इत्यादिकी चाहे कितनी ही तरंगें क्यों न उठें, तो भी उसका मन कभी विचलित नहीं होता। बहुत क्या कहें, वह कल्पान्तके समय भी धैर्यसे सम्पन्न होनेके कारण ज्यों-का-त्यों बना रहता है। हे अर्जुन! जिस गुणका स्थैर्यके नामसे वर्णन किया गया है, वह यही है। जिस व्यक्तिके बाह्याभ्यन्तर अर्थात् शरीर और मनको इस प्रकारकी अटल स्थिरता प्राप्त हो जाती है, उसे तुम ज्ञानरूपी ऐश्वर्यका खुला हुआ भण्डार ही समझो। जैसे ब्रह्मराक्षस अपने निवासस्थानको, योद्धा अपने शस्त्र-अस्त्रको अथवा लोभी अपने धनको अपने नेत्रोंसे ओझल नहीं होने देता अथवा जैसे माता अपने इकलौते पुत्रको सदा अपने कलेजेसे लगाये रहती है, अथवा जैसे मधुमक्खीको सदा मधुका लोभ बना रहता है, वैसे ही हे अर्जुन! जो अपने अन्तःकरणका अनवरत खूब जी लगाकर यत्न करता है और उसको इन्द्रियोंके द्वारपर पैर भी नहीं रखने देता, जो इस परिकल्पनासे

सदा भयभीत रहता है कि यदि मेरे इस बालकका नाम भी कामरूपी हउवेके श्रवणेन्द्रियमें प्रवेश कर जायगा अथवा आशारूपी डाकिनीकी नजर इसे लग जायगी तो इसकी जान ही निकल जायगी अथवा जैसे अपनी व्यभिचारिणी स्त्रीको जबरदस्त पति सदा अपने अंकुशमें रखता है, वैसे ही जो अपनी प्रवृत्तियोंको अपने अधीन रखता है, जो उस समय भी अपनी इन्द्रियोंको अच्छी तरह निग्रहमें रखता है, जिस समय सजीव देह अत्यन्त कृश हो जाता है और प्राण जानेकी नौबत आ जाती है, जो अपने मनके प्रमुख द्वारपर अथवा वृत्तिके पहरेपर अपने शरीररूपी दुर्गमें शम-दमको निरन्तर पहरेदारोंकी भाँति नियुक्त और जाग्रत् रखता है, जो मूलाधार, मणिपूर या नाभिस्थान और विशुद्ध या कण्ठस्थानके तीन चक्रोंमें वज्र, उड्डीयान और जालन्धर नामक तीनों बन्धोंकी गस्त बैठाकर अपने चित्तको इड़ा और पिंगला—इन दोनों नाड़ियोंकी सन्धिमें प्रविष्ट करता है, समाधिकी शय्यापर अपने ध्यानको अच्छी तरह सुलाये रखता है और जिसका चित्त चैतन्यके साथ एकाकार होकर सदा उसीमें रमण करता रहता है, उसके बारेमें तुम यह अच्छी तरह जान लो कि उसने अपने अन्तःकरणका पूर्णतया निग्रह कर लिया है। अन्तःकरणका इस प्रकारका निग्रह मानो ज्ञानकी विजय ही है। जिस व्यक्तिकी आज्ञा उसका अन्तःकरण सम्मानपूर्वक शिरोधार्य करता है, उस व्यक्तिको मूर्तिमान् ज्ञान ही जानना चाहिये। (४८४—५११)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

जिस व्यक्तिके मनमें विषयोंके प्रति पूर्ण विरक्ति बनी रहती है, वही ज्ञानी होता है। जैसे वमन किये हुए अन्नको देखकर किसीकी जिह्वासे लार नहीं टपकती अथवा जैसे किसी मृतकको गले लगानेके लिये कोई उद्यत नहीं होता; विषको जैसे कोई नहीं खाता अथवा जलते हुए घरमें कोई प्रवेश नहीं करता, व्याघ्रकी गुफामें कोई अपना डेरा नहीं डालता, अथवा गले हुए लोहेके खौलते हुए रसमें कोई नहीं कूदता, तथा अजगरको तकिया बनाकर कोई उसपर नहीं सोता, वैसे ही विषयकी चर्चाएँ जिसे

रुचिकर नहीं लगतीं और जो किसी विषयका ग्रहण इन्द्रियोंके द्वारा नहीं करता, जिसका मन विषयोंकी ओरसे सदा उदासीन रहता है, जिसका देह अत्यन्त कृश रहता है और शम-दमके प्रति जिसका मन उत्साहसे भरा रहता है, हे पाण्डव! जिसके समस्त तपोव्रत एक जगह इकट्ठे रहते हैं और आबादीमें निवास करना जिसे युगान्तकी भाँति दुःखद जान पड़ता है, जिसे योगाभ्यासकी अधिक ललक रहती है, जो सुनसान स्थानकी ओर दौड़ता हुआ जाता है और जिसे मानव-समाजका नाम भी रुचिकर नहीं लगता, जो ऐहिक विषय-भोगोंको उतना ही त्याज्य समझता है, जितना बाणोंकी शय्यापर सोना अथवा पीबकी कीचड़में लोटना, जो स्वर्ग-सुखोंका वर्णन सुनकर उन सुखोंको कुत्तोंके सड़े हुए मांसके सदृश समझता है, उसका यह वैराग्य ही उसके लिये आत्मलाभका वैभव होता है। जीवमें ब्रह्मानन्दका सुख भोगनेकी पात्रता इसी प्रकारके वैराग्यके द्वारा आती है। जिसमें ऐहिक और पारलौकिक—दोनों प्रकारके सुखोंके उपभोगके सम्बन्धमें पूर्ण विरक्ति दिखलायी पड़े, उसके बारेमें तुम यह जान लो कि उसीमें विपुल ज्ञान कुण्डली मारकर बैठा रहता है। जो किसी सकाम मनुष्यकी तरह ही इष्टापूर्तके सभी लोकोपयोगी काम करता है, पर उनका कर्तृत्वाभिमान अपने शरीरको स्पर्श भी होने नहीं देता, जो वर्णाश्रम-धर्मके पालनके लिये आवश्यक नित्य और नैमित्तिक कर्म किये बिना नहीं रहता, पर फिर भी जिसमें ऐसी भावना रत्तीभर भी नहीं रहती कि मैंने अमुक कार्य सिद्ध किया है, वही सच्चा ज्ञानी है। जैसे वायु स्वभावतः सर्वत्र संचरण करती रहती है अथवा सूर्य निरहंकार-बुद्धिसे उदित होता है अथवा श्रुति अपने स्वाभाविक गुणके कारण सहजतः ज्ञानका कथन करती है अथवा गंगा बिना किसी हेतुके ही नित्य बहती रहती है, वैसे ही जो अभिमानशून्य होकर सब प्रकारके आचरण करता है, जो ठीक वैसे ही अहंशून्य होकर नित्य कर्मोंको करता है, जैसे उचित समय आनेपर वृक्ष फल तो देते हैं, पर इस प्रकारका अहंकारपूर्ण ज्ञान उन्हें नहीं होता कि हम दूसरोंको फल

दे रहे हैं और इस प्रकार जिसके मन, कर्म और वचनमें अहंकारका पूर्णरूपसे नाश हो जाता है, वही सच्चा ज्ञानी है। जैसे किसी हारको पिरोनेवाली डोरी निकल जाती है अथवा आकाशमें मेघोंके इधर-उधर संचरण करनेपर भी आकाशपर उन मेघोंका दाग नहीं लगता, वैसे ही जिसके देहसे कर्म तो सम्पन्न हो जाते हैं, पर फिर भी जो उन कर्मोंसे निर्लिप्त रहता है, जैसे मद्यपीको अपने शरीरपर पहने गये वस्त्रोंकी अथवा चित्रको अपने हाथमें रखे हुए शस्त्रकी अथवा बैलको अपनी पीठपर लदे हुए शास्त्रोंकी कुछ भी सुध नहीं होती, वैसे ही जिसका अहंभाव एकदम व्यर्थ हो जाता है और उस अहंभावका जिसे स्मरण भी नहीं रह जाता, उस व्यक्तिकी इस स्थितिको निरहंकारता कहते हैं। जिस व्यक्तिमें ऐसी निरहंकारता पूर्णरूपसे दृष्टिगोचर होती है, निःसन्देह उसीमें ज्ञानका निवास होता है। जो जन्म-मृत्यु, दुःख और रोग तथा वृद्धावस्था इत्यादिको अपने शरीरमें संलग्न नहीं होने देता और निर्लिप्त होकर उन सबकी ओर देखता रहता है और वह भी किस प्रकार देखता है जैसे कोई तांत्रिक पिशाचको, योगी उपाधिको अथवा साहुलकी सहायतासे मिस्त्री दीवारकी सीधको अपनी जगहपर बैठे हुए ही देखता रहता है, वैसे ही जो मृत्यु इत्यादिको निर्विकार होकर देखता रहता है, जो अपने पूर्वजन्मके दोषोंका ठीक वैसे ही स्मरण करता रहता है, जैसे सर्प अपने मनमें पूर्व जन्मका भी वैर बनाये रखता है और उसे किसी प्रकार दूर नहीं होने देता, जिसे पूर्वजन्मके दुःख इत्यादि उसी प्रकार खटकते रहते हैं, जिस प्रकार आँखोंमें बालूका कण खटकता रहता है अथवा घावमें तीरकी नोंक खटकती रहती है, जो सदा यही कहता रहता है कि मैं पीबके गड्ढेमें पड़ा था, मूत्रद्वारसे मैं बाहर निकला हूँ और हाय, हाय! मैंने स्तनपरका पसीना चाटा है और उन्हीं सब बातोंका विचार करके जिसे जीवनसे सदा घृणा बनी रहती है और जो यह निश्चय कर लेता है कि अब मैं ऐसा काम कभी नहीं करूँगा जिससे मुझे दुबारा जन्म लेना पड़े, जैसे हारा हुआ धन फिरसे पानेके लिये जुआरी फिर

दाँव लगानेके लिये तैयार हो जाता है अथवा अपने पिताके वैरका बदला चुकानेके लिये पुत्र निरन्तर अवसरकी तलाश करता रहता है, अथवा मारनेसे चिढ़कर जैसे कोई क्रोधाविष्ट होकर मारनेवालेका अनुगमन करता रहता है और उससे उस मारका बदला चुकाना चाहता है, वैसे ही जो हाथ धोकर जन्म-बन्धन तोड़नेके पीछे पड़ा रहता है अथवा जन्म लेनेकी लज्जा जिसके मनमें सदा वैसे ही खटकती रहती है, जैसे किसी सम्मानित व्यक्तिके मनमें अपनी मानहानि खटकती रहती है अथवा हे पाण्डुसुत! जब किसी तैराकसे यह कह दिया जाता है कि आगे बहुत गहरा गड्ढा है, उस समय वह तैराक जैसे तटपर ही खूब अच्छी तरह अपनी कमर कस लेता है अथवा जैसे बुद्धिमान् व्यक्ति युद्धभूमिमें जाकर खड़े होनेसे पहले ही अपने होश-हवास ठिकाने कर लेता है अथवा चोट लगनेसे पूर्व ही जैसे ढाल आगे करनी पड़ती है अथवा जैसे यह पता लगनेपर कि प्रवासमें कल हम जहाँ चलकर ठहरेंगे, वहाँ कोई भारी आपत्ति आनेकी सम्भावना है, व्यक्ति एक दिन पूर्वसे ही सावधान हो जाता है या प्राणान्त होनेसे पूर्व ही जैसे औषधिके लिये दौड़-धूप करनी पड़ती है, इसी प्रकार जो इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर तत्काल ही सावधान हो जाता है कि मृत्यु चाहे आज हो और चाहे कलके अन्तमें हो, पर वह होगी अवश्य और यदि इस प्रकार व्यक्ति पहलेसे ही सावधान न हो तो उसकी दशा उस व्यक्तिकी भाँति हो जाती है, जो जलते हुए घरमें पड़ा रह जाता है और जिसे फिर उस समय कुआँ खोदनेका अवसर ही नहीं मिलता और वह भयभीत होकर उसी तरह जहाँ-का-तहाँ रह जाता है, जैसे अथाह जलमें फेंका हुआ पत्थर चुपचाप पड़ा रह जाता है और किसीको उसकी आवाज भी नहीं सुनायी पड़ती और इसीलिये जो ठीक वैसे ही आठों पहर सावधान रहता है, जैसे किसी सामर्थ्यवान् व्यक्तिके साथ प्रबल शत्रुता हो जानेपर वह दुर्बल व्यक्ति सावधान रहता है अथवा जैसे विवाहके योग्य कन्या पहलेसे ही अपने मातृपक्षके वियोगके लिये तैयार हो जाती

है अथवा संन्यास धारण करनेवाले व्यक्ति पहलेसे ही संसारका परित्याग करनेके लिये तैयार रहता है, वैसे ही जो व्यक्ति मृत्युसे पूर्व ही मृत्युपर ध्यान रखकर अपने समस्त व्यवहार करता है और इस प्रकार जो व्यक्ति अपने इसी जन्मसे अपने समस्त भावी जन्मोंका और इसी जन्ममें होनेवाली मृत्युसे भावी जन्मोंके मृत्युका नाश कर डालता है और स्वयं केवल आत्मस्वरूपसे बचा रहता है, उसके घरमें ज्ञानकी कभी कोई कमी नहीं रहती। जिसके लिये जन्म और मृत्युकी चिन्ता नहीं रह जाती, वृद्धावस्था जिसे कभी स्पर्श नहीं करती और इसीलिये जो निरन्तर स्वयंको यौवन अवस्थाकी उमंगोंमें ही रखता है, वही ज्ञानी है। वह स्वयं अपने मनमें यह कहता है कि आज मेरे शरीरमें जो पुष्टि दिखायी देती है, वह शीघ्र ही सूखी हुई कचरीकी भाँति हो जायगी, दुर्भाग्यशाली व्यक्तिके व्यवहारकी भाँति कभी-न-कभी ये हाथ और पैर थककर व्यर्थ हो जायँगे और इस बलकी अवस्था ऐसे राजाकी भाँति हो जायगी जिसे परामर्श देनेवाला कोई मन्त्री नहीं होता। फूलोंका शौकीन जो मस्तक है, वह शीघ्र ही ऊँटके घुटनेके समान हो जायगा। आषाढ़मासकी हवा लगनेके कारण पशुओंके खुरोंकी रोगी होनेसे जैसी दुर्दशा हो जाती है, वैसी ही दुर्दशा मेरे इस मस्तककी भी होगी। आज तो मेरी ये आँखें कमलकी पंखुड़ियोंके साथ स्पर्धा कर रही हैं, पर ये शीघ्र ही पके हुए चिचड़ेके सदृश तेजहीन हो जायँगी। भौंहोंके परदे पुरानी छालके सदृश लटकने लगेंगे और आँसुओंसे भींगकर यह वक्षःस्थल भी सड़ने लगेगा। जैसे बबूलके वृक्षपर आने-जानेवाले गिरगिट गोंदसे लिपटे रहते हैं वैसे ही मेरा यह मुख भी थूकसे सना रहेगा। जैसे भोजनालयके सामनेके गड्ढे राख और पानीसे भरे रहते हैं, वैसे ही यह नासिका भी कफसे भरी रहेगी। ताम्बूलके सेवनसे जिस मुखके होंठोंको मैं रँगता हूँ, हँसते समय जिसमेंके दाँत दिखलाता हूँ और जिससे मैं सुन्दर सुन्दर शब्दोंको बोलता हूँ, उसी मुखसे कलको लार प्रवाहित होने लगेगा और दाँतोंसमेत दाढ़ें भी गिर जायँगी। जैसे ऋणके

बोझसे दबे हुए किसान अथवा वर्षाके कारण पशु चुपचाप दबे हुए पड़े रहते हैं और हिलनेका नामतक नहीं लेते, वैसे ही लाख प्रयत्न करनेपर भी यह जिह्वा हिल-डुल न सकेगी। जैसे सूखी हुई घासके पूले वायुके झोंकोंसे जमीनपर इधर-उधर उड़ते रहते हैं, ठीक वैसी ही दुर्दशा मुँहके अन्दर स्थित दाढ़ोंकी होगी। जैसे आकाशकी वृष्टिके कारण पहाड़की चोटियोंपरसे जलके झरने बहते रहते हैं, वैसे ही मेरे मुँहकी खिड़कीमेंसे लारकी नदियाँ प्रवाहित होने लगेंगी। वाणी अवरुद्ध हो जायगी, श्रवणेन्द्रियाँ बन्द हो जायँगी और सारा शरीर बूढ़े बन्दरकी भाँति दिखायी देने लगेगा। जैसे घास-फूसका बनाया हुआ और खेतमें खड़ा किया हुआ पुतला हवाके झोंकोंसे अनवरत इधर-उधर हिलता-डुलता रहता है, वैसे ही मेरा यह शरीर भी थर-थर काँपने लगेगा। कदम लड़खड़ायेंगे, हाथ बेकाम हो जायँगे और तब मानो सौन्दर्यका स्वाँग खड़ा होकर नृत्य करने लगेगा। मल और मूत्रके द्वारोंमें निरोधकी शक्ति नहीं रह जायगी और समस्त लोग यही मनाने लगेंगे कि मैं किसी तरह मर जाऊँ जिससे उनका पीछा छूटे। सम्पूर्ण जगत् मेरी ओर देखकर थूकने लगेगा, मृत्युसे बारम्बार कहना पड़ेगा कि तू किसी तरह जल्दीसे आकर मुझे उठा ले जा और मेरे सारे हितैषी भी मुझसे ऊब जायँगे स्त्रियाँ मुझे भूत कहकर पुकारेंगी और बच्चे मुझे देखकर भयभीत होकर भाग खड़े होंगे। इस प्रकार मैं सबके लिये घृणाका पात्र बन जाऊँगा। कफका प्राबल्य होनेपर जब मैं खाँसूँगा, तब पड़ोसियोंकी नींद भंग हो जायगी और वह कहने लगेंगे कि यह बुड्ढा अभी न जाने और कितने लोगोंको सतावेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति वृद्धावस्थाके इन लक्षणोंका ध्यान युवावस्थामें ही कर लेता है और तब उन सब लक्षणोंसे अपने मनमें घृणा करने लगता है, वही ज्ञानी है। वह यही सोचता है कि अन्ततः शरीरकी दुर्दशा इसी प्रकारकी होगी तथा शारीरिक भोगोंको भोग चुकनेके बाद इस शरीरका नाश हो जायगा, तब आत्मकल्याणके लिये मेरे पास बच ही क्या जायगा? इसीलिये जबतक

श्रवणेन्द्रियाँ अपना काम करना बन्द न करें, उससे पहले ही सब कुछ श्रवण कर लेना चाहिये और शरीरके जवाब देनेके पहले ही सब जगहकी यात्रा इत्यादि कर लेनी चाहिये। जबतक नेत्रोंमें देखनेकी सामर्थ्य है, तबतक जो कुछ देखते बने, वह देख लेना चाहिये और जबतक वाणी मूक (गूँगी) न हो, तबतक मधुर वचन बोल लेना चाहिये। हमें यह अच्छी तरहसे मालूम है कि आगे चलकर हमारे हाथ लूले ही हो जायँगे; लेकिन हाथोंके लूले होनेसे पहले ही दान इत्यादि पुण्य-कर्म इन हाथोंसे करा लेने चाहिये। आगे चलकर जिस समय ऐसी हीन अवस्था आवेगी, उस समय चित्त पागलोंकी भाँति हो जायगा। अतएव ऐसी अवस्था आनेसे पहले ही शुद्ध ज्ञानका संग्रह कर लेना आवश्यक है। यदि आज हमें यह ज्ञात हो जाय कि कल चोर आकर हमारी सारी सम्पत्ति लूट ले जायँगे, तो अच्छा यही है कि आज ही हम उसकी रक्षाकी व्यवस्था कर लें। दीपकके बुझनेसे पूर्व ही उसे हवासे बचानेके लिये ढक देना चाहिये। जिस समय वृद्धावस्था आवेगी, उस समय यह सारा शरीर व्यर्थ हो जायगा, इसलिये आजसे ही इस शरीरसे एकदम निर्लिप्त होकर रहना आरम्भ कर देना ही उचित है। जिसे इस बातकी जानकारी है कि आगे मार्ग अवरुद्ध है अथवा रक्षाका प्रबन्ध नहीं है या यह देखता है कि आकाश-मण्डलमें मेघ घिर रहे हैं, लेकिन फिर भी जो इन सब बातोंकी ओर ध्यान न देकर घरसे बाहर निकल पड़ता है, उसका घात अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार जिस समय वृद्धावस्था आवेगी, उस समय यह शरीर धारण करना एकदम व्यर्थ हो जायगा। ऐसी स्थितिमें यह व्यक्ति शतायु भी हो तो भी यह समझमें नहीं आता कि उसके इतने दीर्घजीवी होनेमें क्या लाभ है। जिन तिलोंके डंठलोंमेंसे एक बार झाड़े जानेके कारण तिल निकल जाते हैं, वे डंठल यदि फिर झाड़े जायँ तो उनमेंसे तिल नहीं निकलते। अग्नि भले ही हो, पर वह राखको नहीं जला सकती। इसलिये जब एक बार बुढ़ापा आ जाती है, तब उस व्यक्तिसे कुछ भी नहीं हो सकता, जिसकी आयु सौ

वर्षोंकी होती है। इसलिये जो व्यक्ति सदा यह याद रखता है कि बुढ़ापा आनेवाली है और यौवनकालमें ही इस बातका प्रयत्न करता है कि मैं उस बुढ़ापाके हाथोंमें न पड़ने पाऊँ, उसी व्यक्तिके बारेमें यह समझना चाहिये कि इसमें सच्चा ज्ञान है। इसीलिये जबतक अनेक प्रकारके रोग आकर सामने खड़े नहीं हो जाते, तबतक वह अपने इस निरोग शरीरका पूरा-पूरा उपयोग कर लेता है। जैसे सर्पके मुँहसे उगली हुई अन्नकी गोली विवेकवान् मनुष्य दूर फेंक देता है, वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति भी वह समस्त ऐहिक ममत्व दूर कर देता है, जिसके वियोगसे दुःख, संकट और शोक इत्यादिका पोषण होता है और वह आत्मसुखसे परिपूर्ण होकर तथा निष्क्रिय होकर रहता है। कर्मोंके जिन द्वारोंसे होकर दोष इस शरीरमें प्रवेश करते हैं; उन सब द्वारोंको वह यम-नियमोंकी सहायतासे एकदम अवरुद्ध कर देता है। इस प्रकार जो बहुत सावधान होकर समस्त कर्मोंका सम्पादन करता है, केवल उसीको ज्ञानरूपी सम्पत्तिका स्वामी समझना चाहिये। हे धनंजय, अब मैं तुमको एक और लक्षण बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (५१२—५९२)

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

जो व्यक्ति अपने इस देहकी ओरसे ठीक वैसे ही उदासीन रहता है जैसे यात्री उस विश्राम-गृहसे उदासीन रहता है, जिसमें वह जाकर कुछ दिनके लिये निवास करता है और यात्रा करते समय मार्गमें पड़नेवाले वृक्षकी छायाके साथ व्यक्तिको जितनी ममता होती है, उतनी ही ममता जिसे इस घर अथवा शरीरके विषयमें नहीं होती, जिसे स्त्रीका उसी प्रकार लोभ नहीं होता, जिस प्रकार किसी व्यक्तिको सदा अपने साथ रहनेवाली छायाका लोभ नहीं होता और कभी उसका स्मरण भी नहीं होता, जो अपने बच्चोंके सम्बन्धमें सदा यही समझता है कि ये मार्ग चलनेवाले यात्रियोंकी तरह कुछ कालके लिये मेरे पास आ ठहरे हैं अथवा जो उन बच्चोंको वृक्षकी छायामें आकर खड़े होनेवाले पशुओंकी भाँति समझता

है, हे पाण्डुसुत! सम्पत्तिकी राशिपर रहते हुए भी राहगीरकी तरह उसका एकमात्र साक्षी रहता है, जो पिंजरेके बन्द तोतेकी भाँति वेद-आज्ञा और मर्यादाका पालन करता है, पर फिर भी जो स्त्री-पुत्रादिकी माया और ममताके जालमें नहीं फँसता, उसीके सम्बन्धमें यह जान लेना चाहिये कि वह ज्ञानका पालन करनेवाला है। समुद्र जिस प्रकार ग्रीष्म और वर्षा—इन दोनों ऋतुओंमें समानरूपसे भरा रहता है, उसी प्रकार जो अनिष्ट और इष्ट सब कुछ होनेपर भी सदा अविकृत रहता है, उसी व्यक्तिको ज्ञानसे सम्पन्न समझना चाहिये। लोग दिनको तीन भागोंमें विभाजित करते हैं, पर सूर्यको उन तीनों विभागोंसे कुछ लेना-देना नहीं रहता, वह सबमें समानरूपसे रहता है। इसी प्रकार जिसके चित्तमें सुख और दुःखका भेद नहीं होता, जिसमें आकाशकी ही भाँति सदा समभाव बना रहता है, हे सुभट! उसीके विषयमें तुम यह अच्छी तरहसे जान लो कि वही ज्ञानकी मूर्ति है। (५९३—६०२)

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

जिसके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो चुका है कि मुझ (परमात्मा श्रीकृष्ण) से बढ़कर जगत्में कोई अन्य नहीं है, जिसके तन, वचन और मन इस दृढ़ निश्चयका सत्त्व-पान कर चुके होते हैं, वे और जो मेरे अलावा किसी अन्यकी ओर दृष्टिपात नहीं करता, किंबहुना अन्तःकरण सदा मेरे निकट रहनेके कारण जो मेरे साथ एक ही शय्यापर शयन करता है, जो मेरे सन्निकट ठीक वैसे ही उन्मुक्त मनसे आता है, जैसे कोई पत्नी अपने पतिके पास उन्मुक्त मनसे और बेधड़क होकर जाती है, जो मेरे स्वरूपके साथ ठीक वैसे ही समरस हो जाता है, जैसे गंगाजल समुद्रमें मिलकर उसके जलके साथ समरस हो जाता है, जो पूर्णरूपसे मेरी ही भक्ति करता है, सूर्यके साथ-ही-साथ उदित होने और अस्त होनेके कारण सूर्य-प्रभाको सूर्यके साथ जैसी एकता शोभा देती है और जैसे जलके

पृष्ठभागका अंश यदि सहजरूपसे हिलता है, तो उसीको लोग लहर या तरंग नामसे पुकारते हैं; पर यथार्थतः वह जल ही होता है, ठीक वैसे ही जो एकनिष्ठ भक्त मद्रूप होकर मेरी सेवा करता है, वह केवल मूर्तिमान् ज्ञान ही होता है। जिस व्यक्तिको तीर्थों, पवित्र स्थानों, शुद्ध तपोवनों, गुफाओं और इसी प्रकारके अन्य एकान्त स्थानोंमें रहनेका शौक होता है, जो पर्वतमालाओंकी गुफाओं अथवा जलाशयोंके निकटवर्ती स्थानोंका अत्यन्त प्रेमपूर्वक सेवन करता है और जो कभी नगरोंमें कदम नहीं रखता, जिसे एकान्त निवास ही रुचिकर लगता है और आबादीसे सदा दूर रहना चाहता है, उस व्यक्तिको मनुष्यके आकारमें ज्ञानकी मूर्ति ही समझना चाहिये। हे सुमति! अब मैं तुम्हें ज्ञानका ठीक-ठीक स्पष्टीकरण करानेके लिये एक और लक्षण बतलाता हूँ, सुनो। (६०३—६१४)

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

परमात्मा अर्थात् वह एकमेवाद्वितीय वस्तु जिस ज्ञानके सहयोगसे दृष्टिगत होती है, वास्तवमें वही सच्चा ज्ञान है। इसके अलावा संसार और स्वर्गविषयक जो ज्ञान हैं, उन सबको जो निश्चयपूर्वक अज्ञान समझ लेता है, जो स्वर्गविषयक ज्ञानको तिलांजलि दे देता है, जो सांसारिक प्रपंचोंको अपनी श्रवणेन्द्रियोंतक पहुँचने ही नहीं देता और एकमात्र निर्मल भावनासे अध्यात्म ज्ञानमें तल्लीन रहता है, जो अन्यान्य ज्ञानोंको एक किनारे रखकर अपनी बुद्धिको ठीक वैसे ही अध्यात्म-ज्ञानके मार्गमें आगेकी ओर बढ़ाता है, जैसे कोई राही राह भूल जानेपर टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता छोड़कर राजमार्गपर चलना आरम्भ करता है, जो अपने मनमें कहता है कि यही केवल सत्य है और अन्य विषयोंका ज्ञान कोरा भ्रम है। यही समझकर जो दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने मनमें मेरुगिरिकी भाँति अडिग रहता है, इस प्रकार आकाशमें स्थित ध्रुवदेवकी भाँति जिसका निश्चय अध्यात्मज्ञानके द्वारपर अचलरूपसे स्थित रहता है, उसीमें ज्ञान अपना डेरा डाले रहता

है, इस वचनमें नाममात्र भी बाधा नहीं आ सकती, कारण कि जब किसीका मन ज्ञानमें स्थिर हो जाय, तभी यह जान लेना चाहिये कि वह ज्ञानका स्वरूप हो गया है। भोजन ग्रहण करनेके कुछ देर बाद जो आनन्द आता है, उसका पता भोजन करनेके पहले नहीं लग पाता। पर फिर भी मनुष्यकी भाँति ज्ञानमें स्थित होते ही उसकी जो स्थिति होती है, वह प्रायः पूर्ण ज्ञानवान्‌की स्थितिके सदृश ही होती है। इसके अलावा शुद्ध तत्त्व-ज्ञानका जो एकमात्र फल ज्ञेय वस्तु है, वह उसे सहजतः दृष्टिगोचर होने लगती है। अन्यथा ज्ञानका बोध हो जानेपर भी यदि मनको ज्ञेय वस्तु न दिखायी दे तो यह नहीं माना जा सकता कि ज्ञानका लाभ हुआ। यदि नेत्रहीन व्यक्ति अपने हाथमें दीपक ले तो उसके लिये उसका क्या उपयोग हो सकता है? इसी प्रकार यदि ज्ञेय वस्तु न दिखायी पड़े तो फिर यही समझना चाहिये कि सारा ज्ञान निश्चय ही व्यर्थ गया। यदि ज्ञानके प्रकाशसे परमात्मतत्त्वतक दृष्टि न पहुँचे तो उस ज्ञानको ही अन्धा समझना चाहिये। अतएव बुद्धि इतनी निर्मल होनी चाहिये कि ज्ञान जो-जो चीजें दिखलावे, वे सब चीजें परमात्माके स्वरूपमें ही दृष्टिगोचर हों। यही कारण है कि जिस व्यक्तिको इस प्रकारकी निर्मल स्फूर्ति हो जाती है, उसे निर्दोष ज्ञानका दिखलाया हुआ पद तत्त्व दृष्टिगत होने लगता है। जिस व्यक्तिको इतना विशद ज्ञान मिल जाता है कि वह उसकी सहायतासे परमात्मतत्त्वका दर्शन कर सके, उस व्यक्तिकी बुद्धि भी उतनी ही विशद होती है और ऐसे व्यक्तिके विषयमें यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि वह व्यक्ति ज्ञानस्वरूप हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान-तेजके साथ जिसकी बुद्धि ज्ञेय वस्तुतक जा पहुँचती है, वह मानो आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष हाथसे ही स्पर्श कर लेता है। ऐसी स्थितिमें, हे पाण्डुसुत! यदि इस प्रकारके व्यक्तिको साक्षात् ज्ञान ही कहा जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! सूर्य तो सूर्य ही है। भला उसके स्पष्टीकरणकी भी कभी कोई आवश्यकता होती है।"

यह सुनकर श्रोताओंने कहा—"अब इसका अधिक विस्तार मत करो। इस विषयके वर्णनमें इधर-उधरकी बातें क्यों लाते हो? तुमने ज्ञानके सम्बन्धमें इतने विस्तारके साथ जो कुछ कहा, उससे हमलोगोंका वाग्-विलाससे यथेष्ट आतिथ्य हो चुका। ग्रन्थके निरूपणमें रसालताकी अधिकता होनी चाहिये, यह मन्त्र तुमने कवियोंसे खूब अच्छी तरह सीख लिया है। परन्तु हमलोगोंको निमन्त्रित करके ठीक और उपयुक्त प्रसंग आनेपर इधर-उधरकी बातें बढ़ाकर हमें अपना शत्रु बनानेका विचार तुम क्यों करते हो? जब बैठकर भोजन करनेका समय हो, उस समय भोजन बनानेवाली स्त्री यदि भोजन लेकर कहीं अन्यत्र चली जाय तो उसके द्वारा निमन्त्रित व्यक्तिका अन्य प्रकारसे किया गया आदर-सत्कार किस कामका? जिस गौमें अन्य समस्त बातें तो ठीक हों, पर दूध दुहनेके समय जो दूध दुहनेवालेको अपने निकट बैठनेतक न देती हो, उस लतही गौका पालन-पोषण भला कौन करेगा? इसी प्रकार ज्ञानमें बुद्धिका प्रवेश न होनेके कारण दूसरे निरूपणकर्ता नाना प्रकारकी बातें कह जाते हैं और यह भी नहीं समझ पाते कि हम क्या कह गये। पर इन सब बातोंको जाने दो। तुम्हारा निरूपण अवश्य अच्छा हुआ है। जिस ज्ञानका एक छोटा-सा अंश पानेके लिये लोग नाना प्रकारके कष्ट सहते हैं; योग इत्यादिका सहारा लेते हैं, वास्तवमें वही ज्ञान समाधानकारक होता है; और तिसमें भी तुम्हारे द्वारा रसपूर्ण निरूपण हो तो फिर भला कहना ही क्या है! यदि अमृत-वृष्टिकी झड़ी लग जाय तो उसमें बुराई ही क्या है? यदि सुखके करोड़ों दिन प्राप्त हों तो क्या कभी कोई इस विचारसे वे दिन गिनने बैठता है कि ये दिन कब समाप्त होंगे? यदि पूर्णिमाकी रात पूरे युगपर्यन्त बनी रहे तो भी क्या चक्रवाक उसकी ओर एकटक देखता नहीं रहेगा? इसी प्रकार ज्ञानका विषय, और फिर उसका ऐसा रसपूर्ण निरूपण यदि सुननेको मिले तो क्या कभी कोई यह कहेगा कि महाराज! अब बस करो रहने दो। जब ऐसा उत्तम योग हो कि

सौभाग्यशाली अतिथि पधारे और अच्छी सुघड़ परोसनेवाली हो, फिर भोजन कितनी ही देरतक क्यों न होता रहे, तो भी वह समय थोड़ा ही जान पड़ता है। आज भी कुछ इसी प्रकारका प्रसंग आ खड़ा हुआ है, कारण कि एक तो पहलेसे ही हमलोगोंको ज्ञानकी लालसा थी और तिसपर आपको भी निरूपण करनेका उत्साह है, इसलिये इस कथाके प्रति हमलोगोंका अवधान चौगुना हो गया है और यही कारण है कि हमलोगोंसे यह कहे बिना रहा नहीं जाता कि तुम ज्ञानद्रष्टा हो। अतएव अब तुम अपने बुद्धि-बलसे इसके आगेवाले श्लोकांशका निरूपण करो।''

सन्तोंकी ये बातें सुनकर निवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवने कहा कि मेरी भी यही इच्छा है; और फिर आप सब सन्तोंने भी यही आज्ञा दी है। तो अब मैं व्यर्थ वक्तृताका विस्तार नहीं करना चाहता। इस प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञानके अठारह लक्षण बतलाये थे! भगवान्‌ने कहा कि यह मेरा और समस्त ज्ञानियोंका मत है कि इन्हीं लक्षणोंसे ज्ञानकी पहचान करनी चाहिये। जैसे करतलपर रखा हुआ आँवला स्पष्टरूपसे दिखायी देता है, वैसे ही मैंने तुम्हें यह बतला दिया है कि ज्ञानको किस प्रकार स्पष्टरूपसे देखना और पहचानना चाहिये। हे धनंजय! जिसे लोग 'अज्ञान' नामसे पुकारते हैं, उसका स्वरूप भी मैं तुमको लक्षणोंके सहित बतला दूँ। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जब व्यक्तिको समझमें ज्ञानका स्वरूप भलीभाँति आ जाता है, तब सहजमें ही यह बात भी उसकी समझमें आ जाती है कि अज्ञान नामसे किसे पुकारते हैं, क्योंकि हे महामति! जो 'ज्ञान' नहीं है, वह सहजतः 'अज्ञान' ही है। जिस समय दिनका अवसान हो जाता है उस समय रातकी ही बारी आती है; उस समय और किसी तीसरी चीजका होना सम्भव ही नहीं होता। इस प्रकार जहाँ ज्ञान न हो, वहाँ अपने आप जान लेना चाहिये कि अज्ञान ही वर्तमान है। तो भी मैं तुम्हें अज्ञानको पहचाननेका कुछ लक्षण बतला देता हूँ।

जो एकमात्र प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही जीवन धारण करता है, जो सिर्फ सम्मानकी ही बाट जोहता है और आदर-सत्कार होनेसे ही जिसको सन्तोष होता है, जो पहाड़की चोटीकी भाँति सदा ऊँचा ही उठा रहना चाहता है तथा कभी नीचे नहीं उतरना चाहता, उसके बारेमें यह जान लेना चाहिये कि उसमें अज्ञान कूट-कूटकर भरा है। जैसे लोग रस्सीमें पीपलके पत्ते बाँधकर तोरण बनाते हैं, वैसे ही जो अपने पुण्य-कर्मोंका तोरण बड़े-बड़े शब्दोंसे बना करके टाँगता है, जो जान-बूझकर मन्दिरकी चँवरीकी तरह सदा सिर उठाये खड़ा ही रहता है, जो अपनी विद्याका विशद विवेचन करता रहता है, अपने पुण्य कर्मोंका ढिंढोरा पीटता रहता है और प्रत्येक कार्य एकमात्र यशस्विताके उद्देश्यसे ही सम्पन्न करता रहता है, जो अपने शरीरको भभूत इत्यादिके लेपसे बहुत बढ़िया बनाये रखता है, पर उन लोगोंको सदा धोखेमें रखता है जो उसके चक्करमें पड़ते या उसके अनुगामी बनते हैं, उसे अज्ञानकी खान ही समझना चाहिये। जिस समय जंगलमें आग फैलने लगती है, उस समय जैसे उस जगलमें निवास करनेवाले समस्त जीवों और वनस्पतियोंको समानरूपसे उसका दाह सहन करना पड़ता है, वैसे ही जिसके व्यवहारसे सारे जगत्को दुःख झेलना पड़ता है, जिसका सहज भाषण भी सब लोगोंपर कुल्हाड़ीकी ही भाँति आघात करता है तथा जो अपने गुप्त उद्देश्यकी सिद्धि करनेके लिये विषसे भी भयंकर मारक होता है; उसके बारेमें यह जान लेना चाहिये कि उसमें अत्यधिक अज्ञान भरा हुआ है; अपितु उसे अज्ञानका घर ही समझना चाहिये, क्योंकि उसका जीवन केवल हिंसामय होता है। जैसे वायुके अन्दर भर जानेपर चमड़ेकी धौंकनी फूल जाती है और दबानेसे वह फिर पचक जाती है, वैसे ही जो संयोग और वियोगके कारण निरन्तर उठता तथा गिरता अथवा बढ़ता और घटता रहता है, जो प्रशंसा होनेपर उसी तरह आनन्दसे आकाशपर चढ़ जाता है, जिस प्रकार वायुके प्रवाहके कारण धूल आकाशमें पहुँच जाती है, पर अपनी थोड़ी-सी भी निन्दा

कानोंमें पड़नेपर जो सिरपर हाथ रखकर बैठ जाता है, मान-अपमानके कारण जिसकी दशा उसी कीचड़की भाँति हो जाती है जो जलकी दो-चार बूँदें पड़नेपर तो भीग जाता है और थोड़ी-सी हवा लगनेसे फिर सूख जाता है, आशय यह कि जो किसी प्रकारका मनोविकार एकदम सहन नहीं कर सकता, उसके बारेमें यही समझना चाहिये कि वह अज्ञानसे भरपूर है। जिसके मनमें गाँठ रहती है, जो ऊपरसे तो बातें करता और देखता है, पर एकको आलिंगन करता है और अन्तःकरणसे दूसरेका सहयोग करता है, जो बनावटी अनुराग दिखलाकर दूसरोंके अन्तःकरणको ठीक वैसे ही अपने वशमें कर लेता है, जैसे मृग इत्यादि पशुओंकी हत्या करनेके उद्देश्यसे व्याध उन्हें लुभानेके लिये उनके सामने चारा डालकर उन्हें अपने अधीन कर लेता है, जिसकी दिखावटी वृत्ति ठीक वैसे ही सरल होती है, जैसे सेवारसे ढँका हुआ पत्थर होता है अथवा जैसे पककर पीला हो जानेवाला नीमका फल भीतरसे कड़वा होता है, निःसन्देह उसमें अज्ञान अपना डेरा जमाये रहता है। जिसे अपने गुरुकुलका नाम लेते ही लज्जा होती है, जिसे गुरु-भक्ति रुचिकर नहीं लगती, जो गुरुसे विद्या प्राप्त करके उलटे उन्हींसे अपनी विद्याका अभिमान करता है, मुँहसे उसका नामोच्चारण करना मानो शूद्रान्न सेवन करनेके समान होता है; पर इन लक्षणोंको बतलानेके लिये उसका नाम तो लेना ही पड़ता है। अब मैं गुरु-भक्तोंका नाम लेकर इस दूषित जिह्वाका प्रायश्चित्त करता हूँ, क्योंकि गुरु-भक्तोंका नाम सूर्यकी भाँति चतुर्दिक् प्रकाशका विस्तार करता है। गुरुसे द्रोह करनेवाले व्यक्तियोंका नाम लेनेसे पापका जो भार आ पड़ा है, उस भारसे वाणीको मुक्त करनेके लिये इतना प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। आजतक गुरुसे द्रोह करनेवालोंका नाम लेनेसे जितना पाप हुआ होगा, वह सब गुरु-भक्तोंके नामोंको लेनेसे एकदम धुल जायगा। हे अर्जुन! अब मैं तुमको अज्ञानके दूसरे लक्षण बताता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। जो सदा विचलित और अस्थिर रहता है, जो सदा संशयसे भरा रहता है,

जो व्यक्ति बाह्याभ्यन्तर जंगलमें स्थित उस कुएँकी भाँति घृणित और त्याज्य रहता है, जिसके ऊपर तो झाड़-झंखाड़ और काँटे होते हैं तथा जिसके अन्दर सिर्फ जो व्यक्ति द्रव्यके लोभमें पड़कर अपने और परायेका ठीक उसी तरह कोई विचार नहीं करता, जिस तरह भूखसे व्याकुल कुत्ता खुले और ढके हुए अन्नका कोई विचार नहीं करता और जहाँ जो चीज मिलती है, वह सब हजम कर जाता है, जो कुत्तेकी ही भाँति नीति और अनीति कुछ भी नहीं देखता और जब जहाँ जी चाहा, वहीं रमण करने लग जाता है, जो कर्तव्य-कर्मका समय चूक जानेपर अथवा नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके छूट जानेपर भी मनमें जरा-सा भी दुःखी नहीं होता, पापाचरण करनेमें जिसे कुछ भी लज्जा नहीं जान पड़ती, पुण्यके विषयमें जो सदा निरुत्साही बना रहता और जिसके मनमें सदा संशय बना रहता है, उसे स्पष्टरूपसे अज्ञानका पुतला ही समझना चाहिये। जिसकी दृष्टि सदा धनपर ही टिकी रहती है, थोड़े-से स्वार्थके लिये ठीक वैसे ही धैर्य खो देता है, जैसे चींटीके हलके से धक्केसे तृण हिल जाता है, भयका नाम कानोंमें पड़ते ही जो ठीक वैसे ही डगमगा जाता है, जैसे पैर रखते ही गड्ढेका जल गन्दा हो जाता है, बाढ़में बहती हुई तुम्बीकी भाँति जो अपने मनोरथोंके लहरोंके साथ अपने मनको बहाये चलता है, जो दुःखकी बात सुनते ही वैसे ही विचलित हो जाता है, जैसे वायुका झोंका लगनेसे धूल सुदूर चली जाती है, जो कभी एक जगहपर स्थिर नहीं रहता और बादलोंकी भाँति इधर उधर चलता-फिरता रहता है, जो किसी क्षेत्र, तीर्थ अथवा नगरमें जानेका नाम नहीं लेता, जो वैसे ही यहाँ-वहाँ व्यर्थ विचरण करता रहता है, जैसे पागल गिरगिट कभी वृक्षकी फुनगीपर चढ़ जाता है और कभी उसकी जड़के पास आ जाता है, जिसकी दशा उस मिट्टीके बने हुए नादकी तरह होती है जो सिर्फ उसी दशामें स्थिर रहती है जब कि वह जमीनमें गाड़ दी जाती है और नहीं तो सदा इधर-उधर लुढ़कती रहती है और इसी कारण जो सिर्फ उसी दशामें एक जगह स्थिर रहता

है, जब कि वह लेटा रहता है और नहीं तो सदा इधर-उधर भ्रमण करता रहता है, उसीमें अज्ञान खूब ठूस-ठूसकर भरा रहता है, जो चंचलतामें बन्दरकी ही भाँति होता है और हे धनुर्धर! निग्रहका बल जिसके अन्तःकरणमें नहीं होता, जो निषेधको देखकर उससे उसी प्रकार भय नहीं खाता, जिस प्रकार नालेमें आयी हुई पानीकी बाढ़ बालूके बाँधसे कुछ भी भयभीत नहीं होती और उसे बहा ले जाती है। जो अपने आचारसे व्रतका खण्डन करता है, स्वधर्मको पैरोंसे कुचलता है तथा यम-नियमोंको निराश करता है, जो पापसे भयभीत नहीं होता तथा पुण्यसे राग नहीं रखता, जो लज्जाकी बेलको जड़से ही उखाड़ फेंकता है, जो अपनी वंश-परम्पराकी परवाह नहीं करता, जो वेदाज्ञाको अपनेसे सदा दूर ही रखता है और इस बातका निर्णय करना कभी जानता ही नहीं कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय है, जो उसी प्रकार मनमाने नाच नाचता है, जिस प्रकार बन्धनविहीन साँड़ चतुर्दिक् विचरण करता रहता है अथवा वायु बेरोक-टोक बहती रहती है अथवा सुनसान स्थानमें नदी-नाले स्वच्छन्दरूपसे बहते रहते हैं, जिसका चित्त विषयोंमें उसी तरह समस्त बन्धनोंको तोड़कर भरमता रहता है, जैसे नेत्रविहीन हाथी चतुर्दिक् भ्रमण करता रहता है अथवा पर्वतपर दावाग्नि चतुर्दिक् जलती रहती है, वही पूरा-पूरा अज्ञानी होता है। भला कूड़ेखानेमें कौन-सी चीज नहीं फेंकी जाती? वनमें रहनेवाले जानवरोंको कौन पकड़ता है? गाँवकी सीमा कौन नहीं लाँघता? अन्न-सत्रका अन्न जो चाहे, वह जाकर ग्रहण कर सकता है; जिस समय वेश्यामें तारुण्य विद्यमान रहता है उस समय उसका उपभोग जो चाहे वह कर सकता है तथा व्यापारीकी खुली हुई दुकानमें जो चाहे, वही जा सकता है। इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण हो, उसमें सभी प्रकारके अज्ञानकी समृद्धि होती है। यह बात तुम ध्यानमें रखो। जो चाहे जीता रहे और चाहे मर जाय, पर फिर भी विषय-वासना किसी दशामें नहीं छोड़ता, जो स्वर्गमें भी विषयोंका सुख भोगनेकी इच्छासे इसी संसारमें

ही भोग-सामग्री इकट्ठी कर लेता है, जो निरन्तर विषयोंका ही जप करता रहता है, जिसका मन सदा सकाम अनुष्ठानोंकी ओर ही लगा रहता है और जो विरागी व्यक्तियोंके दर्शन होते ही इतना बुरा मानता है कि अपने सब कपड़े धोकर स्नान कर डालता है, जो उस दशामें भी विषयोंका भोग करता रहता है, जबकि स्वयं विषय ही उससे विरक्त हो जाते हैं और विषयोंका सेवन उसी प्रकार करता रहता है, जिस प्रकार कोई रोगी व्यक्ति अपने हाथ सड़ जानेपर भी उसी हाथसे बराबर अन्नका सेवन करता रहता है और जो कभी अपने हितके विषयमें सावधान नहीं होता, जो उसी तरह विषयोंके पीछे भागता रहता है, जिस तरह गधा अन्धा होकर गधीके पीछे भागता रहता है और गधीके बार-बार लात मारनेपर भी पीछे नहीं हटता, जो विषयोंके लिये धधकती आगमें भी कूद सकता है और भाँति-भाँतिके व्यसनोंको अलकारोंकी तरह धारण करता है। विषयोंको पानेके लिये जिसकी दशा उस मृगकी भाँति होती है जो जलके लोभमें पड़कर तबतक दौड़ता रहता है, जबतक उसका वक्ष विदीर्ण नहीं हो जाता, पर फिर भी जिसके मनमें कभी यह विश्वास ही नहीं होता कि यह जल नहीं है, अपितु मृगजलकी माया है, जो जन्मसे मृत्युपर्यन्त विषयोंसे पीड़ित होनेपर भी कभी उनसे उकताता नहीं, बल्कि उलटे उन्हें और भी अधिक पानेकी चेष्टा करता रहता है, वही अज्ञानी है। पहले तो बचपनमें उसके सिरपर माता-पिताका भूत सवार रहता है और युवावस्था आते ही वह स्त्रीके देहके चक्करमें पड़ जाता है और जब स्त्रीकी संगतिमें बहुत-सा समय बिता चुकनेके बाद बुढ़ापा आती है, तब उसके सिरपर बाल-बच्चोंका भूत सवार हो जाता है। जैसे अन्धे बच्चेको जन्म देकर माँ उसका सदैव खयाल रखती है उसी तरहसे मनुष्य अपने बाल-बच्चोंके चक्करमें लगा रहता है, कभी भी विषयोंसे उसका मन नहीं हटता है। हे पार्थ! तुम यह अच्छी तरहसे समझ लो कि उस व्यक्तिके अज्ञानकी सीमा ही नहीं है।

अब मैं अज्ञानके कुछ और भी लक्षण बतलाता हूँ; सुनो। जो अपने देहको भी आत्मा मानकर कर्मका आरम्भ करता है, जो अपने अच्छे और बुरे सभी तरहके कर्मोंका ध्यान करके हर्षसे प्रफुल्लित हो जाता है, जो अपनी विद्या और तारुण्यके कारण वैसे ही तनकर चलने लगता है, जैसे कोई भक्त उस समय गर्वसे तनकर चलने लगता है, जिस समय उसके सिरपर देव-प्रतिमा रख दी जाती है, जो निरन्तर यही कहता है कि मेरी बराबरीका और कोई नहीं है। यदि ऐश्वर्यवान् हूँ तो एकमात्र मैं ही हूँ। भला मुझसे बढ़कर उत्तम आचरण करनेवाला और कौन है? मुझ-सा बड़ा अन्य कोई नहीं है। मैं सर्वज्ञ हूँ और मेरी ही बातें सर्वत्र मान्य हैं। इस प्रकार जो गर्वसे अपने विषयके समाधानसे फूला नहीं समाता, जो ठीक वैसे ही किसी अन्यकी भलाई नहीं देख सकता, जैसे महारोगीको किसी प्रकारका भोग सहन नहीं होता, जो गुण (अच्छी भावना)-को वैसे ही नष्ट करता है, जैसे दीपक सूतकी बत्ती (गुण)-को नष्ट करता है, जो स्नेह (प्रेम)-को ठीक वैसे ही जलाता है, जैसे दीपक तेल (स्नेह)-को जलाता है और जो वैसे ही चतुर्दिक् दुःखकी कालिमा फैलाता है, जैसे दीपक किसी जगहपर रखे जानेपर चतुर्दिक् अपनी कालिमा फैलाता है, जिसकी दशा उस दीपककी भाँति होती है जो जलकी बूँदें पड़नेपर चट चट करता है, थोड़ी-सी हवासे बुझ जाता है और सहजमें यदि किसी चीजसे सम्पर्क हो जाय तो सारे घरको जलाकर भस्म कर देता है, जो लाख समझानेपर किसी तरह नहीं मानता, उलटे लड़ बैठता है और अवसर मिलते ही दूसरोंका घात करनेसे नहीं चूकता, जो अपनी थोड़ी-सी विद्याके कारण वैसे ही सब लोगोंके लिये असहनीय हो जाता है जैसे थोड़ा-सा प्रकाश करनेवाला दीपक भी केवल उतने ही प्रकाशसे भारी ताप उत्पन्न करता है, गुणी होनेपर भी मत्सरके कारण जिसकी अवस्था उस दूधकी तरह होती है जो औषधरूपमें पीये जानेपर भी नये ज्वरको कुपित कर देता है अथवा जो उस दूधकी तरह विषाक्त होता है, जो सर्पके सम्मुख

रखा जाता है, तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार सद्गुणी होनेपर भी सबके साथ मत्सर, द्वेष करता है, ज्ञानी होनेपर भी अहंकार करता है और जिसे अपनी तपस्या तथा ज्ञानका अपार गर्व होता है, जो गर्वसे वैसे ही फूला रहता है, जैसे अन्त्यज (शूद्र) राजगद्दीपर बैठनेसे फूल जाता है अथवा अजगर खम्भा निगलकर फूल जाता है, जो बेलनकी भाँति कभी किसीके समक्ष नहीं झुकता और पत्थरकी भाँति कभी नहीं पसीजता और जो ठीक वैसे ही किसी गुणवान् व्यक्तिके दबावमें नहीं रहता, जैसे फुफकारनेवाला सर्प किसी झाड़-फूँक करनेवालेके वशमें नहीं रहता, बहुत क्या कहें, मैं तुम्हें निश्चितरूपसे यह बतलाता हूँ कि जिस व्यक्तिमें ये सब बातें होती हैं, उसमें ऐसा अज्ञान भरा रहता है जो निरन्तर बढ़ता ही जाता है और हे अर्जुन! जो इस देह-रूपी घरका ही निरन्तर पालन-पोषण करता रहता है और अपने पिछले अथवा भावी जन्मोंका कभी स्मरण नहीं करता, वही अज्ञानी है। कृतघ्न व्यक्तिके साथ किया हुआ उपकार, चोरके हवाले किया हुआ धन अथवा निर्लज्ज व्यक्तिको दी हुई चेतावनी वैसे ही व्यर्थ जाती है, जैसे घरमें घुस आनेवाले कुत्तेको यदि उसके कान और पूँछ काटकर भगा दिया जाय तो भी वह कुत्ता कटे हुए अंगका खून सूखनेसे पहले ही निर्लज्जतापूर्वक घरमें घुस आता है अथवा जैसे सर्पके मुखमें जाते समय भी मक्खियोंको पकड़नेके लिये मेढक अपनी जीभ बाहर निकाले रहता है, वैसे ही जिस व्यक्तिको उस दशामें भी खेद नहीं होता, जब कि उसके शरीरकी समस्त इन्द्रियोंके द्वार निरन्तर बहते रहते हैं, शरीरमें नाशक घुन लगा रहता है, जो माताके उदररूपी गुफामें, मल-मूत्रमें नौ महीनेतक पड़ा रहनेपर भी गर्भावस्थाके दुःखों अथवा जन्मके समय होनेवाले कष्टोंका भी स्मरण नहीं करता, जो मल-मूत्रमें लोटते हुए बच्चोंको देखकर भी घृणा नहीं करता और इस तरहकी बातोंसे नहीं उकताता, जो यह कभी सोचता भी नहीं कि अभी कल ही पिछला जन्म समाप्त हुआ है और फिर कल ही नया जन्म आनेवाला है, जिसे

अपने जीवनके अच्छे दिनोंमें मृत्युका स्मरण नहीं होता, जिसे सदा इस बातका भरोसा रहता है कि मेरी ऐसी ही अच्छी अवस्था सदा बनी रहेगी और इसी भरोसेके कारण जिसकी समझमें ही यह नहीं आता कि मृत्यु नामकी भी कोई चीज है, जिसकी अवस्था किसी गड्ढेमें रहनेवाली उस मछलीकी भाँति होती है, जो यह समझती है कि यह गड्ढा कभी सूखेगा ही नहीं और यही सोचकर जो किसी गहरे दहमें नहीं जाती अथवा जिसकी अवस्था उस हिरणकी तरह होती है, जो शिकारीके गीतमें ही इतना निमग्न हो जाता है कि उस शिकारीको देखना भी भूल जाता है अथवा उस मछलीकी भाँति होती है जो बंसीका काँटा नहीं देखती और उसपरका आमिष (मांस) खानेका प्रयत्न करती है अथवा जिसकी अवस्था उस पतंगकी तरह होती है, जो दीपककी लौ देखते ही इस बातको भूल जाता है कि यह दीपक मुझे जला डालेगा, वही अज्ञानी है। जैसे घरके जलनेके समय भी मूर्ख व्यक्ति खर्राटे मारता रहता है अथवा अनजानमें विष मिला हुआ अन्न खा जाता है, वैसे ही राजस सुखमें निमग्न अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं जानता कि इस जीवनके रूपमें मुझपर यह मृत्युका ही वार हुआ है। वह अहर्निश अपने शरीरका ही लालन-पालन करता रहता है और विषय-सुखके वैभवको ही सच्चा मानता है। पर उस मूर्खकी समझमें यह बात नहीं आती कि वेश्याको अपना सब कुछ सौंपना ही मानो अपना सर्वनाश करना है अथवा चोरोंकी संगति करना ही अपने प्राण गँवाना है अथवा दीवारपर रंगसे निर्मित चित्रको स्वच्छ करनेके लिये धोना ही मानो उस चित्रको मिटाना है तथा पाण्डुरोगके कारण अंगोंका फूलना ही मानो उनका विनष्ट होना है। बस, ठीक इसी प्रकार वह आहार-निद्रामें भूलकर बुद्धिहीन हो जाता है। जैसे समक्ष खड़ी हुई शूलीकी ओर दौड़नेवालेके लिये पग-पगपर मृत्यु निकट आती-जाती है, वैसे ही ज्यों-ज्यों उसका शरीर बढ़ता है, ज्यों-ज्यों दिन व्यतीत होते जाते हैं और ज्यों ज्यों विषय-भोगकी अधिकता होती जाती है, त्यों-त्यों आयुष्यपर

मृत्युकी छाया निरन्तर बढ़ती जाती है। जैसे जलसे लवण गल जाता है, वैसे ही यह जीवन भी गलता चला जाता है और मृत्यु समीप आती जाती है, पर फिर भी यह बात उसके मस्तिष्कमें नहीं घुसती। हे पाण्डव! बहुत क्या कहें, जो विषयोंकी मायाके कारण शरीरके साथ नित्य-निरन्तर लगी रहनेवाली मृत्युको नहीं देखता, वह व्यक्ति हे महाबाहो, अज्ञान देशका अधिपति है, जिस प्रकार ऐसे व्यक्तिको सुखोपभोगके चक्करमें पड़नेके कारण मृत्युका स्मरण ही नहीं होता उसी प्रकार अपने तारुण्यके मदमें उन्मत्त हुआ वह व्यक्ति वृद्धावस्थाको कोई चीज ही नहीं समझता। जैसे पहाड़की चोटीपरसे लुढ़की हुई गाड़ी अथवा वहाँसे गिरा हुआ पत्थर यह नहीं देखता कि सामने क्या चीज है, क्या नहीं है, वैसे ही वह भी सामनेसे आनेवाली वृद्धावस्थाको नहीं देखता अथवा जिस समय जंगलके नालेमें जल बढ़ने लगता है और बाढ़ आने लगती है अथवा जिस समय भैंसे आपसमें लड़ने लगते हैं, उस समय उन्हें अपने सामनेकी कोई चीज नहीं दिखायी देती। इसी प्रकार वह भी तारुण्यके मदमें अन्धा हो जाता है। यद्यपि उसके शरीरांग दुर्बल होते जाते हैं, तेज क्षीण होता जाता है, मस्तक काँपने लगता है, दाढ़ी सफेद हो जाती है और ग्रीवा हिलने लगती है, पर फिर भी वह अपनी भाषाका विस्तार करता ही जाता है। जैसे अन्धेको सामनेसे आनेवाला व्यक्ति तबतक पता नहीं चलता, जबतक वह उसकी छातीपर नहीं आ जाता अथवा आलसी व्यक्ति उस समयतक आनन्दसे पड़ा रहता है; जिस समयतक घरमें लगी हुई आगकी चिनगारियाँ आकर उसके मुखपर गिरने नहीं लगती हैं, वैसे ही जिस व्यक्तिको वर्तमानकी युवावस्थाका भोग करते समय भविष्यमें आनेवाली बुढ़ापा दृष्टिगत नहीं होती, हे धनुर्धर! वह व्यक्ति अज्ञानका ही पुतला होता है, जो किसी अशक्त और पंगुको देखकर अभिमानसे भरकर उसे चिढ़ाने लगता है, परन्तु जो यह नहीं समझता कि कल मेरी भी यही दशा होगी और मृत्यु-सूचक बुढ़ापेके लक्षण शरीरमें दृष्टिगोचर

होनेपर भी जिसका तारुण्यकालका भ्रम नहीं मिटता, उस व्यक्तिको अज्ञानका जन्मस्थान ही समझना चाहिये। हे सुभट! अज्ञानका कुछ और भी लक्षण सुनो। जैसे कोई पशु किसी ऐसे जंगलमें जाकर चर आता है, जिसमें व्याघ्रका निवास भी रहता है और जो सौभाग्यसे किसी प्रकार व्याघ्रसे बचकर लौट आता है और इसी भरोसेपर वह फिर उसी जंगलमें चरनेके लिये जाता है अथवा जैसे कोई व्यक्ति एक बार सर्पके बिलमें रखा हुआ द्रव्य सर्प-दंशसे किसी प्रकार बचकर उठा लाता है और तब वह ढिंढोरा पीटने लगता है कि उस बिलमें सर्प है ही नहीं अथवा यदि वह है भी तो काटता ही नहीं, वैसे ही जो एक-दो बार कुपथ्य करके भी यह देखता है कि मेरा शरीर स्वस्थ है और इसीलिये जो रोगका अस्तित्व ही नहीं मानता अथवा जो अपने शत्रुको सुषुप्तावस्थामें देखकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि अब तो मेरी शत्रुता सदा-सदाके लिये समाप्त हो गयी और अन्तमें परिवारसमेत अपने प्राण गँवा बैठता है अथवा जो व्यक्ति तबतक रोगके प्रति चिन्तामुक्त रहता है, जबतक उसका आहार तथा निद्रा नियमित रहती है तथा रोग उसके देहमें पूरी तरहसे अपना डेरा नहीं डाल लेता, वही अज्ञानी होता है। वह अपनी स्त्री आदिके साथ ज्यों-ज्यों अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा अधिक से अधिक विषयोंको सम्पादित करता जाता है, त्यों-त्यों उसकी धूलसे वह और भी अधिक दृष्टिहीन होता जाता है। जिसे यह भावी दुःख दृष्टिगत नहीं होता कि अकस्मात् इन विषयोंके साथ मेरा वियोग होगा और पलभरमें मुझपर भारी विपत्ति आ पड़ेगी, हे पाण्डव! उस व्यक्तिको केवल अज्ञानी ही समझना चाहिये और वह व्यक्ति भी अज्ञानी ही है जो इन्द्रियोंका उदर विषयरूपी अन्नसे मनमाने ढंगसे भरता रहता है। जो तारुण्यावस्थाके आवेश और सम्पत्तिकी संगतिसे सेव्य-असेव्यका जरा सा भी विचार नहीं करता और सबका बिना सोचे-विचारे सेवन करता चलता है, जिसका मन न करनेयोग्य कार्यको ही करता है, जो असम्भव बातोंकी आशा करता है और जिनका

कभी विचार भी नहीं करना चाहिये, ऐसी बातोंका सतत विचार करता है, जिस जगहपर शरीर तथा मनको प्रवेश नहीं करना चाहिये, उसी जगहपर उन्हें प्रविष्ट करता है, जो लेनेयोग्य चीज नहीं है उसे ही वह माँगता है, जिनका स्पर्श भूलकर भी नहीं करना चाहिये, उन्हींका निरन्तर स्पर्श करता रहता है, जो उसी जगहपर जाता है, जहाँ उसे नहीं जाना चाहिये, जिस चीजको नहीं देखना चाहिये, उसीको देखता है, जो चीज नहीं खाना चाहिये, उसीको खाकर आनन्दित होता है, जिसका संग नहीं करना चाहिये उसीका संग करता है, जिसके साथ संलग्न नहीं होना चाहिये, उसीके साथ संलग्न होता है, जिस मार्गपर पैर नहीं रखना चाहिये, उसी मार्गपर चलता है, जो अश्रवणीय बातें सुनता है और अकथनीय बातें कहता है तथा जिसे यह रत्तीभर भी ज्ञान नहीं है कि इस प्रकारके आचरणमें कितना दोष होता है, हे पाण्डव! जो किसी बातके सिर्फ मनको भानेके कारण ही इस बातका जरा सा भी विचार नहीं करता कि अमुक काम करणीय है अथवा अकरणीय, जो ऐसे-वैसे काम अपना कर्तव्य मानकर करता है, पर जो इसका तनिक भी विचार नहीं करता कि अमुक कार्य करनेसे मुझे पाप होगा और आगे चलकर नरककी यातना भोगनी पड़ेगी, उस व्यक्तिके संसर्गसे इस जगत्में अज्ञान इतना बलवान् हो जाता है कि वह ज्ञानीलोगोंके साथ भी दो-चार हाथ लड़ सकता है; पर अब इस विषयको रहने दो। अब मैं अज्ञानको ठीक-ठीक पहचाननेका कुछ और लक्षण बतलाता हूँ; सुनो। घर-परिवारमें जिसकी प्रीति उसी प्रकार लगी हो, जिस प्रकार जैसे नये निकले हुए सुगन्धित परागमें भृंगीकी रहती है, जिसकी लालसा ठीक वैसे ही स्त्रीकी इच्छानुसार काम करनेकी होती है, जैसे खाँड़पर बैठी हुई मक्खीकी सदा खाँड़पर ही बैठे रहनेकी होती है और उसपरसे उड़नेका नामतक नहीं लेती, जिसका जीव मन और प्राण स्त्री-परिवारके झंझटोंसे वैसे ही बाहर नहीं निकल सकते, जैसे जलके गड्ढेसे मेढक नहीं निकलना चाहता अथवा मसक जैसे घ्राणेन्द्रियसे निकले हुए

कफको नहीं त्यागना चाहता अथवा पशु जैसे कीचड़में फँसता है, जो घर-द्वारको वैसे ही जकड़े रहता है, जैसे सर्प किसी बंजर अथवा खाली जमीनपर जमकर पड़ा रहता है और वहाँसे टस-से-मस नहीं होता, जो अपनी घर-गृहस्थीको ठीक वैसे ही खूब जोरोंसे पकड़कर बैठा रहता है, जैसे कोई पत्नी अपने प्राणेश्वरको अपनी पूरी शक्तिसे प्रगाढ़ालिंगन करके बैठी रहती है, जो अपने घर-परिवारकी सुरक्षाके लिये निरन्तर वैसे ही अथक परिश्रम करता रहता है, जैसे मधुका लोलुप भृंग मधु प्राप्त करनेके लिये सतत परिश्रम करता रहता है, जिसका घर-गृहस्थीपर उतना ही अधिक अनुराग होता है, जितना उन माता पिताका अपने उस एकलौते पुत्रपर होता है, जो उन्हें दैवयोगसे वृद्धावस्थामें प्राप्त होता है तथा जो अपनी स्त्रीके अलावा अन्य किसीको कुछ नहीं समझता, जो एकमात्र स्त्रीके ही शरीरका भजन-पूजन और उपासना करता है तथा जिसे रत्तीभर भी ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिये, जो अपनी सारी इन्द्रियोंसे वैसे ही स्त्रीमें एकाग्रभावसे अपना अनुराग रखता है, जैसे परम ज्ञानी व्यक्तिका चित्त एकमात्र परब्रह्ममें ही रमण करता है और उस ब्रह्मके समक्ष उसके अन्य सारे व्यवहारोंका लोप हो जाता है, जो स्त्री-सम्बन्धी अनुरागके सामने लज्जा अथवा हानिको कोई चीज ही नहीं समझता और न लोकापवाद ही सुनता है, जो निरन्तर स्त्रीकी इच्छाकी आराधना करता है और उसके चक्करमें पड़कर ठीक वैसे ही नृत्य करता है, जैसे मदारीका बन्दर नृत्य करता है, जो दान इत्यादि पुण्यकर्ममें वैसे ही कंजूसी करता है जैसे कोई बहुत बड़ा लोभी स्वयं कष्ट सहकर अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी दुःखी करके कौड़ी-कौड़ी जुटाता है, जो अपने सगे-सम्बन्धियोंको तो धोखा देता है और उनके आवभगतमें त्रुटि करता है, पर अपनी स्त्रीकी सारी अभिलाषाएँ पूरी करनेमें रत्तीभर भी कमी नहीं होने देता, जो थोड़े-से ही व्ययमें आराध्य देवताओंको सन्तुष्ट करना चाहता है, गुरुजनोंको यों ही चकमा देता है तथा अपने

माता-पिताके सामने भी व्यय करनेमें अपनी असमर्थता ही प्रकट करता है, पर अपनी स्त्रीके उपभोगके लिये वह मँहगी-से-मँहगी वस्तु भी लेनेमें नहीं हिचकता, जो अपनी स्त्रीकी ठीक वैसे ही उपासना करता है जैसे कोई प्रेमी भक्त अपने कुल-देवताकी उपासना करता है, जो अच्छी चीजें तो अपनी स्त्रीके लिये सँजोकर रखता है और दूसरोंको सामान्य निर्वाहके योग्य भी कोई वस्तु नहीं देता, जो यह समझता है कि यदि कोई मेरी स्त्रीकी ओर आँख उठाकर देखेगा अथवा उसका विरोध करेगा तो मानो प्रलयके समान अनर्थ हो जायगा, जो अपनी स्त्रीकी छोटी-सी बात भी वैसे ही आग्रहपूर्वक पूरी करता है, जैसे दाद अथवा चकत्ते होनेके भयसे लोग देवीको चाँदीके नाग चढ़ानेकी मन्नत आग्रहपूर्वक पूरी करते हैं, किंबहुना हे धनंजय! जो अपनी स्त्रीको ही सर्वस्व समझता है और जिसका प्रेम एकमात्र उन्हीं बच्चोंके हिस्सेमें पड़ता है जो उस स्त्रीसे उत्पन्न होते हैं और जिसे अपनी स्त्रीकी सारी सम्पत्ति अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होती है, वह व्यक्ति अज्ञानका मूल होता है, उसके कारण अज्ञान और सबल होता है और वह साक्षात् अज्ञान ही होता है। जैसे अशान्त समुद्रमें उन्मुक्त नाव तरंगोंके साथ ऊपर नीचे होती रहती है, वैसे ही प्रिय वस्तुके मिलनेपर जिसकी ऐसी दशा हो जाती है कि वह पूरे आकाशमें भी नहीं समा सकता, पर कोई अप्रिय घटना घटनेपर जो संतप्त होकर मानो रसातलमें पहुँच जाता है और इस प्रकार जिसका अन्त:करण भेदभावसे ग्रसित रहता है, फिर वह चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, उसे अज्ञानका पुतला ही समझना चाहिये। जो अपने चित्तमें किसी प्रकारके फलकी आशा रखकर मेरी भक्ति वैसे ही करता है, जैसे कोई द्रव्य बटोरनेके उद्देश्यसे वैरागीका वेष धारण करता है अथवा जैसे कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने प्रेमीके पास जानेकी सुविधा पानेके लिये अपने पतिका सन्तोष करके और उसका मन भरकर उसे झूठा विश्वास दिलानेके लिये ऊपरसे अपना शुद्ध व्यवहार और आचरण दिखलाती है, इसी प्रकार हे अर्जुन! जो ऊपरसे दिखलावेके

लिये तो मेरी भक्ति करता है, पर वास्तवमें जिसकी समग्र दृष्टि विषय-सुखोंको सम्पादित करनेकी ओर रहती है और जब ऐसी भक्ति करनेपर अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता तब जो यह कहकर तत्क्षण ही मेरी भक्तिका परित्याग कर देता है कि यह समस्त भक्ति व्यर्थ है, जो वैसे ही नित्य नये-नये देवी-देवताओंकी आराधना करता है जैसे कोई किसान नित्य नयी-नयी जमीन लेकर जोतता है और अपने हर एक नये देवताकी अपने पुराने देवताकी ही भाँति सेवा करता है, जो किसी नयी गुरु-सम्प्रदायकी तड़क-भड़क देखकर उसीके चक्करमें पड़ जाता है तथा उसीका मन्त्र भी स्वीकार कर लेता है और दूसरोंको क्षुद्र समझकर उनका ग्रहण नहीं करता, जो जीवमात्रके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है, परन्तु वृक्ष तथा पत्थर इत्यादि वस्तुओंको देवता समझकर उनकी पूजा-अर्चना करता है और इस प्रकार जिसकी अनन्य श्रद्धा किसीपर नहीं होती, जो मेरी मूर्ति तो प्रस्तुत करता है, पर उस मूर्तिको अपने गृहमें स्थापित करके स्वयं अन्य देवोंके दर्शनार्थ निकल जाता है, जो निरन्तर मेरा पूजन करता है, परन्तु मंगल कार्योंमें उन देवताओंका अर्चन करता है और कुछ विशेष अवसर (पर्वकाल) पर अन्य देवी-देवताओंकी आराधना करता है, जो गृहमें तो मेरी मूर्ति स्थापित करता है, पर व्रत दूसरे देवताओंका करता है और फिर पितृपक्षमें अपने पितरोंका भक्त हो जाता है, जो एकादशीके दिन मेरा जितना मान करता है, उतना ही श्रावण शुक्ल पंचमीके दिन नागोंका भी सम्मान करता है, जो भाद्रमासके शुक्ल पक्षकी चतुर्थीको भगवान् गणेशका भक्त हो जाता है और चतुर्दशी आनेपर दुर्गाकी उपासना करने लगता है, जो नवरात्रमें नवदुर्गाका अनुष्ठान करता है और रविवारको कालभैरवके नामपर थाली परोसने लगता है और फिर सोमवार आनेपर बिल्वपत्र लेकर शिवलिङ्गकी ओर दौड़ पड़ता है, कहनेका भाव यह है कि इस प्रकार जो व्यक्ति नाना प्रकारके और सभी देवताओंकी उपासना करता है तथा इस प्रकारकी धाँधलीसे जो अनवरत भजन-पूजन करता

है और पलभर भी शान्त नहीं रहता तथा निरन्तर समस्त देवताओंकी ओर पागल बना फिरता है, उसके बारेमें तुम निश्चितरूपसे यही जान लो कि वह व्यक्ति मूर्तिमान् अज्ञान ही है। उस व्यक्तिको तुम साकार अज्ञान ही समझो, जिसके मनमें एकान्त, तपोवन, तीर्थ और नदी इत्यादिको देखकर घृणा अथवा अरुचि ही उत्पन्न होती है। जिसे भीड़-भाड़में ही रहना रुचिकर लगता है, जो कलह-कोलाहलमें ही आनन्दित होता है, जो सांसारिक विषयोंके बारेमें अनुरागपूर्वक बातें करता है, वह भी प्रत्यक्ष अज्ञान ही है। आत्मदर्शन करानेवाली विद्याकी चर्चा होनेपर जिस विद्वान्में उसका उपहास करनेकी बुद्धि होती है, कभी भूलकर भी जो उपनिषदोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता, योगशास्त्र जिसे अरुचिकर लगता तथा जिसके मनकी प्रवृत्ति अध्यात्मज्ञानकी ओर भूलकर भी नहीं जाती, जिसका मन आत्मविषयक चर्चामें नहीं लगता और जो यह समझता है कि यह विषय विचार करनेके योग्य ही नहीं है तथा जिसका मन रस्सा तुड़ाकर भागनेवाले पशुकी भाँति उन्मुक्त विचरण करता रहता है, जो कर्मकाण्ड और ज्योतिषमें भी निपुण होता है और जिसे सारे पुराण कण्ठस्थ होते हैं, जो शिल्पविद्यामें पारंगत होता है, पाकशास्त्रमें प्रवीण होता है और अथर्ववेदके अघोरी मन्त्र-तन्त्रोंमें निष्णात होता है, जिसके लिये कामशास्त्रकी और कोई बात सीखनेके लिये बाकी नहीं होती, जो महाभारतके ज्ञानसे भरा होता है और मूर्तिमान् धर्मशास्त्र जिसकी मुट्ठीमें रहते हैं, जो नीतिशास्त्रमें पारंगत होता है, वैद्यकका ज्ञान जिसमें कूट-कूटकर भरा होता है, काव्यों और नाटकोंके ज्ञानमें जिसकी बराबरीमें दूसरा कोई नहीं आता, जो स्मृतियोंकी चर्चा करता है, गारुडी विद्याका मर्म जानता है और शब्दकोशको जिसने अपनी प्रज्ञाका मानो सेवक ही बना रखा है, जो व्याकरण-शास्त्रमें निष्णात है, कहनेका आशय यह है कि जो समस्त विषयोंका ज्ञाता है, पर फिर भी जो अध्यात्मविद्यामें जन्मसे ही अन्धा है, जो अध्यात्म-शास्त्रके अलावा अन्य समस्त शास्त्रोंका निरूपण कर सकता है, उसके ऐसे ज्ञानमें आग

लग जाय। ऐसे ज्ञानके किसीको उसी लड़केके सदृश दर्शनतक नहीं होने चाहिये जो मातृ-पितृ घातक मूल नक्षत्रमें जन्म लेता है। मयूरके पूरे शरीरमें नेत्रयुक्त पंख होते हैं, पर जैसे उन सभी नेत्रोंमें दृष्टिका अभाव होता है, वैसे ही इस ज्ञानमें भी यथार्थ दृष्टिका बिलकुल अभाव होता है। यदि परमाणुके बराबर भी संजीवनीकी जड़ मिल जाय तो फिर दूसरी ओषधियोंकी गाड़ियाँ लादनेकी क्या जरूरत है? यदि सौन्दर्यके समस्त लक्षण विद्यमान हों, पर आयुष्यहीन हो अथवा यदि भाँति-भाँतिके आभूषण इत्यादि तो हों, पर सिरहीन हों अथवा बधाइयाँ देनेवाले तो हों परन्तु वर और बधू ही न हों तो भला उन सबका क्या उपयोग हो सकता है? इसी प्रकारके हे पार्थ! एक अध्यात्मशास्त्रके बिना अन्य समस्त शास्त्र अपनी अपूर्णताके कारण केवल निष्फल और भ्रामक होते हैं। अतएव हे अर्जुन! जिस पढ़े-लिखे मूढ़ व्यक्तिको अध्यात्मज्ञानका बोध न हो, उसके शरीरको अज्ञानका घर ही जानना चाहिये। उसके सारे ज्ञान केवल अज्ञानवल्लीके ही फल होते हैं। उसके वचनको अज्ञानका फूल और उसके पुण्य-फलको भी अज्ञान ही समझना चाहिये। जो अध्यात्मशास्त्रके प्रति श्रद्धा-भाव नहीं रखता उसके बारेमें यह कहनेकी भी जरूरत नहीं है कि उसे ज्ञान वस्तु कभी दिखायी ही नहीं देती। जो नदीके इस पारवाले तटपर भी न आता हो और पीछेकी ओर लौटकर भाग जाता हो, भला उसे उस पारकी टापूका कैसे ज्ञान हो सकता है? अथवा जिसके सिरको दरवाजेकी ड्योढ़ीपर ही दबोच दिया गया हो, भला उसे घरकी बातें कैसे ज्ञात हो सकती हैं? इसी प्रकार हे धनंजय! जिसकी पहचान अध्यात्म-ज्ञानसे जरा-सा भी न हो, उसके लिये सत्य ज्ञान पानेकी गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है, अतएव हे पार्थ! अब तुम्हें यह बात और भी स्पष्टरूपसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकारके व्यक्तिको वास्तविक ज्ञानका कुछ भी तत्त्व ज्ञात नहीं होता। जैसे गर्भिणी स्त्रीको अन्न देनेका फल यही होता है कि उसका गर्भस्थ शिशु वृद्धिको प्राप्त

होता है, वैसे ही उपर्युक्त ज्ञान पदोंमें ही अज्ञान पदका भी विवेचन अथवा अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे यदि किसी नेत्रहीनको निमन्त्रित किया जाय तो वह अपने संग किसी नेत्रवान् व्यक्तिको लेकर आता है, वैसे ही जिस समय अज्ञानके लक्षण बतलाये जाते हैं, उस समय उनके साथ ही ज्ञानके लक्षण भी स्वतः स्पष्ट होने लगते हैं। यही कारण है कि प्राकृत विषयमें अमानित्व इत्यादि ज्ञान लक्षणोंके ठीक विपरीत ही अज्ञानके लक्षणोंका भी विवेचन किया गया है। उपर्युक्त अठारह लक्षण जो ज्ञानके सम्बन्धमें बतलाये गये हैं, यदि सब-के-सब उलट दिये जायँ तो वे अपने-आप अज्ञानके लक्षण हो जाते हैं।'' श्रीमुकुन्दने इसी अध्यायके ग्यारहवें श्लोकके चतुर्थ चरणमें यह बतलाया था कि यदि ज्ञानके लक्षणोंको उलट दिया जाय तो वे अपने-आप अज्ञानके लक्षण हो जाते हैं। यही कारण है कि मैंने इस नियमका अनुकरण करके इस विषयका विवेचन किया है। मूलमें इस नियमका अनुकरण नहीं किया गया था; पर फिर भी जल मिलाकर दूध बढ़ानेवाले सिद्धान्तके अनुसार अपनी तरफसे व्यर्थकी बातें बढ़ाकर मैं विषयका विस्तार न करता। मैंने तो मूल श्लोकोंके शब्दोंकी मर्यादाका उल्लंघन न कर मूलमें ध्वनित किये हुए अर्थका ही विवेचन करनेका प्रयत्न किया है। तब श्रोताओंने कहा—''अब बहुत हो चुका, हे कवि पोषक! तुम्हें व्यर्थ ही यह भय क्यों सता रहा है कि तुम्हारे इस विवरण-विस्तारके कारण लोग उकता गये हैं? भगवान् श्रीकृष्णकी तो तुम्हें यह आज्ञा प्राप्त है कि गीतामें मैंने जो अर्थ गर्भित कर रखे हैं, उन्हें तुम स्पष्ट करके लोगोंको बतला दो। तुम तो श्रीकृष्णका वही मनोरथ आज पूर्ण कर रहे हो। पर यदि यही बात तुमसे कही जाय तो तुम्हारा चित्त प्रेमसे सराबोर हो जायगा। इसीलिये हम लोग इन बातोंकी चर्चा तुमसे नहीं कर रहे हैं। फिर भी इतनी चर्चा कर देना आवश्यक है कि इस श्रवण-सुखके द्वारा आज हम लोगोंको ज्ञानरूपी नौका प्राप्त हुई है। अब शीघ्रातिशीघ्र तुम हमें यह बतलाओ कि इसके बाद श्रीहरिने

क्या कहा।'' सन्तोंकी ये बातें सुनते ही श्रीनिवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवने कहा—''हे श्रोतावृन्द! सुनिये।'' भगवान् श्रीकृष्णने कहा—''हे पाण्डव! तुम्हें अन्तमें जितने लक्षण मैंने बतलाये हैं वे समस्त लक्षण अज्ञानके ही हैं। तुम इसी अज्ञानकी ओरसे मुँह मोड़कर ज्ञानके विषयमें दृढ़ निश्चय करो।'' जब इस प्रकार ज्ञानका स्पष्टीकरण हो गया, तब अर्जुनको यह जाननेकी अभिलाषा हुई कि मनको उस ज्ञेयकी प्राप्ति कैसे होती है। उस समय सर्वज्ञाधिपति भगवान् श्रीकृष्णने उसका अभिप्राय समझकर उससे कहा—''अब मैं तुम्हें ज्ञेयके सम्बन्धमें बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (६१५—८६३)

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

परब्रह्मको लोग जो ज्ञेय कहते हैं, उसका एकमात्र कारण यही है कि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसका ज्ञान हो जानेपर फिर अन्य कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता, जिसका ज्ञान हो जानेपर उसीके साथ तद्रूपता उत्पन्न हो जाती है और संसारको तीरपर रखकर ज्ञानिजन नित्यानन्दके सागरमें डुबकी लगाकर उसीमें समा जाते हैं, उस ज्ञेयका कोई आदि नहीं है। परन्तु उसका कोई नाम भी होना चाहिये इसलिये लोग उसे परब्रह्म नामसे पुकारते हैं। यदि कोई कहे कि वह है ही नहीं तो हम कहते हैं कि वह विश्वके रूपमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और यदि उसे विश्व कहें तो यह विश्व सिर्फ मायाकृत तथा नाशवान् है, जिसमें आकार, रंग इत्यादि भेद, दृश्यत्व तथा द्रष्टत्व इत्यादि भाव ही न हों, उसके विषयमें भला कोई यह कैसे कह सकता है कि उसका अस्तित्व है? और यदि वह वास्तवमें न हो, तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसके बिना महत्तत्त्वका स्फुरण कहाँसे और किससे होता है? इसीलिये कहते हैं कि जिसका ज्ञान हो जानेपर

'है' अथवा 'नहीं' है, कोई विवाद ही नहीं रह जाता और विचार-शक्ति उसके सन्निकट पहुँच ही नहीं सकती, जो समस्त पदार्थों तथा आकारोंमें ठीक वैसे ही रहता है, जैसे मटका, गगरी और सकोरा (कुल्हड़) इत्यादिमें पृथ्वीतत्त्व (मिट्टी) स्वयं उन्हीं पदार्थोंके आकारमें रहता है। (८६४—९७२)

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

समस्त देशों और समस्त कालोंमें जो क्रिया स्थूल और सूक्ष्म सभी भूतोंके द्वारा सम्पन्न होती है, वह क्रिया जिस ब्रह्म-वस्तुके हाथमें है, उसीको विश्वबाहु कहते हैं। इसका कारण यही है कि वह ब्रह्म-वस्तु ही सर्वाकार होकर अनवरत समस्त क्रियाएँ करती रहती है। हे धनंजय! वह वस्तु सर्वत्र और सदा एक साथ ही उपलब्ध होती है और इसीलिये उसे विश्वांघ्रिके नामसे भी पुकार सकते हैं। जैसे सूर्य-बिम्बमें नेत्रके रूपमें कोई पृथक् अंग नहीं होता अपितु समस्त बिम्ब ही प्रकाशकस्वरूप होता है, वैसे ही जो वस्तु अपने पूरे स्वरूपसे विश्वकी द्रष्टा होती है उसी अचक्षु ब्रह्म-वस्तुको वेदोंने सम्मानपूर्वक विश्वतश्चक्षुके नामसे पुकारा है। विश्वके मस्तकपर जो नित्य-निरन्तर आत्मसत्तासे विद्यमान रहता है, उसीको विश्व-मूर्धा कहते हैं। जैसे अग्निकी समस्त मूर्ति ही उसका मुख होती है, वैसे ही जो अखिल विश्वका भोक्ता है, उसीको हे पार्थ! विश्वतोमुख कहते हैं। जैसे वस्तुओंसे आकाश भरा रहता है, वैसे ही जो वस्तु शब्दमात्रमें व्याप्त रहती है, उसीको हम सब कुछ सुननेवाला कहते हैं। इसी प्रकार जो चीज सारे विश्वमें व्याप्त रहती है और सबको देखती रहती है, उसीको विश्वतश्चक्षुके नामसे सम्बोधित करते हैं। हे महामति! वेदोंने विश्वतश्चक्षु कहकर उसका जो वर्णन किया है, वह सिर्फ ब्रह्म-वस्तुकी व्यापकता दिखलानेके उद्देश्यसे रूपके तौरपर किया है, वास्तवमें उस ब्रह्म-वस्तुमें हाथ-पैर, नेत्र इत्यादि कुछ भी नहीं है, इसलिये इनसे सम्बन्धित बातें

उसके लिये प्रयुक्त ही नहीं हो सकतीं। इतना ही नहीं, यदि शून्यत्व अथवा अभावके रूपमें उसका वर्णन किया जाय तो वह वर्णन भी उसके लिये उचित नहीं ठहरता। उदाहरणार्थ यदि हम यह समझ लें कि पानीकी एक लहरने दूसरी लहरका ग्रास बना लिया, तो भी क्या उस ग्रास बनानेवाली और दूसरी ग्रसन की जानेवाली लहरमें स्वरूपत: कोई भेद होता है? इसी प्रकार जब कि वह एक ब्रह्म-वस्तु ही सत्य है, तो फिर उसमें व्याप्त करनेवाले और व्याप्त होनेवालेका भेद भला कहाँसे आ सकता है? पर फिर भी कहने अथवा समझानेमें सुविधा हो, इसी बातको ध्यानमें रखकर इस प्रकारका भेद करना पड़ता है। देखो, यदि किसीको शून्य दिखलाना होता है तो उसके लिये एक बिन्दी बनानी अथवा लिखनी पड़ती है। इसी प्रकार अद्वैतका निरूपण करनेके लिये द्वैतकी भाषाका प्रयोग करना अत्यावश्यक हो जाता है। हे पार्थ! यदि ऐसा न किया जाय तो गुरु और शिष्यके सम्प्रदायका ही लोप हो जायगा और समस्त वर्णनोंका अथवा कथनोंका ही अवसान हो जायगा। यही कारण है कि श्रुतियोंने अद्वैतका निरूपण करनेके लिये द्वैतकी भाषाका प्रयोग करनेकी परिपाटी चलायी है। अतएव अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य होनेवाले जितने आकार हैं, उन सबमें वह ब्रह्म-वस्तु किस प्रकार व्याप्त है, ध्यानपूर्वक सुनो। (८७३—८९०)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

हे किरीटी! यह ब्रह्म-वस्तु भी सारे विश्वको ठीक उसी प्रकार व्याप्त किये रहती है, जिस प्रकार अवकाशको आकाश व्याप्त कर लेता है अथवा पटके रूपमें भासमान होकर तन्तु उस पटको व्याप्त किये रहता है। जलके रूपमें रस-तत्त्व जैसे जलमें रहता है, दीपकके रूपमें प्रकाश-तत्त्व जैसे दीपकमें रहता है, कपूरके रूपमें गन्ध-तत्त्व जैसे कपूरमें रहता है, शरीरके रूपमें कर्म-तत्त्व जैसे शरीरमें रहता है, किंबहुना हे पाण्डव! स्वर्ण-कणमें

जैसे स्वर्ण ही रहता है, वैसे ही वह ब्रह्म-वस्तु भी सर्वस्वरूप होकर सबमें बाह्याभ्यन्तर व्याप्त रहती है। पर स्वर्ण जबतक कणके रूपमें रहता है, तबतक हम उसे स्वर्णका कण ही सम्बोधित करते हैं; पर जब उसका वह कणवाला रूप समाप्त हो जाता है तब वह कण ही स्वर्ण हो जाता है अथवा प्रवाहका रूप भले ही टेढ़ा-मेढ़ा हो, पर जल फिर भी सदा सरल ही रहता है अथवा जब अग्निसे तप्त लौह रक्त वर्णका हो जाता है, तब भी अग्नि कभी लौह नहीं बन पाती। घरके गोल आकारके कारण उसमें स्थित आकाश यानी घटाकाश भी गोल ही दिखायी देता है और मठ तथा झोपड़ीकी ही चौकोर बनावटके कारण उसमेंका आकाश चौकोर दिखायी देता है, परन्तु उक्त दोनों आकार वास्तवमें आकाशका नहीं होता। इसी प्रकार यदि ब्रह्म-वस्तुमें किसी तरहका विकार दिखायी दे तो भी वास्तवमें वह कभी विकारयुक्त नहीं होता। हे धनंजय! देखनेमें ऐसा मालूम पड़ता है कि वह ब्रह्म-वस्तु मन इत्यादि इन्द्रियों और सत्त्व इत्यादि त्रिगुणोंके कारण अलग-अलग आकारोंके रूपमें दृष्टिगोचर होती है, पर जैसे गुड़की मिठास उसके भेलीवाले आकारमें नहीं होती वैसे ही गुड़ तथा इन्द्रियाँ वास्तवमें ब्रह्म-तत्त्व नहीं हैं। जिस समयतक दूधका अपना असली स्वरूप बना रहता है, उस समयतक घृत भी उसी दूधके ही स्वरूपमें रहता है, पर घृत भी वही है, जो दूध है, ऐसा कोई नहीं कह सकता। इसी प्रकार हे धनंजय! यह तुम अच्छी तरह समझ लो कि गुण और इन्द्रियोंके कारण ब्रह्म-वस्तुमें जो विकार दृष्टिगत होते हैं, उनके कारण वास्तवमें ब्रह्म-वस्तुमें कभी कोई विकार नहीं होता। स्वर्णको नाना प्रकारके आकार देकर हम उन आकारोंको फूल पत्ते इत्यादि अथवा पृथक्-पृथक् आभूषण इत्यादि कहते हैं; पर जो वास्तविक स्वर्ण होता है, वह चाहे जिस आकारमें रहे, सदा स्वर्ण ही रहता है। आशय यह कि यदि हम सीधी सादी भाषामें कहें तो ब्रह्म-वस्तु वास्तवमें गुणों और इन्द्रियोंसे एकदम भिन्न और स्वतन्त्र ही है। नाम तथा रूप इत्यादि सम्बन्ध और जाति तथा क्रिया इत्यादिके भेद एकमात्र आकारोंमें ही होते हैं और

उन आकारोंके बारेमें जो बातें कही जाती हैं, वे ब्रह्म-वस्तुपर ठीक नहीं घटतीं। वह ब्रह्म-गुण नहीं है। उसमें तो गुणका गन्ध लेशमात्र भी नहीं होता। वास्तविकता यह है कि वे गुण ब्रह्ममें सिर्फ भासमान होते हैं; परन्तु हे अर्जुन! इसी भासमान होनेके कारण मोहग्रस्त लोग यह मानते हैं कि वे समस्त विकार ब्रह्ममें ही होते हैं। पर ब्रह्ममें ये समस्त विकार ठीक वैसे ही होते हैं, जैसे आकाशमें बादल आते हैं अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब आता है अथवा जल जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब धारण करता है अथवा रश्मियाँ मृगजलका रूप धारण करती हैं। वह निर्गुण ब्रह्म भी समस्त विकारोंको बिना उसके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध रखे धारण करता है, परन्तु ब्रह्ममें होनेवाले वे सारे विकार निष्फल ही होते हैं और वे सिर्फ दृष्टिको दिखायी देते हैं, पर यथार्थतः वे असत्य होते हैं। निर्गुण गुणोंका भोग ठीक वैसे ही करता है, जैसे कोई दरिद्र व्यक्ति स्वप्नमें किसी राज्यपर शासन करता है। इसीलिये निर्गुणके बारेमें कभी यह नहीं कहना चाहिये कि गुणोंके साथ उसका किसी प्रकारका सम्बन्ध है अथवा वह गुणोंका उपभोग करता है। (८९१—९११)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

हे पाण्डुसुत! जो चराचर इत्यादि समस्त पदार्थों और जीवोंमें उसी प्रकार शाश्वतरूपसे और सूक्ष्म अवस्थामें व्याप्त रहता है, जिस प्रकार अग्नियाँ चाहे पृथक्-पृथक् हों, पर उन सबमें उष्णता समानरूपसे विद्यमान रहती है, उसको इस प्रकरणमें ज्ञेय समझना चाहिये। जो सिर्फ एक होनेपर भी बाह्याभ्यन्तर निकट और दूर, सर्वत्र रहता है और जिसके स्वरूपमें कभी कोई अन्तर नहीं होता, उसे ही ज्ञेय जानना चाहिये। ऐसा नहीं है कि क्षीर-सिन्धुका माधुर्य उसके मध्य भागमें और गहरे प्रान्तमें तो अधिक होता हो और तटपर कम होता हो। इसी प्रकार जो सब जगह समभावसे व्याप्त रहता है, जो स्वेदज प्रभृति जीवोंमें सदा पूर्णरूपमें व्याप्त

रहता है और फिर भी इस व्यापकताके कारण जिसकी स्थितिमें कोई खण्ड नहीं होता, इसके अलावा हे श्रोतृशिरोमणि! सहस्र घटोंके जलोंमें चन्द्रमाके प्रकाशके प्रतिबिम्बित होनेपर भी जिस प्रकार उस प्रकाशमें कभी कोई भेदभाव नहीं उत्पन्न होता अथवा लवणकी सभी राशियोंके प्रत्येक कणमें व्याप्त रहनेवाली क्षारता एक ही प्रकारकी रहती है अथवा ईखके गट्ठेमें प्रत्येक ईखमें एक ही प्रकारकी मधुरता रहती है। (९१२—९१८)

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

इसी प्रकार जो सभी जीवोंमें एकरूपसे विद्यमान रहता है, हे सुविज्ञ! जो इस विश्वरूपी कार्यका मूल कारण है और ये नामरूपात्मक जीवमात्र जिससे उसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं, जिस प्रकार समुद्रसे लहरें उत्पन्न होती हैं, उन सबका वह ब्रह्म उसी प्रकार आधार है, जिस प्रकार उन लहरोंका आधार समुद्र होता है। जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थामें शरीर एक ही रहता है, वैसे ही जीवमात्रके उत्पत्ति, स्थिति और संहार—इन तीनों ही अवस्थाओंमें वह अभिन्नरूपसे रहता है। जैसे प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल इत्यादि दिनमानके क्रमशः चलते रहनेपर भी आकाशमें कोई परिवर्तन नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। हे प्रियोत्तम! सृष्टिकी उत्पत्तिके समय जिसका नाम ब्रह्म पड़ा था, सृष्टिकी स्थितिके समय जिसे विष्णु कहते हैं और इसका लोप होनेके समय जिसे रुद्र नामसे सम्बोधित करते हैं और इन तीनों गुणोंके लुप्त हो जानेपर जो शून्यके रूपमें अवशिष्ट रह जाता है तथा जो गगनका शून्यत्व विनष्ट करके तीनों गुणों (सत्व, रज, तम)-का लोप करके शून्यरूपमें शेष रह जाता है, वही श्रुतिओंद्वारा प्रतिपादित महाशून्य है। (९१९—९२५)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

जो अग्निका तेज और चन्द्रमाका जीवन है, जिसके द्वारा सूर्यमें देखनेकी शक्ति आती है, जिसके प्रकाशसे तारागण चमकते हैं और जिससे महातेज सारे जगत्‌में प्रकाशित होता है, जो आदिका भी आदि, वृद्धिकी भी वृद्धि, बुद्धिकी भी बुद्धि, जीवका भी जीव, मनका भी मन, आँखका भी आँख, श्रवणेन्द्रियोंका भी श्रवणेन्द्रिय, वाणीकी भी वाणी, प्राणोंका भी प्राण, गतिके भी चरण, क्रियाकी भी क्रिया, शक्ति-आकारोंका भी आकार, विस्तारोंका भी विस्तार, संहारोंका भी संहार, पृथ्वीकी भी पृथ्वी, पानीका भी पानी, तेजका भी तेज, वायुका भी श्वासोच्छ्‌वास और गगनका भी गगन है, अर्थात् जो इन सबका चैतन्य बीज है और जिसके कारण इन सबका स्फुरण होता है, किंबहुना हे पाण्डव! जो एकमात्र होकर भी सबमें सर्वस्वरूप है और जिसमें द्वैतका प्रवेश रत्तीभर भी नहीं है, जिसे देखते ही दृश्य और द्रष्टा परस्पर मिलकर एकरस हो जाते हैं, वही ज्ञान होता है। फिर वही ज्ञान और ज्ञेय दोनों हो जाता है तथा ज्ञानके द्वारा लोग जिस स्थलको पाना चाहते हैं, वह स्थल भी वही हो जाता है। जब कोई हिसाब अच्छी तरहसे हल हो जाता है, तब उन भिन्न-भिन्न अंकोंमें कोई भिन्नता अथवा भेद नहीं रह जाता जिन अंकोंके द्वारा वह हिसाब हल किया जाता है, ठीक इसी प्रकार जब ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, तब साध्य और साधन इत्यादि मिलकर एक हो जाते हैं। हे अर्जुन! जिसके सम्बन्धमें द्वैतका कोई उल्लेख ही नहीं किया जा सकता और जो सबके हृदयमें डेरा डाले रहता है, उसीको ब्रह्म कहते है। (९२६—९३८)

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

हे सुहृद्! इस प्रकार मैंने तुमको क्षेत्रके बारेमें तो पहले ही बतला दिया है और इस प्रकरणमें ज्ञानके लक्षण भी स्पष्टरूपसे बतला दिया है। फिर अज्ञानके स्वरूपका तो मैंने इतना विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि जिसे सुनते-सुनते तुम चकित हो गये और अब मैंने तुम्हें ज्ञेयका स्वरूप

भी स्पष्ट करके बतला दिया है। हे अर्जुन! जब ये सब बातें मेरे भक्तोंके समझमें अच्छी तरह आ जाती हैं, तब उनके मनमें मुझे पानेकी उत्कण्ठा जाग्रत् हो उठती है। जो लोग देह इत्यादि समस्त विषयोंका परित्याग करके अपने प्राण मेरी सेवामें समर्पित कर देते हैं, हे किरीटी! वे मेरा ब्रह्म-स्वरूप पहचानकर अन्ततः अपना व्यक्तित्व भी भुला बैठते हैं और मुझमें समाकर मद्रूप हो जाते हैं। तुम यह अच्छी तरहसे समझ रखो कि मैंने तुम्हें मद्रूप होनेका बहुत ही सरल उपाय बतला दिया है। जैसे शिखरपर आरोहण करनेके लिये सीढ़ियाँ बनानी पड़ती हैं अथवा ऊँचे होनेके लिये मंचका निर्माण करना पड़ता है अथवा बाढ़ आनेकी दशामें डूबनेसे बचनेके लिये नौका की जरूरत होती है, वैसे ही मद्रूप होनेके लिये भी ये सब काम करने आवश्यक होते हैं। नहीं तो, हे वीरशिरोमणि! यदि सिर्फ यह कह दिया जाय कि सब कुछ आत्मा ही है, तो ऐसे कथनसे तुम्हारे चित्तको कभी संतोष न होगा। इसीलिये मैंने तुम्हारी मति-मन्दताको दृष्टिमें रखकर एक ही परब्रह्मके चार विभाग करके उन सबका पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। जैसे बालकोंको भ्रमित करनेके उद्देश्यसे एक ही ग्रासके छोटे-छोटे अनेक ग्रास बनाने पड़ते हैं, वैसे ही मैंने एक ही ब्रह्मको चार भागोंमें बाँट करके उन सबका पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। तुम्हारी ग्रहण शक्तिका अनुमान करके मैंने ब्रह्मके क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय और अज्ञान—ये चार विभाग किये हैं और हे पार्थ! यदि इतना करनेपर भी यह व्यवस्था ठीक तरहसे तुम्हारी समझमें न आयी हो तो मैं फिर एक बात तुमको बतलाता हूँ। परन्तु अब मैं ब्रह्मके वे चार विभाग नहीं करता और न उसकी एकताका ही प्रतिपादन करता, अपितु आत्मा और अनात्माका एक साथ ही विचार करता हूँ। किन्तु जो कुछ मैं तुमसे माँगता हूँ, वह देनेके लिये तुम्हें तैयार रहना चाहिये। मेरी माँग सिर्फ यही है कि तुम मनोयोगपूर्वक मेरी बात सुनो।'' भगवान्‌की ये बातें सुनकर पार्थ रोमांचित हो उठा। उस समय देवने कहा कि तुम इस प्रकार प्रेमविह्वल मत होओ। इस प्रकार अर्जुनका हृदय भर

आया, तब भगवान्‌ने कहा—"अब मैं तुमको प्रकृति और पुरुषके बारेमें बतलाता हूँ। (९३९—९५६)

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥

तत्त्व-ज्ञानके जिस प्रणालीको योगिजन सांख्ययोगके नामसे पुकारते हैं और जिसका महत्त्व प्रसिद्ध करनेके लिये मैंने कपिलका अवतार ग्रहण किया था, प्रकृति-पुरुषका वही निर्दोष प्रसंग तुम ध्यानपूर्वक सुनो। तुम यह अच्छी तरह जान लो कि अहर्निशके युग्मकी भाँति पुरुष और प्रकृति—ये दोनों भी अनादि हैं। हे धनंजय! रूप मिथ्या नहीं है, पर सच्चे रूपके साथ-ही-साथ उसकी छाया भी रहती ही है अथवा अनाजके साथ-ही-साथ उसका छिलका भी बढ़ता ही रहता है। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृतिका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनका यह सम्बन्ध अनादि-सिद्ध है। इसी प्रकार वे सारी चीजें प्रकृति ही हैं, जिन्हें क्षेत्र शब्दसे प्रदर्शित किया गया है। अतएव अब तुम्हें पृथक् रूपसे यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि जो कुछ क्षेत्रज्ञ है, वह पुरुष ही है। यद्यपि इनके ये पृथक्-पृथक् नाम हैं; तो भी इनमें निरूपणका जो तत्त्व है, वह एक ही है। हे पाण्डुसुत! इसमें जो सत्ता यानी सत्यांश है, उसीको पुरुष तथा उसके आधारपर होनेवाली क्रियाको प्रकृति समझना चाहिये। बुद्धि, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण इत्यादि विकारोंको उत्पन्न करनेवाली शक्ति और सत्त्व इत्यादि जो त्रिगुण हैं, उन सबका समूह प्रकृतिसे ही हुआ है और वही सब प्रकारकी क्रियाओंका हेतु भी है। (९५७—९६७)

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

इस व्यवस्थामें प्रकृति सर्वप्रथम अहंकारके साथ-साथ इच्छा और बुद्धिको उत्पन्न करती है और फिर उन्हें कारणकी धुनमें लगा देती है। फिर इस प्रकार आरम्भ किये हुए कर्मको सिद्ध करनेके लिये जो भिन्न-

भिन्न उपायोंके सूत्र बुनने पड़ते हैं, हे धनंजय! उन्हींका नाम कार्य है। फिर वह प्रकृति इच्छोन्मादसे मनको संचालित करती है और तब वह चलायमान मन इन्द्रियोंको संचालित करता है। इसीको प्रकृतिका कर्तृत्व कहते हैं।'' इसलिये सिद्धेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि एकमात्र प्रकृति ही कार्य, कर्तृत्व और कारण—इन तीनोंका मूल है। इस प्रकार इन तीनोंके द्वारा प्रकृति कर्मका रूप धारण करती है, पर सत्त्व इत्यादि त्रिगुणोंमेंसे जिस गुणका बोलबाला रहता है, उसी गुणसे वह रँगी रहती है। जो कर्म सत्त्वगुणसे सम्पन्न होते हैं, वे सत्कर्मके नामसे जाने जाते हैं; जो कर्म रजोगुणसे होते हैं, वे मध्यम कर्म कहलाते हैं और तमोगुणसे जो कर्म सम्पन्न होते हैं, वे अधम कर्म कहलाते हैं तथा उन सबको निषिद्ध समझना चाहिये। इस प्रकार अच्छे और बुरे सभी कर्म प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं कर्मोंसे सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। बुरे कर्मोंसे दुःख तथा अच्छे कर्मोंसे सुख उत्पन्न होते हैं और पुरुष उन दोनोंका ही भोक्ता है। जिस समयतक ये सुख और दुःख सत्य प्रतीत होते हैं उस समयतक प्रकृति उन सुखों और दुःखोंकी उत्पत्तिका काम निरन्तर करती रहती है तथा पुरुष भी अनवरत उन सबका उपभोग करता रहता है। यदि इन पुरुष और प्रकृतिके गृहकी व्यवस्था बतलायी जाय तो वह बहुत ही विचित्र है। इसमें स्त्री जो कुछ जुटाती है, वह पति चुपचाप बैठा खाता है। ये दोनों कभी एक साथ नहीं रहते और न ही इनकी कभी संगति ही बैठती है, पर फिर भी यह कितने आश्चर्यकी बात है कि उसी स्त्रीके उदरसे सारा जगत् जन्म लेता है। (९६८—९७९)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

यह जो पुरुष है, वह निराकार, क्रियाशून्य, निर्गुण, केवल और पुरातन है उसको यों ही नाममात्रके लिये पुरुष कहते हैं। वस्तुतः वह न तो

स्त्री है और न ही नपुंसक। बल्कि सच तो यह है कि यह भी निश्चय नहीं है कि वह क्या है। वह नेत्रहीन, कानरहित तथा हाथ-पैरसे रहित है। उसका न तो वर्ण है और न तो नाम इत्यादि ही हैं। हे अर्जुन! इस प्रकार जिसके विषयमें यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसे कुछ है, वही प्रकृतिका भर्ता अथवा पुरुष है और उस प्रकृतिके कारण उसके कर्ता अथवा पुरुषको भी सुख-दुःख इत्यादि भोगने पड़ते हैं। स्वयं वह भर्ता अथवा पति तो कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह एकदम उदासीन रहता है। यही नहीं उसे भोगकी कुछ भी वासना नहीं होती, पर यह पतिपरायणा प्रकृति ही बलात् उससे भोग भोगवाती है। वह अपने रूप और गुणोंकी चंचलपना प्रदर्शित कर उसको अपनी अंगुलीपर नचाती है। उस प्रकृतिका नाम ही गुणमयी है; बल्कि कहा जा सकता है कि वह गुणोंकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही है। वह प्रतिक्षण अपने रूप और गुणोंकी नूतनता प्रकट करती रहती है और उसीके कारण जड़ पदार्थोंमें ही उन्मत्तता आ जाती है उसीके कारण नामोंको प्रसिद्धि मिलती है। प्रेमको प्रेमपूर्ण बनाना उसीके हाथका खेल है। इन्द्रियोंको जगानेकी लीला भी उसीके हाथमें है। इस मनको हम नपुंसक कैसे कहें? क्योंकि यह प्रकृति इस मनको तीनों लोकोंके भोग भोगवाती है। इसकी ऐसी अलौकिक करनी है। यह भ्रमका महाद्वीप है, अमर्यादाकी मूर्ति है और समस्त विकारोंकी जननी है। यह वासनारूपी बेलकी वह मण्डपी है जिसपर वह बेल चढ़ती और फलती-फूलती मोहरूपी वनकी वसन्त-लक्ष्मी है और इसीलिये इसका जगत्-प्रसिद्ध नाम दैवी माया है। शब्द-सृष्टिकी वृद्धि, नाम-रूपात्मक जगत्की सृष्टि और समस्त प्रपचोंकी रचना भी निरन्तर यही करती रहती है। इसीसे कला, विद्या, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इत्यादिकी उत्पत्ति होती है। नादरूपी सिक्के ढालनेवाली टकसाल यही है और यही चमत्कारका मन्दिर भी है। किं बहुना यह समस्त जगत् इसीके हाथका खिलौना है। उत्पत्ति और प्रलय मानो इस प्रकृतिकी प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्या

है। तात्पर्य यह कि यह प्रकृत्ति एक अद्‌भुत मोहिनी है। यह अद्वैतकी जोड़ीदार है और निःसंगोंकी सम्बन्धी है, क्योंकि यह शून्यमें गृह-निर्माण कर उसीमें सानन्द निवास करती है। इसकी सामर्थ्यका विस्तार इतना अधिक है कि जिस पुरुषका आकलन करना सम्भव नहीं है उसी पुरुषको यह अपने अधीन करके रखती है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो उस पुरुषमें कुछ भी नहीं है और वह सर्वथा उदासीन रहता है। पर यह प्रकृति स्वयं ही उसका सब कुछ बन जाती है। यह प्रकृति ही उस स्वयंभूकी उत्पत्ति, उस निराकारकी मूर्ति तथा स्थिति होती है। उस वासनारहितकी वासना, स्वयंका संतोष, कुलरहितकी जाति तथा गोत्र, अनामीका नाम, अजन्माका जन्म, निष्कर्मीका कर्म, निर्गुणका गुण, चरणहीनके चरण, करणहीनके कारण, नेत्रहीनके नेत्र, अभावका भाव, अवयवहीनके अवयव, यहाँतक कि उस पुरुषका सब कुछ यह प्रकृति ही स्वतः बन जाती है। इस प्रकार इसकी व्यापकताके कारण वह विकारशून्य पुरुष भी विकारोंसे लिप्त हो जाता है। इस पुरुषमें जो पुरुषत्व रहता है उसका एकमात्र कारण यह प्रकृति ही है।

जैसे अमावास्याके साथ पड़नेपर चन्द्रमा भी काला हो जाता है, अथवा विशुद्ध स्वर्णमें जरा-सा भी राँगा इत्यादि मिलानेपर उस समग्र स्वर्णका कस हलका हो जाता है अथवा जैसे पिशाचका संचरण साधुजनको भी अनाचार करनेके लिये विवश कर देता है अथवा मेघोंकी संगतिमें पड़कर सुदिन भी दुर्दिन हो जाता है अथवा जैसे गायके उदरके अन्दर दूध छिपा रहता है अथवा काष्ठके भीतर अग्नि दबी रहती है अथवा रत्नदीप वस्त्रसे आच्छादित रहता है अथवा नृप जैसे अन्य व्यक्तियोंके चक्करमें पड़ जाता है अथवा सिंह रोगग्रस्त हो जाता है, वैसे ही इस प्रकृतिकी संगतिमें पड़कर पुरुष भी अपना सारा तेज गवाँ बैठता है। जैसे जागा हुआ व्यक्ति एकदमसे निद्राके वशीभूत होकर स्वप्नकी वासनाओंमें उलझ जाता है, वैसे ही इस प्रकृतिके संगके कारण पुरुषको

भी गुणोंका भोग भोगना पड़ता है। जैसे विरक्त व्यक्ति भी स्त्रीके चक्करमें पड़कर अनेक बन्धनोंमें बँध जाता है, वैसे ही यह अजन्मा और शाश्वत पुरुष भी प्रकृतिके संयोगसे अनेक बन्धनोंमें बँध जाता है तथा गुणोंके संगके कारण वह जन्म-मृत्युके चपेटमें पड़ता रहता है। परन्तु हे पाण्डुसुत! यह बात कुछ वैसी ही है, जैसे तप्त लौहपर घनकी जो चोटें पड़ती हैं, उनके बारेमें सामान्य जन यही समझते हैं कि ये चोटें अग्निपर पड़ती हैं अथवा जैसे जलके हिलनेपर उसमें एक चन्द्रबिम्बके बदलेमें अनेक चन्द्रबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं और अविचारी लोग उन प्रतिबिम्बोंके अनेकत्वका आरोप उस प्रतिबिम्बित होनवाले चन्द्रमामें करते हैं अथवा जैसे दर्पणके सन्निकट होनेपर प्रतिबिम्बके कारण उसमें एकके बदले दो मुख दृष्टिगत होते हैं अथवा कुंकुम लग जानेके कारण स्वच्छ स्फटिकमें भी कुछ लालिमा-कालिमा दृष्टिगोचर होने लगती है, वैसे ही गुणोंके संगके कारण ऐसा मालूम पड़ता है कि उस अजन्माके भी अनेक जन्म होते हैं, परन्तु जब उसका संग गुणोंके साथ नहीं होता, तब ऐसी बात नहीं होती। वैसे तो संन्यासीकी कोई जाति नहीं होती, पर यदा-कदा स्वप्नमें उसे ऐसा आभास हो सकता है कि मैं ऊँच-नीच आदि किसी जातिका हूँ। इसी प्रकार तुम यह बात अच्छी तरहसे समझ लो कि उस पुरुषके बारेमें भी ऐसा आभास होता है कि यह उत्तम और अधम योनियोंमें आता और जाता है। इसीलिये वास्तवमें यह केवल सत्तामात्र और निःसंग पुरुष कभी किसी प्रकारका भोग नहीं भोगता। गुणोंका संग ही इस भोगका मूल कारण है। (९८०—१०२०)

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

जिस प्रकार जूहीकी बेलको आश्रय देनेवाला खम्भा बिलकुल सीधा खड़ा रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रकृतिकी मायामें एकदम सीधा खड़ा रहता है। प्रकृति और पुरुषमें आकाश और पातालका अन्तर है।

प्रकृतिरूपी सरिताके तटपर पुरुष मेरुगिरिकी भाँति रहता है। प्रकृतिकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, पर पुरुष शाश्वत होता है और यही कारण है कि वह ब्रह्मदेवसे लेकर कीटपर्यन्त सभीका शासक होता है। इसी पुरुषसे प्रकृतिको भी जीवनकी प्राप्ति होती है और इसीकी सामर्थ्यसे वह जगत्की उत्पत्ति करती है और यही प्रकृतिका भर्ता है। हे किरीटी! कालके अखण्ड प्रवाहमें प्रकृति जिन-जिन चीजोंकी सृष्टि करती रहती है, वे सब-के-सब कल्पके अन्तमें इसी पुरुषके पेटमें समा जाते हैं। यह महद्ब्रह्म उस प्रकृतिका स्वामी है और इसी ब्रह्माण्डके समस्त सूत्र इसी महद्ब्रह्मके अधीन रहते हैं। इसकी व्यापकता इतनी असीम है कि वह इन सारे प्रपंचोंका माप कर सकता है। इस देहमें निवास करनेवाली जिस चीजको लोग परमात्माके नामसे पुकारते हैं, वह यही पुरुष है। हे पाण्डुसुत! लोग जो यह कहा करते हैं कि इस प्रकृतिसे परे एक और चीज है, वह चीज वास्तवमें यही पुरुष है। (१०२१—१०२८)

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

जो व्यक्ति इस पुरुषके स्वरूपके बारेमें स्पष्टरूपसे जानता है और साथ ही जो इस बातका भी ध्यान रखता है कि यह तीन गुणोंवाली सृष्टि इसी प्रकृतिरूपी मायासे उत्पन्न हुई है और हे धनंजय! जो इस प्रकारका निर्णय कर सकता है कि यह मूल वस्तु है और यह उसका प्रतिबिम्ब है तथा यह मायारूपी जल है अथवा मृगजल है और इस प्रकार जो प्रकृति और पुरुषकी व्यवस्थाको भलीभाँति समझ लेता है, वह व्यक्ति यह शरीर धारण करनेके कारण भले ही नाना प्रकारके कर्म किया करे, पर फिर भी वह कर्मसे ठीक वैसे ही पृथक् और निर्लिप्त रहता है, जैसे आकाश कभी धूलसे मटमैला नहीं होता तथा सदा उससे पृथक् और निर्लिप्त रहता है। जिस समयतक उसका यह शरीर विद्यमान रहता है, उस समयतक वह कभी इस शरीरके व्यामोहमें नहीं फँसता और जब

उसका शरीरान्त होता है, तब फिर उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। अतएव प्रकृति और पुरुषका जो विवेक इतना अधिक कल्याणकारक है, वह विवेक अथवा विचार तुम सदा करते रहो। ऐसे बहुतेरे उपाय हैं, जिनके द्वारा विवेकका अन्त:करणमें सूर्यके प्रकाशकी भाँति उदय हो। अब मैं तुमको उन उपायोंको बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (१०२९—१०३५)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

हे सुभट! कुछ ऐसे लोग भी हैं जो विचारकी अँगीठी सुलगाकर आत्मा और अनात्माके हलके स्वर्णपर ज्ञानका विशुद्ध स्वर्ण चढ़ाते हैं और इस प्रकार भिन्न-भिन्न छत्तीस प्रकारके कसोंके भेद मिटाकर उसमेंसे ब्रह्म-तत्त्वमें विशुद्ध स्वर्ण ढूँढ निकालते हैं और तब वे आत्मध्यानकी दृष्टिसे उस ब्रह्म-तत्त्वमें स्वयंको ही देखने लगते हैं, कुछ ऐसे लोग भी हैं जो भाग्यवश सांख्ययोगके अनुसार ब्रह्म-तत्त्वकी ओर ध्यान लगाते हैं और कुछ लोग कर्मको स्वीकार करके उस साध्यकी साधना करते हैं। (१०३६—१०३९)

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

इस प्रकार यह बात ठीक है कि लोग भिन्न-भिन्न उपायोंसे इस भव-भ्रमके चक्करसे पार हो जाते हैं; पर कुछ ऐसे भी हैं जो अभिमानका परित्याग कर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक किसी एकके ही वचनको अपना आश्रय बना लेते हैं। जिन सत्पुरुषोंको हित-अहित स्पष्टरूपसे दिखायी देता है, जो परम दयालु होते हैं, जो दूसरोंसे पूछ-पूछकर उनका दु:ख निवारण करते हैं तथा उन्हें सुख प्रदान करते हैं, उन सत्पुरुषोंके मुखारविन्दसे जो वचन निकलते हैं, उन वचनोंको वे लोग श्रद्धा-विश्वासपूर्वक श्रवणकर तदनुरूप अपनी मनोवृत्ति ढालते हैं। वे यह मानते हैं कि इस वचन-

श्रवणमें ही सब कुछ है और वचनोंके अनुसार वे पूरा-पूरा आचरण भी करते हैं। हे कपिध्वज! ऐसे श्रद्धालु भी इस जीवन-मरणके सागरसे पार निकल जाते हैं। अतएव उस एक ही ब्रह्मको पानेके अनेक रास्ते हैं। पर अब बहुत हो चुका। इस प्रकारके सारे मन्थनसे महासिद्धान्तरूपी जो मक्खन निकलता है, वही अब मैं तुम्हें सौंपना चाहता हूँ। हे पाण्डुसुत! इतनेसे ही तुम्हें ब्रह्मका अनुभव हो जायगा और तुम्हें किसी प्रकारका यत्न करनेकी जरूरत भी न रह जायगी। इसीलिये अब मैं उसी बातका विवेचन करता हूँ और अनेक प्रकारके मतवादका खण्डन कर सबका निचोड़ एकदम शुद्ध और सत्य सिद्धान्त तुमको बतलाता हूँ, मनोयोगपूर्वक सुनो। (१०४०—१०४९)

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

क्षेत्रज्ञ नामका जो आत्मतत्त्व मैंने तुम्हें बतलाया है और जिन्हें क्षेत्र बतलाया है, उन दोनोंके संयोगसे ही भूतमात्रकी सृष्टि हुई है। जैसे वायुके संगसे जलमें तरंगें उठती हैं तथा सूर्यके तेज और रेतीली भूमिके संयोगसे मृगजलकी तरंगोंका आभास होता है अथवा मेघधाराके धरतीपर बरसनेसे जैसे नाना प्रकारकी वनस्पतियोंके अंकुर प्रस्फुटित होते हैं, वैसे ही वे समस्त चर और अचर, जिन्हें हम लोग जीव नामसे सम्बोधित करते हैं, इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। अतएव हे अर्जुन, इनमेंसे जो प्रधान अथवा मुख्य तत्त्व क्षेत्रज्ञ है, उससे यह नाम-रूपात्मक भूत सृष्टि भिन्न नहीं है। (१०५०—१०५५)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

वस्त्र वस्तुतः सूत नहीं है, पर फिर भी उसका भास सूतके ही कारण होता है। इसी प्रकार इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी एकताको अत्यन्त गम्भीर दृष्टिसे देखना चाहिये। तुम्हें इसका अनुभव करना चाहिये कि ये समस्त भूत उस

एकके ही अनेक रूप हैं और वे सब के-सब एक ही हैं। इन सबके भिन्न-भिन्न नाम हैं तथा इनकी स्थिति-गति, रूप-रंग सब पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होते हैं। पर हे किरीटी! यदि ये सब विभेद देखकर अपने मनमें भेदभावको जगह दोगे तो फिर कोटि जन्म लेनेपर भी इस जगत्से बाहर न निकल सकोगे। जैसे तुम्बी (लौकी) की बेलमें टेढ़े-मेढ़े लम्बे और गोल नाना प्रकारके उपयोगी फल लगते हैं अथवा जैसे बेरकी लकड़ी चाहे टेढ़ी-मेढ़ी हो, चाहे सीधी हो, पर वह बेरकी ही लकड़ी कही जाती है, वैसे ही भूत चाहे कितने ही आकार-प्रकारके क्यों न हों, पर उन सबका आश्रय और मूल कारण जो परम वस्तु है वह एकदम सरल ही है। अंगार-कण चाहे कितने ही भिन्न-भिन्न क्यों न हों, पर जैसे उष्णता उन सबमें एक समान ही होती है, वैसे ही जीव चाहे कितने ही अधिक प्रकारके क्यों न हों, पर फिर भी परमेश्वर एकरूप है। वर्षा-ऋतुकी धाराएँ चाहे आकाशभरमें क्यों न फैली हुई हों पर उन सबमें जल एक समान ही रहता है। ठीक इसी प्रकार समस्त जीवोंके भिन्न-भिन्न आकारोंमें वह परमेश्वर भी सर्वत्र एक समान ही रहता है। प्राणियोंका यह समुदाय चाहे भिन्न-भिन्न आकार प्रकारका क्यों न हो, परन्तु फिर भी उन सबमें वह परमेश्वर ठीक वैसे ही एक समान रहता है, जैसे घर तथा घड़ा इत्यादिमें आकाश समानरूपसे रहता है। जैसे केयूर इत्यादि आभूषण भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारके तथा समय-समयपर बदलते रहनेवाले होते हैं, पर उनमेंका स्वर्ण सदा स्वर्ण ही रहता है और कभी बदलता नहीं, वैसे ही यद्यपि असमान होनेवाला जीवोंका नाम-रूपोंवाला यह खेल विनाशी है, पर फिर भी उन सबमें विद्यमान आत्मा अविनाशी ही है। इस प्रकार जो व्यक्ति आत्मतत्त्वको जीव-धर्मसे अलिप्त परन्तु फिर भी जीवसे अभिन्न समझता है, उसीको समस्त ज्ञानियोंमें वास्तविक नेत्रोंवाला और वास्तविक देखनेवाला समझना चाहिये। हे वीरशिरोमणि! वह पुरुष ज्ञानकी दृष्टि ही होता है और उसे समस्त देखनेवालोंमेंसे वास्तविक देखनेवाला समझना चाहिये।

यह स्तुति कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वह व्यक्ति वास्तवमें परम भाग्यशाली होता है। (१०५६—१०६७)

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

यह देह गुणों और इन्द्रियोंकी थैली है तथा इसमें त्रिधातुओं—कफ, वात और पित्तका त्रिकूट है। इसीमें पंच महाभूतोंका मिश्रण हुआ है तथा यह अत्यन्त ही दारुण है। स्पष्टतः यह पाँच डंकोंवाले बिच्छूके सदृश है अथवा इसे पाँच तरफसे सुलगनेवाली आग ही जानना चाहिये अथवा इस जीवरूपी व्याघ्रको मानो मृगोंके रहनेकी जगह ही मिल गयी है। इस प्रकारके देहमें रहकर भला कौन ऐसा होगा कि जो नित्य बुद्धिकी छूरी अनित्य भावके पेटमें भोंककर निश्चिन्त न हो जायगा? परन्तु हे पाण्डुसुत! जो व्यक्ति ज्ञानी होता है, वह जिस समयतक इस देहमें रहता है, उस समयतक कभी आत्मघात नहीं करता और देहके नष्ट होनेपर वह उसी आत्मतत्त्वमें मिलकर एकाकार हो जाता है, योगीलोग अपने योग-ज्ञानके बलसे करोड़ों जन्मोंका उल्लंघन करके जिस स्थानमें प्रवेश करते हैं और कहते हैं कि हम इस स्थानसे फिर निकलकर बाहर नहीं जायँगे, जो नाम-रूपोंवाला जीव सृष्टिसे परे अथवा उस पार है जो नादके उस पारका और तुरीय-अवस्थाका जन्मस्थान है, जिसे परब्रह्म-नामसे पुकारते हैं, जिसमें उसी प्रकार मोक्ष इत्यादि समस्त परमगति विलीन हो जाती है, जिस प्रकार गंगा आदि सारी नदियाँ समुद्रमें समा जाती हैं, उस पर-ब्रह्मको पानेका आनन्द स्वतः उन लोगोंके चरण-प्रक्षालनके लिये आ पहुँचता है जो जीवोंके भेद भावको अपने चित्तमें नहीं बैठाते तथा आत्मबुद्धिके द्वारा सबके साथ समानरूपसे व्यवहार करते हैं, जैसे कोटि दीपकोंमें तेज एक समान रहता है, वैसे ही वह अनादि परमात्मा सब जगह सदा समभावसे निवास करता है। हे पाण्डुसुत! जो व्यक्ति अपनी जीवन-अवस्थामें ही ऐसी साम्यताका अनुभव करता है, वह कभी जीवन और मरणके चक्करमें नहीं पड़ता। यही

कारण है कि मैं भी उस परम पुरुषको बारम्बार स्तुति करता हूँ, क्योंकि वह सदा समतारूपी सेजपर ही शयन करता है। (१०६८—१०७८)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

जो व्यक्ति अच्छी तरह यह बात जानता है कि मन और बुद्धि इत्यादि कर्मेन्द्रियोंके द्वारा प्रकृति ही सब कर्म करती है, जिसे यह ज्ञात है कि घरमें निवास करनेवाले लोग ही घरके सब काम करते हैं और स्वयं घर कोई काम नहीं करता अथवा जैसे गगनमें मेघ तो स्वच्छन्द विचरण करते हैं, पर स्वयं गगन टस-से-मस नहीं होता, वैसे ही प्रकृति भी आत्माके तेजसे और गुणोंके सहयोगसे नाना प्रकारकी क्रीड़ा करती है, पर उन क्रीड़ाओंमें आत्मा सिर्फ केन्द्रीय स्तम्भकी भाँति उदासीन रहती है तथा वह इन सब क्रीड़ाओंको एकदम जानती ही नहीं और इस प्रकारके निश्चित ज्ञानका प्रकाश जिसके अन्तःकरणपर पड़ा हो, उसीके विषयमें यह जानना चाहिये कि उसे इस कर्तृत्वहीन आत्माका यथार्थ तत्त्व ज्ञात है। (१०७९—१०८२)

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

हे अर्जुन! जिस समय व्यक्तिको दृष्टिमें भूतसमुदायकी भिन्न-भिन्न आकृतियाँ एकरूप दिखायी देने लगती हैं, उसी समय ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जैसे जलमें तरंगें, स्थलमें पार्थिव द्रव्योंके कण, सूर्यमण्डलमें रश्मियाँ, देहमें अवयव, मनमें भिन्न-भिन्न भाव अथवा एक ही अग्निमें अनेक चिनगारियाँ होती हैं। ठीक वैसे ही जब ज्ञान-दृष्टिको यह दृष्टिगोचर होने लगता है कि ये सब भूताकार उस एक ही आत्माके हैं, तभी व्यक्तिको ब्रह्मसम्पत्तिरूपी जहाज प्राप्त हो जाता है। उस समय व्यक्ति जहाँ दृष्टि डालता है, वहीं उसे ब्रह्मका स्वरूप दिखायी देता है, बहुत क्या कहें, उससे अपरम्पार सुखकी उपलब्धि होती है। हे पार्थ! इस विवेचनके

द्वारा मैंने तुम्हें प्रकृति-पुरुषकी व्यवस्था समझा दी है और उसकी प्रत्येक दिशाका यथास्थित अवस्थान दिखला दिया है। तुम यह जान लो कि जैसे कुल्ला करनेके लिये अमृत प्राप्त हो जाय अथवा कहीं गुप्त धन दिखायी पड़ जाय, ठीक वैसे ही तुम्हें यह परम योग्यताका लाभ हुआ है। पर हे किरीटी! जबतक तुम्हें इसका अनुभव न हो जाय, तबतक तुम्हारे चित्तमें इसका दृढ़ निश्चय नहीं हो सकता। फिर भी मैं तुमको एक-दो महत्त्वपूर्ण बातें बतला देना चाहता हूँ, मन लगाकर सुनो।'' भगवान्‌ने ये सब बातें कहकर ज्यों ही आगेकी बातें कहना प्रारम्भ किया, त्यों ही अर्जुन भी मनोयोगपूर्वक भगवान्‌की बातें सुनने लगा। (१०८३—१०९२)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥

भगवान्‌ने कहा—''हे किरीटी! जिसे परमात्माके नामसे पुकारते हैं, वह ऐसा है, जैसा वह सूर्य, जिसकी प्रतिच्छाया तो जलमें पड़ती है पर फिर भी जिसपर उस जलका लेप नहीं होता। इसका प्रमुख कारण यह है कि सूर्य तो जलके होनेसे पहले भी था तथा उसके बाद भी रहेगा और हे पार्थ! केवल बीचवाले समयमें वह प्रतिच्छायाके रूपमें अन्य लोगोंको जलमें पड़ा हुआ मालूम पड़ता है, पर वह स्वयं ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी प्रकार यह कथन भी समीचीन नहीं है कि आत्मा देहमें निवास करती है, कारण कि वह तो सदा जहाँ-की-तहाँ, स्वयं अपने-आपमें तथा अपनी जगहपर ही स्थित रहती है। जैसे दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब पड़नेपर लोग कहते हैं कि दर्पणमें मुख है, ठीक वैसे ही लोग यह भी कहते हैं कि देहमें आत्मा निवास करती है। यह कथन एकदम निरर्थक है कि आत्माके साथ देहका सम्बन्ध होता है। भला क्या कभी वायु और बालूका भी संयोग हो सकता है। भला वह ऐसा कौन-सा धागा है जिसमें अग्नि और कपास एक साथ ही पिरोया जा सके? आकाश तथा पाषाणका सम्बन्ध भला कैसे बैठाया जा सकता है? इनमेंसे एककी गति पूर्व और दूसरेको पश्चिमकी ओर है। देह और आत्माका सम्बन्ध

भी ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार दो विपरीत दिशाओंमें जानेवाले व्यक्तियोंका रास्तेमें आमना-सामना हो जाता है। देह और आत्मामें भी उतनी ही समानता है, जितनी समानता प्रकाश तथा अन्धकार अथवा जीवित और मृतमें है। देह और आत्मामें उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर रात और दिन तथा स्वर्ण और कपासमें है। यह देह पंचभूतोंसे निर्मित है, कर्म-बन्धनोंसे जकड़ा हुआ है तथा जीवन और मृत्युके चक्केपर सदा घूमता रहता है। यह देह कालाग्निके मुखमें पड़ी हुई एक मक्खनकी गोलीकी भाँति है। मक्खीको पंख झाड़नेमें जितनी देर लगती है, उतनी ही देरमें इसका नाश हो जाता है। यदि यह देह कदाचित् अग्निमें पड़ जाय तो भस्ममें ही बदल जायगा; पर यदि कुत्तोंके हाथ लगा तो फिर विष्ठाका ही रूप धारण कर लेगा और यदि इन दोनोंसे बचा तो फिर यह कृमि-पुंज हो जायगा। पर हे कपिध्वज! इस देहका इनमेंसे चाहे जो भी परिणाम हो, वह होता बुरा ही है। बस, यही इस देहकी कहानी है। पर रही बात आत्माकी तो उसके साथ ऐसी बात नहीं है। वह तो अनादि होनेके कारण शाश्वत और स्वयं पूर्ण है, वह निर्गुण होनेके कारण न तो कलासहित अथवा पूर्ण ही है तथा न कलारहित अथवा अपूर्ण ही है। वह अक्रिय तथा सक्रिय दोनों भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है और स्थूल भी नहीं है। वह अरूप है, अतएव हम उसे आभास या निराभास, प्रकाश या अप्रकाश, अल्प या विस्तृत इत्यादि कुछ भी नहीं कह सकते। वह शून्यस्वरूप है, इसीलिये वह खोखली भी नहीं है और ठोस भी नहीं है किसीके सहित भी नहीं है और किसीसे विरहित भी नहीं है, मूर्तिमान् भी नहीं है और अमूर्त भी नहीं है। वह एकमात्र आत्मरूप है और इसीलिये उसमें आनन्द भी नहीं है तथा आनन्दका अभाव अर्थात् दु:ख भी नहीं है, एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं है, वह मुक्त भी नहीं है और बद्ध भी नहीं है। वह अलक्ष्य है, इसलिये उसके बारेमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह इतनी है अथवा उतनी है, वह स्वत: निर्मित है अथवा किसीके द्वारा निर्मित की हुई है और बोलती

है अथवा गूँगी है। वह सृष्टिके साथ न तो उत्पन्न ही होती है और न उसके नष्ट होनेके साथ उसका नाश ही होता है, कारण कि वह उत्पत्ति और नाश दोनोंका लयस्थान है। वह अव्यय है, इसलिये न तो वह मापी ही जा सकती है और न उसका वर्णन ही किया जा सकता है; वह न तो बढ़ती ही है और न घटती ही है, वह न तो फीकी ही पड़ती है और न कभी समाप्त ही होती है। ऐसी स्थितिमें जब कि आत्माका स्वरूप ऐसा है, तब जो लोग यह कहते हैं कि वह देहमें निवास करती है, उनका कथन, हे सुहृद्! ठीक वैसा ही है, जैसा घड़ेके आकारके अनुसार आकाशका नामकरण करना। उसी आकाशकी ही भाँति वह आत्मा भी सर्वव्यापक है। देहाकृतियाँ तो बनती-बिगड़ती रहती हैं पर आत्मा नित्य ज्यों-की-त्यों रहती है। जैसे दिन और रातका सदा आना-जाना लगा रहता है, वैसे ही आत्माकी सत्तासे देह भी सदा बनते और बिगड़ते रहते हैं, अर्थात् उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। यही कारण है कि देहस्थ आत्मा न तो कुछ कराती ही है और न कुछ करती ही है और न सामने आये हुए कर्मोंके साथ ही उसका कोई लगाव होता है। इसीलिये उसके स्वरूपमें न तो कोई कमी ही होती है और न पूर्णता ही आती है और वह देहस्थ होनेपर भी देहके भावोंसे कभी लिप्त नहीं होती। (१०९३—१११८)

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँपर आकाश न हो, पर फिर भी किसी जगहका दोष कभी उसको दूषित नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र और सभी देहमें विद्यमान है, पर फिर भी वह कभी किसी जगह अथवा देहके संग-दोषका शिकार नहीं होती। मैं इस लक्षणको बार-बार इसलिये बतलाता हूँ कि तुम्हारी समझमें यह बात ठीक तरह आ जाय कि क्षेत्रज्ञ वास्तवमें क्षेत्रहीन है। (१११९—११२१)

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

चुम्बकके संसर्गसे लोहा हिलता है, पर लोहा कभी चुम्बक नहीं हो जाता। ठीक यही बात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बारेमें भी समझना चाहिये। दीपकके प्रकाशमें घरके समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं, पर फिर भी दीपक और घरमें करोड़ोंगुना अन्तर है। हे किरीटी! काष्ठके गर्भमें अग्नि विद्यमान रहती है, पर वह काष्ठ अग्नि नहीं है। इसी दृष्टिसे क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें भी विचार करना चाहिये। भलीभाँति विचार करनेपर यह बात समझमें आ जाती है कि क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रमें ठीक वही अन्तर है जो आकाश और मेघ अथवा सूर्य और मृगजलमें है। परन्तु अब बहुत हो चुका। अकाशमें स्थित रहनेवाला सूर्य जैसे समस्त लोकोंको प्रकाशित करता है, ठीक वैसे ही क्षेत्रज्ञ ही भासमान होनेवाले समस्त क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है। इस प्रकार अब और कोई शंका करनेकी लेशमात्र भी गुंजाइश नहीं रह जाती। (११२२—११२७)

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरका ज्ञान रखनेवाली जो बुद्धि है, वास्तवमें वही बुद्धि दृष्टिसे युक्त होती है तथा वही शब्दार्थका ठीक-ठीक सारांश ग्रहण करती है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाननेके लिये ही बुद्धिमान् लोग ज्ञानियोंके द्वारपर माथा टेकते हैं। इसीके लिये ही सन्तजन शान्तिरूपी सम्पत्तिका संचय करते हैं तथा शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इसी ज्ञानकी आशासे योगाभ्यासके माध्यमसे आकाश-मण्डलमें उड़नेकी हिम्मत जुटा पाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो देह इत्यादि समस्त परिग्रहोंको तृणवत् मानकर सन्तोंकी चरण-सेवामें रत होते हैं। इस प्रकार लोग अलग-अलग रास्तोंसे ज्ञानकी अभिलाषासे प्रेरित होकर आगे

बढ़नेकी चेष्टा करते हैं। फिर ऐसी चेष्टाओंके द्वारा जो लोग वास्तवमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, अभी मैं प्रेमपूर्वक उनकी आरती उतारता हूँ। महाभूत इत्यादिके नाना प्रकारके भेद-भावोंसे युक्त जो यह मायाकृत प्रकृति विस्तृत है, जो शुकनलिका न्यायसे वास्तवमें बन्धक न होनेपर भी अपनी-अपनी भावनानुसार उन लोगोंके लिये बन्धक होती है, जो अपने मनमें यह बात उसी प्रकार पूर्णतया समझ लेते हैं कि प्रकृति वास्तवमें पुरुषसे भिन्न और पृथक् है। जिस प्रकार मालाके विषयमें होनेवाला मिथ्या सर्पाभास मिट जानेपर नेत्रोंको इस वास्तविकताका ज्ञान हो जाता है कि यह माला ही है अथवा जैसे सीपीको चाँदी माननेका भ्रम मिट जानेपर आँखोंको यह सत्य दृष्टिगोचर होने लगता है कि वास्तवमें यह सीपी ही है, वही लोग ब्रह्मको हस्तगत करते हैं। जो आकाशसे भी बृहत् है, जो अव्यक्त प्रकृतिके उस पारवाले तटपर स्थित है, जिसके मिलते ही साम्य और असाम्यका भेद मिट जाता है, जिसमें आकारका नामोनिशान नहीं रहता, जिसमें आकार जीवत्व तथा द्वैत कभी टिक नहीं सकता, जो शुद्ध अद्वैत ही है, हे पार्थ! वह परमतत्त्व उन्हीं लोगोंके हाथ लगता है जो आत्म और अनात्मकी व्यवस्थाका ज्ञान रखते हैं तथा जो राजहंसकी भाँति एकमात्र सारतत्त्व ही ग्रहण कर सकते हैं।"

इस प्रकार भगवान्‌ने पार्थको आत्म और अनात्मकी सारी व्यवस्था अच्छी तरहसे बतला दिया। जैसे एक कलशका पानी किसी अन्य कलशमें उड़ेला जाता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने अपना सारा आत्मज्ञान अर्जुनके हवाले कर दिया। परन्तु आखिर यहाँ प्रदाता कौन है और ग्रहीता कौन है? क्योंकि नर अर्थात् अर्जुन भी नारायण ही हैं और इसलिये इन दोनोंमें किसी प्रकारका भेद ही नहीं है। फिर श्रीकृष्ण भी अर्जुनको अपनी विभूति ही मानते हैं, परन्तु छोड़ो इन सब बातोंको। जब इन सब बातोंकी कोई चर्चा ही नहीं है तो फिर मैं ही क्यों इसकी चर्चा करूँ? कहनेका आशय यह है कि इस प्रसंगमें श्रीकृष्णने अपना ज्ञान सर्वस्व ही अर्जुनको सौंप

दिया; परन्तु अर्जुनके मनको तृप्ति नहीं मिली। उसकी ज्ञान-श्रवणकी लालसा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। जैसे तेल भर देनेपर दीपकका प्रकाश और भी अधिक हो जाता है, वैसे ही इस श्रवणसे अर्जुनकी उत्सुकता और भी तीव्र हो गयी। जब भोजन परोसनेवाली गृहिणी चतुर, सुघड़ तथा उदार होती है और भोजन ग्रहण करनेवाले भी भोजनके रसज्ञ होते हैं, तब भोजन परोसनेवालीके हाथ भी तथा खानेवालोंके हाथ भी बराबर चलते रहते हैं। ठीक वही अवस्था इस समय भगवान्‌की हुई थी। अर्जुनकी एकाग्रताको देखकर भगवान्‌को भी व्याख्यान देनेकी चौगुनी स्फूर्ति हो आयी। जैसे अनुकूल वायुके बहनेपर बहुत-से मेघ आकाशमें इकट्ठे हो जाते हैं अथवा चन्द्रदर्शनसे जैसे समुद्रमें ज्वार आती है, वैसे ही श्रोताओंके उत्साहित होनेपर वक्ताको भी स्फूर्ति होती है। उस समय संजयने कहा—"हे राजन्! अब भगवान् समस्त विश्वको आनन्दसे सराबोर करनेको हैं; आप उसका वृत्तान्त सुनें।" इस प्रकार महाभारतमें श्रीव्यासने अपनी अगाध बुद्धिसे जो कथा भीष्म-पर्वमें कही है; उसीमेंका यह श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद मैं सुन्दर और शिष्ट भाषामें ओवी प्रबन्धमें स्पष्ट करके बतलाता हूँ। अब मैं जो कुछ कहनेको हूँ, वह शुद्ध शान्तरसकी कथा है; परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह शृंगाररसको भी अपने सामने तुच्छ सिद्ध करेगी। मेरी भाषा तो शिष्ट ही होगी, पर फिर भी मैं उसकी योजना ऐसे कौशलसे करूँगा कि वह ललित साहित्यकी संजीवनी ही होगी तथा अपने माधुर्यके सामने अमृतको भी फीका कर देगी। देशी भाषामें कही हुई ये बातें अपनी शीतलताके कारण चन्द्रमाकी बराबरीकी होंगी तथा इसकी रसालताके फेरमें पड़कर स्वयं नाद-ब्रह्म भी लीन हो जायगा। इससे पैशाचिक वृत्तिवालोंके अन्तःकरणमें भी सात्त्विक वृत्तिका स्रोत उमड़ पड़ेगा और इसके सुननेसे ही सन्तोंके मनकी तो आत्म-समाधि ही लग जायगी। मैं इस समय ऐसा वाग्विलास प्रकट करूँगा जिससे यह सारा विश्व गीतार्थसे भर जायगा और मैं सारे जगत्‌के लिये एक आनन्द-

मन्दिर ही खड़ा कर दूँगा। इस समय मैं ऐसा विवेचन प्रस्तुत करूँगा जिसे सुनकर विवेकको दीनता भी मिट जाय और वे बोलने लगें, श्रवणेन्द्रिय तथा मन सार्थक हो जायँ, प्रत्येक व्यक्तिको ब्रह्म-विद्याकी उपलब्धि हो सके, सब लोगोंको इन्हीं नेत्रोंसे परमात्म-तत्त्वके दर्शन होने लगें, सबके लिये सुखका समारोह प्रकट हो और समस्त विश्वको ब्रह्म-ज्ञानकी उपलब्धिका सुभीता हो जाय। बात यह है कि परमदेव श्रीनिवृत्तिनाथका कृपा-प्रसाद मुझे मिला हुआ है। यही कारण है कि मैं उपमा आदि अलंकारोंका ढेर लगा दूँगा तथा ग्रन्थके प्रत्येक पदका अर्थ एकदम स्पष्ट कर दूँगा। इसके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये मेरे सम्पन्न गुरुदेवने मुझे वाणीकी प्रगल्भता तथा अर्थ-ज्ञानसे परिपूर्ण कर दिया है। गुरु कृपाकी सहायतासे मैं जो कुछ कहता हूँ, वही मान्य होता है और इसीलिये मैं आज आप-जैसे अधिकारी श्रोताओंके समक्ष भी गीतार्थका व्याख्यान करनेके लिये तत्पर हुआ हूँ। तिसपर मैं आप सब सन्तोंके चरणोंके निकट आया हूँ और अब मेरे मार्गमें कोई बाधा नहीं रह गयी है। महाराज! भला क्या सरस्वतीके उदरसे कभी भूलसे भी गूँगा बालक उत्पन्न हो सकता है? क्या कभी लक्ष्मीमें भी सामुद्रिक शास्त्रके किसी शुभ लक्षणकी कमी हो सकती है? अतएव आप-जैसे सन्तोंके सन्निकट आनेपर अज्ञानकी बात भी कभी मुँहसे नहीं निकलनी चाहिये। इसलिये मैं कहता हूँ कि मैं अपने व्याख्यानसे नव रसोंकी एकदम झड़ी ही लगा दूँगा। हे देव! आप लोग सिर्फ मुझे बोलनेका अवसर प्रदान करें; फिर यह ज्ञानदेव गीता-ग्रन्थका सारा अर्थ चुटकी बजाते ही कह डालेगा। (११२८—११६९)

137

अध्याय चौदहवाँ

हे आचार्य! आपकी जय हो, जय हो। समस्त देवोंमें आप ही श्रेष्ठ हैं। आप ही प्रज्ञा-प्रभात सूर्य हैं। सुखका उदय आपसे ही होता है। आप ही सबके विश्रामस्थल हैं। आपहीके द्वारा आत्मभावनाका साक्षात्कार होता है। इस नाना स्वरूपवाली पंचभूतात्मक सृष्टिकी तरंगें जिस समुद्रपर उठती हैं, वह समुद्र आप ही हैं। आपके ऐसे स्वरूपकी जय हो, जय हो। हे आर्तबन्धु! निरन्तर कारुण्यसिन्धु, शुद्ध आत्मविद्यारूपी वधूके वल्लभ, आप सुनें। आप जिनकी दृष्टिमें नहीं आते, उन्हींको आप यह मायिक विश्व दिखलाते हैं और उन्हींपर यह नाम-रूपात्मक जगत् प्रकट करते हैं। दूसरोंकी दृष्टिको चुरानेको ही दृष्टि-बन्ध कहते हैं; परन्तु आपका यह अद्‌भुत कौशल ऐसा है कि आप स्वयं अपना ही स्वरूप छिपाते हैं। हे गुरुदेव! आप ही इस विश्वके सर्वस्व हैं। यह सब नाटक आपका ही रचा हुआ है, आप ही किसीको मायाका भास कराते हैं और किसीको आत्मबोध कराते हैं। आपके ऐसे स्वरूपको नमन है। मेरी समझमें तो सिर्फ यही आता है कि इस जगत्‌में जिसे अप् (जल) कहते हैं, उसे आपके ही शब्दोंसे मधुरता प्राप्त हुई है। आपसे ही पृथ्वीको क्षमावाला गुण भी मिला हुआ है। सूर्य और चन्द्रमा इत्यादि जो तेजस्वी सिपाही संसारमें उदित होते हैं, उनके तेजको आपकी प्रभासे ही तेज प्राप्त होता है। वायुकी चंचलता भी आपकी ही दिव्य सामर्थ्य है और आकाश भी आपका ही आश्रय पाकर यह आँखमिचौनीका खेल खेलता है। तात्पर्य यह कि यह सारी माया आपकी ही देन है और आपकी ही सामर्थ्यसे ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त होती है। पर अब इस विवेचनका यहीं अवसान करना

चाहिये, कारण कि वेद भी ऐसा विवेचन करते करते थक जाते हैं। जिस समयतक आपके आत्मस्वरूपके दर्शन नहीं होते, उस समयतक तो वेदोंकी विवेचनात्मक शक्ति ठीक तरह काम करती है, पर जब आपके स्वरूपके सन्निकटकी कोई मंजिल अथवा पड़ाव आ जाता है, तब फिर वेद भी तथा मैं भी—दोनों मौन हो जाते हैं अर्थात् दोनोंकी दशा एक समान हो जाती है। जिस समय चतुर्दिक् समुद्र-ही-समुद्र हों और एक बुलबुला भी अलग न दिखायी देता हो, उस समय महानदियोंको ढूँढ़ निकालनेकी बात ही नहीं करनी चाहिये। जिस समय सूर्योदय होता है, उस समय चन्द्रमा खद्योतकी भाँति हो जाता है। इसी प्रकार आपके आत्मस्वरूपमें वेद और मैं—दोनों ही एक-से हो जाते हैं। फिर जहाँ द्वैतका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता हो तथा परा वाणीके साथ वैखरी वाणीका भी लोप हो जाता हो, वहाँ भला मैं किस मुखसे आपका वर्णन कर सकता हूँ! यही कारण है कि अब मैं आपकी स्तुति करनेकी चेष्टा छोड़कर चुपचाप आपके चरणोंपर माथा टेकना ही अच्छा समझता हूँ। अतएव हे गुरुराज! आपका स्वरूप चाहे जैसा भी हो, आपके उसी स्वरूपको नमन है। हे देव! आप मुझपर ऐसी कृपा करें, जिससे मैं इस ग्रन्थ-प्रणयनके व्यापारमें सफल हो सकूँ। अब आप अपनी कृपा-पूँजी खोलकर मेरी बुद्धिरूपी थैलीमें उड़ेल दें तथा मुझे ज्ञान-पदकी प्राप्ति करा दें। फिर इसीके बलपर मैं और आगे पैर बढ़ाऊँगा तथा सन्तोंके श्रवणेन्द्रियोंमें विवेक-वचनरूपी कर्णभूषण पहनाऊँगा। मेरी लालसा यही है कि आप गीताके गूढार्थका भण्डार खोल दें। हे महाराज! आप मेरे नेत्रोंमें अपना कृपारूपी दिव्यांजन लगावें। आप अपनी निर्मल करुणाके सूर्यका इस प्रकार उदय करें, जिसमें मेरी बुद्धिरूपी नेत्र भलीभाँति खुल जायँ और साहित्यरूपी सम्पत्ति मुझे साफ-साफ दृष्टिगोचर होने लगे। हे स्नेहीजनशिरोमणि! आप स्वयं ही ऐसा वसन्तकाल बन जायँ, जिसके प्रभावसे मेरी बुद्धिरूपी बेलमें काव्यरूपी फल लगने लगें। हे परम उदार! आप अपनी उदार कृपा-दृष्टिसे ऐसी

वृष्टि करें, जिससे मेरी बुद्धिरूपी गंगामें तत्त्व-सिद्धान्तोंकी भरपूर बाढ़ आ जाय। हे विश्वैकधाम! आपके कृपारूपी चन्द्रमासे मुझे स्फूर्तिकी पूर्णिमा प्राप्त हो और उसको देखते ही मेरे ज्ञानके सागरमें ऐसा ज्वार आवे जो मेरे नव रसोंके स्रोतको लबालब भरकर उछल पड़े और बहने लगे।

इसपर गुरुराजने कहा कि प्रार्थनाके व्याजसे तुमने फिर मेरी स्तुति करना शुरू कर दिया है, परन्तु अब इस व्यर्थकी स्तुतिको रहने दो। ज्ञानकी सुगन्धिसे भरा हुआ अपना ग्रन्थ-निरूपण आगे बढ़ाओ तथा हमारी उत्सुकता भंग मत करो। गुरुदेवके ये वचन सुनकर मैंने कहा—"ऐसा क्यों? महाराज, मैं तो इसी बातकी प्रतीक्षा कर रहा था कि आप अपने श्रीमुखसे ग्रन्थको आगे बढ़ानेके लिये कहें।" एक तो दूर्वांकुर स्वभावतः अमर होते हैं; तिसपर यदि अमृतकी वृष्टि हो जाय तो फिर पूछना ही क्या है! ठीक वही बात यहाँ भी है। तो भी मैं आपके कृपा-प्रसादसे विस्तारपूर्वक तथा स्पष्टरूपसे मूल पदोंका विवेचन करता हूँ। पर अब मेरी यही अभिलाषा है कि गुरु-कृपाके घरकी भिक्षासे मेरी वाणीमें ऐसी मधुरता प्रतिबिम्बित हो, जिसके कारण जीवके चित्तमें निवास करनेवाली सन्देहकी नौका डूब जाय और तब श्रवणके सम्बन्धमें लोगोंकी उत्सुकता बढ़े।" अस्तु। पिछले तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको यह बतलाया है कि इस जगत्‌का निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे होता है और गुणोंका संग होनेके कारण आत्मा संसारी बनती है और प्रकृतिके चंगुलमें फँसनेपर वही आत्मा सुख-दुःख भोगती है तथा अपने कैवल्य-स्वरूपसे वह आत्मा गुणोंसे एकदम परेकी है। ऐसी स्थितिमें इस असंगको संगकी प्राप्ति कैसे होती है? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ यानी पुरुष और प्रकृतिका संयोग कैसे होता है? उस क्षेत्रज्ञको सुख-दुःख इत्यादि भोग किस प्रकार भोगने पड़ते हैं? गुण कितने हैं? उनका स्वरूप क्या है और वे किस प्रकार बन्धक होते हैं? गुणातीतके लक्षण कौन-से हैं? बस, इन्हीं सब प्रश्नोंका स्पष्टीकरण इस चौदहवें अध्यायमें किया गया है। अब आप लोग ध्यानपूर्वक

यह सुनें कि इस विषयमें वैकुण्ठाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण क्या कहते हैं। भगवान् कहते हैं -"हे अर्जुन! अपना लक्ष्य एकदम एकाग्र करके इस ज्ञानसे लड़ना पड़ता है। इस ज्ञानके सम्बन्धकी बहुत-सी बातें मैंने अनेक युक्तियोंसे तुम्हें बतलायी हैं, परन्तु फिर भी अभीतक यह बात तुम्हारे अनुभवके पेटमें प्रविष्ट नहीं हुई। (१—४०)

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

इसलिये अब मैं फिरसे उस 'पर' की उपपत्ति तुम्हें बतलाता हूँ जिसे श्रुतियोंने सबके परे बतलाया है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो यह ज्ञान स्वयं अपना ही है, परन्तु इहलोक और स्वर्गलोकके बवालमें पड़कर वह पर अर्थात् परकीय हो गया है। मैं इसे पर यानी सर्वोत्तम भी कहता हूँ और इसका कारण यही है कि और सब प्रकारके ज्ञान तो तृणवत् हैं तथा यह ज्ञान उन सबको जलाकर भस्म कर देनेवाली अग्निकी तरह है। जो ज्ञान इहलोक और स्वर्गलोकको सत्य मानते हैं तथा यज्ञ कर्मको ही अच्छे कर्ममें गिनते हैं और भेद-भावके कारण जिन्हें द्वैत ही सत्यके सदृश प्रतीत होता है, वे समस्त ज्ञान इस ज्ञानके प्राप्त हो जानेपर स्वप्नवत् मिथ्या सिद्ध होते हैं। जैसे हवाके झोंके अन्ततः आकाशमें विलीन हो जाते हैं अथवा जैसे सूर्योदय होनेपर चन्द्र इत्यादिका तेज फीका पड़ जाता है अथवा प्रलयकालकी बाढ़ आनेपर जैसे समस्त नद और नदियाँ उसीमें समा जाती हैं, वैसे ही इस ज्ञानका उदय होनेपर अन्य समस्त ज्ञान विलुप्त हो जाते हैं। इसीलिये हे धनंजय! इस ज्ञानको अन्य सब ज्ञानोंसे उत्तम जानना चाहिये। हे पाण्डव, हमारी जो मूलकी स्वयंसिद्ध मुक्त स्थिति है, उसीको मोक्ष कहते हैं। जिसके योगसे हमें इस मोक्षकी प्राप्ति होती है, वही यह ज्ञान है और उस ज्ञानका अनुभव हो जानेपर विवेकीजन जीवन और मरणरूपी संसारको

सिर ऊपर नहीं उठाने देते। जो लोग मनसे ही मनोनिग्रह करके स्वाभाविक विश्रान्ति प्राप्त कर लेते हैं, वे देह धारण करनेपर भी देहके वशीभूत नहीं होते। वे देहके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और मेरी समकक्षता प्राप्त कर लेते हैं। (४१—५१)

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

हे पाण्डुसुत! ऐसे लोग मेरी नित्यतासे ही नित्य होते हैं तथा मेरी परिपूर्णतासे ही परिपूर्ण होते हैं। मैं जैसे शाश्वत आनन्दसे पूर्णरूपसे सिद्ध हूँ, वैसे ही वे भी सिद्ध हो जाते हैं। फिर उन लोगोंमें और मुझमें कोई भेद अवशिष्ट नहीं रह जाता। मेरा स्वरूप जैसा और जितना होता है, उनका स्वरूप भी वैसा और उतना ही हो जाता है। जैसे घटके विदीर्ण हो जानेपर उसमें स्थित आकाश भी आकाश-तत्त्वमें ही विलीन हो जाता है अथवा दीपककी अनेक ज्योतियोंके शान्त हो जानेपर वे सब ज्योतियाँ उस मूल ज्योति अथवा तेजमें समा जाती हैं, वैसे ही हे अर्जुन! द्वैतके सारे बवाल समाप्त हो जानेपर तथा हम और तुम इत्यादिका भेद विनष्ट हो जानेपर समस्त नाम-रूपात्मक पदार्थ आकर एक ही पंक्तिमें बैठ जाते हैं तथा सब एक-से हो जाते हैं। इसी कारणसे जब सृष्टिकी प्रथम कल्पना होती है, तब भी उन्हें उत्पन्न नहीं होना पड़ता। सृष्टिके मूलारम्भमें जिनकी देह-रचना ही नहीं होती, उनका प्रलयकालमें नाश कैसे हो सकता है? अतएव हे अर्जुन! जो लोग इस ज्ञानका अनुसरण करते हैं, वे जीवन और मृत्युकी व्यवस्थासे परे होकर मद्रूप हो जाते हैं।"

इस प्रकार भगवान्‌ने ज्ञानका महत्त्व इसलिये बड़े प्रेमसे अर्जुनको बतलाया जिससे उसके अन्तःकरणमें इस ज्ञानको पानेकी उत्कण्ठा और बढ़े। भगवान्‌के मुखसे यह वर्णन सुनकर अर्जुनकी कुछ और ही दशा हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उसके रोम-रोममें कान उत्पन्न हो गये हैं और उनकी एकाग्रताके कारण वह तन्मय हो रहा था। अब

श्रीकृष्णके प्रेमने अर्जुनको इस प्रकार व्याप्त कर लिया था कि उसके निरूपणकी मर्यादा आकाशमें भी नहीं समाती थी। फिर भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—"हे सुविज्ञ अर्जुन! आज मेरा वक्तृत्व धन्य हुआ है क्योंकि मेरी वाणीके योग्य श्रोता एकमात्र तुम्हीं हो, जो मुझे आज मिले हो। अच्छा अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि यह त्रिगुणरूपी लुब्धक मूलके एक स्वरूप यानी मुझको किस प्रकार देहके बन्धनमें डालता है और मायाके संगके कारण मैं ही किस प्रकार अनेक जगत्‌का निर्माण करता हूँ। अब तुम इस विषयका निरूपण ध्यानपूर्वक सुनो। प्रकृतिको क्षेत्र कहनेका कारण यह है कि वह मेरे संगरूपी बीजसे भूतरूपी फसल उत्पन्न करती है। (५२—६६)

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

इसी प्रकृतिको महद्ब्रह्म भी कहते हैं। इसका महद्ब्रह्म नाम पड़नेका कारण यह है कि महद् इत्यादि जितने तत्त्व हैं, उन सबका यह विश्रान्ति-स्थान है। इसीके कारण विकारोंको बल प्राप्त होते हैं और इसीलिये इसको महद्ब्रह्म-नामसे सम्बोधित करते हैं। अव्यक्तवादी इसीको अव्यक्त कहते हैं तथा सांख्य मतावलम्बियोंकी प्रकृति भी यही है। वेदान्ती लोग इसे माया-नामसे सम्बोधित करते हैं; परन्तु हे बुद्धिमान् अर्जुन! इस प्रकारके नाम तथा अभिधान व्यर्थ कहाँतक गिनाये जायँ। बस इतना ही समझ लो कि यह प्रकृति ही अज्ञान है। हे धनंजय! अपने आत्मस्वरूपको भुला बैठना ही इस अज्ञानका स्वरूप है। इसके अलावा इसमें एक बात और है कि जैसे दीपक जलाकर देखनेपर अन्धकार नहीं दिखायी देता, वैसे ही विचारका स्फुरण होनेपर अज्ञान भी नहीं ठहरता। यदि दूधको आगपर रखकर बराबर चलाते रहें तो उसकी मलाई नष्ट हो जाती है और यदि उसे स्थिर रहने दिया जाय तो उसपर मलाई जम जाती है। जैसे गहरी नींदकी वह अवस्था होती है, जिसमें न तो जागृति ही होती

है न स्वप्नका ही पता होता है और न आत्मस्वरूप समाधि ही होती है अथवा वायुका संचार न होनेपर जैसे आकाश-तत्त्व एकदम शान्त रहता है, वैसे ही इस अज्ञानकी भी अवस्था है। सम्मुख जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, उसके बारेमें यह दृढ़ निश्चय तो होता ही नहीं कि वह खम्भा है अथवा मनुष्य है, सिर्फ यही भावना होती है कि कुछ दिखायी पड़ता है, पर न जाने वह क्या है। इसी प्रकार आत्मवस्तुका वास्तविक ज्ञान तो होता नहीं, पर साथ ही इस बातका भी कोई दृढ़ निश्चय नहीं हो पाता कि वह अमुक वस्तु भी है। जैसे सन्ध्याके समय न तो पूरा दिन ही रहता है और न तो पूरी रात ही रहती है, वैसे ही यह अज्ञान भी न तो आत्मवस्तुके प्रतिकूल ही होता है और न अनुकूल ही होता है। इसी प्रकार सत्य और विरुद्ध ज्ञानके मध्य जो सन्देहवाली स्थिति होती है, उसीको अज्ञान कहते हैं और इस अज्ञानमें उलझे हुए आत्मतत्त्वको ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं। अज्ञानकी वृद्धि और आत्मस्वरूपको विस्मृत करनेको ही क्षेत्रज्ञका विशिष्ट लक्षण जानना चाहिये। हे पार्थ! प्रकृति और पुरुष अथवा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका योग जिसे कहते हैं, वह यही है। यह योग आत्मतत्त्वका स्वाभाविक धर्म ही है। अब इस अज्ञानका अनुसरण करके आत्मा आत्म-स्वरूपको ही देखती है, पर उसे उसके नाना स्वरूपोंका भास होता है और उसकी समझमें यह बात नहीं आती कि इनमेंसे कौन सा स्वरूप यथार्थ है और कौन-सा अयथार्थ। जैसे कोई रंक भ्रमिष्ट होकर यह कहने लगे—'जा रे जा, मैं ही राजा हूँ।' अथवा मूर्च्छाको प्राप्त व्यक्ति सावधान होनेपर कहने लगे—'मैं तो स्वर्गलोकसे हो आया।' वैसे ही एक बार दृष्टिके भ्रमपूर्ण होनेपर जो-जो पदार्थ भासमान होते हैं, उन्हीं सबका नाम सृष्टि है। यह सृष्टि मुझसे ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें एक ही व्यक्ति भ्रमसे यह समझने लगता है कि हम अनेक हैं, इसी प्रकारकी दशा आत्मस्वरूपका विस्मरण होनेपर आत्माकी भी होती है। अब मैं इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण ऐसे ढंगसे

करता हूँ, जिसमें तुम्हें जरा-सी भी शंका न रह जाय। तो भी तुम स्वयं इसका अनुभव करो। मेरी यह अविद्या नामकी गृहिणी अनादि, सदा तारुण्य-अवस्थामें ही रहनेवाली तथा वर्णनातीत गुणोंवाली है। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि इसका स्वरूप केवल अमुक प्रकारका ही है, इसके अलावा इसका और कोई प्रकार नहीं है। इसकी आकृति बहुत बड़ी है। यह सोये हुए लोगोंके निकट रहती है और जागे हुए लोगोंसे दूर भागती है। जिस समय मैं सुप्तावस्थामें रहता हूँ, उस समय यह जाग्रदवस्थामें रहती है तथा आत्म-सत्ताके साथ संयोग होनेपर ही यह गर्भ धारण करती है। फिर यह मूल माया अपने पेटमें प्रकृतिजन्य अष्ट विकारोंके गर्भकी वृद्धि करती है। इन प्रकृति और पुरुषके मिलनसे सर्वप्रथम बुद्धि-तत्त्वका जन्म होता है और फिर उससे मन उत्पन्न होता है। जिस समय इस मनकी यौवनावस्था आती है, उस समय यह अहंकार-तत्त्वकी रचना करता है और उससे महाभूतोंका जन्म होता है। स्वभावतः भूतोंका सम्बन्ध विषयों और इन्द्रियोंके साथ लगा रहता है और इसीलिये इनके साथ ही विषयों और इन्द्रियोंका भी जन्म होता है। जब इस प्रकार विकारोंकी वृद्धि होती है, तब त्रिगुण उनकी पीठपर सवार हो जाते हैं और उनके साथ-ही-साथ वासना भी उत्पन्न हो जाती है। जैसे जलका संयोग होते ही बीज-कण वृक्ष उत्पन्न करनेका उपक्रम करने लगता है, वैसे ही अविद्या (मूल माया) मेरे संगसे अनेक नाम-रूपात्मक जगत्‌के अंकुर उत्पन्न करने लगती है। अब हे सुजनशिरोमणि! तुम यह सुनो कि उस गर्भको रूप किस प्रकार प्राप्त होता है। उसमें अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज तथा जरायुज—ये चार विभाग उत्पन्न होते हैं। अण्डज नामका विभाग आकाश और वायुके संयोगसे उत्पन्न होता है। स्वेदज नामका विभाग उस समय उत्पन्न होता है, जिस समय उदरमें तम और रज नामक गुणोंसे युक्त होकर तेजके साथ जल-तत्त्वकी प्रबलता होती है। जल और पृथ्वी नामक तत्त्वोंकी प्रबलता होनेपर जब उसमें केवल तमोगुण रहता है, तब उद्भिज्ज नामक

विभाग उत्पन्न होता है। जब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ परस्पर सहायक होने लगती हैं और मन तथा बुद्धि इत्यादिसे युक्त हो जाती हैं, तब जरायुज नामक विभाग उत्पन्न होता है। इस प्रकार मूल मायाके घर एक ऐसा अद्‌भुत पुत्ररत्न जन्म धारण करता है जिसके ये चारों विभाग हाथ और चरण हैं और मूलकी अष्टधा प्रकृति जिसका मस्तक है, प्रवृत्ति जिसका बढ़ा हुआ पेट है, निवृत्ति जिसकी सीधी पीठ है, आठ प्रकारकी देव-योनियाँ जिसके शरीरके ऊपरी भाग हैं, स्वर्ग जिसका कण्ठ है, मृत्युलोक जिसका कटि-प्रान्त है और पाताललोक जिसका नितम्ब है। त्रिभुवनका विस्तार इस बालककी बढ़ती हुई बाल्यावस्था है। चौरासी लाख योनियाँ इस बालककी हड्डियों और पसलियोंकी संधियाँ हैं। इस प्रकार यह बालक उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होने लगा। यह माया उस बालकके अंगोंपर भाँति-भाँतिके नाम और रूपोंके अलंकार पहनाकर उसे नित्य नूतन अज्ञान-दुग्धका पान कराने लगी। उसके हाथोंमें उसने भिन्न-भिन्न सृष्टिरूपी अँगूठियाँ पहनायीं। उनमेंसे प्रत्येक अँगूठीकी चमक कुछ निराली ही है। इस प्रकार अपने इस एकमात्र चराचरस्वरूप और अप्रतिम सुन्दर बालकका प्रसव करके वह प्रकृति अपने-आपको कृतकृत्य मानने लगी। ब्रह्मदेव इस बालकके प्रातःकाल हैं, विष्णु मध्याह्नकाल हैं और शंकर सन्ध्याकाल हैं। जब यह खेल खेलकर श्रान्त हो जाता है, तब महाप्रलयरूपी शय्यापर विश्रान्ति हेतु सो जाता है और फिर जब नये कल्पका उदय होता है, तब अज्ञानके मोहसे जाग उठता है। इस प्रकार हे अर्जुन! यह बालक अज्ञानके घरमें कौतुक करता हुआ युग-परम्पराके डग भरने लगता है। इसके प्रिय संकल्प और विकल्प हैं तथा अहंकार इसका सेवक है। केवल सत्य ज्ञानसे ही इसका अन्त होता है। अब रहने दो, इस विषयकी चर्चा बहुत हो चुकी। इस प्रकार मायाने इस विश्वकी रचना की है और इस काममें मेरी सत्ताका उसने भरपूर उपयोग किया है। (९७—११५)

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

अतएव हे पाण्डुसुत! मैं तो पिता हूँ और महद्ब्रह्म (मूल माया) माता है और यह भासमान जगत् हमलोगोंका अपत्य यानी पुत्र है। परन्तु तुम इस जगत्में नाना प्रकारके शरीर देखकर अपने चित्तमें भेद-भावको स्थान मत दो, क्योंकि मन और बुद्धि इत्यादि सब एकरूप ही हैं। क्या एक ही देहमें अलग-अलग अवयव नहीं हुआ करते? इसी प्रकार अनेक रूपोंमें भासमान होनेवाला यह विश्व मूलतः एक ही है। जैसे एक ही बीजसे वृक्षकी छोटी-बड़ी अनेक टहनियाँ उत्पन्न होती हैं अथवा इस प्रकारके सम्बन्धके कारण मिट्टीसे घर नामक बालक उत्पन्न होता है अथवा कपासके सूतके उदरसे वस्त्र नामक पोता (नाती) जन्म लेता है अथवा जिस सम्बन्धके द्वारा सागरको लहरोंके रूपमें संतति उत्पन्न होती है, इस चराचर जगत्के साथ मेरा भी उसी प्रकारका सम्बन्ध है। इसीलिये जैसे अग्नि और ज्योति—ये दोनों केवल अग्नि ही हैं, वैसे ही यह समस्त विश्व मैं ही हूँ; सब सम्बन्ध मिथ्या है। यदि यह कहा जाय कि जगत्की उत्पत्ति होते ही मेरा स्वरूप मिट जाता है, तो फिर जगत्को कौन प्रकाशित करता है? प्रकाशित होनेके कारण क्या स्वयं माणिक्यका लोप हो जाता है? स्वर्णका अलंकार बनता है तो क्या उसका स्वर्णत्व विनष्ट हो जाता है? अथवा कमल विकसित होता है तो क्या उसका कमलत्व समाप्त हो जाता है? हे धनंजय! क्या अवयवीको अवयवोंका आच्छादन प्राप्त हुआ है? वह तो उसका रूप ही है। भला तुम्हीं बतलाओ, ज्वारके बीजके अंकुरित होनेपर उसमें जो बाल आती है, उससे उस बीजकी कमी पायी जाती है अथवा वृद्धि पायी जाती है? अतः मैं ऐसा नहीं हूँ कि जगत्को पृथक् करनेसे दिखलायी पड़ूँ, क्योंकि मैं ही सारा जगत् हूँ। हे धनुर्धर! यह सच्चा और निर्दोष ज्ञान तुम अपने मनमें अच्छी तरह बैठा लो। मैं अपने-आपको ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें प्रकट करता हूँ; इसका प्रमुख कारण

मेरा उत्पन्न किया हुआ त्रिगुणोंका बन्धन ही है। हे कपिध्वज! जैसे हम स्वप्नोंमें अपनी ही मृत्युका दुःख भोगते हैं अथवा जैसे पीलिया रोगसे ग्रसित व्यक्तिकी पीली तो आँखें होती हैं, पर उसे जगत्‌की सारी वस्तुएँ पीली दिखायी देने लगती हैं अथवा सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर मेघ दिखायी देते हैं और जब मेघोंसे सूर्य आच्छादित हो जाता है, तब भी वे मेघ सूर्यके प्रकाशसे ही दिखायी देते हैं अथवा स्वयं हमसे जो छाया उत्पन्न होती है, उसीको देखकर हम भयभीत हो जाते हैं, परन्तु वास्तवमें वह छाया हमसे भिन्न नहीं होती, वैसे ही मैं ही नाना प्रकारके शरीर दिखलाकर भेद-भावको प्राप्त होता हूँ। इसमें भी एक बन्धन ही कारण होता है, वह भी ध्यानपूर्वक सुनो। मैं बद्ध हूँ अथवा मुक्त हूँ, इस प्रश्नका जन्म एकमात्र हमारे आत्मस्वरूपके अज्ञानके कारण ही होता है। इसलिये हे अर्जुन! अब तुम यह भी सुन लो कि किन गुणोंके कारण मैं अपने-आपको बद्धके समान दृष्टिगत होता हूँ। गुण कितने हैं, उनके धर्म कौन-कौन-से हैं, उनके लक्षण तथा नाम क्या हैं और उनकी उत्पत्ति कहाँसे होती है, इन सारी बातोंको अब तुम मन लगाकर सुनो। (११६—१३७)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

सत्त्व, रज और तम नामके ये तीन गुण हैं। इनकी जन्मभूमि प्रकृति है, इनमेंसे सत्त्वगुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम है और तमोगुण अधम है। ये त्रिगुण एक ही मनोवृत्तिमें भी हो सकते हैं। जैसे एक ही देहमें बाल्यावस्था इत्यादि तीनों ही अवस्थाएँ दृष्टिगत होती हैं अथवा शुद्ध स्वर्णमें ज्यों ज्यों राँगा इत्यादि अधिक-से-अधिक मिलाया जाता है, त्यों-त्यों कसौटीपर कसनेसे उसका कस हलका पड़ता जाता है और पन्द्रह कसका स्वर्ण अन्ततः पाँच ही कसका बन जाता है अथवा जब सावधानता आलस्यमें डूब जाती है, तब निद्रा आकर अपना वर्चस्व स्थापित कर लेती है, वैसे ही जो वृत्ति अज्ञानको स्वीकार करके विस्मृत होती है,

वह सत्त्व और रजसे अंकित होकर अन्ततः तमोगुणसे भी पूर्ण हो जाती है। हे अर्जुन! इनका नाम तो गुण है ही, पर ये गुण बन्धक किस प्रकार होते हैं, यह भी सुन लो। जब आत्मा जरा-सा भी क्षेत्रज्ञवाली दशा (जीवात्मस्वरूप)-में देहमें प्रवेश करती है, तब वह आजन्म यही कहती फिरती है कि यह देह ही मैं हूँ। मत्स्यके मुखमें ज्यों ही आमिष (मांस) पड़ता है, त्यों ही धीवर उसे अपनी ओर खींच लेता है। ज्यों ही इस प्रकारका जरा-सा भी अभिमान होता है, (१३८—१४७)

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

—त्यों ही सत्त्वरूपी शिकारी सुख और ज्ञानका पाश खींचने लगता है और जीवात्मा उस पाशमें मृगकी तरह फँसकर छटपटाने लगता है। वह ज्ञानके अभिमानसे बड़बड़ाता है, ज्ञातृत्वके कारण तड़फता है और हाथ-लगा आत्मसुख गँवा बैठती है। उस अवस्थामें यदि कोई उसकी विद्वत्ताका सम्मान करता है तो उसको बहुत तृप्ति मिलती है; यदि उसे जरा-सा भी सुखकी उपलब्धि होती है तो बहुत आनन्द होता है और तब उसे इस बातका अभिमान होने लगता है कि मैं वास्तवमें सुखी हूँ। उस समय वह जीवात्मा यह कहता फिरता है कि क्या सचमुच यह मेरा सौभाग्य नहीं है? भला मेरे-जैसा दूसरा कौन सुखी है? इस तरहकी बातें कहते-कहते ही उसमें आठों सात्त्विक भावोंका वेगपूर्वक संचार होने लगता है; परन्तु यह क्रम यहीं नहीं रुकता; इसमें एक और अड़चन आ खड़ी होती है। वह यह कि विद्वत्ता भूत बनकर उसके सिरपर सवार हो जाती है। उसे इस बातका दुःख नहीं होता कि मैं मूलतः ज्ञानस्वरूप था और मैंने वह अपना मूलस्वरूप खो दिया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि वह स्वयं अपने ज्ञानसे फूलकर आकाशकी तरह हो जाता है। जैसे कोई राजा स्वप्नावस्थामें भिक्षुक बन जाता है और उस अवस्थामें

स्वयं अपनी ही नगरीमें प्रवेश करके भिक्षा मिलनेपर अपनेको इन्द्रके समान सौभाग्यशाली मानने लगता है, वैसे ही हे पाण्डुसुत! निराकार केवलात्मा जब देहवान् जीवात्माका रूप धारण कर लेता है, तब वह भी बाह्य ज्ञानसे भ्रमिष्ट हो जाता है। वह व्यवहार-कलामें निपुण हो जाता है, याज्ञिकी विद्यामें पारंगत हो जाता है, केवल यही नहीं, अपितु अपने ज्ञानके गर्वके कारण उसे स्वर्ग भी तुच्छ जान पड़ने लगता है। फिर वह अपने ज्ञानकी डींग मारने लगता है और कहता है कि मेरे अलावा दूसरा कोई ज्ञानी नहीं है। मेरे चित्तमें चातुर्य ठीक उसी प्रकार विलास करता है जिस प्रकार आकाशमें चन्द्रमा विलास करता है। इस प्रकार सत्त्वगुण जीवात्माको सुख और ज्ञानकी रस्सीमें कसकर बाँध लेता है और उसकी दशा अपाहिजके बैलकी भाँति कर देता है। अब तुम यह सुनो कि वही शरीरधारी जीवात्मा रजोगुणसे किस प्रकार बाँधा जाता है। (१४८—१५९)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

जीवात्माका रंजन करनेके कारण इसे रज कहते हैं। यह सदा विषय-वासनाओंसे लिप्त रहता है। जब यह रज थोड़ा-सा भी जीवात्मामें अपनी पैठ बना लेता है, तब वह विषय-भोगकी इच्छाके मार्गपर चल पड़ता है तथा वासनाकी वायुपर सवार हो जाता है। जैसे घृतसे सिंचित और अंगारोंसे परिपूर्ण हवनकुण्ड सदा थोड़ा-बहुत सुलगता ही रहता है, वैसे ही विषयोंके प्रति होनेवाला अनुराग भी निरन्तर बना रहता और बढ़ता चलता है, दु:खसे भरा हुआ विषय भी मधुर जान पड़ता है और यदि स्वयं इन्द्रका भी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाय तो भी वह अत्यल्प ही जान पड़ता है। जिस समय यह तृष्णा बलवती हो जाती है, उस समय यदि मेरुगिरि भी हाथ आ जाय तो विषयोंकी प्राप्तिके लिये जीव उससे भी कहीं अधिक भयंकर साहसका कृत्य करनेको तत्पर हो जाता है। ऐसे कार्योंके लिये वह अपने प्राण निछावर करनेके लिये भी उद्यत हो जाता

है और यदि उस प्रयत्नमें एक तिनका भी उसके हाथ लग जाता है तो वह अपना जीवन धन्य मानने लगता है। (वह सोचता है कि वर्तमानमें मेरे पास जो कुछ है, वह सब यदि मैं आज ही उड़ा दूँ तो भी कोई बात नहीं है, पर कल क्या करूँगा? और इस प्रकारकी आशा मनमें पालकर वह अपने व्यवहारका विस्तार करता है। वह स्वर्ग जाना तो उचित समझता है, परन्तु वह सोचता है कि वहाँ जानेपर खाऊँगा क्या? इसी चिन्ताके कारण वह यज्ञकर्मोंके चक्करमें पड़ता है। अब वह व्रतों और अनुष्ठानोंका क्रम प्रारम्भ करता है, कुएँ, तालाबों आदिका निर्माण करवाता है तथा इष्टपूर्तिके कृत्य करता है। पर चित्तमें कामिक वासना रखे बिना वह कभी कोई कार्य सम्पन्न नहीं करता।) ग्रीष्म-ऋतुकी वायुकी भाँति वह जीव कभी विश्राम करना नहीं जानता और अहर्निश व्यवहारकी धुनमें लगा रहता है। दिन-रात वासनाओंके चक्करमें पड़ा हुआ वह जीव इतनी तीव्रतासे अपने उद्देश्यकी सिद्धिमें लगता है कि उसके सामने मछलीकी चंचलता भी अथवा स्त्रीके नेत्र-कटाक्षकी चंचलता भी कोई चीज नहीं है। इस प्रकारकी विलक्षण धाँधली और वेगसे लौकिक और पारलौकिक विषयोंका लोभी वह जीव क्रिया-कर्मोंकी आगमें कूद पड़ता है। इस प्रकार वह शरीरधारी जीवात्मा वास्तविक शरीरसे भिन्न होनेपर भी स्वयं ही वासनाओंकी शृंखलाएँ अपने गलेमें डाल लेता है। इस प्रकार रजोगुणका भयंकर बन्धन इस देहमें रहनेवाले जीवात्माको कसकर बाँध लेता है। अब मैं तुमको तमोगुणकी बन्धक-शक्तिके बारेमें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (१६०—१७३)

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

व्यवहार-ज्ञानकी दृष्टि भी जिस परदेके कारण मन्द हो जाती है, जो मोहरूपी अँधेरी रात्रिके घर काले मेघोंकी भाँति है, जिसमें अज्ञानका ही जीवन सदा लगा रहता है, जिसके भुलावेमें पड़कर यह विश्व मदान्ध

होकर नृत्य करता रहता है, जो अविवेकका महामन्त्र है, जो मूर्खतारूपी मद्यपात्र है, यहाँतक कि जो जीवोंके लिये एकमात्र मोहनास्त्र हो गया है, हे पार्थ, वही तम है। वह अपनी युक्तिसे देहको ही आत्मा माननेवालोंको चारों ओरसे कसकर बाँध लेता है। जब वह चराचरमें एक बार बढ़ने लगता है, तब वहाँ किसी अन्य गुणका कुछ भी वश नहीं चलता। इसके कारण समस्त इन्द्रियाँ जड़ताका शिकार हो जाती हैं, मूर्खता मनको दबोच लेती है और आलस्य अपना पाँव फैलाने लगता है। तब वह जीव अपने अंगोंको ऐंठने लगता है, काम-काजमें उसका मन नहीं लगता है और उसे सिर्फ जँभाइयों-पर-जँभाइयाँ आने लगती हैं। हे किरीटी! उस दशामें आँखें खुली रहनेपर भी उस जीवको कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता, यहाँतक कि बिना आवाज दिये ही वह आप-ही-आप 'हाँ' कहकर उठ खड़ा होता है। जैसे पत्थर एक बार जमीनपर गिरनेके उपरान्त कभी अपनी जगहसे टस-से-मस होना नहीं जानता, वैसे ही जब वह व्यक्ति एक बार पड़ जाता है, तब फिर वह करवट बदलना भी नहीं जानता। पृथ्वी चाहे रसातल चली जाय और चाहे आकाशतक पहुँच जाय, पर वह पाषाणवत् टस-से-मस नहीं होता। जब वह एक बार आलस्यमें पड़ जाता है, तब उसे उचित-अनुचितका खयाल ही नहीं रह जाता; वह एकमात्र जहाँ-का-तहाँ पड़ा रहना ही चाहता है। वह या तो हाथ उठाकर उसपर गाल रख लेता है अथवा घुटनोंमें ही अपना सिर छिपा लेता है। निद्राको तो वह बहुत बड़ी निधि समझता है और जब उसे एक बार नींद आ जाती है, तब वह उसे स्वर्ग सुखसे कम नहीं समझता। वह यही चाहता है कि मुझे ब्रह्माकी तरह उम्र मिल जाय और मैं पूरी उम्र सोता रहूँ। यदि वह रास्ता चलते समय बीचमें कहीं विश्रामहेतु बैठ जाता है, तो वहीं बैठे-बैठे ऊँघने लगता है। जब वह निद्राधीन हो जाता है, तब उसे यदि कोई अमृत भी देने लगे तो उसे इतना होश भी नहीं होता कि वह उठकर अमृत ले सके। यदि कभी-कभार उसके जिम्मे कोई काम आ जाता है

तो वह क्रोधसे मानो अन्धा हो जाता है। उस समय उसकी समझमें कुछ भी नहीं आता कि कब किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, किसके साथ किस तरहकी बातें करनी चाहिये और कौन-सी बात साध्य है तथा कौन-सी असाध्य है। जैसे कोई पतिंगा केवल अपने पंखोंकी सहायतासे ही दावाग्निको शमन करनेका हौसला रखता है, वैसे ही यह साहसमें प्रवृत्त होता है और धृष्टतापूर्वक असम्भव कार्योंमें हाथ डाल बैठता है। किं बहुना उसे प्रमाद ही भाता है। इस प्रकार निद्रा, आलस्य और प्रमाद—इन तीन बन्धनोंसे तमोगुण उस आत्माको कसकर बाँध लेता है, जो मूलतः निरंजन और शुद्ध होती है। जब किसी काष्ठमें आग लग जाती है, तब वह आग उस काष्ठके आकारमें ही भासमान होती है और घटमें समाविष्ट आकाश घटके आकारका ही भासमान होता है तथा उसे लोग घटाकाशके नामसे पुकारते हैं अथवा जलसे भरे हुए सरोवरमें चन्द्रमाका बिम्ब पड़ा हुआ दिखायी देता है। ठीक इसी प्रकार इन गुणोंसे युक्त होनेपर आत्म-तत्त्व भी बद्ध-सा प्रतीत होता है। (१७४—१९५)

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

जब कफ और वातको निर्बल करके देहमें पित्त प्रबल होता है, तब देह संतप्त हो जाता है। जब वर्षा और ग्रीष्मकी सामर्थ्यको जीतकर शीतलता आती है तब वातावरणमें शीतका संचरण होता है। जब स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्थाका लोप हो जाता है और सिर्फ सुषुप्ति ही अवशिष्ट रह जाती है, तब चित्तवृत्ति क्षणभरके लिये सुषुप्तिमय ही हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब सत्त्वगुण प्रबल होता है, तब वह रज और तम—इन दोनोंको दबोच देता है और फिर जीव यह कहता फिरता है कि मैं कितना अधिक सुखी हूँ। इसी प्रकार जब तमोगुण सत्त्व और

रजको दबाकर प्रबल होता है, तब वह जीवको सहजमें ही प्रमादके वशमें कर देता है। इसी प्रकार जब रजोगुण सत्त्व और तमको दबाकर बढ़ जाता है, तब देहाधिपति जीवात्मा यह मानने लगता है कि कर्मसे बढ़कर और कोई चीज अच्छी नहीं है। इन त्रिगुणोंकी वृद्धिका निरूपण तीन श्लोकोंमें किया गया है। तो भी आप लोग सत्त्व इत्यादि तीनों गुणोंकी वृद्धिका लक्षण प्रेमपूर्वक सुनें। (१९६—२०२)

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

जब रज और तमपर विजय प्राप्तकर सत्त्व इस देहपर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लेता है, तब व्यक्तियोंमें अधोलिखित लक्षण दृष्टिगत होने लगते हैं। वसन्त-ऋतुमें कमलकी सुगन्ध स्वयं कमलमें ही न समाकर जैसे चतुर्दिक् फैलने लगती है, वैसे ही उस व्यक्तिका ज्ञान अन्तःकरणमें न समा सकनेके कारण बाहर निकलने लगता है। समग्र इन्द्रियोंमें विवेक-बुद्धि बसी रहती है और उसके कारण हाथों और पैरोंको एक अद्‌भुत दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि राजहंसके समक्ष यह प्रश्न खड़ा हो कि दूध कौन-सा है और जल कौन-सा है तो जैसे उसकी चोंच ही इस प्रश्नका समाधान कर सकती है, वैसे ही योग्य और अयोग्य, पाप तथा पुण्य इत्यादिको परखकर उनका निर्णय करनेका काम उसकी

इन्द्रियाँ स्वतः करने लगती हैं और नियम (इन्द्रिय-निग्रह) तो मानो उसका अनुचर ही हो जाता है। जो बात अश्रवणीय होती है, उसे उसकी श्रवणेन्द्रियाँ स्वतः टाल जाती हैं, जो चीज देखनेयोग्य नहीं होती, उसका बहिष्कार उसकी दृष्टि स्वयं ही कर देती है और जो बात अकथनीय होती, उसकी ओर उसकी जिह्वा कभी जाती ही नहीं। जैसे दीपककी ज्योतिके सामनेसे अन्धकार भाग खड़ा होता है, वैसे ही निषिद्ध कर्म भी उसकी इन्द्रियोंके सामनेसे भाग खड़े होते हैं। जैसे वर्षाकालमें महानदी बढ़ जाती है, वैसे ही उसकी बुद्धि भी समस्त शास्त्रोंमें पूर्णरूपसे संचार करती है। जैसे पूर्णिमाके दिन चन्द्रप्रभा खूब जोरोंसे आकाशमें फैलती है, वैसे ही उसकी वृत्ति भी ज्ञानके क्षेत्रमें स्वतन्त्रतापूर्वक चतुर्दिक् विचरण करती है। वासना-वृत्ति एक जगहमें ठहर जाती है, प्रवृत्तियाँ आगेकी ओर बढ़नेसे रुक जाती हैं और मन विषयोंकी ओरसे विरक्त हो जाता है। कहनेका आशय यह है कि जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तब व्यक्तिमें ही यही सब लक्षण स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होने लगते हैं और यदि इसी अवस्थामें उसका देहावसान हो जाय तो मानो वैसा ही आनन्दका योग उपस्थित होता है, जैसा सुकाल पड़नेपर और घरमें उत्तम पक्वान्न बननेपर और स्वर्गसे किसी प्रियजनके शुभागमनपर होता है। घरमें जैसी सम्पत्ति होती है, यदि आन्तरिक वृत्ति भी वैसी उदार और अधीर हो तो भला परलोक-साधनके साथ-ही-साथ इहलोक-साधन भी क्यों न हो? हे धनंजय! भला ऐसे व्यक्तिकी उपमा कहाँ प्राप्त हो सकती है? इसी प्रकार जो सत्त्वगुणसम्पन्न हो, उसकी इसके अतिरिक्त और कौन-सी गति हो सकती है? कारण यह है कि जीवात्मा जब चर्मोत्कर्षतक पहुँचा हुआ शुद्ध सत्त्व साथ लेकर यह भोग-साधक शरीररूपी घोंसला त्यागकर बाहर निकलता है और इस प्रकारकी सत्त्वसम्पन्न स्थितिमें अचानक इस शरीरसे छूटता है, तब वह एकमात्र सत्त्वकी ही मूर्ति होता है और आगे चलकर वह ज्ञानिजनोंमें जन्म धारण करता है। हे धनुर्धर! यदि

राजा अपना सारा ऐश्वर्य लेकर किसी पर्वतपर चला जाय तो तुम्हीं बतलाओ कि क्या वहाँ उसके महत्त्वमें कोई कमी आ सकती है? अथवा यदि एक गाँवका दीपक किसी अन्य गाँवमें पहुँचा दिया जाय तो भी क्या वह दीपक ही नहीं बना रहता? ठीक इसी प्रकार उस शुद्ध सत्त्वके कारण ज्ञानकी विलक्षण वृद्धि होती है और बुद्धि विवेकरूपी सागरमें तैरने लगती है। फिर महद् इत्यादि समस्त तत्त्वोंका यथा—सांग विचार करके अन्तमें जो जीव आत्मस्वरूपमें समाकर समरस हो जाता है और उस शुद्ध ब्रह्मको हस्तगत कर लेता है, जो छत्तीसों तत्त्वोंसे भी परेका सैंतीसवाँ तत्त्व है अथवा जो सांख्य मतानुसार चौबीसों तत्त्वोंसे परेका पचीसवाँ तत्त्व है, जो तीनों गुणों, तीनों देहों और तीनों अवस्थाओं इत्यादिसे परेका और चौथा है तथा जो शुद्ध सत्त्व है, वह उस सर्वोत्तम सत्त्वके बलपर इस प्रकारका देह प्राप्त करता है, जिसकी इस संसारमें कोई उपमा ही नहीं है। इसी प्रकार जब रजोगुण तम और सत्त्वको दबाकर प्रबल होता है, तब वह अपने क्रिया-कलापसे इस शरीररूपी गाँवमें उधम मचा देता है। अब यह भी सुन लो कि उस समय व्यक्तिमें कौन-कौनसे लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे तूफान बहुत-सी चीजोंको इकट्ठा करके आसमानमें उड़ा ले जाता है, वैसे ही जब रजोगुणका वेग चलता है, तब वह इन्द्रियोंको विषयोंका भोग करनेके लिये उन्मुक्त कर देता है। दूसरेकी स्त्रियोंपर कामवासनापूर्ण दृष्टि डालनेको वह नीति-विरुद्ध नहीं समझता और बकरीके मुखकी भाँति वह अपनी इन्द्रियोंको स्वच्छन्द विचरण करनेके लिये छोड़ देता है। उसकी विषयेच्छा इतनी प्रबल होती है कि उससे मात्र वही चीज बच सकती है, जो किसी तरह उसकी पकड़में नहीं आ सकती। हे धनंजय! उसकी प्रवृत्ति सदा उलटे-सीधे कार्योंकी ही ओर लगी रहती है। कभी-कभी भवन अथवा मन्दिर बनवाने या अश्वमेध करनेकी भी धुन उसपर सवार हो जाती है। वह यदा-कदा यह भी सोचता है कि कोई नगर बसाना चाहिये, जलाशय आदि बनवाने चाहिये अथवा नाना

प्रकारके बाग-बगीचे भी लगवाने चाहिये। वह इस प्रकारके बड़े बड़े कार्योंका आरम्भ करता है, किन्तु उसकी इहलोक और परलोक—इन दोनों लोकोंके सुखोंकी अभिलाषा कभी पूरी नहीं होती। उसके अन्तरंगमें सुखकी ऐसी अपार और तीव्र लालसा सदा भरी रहती है, जिसके समक्ष महासागरका असीम विस्तार और गहराई कोई चीज नहीं होती और जिसके आगे अग्निकी दाहकता भी कोई मूल्य नहीं रखती। भोगेच्छा आशापाशमें आबद्ध होकर उसके मनके आगे-आगे निरन्तर दौड़ती रहती है तथा वह भोगेच्छा भटकती हुई बड़े शौकसे पूरे संसारको अपने पैरोंतले रौंद डालती है। जब इस प्रकार व्यक्तिमें रजोगुणका विस्तार होता है, तब उपर्युक्त समस्त लक्षण व्यक्तिमें प्रकट हो जाते हैं और इस प्रकारकी गड़बड़ी होनेपर जब शरीरान्त होता है, तब वह इन सब गड़बड़ियोंको अपने साथ लेकर ही दूसरे देहमें घुसता है, पर उसे मानवकी ही योनि मिलती है। यदि कोई भिक्षुक नाना प्रकारके सुखोंसे युक्त होकर किसी राजभवनमें जा बैठे, तो भी क्या वह कभी राजा हो सकता है? कोई बैल चाहे किसी धनवान् व्यक्तिकी बारातमें ही क्यों न आया हो किन्तु उसे खानेके लिये घास ही मिलेगी। इसीलिये वह सिर्फ ऐसे ही लोगोंकी पंक्तिमें बैठाया जाता है, जिनकी सांसारिकता अहर्निश चलती रहती है और जिन्हें पलभर भी चैन नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि जिस व्यक्तिका देहावसान रजोगुणकी वृत्तियोंमें निमग्न रहनेकी अवस्थामें होता है, उसका जन्म फिर भी कर्मठोंमें ही होता है। इसी प्रकार रज और सत्त्वगुणको दबा करके तमोगुण प्रबल होता है। उस अवस्थामें देहके बाह्याभ्यन्तर जो लक्षण दृष्टिगत होते हैं, वह भी सुन लो। इस तमोगुणके कारण मन अमावस्याकी रात्रिके उस आकाशकी भाँति हो जाता है, जिसमें सूर्य और चन्द्रमाका कहीं पता ही नहीं चलता और उसीकी भाँति उसका अन्तःकरण शून्य, निश्चेतन तथा उदासीन रहता है। उस स्थितिमें उसके मनमें विचार-शक्ति ही नहीं रह जाती। उसकी बुद्धिकी मृदुता इतनी अधिक नष्ट हो जाती है कि परुषतामें पाषाण भी उसकी

बराबरी नहीं कर सकता। उसकी स्मृति क्षीण हो जाती है। उसके पूरे शरीरमें अविचारका ही बोलबाला रहता है। उसका सारा लेन-देन मूर्खतापर ही टिका रहता है। अनाचार मूर्तिमान् होकर सदा उसकी इन्द्रियोंके सामने खड़ा रहता है। उसे चाहे मृत्यु-तुल्य यन्त्रणा ही क्यों न प्राप्त हो, पर फिर भी वह अपनी अनाचारपूर्ण क्रियाएँ सतत जारी रखता है। जिस प्रकार उलूकको केवल अँधेरेमें ही दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार उस तामस वृत्तिवाले जीवको सदा दुष्कर्ममें ही आनन्द मिलता है। इसी प्रकार निषिद्ध कार्य करनेकी प्रबल इच्छा उसके चित्तमें उत्पन्न होती है और उस इच्छाके साथ-ही-साथ उसकी इन्द्रियाँ भी वह काम करनेकी ओर दौड़ पड़ती हैं। इस प्रकारका जीव बिना मदिरा पान किये हुए भी मदिरा पीनेवालोंकी ही भाँति लुढ़कता रहता है, सन्निपात न रहनेपर भी बड़बड़ाता रहता है और प्रेमाभावमें भी पागलों-सा मोहपाशमें जकड़ा रहता है। यह ठीक है कि उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता, पर साथ ही वह उन्मनी अवस्थामें भी नहीं रहता। वह सदा मोहाक्रान्त रहता है। कहनेका भाव यह है कि जिस समय तमोगुण सपरिकर प्रबल रहता है, उस समय वह इन सब चिह्नोंको उग्ररूपसे उत्पन्न करता है और यदि उसी अवस्थामें उस जीवका देहावसान हो जाय तो वह इस तमोगुणकी गठरीको लिये हुए ही इस देहसे प्रयाण करता है। राई अपना राईपन तथा स्वरूप अपने बीजमें रखकर स्वयं सूख और मर जाती है। पर फिर जब वह बीज अंकुरित होता है, तब क्या उसमेंसे राईके अलावा और भी कुछ उत्पन्न हो सकता है? जिस अग्निसे दीपककी ज्योति जलती है, वह मूल अग्नि यदि बुझ भी जाय तो क्या हो सकता है? जिस समयतक उसकी जलायी हुई दीपककी ज्योति प्रज्वलित रहती है, उस समयतक उस मूल अग्निका सारा स्वरूप उस ज्योतिमें विद्यमान रहता है। इसी प्रकार जिस समय जीव अपने संकल्पोंको तमकी गठरीमें बाँधकर और वह गठरी लेकर इस देहसे निकलता है, उस समय वह फिर तामस देह ही धारण करता

है। किं बहुना जब कोई व्यक्ति तमोगुण बढ़े रहनेकी अवस्थामें देहका त्याग करता है, तब वह पशु-पक्षी अथवा कीड़े-मकोड़े या वृक्षोंकी योनिमें जाता है। (२०४—२५९)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

इसीलिये श्रुतिका वचन है कि पुण्यकर्म वह कर्म है जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होता है और यही कारण है कि उस निर्मल सत्त्वसे सुख और ज्ञानका जो अपूर्व फल सहजमें उपलब्ध होता है, उसे सात्त्विक फलसे सम्बोधित करते हैं। रजोगुणकी क्रियाएँ इन्द्रायण (कड़वा) फलकी भाँति ऊपरसे देखनेमें तो सुन्दर सुखोंसे युक्त होती हैं, किन्तु अन्ततः कटु दुःखोंसे युक्त सिद्ध होती हैं अथवा नीमका फल जैसे ऊपरसे देखनेमें तो बहुत सुन्दर रहता है, परन्तु अन्दरसे कड़वा होता है, वैसे ही राजस क्रियाओंके फल भी ऊपरसे देखनेमें अच्छे लगते हैं, परन्तु अन्दरसे बहुत ही बुरे होते हैं। जैसे विषांकुरके फल भी विषयुक्त ही होते हैं, वैसे ही तामस कर्मोंका फल भी अज्ञान ही होता है। (२६०—२६४)

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

अतएव हे अर्जुन! जैसे सूर्य दिनमानका कारण होता है, वैसे ही सत्त्वगुण ज्ञानका कारण है। इसी प्रकार जैसे द्वैतकी उत्पत्ति आत्मस्वरूपकी विस्मृतिसे होती है, वैसे ही लोभकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है। हे सुविज्ञ! मोह, अज्ञान और प्रमाद इत्यादि जो बहुत-से दोष इकट्ठे दिखायी देते हैं, उन सबका कारण सदा तमोगुण ही होता है। इन तीनों गुणोंके लक्षण मैंने पृथक्-पृथक् इस तरह तुम्हें बतला दिये हैं कि वे भी तुम्हें हस्तामलक न्यायसे हाथपर रखे हुए आँवलेकी भाँति ही साफ-साफ दिखायी दें। रज और तमका नाश केवल सत्त्व ही कर सकता है। सत्त्वके अलावा अन्य कोई गुण जीवात्माको ज्ञानकी ओर नहीं ले जा सकता। इसीलिये जैसे

कुछ लोग अपना सर्वस्व छोड़ करके चौथी भक्ति (संन्यास-भक्ति)-को स्वीकार करते हैं, वैसे ही बहुतेरे लोग आजन्म सात्त्विक वृत्तिके व्रतका ही आचरण करते हैं। (२६५—२७०)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

इसी प्रकार जो लोग अपने सारे व्यवहार सात्त्विक वृत्तिसे ही करते हैं, वे शरीरान्त होनेपर स्वर्गाधिपति होते हैं। जिनके जीवन और मरण रजोगुणमें ही होते हैं, वे देहपात होनेपर इसी मृत्युलोकमें मानव-शरीर धारण करते हैं। वे लोग इस लोकमें एक ही थालीमेंसे सुख-दुःखकी खिचड़ी खाते हैं और उनके मार्गमें अवरोध उत्पन्न करनेवाली मृत्यु कभी उनका पीछा नहीं छोड़ती। जो लोग तमोगुणमें ही बड़े होते हैं और उसी अवस्थामें जिनके इस भोग-क्षेम (भोगायतन) देहका अन्त होता है, वे तामस स्थितिको प्राप्त होते हैं और उन्हें मानो सदा नरकभूमिमें रहनेका पट्टा ही मिला रहता है। हे पाण्डुसुत! इस प्रकार ब्रह्मकी सत्तासे उत्पन्न होने तथा बढ़नेवाले इन त्रिगुणोंके बारेमें मैंने तुमको बतला दी है। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो ब्रह्मके स्वरूपमें कभी कोई भेद होता ही नहीं; पर वह ब्रह्म ही भिन्न-भिन्न अवसरोंपर इन गुणोंके लक्षणानुसार क्रिया करता है। जब कभी कोई व्यक्ति स्वप्नमें राजा होता है और तब यह देखता कि मुझपर किसी अन्य राजाने आक्रमण किया है और स्वप्नमें ही वह विजयी अथवा पराजित होता है, तब स्वयं वह व्यक्ति ही उस राज्य तथा जय या पराजयका भोग करता है। इसी प्रकार इन गुणोंके उत्तम, मध्यम और अधम—जो ये तीन वृत्ति भेद हैं, वे सिर्फ दिखावटी हैं, वास्तविकता यह है कि वह ब्रह्म इन भेद दृष्टियोंसे एकदम अलग-थलग, स्थिर और शुद्ध ही है। (२७१—२७८)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

पर अब इस विस्तारका यहीं अवसान हो जाना चाहिये। बात सिर्फ

यह है कि उस एक ब्रह्मके सिवा तुम अन्य किसी चीजको मत मानो। अब मैं पहले बतलायी हुई बात ही तुम्हें फिरसे बतलाता हूँ; सुनो। तुम यह अच्छी तरहसे जान लो कि ये तीनों गुण इस देहको निमित्त बनाकर ही अपनी अपनी शक्ति प्रकट करते हैं। अग्नि जिस प्रकार वही रूप धारण करती है, जो रूप ईंधनका होता है अथवा पृथ्वीके गर्भमें विद्यमान रस जिस प्रकार वृक्षके रूपमें दृष्टिगत होता है, दूध जिस प्रकार दहीके रूपमें रूपान्तरित होता है अथवा मिठास जिस प्रकार इक्षुको निमित्त बनाकर उसके रूपमें प्रकट होती है, उसी प्रकार ये त्रिगुण भी अन्तःकरण- सहित इस देहका रूप धारण करते हैं और इसीलिये ये बन्धनके कारण बनते हैं। हे धनुर्धर! इसमें एक अद्‌भुत बात यह है कि इन त्रिगुणोंका देहके साथ जो घनिष्ठता होती है, उसके कारण जीवात्माकी सहज स्वतन्त्रतामें रत्तीभर भी कमी नहीं होती। ये त्रिगुण अपने-अपने धर्मानुसार देहके संचित और क्रियमाण कर्मोंको करते रहते हैं, पर फिर भी उनके कारण निर्गुण आत्म-तत्त्वमें कभी कोई कमी नहीं आने पाती। अब तुम यह बात अच्छी तरहसे समझ लो कि इन गुणोंके रहनेपर भी जीवात्माको सहजमें मुक्ति मिल सकती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि तुम ज्ञानरूपी कमलमें रमण करनेवाले रसिक भ्रमर हो। मैंने तुम्हें पहले (अध्याय तेरहमें) यह रहस्य बतलाया है कि गुणोंके मध्यमें विद्यमान चैतन्य तत्त्व कभी गुणोंके सदृश नहीं होता। बस, ठीक यही बात यहाँ भी है। अतएव हे धनुर्धर! जिस समय जीवको आत्मतत्त्वका बोध होता है, उस समय वह यह बात समझने लगता है। जैसे जागनेपर स्वप्नका मिथ्यात्व प्रतीत होता है अथवा जिस समय हम किसी जलाशयके तटपर बैठे रहते हैं, उस समय इस बातका ज्ञान होता है कि जलकी तरंगोंमें जो कुछ कंपन दृष्टिगोचर होता है वह हमारा देह नहीं है, अपितु उसका प्रतिबिम्ब है अथवा अभिनयकी कलामें कुशल होनेपर भी जैसे स्वयं नट कभी अपने सम्बन्धमें धोखा नहीं खाता और यह नहीं समझता कि मैं वही व्यक्ति हूँ, जिसका मैं

इस समय अभिनय कर रहा हूँ, वैसे ही जीवात्माको भी उचित है कि वह स्वयंको इन त्रिगुणोंसे पृथक् रहकर देखे। जिस प्रकार आकाश भिन्न-भिन्न तीनों ऋतुओंको धारण करता है, परन्तु फिर भी वह अपने स्वरूपमें किसी तरहकी भिन्नता नहीं आने देता, उसी प्रकार जो इन त्रिगुणोंमें रहकर भी उनसे परे रहता है, वह स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्वका सदा '**अहं ब्रह्मास्मि**' के मूल पीठपर सवार रहता है और वहींसे देखता हुआ वह कहता है कि मैं केवल साक्षी हूँ और मैं कुछ भी नहीं करता। ये गुण ही इन कर्मोंके व्यूहकी रचना करते हैं। कर्मकी व्यापकताका विस्तार सत्त्व, रज, तमके भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे होता रहता है और यह कर्मकाण्ड मानो इन गुणोंका ही विकार है। इन गुणों तथा कर्मोंके मिश्रणमें मैं ठीक वैसे ही हूँ, जैसे वनमें दृष्टिगोचर होनेवाली वनकी शोभाका मूल कारण वसन्त होता है अथवा जैसे नक्षत्र पहले तो फीके पड़ते हुए दृष्टिगत होते हैं और तब अदृश्य हो जाते हैं; जैसे सूर्यकान्तमणि प्रकाशित होती है अथवा कमल प्रस्फुटित होते हैं, अन्धकार विनष्ट होता है अथवा सूर्यके उदित होनेपर उसके साथ होनेवाले इसी प्रकारके अन्य कार्य होते हैं। जैसे सूर्योदयके साथ होनेवाले ये समस्त कार्य कभी सूर्यके अंग नहीं होते, वैसे ही मैं भी अपनी सामर्थ्यसे सब प्रकारके कर्मोंका हेतु होनेपर भी सदा अकर्ता रहता हूँ और मुझमें इन कर्मोंका लेप नहीं होता। मैं ही गुणोंको प्रकट करता हूँ और मैं ही उनमें सामर्थ्य भी उत्पन्न करता हूँ; पर इन गुणोंके निःशेष होनेपर जो निर्गुण और शाश्वत तत्त्व शेष रह जाता है, वह मैं ही हूँ। हे धनंजय! जिस व्यक्तिमें इस प्रकारकी विवेक-बुद्धिका उदय होता है, वह परमगति प्राप्त करके गुणोंकी सीमाको लाँघ जाता है। (२७९—२९९)

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

इस प्रकारका व्यक्ति सब गुणोंसे परे उस स्वतन्त्र तत्त्वको पूरी तरहसे

जानता है और इसका कारण यह है कि उसपर ज्ञानकी छाप पूर्णतया पड़ी रहती है। हे पाण्डुसुत! जैसे कोई नदी समुद्रमें समाकर उसके साथ एकरस हो जाती है, वैसे ही इस प्रकारका ज्ञानी व्यक्ति मेरे साथ एकरस होकर सारूप्य प्राप्त करता है। नलिका-यन्त्रपरसे उड़कर तोता जैसे वृक्षकी शाखापर जा बैठता है, वैसे ही वह ज्ञानी जीव मायासे छुटकारा पाकर '**अहं ब्रह्मास्मि**' के मूल अहं तत्त्वपर स्थित हो जाता है। हे सुविज्ञ! इसका कारण यह है कि अबतक अज्ञानरूपी निद्रामें जो खर्राटे ले रहा था, वही अब आत्मस्वरूपका बोध प्राप्त करके जाग उठता है। हे वीरशिरोमणि! जिस समय बुद्धि-भेद उत्पन्न करनेवाला मोहरूपी दर्पण उसके हाथसे गिर पड़ता है, उस समय उसे प्रतिबिम्बाभास कभी हो ही नहीं सकता। जिस समय देहाभिमानरूपी वायुके वेग बन्द हो जाते हैं, उस समय तरंगों और सागरके सदृश जीव और शिव दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं। इसीलिये जैसे वर्षाकालके अन्तमें मेघ आकाशमें लीन हो जाते हैं, वैसे ही जीवात्मा भी ब्रह्मतत्त्वमें समाकर तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मभावकी उपलब्धि हो जानेपर यदि वह शरीरके समाप्त होनेपर्यन्त इसी शरीरमें रहता है, तो भी शरीरसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंकी बातोंके चक्करमें वह कभी नहीं पड़ता। जैसे काँच अथवा अबरकके आच्छादनसे दीपकका प्रकाश कभी अवरुद्ध नहीं किया जा सकता अथवा समुद्रके जलसे जैसे बड़वाग्नि कभी शान्त नहीं की जा सकती, वैसे ही गुणोंके संचारके कारण जीवका बोध कभी मलिन नहीं हो सकता। जैसे आकाशका चन्द्रमा जलमें प्रतिबिम्बित होनेपर भी जलसे सदा निर्लिप्त रहता है, वैसे ही चाहे वह शरीरमें निवास करता हुआ भले ही दृष्टिगोचर हो, पर फिर भी उसमें शरीरके धर्म नहीं लगते। तीनों गुण अपनी-अपनी सामर्थ्यसे शरीरके स्वाँग प्रस्तुत करके उसे नचाते रहते हैं, परन्तु ज्ञानवान् व्यक्ति उनकी तरफ दृष्टि डालनेके लिये कभी भूलकर भी अपना '**अहं ब्रह्मास्मि**' वाला भाव पलभरके लिये भी अपनेसे पृथक् नहीं करते। उसके अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपका निश्चय इतना प्रबल

होता है कि उन्हें कभी इस चीजका भान भी नहीं होता कि हम इस शरीरमें रहकर कुछ करते भी हैं अथवा नहीं। जब सर्प एक बार अपनी केंचुलीका परित्याग कर अपने बिलमें प्रवेश कर जाता है, तब फिर उस केंचुलीका वह भला कब ध्यान करता है? ठीक वही बात यहाँ भी लागू होती है अथवा जब कोई सुगन्धित कमल प्रस्फुटित होता है, तब उसकी पूरी सुगन्धि आकाशमें मिलकर लीन हो जाती है और वह फिर कभी उस कमलकोशमें वापस नहीं आती। इसी प्रकार जिस समय ब्रह्मका सारूप्य प्राप्त हो जाता है, उस समय इस बातका भान ही नहीं रह जाता कि यह देह क्या है और इसके धर्म क्या हैं। इसीलिये देहके जन्म-जरा इत्यादि जो षड्गुण हैं, वे देहमें ही विद्यमान रहते हैं और ज्ञानी जीवके साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता। जिस समय घट टूटकर छोटे-छोटे टुकड़ोंके रूपमें हो जाय, उस समय यही जान लेना चाहिये कि घटाकाश अपने-आप तत्क्षण महदाकाशमें मिलकर उसीका रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जब देहाभिमान नष्ट हो जाय और अपने आत्मस्वरूपका स्मरण हो जाय, तब भला उस आत्मस्वरूपके सिवा और क्या अवशिष्ट रह सकता है? इस अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मबोधसे युक्त होकर जो वह देहमें विद्यमान रहता है, इसीसे मैं उसे गुणातीत कहता हूँ। श्रीकृष्णके इन वचनोंको सुनकर अर्जुनको ठीक उसी प्रकार आनन्द हुआ, जिस प्रकार मेघोंका गर्जन सुनकर मयूरको होता है। (३००—३१९)

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

इस प्रकारका परम सन्तोष प्राप्त करके आनन्दविभोर अर्जुनने भगवान्‌से पूछा कि—"हे प्रभो! इस प्रकारका आत्मबोध-प्राप्त व्यक्तिमें कौन-से लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं? वह अपनी वृत्तिको किस प्रकार निर्गुण रखता है? गुणोंके बन्धनोंसे उसे छुटकारा किस प्रकार मिलता है? हे कृपानिधान! आप ये सब बातें मुझे बतला दें।" अर्जुनकी इन शंकाओंका निवारण करते

हुए षड्गुणोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—"हे पार्थ! तुम्हारी इन सब शंकाओंपर मुझे बहुत ही आश्चर्य हो रहा है, तुम गुणातीतके आचारके बारेमें पूछते हो। परन्तु जिसमें आचार हो तो क्या उसे गुणातीत कहना ही अनुचित नहीं है? जिसे गुणातीत कह सकते हों, वह गुणोंके क्षेत्रमें कभी जाता ही नहीं अथवा यदि वह कभी उसके क्षेत्रमें व्यवहार करता हुआ दिखायी पड़े तो भी वह कभी गुणोंके अधीन नहीं होता; परन्तु गुणोंकी हलचलके बीचमें रहते हुए वह किस प्रकार गुणोंके अधीन नहीं होता, यदि इस बातकी शंका तुम्हारे मनमें हो तो तुम प्रसन्नतापूर्वक पूछ सकते हो। अब तुम इसी शंकाका समाधान धैर्यपूर्वक सुनो। (३२०—३२६)

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

रजोगुणकी रंगत चढ़नेपर देहमें कर्मके अंकुर उत्पन्न होते हैं और जीव प्रवृत्तियोंसे घिर जाता है। उस दशामें जिस व्यक्तिको इस प्रकारका अभिमान छू भी नहीं जाता कि एकमात्र मैं ही कर्म करनेवाला हूँ अथवा कर्मोंके निष्फल होनेपर भी जिसे कोई क्लेश नहीं होता अथवा जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेके कारण समस्त इन्द्रियोंपर ज्ञान-तेजका प्रसार होता है, उस समय विद्याभिमान अथवा सन्तोषसे जो अति प्रसन्न नहीं हो जाता अथवा तमोगुण बढ़ जानेपर भी जो मोहग्रसित नहीं होता और मनमें अज्ञानका खेद नहीं करता, जो मोहके अवसरपर ज्ञानके लिये उत्कंठित नहीं होता तथा ज्ञानके अवसरपर कर्मोंका त्याग नहीं करता और अपने द्वारा कर्म हो जानेपर भी दुःखी नहीं होता, जो ठीक वैसे ही कोई भेद नहीं करता, जैसे सूर्य प्रातः, मध्याह्न, और सायं—इन तीनों कालोंका कोई भेद नहीं करता, उस व्यक्तिमें ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये भला किसी अन्यके ज्ञानरूपी प्रकाशकी क्या आवश्यकता है? समुद्रको भरनेके लिये क्या कभी वर्षा-ऋतुकी आवश्यकता हुआ करती है? अथवा यदि वह

कर्म करे तो भी क्या कभी कर्मठता उसके साथ संलग्न हो सकती है? हिमालय भी क्या कभी ठंडकसे काँपता है? अथवा मोहका अवसर मिलनेपर क्या कभी वह ज्ञानका त्याग कर सकता है? ग्रीष्म क्या कभी अग्निको भी जला सकता है? (३२७—३३५)

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

इसी प्रकार इन गुणोंका कार्य भी स्वत: ही होता है और वे आत्म सत्तात्मक हैं। यही कारण है कि वह उन गुणोंके विवेचनके चक्करमें नहीं पड़ता। उसे इस प्रकारका पूर्ण ज्ञान हो चुका रहता है, इसलिये वह इस देहका ठीक वैसे ही आश्रय लेता है, जैसे कोई बटोही रास्ता चलते समय रास्तेमें ही किसी स्थान-विशेषपर कुछ कालके लिये रुक जाता है। जैसे युद्धभूमि जय और पराजयमें शामिल नहीं होती, वैसे ही वह भी लाभ-हानिका हिस्सेदार नहीं होता और न तो वह गुणोंके साथ मिलता ही है और न कर्तृत्वको ही स्वीकार करता है। जैसे शरीरस्थ प्राण अथवा किसीके घरमें अतिथिके रूपमें रहनेवाला ब्राह्मण अथवा चौराहेपर स्थित खम्भा अपने अगल-बगलकी बातोंसे सदा उदासीन रहता है, वैसे ही वह ज्ञानी व्यक्ति भी अपने शरीरमें एकदम उदासीन भावसे रहता है। हे पाण्डव! जैसे मृगजलकी तरंगोंसे मेरुगिरि अस्थिर नहीं होता, वैसे ही गुणोंके मनमाने उपद्रवसे वह ज्ञानी व्यक्ति भी अस्थिर नहीं होता। बहुत कहाँतक कहें, पवनके वेगसे आकाश कभी उड़ाया नहीं जा सकता तथा अन्धकारसे सूर्यको कभी ढका नहीं जा सकता। जागते हुए व्यक्तिको स्वप्न कभी धोखा नहीं दे सकता। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्तिको गुण भी कभी बाँध नहीं सकते। वह कभी गुणोंके अधीन नहीं होता; परन्तु जब तटस्थ होकर दूरसे ही उनकी तरफ देखता है, तब उसके गुणोंका अवलोकन ठीक वैसे ही होता है, जैसे नाट्यशालाके दर्शक तटस्थ होकर पुत्तलिकाओंका नृत्य देखते हैं। शुद्ध कर्मोंमें सत्त्वगुण, विषय सम्बन्धी

कर्मोंमें रजोगुण तथा मोह आदिमें तमोगुण ही विहार करता है; पर यह रहस्य अच्छी तरहसे जान लो कि गुणोंका यह विहार एकमात्र आत्मतत्त्वकी सत्तासे ही होता है। उदाहरणस्वरूप सूर्य लोगोंके समस्त क्रिया-कलापोंका संचालन तो करता ही है, परन्तु उन सबको वह तटस्थ रहकर देखता भी है अथवा जब चन्द्रोदय होता है, तब समुद्रमें बाढ़ आती है, सोमकान्तमणि द्रवित होने लगती है और कमल खिलते हैं; परन्तु चन्द्रमा उन सबसे निर्लिप्त रहता है। वायु चाहे बहे अथवा शान्त रहे, किन्तु आकाशकी निश्चलता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। ठीक इसी प्रकार गुणोंके संसर्गके कारण ज्ञानी व्यक्ति कभी विचलित नहीं होता। हे अर्जुन! गुणातीतकी पहचान इन्हीं सब लक्षणोंसे करनी चाहिये। अब मैं तुमको उसके आचरणके सम्बन्धमें बतलाता हूँ, सुनो। (३३६—३४८)

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥

हे किरीटी! जैसे वस्त्रके अन्दर और बाहर सूतके अलावा और कुछ भी नहीं होता, ठीक वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति भी यह देखता है कि यह चराचर जगत् आत्मतत्त्वके सिवा और कुछ भी नहीं है। जैसे परमात्मा अपने शत्रुओंको भी तथा भक्तोंको भी एक ही प्रकारकी परमगति देता है, वैसे ही ज्ञानी भी सुख-दुःख दोनोंको एक समान समझता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो यदि जीव इस देहमें ठीक वैसे ही रहे, जैसे मछली जलमें रहती है, तो उसे सुख-दुःखका सहज ही अनुभव होना चाहिये। पर ज्ञानी व्यक्ति सुख दुःखका परित्याग कर चुका होता है और सदा आत्मस्वरूपमें निमग्न रहता है। जब खेतमें फसल तैयार हो जाती है, तब जैसे बालीमें दाने भरकर बाहर निकलने लगते हैं अथवा जिस समय गंगा नदी अपनी प्रवाहका परित्याग कर समुद्रमें समा जाती है, उस समय जैसे उसकी सारी चंचलता शान्त हो जाती है वैसे ही हे धनंजय! व्यक्ति जिस समय आत्मस्वरूपमें विचरण करने लगता है, उस समय उसे देहके

सुख-दुःखका भान ही नहीं होता और वे सब उसके लिये एक समान हो जाते हैं। आत्मस्वरूपमें निमग्न व्यक्तिके लिये देहके सुख-दुःख, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्व ठीक उसी प्रकार एक समान हो जाते हैं, जिस प्रकार किसी खम्भेके लिये रात-दिन दोनों एक समान होते हैं। गहरी नींदमें सोये हुए व्यक्तिके लिये सर्पका स्पर्श भी ठीक वैसा ही होता है, जैसा उर्वशी-सरीखी किसी अप्सराके अंगका स्पर्श। ठीक इसी प्रकार आत्म-स्वरूपमें निमग्न रहनेवाले व्यक्तिके लिये दुःख-सुखादि द्वन्द्व भी समान ही होते हैं। इसीलिये ऐसे व्यक्तिकी दृष्टिमें स्वर्ण और गोमय (गोबर) अथवा रत्न और पाषाणमें कोई भेद नहीं रह जाता। चाहे स्वर्ग-सुख स्वयं उसके घर आ पहुँचे और चाहे उसपर व्याघ्र आकर आक्रमण करे, पर उसकी ब्रह्मैक्यवाली स्थितिमें जरा-सा भी अन्तर नहीं पड़ता। जैसे मरा हुआ जीव कभी जीवित नहीं होता अथवा भुना हुआ बीज कभी अंकुरित नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही उसकी वृत्तिकी समता भी कभी भंग नहीं होती। चाहे कोई उसे 'ब्रह्मा' कहकर उसकी स्तुति करे और चाहे उसे नीच शब्दसे सम्बोधित कर उसकी निन्दा करे, पर वह राखके ढेरकी भाँति न तो कभी जलता ही है और न कभी बुझता ही है। जैसे सूर्यके घरमें न तो कभी अँधेरा ही रहता है और न कभी दीपक ही जलता है। ठीक वैसे ही ज्ञानी व्यक्तिके लिये न तो निन्दाका ही कुछ मतलब निकलता है और न स्तुतिका ही। (३४९—३६१)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

चाहे कोई उसकी पूजा ईश्वर-बुद्धिसे करे और चाहे चोर कहकर उसकी निन्दा करे, चाहे उसे वृषभों और गजोंके समूहमें रखे और चाहे राजा बना दे, चाहे उसके सन्निकट मित्रमण्डली इकट्ठी हो और चाहे शत्रुओंका समूह आकर उसे घेर ले, तो भी उसका चित्त उसी तरह कभी विषमतासे मलिन नहीं होता, जिस तरह सूर्यके तेजके लिये न तो कभी रात्रि ही होती है और न कभी

सबेरा ही होता है अथवा जैसे षड्-ऋतुओंके आने-जानेपर भी आकाश सदा निर्लेप ही रहता है। उसमें आचारका एक और लक्षण दृष्टिगत होता है कि उसे इस बातका कभी भान ही नहीं होता कि वह कोई कार्य कर रहा है। वह कर्मोंका त्याग कर देता है और प्रवृत्तिका उन्मूलन कर डालता है। उसके सारे कर्मफल जलकर भस्म हो जाते हैं, क्योंकि अपने ज्ञानके कारण वह स्वयं अग्नितुल्य हो जाता है। लौकिक अथवा पारलौकिक इच्छा उसके मनमें कभी उत्पन्न ही नहीं होती, इसलिये उसे स्वाभाविकरूपसे जो कुछ प्राप्त हो जाता है, उसे वह उदासीनतापूर्वक स्वीकार कर लेता है। वह कभी सुख-दुःखसे सुखी और दुःखी नहीं होता है, उसका मन पाषाणवत् होता है और वह सब प्रकारके संकल्प-विकल्प त्याग चुका होता है। परन्तु अब यह वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक हो चुका, जिसमें इस प्रकारका आचार दिखायी दे, वास्तवमें वही गुणातीत है।'' फिर भगवान्‌ने कहा—"हे अर्जुन! अब मैं तुम्हें गुणातीत होनेका उपाय बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (३६२—३७०)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

जो व्यक्ति व्यभिचाररहित चित्तसे तथा भक्तियोगसे मेरी सेवा करता है, वही इन गुणोंको भस्म कर सकता है और इन सब बातोंका विवेचन कर देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि इसमें कहा हुआ 'मैं' कौन है 'मेरी भक्ति' किस प्रकारकी होती है तथा 'अव्यभिचार भाव' अर्थात् व्यभिचार रहित चितका अर्थ क्या है, तो भी, हे पार्थ! मैं तुमको यह बतला देता हूँ कि जैसे रत्नप्रभा और रत्न दोनों एक ही होते हैं, वैसे ही इस विश्वमें 'मैं' हूँ अथवा जैसे द्रवपनका अर्थ नीर, अवकाशका अर्थ अम्बर या मधुरताका अर्थ शक्कर, ज्वालाका अर्थ अग्नि, दलका अर्थ कमल या शाखाओं और फलों इत्यादिका अर्थ वृक्ष, हिमराशिका अर्थ हिमालय या जमे हुए दूधका अर्थ दही होता है, वैसे ही इस विश्वका अर्थ भी 'मैं' ही है अर्थात् 'मैं' ही यह विश्व हूँ। जैसे चन्द्रस्वरूपका ज्ञान पानेके लिये चन्द्रबिम्बको

छीननेकी जरूरत नहीं होती अथवा जमा हुआ घृत यदि गरम करके पिघलाया न जाय तो भी वह घृत ही होता है, कंकण (कंगन) यदि गलाया न जाय तो भी वह स्वर्ण ही होता है; वस्त्रकी तह यदि खोली न जाय तो भी वह मूलतः धागोंका समूह ही होता है और जैसे घड़ा यदि तोड़ा न जाय तो भी वह मिट्टीका ही होता है, वैसे ही यह सारा विश्व भी 'मैं' ही हूँ। इसीलिये यह आवश्यक नहीं है कि पहले यह विश्व भावना समाप्त की जाय और तब मेरी प्राप्ति हो, क्योंकि यह सब कुछ एकमात्र 'मैं' ही हूँ। इस प्रकारका ज्ञान होना ही मानो मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति है। यदि इस ज्ञानमें कोई कमी हो तो वही व्यभिचार है। इसलिये सारे भेद-भावोंका परित्याग कर एकाग्रचित्तसे अपनेसहित मुझे जानना चाहिये। हे पार्थ! यदि स्वर्णके ताबीजमें स्वर्णका ही कुन्दा बैठाया जाय तो उसमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार विश्वको अपनेसे अलग मानना समीचीन नहीं है। तेजका जो अंश तेजसे निकलकर फिर तेजमें ही समा जाता है, उसीका नाम किरण है। बस, ठीक इन्हीं किरणोंकी ही भाँति आत्मरूप भी है। अहं मुझमें ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूक्ष्म कण पृथ्वीमें अथवा हिमकण हिमालयमें होते हैं। तरंग चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, पर वह सागरसे कभी भिन्न नहीं होती। ठीक इसी प्रकार 'मैं' भी ईश्वरसे भिन्न नहीं है। इस प्रकारकी एकताकी भावनासे दृष्टिकी जो आनन्दपूर्ण वृत्ति होती है, मेरी दृष्टिमें उसीका नाम भक्ति है। समस्त ज्ञानका सार और योगका सर्वस्व यही प्रफुल्लित दृष्टि है। जैसे समुद्र और मेघोंके मध्यमें अखण्ड धाराओंकी वृष्टि होनेके कारण वे दोनों एक दिखायी देते हैं, वैसे ही यह उल्लासपूर्ण वृत्ति भी होती है। कुएँके ऊर्ध्वभाग और आकाशमें कोई जोड़ नहीं लगा रहता, पर फिर भी वे दोनों एक रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी बिना किसी जोड़के उस परम पुरुषके साथ एक रहता है। जैसे प्रतिबिम्बसे लेकर बिम्बपर्यन्त प्रभा फैली हुई रहती है, वैसे ही यह सोऽहंवृत्ति भी जीवात्मासे लेकर परमात्मापर्यन्त पहुँची हुई होती

है। जब इस प्रकारकी सोऽहंवृत्ति एक बार बन जाती है, तब व्यक्ति उस वृत्तिके साथ स्वतः परमात्मतत्त्वमें समा जाता है। जैसे लवण-कण जब एक बार सिन्धुमें मिलकर गल जाता है, तब फिर उसका गलना बन्द हो जाता है अथवा हे पार्थ! जैसे तृणको भस्म कर चुकनेके बाद स्वयं अग्नि भी बुझ जाती है, वैसे ही जब एक बार ज्ञानके द्वारा भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है, तब फिर वह ज्ञान भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। उस समय यह कल्पना भी समाप्त हो जाती है कि 'मैं' परे अथवा उस पारका है और यह भावना भी समाप्त हो जाती है कि भक्त इधर अथवा इस पारका है और उन दोनोंकी जो मौलिक शाश्वत् एकता है, एकमात्र वही शेष रह जाती है। हे किरीटी! जब इस प्रकार ब्रह्मैक्यका आलिंगन हो जाता है, तब फिर गुणोंपर विजय हासिल करनेकी कोई बात ही नहीं रह जाती। हे मर्मज्ञ अर्जुन! इसी स्थितिका नाम ब्रह्मत्व है और यही ब्रह्मत्व मेरे भक्तोंको मिलता है। मैं तुमसे एक बार और कहता हूँ कि इस संसारमें मेरा जो इस प्रकारका भक्त होगा, यह ब्राह्मी अवस्था उसकी सेवा एक पतिपरायणा स्त्रीकी भाँति करेगी। जैसे नदियोंके जल-प्रवाहके लिये समुद्रके सिवा अन्य कोई उपयुक्त स्थान नहीं होता, वैसे ही जो मेरी सेवा ज्ञानपूर्ण दृष्टिसे करता है, वह बिना ब्रह्मत्ववाली दशाको सुशोभित किये नहीं रह सकता। इसी ब्रह्मत्वको सायुज्य नामसे पुकारते हैं और इसीको मोक्ष-नामका चौथा पुरुषार्थ भी कहते हैं। यह ठीक है कि मेरी सेवा ही ब्रह्मत्व प्राप्तिका साधन है, पर इतनेसे ही तुम यह न समझो कि मैं साधनमात्र हूँ। हो सकता है कि तुम्हारे चित्तमें ऐसी भावना उत्पन्न हो, इसीलिये मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि 'मैं' से भिन्न ब्रह्म कोई चीज नहीं है। (३७१—४०३)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

हे पाण्डव! 'ब्रह्म' का अर्थ 'मैं' है तथा ऐसे समस्त शब्दोंसे मेरा

हो अभिप्राय होता है। हे मर्मज्ञ! जैसे चन्द्रमण्डल और चन्द्रमा—दोनों पृथक्-पृथक् दो चीजें नहीं हैं, वैसे ही 'मैं' और 'ब्रह्म'—इन दोनोंमें लेश-मात्रका भी भेद नहीं है। जो चीज शाश्वत, अचल, स्पष्ट, धर्मस्वरूप, आनन्दमय, अपार और अद्वितीय है, किंबहुना सारी अभिलाषाओंका परित्याग कर विवेक जो पद प्राप्त करता है और ज्ञानकी जो परम सीमा है, वह सब 'मैं' ही हूँ।" भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारकी बातें पाण्डुनन्दन अर्जुनसे कह रहे थे। यह सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—"हे संजय! बिना पूछे तुम ये सब निरर्थक बातें क्यों कह रहे हो? इस समय जो चिन्ता मेरे मनको सता रही है, पहले वह तुम दूर करो। तुम पहले मेरे पुत्रोंकी विजय-वार्ता सुनाओ। यह सुनकर संजयने मन-ही-मन कहा कि विजय-वार्ताको इस समय रहने दो। धृतराष्ट्रकी इन सब बातोंको सुनकर संजयका मन आश्चर्यसे भर उठा। उसने अपने मनमें कहा—"अहो, खेद है! इसके अन्तःकरणमें भगवान्‌के प्रति कितना द्वेष भरा हुआ है। फिर भी वे कृपालु भगवान् इसपर कृपा करें और यह विवेकरूपी औषधिका सेवन करे, जिसमें इसका मोहरूपी महाव्याधि नष्ट हो जाय।" जिस समय संजयके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ, उस समय भगवान् और अर्जुनके संवादकी बातें स्मरण करते-करते उसके हृदयमें आनन्दका उद्रेक हो आया। इसलिये अब भी वह बराबर बढ़ते हुए उत्साहसे भगवान्‌का संवाद ही कहेगा। उस संवादके शब्दोंका भावार्थ मैं आप लोगोंके चित्तमें अंकित करनेका यत्न करूँगा। हे श्रोतावृन्द! श्रीनिवृत्तिनाथका दास यह ज्ञानदेव आप लोगोंसे विनम्र निवेदन करता है कि आप लोग मन लगाकर इसका श्रवण करें। (४०४—४१५)

अध्याय पंद्रहवाँ

अब मैं अपने हृदयको चौकी बनाकर उसपर श्रीगुरुदेवके चरणोंकी स्थापना करता हूँ। समग्र इन्द्रियोंके यही कुछ प्रस्फुटित पुष्प ऐक्यभावसे अंजलिमें भरकर यह पुष्पांजलि मैं अर्घ्यके रूपमें श्रीगुरुदेवको समर्पित करता हूँ। अनन्य भक्ति-रससे जो एकनिष्ठ वासना शुद्ध हो चुकी है, उसीको चन्दनस्वरूप मानकर मैं श्रीगुरुको तिलक लगाता हूँ। प्रेमरूपी विशुद्ध स्वर्णके नूपुर मैं श्रीगुरुदेवके सुकोमल चरणोंमें पहनाता हूँ। अव्यभिचार भावसे शुद्ध हो चुका जो प्रबल प्रेम है, उसीके छल्ले बनाकर मैं गुरुदेवके चरणोंकी अँगुलियोंमें पहनाता हूँ। आनन्दकी सुगन्धसे सुगन्धित अष्ट सात्त्विकभावोंका प्रस्फुटित अष्टदल कमल मैं उनपर चढ़ाता हूँ। फिर मैं उनके सम्मुख अहंकाररूपी धूप सुलगाकर श्रीगुरुदेवके चरणोंके सामने सोऽहंरूपी दीपसे आरती करता हूँ तथा समरस भावसे अनवरत उन्हें आलिंगन करता हूँ। मैं गुरुदेवके चरणोंके नीचे अपने शरीर और प्राण दोनोंकी पादुका बनाकर रखता हूँ तथा भोग और मोक्षका राई-नोन उनपरसे उतारता हूँ। उनके चरणोंकी सेवा करनेसे मुझमें इतनी योग्यता आ जाय कि सारे पुरुषार्थके अधिकार मुझे उसीमें मिल जायँ। इससे ब्रह्मत्वके विश्रामधामपर्यन्त मेरे ज्ञानका तेज इस प्रकार सहजमें और सीधा जा पहुँचे कि उसके कारण मेरी वाणीमें अमृत-सिन्धुकी मधुरता आ जाय। उस समय मेरे विवेचनके प्रत्येक अक्षरको ऐसा माधुर्य उपलब्ध हो कि उस वक्तृत्वपरसे कोटि चन्द्र निछावर किये जा सकें। जैसे पूर्व दिशामें सूर्योदय होनेपर वह सारे संसारको प्रकाशरूपी साम्राज्य अर्पित करता है, वैसे ही यह वाणी भी श्रोताओंके समाजको दीपमालिका-सा प्रकाश दिखला

सके। जिस सौभाग्यसे इस प्रकारके शब्द मुखसे निकलते हैं कि उनके समक्ष स्वयं वेद भी बहुत ही तुच्छ दृष्टिगत होते हैं, और कैवल्यतत्त्व उनकी बराबरी नहीं कर सकता, जिस सौभाग्यसे वाणीरूपी बेल इस प्रकार लहलहाने लगती है कि श्रवण-सुखरूपी मण्डपके नीचे सारे जगत्‌को वसन्तकी शोभाका अनुभव होता है, जिस सौभाग्यके कारण ऐसा चमत्कार दिखायी देता है कि जिस परमात्माका पता न लगनेके कारण मनके साथ वाणीको भी निराश होकर लौट आना पड़ता है, वही परमात्मा शब्दोंके लिये भी गोचर हो जाता है, जिस सौभाग्यसे उस इन्द्रियातीत ब्रह्म-तत्त्वका शब्दोंमें वर्णन किया जा सकता है, जो सामान्यतः ज्ञानके लिये अगम्य और ध्यानके लिये असाध्य होता है, वही परम सौभाग्य श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी धूलिका एक कण प्राप्त होते ही वाणीमें आ सकती है। अब इससे अधिक मैं और क्या कहूँ? मैं ज्ञानदेव स्पष्टरूपसे कहता हूँ कि इस गुरु-प्रेमकी भाँति प्रेम माताके अलावा कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकता। कारण कि मैं नन्हे-से बालककी भाँति हूँ और श्रीगुरुदेव ऐसी माताकी भाँति हैं, जिसका इकलौता लड़का होता है; इसलिये उनकी कृपाका प्रवाह निरन्तर केवल मेरी ही ओर बहता रहता है। हे श्रोतावृन्द! जैसे मेघ अपनी सम्पूर्ण जल-सम्पत्ति चातकोंके लिये उड़ेल देता है वैसे ही गुरुदेवने भी मुझपर अपनी करुणा-वृष्टि की है। इसीका यह परिणाम है कि जिस समय मैं बकवास करने लगा, उस समय उसी बकवासमेंसे भी गीताका मधुर रहस्य टपक पड़ा। यदि भाग्य अनुकूल हो तो बालू भी रत्न हो जाता है और यदि आयुष्य अवशिष्ट हो तो मारनेवाला भी दया और प्रेम करने लगता है। जब श्रीजगन्नाथ किसीका उदर-पोषण करनेकी सुभीता चाहता है, तब यदि अदहनमें कंकण-पत्थर भी डाल दिये जायँ, तो वे भी अमृत-तुल्य चावल बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार यदि श्रीगुरुदेव भी कृपापूर्वक स्वीकार कर लें तो यह सारा जगत् ही मोक्षमय हो जाता है। देखिये, उन जगत्-वन्दनीय पुराणपुरुष नारायणावतार

भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके लिये कभी किसी बातकी कोई कमी होने दी थी? ठीक इसी प्रकार गुरुराज श्रीनिवृत्तिनाथजीने मेरे अज्ञानको भी ज्ञानके समकक्ष बना दिया है, परन्तु ऐसी बातें बहुत हो चुकीं। इस विषयमें बोलते-बोलते मेरा प्रेम उमड़ पड़ा है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस प्रकारका ज्ञान भला किसका हो सकता है, जो गुरुदेवकी महिमाका वास्तविक वर्णन कर सके? अब उन्हीं गुरुदेव महाराजकी कृपासे मैं आप सन्तजनोंके चरणोंमें गीताका अर्थ समर्पित करना चाहता हूँ। चौदहवें अध्यायके अन्तमें कैवल्यधाम भगवान् श्रीकृष्णने इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण किया था कि जैसे स्वर्गाधिपति इन्द्र होता है, वैसे ही मुक्तिका अधिपति ज्ञानी पुरुष होता है अथवा सैकड़ों जन्मोंतक जो ब्रह्मकर्म करता रहता है, वही अन्ततः ब्रह्मा होता है, अन्य कोई ब्रह्मा नहीं हो सकता। सूर्यके प्रकाशका अनुभव जिस प्रकार नेत्रवालेको ही हो सकता है, उस प्रकार नेत्रविहीन व्यक्तिको कभी हो ही नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार मोक्षका परमानन्द भी एकमात्र ज्ञानके ही हिस्सेमें आता है। अब जब भगवान् यह सोचने-विचारने लगे कि ज्ञान पानेकी योग्यता किस व्यक्तिमें होती है, तब उन्हें इसके लिये सिर्फ एक पुरुष योग्य दिखायी दिया। नेत्रोंमें दिव्यांजन लगा लेनेपर पृथ्वीमें गड़ा धन स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होने लगता है, पर साथ ही उस गड़े हुए धनको देखनेके लिये ऐसा आदमी होना चाहिये, जिसका जन्म पैरोंके बल हुआ हो। ठीक इसी प्रकार यह भी सत्य है कि ज्ञानसे निःसन्देह मोक्षकी उपलब्धि होती है। परन्तु जिस मनमें ज्ञान रह सके, वह मन भी अत्यन्त विशुद्ध होना चाहिये; और फिर भगवान्‌ने यह सिद्धान्त भी बतला रखा है कि बिना विरक्तिके ज्ञान कभी स्थिर रह ही नहीं सकता। फिर भगवान्‌ने इस बातका भी विचार किया है कि मनमें किस प्रकार पूर्णतया विरक्ति आती है। यदि भोजन करनेवालेको यह पता चल जाय कि उसे विषाक्त भोजन परोसा गया है, तो वह भोजन छोड़कर उठ जाता है। ठीक इसी प्रकार यह संसार

अशाश्वत और नश्वर है, जब यह बात मनमें अच्छी तरह समा जाती है, तब यदि कोई विरक्तिको अपने पाससे दूर भी कर दे तो भी वह स्वतः पीछे हो लेती है।

अब इस पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण इस संसारको अनित्यता कैसी है, इसके सम्बन्धमें एक वृक्षके रूपकके द्वारा बतलाते हैं। यदि जड़समेत उखड़ा हुआ वृक्ष उलटा रख दिया जाय तो वह सूख जाता है, पर इस संसाररूपी वृक्षके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। इस प्रकार एक रूपकके कौशलसे ही भगवान् इस संसारका आवागमन बन्द कर रहे हैं। इस अध्यायका कथन इसी उद्देश्यसे किया गया है कि संसारकी निरर्थकता सिद्ध हो जाय और स्व-स्वरूपी '**अहं ब्रह्मास्मि**' वाली अवस्था स्थायी तथा दृढ़ हो जाय। अब ग्रन्थका यह गूढ़ रहस्य मैं बहुत ही मनोयोगपूर्वक स्पष्ट करना चाहता हूँ; तो भी आपलोग ध्यानपूर्वक सुनें। परमानन्दके समुद्रमें ज्वार उत्पन्न करनेवाले पूर्ण चन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकाधीश कहने लगे—"हे पाण्डुकुँवर! जो विश्वभ्रम मेरे स्वरूपकी प्राप्तिके मार्गमें बाधक होता है, उसे यह विश्व ही न समझ लेना चाहिये। तुम यही ध्यानमें रखो कि यह संसार एक प्रचण्ड वृक्ष है, परन्तु सामान्य वृक्षोंकी भाँति इस वृक्षकी जड़ें नीचे और डालियाँ ऊपर नहीं हैं और इसीलिये यह बात सहसा किसीके समझमें नहीं आती कि यह भी कोई वृक्ष है। यदि किसी वृक्षकी जड़में आग लग जाय अथवा कुल्हाड़ीसे काटा जाय तो फिर चाहे उस वृक्षका ऊपरी विस्तार कितना ही अधिक क्यों न हो, परन्तु वह जड़से उखड़ जानेके कारण सहजमें धराशायी हो जाता है। पर यह संसाररूपी वृक्ष इस प्रकार आसानीसे ढहाया नहीं जा सकता। हे अर्जुन! इसके बारेमें एक रोचक बात यह है कि इसका विस्तार बराबर नीचेकी ओर ही खूब बढ़ता जाता है। जैसे सूर्य अत्यधिक ऊँचाईपर होता है और उसकी रश्मियाँ नीचेकी ओर फैलती हैं; वैसे ही इस संसाररूपी वृक्षका भी विस्तार बराबर नीचेकी ओर ही बढ़ता जाता है। जैसे

प्रलयकालका जल सारे आकाशको आच्छादित कर लेता है, वैसे ही यह संसाररूपी वृक्ष इस विश्वके कोने-कोनेको भर देता है अथवा जैसे सूर्यास्त होनेपर रात्रि अंधकारसे भर जाती है, वैसे ही सारा आकाश भी संसाररूपी वृक्षसे पूर्णरूपसे भरा हुआ है। यदि खाना चाहें तो इसमें कोई फल नहीं होता और यदि सूँघना चाहें तो कोई फूल नहीं होता। हे पार्थ! इसमें जो कुछ है, वह वृक्ष-ही-वृक्ष है। इसकी जड़ तो ऊपर ही है, परन्तु यह कोई उखाड़कर उलटा रखा हुआ नहीं है और यही कारण है कि यह सर्वदा हरा-भरा रहता है। इसीलिये इसे ऊर्ध्व मूलके नामसे पुकारते हैं। यद्यपि इसके बारेमें यह बात बिलकुल ठीक है, तथापि इसकी असंख्य जड़ें अधोमुखी हैं। चतुर्दिक् निकलनेवाली कोपलोंके बलसे बड़ और पीपलकी भाँति इसके भी बीजों और कोपलोंसे अनेक शाखाएँ प्रस्फुटित होती हैं। हे धनंजय! ऐसा नहीं है कि इस संसार-वृक्षमें केवल अधोमुखी ही शाखाएँ हों, अपितु ऊर्ध्वमुखी भी इसकी बहुत-सी शाखाएँ होती हैं। इसे देखनेपर ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो आकाश ही बेलोंके रूपमें पल्लवित हुआ है अथवा वायुने ही वृक्षका आकार धारण कर रखा है, अथवा उत्पत्ति, स्थिति और लय—इन तीनों अवस्थाओंने ही यह अवतार ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार यह एक विश्वरूपी ऊर्ध्व मूल वृक्ष अस्तित्वमें आया है। इस ऊर्ध्वका क्या अर्थ है, इसकी जड़ोंके लक्षण क्या हैं, यह अधोमुख क्यों है, इसकी शाखाएँ कैसी हैं अथवा अधोमुखी जो शाखाएँ हैं, वे कौन-सी हैं, इसमें ऊर्ध्वमुखी शाखाओंका स्वरूप क्या है, और इसका अश्वत्थ नाम पड़नेका क्या कारण है, इत्यादि प्रश्नोंका समाधान आत्मविद् विलासीजनोंने किया है। अब मैं ये सारी बातें इस ढंगसे तुम्हें बतलाता हूँ ताकि ये सब तुम्हारी समझमें खूब अच्छी तरहसे आ जायँ। हे सुभट! यह विषय तुम्हारे ही जैसे लोगोंके लिये श्रवणीय है, इसलिये तुम हृदयको स्तब्ध करके और इस प्रकार मनोनिग्रहपूर्वक सुनो, मानो तुम्हारे अंग-प्रत्यंगमें श्रवण-शक्ति आ गयी है।" जिस समय यादवेन्दु श्रीकृष्णने इस

प्रकार प्रेमसे सराबोर ये सब बातें कहीं, उस समय अर्जुन मानो सावधानताका मूर्तिमान् रूप ही बन गया। उस समय अर्जुनकी श्रवण करनेकी लालसा इतनी तीव्र हो गयी कि मानो वह दसों दिशाओंको प्रगाढ़ालिंगन करना चाहती हो और इसीलिये भगवान्‌का किया हुआ निरूपण उसे अत्यल्प प्रतीत होने लगा। यद्यपि भगवान्‌की उक्ति सिन्धुकी तरह अनन्त और असीम थी, पर फिर भी यह अर्जुन एक नये अगस्त ऋषिके रूपमें उत्पन्न हुआ था और यही कारण है कि वह भगवान्‌के समस्त वचनरूपी सागरको एक ही घूँटमें पान कर जानेका विचार करने लगा। उस समय अर्जुनकी उत्सुकता इतनी अधिक बढ़ी कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता। जिस समय भगवान् श्रीकृष्णने उसकी यह अवस्था देखी, उस समय उन्होंने अत्यन्त सन्तोषपूर्वक उसकी बलाएँ लीं। (१—७१)

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

तत्पश्चात् भगवान्ने कहा—"हे धनंजय! वह ब्रह्म ही इस वृक्षका ऊर्ध्व है और इसी वृक्षके कारण उसमें यह ऊर्ध्वता मिली हुई है। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो जो एकरूप, अद्वैत, कैवल्यतत्त्व है, उसमें उर्ध्व, मध्य और अधःका कोई भेद हो ही नहीं सकता, जो ऐसा नाद है, जो कभी श्रवणेन्द्रियोंसे श्रवण ही नहीं किया जा सकता, जो ऐसी सुगन्ध है, जिसका घ्राणेन्द्रियके द्वारा कभी अनुभव भी नहीं किया जा सकता, जो ऐसा आनन्द है, जो बिना विषयोंका सेवन किये हुए ही मिलता है, जो अपने इस पार भी और उस पार भी, आगे भी और पीछे भी केवल स्वयं ही है, जो सदा दृष्टिसे ओझल रहता है और बिना देखनेवालेके ही दृष्टिपथपर आता है, जो उपाधिके सम्बन्धसे ही नाम-रूधात्मक विश्व होता है, जो ज्ञाता और ज्ञान वस्तुके बिना ही ज्ञान है, जो सुखसे परिपूर्ण होनेपर भी शून्य गुण आकाश ही है, जो न कार्य है और न कारण

है, जो न द्वैत है और न अद्वैत है, जो केवल स्वयं ही और आत्मस्वरूप रहता है, वही अद्वितीय तत्त्व इस संसाररूपी वृक्षका ऊर्ध्व है। अब तुम यह सुनो कि इस ऊर्ध्व जड़में अंकुर किस प्रकार उत्पन्न होते हैं वन्ध्या-सुतके वर्णनकी भाँति जिसे माया नामसे सम्बोधित करते हैं, जो सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है, जो विचारके समक्ष नहीं टिकता, परन्तु इतना होनेपर भी जिसे अनादि नामसे पुकारते हैं, जो भेदभावका सन्दूक है, जिसमें ये अनेक लोग ठीक वैसे ही रहते हैं, जैसे आकाशमें मेघ रहते हैं, जो समस्त साकार वस्तुरूपी वस्त्रकी असली तह है, जो संसार-वृक्षका सूक्ष्म बीज है, जो प्रपंचका जन्म-स्थान तथा मिथ्या ज्ञानकी प्रकाशमान ज्योति है, वह माया उस निर्गुण ब्रह्ममें इस प्रकार रहती है कि मानो है ही नहीं और फिर वह जो-जो व्यवहार करती है, वह सब उस ब्रह्मके तेजके प्रभावसे ही करती है। जब हमें निद्राका अभाव खटकता है, तब जैसे हम स्वयं ही अपने-आपको ज्ञानशून्य कर लेते हैं अथवा दीपक जैसे कजली उत्पन्न करके स्वयं ही अपनी प्रभा मन्द कर लेता है अथवा जैसे स्वप्नमें कोई व्यक्ति यह देखता है; मेरे सामने सोयी हुई तरुणी जाग उठी है और वह आलिंगन न होनेपर भी यही कल्पना करता है कि वह तरुणी मुझे आलिंगन कर रही है और तब वह काम-विकारसे पीड़ित होता है, ठीक वैसे ही हे पार्थ! जो माया उस निर्गुण-ब्रह्ममें उत्पन्न हुई है तथा अपने मूल स्वरूपकी जो विस्मृति हुई है, वही इस संसार-वृक्षकी पहली जड़ है। मूल वस्तुको जो यह अपने वास्तविक स्वरूपकी विस्मृति हुई है, वही इस वृक्षकी ऊँचाईपर रहनेवाला प्रमुख स्कन्द है और इसीको वेदान्तमतावलम्बी 'बीजभाव' कहते हैं। अज्ञानसे परिपूर्ण जो सुषुप्तिवाली अवस्था है, उसीको बीजांकुर भाव कहते हैं और जो स्वप्न तथा जागृतिवाली दशाएँ हैं, उन्हें उस सुषुप्तिका फल भाव कहते हैं। इस विषयमें वेदान्तके निरूपणकी यही परिभाषा है। अस्तु; सम्प्रति सिर्फ यही कहना है कि इस संसार-वृक्षका मूल अज्ञान है। वह निर्मल आत्मा

इसका ऊर्ध्व भाग है और उसके नीचेकी जो जड़ें बतलायी गयी हैं, वह मायाके योगसे निर्मित आत्मबलमें खूब अच्छी तरह बढ़ी और फैली हुई हैं। तत्पश्चात् और भी नीचेकी ओर नाना प्रकारके अनगिनत शरीर उत्पन्न होते हैं और उनके चतुर्दिक् अंकुर उत्पन्न होते हैं, जो नीचेकी ओर निरन्तर बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार इस संसार-वृक्षकी जड़ अपने ऊर्ध्व भागमें अद्वैत ब्रह्मसे बल प्राप्त करके नीचेकी ओर एकमात्र अंकुर ही-अंकुर निकालती चलती हैं। इनमेंसे प्रथम अंकुर अन्तःकरणकी वृत्तिका होता है। यही महत्तत्त्वका विकसित कोमल पत्ता है। फिर इनमेंसे नीचेकी ओर तीन पत्तोंवाला एक अंकुर निकलता है। यही अंकुर अहंकार है और सत्त्व, रज तथा तम—इसके तीनों पत्ते हैं। यही अहंकार नामक अंकुर आगे चलकर बुद्धिकी डाली उत्पन्न करता है तथा नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न भावोंको बढ़ाकर मनकी शाखा हरी भरी रखता है। इस प्रकार इस संसार-वृक्षमें ऊर्ध्व मूलकी सामर्थ्यसे विकल्प-रससे भरा हुआ चित्त-चतुष्टयका अंकुर उत्पन्न होता है। फिर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पंचमहाभूतोंके रूपमें सुन्दर तथा सीधी कोपलें इसमें निकलती हैं। फिर इन्हीं कोपलोंमें श्रवणेन्द्रिय इत्यादि पंच इन्द्रियाँ और उनके विषय भी नाना प्रकारकी विचित्र पत्तियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। जिस समय उसमें शब्द-कर्णका अंकुर प्रकट होता है, उस समय श्रवणेन्द्रियकी वृद्धि द्विगुणित हो जाती है तथा भिन्न-भिन्न वासनाओंके समूह उसके समक्ष प्रकट होने लगते हैं अर्थात् नाना प्रकारकी बातें श्रवण करनेकी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। अंगरूपी बेल और त्वचाके पल्लवोंमें स्पर्श ज्ञानके अंकुर प्रस्फुटित होते हैं, जिससे अनेक नये विकार उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर, रूपके पल्लव निकलते हैं तथा आँख नामक इन्द्रिय सुदूर दौड़ लगाती है, जिससे मोह और भ्रान्तिकी उत्पत्ति होती है। जिस समय रसकी शाखा वेगसे और खूब बढ़ती है, उस समय जिह्वापर लालसाके अनगिनत पल्लव उत्पन्न हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जिस समय गन्धका अंकुर बढ़ता

है, उस समय घ्राणरूपी शाखा बढ़कर स्तम्भवत् हो जाती है तथा उसके नीचे लोभ आकर अपना डेरा जमा लेता है। इस प्रकार महत्तत्त्वसे, अहंकार, मन, बुद्धि और पंचमहाभूतोंका समुदाय ही संसारकी मर्यादारूप होते हैं। बस, महत्तत्त्व इत्यादि अष्टांगोंमें ही इसके अधिक से-अधिक अंकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु जब सीपीको देखकर चाँदीका भ्रम होता है तो वह चाँदी सीपीके ही आकार-प्रकारकी दिखायी देती है अथवा तरंगें उतनी ही दूरतक उठती हैं, जितना सागरका विस्तार होता है। ठीक इसी प्रकार वह अद्वैत ब्रह्म इस अज्ञानजन्य संसार-वृक्षका रूप धारण करता है। जैसे स्वप्नावस्थामें हम अकेले रहनेपर भी स्वयं ही अपना समस्त कुटुम्ब बन जाते हैं, ठीक वैसे ही वह ब्रह्म-तत्त्व ही इस संसाररूपी वृक्षका विस्तार और प्रसार है। परन्तु ये सब बातें बहुत हो चुकीं। इस प्रकार यह विलक्षण वृक्ष उत्पन्न होता है तथा इसमें महत्तत्त्व इत्यादि अंकुर उत्पन्न होनेके कारण नीचेकी ओर इसकी शाखाएँ निरन्तर बढ़ती जाती हैं। अब तुम यह सुनो कि ज्ञानीजन इसको अश्वत्थ क्यों कहते हैं। 'श्वः' का अर्थ है—उषा अथवा प्रभातकाल और यह संसार वृक्ष दूसरे प्रभातकालतक भी एक-सा नहीं रहता। जैसे पलभर व्यतीत होनेपर ही मेघमें एकके अनेक रंग हो जाते हैं अथवा विद्युत् जैसे क्षणभर भी शान्त नहीं रह सकती अथवा सदा काँपता रहनेवाला पत्ता जलपर क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता अथवा जैसे पीड़ित व्यक्तिका चित्त कभी शान्त नहीं हो सकता, वैसे ही यह संसार-वृक्ष भी कभी स्थिर अथवा एक-सा नहीं रहता। यह प्रतिपल नष्ट होता रहता है और इसीलिये लोग इसे अश्वत्थ नामसे पुकारते हैं।" कुछ लोग इस प्रकरणमें अश्वत्थका अर्थ सामान्य पीपलका वृक्ष बतलाते हैं; पर भगवान्का कभी यह आशय नहीं है। परन्तु यदि इसे पीपल ही कहा जाय तो भी इस प्रकरणमें इसकी अच्छी संगति बैठायी जा सकती है। पर इन सब बातोंको छोड़ो, कारण कि लौकिक बातोंके फेरमें पड़नेसे हमें क्या प्रयोजन? अतएव हे श्रोतावृन्द! अब आपलोग यह अलौकिक

ग्रन्थ ही श्रवण करें। इस संसाररूपी वृक्षको अश्वत्थ कहनेका एकमात्र कारण इसकी क्षणभंगुरता ही है। इस संसार-वृक्षको 'अक्षय' के नामसे भी प्रसिद्धि है, पर इसका जो कुछ गर्भित अर्थ है, वह भी सुन लो। जैसे समुद्र एक ओरसे मेघोंके द्वारा सोखा जाता है और दूसरी ओरसे नदियोंके द्वारा भरा जाता है। यही कारण है कि न वह कभी घटता ही है और न कभी बढ़ता ही है, परन्तु यह भ्रम तभीतक रहता है, जबतक मेघों और नदियोंकी कलई नहीं खुलती। (आशय यह कि यदि वृष्टिका होना और नदियोंका मिलना बन्द हो जाय, तब पता चले कि समुद्र कैसे नहीं सूखता है।) इसी प्रकार संसार-वृक्षकी स्थिति और लय बहुत जल्दी-जल्दी होनेके कारण लोगोंकी समझमें नहीं आता और इसीलिये लोग इसे 'अव्यय' अथवा 'अक्षय' के नामसे सम्बोधित करते हैं। जैसे दानी व्यक्ति अपना धन व्यय करके ही मूल्य इकट्ठा करता है, वैसे ही यह वृक्ष भी अपना व्यय करते रहनेके कारण ही अव्यय जान पड़ता है। रथका पहिया जब तीव्र गतिसे घूमता है, तब ऐसा लगता है कि मानो वह घूमता ही नहीं, अथवा जमीनमें ही लगा हुआ है। इसी प्रकार जब कालके प्रभावसे इस संसार-वृक्षकी कोई भूत-शाखा सूखकर गिर जाती है तथा उसी जगहपर करोड़ोंकी संख्यामें अन्य शाखाएँ उत्पन्न हो जाती हैं; पर जैसे आषाढ़मासके मेघोंके बारेमें यह ज्ञात नहीं होता कि कब एक मेघ हटता है और कब उसकी जगहपर और बहुत-से मेघ आ जाते हैं, वैसे ही इस संसार-वृक्षके बारेमें भी यह ज्ञात नहीं होता कि कब इसकी एक शाखा हटी और कब उसकी जगहपर करोड़ों नयी शाखाएँ उत्पन्न हुईं। कल्पान्तमें अस्तित्व धारण करनेवाली सम्पूर्ण सृष्टि लयको प्राप्त हो जाती है, पर उसके साथ ही बहुतेरी नयी सृष्टियोंका भी जंगल बन जाता है। प्रलयकालिक संहारक वायुके कारण ज्यों ही विश्वकी एक छाल भस्म हो जाती है, त्यों ही नवीन कल्पोंका श्रीगणेश करनेवाली नयी-नयी पत्तियोंके समूह निकल आते हैं। जैसे इक्षुके (गन्नेके) एक काण्डमेंसे ही अनेक

काण्ड उत्पन्न होते हैं, वैसे ही एक मनुके उपरान्त दूसरा मनु और एक वंशके बाद दूसरा वंश उत्पन्न होता है और इस प्रकार मन्वन्तरों तथा वंशान्तरोंकी परम्परा अनवरत बढ़ती चलती है। कलियुगके अवसानकालमें ज्यों ही युगोंकी चौकड़ीकी निरस छाल गिर जाती है, त्यों ही सत्ययुगकी नयी छाल तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। जिस समय प्रचलित वर्षका अवसान होता है, उस समय वह आगत वर्षको मानो निमन्त्रण देता है। जैसे यह बात स्पष्टत: समझमें नहीं आती कि आजका दिन समाप्त हो रहा है और कलका दिन आ रहा है अथवा जैसे वायु-वेगमें कहीं कोई सन्धि नहीं दिखायी देती, वैसे ही यह बात भी समझमें नहीं आती कि कब और कहाँसे इस वृक्षकी कितनी शाखाएँ गिरती हैं तथा कब और कहाँ कितनी नयी शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। जिस समय एक शरीरका अंकुर टूटता है, उस समय अनेक नये शरीरांकुर उत्पन्न होते हैं; और यही कारण है कि यह संसार-वृक्ष अक्षय अथवा अक्षय-सा प्रतीत होता है। जैसे प्रवहमान जल निरन्तर आगेकी ओर बढ़ता रहता है, पर साथ ही उसका अनुगमन करनेवाला जल शीघ्र ही आकर उसका स्थान ग्रहण कर लेता है, ठीक वैसी ही बात सदा इस वृक्षके सम्बन्धमें भी होती रहती है; और इसीलिये लोग इस नाशवान्‌को भी अविनाशी मानते हैं। जितने क्षणमें एक बार पलक झपकती है, उतने ही क्षणमें समुद्रमें करोड़ों लहरें उठती हैं और इसीलिये अज्ञानियोंको लहरें नित्य अथवा अक्षय-सी जान पड़ती हैं। काक नामक पक्षीकी आँखें तो दो होती हैं, पर पुतली एक ही होती है; परन्तु उस पुतलीको वह काक पक्षी एक ही क्षणमें दोनों आँखोंमें समानरूपसे घुमाता रहता है और यही कारण है कि लोगोंको यह भ्रम होता है कि काक पक्षीकी दोनों पुतलियाँ होती हैं जिस समय लट्टू तीव्र वेगसे घूमता हुआ किसी एक ही जगहपर खड़ा होकर घूमने लगता है उस समय देखनेवालोंको यह भ्रम होता है कि वह जमीनपर सीधा खड़ा हुआ है और एकदम स्तब्ध है; पर इस भ्रमका कारण यही होता

है कि वह लट्टू उस समय अत्यन्त तीव्र वेगसे घूमता है। दूर क्यों जायँ, जिस समय घेरेमें बनेठी खूब जोरसे घुमायी जाती है, उस समय प्रकाशकी सिर्फ एक चक्राकार रेखा ही दृष्टिगत होती है। ठीक इसी प्रकार सहजतः इस बातका पता नहीं चलता कि इस संसार-वृक्षकी शाखाएँ कब टूटती हैं और कब नयी निकलती हैं; और इसीलिये मूढ़ व्यक्ति इसे अव्यय समझते हैं। परन्तु जिसकी समझमें इसका वेग आ जाता है, उसे इसकी नश्वरताका अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है। ज्ञानीजन यह बात भलीभाँति जानते हैं कि एक ही निमेषमें इसके करोड़ों बार स्थिति और लयके विकार उत्पन्न होते हैं। जिस व्यक्तिको यह बात अच्छी तरह समझमें आ जाती है कि इस संसार-वृक्षका मूल अज्ञानके अलावा और कुछ भी नहीं है, इसका अस्तित्व मिथ्या है और यह वृक्ष ही क्षणभंगुर है; हे पाण्डुसुत! मेरी दृष्टिमें वही सर्वज्ञ ज्ञानी है। वेदोंके सिद्धान्तानुसार वही वन्द्य है। समस्त योग-साधन एकमात्र इसी प्रकारके ज्ञानीके लिये उपयोगी सिद्ध होता है। किं बहुना ज्ञान भी उसीके कारण जीवन धारण करता है। पर अब इस विषयकी चर्चा बहुत हो चुकी। जो इस संसार-वृक्षकी अनित्यताका ज्ञान रखता है, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है?(७२—१४३)

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

इसके अलावा अधोमुख शाखाएँ निकलनेवाले इस संसार वृक्षकी सीधी ऊर्ध्वमुखी शाखाएँ भी बहुत सी हैं। फिर अधोमुखी जो शाखाएँ आयी हैं, उनमें भी जड़ें निकली हैं और उन जड़ोंके नीचे भी बेलें तथा पत्तियाँ निकलकर फैल रही हैं। इस बातकी चर्चा भी आरम्भमें हो चुकी है; किन्तु इस समय वही चीज और अधिक स्पष्टरूपसे बतलायी जाती है। इस वृक्षका जो दृढ़ मूल अज्ञान है, जिससे महत्तत्त्व इत्यादि आठ

प्रकारकी माया उत्पन्न होती है तथा ज्ञानके भयानक वन निकल आते हैं। स्वेदज, जरायुज, उद्भिज्ज और अण्डज—ये चार प्रबल शाखाएँ इस वृक्षकी जड़मेंसे सबसे पहले निकलती हैं। फिर इनमेंसे प्रत्येक शाखामेंसे ये चौरासी लाख योनियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर इस वृक्षकी जीवोंवाली शाखापर अंकुरोंके रूपमें अपार जीवोंके समूह उत्पन्न होते हैं। इनमें कुछ शाखाएँ सीधी जाती हैं और कुछ टेढ़ी-मेढ़ी तथा नाना प्रकारकी सृष्टियोंकी जो टहनियाँ निकलती हैं, वही जीवोंकी भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ होती हैं। नाना प्रकारके विकारोंके कारण वे जीव स्वयंमें स्त्री, पुरुष और नपुंसकके भेद लगाने लगते हैं। जैसे वर्षा-ऋतुमें गगनमण्डलको घनघोर मेघ आच्छादित कर लेते हैं, वैसे ही अज्ञानावस्थामें समस्त जीव साकार बनने लगते हैं। फिर इस संसार-वृक्षकी शाखाएँ अपनी गुरुतर भारके कारण नीचेकी ओर झुकने लगती हैं और परस्पर उलझ जाती हैं, जिससे गुण क्षुब्ध हो जाते हैं और उनके कारण हवाएँ चतुर्दिक् प्रवहमान होने लगती हैं। फिर उन गुणोंके प्रचण्ड वेगमें पड़कर यह ऊर्ध्व मूल वृक्ष तीन स्थानोंसे घिर जाता है। इनमेंसे रजोगुणकी वायुका वेग तीव्रगतिसे आता है जिसके कारण मानव-जातिवाली शाखा अत्यन्त मजबूत और बड़ी होने लगती है। वह न तो ऊर्ध्वमुखी ही होती है और न अधोमुखी ही, अपितु मध्यमें ही रुकी रहती है तथा उसमेंसे चारों वर्णोंकी टेढ़ी-मेढ़ी शाखाएँ निकलती हैं। उसमें विधि और निषेध इत्यादिके विधानोंसे विस्तृत होनेवाली वेद-वचनोंकी मधुर और लहलहाती हुई शाखाएँ निकलने लगती हैं। अर्थ और कामका भी यथेष्ट विस्तार होता है तथा उनमें नये-नये अंकुर निकलते हैं जिससे सांसारिक सुखोपभोगके नवीन किंतु नाशवान् स्थलोंका सृजन होता है। उनमें प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ी हुई होती है, जिसके कारण उनमें अच्छे बुरे क्रिया-कर्मोंकी जो बहुत-सी शाखाएँ निकलती हैं, उनकी कोई गणना ही नहीं हो सकती। जो शरीर अपना भोग भोगकर कृश और जीर्ण हो जाते हैं, वे शुष्क शाखाओंकी भाँति गिर पड़ते हैं और उनकी

जगहपर अनेक नये शरीर उत्पन्न होकर सुशोभित होते हैं। इसी प्रकार शब्द इत्यादि विषयोंके स्वाभाविक रंगोंसे देदीप्यमान नित्य नये-नये सुन्दर पल्लव उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार रजोगुणकी वायुके प्रबल वेगसे मानव-शाखाओंकी बहुत अधिकता हो जाती है, जिससे मनुष्यलोक सज जाता है। फिर जब रजोगुणके ये बादल कुछ शान्त होते हैं, तब तमोगुणकी विनाश-लीला चलने लगती है। उस समय इसी मानव-शाखापर नीचेकी ओर अधम वासनाओंकी पत्तियाँ निकलने लगती हैं तथा दुष्कर्मोंकी शाखाओंका विस्तार होने लगता है। फिर कुमार्गरूपी कोपलें उत्पन्न होती हैं, जो सीधी होनेपर भी मजबूत होती हैं तथा उनमें पत्तोंसे भरी हुई दोषोंकी डालियाँ लहलहाती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। विधि और निषेधका विधान करनेवाले ऋक्, यजुः और साम—ये त्रिवेद इस शाखाके सिरेपर झूमनेवाले पत्ते ही माने जाने चाहिये। इसके बाद जारण और मारणके बीजमन्त्रोंका उपदेश देकर परपीडक होनेवाले अथर्ववेदके पल्लव निकलते हैं, जिससे वासनाकी बेल शस्य-श्यामला होती है। ये सब बातें ज्यों-ज्यों होती चलती हैं, कुकर्मोंकी बेलें त्यों-त्यों बढ़ती जाती हैं और जन्मवाली शाखा निरन्तर बढ़ती चलती है। ठीक चाण्डाल इत्यादि अधम तथा दुष्कर्मी जातियोंकी एक अच्छी और बड़ी शाखा निकलती है तथा भ्रममें पड़े हुए कर्मभ्रष्ट लोग इस शाखाके जालमें उलझते जाते हैं। अब पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सूकर, व्याघ्र, बिच्छू तथा सर्प इत्यादि अनगिनत जीवोंकी टेढ़ी-मेढ़ी शाखाओंका भी विस्तार होता है। हे पाण्डव! इस प्रकार ये शाखाएँ नित्य नूतन नरकभोगरूपी फलसे लद जाती हैं। अनवरत हिंसा इत्यादि कर्मोंका संचालन करनेवाले ये अंकुर अनेक जन्मपर्यन्त समानरूपसे लहलहाते रहते हैं। इसी प्रकारके फलसे लदे हुए वृक्ष, तृण, लोहा, मिट्टी और पत्थर इत्यादिकी शाखाएँ भी उत्पन्न होती हैं। हे अर्जुन! इस प्रकार मानवशाखासे लेकर स्थावरपर्यन्त शाखाओंकी वृद्धि होती है। इसलिये वहींसे यह संसार-वृक्ष नीचेकी ओर विस्तृत होने लगता है। नहीं

तो हे पार्थ! यदि ऊपरी भागमें रहनेवाले इसके आरम्भिक मूलका ध्यान रखा जाय तो ये अधोमुखी शाखाएँ मध्यमें रहनेवाली शाखाएँ ही गिनी जानी चाहिये। परन्तु सत्-असत् क्रियारूपी जो सत्त्व और तमोगुणी शाखाएँ इस वृक्षमें ऊर्ध्वमुख और अधोमुख फैली हुई हैं तथा वेदत्रयीकी जो शाखा विकसित है, उनका हे अर्जुन! मनुष्यके बिना अस्तित्व ही नहीं हो सकता। अतएव मानव शरीर यद्यपि ऊर्ध्वमूलसे निकली हुई शाखा है, तो भी यही शाखा कर्मकी वृद्धिका मूल कारण होती है। अन्य वृक्षोंकी भी यही अवस्था होती है। जैसे-जैसे उनकी शाखाएँ विस्तृत होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनकी जड़ भी बराबर और नीचेकी ओर जाती तथा मजबूत होती चलती; और जैसे-जैसे जड़ मजबूत होती चलती है, वैसे-वैसे वृक्षका विस्तार भी बढ़ता जाता है। यही बात इस शरीरके सम्बन्धमें भी है। जबतक कर्म करते हैं, तबतक शरीरकी परम्परा भी विद्यमान रहती है और जबतक शरीरकी सत्ता बनी रहती है, तबतक कर्म भी निरन्तर होते रहते हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि यह मानव-देह ही संसारके विस्तारका फल है। जब तमोगुणके झोंके कुछ शान्त होते हैं; तब सत्त्वगुणकी आँधी चलनी शुरू होती है। उस समय उसी मानव-शाखामें सुवासनाके अंकुर अंकुरित होते हैं तथा उसमें सत्कर्मोंकी अनेक कोंपलें लगने लगती हैं। ज्ञानका यथेष्ट प्रकाश हो जानेके कारण बुद्धिकी तीव्र सामर्थ्यसे पलभरमें अनेक नूतन शाखाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। बुद्धिकी सरल और दृढ़ शाखाएँ निकलती हैं तथा उनमें स्फूर्तिके अंकुर उत्पन्न होते हैं और बुद्धिका प्रकाश विवेक-विचारका आश्रय लेता हुआ आगे बढ़ता है। फिर बुद्धि-रससे परिपूर्ण भक्तिरूपी पल्लवोंमेंसे सद्वृत्तिके सुन्दर और कोमल अंकुर उत्पन्न होते हैं। इस सदाचारके विपुल अंकुरोंके अग्रभागपर वेद-वचनोंका घोष होता रहता है। फिर शिष्टाचार वेदोक्त विधि और यज्ञादि कर्मोंके अनगिनत पत्तोंमेंसे और भी बहुत से नूतन पत्ते निकलने लगते हैं। फिर तपस्यारूपी ऐसी शाखाएँ निकलती हैं, जिनमें यम, दम इत्यादि लटकते रहते हैं और आगे चलकर

वही सुकोमल परन्तु विशाल वैराग्यरूपी शाखाएँ उत्पन्न करते हैं। फिर धैर्यरूपी अंकुरके तीक्ष्ण सिरेपर भिन्न-भिन्न व्रतोंकी टहनियाँ उत्पन्न होती हैं और वे सीधी ऊपरकी ओर बहुत ऊँचाईतक चली जाती हैं। उन्हींमें वेदोंकी अत्यन्त विशाल शाखा रहती है और जब सत्त्वगुणकी हवाएँ तीव्र वेगसे चलने लगती हैं तब यह टहनी सुविद्याकी सरसराहट करती है। फिर धर्मरूपी शाखा बढ़ने लगती है और उसीमेंसे जन्मवाली सरल शाखा उत्पन्न होती है तथा साथ ही स्वर्ग-सुख इत्यादिकी टेढ़ी-मेढ़ी शाखाएँ भी निकलकर खूब जोरोंसे बढ़ती और फैलती हैं। इसी प्रकार सूर्य-चन्द्र इत्यादि ग्रह, पितर, ऋषि, विद्याधर इत्यादिकी उपशाखाओंका भी विस्तार होने लगता है। इनके और ऊपर अत्यधिक ऊँची तथा फलोंसे लदी हुई इन्द्रलोक इत्यादिकी शाखाएँ होती हैं; और इनसे भी ऊपर मरीचि तथा कश्यप इत्यादिने तपोबलसे अपनी विशाल शाखाएँ ऊँची कर रखी हैं। इस प्रकार एक-पर-एक ऐसी अनेक शाखाएँ निरन्तर फैलती जाती हैं, जो मूलकी ओर तो अत्यन्त छोटी होती हैं; पर जो आगे चलकर बहुत बड़ी हो जाती हैं तथा जो फलोंसे लदी रहती हैं और अत्यन्त महत्त्वकी एवं विशाल होती हैं। इसके अलावा ऊर्ध्वगामी शाखाओंमें जो बहुत-से फल लगते हैं, उनके अग्र भागोंसे हे अर्जुन! ब्रह्मा और शंकर इत्यादितक समस्त अंकुर निकलते हैं। फिर फल-भारके कारण ये शाखाएँ झुककर दोहरी हो जाती हैं तथा अपने मूलपर ही आ ठहरती हैं। यही बात सामान्य वृक्षोंमें भी होती है। जिस समय उनकी शाखाओंपर फलोंका भार अत्यधिक हो जाता है, उस समय शाखाएँ स्वतः झुकने लगती हैं और जड़पर ही आ ठहरती हैं। ठीक इसी प्रकार हे पाण्डव! जिस मूलसे इस संसार-वृक्षकी उत्पत्ति होती है, उसी मूलपर बढ़ते हुए ज्ञानके भारके कारण उसका विस्तार फिर आकर ठहरता है। इसीलिये ब्रह्मलोक और शिवलोक—इन दोनों लोकोंसे आगे जीवकी वृद्धिके लिये अन्य कोई गति नहीं होती और इन लोकोंकी प्राप्ति होनेपर जीव ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है। पर अब

इन सब बातोंको रहने दो। वे ब्रह्मा इत्यादि देवता भी अपनी सामर्थ्यसे उस ऊर्ध्वमूलकी बराबरीतक नहीं पहुँच सकते। इनसे भी ऊपर सनकादिक नामकी अन्य अनेक शाखाएँ हैं; पर उनपर फलोंका बोझ नहीं होता और यही कारण है कि वे मूलकी ओर न लौटकर सीधी ऊपर-ही-ऊपर चलकर ब्रह्ममें समा जाती हैं। इस प्रकार मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा इत्यादितक इन सब शाखाओंकी वृद्धि अत्यधिक ऊँचाईतक हुई है। हे पार्थ! ये ऊपरकी ओर ब्रह्मा इत्यादिकी जो शाखाएँ हैं इनकी उत्पत्ति मानव-शाखासे ही हुई है; और इसीलिये इस शाखाको मूल अथवा जड़ कहा गया है। इस प्रकार मैंने तुम्हें इस अलौकिक संसार-वृक्षकी बातें बतलायी हैं, जिसकी शाखाएँ ऊपर नीचेकी ओर गयी हैं तथा जिसके ऊर्ध्व भागमें मुख्य मूल अथवा जड़ है। साथ ही-साथ मैंने इस वृक्षकी जो जड़ें नीचेकी ओर गयी हैं, उनका भी मैंने स्पष्ट विवेचन कर दिया है। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि वह संसार-वृक्ष किस प्रकार उखाड़कर फेंका जा सकता है; सुनो। (१४४—२०९)

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

हे किरीटी! सम्भव है कि तुम्हारे मनमें यह शंका उठ खड़ी हो कि क्या कोई ऐसा साधन भी हो सकता है, जिससे यह इतना विशाल वृक्ष उखाड़कर फेंका जा सकता है? यदि ऊर्ध्वगामी इसकी शाखाओंपर दृष्टिपात किया जाय तो वे ब्रह्मलोकतक जा पहुँची हैं और इनकी जड़ तो स्वयं निर्गुणब्रह्ममें ही है। नीचेकी ओर जानेवाली शाखाओंके कारण यह वृक्ष स्थावरके अन्तिम चरणतक पहुँचा हुआ है तथा इसके बीचवाले भागमें मानवरूपी मूल फैलता है, इतने सुदृढ़ और विशाल वृक्षका भला कौन विनाश कर सकता है? पर ऐसी क्षुद्र कल्पना तुम अपने मनमें

मत आने दो। यह वृक्ष भले ही सुदृढ़ और विशाल हो, पर फिर भी इसका उन्मूलन करनेमें परिश्रमकी क्या आवश्यकता है? भला बच्चोंको क्या कभी इस चीजकी जरूरत होती है कि वे हौवेको खदेड़कर किसी अन्य देशमें पहुँचा दें? क्या कभी किसीको गन्धर्वनगरी धराशायी करनेकी, खरगोशके सींग तोड़नेकी अथवा आकाश-कुसुम पानेकी कोई चिन्ता सताती है? ठीक इसी प्रकार हे वीरशिरोमणि! यह संसार-वृक्ष भी एकदम यथार्थ अथवा सचमुचका नहीं है। फिर भला इसे उखाड़ फेंकना कौन बहुत बड़ी बात है? मैंने इसके मूलों और शाखाओंका जो वर्णन किया है, उसे वन्ध्याके पुत्रोंके द्वारा घर भरनेके वर्णनके सदृश ही समझना चाहिये। स्वप्नावस्थाकी कोई घटना हमारे जाग्रत् होनेपर भला हमारा क्या बिगाड़ सकती है? ठीक इसी प्रकार तुम इस वृक्षकी सारी कथाको भी एकदम निर्मूल ही समझो; क्योंकि मैंने जैसा वर्णन किया है, यदि वैसा ही यह वृक्ष अचल तथा दृढ़ हो तो फिर भला ऐसा कौन माईका लाल हो सकता था, जो इसे उखाड़ फेंकता? अरे! फूँक मारकर क्या कभी आकाश भी उड़ाया जा सकता है? इसीलिये हे धनंजय! मैं तुमको बतलाता हूँ कि कच्छपीको कभी दूध ही नहीं होता; और इसीलिये इस संसार-वृक्षके बारेमें अभी मैंने जो विवेचन किया है, वह वैसा ही मायासे पूर्ण है, जैसा यह कहना कि कच्छपीके दूधका नवनीत निकालकर और उसका घृत तैयार करके किसी राजाके आगे खानेके लिये परोसा गया था। मृगजलसे भरे हुए सरोवर तो अवश्य दृष्टिगत होते हैं, पर क्या उस सरोवरमें स्थित जलके सहयोगसे धानके पौधे रोपे जा सकते हैं अथवा केलेके पौधे लगाये जा सकते हैं? यदि मूलतः अज्ञान ही मिथ्या है तो फिर उस अज्ञानके द्वारा होनेवाला कार्य भला कहाँतक मिथ्या न होगा और यही कारण है कि जिस समय इस संसार-वृक्षका अच्छी तरह विचार किया जाता है, उस समय यह एकदम मिथ्या ही सिद्ध होता है। जो लोग यह कहते हैं कि इस वृक्षका कहीं अवसान ही नहीं है और न कभी इसका नाश

होता है, तो उनका कथन भी एक दृष्टिसे ठीक ही है। जबतक मनुष्य जाग्रत् नहीं होता, तबतक क्या कभी निद्राका अन्त होता है? जबतक रात्रिका अवसान न हो, तबतक भला क्या कभी सबेरा हो सकता है? ठीक इसी प्रकार जबतक विवेकके द्वारा मायाका नामोनिशान मिटा नहीं दिया जाता, तबतक इस ससाररूपी अश्वत्थका कभी नाश नहीं होता। सागरकी तरंगें तबतक अनन्त ही जान पड़ती हैं जबतक प्रबल वेगवाली वायु शान्त नहीं होती। इसीलिये जिस समय सूर्यास्त होता है, उसी समय मृगजल भी अदृश्य होता है अथवा जिस समय दीपक शान्त कर दिया जाता है अर्थात् बुझा दिया जाता है, उसी समय प्रभा भी नष्ट होती है। ठीक इसी प्रकार जिस समय मूल मायाका नाश कर देनेवाला ज्ञान प्रकट होता है, उसी समय इस संसार-वृक्षका अवसान होता है; अन्यथा कभी अवसान नहीं होता। इस संसारको जो अनादि कहा जाता है, वह भी कुछ मिथ्या नहीं है। इस प्रकारका कथन भी उपर्युक्त विवेचनके आधारपर समीचीन ही है। क्योंकि जब यह ससार-वृक्ष स्वयं ही यथार्थ अथवा सत्य नहीं है, तो फिर भला इसका आरम्भ कहाँ हो सकता है और कौन हो सकता है? वस्तुतः जो किसी जगहपर उत्पन्न होता है उसके बारेमें तो यह कहना अवश्य शोभा देता है कि इसका आदि है; पर जो एकदम है ही नहीं, उसका भला मूल अथवा आदि कहाँ हो सकता है? जिसका कभी जन्म ही न होता हो, उसके विषयमें भला यह कैसे बतलाया जा सकता है कि इसकी माता कौन है? आशय यह कि यह संसार-वृक्ष यथार्थतः है ही नहीं और इसीलिये यह अनादि ठहरता है। भला वन्ध्या-सुतकी जन्मपत्रिका कहाँसे आ सकती है? आकाशमें नीलवर्णकी धरतीकी परिकल्पना किस प्रकार की जा सकती है? हे पाण्डव! आकाश-पुष्पका डण्ठल भला कौन तोड़ सकता है? जिस संसारका वास्तवमें अस्तित्व ही न हो, उसका आदि कहाँसे हो सकता है? जैसे घटका मिथ्यात्व स्वयंसिद्ध है, वैसे ही यह मूलसहित संसार-वृक्ष मिथ्या

होनेके कारण अनादि है। इस प्रकार हे अर्जुन! इसका न आदि है और न अन्त है। मध्यमें इसका भास कुछ-कुछ अवश्य होता है, परन्तु वह भी मिथ्या ही है। मृगजलका स्रोत न तो किसी पर्वतसे ही निकलता है और न जाकर किसी समुद्रमें ही गिरता है; परन्तु मध्यमें ही उसका कुछ भास अवश्य होता है। उसी मृगजलकी ही भाँति इस संसारका भी न तो कोई आदि है और न तो अन्त ही और न कभी वास्तवमें इसका कोई अस्तित्व ही होता है। इस संसारका मिथ्या वैलक्षण्य केवल मध्यमें ही भासमान होता है। जैसे इन्द्रधनुष भाँति-भाँतिके रंगोंसे रँगा हुआ दिखायी देता है, वैसे ही अज्ञानसे यह संसार रँगा हुआ सत्य सा जान पड़ता है। जैसे बहुरूपिया अपने वेशसे लोगोंको भ्रममें डालता है, वैसे ही यह संसार भी अपने मध्यवाले आभासके द्वारा लोगोंको भ्रममें रखता है। आकाशमें यथार्थतः कुछ भी न होनेपर कभी-कभी गन्धर्वनगर दिखायी देता है, पर पलभरमें ही वह फिर ध्वस्त हो जाता है। स्वप्नमें दृश्यमान् मिथ्या दृश्योंको भी यदि सत्य मान लिया जाय तो भी क्या जाग्रत्-अवस्थाके व्यवहारोंमें उनका कोई उपयोग हो सकता है? इसी प्रकार पलभरके लिये होनेवाला यह आभास वास्तवमें एकदम मिथ्या ही है। बन्दरको जलमें अपना प्रतिबिम्ब तो विविध प्रकारकी चेष्टाएँ करता हुआ दृष्टिगोचर होता है, पर जब वह उसे पकड़नेके लिये आगे बढ़ता है, तब उसके हाथमें कुछ भी नहीं आता। इसी प्रकार यह संसार भी दिखायी तो पड़ता है, पर यथार्थतः इसका कोई अस्तित्व नहीं है। इसका आभास और लोभ इतना जल्दी होता है कि इसके सामने लहरोंकी चंचलता तुच्छ सिद्ध होती है और विद्युत् भी इसकी बराबरी नहीं कर सकती। जैसे वर्षाकालके आरम्भकी वायु चारों ओरसे चलती है और इसका ज्ञान ही नहीं हो पाता कि यह हवा आगेकी ओरसे आ रही है अथवा पीछेकी ओरसे, वैसे ही इस संसार-वृक्षकी भी वास्तविक और सच्ची स्थिति नहीं है; न तो इसका आदि है, न अन्त है, न स्थिति है और न रूप है। फिर भला

इसे उखाड़ फेंकनेके लिये अत्यधिक श्रमकी क्या आवश्यकता है? इसकी बलवत्ता एकमात्र हमारे अज्ञानके कारण ही है। अतएव इसे आत्मज्ञानरूपी कुल्हाड़ीसे काटकर गिरा देना चाहिये। इसे गिरानेके लिये ज्ञानको छोड़कर तुम जितने भी उपाय करोगे, वे सभी तुम्हें इस वृक्षमें और भी अधिक उलझावेंगे। फिर तुम शाखा प्रतिशाखा, ऊपर नीचे कहाँतक भ्रमण करते रहोगे? हाँ, यदि तुम सत्यज्ञानके साधनसे इसके मूलमें स्थित अज्ञानका ही नाश कर डालोगे तो सारा का-सारा काम स्वतः ही हल हो जायगा। रस्सीको सर्प समझकर उसे मारनेके लिये लकड़ी लेकर इतस्ततः घूमनेकी ही भाँति क्या यह समस्त श्रम व्यर्थ नहीं है? जो मृगजलको महानदी समझकर उसे पार करनेके लिये नौका तलाश करनेके उद्देश्यसे वनमें इतस्ततः भटकता है, वह वास्तवमें किसी नालेमें गिरकर डूब जाता है। ठीक इसी प्रकार इस मिथ्या संसारका नाश करनेके लिये जो नाना प्रकारकी विवेचनाएँ करता है, जो आत्मज्ञानसे शून्य रहता है, उसका संसारविषयक भ्रम निरन्तर बढ़ता ही जाता है। इसीलिये हे धनंजय! जैसे स्वप्नमें लगनेवाले घावको ठीक करनेकी एकमात्र औषधि जाग्रत् होना है, वैसे ही इस अज्ञानमूलका विनाश करनेके लिये एकमात्र ज्ञानरूपी तलवार ही समर्थ है और यह कुठार ज्यों-ज्यों चलायी जाती है, त्यों-त्यों बुद्धिको वैराग्यरूपी नूतन शक्ति प्राप्त होती है। ज्यों ही वैराग्यका उदय होता है त्यों ही धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंसे व्यक्तिका वैसे ही पिण्ड छूट जाता है, जैसे श्वान वमन करके जाता है। हे पाण्डव! यह वैराग्य इतना बलशाली होना चाहिये कि व्यक्तिको प्रत्येक वस्तुसे घृणा हो जाय। तदनन्तर, देहाभिमानका आवरण एकदमसे फेंककर यह शस्त्र प्रत्यग् बुद्धि अर्थात् आत्मभावनाके हाथमें दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिये। विवेकरूपी शानपर चढ़ाया हुआ तथा '**अहं ब्रह्मास्मि**' के आत्मबोधपर भलीभाँति चोख किया हुआ यह शस्त्र पूर्ण बोधसे अच्छी तरह घर्षण करना चाहिये। तत्पश्चात् एक-दो बार इसका प्रयोग करके यह भी देख लेना चाहिये

कि हमारे निश्चयकी मुट्ठीमें कितनी सामर्थ्य है। फिर मननके बलसे यह शस्त्र तौलकर धारण करना चाहिये। तदनन्तर, जब निदिध्यासनके साधनसे यह शस्त्र और हम दोनों एकदम एकरूप हो जायँ, तब फिर इसके प्रहारके सामने कुछ भी नहीं टहर सकता। अद्वैत तेजके निर्णयसे आत्मज्ञानरूपी दुधारी तलवार संसार-वृक्षको कहीं टिकने न देगा। जैसे शरद्-ऋतुके आरम्भकी वायु गगनमण्डलमें बादलोंका कचरा बिलकुल ठहरने नहीं देती अथवा उदित होनेवाला सूर्य जैसे घनघोर अन्धकारको निगल जाता है अथवा जैसे जाग्रत् होते ही स्वप्नके सारे खेलोंका अवसान हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानकी तीक्ष्ण धार भी चटपट अपना काम करती है। फिर जैसे चाँदनीमें मृगजल नहीं दीखता, वैसे ही इस संसार-वृक्षको न तो ऊर्ध्वमूल ही कहीं दीखती है और न अधोमुख उसकी शाखाओंका विस्तृत जाल ही कहीं रह जाता है। हे वीरशिरोमणि! इस प्रकार आत्मज्ञानरूपी शस्त्रसे इस ऊर्ध्वमूल संसार-वृक्ष—अश्वत्थको काट डालना चाहिये। (२१०—२६६)

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं-
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

इतना होनेपर व्यक्तिको उस आत्मस्वरूपका प्रत्यय होता है, जिसके विषयमें यह निर्देश नहीं किया जा सकता कि 'यह है' अथवा 'वह है' और जो अपने बिना ही स्वयं सिद्ध होता है। किन्तु मूढ़ व्यक्ति दर्पणका आधार लेकर यह समझ बैठते हैं कि एक मुखकी जगह दो मुख हैं। ठीक यही बात द्वैतकी भी होती है। अतएव तुम कभी भी द्वैतको स्वीकार मत करो। इस आत्मस्वरूपको ठीक तरहसे देखनेका ढंग यही है। कूप खननसे पूर्व भी भूमिके अन्दर जलका स्रोत अपने ही स्थानपर मौजूद रहता है अथवा जिस समय जल हट जाता है अथवा सूख जाता

है, उस समय जलमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब भी पुनः लौटकर अपने मूल बिम्बमें आकर समा जाता है अथवा घड़ेके टूट जानेपर जैसे घटाकाश फिर आकाशमें विलीन हो जाता है अथवा जलनेकी क्रिया बन्द हो जानेपर जैसे अग्नि पुनः अपने मूल स्वरूपमें जाकर मिल जाती है, वैसे ही हे पार्थ! यह आत्मस्वरूप भी देखना चाहिये। यह तो ठीक वैसे ही है, जैसे जिह्वा स्वयं अपना ही स्वाद चखे अथवा आँख स्वयं अपनी ही पुतली देखे अथवा जैसे तेजमें तेज लीन हो जाता है, आकाशमें आकाश समा जाता है अथवा जलाशयमें जल जा मिलता है, वैसे ही अद्वैतकी दृष्टिसे अपना आत्मस्वरूप भी देखा जाता है। जैसे बिना द्रष्टा बने देखना चाहिये और जिसे न जानते हुए भी जानना चाहिये और जिस वस्तुको आद्य पुरुषके नामसे पुकारते हैं, उसके बारेमें उपाधिका आश्रय लेकर वेद व्यर्थ ही भाँति-भाँतिकी बातें बताते हैं और उसके नामों तथा रूपोंका विवेचन करने लगते हैं। जो मुमुक्षु सांसारिक और स्वर्गिक् सुखोंसे एकदम ऊब जाते हैं, वे इस बातकी प्रतिज्ञा करके योग-ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होते हैं कि हम इस स्वरूपमें प्रवेश करके फिर कभी लौटकर इधर नहीं आवेंगे। इस प्रकारके लोग वैराग्यको जीतकर सांसारिक झंझटोंसे सुदूर निकल जाते हैं तथा ब्रह्मलोकका पर्वत लाँघ करके उससे भी आगे पहुँच जाते हैं। फिर वे लोग अहंकार इत्यादि भावनाओंसे शून्य होकर जिस जगहपर जानेका आज्ञा-पत्र प्राप्त करते हैं, जिस मूल वस्तुसे आगे व्यक्तिकी शुष्क आशाके सदृश इतनी बड़ी विश्वमालिकाका विस्तार बाहर निकलता है, जिस वस्तुका ज्ञान न होनेके कारण ही इस संसारकी, जो यथार्थतः एकदम मिथ्या है, इतनी अपार व्याप्ति दिखायी देती है, तथा 'मैं' और 'तुम' का द्वैत अपना प्रभाव दिखलाता है, हे पार्थ! उस आद्य वस्तुको, उस अपने आत्मस्वरूपको स्वयं इस प्रकार देखना चाहिये जैसे हिमसे ही हिम जमाते हैं। हे धनंजय! इसको पहचाननेका एक और लक्षण है, वह यह कि जब एक बार इस स्वरूपके दर्शन हो जाते हैं, तब फिर व्यक्ति उस स्वरूपसे वापस कभी

आ ही नहीं सकता। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि स्वरूपके दर्शन होते किसे हैं? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि जैसे महाप्रलयका जल सर्वत्र लबालब भरा रहता है, वैसे ही जिस व्यक्तिके अंग-प्रत्यंगमें ज्ञान एकदम कूट-कूटकर भरा रहता है, उसी व्यक्तिको इस आत्मस्वरूपके दर्शन होते हैं। (२६७—२८४)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

जैसे वर्षाकालके अन्तमें मेघ आकाशका परित्याग कर चले जाते हैं, वैसे ही जिन व्यक्तियोंके मनको मान और मोह इत्यादि विकार छोड़कर चले जाते हैं, जो लोग विकारोंके चक्करमें ठीक वैसे ही नहीं पड़ते, जैसे किसी धनहीन और निर्मम व्यक्तिके चक्करमें उसके सगे-सम्बन्धी नहीं पड़ते, आत्मप्राप्तिके कारण इनकी सारी क्रियाएँ शनैः-शनैः वैसे ही समाप्त हो जाती हैं, जैसे फल लगते ही कदली-वृक्षके जीवनका अवसान हो जाता है, जिन्हें समस्त संकल्प-विकल्प वैसे ही त्याग देते हैं, जैसे कटे हुए वृक्षको पक्षी त्याग देते हैं, जिनमें उस भेद-बुद्धिका नाम भी नहीं होता, जिस भेद-बुद्धिकी जमीनपर दोषोंकी वनस्पति बहुत जोरोंसे उत्पन्न होती है, जिनकी अविद्यासहित देहाभिमान बुद्धि ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाती है, जैसे सूर्योदय होते ही रात्रिका अवसान हो जाता है, जो लोग अज्ञानमय द्वैतको वैसे ही त्याग देते हैं, जैसे देह उस जीवको अचानक त्याग देता है, जिनकी आयुष्य विनष्ट हो जाती है, जिनके लिये द्वैत भावका निरन्तर वैसे ही अकाल रहता है, जैसे पारसके लिये लोहेका अथवा सूर्यके लिये अन्धकारका अकाल होता है, जिनके समक्ष शरीरको जान पड़नेवाले सुखों और दुःखोंका द्वन्द्व पलभर भी नहीं टिकता, जिनपर हर्ष तथा शोकका वैसे ही कोई असर नहीं पड़ता, जैसे जाग्रत् होनेपर व्यक्तिपर स्वप्नावस्थामें होनेवाले, राज्यलाभ

अथवा मृत्युका कोई असर नहीं पड़ता, जिनपर सुख-दुःखात्मक द्वन्द्व वैसे ही कोई प्रहार नहीं कर सकते, जैसे गरुड़पर सर्प कभी प्रहार नहीं कर सकता, जो अनात्म पदार्थरूपी नीरको पृथक् करके और आत्मानन्दरूपी क्षीर पीकर सुविचाररूपी राजहंस बन जाते हैं, जो अज्ञानके कारण चतुर्दिक् विस्तृत आत्मवस्तुको ज्ञानकी दृष्टिसे अखण्ड स्वरूपमें वैसे ही इकट्ठा करते हैं, जैसे सूर्य पृथ्वीपर वृष्टि करके उसे फिर अपनी रश्मियोंके द्वारा अपने ही बिम्बमें ले आता है, आत्मनिर्णयमें जिनका विवेक ठीक वैसे ही समरस हो जाता है, जैसे समुद्रमें समाकर गंगोदक समरस हो जाता है, जिन्हें सर्वत्र एकमात्र आत्मस्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है तथा जिनके लिये आत्मस्वरूपसे बाहर जाना वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे आकाशके लिये यहाँसे अन्यत्र कहीं जाना सम्भव नहीं है और यही कारण है कि जिनके साथ विषयोंका कभी कोई सम्पर्क ही नहीं हो सकता, जिनके अन्तःकरणमें विकारोंका वैसे ही कभी उदय नहीं होता, जैसे ज्वालामुखी पर्वतपर बीजांकुर नहीं निकलते, जिनका चित्त काम इत्यादि विकारोंसे वैसे ही शून्य और निश्चल होता है, जैसे क्षीरसिन्धु उस समय निश्चल हुआ था, जिस समय घर्र-घर्र घूमनेवाला मन्दरगिरि उसमेंसे निकाल लिया गया था, जिनमें काम इत्यादिका कोई दोष वैसे ही नहीं दृष्टिगत नहीं होता, जैसे षोडशकला सम्पन्न चन्द्रमाके किसी अंगमें कोई कमी दृष्टिगत नहीं होती, पर इस विशद विवेचनका और कितना विस्तार किया जाय, तात्पर्य यह कि जिनके समक्ष विषयोंका ठीक वैसे ही ठिकाना नहीं लगता, जैसे वायुके सम्मुख परमाणुका ठिकाना नहीं लगता और इस प्रकार जो लोग अपने ज्ञानाग्निसे समस्त दोषों तथा मलोंको भस्म कर पूर्ण तथा निर्मल हो जाते हैं, वे शुद्ध स्वर्णमें शुद्ध स्वर्णकी ही भाँति पूरी तरहसे वहाँ जाकर मिल जाते हैं। यदि तुम यह प्रश्न करो कि मेरी इस उक्तिमें 'वहाँ' शब्दका क्या आशय है, तो तुम यही जान लो कि वहाँका मतलब है—उस अव्यय वस्तुमें। यह वस्तु ऐसी है जो कभी देखनेमें

नहीं आती और न कभी ज्ञानकी ही पकड़में आती है उसके विषयमें कभी यह नहीं कहा जा सकता कि यह अमुक वस्तु है। (२८५—३०७)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

दीपकके उजालेमें जो कुछ दृष्टिगत होता है, चन्द्रमा जिसे प्रकाशित करता है अथवा जो वस्तु सूर्य-प्रभासे चमकती है, उन सब वस्तुओंकी दृश्यता उस वस्तुके दृष्टिगत न होनेके कारण भासमान होती है। कहनेका आशय यह है कि ये समस्त वस्तुएँ तभीतक दिखायी देती हैं, जबतक वह अव्यय वस्तु नहीं दिखायी देती। वह वस्तु स्वयं अदृश्य रहकर सारे विश्वको प्रकाशित करती है। सीपीके भावका ज्ञान ज्यों-ज्यों मन्द पड़ता जाता है, त्यों-त्यों उसमें होनेवाला चाँदीका भास यथार्थ जान पड़ने लगता है अथवा जैसे-जैसे रस्सीके ज्ञानका लोप होता है, वैसे-वैसे उसके विषयमें होनेवाला सर्पका भ्रम मजबूत होता जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस वस्तुका प्रकाश पड़नेके कारण ही चन्द्र और सूर्य इत्यादि प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित होते हैं, वह वस्तु एकमात्र तेजपुंज ही है। वह सारे जीवोंमें व्याप्त है और चन्द्र एवं सूर्यको भी प्रकाश प्रदान करती है। चन्द्र-सूर्य अपना जो प्रकाश फैलाते हैं, वह प्रकाश वे इसी ब्रह्म नामक वस्तुसे प्राप्त करते हैं और इसीलिये चन्द्र-सूर्य इत्यादि तेजवान् पिण्डोंका तेज उस ब्रह्म वस्तुका ही एक अंश है। सूर्यका उदय होनेपर जैसे चन्द्रमाके साथ-साथ अन्य समस्त नक्षत्रोंका लोप हो जाता है, वैसे ही इस ब्रह्म-वस्तुके प्रकाशके प्रकाशित होते ही उस प्रकाशमें सूर्य-चन्द्रके संग समस्त जगत्‌का लोप हो जाता है अथवा जैसे जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्नकी सारी हलचल समाप्त हो जाती है अथवा जैसे सन्ध्याकाल होते ही कहीं मृगजल अवशिष्ट नहीं रह जाता, वैसे ही जिस वस्तुका प्रकाश होते ही और अन्य किसी वस्तुके आभासके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता; वही वस्तु मेरा प्रमुख स्थान है। जो लोग उस जगहपर जा पहुँचते हैं, वे सागरमें विलीन होनेवाले

जल-प्रवाहकी भाँति फिर कभी वहाँसे वापस नहीं आते अथवा जैसे लवण-निर्मित गजकी प्रतिमा खारे समुद्रमें डालनेपर फिर किसी प्रकार वापस बाहर नहीं निकल सकती अथवा अग्नि-ज्वाला आकाशमें चली जानेपर फिर वापस नहीं आती अथवा तप्त लौहपर छिड़का हुआ जल जैसे फिर हाथ नहीं लग सकता, ठीक वैसे ही जो व्यक्ति शुद्ध ज्ञानसे आकर मुझमें मिलकर एकाकार हो जाता है, उसका फिर वापस लौटना सदा-सदाके लिये बन्द हो जाता है। भगवान्‌की ये सब बातें सुनकर मतिमान् अर्जुनने कहा कि हे देव! आपकी मुझपर बहुत बड़ी अनुकम्पा है, फिर भी आपसे मेरी एक विनती है। उसकी ओर आप ध्यान दें। जो लोग आपमें मिलकर एकाकार हो जाते हैं और फिर वापस नहीं आते, वे आपसे भिन्न रहते हैं अथवा अभिन्न रहते हैं? यदि वे अनादि परम्परासे भिन्न रहते हों तो यह बात ठीक नहीं बैठती कि वे फिर वापस नहीं आते; क्योंकि मधुप पुष्पोंके पास जाते हैं, तो क्या वे पुष्प ही हो जाते हैं? बाण जिसपर छोड़े जाते हैं उससे वे भिन्न होते हैं और जिसपर छोड़े जाते हैं उससे मिलकर पुनः पीछे लौटकर गिर पड़ते हैं ठीक इसी प्रकार वे जीव भी आपसे मिल करके फिर अवश्य ही लौट आवेंगे अथवा यदि आप और वे जीव स्वभावतः एक ही हों तो फिर कौन किसमें मिलता है? शस्त्र अपने-आपको ही कैसे काट सकता है? इसीलिये जैसे देहके साथ अवयवोंके होनेवाले संयोग और वियोगकी बात नहीं कही जा सकती, ठीक वैसे ही जो जीव आपसे भिन्न ही नहीं हैं, उनका आपके साथ संयोग और वियोग होनेकी बात समझके बाहर है और जो सदा भिन्न ही हैं, वे कभी आपमें मिलकर एकाकार नहीं हो सकते। फिर ऐसी दशामें इस बातका विचार करना एकदम निरर्थक ही सिद्ध होता है कि वे आपके पाससे फिर वापस आते हैं अथवा नहीं। इसीलिये हे प्रभो! यह बात आप मुझे साफ-साफ बतलावें कि जो आपके साथ मिलकर

एकाकार हो जाते हैं और फिर वापस नहीं आते, वे कौन हैं? अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर उन सर्वज्ञाधिपति भगवान्‌को अत्यन्त संतोष हुआ, कारण कि अपने शिष्यके इस प्रश्नसे उनको अर्जुनकी बुद्धिमत्ता अच्छी तरह दृष्टिगत होने लगी। भगवान्‌ने कहा—"हे महामति! जो मुझे प्राप्तकर फिर वापस नहीं आते, वे मुझसे भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय तो मैं और वे स्वभावतः एक ही हैं—हम दोनों अभिन्न ही हैं। किंतु यदि बाह्य-दृष्टिसे विचार किया जाय तो यह भी मालूम पड़ता है कि वे मुझसे पृथक् हैं। जैसे जलपर उठनेकी दशामें लहरें उससे अलग जान पड़ती हैं, पर यदि विचार किया जाय तो यही मानना पड़ता है कि वे तरंगे भी जल ही हैं अथवा जैसे आभूषण स्वर्णसे पृथक् दिखायी देते हैं, पर यथार्थतः वे स्वर्ण ही होते हैं, ठीक वैसे ही हे किरीटी! यदि ज्ञान-दृष्टिसे देखा जाय तो वे मुझसे अभिन्न ही हैं और जो भिन्नता दृष्टिगत होती है, वह एकमात्र अज्ञानके कारण है। यदि ब्रह्म-वस्तुका सम्यक् विचार किया जाय तो ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है, जो 'एकमेवाद्वितीय' से भिन्न मानी जा सके तथा जो भिन्नताकी दृष्टिसे मुझसे पृथक् की जा सके? यदि सूर्य-बिम्ब सारे गगन-मण्डलको व्याप्त करके एक ही गोला बन जाय तो फिर उसका प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ेगा और उसकी रश्मियाँ जायँगी तो कहाँ जायँगी? हे धनंजय! कल्पान्तके सर्वव्यापी जलमें भी क्या कभी छोटी-छोटी धाराएँ आकर मिलती हैं? ठीक इसी प्रकार मुझ विकारहीन तथा 'एकमेवाद्वितीय' के अंश कैसे हो सकते हैं? पर सीधा प्रवाहित होनेवाला जल भी दो धाराओंके एक स्थानपर मिलनेपर कुछ टेढ़ा हो जाता है अथवा जलकी उपाधिके कारण सूर्य भी प्रतिबिम्ब-रूपसे एकको जगह दो दिखायी देने लगता है। भला यह कैसे कहा जा सकता है कि आकाश चौकोर है अथवा गोल है? पर जब वही आकाश किसी घट अथवा मठमें रहता है, तब हम उसे

गोल अथवा चौकोर भी कह सकते हैं। जिस समय कोई व्यक्ति स्वप्नमें राजा होनेका दृश्य देखता है, उस समय निद्राके बलपर क्या वह अकेला ही सब व्यक्ति और समस्त वस्तुएँ नहीं बन जाता तथा सारे जगत्को अपने-ही-आपसे नहीं भर देता? नकली स्वर्ण अथवा और कोई चीज मिलानेपर जैसे असली स्वर्ण भी कुछ और ही प्रकारका कस दिखलाने लगता है। ठीक वैसे ही मेरा शुद्ध स्वरूप भी जिस समय मायासे आच्छादित हो जाता है, उस समय अज्ञानकी उत्पत्ति होती है। वह अज्ञान है, '**कोऽहम्**' यानी मैं कौन हूँ। इसी अज्ञानसे मनमें यह विकल्प उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूँ और फिर इसी बातपर विचार-विमर्श करके जीव यह निश्चय करता है कि मैं शरीर हूँ। (३०८—३४२)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

इस प्रकार आत्मज्ञान जब देहसे मर्यादित होता है, तब अल्पताके कारण उस देहमें मेरा अंश भासमान होता है। वायु प्रवाहित होनेके कारण समुद्र तरंगमय दृष्टिगोचर होता है और यही कारण है कि संकीर्ण विचार-धाराओंवाले जीवोंको ऐसा प्रतीत होता है कि वे तरंगें भी समुद्रका अंश ही हैं। इसी प्रकार जड़को चैतन्य प्रदान करनेवाला तथा देहाभिमान उत्पन्न करनेवाला मैं भी इस जीवलोकमें जीवके रूपमें ही भासमान होता हूँ। जीवकी मर्यादित बुद्धिको अपने अगल-बगल जो नाना प्रकारके व्यापार होते हुए दृष्टिगत होते हैं; उन्हींके लिये 'जीवलोक' शब्दका व्यवहार होता है। जन्म और मृत्युको सच्चा माननेको ही मैं जीवलोक अथवा संसार नामसे सम्बोधित करता हूँ। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि इस जीवलोकमें तुम मुझे कैसे देख सकते हो। जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाला चन्द्रमा वास्तवमें जलके बाहरका ही होता है अथवा यदि स्फटिक-मणिको कुंकुमपर रख दें तो साधारण व्यक्तिको वह लाल रंगका जान पड़ता है, पर यथार्थतः वह लाल रंगका नहीं होता। ठीक इसी प्रकार बिना अपनी अनादिता तथा

क्रियाहीनतामें किसी प्रकारकी कोई बाधा पहुँचाये ही मैं जो कर्ता तथा भोक्ताके रूपमें भासमान होता हूँ, उसे एकमात्र भ्रम ही जानना चाहिये। इन सबका आशय यही है कि शुद्ध आत्मब्रह्म ही प्रकृतिके साथ मिलकर स्वयं ही इस मायिक जगत्‌का प्रवाह आरम्भ करता है। फिर वह आत्मा यही समझकर अपने समस्त क्रियाकलाप करने लगता है कि मन इत्यादि छहों इन्द्रियाँ और कर्ण इत्यादि मायाजनित अवयव सब मेरे ही हैं। जैसे कोई संन्यासी स्वप्नावस्थामें स्वयं ही अपना समस्त कुटुम्ब बन जाता है और फिर उस कुटुम्बकी चिन्ताके कारण लोभ-पाशमें आबद्ध होकर इतस्ततः भ्रमण करने लगता है तथा नाना प्रकारके सांसारिक व्यवहार करने लगता है। वैसे ही जीवात्मा भी स्वयंको भूल जाता है और तब अपने-आपको प्रकृति अथवा मायाके सदृश ही समझकर उसीमें अनुरक्त हो जाता है, तथा उसीके हितके समस्त कार्य करने लगता है। तदनन्तर, वह मनरूपी रथपर विराजमान हो जाता है, कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करता है तथा शब्दोंके वनमें प्रविष्टकर चक्करमें पड़ जाता है। वह जीवात्मा उसी प्रकृतिकी बागडोर पकड़कर त्वचाके मार्गपर चल पड़ता है और स्पर्श विषयके घनघोर वनमें प्रवेश करता है। यदा-कदा वह आँखोंमें प्रवेश करके रूप-विषयके गिरि-कन्दराओंमें भटकता रहता है अथवा हे धनंजय! वह जिह्वामें संचार करके अपने आपको रसरूपी विषयकी गुफामें पहुँचा देता है अर्थात् जिस समय यह देहाभिमानी जीवात्मा घ्राणेन्द्रियमें प्रवेश करता है, उस समय वह गन्धरूपी विषयके दारुण वनमें भी चला जाता है। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव मनको हृदयसे लगाकर शब्द इत्यादि विषय-समुदायोंका उपभोग करता है। (३४३—३६०)

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

पर जीवात्मा जिस समय एकसे अधिक शरीरमें प्रवेश करता है, तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं ही कर्ता तथा भोक्ता हूँ। हे धनंजय!

जब कोई व्यक्ति राजकीय ठाट-बाटसे किसी जगहमें निवास करता है, तब उसे देखनेमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह बहुत ऐश्वर्यवान् तथा विलासी है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा जिस समय शरीरका आश्रय स्वीकार करता है, उस समय उसकी अहंकर्तावाली भावना अत्यधिक बलवती हो जाती है तथा विषयों और इन्द्रियोंकी उछल-कूद आरम्भ हो जाती है अथवा जिस समय जीवात्मा देहका परित्याग करता है, उस समय वह इन्द्रियोंका समस्त साज-सामान भी अपने साथ ही ले जाता है। जैसे अतिथिका अनादर होनेपर वह उस अनादर करनेवाले व्यक्तिके पुण्यरूपी सम्पत्तिको हरण कर ले जाता है, कठपुतलियोंका चलना फिरना इत्यादि उनको चलानेवाली डोरी अपने साथ ले जाती है, अस्ताचलकी ओर जानेवाला सूर्य जैसे लोगोंके आँखोंका प्रकाश भी अपने साथ ले जाता है अथवा पवन जैसे फल और पुष्पोंका परिमल उड़ा ले जाता है, ठीक वैसे ही हे धनंजय! देहका परित्यागकर जानेके समय उसका स्वामी जीवात्मा भी मनसहित छहों इन्द्रियोंको अपने साथ ही ले जाता है। (३६१—३६७)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

फिर इस लोकमें अथवा स्वर्गलोकमें जहाँ कहीं और जो देह वह जीवात्मा ग्रहण करता है, वहीं और उसी देहमें वह उन्हीं मन इत्यादि इन्द्रियोंका विस्तार करता है। हे किरीटी! जैसे दीपक बुझ जानेपर वह अपनी प्रभा अपने साथ ही लेता जाता है, पर फिरसे प्रज्वलित करनेपर वही प्रभा लेकर प्रकट होता है। ठीक वैसे ही इस जीवात्मा और देहके सम्बन्धमें भी होता है। कहनेका आशय यह है कि जो लोग गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते, उन लोगोंकी दृष्टिमें व्यवहारका यही प्रकार दिखायी देता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे लोग यह मानते हैं कि आत्मा वास्तवमें इस देहमें आती है, वास्तवमें वह विषयोंका उपभोग करती है और फिर इस देहका परित्यागकर प्रस्थान कर जाती है। पर यदि यथार्थ

दृष्टिसे देखा जाय तो स्वयं आत्माकी यह मान्यता है कि यह सब आना, जाना, करना तथा भोगना इत्यादि सिर्फ माया है। (३६८—३७२)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

जिस समय लोग यह देखते हैं कि देहका आकार सामने खड़ा है, उसमें चेतनाका संचार हुआ है और उसके कारण यह देह हिलता-डुलता है, उस समय वे यही कहते हैं कि देहमें आत्माका संचार हुआ है। इसी प्रकार हे सुभद्रापति! इस देहकी संगतिसे भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें जो संचरण करती हैं, उसीको लोग भोगना शब्दसे सम्बोधित करते हैं। तदनन्तर, भोगके कारण क्षीण हो जानेवाला देह जब स्वतः निश्चेष्ट हो जाता है, तब लोग यह चिल्लाना शुरू करते हैं कि अरे जीव चला गया! पर हे पाण्डव! जिस समय वृक्ष हिलता हो, केवल उसी समय यह समझ बैठना कि वायु चल रही है और जिस समय वृक्ष निश्चल हो, उस समय यह समझ बैठना कि वायु नहीं चल रही है, क्या कभी यह कथन समीचीन और युक्तियुक्त हो सकता है? अथवा जिस समय दर्पण सामने उपस्थित हो, क्या उसी समय यह मानना चाहिये कि हमारा रूप हमें प्राप्त हुआ है और इससे पूर्व हमारा रूप था ही नहीं? अथवा जिस समय दर्पणको दूर रख दिया जाता है और उसमें दृष्टिगत होनेवाले प्रतिबिम्बका आभास समाप्त हो जाता है, तो क्या उस समय व्यक्तिको यह जान लेना चाहिये कि हमारे रूपका ही वास्तवमें लोप हो गया है? वास्तवमें आकाशका गुण शब्द है; पर जब मेघोंकी गर्जना सुनायी देती है, तब उस गर्जनका आरोप मेघोंमें किया जाता है अथवा यथार्थतः बादल ही चन्द्रमाके सम्मुख तीव्र गतिसे दौड़ते हैं, पर सामान्यतया यही समझा जाता है कि चन्द्रमा ही वेगपूर्वक दौड़ रहा है। ठीक इसी प्रकार

जिनकी आँखें नहीं होती हैं, वे सिर्फ भ्रमवश उस विकारहीन स-आत्म सत्तापर देहके धारण करने तथा त्यागनेका व्यर्थ ही आरोप करते हैं। इन सभी दशाओंमें आत्मा अनवरत अपनी ही जगहपर विद्यमान रहती है तथा देहके धर्म देहमें ही रहते हैं; पर इन समस्त चीजोंको अच्छी तरहसे और यथार्थरूपमें देखनेवाले विवेकी व्यक्ति कुछ दूसरे ही होते हैं। ज्ञान मिल जानेके कारण जिनके नेत्र इस देहके ऊपरी आवरणमें ही नहीं उलझे रहते, ग्रीष्म-ऋतुके सूर्यकी रश्मियोंकी तरह विवेकका विस्तार होनेके कारण जिनके भीतर स्वरूपका स्फुरण हो चुका होता है, एकमात्र वही ज्ञानी व्यक्ति उस शुद्ध आत्माको जानते हैं। नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशका जिस समय सिन्धुमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय यह बात स्पष्टरूपसे समझमें आती है कि आकाश टूटकर सिन्धुमें नहीं आ पड़ा, अपितु यह केवल उसका प्रतिबिम्ब है? जिस जगहपर आकाशको रहना चाहिये, वह वहींपर सदा रहता है तथा नीचे दृष्टिगत होनेवाला उसका यह आभास सिर्फ मिथ्या जान पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा यद्यपि इस देहके साथ संलग्न दृष्टिगत होती है, पर फिर भी उसका इस प्रकार दृष्टिगोचर होना एकमात्र आभास है। जो हलचल प्रवाहमें दिखायी देती है, वह केवल प्रवाहमें ही होती है; यद्यपि उस प्रवाहमें चन्द्रमाकी चन्द्रिका हिलती-डुलती दिखायी देती है; तो भी वास्तवमें वह चन्द्रिका स्वयं चन्द्रमामें ही स्थित रहती है अथवा जलका गड्ढा कभी तो जलसे लबालब भर जाता है और कभी सूख जाता है। जिस समय वह जलसे भरा रहता है, उस समय उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखायी देता है और जिस समय वह सूख जाता है, उस समय उसमें प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता; पर सूर्य सदा ज्यों का त्यों रहता है। ठीक इसी प्रकार विवेकशील व्यक्ति यह देखते और समझते हैं कि देह चाहे जन्म ग्रहण करे और चाहे मृत्युका वरण करे, पर मैं सदा ज्यों-का-त्यों और अविकृत रहता हूँ। घट अथवा मठका चाहे निर्माण हो और चाहे विनष्ट हो जाय, पर आकाश

सदा ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। ठीक इसी प्रकार आत्मसत्ता भी सदा अखण्ड और अव्यय रहती है और एकमात्र अज्ञानके द्वारा कल्पित देह ही जन्म धारण करता एवं मरता है और विवेकीजन ही इस बातका सम्यक् ज्ञान रखते हैं। अपने निर्मल आत्मज्ञानके कारण ज्ञानीजन यह बात भलीभाँति जानते हैं कि चैतन्य न तो किसीमें भरा ही जाता है और न किसीमेंसे निकलता ही है तथा न वह कोई कर्म करता ही है और न कराता ही है। अब चाहे ज्ञानकी सीमा ही क्यों न लाँघ जाय, परमाणुका भी पता लगानेवाली सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म बुद्धि क्यों न मिल जाय तथा समस्त शास्त्रोंमें दक्षता क्यों न हासिल हो जाय, परन्तु जबतक इस प्रकारकी विद्वत्ताके जोड़का वैराग्य मनमें न उत्पन्न हो, तबतक मेरे सर्वात्मकस्वरूपकी उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। हे धनुर्धर! व्यक्तिकी यदि ऐसी अवस्था हो कि वह अपने मुखसे ज्ञानकी बहुत-सी बातें बघारता हो, पर उसके चित्तमें विषयोंका दृढ़ और स्थायी निवास हो तो यह बात निर्विवाद सत्य है कि मेरे स्वरूपकी कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। भला स्वप्नमें बड़बड़ानेवाले व्यक्तिके द्वारा रचे हुए ग्रन्थसे क्या कभी व्यवहारकी समस्याओंका निराकरण हो सकता है? अथवा क्या कभी किसी पुस्तकको हाथसे स्पर्श करनेमात्रसे ही उसे पढ़नेका फल मिल सकता है? अथवा क्या नेत्र बन्द करके और सिर्फ घ्राणेन्द्रियके साथ मौक्तिकका सम्पर्क कराकर उसका मूल्यांकन किया जा सकता है? ठीक इसी प्रकार यदि चित्त अहंकारसे परिपूर्ण हो और व्यक्ति सारे शास्त्रोंकी चर्चा करता हो, तो करोड़ों बार जन्म धारण करनेपर भी कभी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं जो एक हूँ और जीवमात्रमें व्याप्त रहता हूँ, उस अपनी व्याप्तिका अब मैं स्पष्टरूपसे निरूपण करता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (३७३—३९७)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

जिस तेजसे सूर्यसहित यह समस्त विश्व प्रकाशित होता है, वह सारा-

का-सारा तेज मेरा ही है। हे पाण्डुनन्दन! जिस समय सूर्य जलका अंश शोषित कर अस्ताचलकी ओर चला जाता है, उस समय शुष्क जगत्‌को जो चन्द्रमा आर्द्रता पहुँचाता है, उस चन्द्रमाकी चन्द्रिकाएँ भी मेरा ही तेज है और अग्निका जो तेज जलाने तथा भोजन पकाने इत्यादिका कार्य करता है, वह भी मेरा ही तेज है। (३९८—४००)

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

मैं ही इस भूतलमें पैठ करके उसे सँभाले रहता हूँ; यही कारण है कि पृथ्वी मिट्टीके ढेलेके रूपमें होनेपर भी महासिन्धुके जलमें नहीं गलती। पृथ्वी अपनी जिस सामर्थ्यके कारण अपार जनसमूहोंका बोझ वहन करती है, वह सामर्थ्य भी मैं ही उसे प्रदान करता हूँ। हे पाण्डुसुत! गगनमण्डलमें चन्द्रमाके रूपमें मैं ही अमृतके चलते-फिरते सरोवरके सदृश हुआ हूँ। गगनमण्डलसे मेरी जो चन्द्ररश्मियाँ अवनितलपर आती हैं, उन्हें मैं ही अमृतसे लबालब भरकर सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता हूँ। इस प्रकार मैं ही धान्य इत्यादिका सुकाल करके अन्नके द्वारा जीवमात्रका भरण-पोषण करता हूँ। यद्यपि इस प्रकार अन्नकी तो यथेष्ट प्रचुरता हो जाती है, पर उसको पचाकर जीवमात्रको संतृप्त करनेवाली जठराग्निकी जो शक्ति है, वह कहाँसे आती है? (४०१—४०६)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

इसीलिये समस्त जीवोंके देहमें नाभिकन्दपर अँगीठी सुलगाकर उनके जठरमें मैं ही अग्निरूपमें निवास करता हूँ तथा प्राण एवं अपानवायुकी धौंकनी अहर्निश चलाकर जीवोंके जठरोंमें मैं जितने पदार्थ पचाता हूँ, उनकी कोई गणना ही नहीं है। शुष्क, स्निग्ध, सुपाच्य और भूने हुए—चारों तरहके अन्न मैं पचाता हूँ। कहनेका भाव यह है कि जितने जीव हैं, वे सब-के-सब मैं ही हूँ तथा इन्हें जो जीवन मिला हुआ है, वह

भी मैं ही हूँ और उस जीवनको गतिशील बनानेवाली जठराग्नि भी मैं ही हूँ। अब ऐसी स्थितिमें मैं अपनी व्यापकताका चमत्कार तुम्हें कहाँतक बतलाऊँ! वास्तविकता यह है कि इस जगत्में मेरे अलावा और दूसरी कोई चीज है ही नहीं, एकमात्र मैं ही सर्वत्र विद्यमान हूँ। सम्भव है, तुम्हारे अन्त:करणमें यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि यदि यही बात है, तो फिर क्या कारण है कि कुछ जीव तो सदा सुखी रहते हैं, और कुछ दु:खके सागरमें ही गोता लगाते रहते हैं? यदि पूरे नगरमें एक ही दीपकका प्रकाश है तो फिर कुछ जगहोंमें घोर अन्धकार तथा कालिमा क्यों दृष्टिगोचर होती है? अतएव अब मैं तुम्हारे इस प्रश्नका भी समाधान कर देता हूँ। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो सर्वत्र एकमात्र मैं ही हूँ और इस संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझसे अलग हो। किन्तु मैं प्राणियोंको उनकी बुद्धिके अनुसार ही भासता हूँ। आकाश ध्वनि नामक गुण एकरूप ही है, पर वाद्योंके भेदानुसार स्वत: भिन्न-भिन्न प्रकारके नाद होते हैं। लोगोंके व्यवहारोंसे एकदम अलिप्त तथा पृथक् रहनेवाला सूर्य उदित होता है और वह सबसे एकदम दूर रहता है, पर फिर भी वह लोक-व्यवहारको संचालित करनेमें उपयोगी सिद्ध होता है। बीजोके धर्मानुसार ही जल किसी वृक्षके रूपमें रूपान्तरित होता है। ठीक इसी प्रकार मेरा स्वरूप भी जीवके रूपमें परिणत होता है। एक व्यक्ति जड़ बुद्धिका है और दूसरा बुद्धिमान्। दोनोंके समक्ष दो लड़ीवाला हार रखा है। जड-बुद्धिवाले व्यक्तिको तो वह हार सर्प जान पड़ता है तथा उसको भयग्रस्त करनेका कारण होता है; परन्तु बुद्धिमान्की समझमें उसका वास्तविक स्वरूप आ जाता है और वह हार उसके लिये आनन्द देनेवाला होता है। जैसे स्वाती नक्षत्रका जल सीपीकी कुक्षिमें पहुँचकर मोतीका रूप धारण करता है, परन्तु सर्पके मुखमें पहुँचकर वही जल विष बन जाता है, ठीक वैसे ही मैं ज्ञानियोंके लिये सुखरूप हो जाता हूँ तथा अज्ञानियोंके लिये दु:खरूप बन जाता हूँ। (४०७—४२०)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्राणियोंके अन्तःकरणमें अहर्निश यह बात स्फुरित होती रहती है कि 'मैं अमुक हूँ', वह अमुक वस्तु मैं ही हूँ। परन्तु सन्त-समागमसे, योग और ज्ञानका निरन्तर अभ्यास करनेसे तथा वैराग्यपूर्वक गुरु-चरणोंकी सेवा करनेसे और इस प्रकारके अन्यान्य सत्कर्मोंके करनेसे जिन लोगोंका अशेष ज्ञान विनष्ट हो जाता है तथा जिनका अहंभाव मुझमें आकर विश्राम पाता है, वे लोग स्वतः मुझे पहचान लेते हैं तथा मुझे यानी आत्मतत्त्वको पहचानकर सदा सुखी होते हैं। उन्हें ऐसी सुखसम्पन्न स्थितिमें पहुँचानेके लिये भला मेरे अलावा दूसरा और कौन कारण हो सकता है? हे धनंजय! सूर्योदय होनेपर जैसे हमलोग उस सूर्यके प्रकाशसे ही उसे देखते हैं, वैसे ही मेरे ही साधनसे मेरा ज्ञान होता है। इसके विपरीत देहाभिमानके पाशमें आबद्ध रहनेके कारण तथा निरन्तर संसारकी ही प्रतिष्ठा श्रवण करते रहनेके कारण जिनकी अहंभावना देहमें ही डूबी रहती है, वे लोग सांसारिक और पारमार्थिक सुख प्राप्त करनेके लिये कर्मकाण्ड-मार्गकी दौड़ लगाते रहते हैं और परिणामस्वरूप उनके हिस्सेमें दुःख-ही-दुःख रहता है। पर जैसे जाग्रत्-अवस्थामें दृष्ट-दृश्य ही स्वप्नका कारण होता है, ठीक वैसे ही हे अर्जुन! मैं ही उनके इस अज्ञानसे उत्पन्न भ्रमका भी कारण हूँ। मेघोंके कारण दिनमें अँधेरा छा जाता है, पर वे मेघ भी दिनके कारण ही दृष्टिगत होते हैं। ठीक इसी प्रकार मेरा स्वरूप जो परदेसे ढक जाता है और प्राणियोंको एकमात्र संसार-सम्बन्धी विषय ही दिखायी देते हैं, वह भी मेरी ही सत्ताके कारण ही दृष्टिगोचर होते हैं। हे धनंजय! जैसे जाग्रत्-अवस्था ही निद्राका भी तथा जागरणका भी कारण है, ठीक वैसे ही मैं ही इन जीवोंके ज्ञान और अज्ञान—इन दोनोंका भी कारण हूँ। जैसे रस्सी ही सर्पाभासका भी तथा रस्सीके ज्ञानका भी मूल कारण होती है, ठीक वैसे ही मैं ही ज्ञानका भी तथा

अज्ञानका भी और अज्ञानके कारण दृष्टिगत होनेवाले समस्त सांसारिक प्रसारका भी मूल कारण हूँ। इसीलिये हे किरीटी! वास्तवमें मेरा जो स्वरूप है, उस स्वरूपकी परिकल्पना न होनेपर जिस समय वेद मुझे जाननेके लिये आगे कदम बढ़ाये, उस समय उनमें भिन्न-भिन्न शाखाएँ निकलने लगीं। तो भी यही जानना चाहिये कि वे शाखाएँ भी मेरा ही ज्ञान कराती हैं कारण कि चाहे पूरबकी ओर बहनेवाली नदी हो और चाहे पश्चिमकी ओर बहनेवाली नदी हो, दोनों ही अन्ततः समुद्रमें जाकर मिलती हैं। जैसे परिमलसहित पवनके झोंके आकाशमें लीन होते हैं, ठीक वैसे ही शब्दोंके सहित श्रुतियाँ भी '**अहं ब्रह्मास्मि**' वाले महासिद्धान्तमें लीन होती हैं और फिर इस प्रकार सारी श्रुतियाँ जो लज्जित होकर स्तब्ध हो जाती हैं, सो यह कार्य भी मेरे ही प्रकाशसे होता है। तदनन्तर, जो निर्मल ज्ञान होनेपर श्रुतियोंके सहित समस्त जगत् लीन हो जाता है, उस ज्ञानको जाननेवाला भी एकमात्र मैं ही हूँ। जैसे निद्रा समाप्त होनेपर स्वप्नावस्थाकी कोई बात व्यक्तिमें नहीं रह जाती और वह समझ लेता है कि केवल मैं ही हूँ, ठीक वैसे ही बिना किसी द्वैताभास हुए मैं स्वयं अपनी अद्वैतता जानता हूँ। मैं ही आत्मबोधका कारण भी हूँ। इतना होनेपर जैसे कपूरमें अग्नि प्रज्वलित करनेपर, हे वीरशिरोमणि! न तो काजल ही अवशिष्ट रह जाता है और न अग्नि ही अवशिष्ट रहती है, ठीक वैसे ही जो ज्ञान समस्त अविद्याको जलाकर राख कर डालता है, स्वयं वह ज्ञान ही जिस समय विलुप्त हो जाता है, उस समय होना तथा न होना अथवा जन्म-मृत्यु कुछ भी शेष नहीं रह जाता। जो चोर सारे विश्वको ही चुराकर अपने साथ ले गया हो, भला उसका पता कैसे लगाया जा सकता है? ठीक इसी प्रकारकी जो एक अवर्णनीय शुद्धावस्था है, वह भी मैं ही हूँ। इस प्रकार जिस समय एकमात्र स्वरूपी ब्रह्म जड़ और अजड़ सबको आच्छादित कर लेता है, उस समय उस उपाधिरहित निरंजन आत्मस्वरूपतक पहुँच हो जाती है।"
भगवान्‌की इन सब बातोंका अर्जुनके अन्तःकरणपर ठीक उसी प्रकार प्रतिबिम्ब

पड़ रहा था, जिस प्रकार क्षीर-सिन्धुमें आकाशकी चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है अथवा जिस प्रकार किसी चमकती हुई दीवारपर उसके सामनेके चित्रका प्रतिबिम्ब पड़ता है। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें एक ऐसा विलक्षण गुण है कि ज्यों-ज्यों वह ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों उसका चस्का भी निरन्तर बढ़ता जाता है। इसलिये अनुभवी जनशिरोमणि अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव! अपनी व्यापकताका निरूपण करते समय बातोंके आवेशमें आप अपने जिस अनुपाधिक स्वरूपका वर्णन कर गये, उस स्वरूपका आप मेरे लिये एक बार फिर वर्णन करें।" इसपर द्वारिकानाथने कहा—"हे अर्जुन! तुमने यह प्रश्न पूछकर मेरे मनको गद्‌गद कर दिया है। वास्तवमें मुझमें भी प्रेमपूर्वक निरन्तर बोलते रहनेकी बहुत चाह रहती है; पर क्या करूँ, तुम्हारे सदृश प्रश्नकर्ता मुझे कोई मिलता ही नहीं। आज तुम्हारे रूपमें मुझे अपने मनोरथका फल प्राप्त हुआ है; क्योंकि तुम नि:संकोच मुझसे मन भरकर प्रश्न करते हो। अद्वैततक पहुँचनेपर भी जिस निर्मल उपाधिरहित स्वरूपका अनुभव हो सकता है, उसी स्वरूपके बारेमें आज तुमने प्रश्न करके मुझे परम सुखी किया है। जिस दर्पणके सम्मुख उपस्थित होनेपर स्वयं ही अपनी आँखें दिखायी देती हैं, ठीक उसी दर्पणकी भाँति तुम्हारे सदृश प्रश्न-कुशल और निर्मल श्रेष्ठ सुहृद् आज मुझे बातचीत करनेके लिये मिला है। हे सुहृद्! यह बात नहीं है कि तुम तो अज्ञानी बनकर सब बातें पूछो और मैं गुरु बनकर तुम्हें सारी बातें सिखलाऊँ।" यह कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको गले लगा लिया और तब उन्होंने उसकी ओर कृपापूर्वक देखकर जो कुछ कहा, वह सब ध्यानपूर्वक सुनो। भगवान्‌ने कहा—"हे किरीटी! भले ही बोलनेवाले होठोंकी संख्या दो हो, पर फिर भी उन दोनोंसे बात एक ही निकलती है और चलनेवाले पैर भले ही दो हों, पर फिर भी उनसे चलना एक ही होता है। ठीक इसी प्रकार तुम्हारा प्रश्न पूछना और मेरा निराकरण करना दोनों एक ही है। तुम और मैं दोनों एक ही अर्थ अथवा आशयपर दृष्टि रखते हैं, अतएव इस समय प्रश्नकर्ता और समाधानकर्ता दोनों एक ही हैं।"

इतना कहते-कहते श्रीकृष्ण प्रेमसे सराबोर हो गये तथा उन्होंने अर्जुनको दुबारा गले लगा लिया। पर फिर वे थोड़ा सशंकित होकर मन-ही-मन कहने लगे कि प्रेमका इतना मोह पालना ठीक नहीं है। यह मोह दूर करना चाहिये। यद्यपि गुडमें मिठास-ही-मिठास होती है, पर फिर भी उस मिठासको समाप्त होनेसे बचानेके लिये उसमें जरा-सा लवण (क्षार) मिलाना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार यदि प्रेमका यह मोहपाश इस समय तोड़ा नहीं जायगा तो पासमें आये हुए इस संवाद-सुखसे भी हाथ धोना पड़ेगा। पहलेसे ही यह नर है और मैं नारायण हूँ। हम दोनोंमें कोई भेद नहीं है; पर फिर भी प्रेमका यह वेग इस समय मुझे जहाँ-का तहाँ रोकना ही चाहिये। यह सोचते ही देवने तत्क्षण अर्जुनसे पूछा—"हे वीरेश! अभी तुम क्या पूछ रहे थे?" यह सुनते ही जो अर्जुन अद्वैत-प्रेमसे भगवान्‌के स्वरूपमें घुलने-मिलनेका उपक्रम कर रहा था, उसके होश फिर ठिकाने आ गये तथा वह फिर प्रश्नावलीकी ओर प्रवृत्त हुआ। उसने प्रेमातिरेकसे गद्‌गद होकर पूछा—"हे देव! मैंने यही प्रश्न पूछा था कि आप मुझे अपना उपाधिहीन स्वरूप बतलावें।" यह सुनकर श्रीशार्ङ्गधरने सर्वप्रथम उपाधिके दो प्रकारोंका विवेचन करना शुरू किया। इसपर कुछ लोग यह शंका खड़ी कर सकते हैं कि जब अर्जुनका प्रश्न उपाधिरहित वस्तुके सम्बन्धमें था, तब भगवान्‌ने इस प्रकरणमें उपाधियोंका बखेड़ा क्यों खड़ा कर दिया? इस शंकाका समाधान यह है कि दहीमेंसे सारांश निकालना ही नवनीत निकालना कहलाता है और निकृष्ट अंशको जलाना ही स्वर्णको तपाकर खरा करना है। जब हाथसे सेवारको हटाकर एक ओर रख दी जाती है, तभी शुद्ध जल प्राप्त हो सकता है। मेघ जब नहीं रह जाते, तभी केवल आकाश अवशिष्ट रह जाता है। जिस समय धानके ऊपरका छिलका हटा दिया जाय, उस समय अन्न-कण मिलनेमें क्या विलम्ब हो सकता है? ठीक इसी प्रकार जिस समय विचार-शक्तिके द्वारा उपाधियुक्त वस्तुकी उपाधियोंका अवसान होता है, उस समय किसीको यह बतलानेकी जरूरत नहीं रह जाती कि निरुपाधिक

क्या है ? जिस समय किसी विवाहिता स्त्रीसे अनेक नामोंका उच्चारण करनेके लिये कहा जाता है, उस समय उस प्रकरणमें यदि कहीं उसके पतिका नामोल्लेख आ जाता है, तो वह उस नामका उच्चारण नहीं करती, अपितु तत्क्षण समझ जाती है कि मुझे लज्जित करनेके लिये ही मेरे पतिका नाम मेरे सामने उपस्थित किया गया है। ठीक इसी प्रकार उस निर्गुण, निरुपाधिक और निराकार आत्माका स्वरूप, वाणी केवल स्तब्ध होकर प्रकट करती है। यही कारण है कि जिन बातोंका उल्लेख नहीं किया जा सकता और जब उसी बातके उल्लेखका प्रसंग आया, तब भगवान्‌ने सर्वप्रथम उपाधियोंका विवेचन आरम्भ किया। जैसे प्रतिपदाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म रेखा दिखलानेके लिये किसी ऊँचे वृक्षकी शाखाका उपयोग किया जाता है, ठीक वैसे ही उस समय उपाधियोंकी चर्चाका उपयोग होगा। (४२१—४७०)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

फिर श्रीकृष्णने कहा—"हे सव्यसाची! इस संसाररूपी नगरको बस्ती बहुत ही छोटी यानी मात्र दो पुरुषोंकी है। जैसे समूचे आकाशमें सिर्फ दिन और रात यही दोनों रहते हैं, वैसे ही इस संसार-राजधानीमें भी सिर्फ दो ही पुरुष रहते हैं। एक तीसरा पुरुष और भी है, पर उसे इन दोनोंका नाम भी रुचिकर नहीं लगता। जिस समय उस पुरुषका उदय होता है, उस समय वह उन दोनोंको नगरसमेत चट कर जाता है। पर इन सब बातोंको छोड़ो। इस समय तो पहले इन्हीं दोनों पुरुषोंकी कहानी सुनो, जो इसी संसाररूपी नगरमें रहनेके लिये आये हैं। इनमेंसे एक तो अन्धा, जड़मति तथा लँगड़ा है और दूसरा काफी हृष्ट-पुष्ट, भला-चंगा है। किन्तु एक ही नगरमें रहनेके कारण इन दोनोंमें परस्पर स्नेह हो गया है। इनमेंसे एकको क्षर और दूसरेको अक्षर नामसे सम्बोधित करते हैं। इन्हीं दोनोंने यह समस्त ससार कसकर भर दिया है। अब तुम यह सुनो कि क्षर कौन है और अक्षर कौन है। हे धनुर्धर! महत्तत्त्वसे लेकर तृणाग्रपर्यन्त जितनी छोटी-बड़ी चर और अचर

वस्तुएँ इस संसारमें हैं अथवा मन या बुद्धिमें जितने विषय आ सकते हैं, पंच महाभूतोंसे निर्मित जो-जो वस्तुएँ हैं तथा जिन-जिनका नाम, रूप है, तीनों गुणोंकी व्याप्तिमें जो जो चीजें आती हैं, जिस स्वर्णके जीवमात्ररूपी सिक्के बनते हैं, जिन कौड़ियोंके सहारे कालरूपी जुआरीका खेल होता है, विपरीत ज्ञान यानी भ्रम अथवा मोहसे जिन-जिन बातोंका ज्ञान होता है, जो कुछ प्रतिपलमें उत्पन्न होता अथवा विनष्ट होता रहता है, जिस भ्रान्तिरूपी वनको छानकर न होनेपर भी सृष्टिका रूप खड़ा किया जाता है, आशय यह कि जिसे लोग जगत् कहते हैं, जो प्रकृति अथवा मायाके कारण अष्ट भेदोंसे युक्त हुआ है, जो देह-क्षेत्रके द्वारा उन छत्तीस भिन्न तत्त्वोंसे निर्मित है, जिनका पहले वर्णन हो चुका है उनका अब और कहाँतक वर्णन किया जाय—अभी संसारवृक्षवाले रूपकमें जिन सबका वर्णन हुआ है, उन सबके बारेमें यह परिकल्पना कर लेनी चाहिये कि यह हमारे निवास करनेका नगर है और तब यह समझ लेना चाहिये कि चैतन्यने ही ये सब आकार धारण किये हैं। जैसे सिंहका प्रतिबिम्ब किसी कूपमें पड़ता है और उस प्रतिबिम्बको देखकर वह सिंह यह समझ बैठता है कि यह कोई दूसरा सिंह आ गया है और यही समझकर वह क्रोधमें आकर गुर्राता है तथा उस कूपमें कूद पड़ता है अथवा जैसे जलमें विद्यमान, आकाशतत्त्वपर ही आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही अद्वैत भी द्वैतको स्वीकार करता है। हे अर्जुन! इस प्रकार साकार नगरकी परिकल्पना करके आत्मा अपने मूल रूपको भूल जाती है और उसी विस्मृतिमें सो जाती है। फिर जैसे कोई व्यक्ति स्वप्नावस्थामें शयनागार देखे और उसीमें सो जाय, वैसे ही आत्मा भी इस परिकल्पित नगरमें सो जाती है। फिर उसी निद्राके वेगमें वह मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, यह समझने लगती है और तब स्वप्नावस्थामें ही अहंताके शब्दोंमें बड़बड़ाने लगती है। यह सोचने लगती है कि यह पिता है, यह माता है, मैं गोरा हूँ, मैं दीन हूँ और दुर्बल हूँ। यह पुत्र है, यह स्त्री और यह धन है। क्या ये सब मेरे ही नहीं हैं? इसी स्वप्नमें पड़कर वह इहलोक

और परलोकके स्वप्नमें पड़ती है। हे अर्जुन! 'क्षर पुरुष' इसी चैतन्यको कहते हैं, अब जिसे 'क्षेत्रज्ञ' नामसे सम्बोधित करते हैं, जिसकी अवस्थाको जगत्‌के समस्त लोग जीव नामसे पुकारते हैं, जो स्वयंको भूलकर प्राणिमात्रके वशीभूत होकर व्यवहार करता है, उसी आत्माको 'क्षर पुरुष' कहते हैं। जिस दृष्टिसे वह पूर्णरूपेण ब्रह्म ही है, उस दृष्टिसे उसे 'पुरुष' नाम शोभा देता है। इसके अलावा वह देहभरमें निद्रावस्थामें रहता है और इसलिये भी वह पुरुष कहलानेका पात्र है। परन्तु वह उपाधिसे युक्त होता है और यही कारण है कि उसपर व्यर्थ ही क्षरता अथवा नश्वरताकी छाप लगायी गयी है। जैसे लहराते हुए जलके साथ चन्द्रमाका प्रकाश भी इधर-उधर हिलता-डुलता दिखायी देता है, वैसे ही यह भी उपाधिके विकारोंके कारण चंचल-सा दृष्टिगोचर होता है। परन्तु जिस समय वह लहरानेवाला जल शुष्कावस्थाको प्राप्त होता है, उस समय उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाला चन्द्रमाका प्रकाश भी विलुप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब उपाधिका नाश हो जाता है, तब उससे उत्पन्न होनेवाले विकार भी विलुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार उपाधिके बलसे ही इसे क्षणभंगुरता प्राप्त होती है और इसी दुर्बलताके कारण लोग इसे 'क्षर' नामसे सम्बोधित करते हैं। इसीलिये जीव अथवा चैतन्य अथवा जीवात्माको क्षर पुरुष जानना चाहिये।

अब मैं तुम्हें अक्षर पुरुषके बारेमें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। हे वीरशिरोमणि! अक्षर नामका जो यह दूसरा पुरुष है, वह एकमात्र ठीक वैसे ही मध्यस्थ और साक्षीरूपसे देखनेवाला है, जैसे पर्वतोंमें मेरु है। जैसे पृथ्वी, पाताल और स्वर्गके स्थल-भेदोंके अनुसार मेरुगिरि कभी तीन प्रकारका नहीं होता, ठीक वैसे ही यह अक्षर पुरुष भी ज्ञान-अज्ञानमें लिप्त नहीं होता। न तो वह शुद्ध ज्ञानसे एकता ही प्राप्त करता है और न ज्ञानके कारण उसमें द्वैतभाव हो आता है। इस प्रकार केवल ज्ञातृत्वयुक्त तटस्थता ही इसका स्वरूप है। जिस समय मिट्टीका मिट्टीपन समाप्त हो जाता है, उस समय उससे घट इत्यादि पात्र कभी बन नहीं सकते। ठीक उसी मिट्टीपनसे रहित पिण्डकी भाँति यह मध्यस्थ पुरुष है। जिस समय सागर अथवा सरोवर

सूख जाता है, उस समय न तो उसमें तरंगें ही रह जाती हैं और न जल ही अवशिष्ट रह जाता है। उसी सूखे हुए सरोवरकी ही भाँति इस मध्यस्थकी निराकार स्थिति है। हे पार्थ! इसे निद्राकी उसी झपकीके सदृश जानना चाहिये, जिसमें जागर्ति तो चली जाती है, पर स्वप्नावस्था पूर्णतया नहीं आती। जो एकमात्र उस अज्ञानवाली स्थितिमें रहता है, जिसमें विश्वाभास मिट जाता है, पर आत्मज्ञानका उदय नहीं होता, उसीको 'अक्षर' नामसे जानना चाहिये। षोडश कलाओंसे विरहित अमावस्याके चन्द्रमाका जो रूप होता है, उसीके समान इस अक्षरके लक्षण भी समझने चाहिये। समस्त उपाधियोंके नष्ट हो जानेपर जीव-दशा जिसमें लीन होती है, उपाधियाँ विनष्ट हो जानेपर जिसमें ठीक वैसे ही लीन होकर रहती हैं, जैसे फल लगनेपर वृक्ष बीजरूपसे उसमें समाविष्ट रहता है, उसीको अव्यक्त नामसे पुकारते हैं। गाढ़ अज्ञानको सुषुप्ति कहते हैं तथा स्वप्न और जागर्तिको उसके फलोंके रूपमें समझना चाहिये। वेदान्त जिसे बीज-स्थितिके नामसे सम्बोधित करते हैं, वह इस अक्षरपुरुषका ही स्थान है। जहाँसे विपरीत ज्ञान उत्पन्न होकर जागर्ति और स्वप्नके द्वारा नाना प्रकारके तर्क-वितर्कोंके वनमें संचार करता है और हे किरीटी! जहाँसे विश्वासका उत्थान होता है और जहाँ व्यक्त तथा अव्यक्तका मिलन होता है, वही अवस्था अक्षर पुरुष है। दूसरा जो क्षर पुरुष है, वही इस विश्वमें—जागर्ति और स्वप्नके खेल खेलता है। जहाँसे जागर्ति और स्वप्नकी दोनों अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं तथा ब्रह्म-प्राप्तिकी अपेक्षा कुछ अधम कोटिकी जो अवस्था है और जो अज्ञानकी गाढ़ निद्राके नामसे प्रसिद्धि है और हे वीरशिरोमणि अर्जुन! यदि इसके बाद स्वप्न और जागर्तिवाली अवस्थाओंकी उत्पत्ति न हुई होती तो यथार्थतः जिस अवस्थाका नाम ब्राह्मी स्थिति रखा जाता, पर जिसके आकाशमें प्रकृति-पुरुष—ये दोनों मेघ उत्पन्न होते हैं और जिसमें क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका स्वप्नाभास होता है, आशय यह कि अपनी शाखाओंका प्रसार करनेवाले इस संसारवृक्षका जो मूल है, उसीको इस अक्षर पुरुषका स्वरूप

समझना चाहिये। पर जब यह पूर्णतया आत्मस्वरूपमें रहता है, तब इसे पुरुष क्यों कहते हैं? इसका समाधान यह है कि यह मायानगरीमें सोया रहता है और इसीलिये पुरुष कहलाता है। इसी प्रकार जो हलचल विकारोंकी होती है, वह भी अज्ञानका ही एक प्रकार है। उस अज्ञानकी अनुभूति जिस अवस्थामें नहीं होती, वही इसकी सुषुप्तिवाली अवस्था है। यही कारण है कि यह स्वयं कभी विनष्ट नहीं होता और ज्ञानके सिवा अन्य किसी चीजसे इसको नष्ट नहीं किया जा सकता इसीलिये वेदान्तने महासिद्धान्तके प्रान्तमें इसकी अक्षरके नामसे प्रसिद्धि की है। कहनेका भाव यह है कि जीवरूपी कार्यका जो कारण है तथा मायाकी संगति जिसका लक्षण है, उसीको अक्षर पुरुष अर्थात् स्वयं चैतन्य ही जानना चाहिये। (४७१—५२४)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

इस विपरीत ज्ञानसे लोगोंमें जागर्ति और स्वप्न नामकी जो दो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वह मूल गाढ़ अज्ञानमें विलीन हो जाती हैं और जब उस मूल अज्ञानका ज्ञानमें विलय हो जाता है तथा ज्ञान सम्मुख आकर खड़ा होता है, तब ज्ञान भी ठीक उसी प्रकार अज्ञानका नाश कर डालता है, जिस प्रकार ईंधनको अग्नि भस्म कर डालती है; और तब वह ज्ञान आत्मवस्तुकी उपलब्धि कराके स्वयं भी उसी प्रकार अपने-आपको समाप्त कर डालता है, जैसे काष्ठको भस्म कर अग्नि अन्ततः स्वयं भी विनष्ट हो जाती है। उस अवस्थामें ज्ञानके सिवा और जो कुछ अवशिष्ट रह जाता है, उसीको हे अर्जुन! उत्तम पुरुष समझना चाहिये। पूर्वोक्त क्षर और अक्षर—इन दोनों पुरुषोंसे भिन्न एक तीसरा ही पुरुष है। हे अर्जुन! सुषुप्ति और स्वप्न—इन दोनोंसे पृथक् जाग्रत्-अवस्था है—जागर्ति इन दोनोंसे बिलकुल पृथक् एक तीसरी ही अवस्थाको कहते हैं। रश्मि और मृगजल—इन दोनोंसे भिन्न ही सूर्य-मण्डलका विस्तार होता है। ठीक यही बात उत्तम पुरुषके बारेमें भी जाननी चाहिये—वह भी क्षर और अक्षर

दोनोंसे भिन्न होता है। सिर्फ यही नहीं, अपितु जैसे काष्ठमें विद्यमान अग्नि काष्ठसे भिन्न होती है, वैसे ही यह उत्तम पुरुष भी क्षर और अक्षर—इन दोनोंसे भिन्न है। जैसे कल्पान्तकालमें प्रलयका जल समस्त सीमाओंका उल्लंघन करके सारे नदों और नदियोंको एकाकार कर देता है, वैसे ही जिसके समक्ष स्वप्न, सुषुप्ति और जागर्ति—इन तीनों अवस्थाओंका कहीं नामोनिशान ही नहीं रह जाता, जो समस्त अवस्थाओंका ठीक वैसे ही लय कर देता है, जैसे प्रलयकाल अपने विनाशक तेजसे दिन और रात दोनोंको निगल जाता है और इसीलिये जिसमें कहीं द्वैत-अद्वैतका भान भी नहीं होता, उसीको उत्तम पुरुष जानना चाहिये। परमात्माको भी सिर्फ उसी अवस्थामें उत्तम पुरुष कहा जा सकता है, जबकि बिना उसमें मिले जीव-दशाका आश्रय लिया जाय हे अर्जुन! जलमें डूबनेकी चर्चा तभी की जा सकती है, जब व्यक्ति स्वयं जलमें न डूबे और तटपर स्थित होकर किसीको डूबते हुए देखे। ठीक इसी प्रकार वेद भी विवेकके तटपर स्थित होकर इस पार और उस पारकी अथवा उत्तम और कनिष्ठकी बात कह सकते हैं। यही कारण है कि वे क्षर और अक्षर—इन दोनों पुरुषोंको निम्न श्रेणीका मानकर और इन दोनोंसे ऊपर रहनेवाले इस पुरुषको परमात्मरूप कहते हैं। हे अर्जुन! यह बात तुम अच्छी तरहसे जान लो कि परमात्मा शब्दसे पुरुषोत्तमका ही बोध कराया जाता है। वस्तुतः जो ऐसी चीज है, जिसमें न बोलना ही बोलनेके सदृश होता है, कुछ न जानना ही जिसमें ज्ञान होता है और कुछ न होना ही जिसमें होना होता है, 'सोऽहम्' भावका भी जहाँ अस्त हो जाता है, जिसमें कथन करनेवाला कथितके संग और ज्ञाता ज्ञेयके संग मिलकर एकरूप हो जाता है, जिसमें द्रष्टा और दृश्य—इन दोनोंका ही विलय हो जाता है, वही यह उत्तम पुरुष है। बिम्ब और प्रतिबिम्बके मध्यमें स्थित प्रभा यदि हमारी आँखोंसे ओझल हो जाय तो भी हम यह नहीं कह सकते कि वह प्रभा है ही

नहीं अथवा समाप्त हो गयी है, यदि घ्राणेन्द्रिय तथा पुष्पमें विद्यमान सुगन्ध हमें दृष्टिगत न हो तो भी हमें यह नहीं कहना चाहिये कि वह सुगन्ध एकदम है ही नहीं। ठीक इसी प्रकार यह कथन भी प्रामाणिक नहीं है कि द्रष्टा और दृश्यका लोप हो जानेपर फिर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता; और इसीलिये ऐसी स्थितिमें जो कुछ अनुभवमें आता है, उसीको उस उत्तम पुरुषका स्वरूप जानना चाहिये। जो प्रकाशित होनेके योग्य नहीं है, बल्कि प्रकाश है, जो नियमित नहीं किया जा सकता, बल्कि नियन्ता है, जो स्वतः ही अवकाश बनकर फिर भी उसी अवकाशको व्याप्त करता है, जो नादका भी नाद, स्वादका भी स्वाद तथा आनन्दका भी आनन्द होता है, जो समस्त पुरुषोंमें उत्तम, पूर्णताकी भी पूर्णता और विश्रान्तिकी भी विश्रान्ति है, जो सुखका भी सुख, तेजका भी तेज तथा शून्यका भी शून्य है, जो विकासको भी पूर्ण करके अवशिष्ट रहता है, जो ग्रासका भी ग्रसन कर लेता है, जो बहुत-से भी बहुत अधिक है तथा जो बिना अपना स्वरूप त्यागे और बिना विश्वमें मिले ही ठीक वैसे ही विश्वाभासका आधार होता है, जैसे सीपी रजत न होनेपर भी अज्ञानीजनोंको रजतका प्रत्यय करा देती है, स्वर्ण बिना अपना स्वर्णपन छिपाये ही अलंकारोंका रूप धारण करता है अथवा जो इस भासमान होनेवाले जगत्‌का ठीक वैसे ही आधार बना है, जैसे जल और उसमें उत्पन्न होनेवाली तरंगें एक होती हैं तथा उनमें कोई भेद नहीं होता, वह वही उत्तम पुरुष है। जैसे स्वयं चन्द्रमाका बिम्ब ही जलमें पड़नेवाले अपने प्रतिबिम्बके संकोच तथा विकासका प्रमुख कारण होता है, वैसे ही यह भी विश्वके रूपमें कुछ-कुछ प्रकट होता है। परन्तु हाँ, जिस समय विश्वका लोप हो जाता है, उस समय स्वयं इसका लोप नहीं होता। जैसे दिन और रातके कारण सूर्यमें कभी कहीं द्वैधीभाव उत्पन्न नहीं होता, जिसका किसी जगहपर अन्य किसीके साथ व्यय नहीं हो सकता, जिसके साथ तुलना करनेके लिये स्वयं उसके अलावा अन्य कोई नहीं है। (५२५—५५५)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

हे धनंजय! जो अपने-आपको स्वयं ही प्रकाशित करता है और कहाँतक कहा जाय, जिसमें अन्य कोई चीज है ही नहीं, वही मैं उपाधिरहित क्षर तथा अक्षरसे श्रेष्ठ एकमात्र मैं ही हूँ। यही कारण है कि वेद तथा लोग मुझे पुरुषोत्तम नामसे पुकारते हैं। (५५६-५५७)

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

पर इन सब बातोंको जाने दो। हे धनंजय! ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हो चुकनेके कारण जिन लोगोंने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि मैं पुरुषोत्तम हूँ, ज्ञानकी जागर्ति होनेपर जिन्हें यह दृश्य जगत् स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होने लगा है अथवा जो मेरा सत्य ज्ञान हो जानेके कारण मिथ्या प्रपंचोंके चक्करसे ठीक वैसे ही दूर रहते हैं, जैसे माला हाथमें ले लेनेपर उसके कारण होनेवाला सर्पाभास तत्क्षण दूर हो जाता है, जिन लोगोंने मेरे वास्तविक स्वरूपको जानकर भेदभावका ठीक वैसे ही त्याग कर दिया है, जैसे वह व्यक्ति अलंकारत्वको मिथ्या कहता है, जो यह भलीभाँति जानता है कि अलंकार स्वर्णका ही है, जो अपने-आपको सर्वव्यापक, अद्वितीय और स्वयंसिद्ध सच्चिदानन्द समझता है, जो स्वयंको मुझसे अलग नहीं मानता तथा जो मेरे आत्मस्वरूपको अच्छी तरह पहचानता है, उसीके बारेमें यह समझना चाहिये कि उसने सब कुछ जान लिया है। परन्तु उसके विषयमें यह कहना भी यथेष्ट नहीं है; क्योंकि शब्दोंका विषय होनेवाला जो द्वैत है, वह उसमें अवशिष्ट ही नहीं रह जाता। अतएव हे अर्जुन! इस प्रकारके ही व्यक्तिमें मेरी भक्ति करनेकी योग्यता होती है। देखो, गगनके आलिंगनके लिये गगन ही उपयुक्त होता है। जैसे क्षीरसिन्धुकी पहुनाई एकमात्र क्षीरसिन्धु ही कर सकता है, अमृत ही अमृतमें समाकर एकरस हो सकता है अथवा विशुद्ध स्वर्ण जब विशुद्ध स्वर्णमें मिलाया जाता है, तब उन दोनोंका मिश्रण भी

विशुद्ध स्वर्ण ही होता है, ठीक वैसे ही जो मद्रूप होता है, वही मेरी भक्ति कर सकता है। देखो, यदि नदी सागरमें मिलकर एकरूप न हो सकती, तो वह भला उसमें कैसे मिल सकती ? इसी प्रकार जो मद्रूप होकर ऐक्य नहीं प्राप्त कर सकता तो फिर वह मेरे साथ भक्तिका सम्बन्ध कैसे स्थापित कर सकता है ? तरंग जैसे सिन्धुमें समाकर तल्लीन हो जाती है, वैसे ही हे पार्थ! जो अनन्य भावसे दत्त-चित्त होकर मेरा भजन करता है, उसकी भक्तिका मेरे साथ जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्धकी उपमा प्रभा और सूर्यसे ही अच्छी तरह दी जा सकती है। (५५८—५६१)

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इस प्रकार इस अध्यायके आरम्भसे लेकर यहाँतक समस्त शास्त्रसम्मत महत्तत्त्व प्रतिपादित किया गया है, जो कमल-सौरभकी भाँति उपनिषदोंको सुगन्धित करता है तथा जो शब्द-ब्रह्मके (मथनेसे) उपलब्ध होनेवाला अर्थ-सर्वस्व है, वह श्रीव्यासजीकी प्रज्ञा-बलसे निकाला हुआ सार मैंने आपलोगोंकी सेवामें प्रस्तुत किया है। यह ज्ञानामृतकी गंगा है अथवा आनन्दरूपी चन्द्रमाकी सत्रहवीं कला है अथवा विचाररूपी क्षीरसिन्धुसे प्रकट हुई नव लक्ष्मी ही है। यही कारण है कि वह अपने पद (शब्द समूह), वर्ण (अक्षर) तथा अर्थरूपी जीवन-प्राणसे मेरे अलावा और कुछ जानती ही नहीं। इसके समक्ष क्षर और अक्षर—ये दोनों ही करबद्ध उपस्थित रहते हैं, पर यह भूलकर भी उनकी ओर नहीं देखती तथा उसने अपना सब कुछ मुझ पुरुषोत्तमको ही समर्पित कर दिया है। इसीलिये इस जगत्में यह गीता मेरी आत्माकी एकनिष्ठ पतिव्रता है और उसीका श्रवण आज तुमने किया है। वास्तवमें यह शास्त्र वर्णनातीत है, पर इस संसारपर विजय-पताका फैलानेवाला यही एक शस्त्र है। जिन मन्त्राक्षरोंसे आत्माका स्फुरण होता

है, वे इसी गीताके हैं। पर हे अर्जुन! आज जो मैंने तुमको इस शास्त्रके सम्बन्धमें बतलाया है, सो यह कृत्य कैसा हुआ है? आज मैं मानो अपने गुप्त धनका भण्डार ही तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया हूँ। चैतन्यरूपी शंकरके मस्तकपर जो गीतारूपी गंगा मैंने छिपा रखी थी, हे धनंजय! उसे आस्थापूर्वक बाहर निकालनेवाले तुम आज दूसरे गौतम हुए हो। खूब अच्छी तरहसे मेरा शुद्ध स्वरूप दिखलानेके लिये, हे पार्थ! आज तुम मेरे सम्मुख रखे हुए दर्पणकी ही भाँति हो रहे हो अथवा जैसे चन्द्रमा और तारागणोंसे भरे हुए आकाशको सागर अपने जलमें प्रतिबिम्बरूपसे ले आता है, ठीक वैसे ही आज तुमने गीतासहित मुझे भी अपने अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित कर लिया है। हे सुभट (अर्जुन)! तुममें जो त्रिगुणात्मक मल था, वह अब मिट गया है और तुम गीतासहित मेरे निवासस्थान बन गये हो। परन्तु इसका मैं क्या वर्णन करूँ! जो मेरी इस ज्ञानरूपी लताको जानता है, उसे सारे मोहोंसे छुटकारा मिल जाता है। हे पाण्डुसुत! जैसे अमृतरूपी नदीका सेवन करनेसे वह सारे रोगोंका नाश करके अमरत्व प्रदान करती है तथा व्यक्तिको सर्वथा सुखी करती है, ठीक वैसे ही इस गीताका सम्यक् ज्ञान हो जानेपर यदि मोहका क्षय हो जाता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? निःसन्देह यह गीता जो आत्मज्ञान करा देती है, उससे व्यक्तिको आत्मस्थिति भी प्राप्त होती है; और जब व्यक्तिको वह आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब उसके कर्म भी यह समझकर सानन्द लयको प्राप्त हो जाते हैं कि अब इस ज्ञानके कारण हमारी आयुष्य भी पूर्ण हो गयी। जैसे खोई हुई वस्तुके मिल जानेपर उसको ढूँढ़नेकी क्रिया भी समाप्त हो जाती है, ठीक वैसे ही जिस समय कर्म-मन्दिरपर ज्ञानकलश चढ़ता है, उस समय कर्म भी स्वतः बन्द हो जाते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी व्यक्तिके करनेका अन्य कोई कर्म अवशिष्ट नहीं रह जाता है।'' बस यही सब बातें अनाथोंके सुहृद् भगवान् श्रीकृष्णने कहीं। भगवान्‌के इस वचनरूपी अमृतसे अर्जुनका अन्तःकरण लबालब भर गया और वह अमृत उस अन्तःकरणसे बाहर निकलकर प्रवाहित होने लगा और वही अमृत श्रीव्यासदेवकी अनुकम्पासे संजयके हाथ लगा था। फिर वही

अमृत संजयने महाराज धृतराष्ट्रके सामने परोसा था और उसी अमृतकी कृपासे देहावसानकालमें धृतराष्ट्रका परिणाम अच्छा हुआ था। यदि सामान्यतः गीताके श्रवणके समय कभी यह जान पड़े कि कोई श्रोता अनधिकारी अथवा अपात्र है, तो भी अन्ततः उसके लिये भी यह गीता उपयोगी ही होती है। यदि द्राक्षा-लताकी जड़में दूध डाला जाय तो सामान्यतः यही जान पड़ता है कि वह दूध व्यर्थ हो गया। पर जब उन लताओंमें द्राक्षाफल लगते हैं, तब उनकी जड़ोंमें डाले हुए दूधसे द्विगुणित लाभ प्राप्त होता है। बस इसी न्यायसे श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुए वचन संजयने अत्यन्त उत्साहपूर्वक नेत्रहीन धृतराष्ट्रको सुनाये थे और आगे चलकर उसी वचनरूपी अमृतकी कृपासे वह धृतराष्ट्र देहावसानके समय सुखी हुआ था। भगवान्‌का वही वचनामृत मैंने देशी-भाषामें अपनी सामर्थ्यके अनुसार यहाँ सब लोगोंके समक्ष रखा है। यदि सेवती-पुष्पका रूप देखा जाय तो उसमें कोई ऐसी चीज नहीं दिखायी देती जो अरसिकोंके लिये विशेषरूपसे मनमोहक हो; पर जो लोग मधुपकी भाँति रसज्ञ होते हैं, वे उन पुष्पोंका रसास्वादन करना जानते हैं और इच्छानुसार उन्हें लूटते हैं। इसीलिये जो सिद्धान्त प्रमाणसिद्ध हों, उन्हें तो आपलोग स्वीकार कर लें और जिनमें कोई कमी अथवा त्रुटि हो, उन्हें मेरे ही पास रहने दें; क्योंकि ठीक-ठीक समझ न होना मुझ-सदृश बालकोंका स्वभाव ही है, बालक चाहे अज्ञानी ही क्यों न हो, पर उसे देखते ही माता-पिताको इतना अधिक हर्ष होता है, जो उनके हृदयमें नहीं समा सकता और वे उस बालकका प्यार-दुलार करके अत्यन्त आनन्दित होते हैं। ठीक इसी प्रकार आप सब सन्तजन मेरे लिये पीहरकी भाँति हैं। आपलोगोंकी भेंट होते ही मैं प्रेमकी बातें करता हूँ और इसी प्रेमका एक उदाहरण इस ग्रन्थका व्याख्यान भी है। अब इस ज्ञानदेवकी यह विनम्र विनती है कि हे विश्वात्मक मेरे गुरुदेव श्रीनिवृत्तिनाथजी, आप मेरी यह वाक्-पूजा ग्रहण करें। (५७०—५९८)

~~○~~

162

अध्याय सोलहवाँ

विश्वाभासको नष्ट करके अद्वैतरूपी कमलको प्रस्फुटित करनेवाला श्रीसद्‌गुरुरूपी यह जो अद्‌भुत सूर्य उदित हुआ है, अब मैं इसकी वन्दना करता हूँ। जो सूर्य अविद्यारूपी रात्रिका अवसान करके तथा ज्ञान-अज्ञानरूपी प्रकाशको विनष्ट करके ज्ञानी व्यक्तियोंको आत्मबोधरूपी शुभ दिन दिखलाता है, जिस सूर्यका उदय होते ही जीवरूपी पक्षियोंको आत्मज्ञानकी दृष्टि प्राप्त होती है और वे शरीररूपी घोंसला त्यागकर बाहर निकल जाते हैं, जिस सूर्यके प्रभावसे वासनात्मक देहरूपी कमलकोशमें आबद्ध चैतन्यरूपी भ्रमर एकदमसे बन्धनपाशसे मुक्त हो जाता है, भेद-भावनारूपी नदीके दोनों तटोंपर शब्दोंके झंझटोंमें फँसकर तथा पारस्परिक वियोगके कारण विक्षिप्त होकर आक्रोश करनेवाले बुद्धिरूपी चक्रवाक पक्षियोंके युग्मको पूर्ण एकताका लाभ करा देता है, जो सूर्य चैतन्याकाशको ठीक वैसे ही प्रकाशित करता है, जैसे दीपक घरको प्रकाशित करता है, जिस सूर्यके उदित होते ही भेद-बुद्धिका अन्धकारपूर्ण चोरीका समय समाप्त हो जाता है तथा योगमार्गके यात्री आत्म-प्रत्ययके मार्गपर कदम बढ़ाने लगते हैं, जिस सूर्यकी विवेक रश्मियोंका स्पर्श होते ही ज्ञानरूपी सूर्यकान्त-मणिसे तेजकी चिनगारियाँ निकलकर संसाररूपी जंगलको जलाकर राख कर देती हैं, जिस सूर्यके किरण-जालसे प्रखर होकर आत्मस्वरूपकी भूमिपर स्थिर होते ही महासिद्धिरूपी मृगजलकी बाढ़ आ जाती है, पर तदनन्तर जो सूर्य आत्मबोधरूपी मस्तकपर पहुँचकर ब्रह्मभावके मध्याह्नकालमें तपने लगता है तथा जिसके इस प्रकार तपनेसे आत्माकी भ्रान्तिरूपी छाया

उसीके नीचे दबकर छिप जाती है और उस समय वहाँ मायारूपी रात्रि ही न होनेके कारण विश्वके भास और विपरीत ज्ञानकी निद्राका कोई आश्रय ही नहीं मिलता और इसलिये अद्वैत ज्ञानरूपी नगरमें चतुर्दिक् आनन्द ही-आनन्द छा जाता है और सुखानुभवके लेन देनकी मन्दी हो जाती है, आशय यह कि जिस सूर्यके प्रकाशसे ऐसे कैवल्य मुक्तिरूपी शुभ दिनका अनवरत लाभ होता है, जो सूर्य आत्मभावरूपी आकाशका अधिपति है, जो सूर्य उदित होते ही पूर्व इत्यादि दसों दिशाओंके सहित उदय और अस्तका भी नाश कर देता है, जो ज्ञान-अज्ञान दोनोंका अन्त करके उनमें छिपा हुआ आत्मतत्त्व प्रकट कर देता है, किंबहुना, इस प्रकार जो सूर्य एक विलक्षण और नूतन प्रभाव लाकर खड़ा कर देता है, अहर्निशके प्रान्तोंके उस पार रहनेवाले उस ज्ञान-सूर्यकी ओर दृष्टि डालनेमें भला कौन सक्षम हो सकता है? जो प्रकाश्य वस्तुओंके बिना ही प्रकाशपुंज है, उन ज्ञान-सूर्य श्रीनिवृत्तिनाथकी मैं बारम्बार वन्दना करता हूँ, क्योंकि यदि मैं शब्दोंके द्वारा उनकी स्तुति करने लगूँ तो मुझे अपनी वाग्-दौर्बल्यताका ही पता चलता है। देवकी स्तुति तो ठीक-ठीक तभी की जा सकती है, जब उनकी महिमा चित्तमें अच्छी तरहसे चित्रित हो तथा जिस वस्तुकी स्तुति की जाय, वह वस्तु और बुद्धि दोनों एक साथ मिलकर एक जीव हो जाय। जिसका ज्ञान उसी समय होता है, जब कि नामरूपवाले वस्तुओंका ज्ञान समूल विनष्ट हो जाय, जिसका विवेचन मौनके आलिंगनमें ही हो सकता है और जिसका पता स्वयं लयको मिलनेवाले जीवको ही अनुभवसे चलता है, जिन गुरुदेवके लक्षण कहते-कहते परा वाणीके सहित वैखरी वाणी भी पश्यन्ती और मध्यमा वाणियोंके गर्भमें प्रविष्ट होकर वहीं लयको प्राप्त हो जाती है, उन आप गुरुराजको मैं अपने अन्तःकरणमें स्वयं सेवक-भावकी परिकल्पना करके शाब्दिक स्तोत्रके साजसे सुसज्जित कर रहा हूँ। यदि मैं यह कहूँ कि आप इस सज्जाको सदय होकर स्वीकार करें तो इस प्रकारकी बात भी अद्वैत आनन्दमें न्यूनता

लानेकी ही भाँति होगी। पर जैसे अमृत-सिन्धुके दर्शन होनेपर कोई निर्धन हक्का-बक्का हो जाता है और अपनी योग्यता-अयोग्यताका विचार भूलकर उस अमृत-सिन्धुका आतिथ्य शाक-भाजीसे ही करनेका उपक्रम करने लग जाता है और ऐसे अवसरपर जिस प्रकार उस शाक-भाजीका ही स्वागत करके उस अमृत-सिन्धुके लिये उस निर्धनके आनन्दोल्लासका ही ध्यान रखना समीचीन होता है, ठीक वैसे ही यदि आप भी अपना दिव्य तेज छिपाकर मेरी भक्तिको इस साधारण आरतीकी ही ओर ध्यान दें, तो मेरा सारा-का-सारा काम सम्पन्न हो जायगा। यदि छोटा बच्चा ही उचित क्या है और अनुचित क्या है, इस बातको अच्छी तरहसे समझ ले तो फिर उसका बचपना ही कहाँ रह जाय? पर फिर भी उसकी माता उसकी अटपटी बातोंसे सन्तुष्ट होती है अथवा नहीं? जिस समय किसी नालेका जल आकर गंगाके पीछे लग जाता है, उस समय क्या गंगा कभी यह कहकर उसे पीछे लौटा देती है कि दूर हट? हे देव! भृगु-ऋषिने भगवान्‌के वक्षपर चरण-प्रहार कर कितना बड़ा अपकार किया था! पर उसी चरण-चिह्नको भूषण मानकर उसकी महत्तासे शार्ङ्गधरभगवान् सन्तोष ही मानते हैं न? अथवा जिस समय अन्धकारसे परिपूर्ण आकाश सूर्यके समक्ष आता है, उस समय क्या सूर्य कभी यह कहकर उसका अपमान करता है कि दूर हट? ठीक वैसे ही यदि किसी अवसरपर भेद-बुद्धिके चक्करमें पड़कर तथा सूर्यके रूपकका तराजू खड़ा करके मैंने सूर्यके साथ आपकी तुलना की हो, तो हे गुरुदेव! आप कृपा कर एक बार उस तुलनाको भी सहन कर लें। जिन्होंने ध्यान तथा समाधिरूपी नेत्रोंके द्वारा आपके दर्शन किये हैं और जिस वेद-वाणीने आपका वर्णन किया है, उनके सारे कृत्य आपने जैसे सहन किये हैं, यदि वैसे ही इसे भी आप सहन कर लें तथा उसी न्यायका मेरे लिये भी प्रयोग करें तो काम हो जायगा। हे महाराज! आज मैं जो आपका गुणगान करने लगा हूँ, आप इसे मेरा अपराध न मानें। आप जो चाहें, सो करें, पर मैं आपके गुणोंका वर्णन करनेका काम तब-

तक नहीं बन्द करूँगा, जबतक मेरा जी इस कामसे भर न जायगा। ज्यों ही मैं गीता नामक आपके इस प्रसादरूपी अमृतका बड़े उत्साहसे वर्णन करने लगा हूँ, त्यों ही सौभाग्यवशात् मुझे द्विगुणित बल प्राप्त हो गया है। मेरी वाचाने अनेक कल्पोंतक सत्य बोलनेके तपका आचरण किया था और हे प्रभु! आज वह इसी तपस्याका अनन्त फल प्राप्त कर रही है। आजतक मैंने किसी ऐसे असाधारण पुण्यका सम्पादन किया था और उसीने आज आपका गुणगान करनेकी बुद्धि प्रदान कर मुझे इस कार्यमें उत्तीर्ण किया है। मैं इस जीवावस्थारूपी अरण्यमें घुसकर मृत्युरूपी गाँवमें फँस गया था, पर वह दुर्दशाका चक्कर एकदम मिट गया है। कारण यह है कि आपकी जो कीर्ति गीताके नामसे विख्यात है और जो इस विश्वाभासको पूर्णतया विनष्ट कर देती है, आपकी उसी कीर्तिका विवेचन मेरे हिस्सेमें आया है। क्या उस व्यक्तिको कभी दरिद्र कहा जा सकता है, जिसके घरमें महालक्ष्मी स्वयं ही आसन लगाकर बैठ जायँ? अथवा यदि सूर्य स्वयं ही अन्धकारके घरमें अतिथिके रूपमें आ पहुँचे तो क्या वह अन्धकार ही इस जगत्‌में प्रकाश नहीं बन जायगा? जिस देवके पासंगमें यह अपरम्पार विश्व परमाणुके बराबर भी नहीं टिकता, वही देव यदि भक्तिकी तरंगोंमें आ पड़ें तो फिर वे भक्तके लिये भला कौन सा रूप नहीं ग्रहण करते? ठीक इसी प्रकार गीताका निरूपण करना आकाश-कुसुमकी सुगन्ध लेनेके सदृश ही असम्भव है; पर आप सामर्थ्यवान् हैं इसलिये आपने मेरी वह इच्छा भी पूरी कर दी है। इसीलिये आपका यह शिष्य ज्ञानदेव भी कहता है कि हे गुरुदेव! आपकी कृपासे मैं गीताके गूढ़तर श्लोकार्थ भी बहुत ही स्पष्ट और सरल करके निवेदन करूँगा। पिछले यानी पंद्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको सम्पूर्ण शास्त्रीय सिद्धान्त स्पष्ट करके समझाये थे। जैसे कोई सद्वैद्य किसी रोगग्रस्त व्यक्तिके अंगोंमें प्रविष्ट रोगोंका निदान करता है, वैसे ही वृक्षके रूपकके द्वारा भगवान्‌ने आलंकारिक भाषामें उपाधिरूपी समस्त विश्वका निरूपण किया

था, साथ ही विश्वका जीवात्मा जो अक्षर पुरुष है, उसके भी लक्षण बतलाये थे। उसीकी उपाधिसे चैतन्य साकार हुआ है। अन्ततोगत्वा उत्तम पुरुषके विवेचन-प्रसंगमें निर्मल आत्मतत्त्व भी दिखलाया गया है। तदनन्तर भगवान्‌ने आत्मप्राप्तिका अन्तस्थ और प्रबल साधन ज्ञानको ही बतलाया था। अतएव अब इस प्रस्तुत अध्यायमें बतलानेयोग्य कोई विशेष बात अवशिष्ट नहीं रह गयी। अब एकमात्र गुरु-शिष्यका स्नेह-सम्बन्ध ही बाकी रह गया है। इस प्रकरणमें ज्ञानिजन तो सारी-की-सारी बातें भलीभाँति समझ चुके हैं, पर उनके सिवा आत्मप्राप्तिकी कामनावाले जो मुमुक्षुजन हैं, वही संशयमें पड़े हुए हैं। त्रैलोक्यनायक भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि जो सौभाग्यशाली व्यक्ति ज्ञानके द्वारा मुझ पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है, वही सर्वज्ञ है और वही भक्तिके शिखरतक पहुँचा है और उपर्युक्त अध्यायके अन्तिम श्लोकमें इसी ज्ञानके महत्त्वका नाना प्रकारसे विवेचन किया गया है। शुद्ध ज्ञानाधिपति भगवान् नारायणने कहा है कि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है जो प्रपंचोंको निगलकर देखनेवालेको दृष्ट वस्तुके साथ मिलाकर एकाकार कर दे, उसी दृष्ट वस्तुमें उसे विलीन कर दे, जीवको आनन्दके साम्राज्यका स्वामी बना दे और इस प्रकारके अन्यान्य चमत्कारका दर्शन करा सके। अतएव जो लोग आत्मज्ञान पानेके लिये उत्कण्ठित थे, उनका चित्त तो संतुष्ट हो गया और इसीलिये उन लोगोंने अत्यन्त सम्मानपूर्वक उस ज्ञानपरसे अपना जीवन निछावर कर दिया। मनमें जिस विषयके प्रति अनुराग होता है, उस विषयका अन्त:करणमें निरन्तर अधिक-से-अधिक संचार होने लगता है। लोग इसीको प्रेम नामसे सम्बोधित करते हैं। इसीलिये जिज्ञासुजनोंमेंसे जिनको ज्ञानके सम्बन्धका यह प्रेमानुभव नहीं हुआ है, उन लोगोंके चित्तमें इस चिन्ताका उदय होना स्वाभाविक है कि हमें यह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होगा और प्राप्त हो जानेपर वह हममें किस प्रकार स्थायी हो सकेगा। अतएव सर्वप्रथम ऐसे प्रश्नोंपर विचार करना चाहिये कि वह शुद्ध ज्ञान किस तरह प्राप्त होगा?

प्राप्त होनेपर वह ज्ञान किस प्रकार बढ़ेगा? अथवा उस ज्ञानकी प्राप्ति हमें क्यों नहीं हो रही है? अथवा ऐसी कौन-सी बात है जो ज्ञानके मार्गमें अवरोधक है, जो ज्ञान उत्पन्न नहीं होने देती अथवा प्राप्त ज्ञानको टेढ़े-मेढ़े मार्गमें नियोजित करती है? फिर जो बातें ज्ञान-विरोधक हों, उन्हें तो पृथक् कर दिया जाय और जिन बातोंसे ज्ञानकी वृद्धि हो, उनका मनोयोगपूर्वक विचार किया जाय। जिन जिज्ञासुओंके मनमें ऐसी इच्छा हो, उनकी यह इच्छा पूरी करनेके लिये अब लक्ष्मीपति भगवान् नारायण निरूपण करेंगे। अब उस दैवी-सम्पदाका बखान होगा जो ज्ञानकी जन्मदात्री है तथा शान्तिकी भी वृद्धि करती है। साथ ही उस आसुरी सम्पत्तिका भी विवेचन किया जायगा जो राग-द्वेष इत्यादि विकारोंको आश्रय प्रदान करती है। इष्ट और अनिष्ट कार्योंका सम्पादन दैवी और आसुरी—यही दोनों सम्पत्तियाँ करती हैं तथा इस विषयकी प्रस्तावना सर्वप्रथम नवें अध्यायमें की जा चुकी है। इसी अवसरपर इस विषयका प्रत्यक्ष और उचित विचार होनेको था; पर बीचमें ही एक दूसरा विषय आ खड़ा हो गया और यह प्रकरण जहाँ-का-तहाँ रह गया। इसलिये अब भगवान् नारायण वही प्रकरण इस अध्यायमें बतलावेंगे। अतः इस सोलहवें अध्यायको पिछले प्रकरणका पूरक समझना चाहिये। अस्तु।

दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियोंके सामर्थ्यके कारण ही ज्ञानको इष्ट अथवा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। अब तुम उस दैवी सम्पत्तिके लक्षण मन लगाकर सुनो जो मुमुक्षुजनोंके लिये मार्गदर्शक होती है तथा दीपककी ज्योतिकी तरह मोहरूपी रात्रिका घोर अन्धकार मिटा करके उसे प्रकाशित करती है। जो अनेक पदार्थ एक-दूसरेके लिये पोषक होते हैं, उन सबको एकत्र करनेको ही लोकमें सम्पत्ति कहते हैं। दैवी सम्पत्ति सुख उत्पन्न करनेवाली होती है। किसी-किसीको यह सम्पत्ति दैवयोगसे प्राप्त होती है और इसीलिये उसे लोग दैवी नामसे पुकारते हैं। (१—६७)

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

दैवी गुणोंमें जो सबसे आगे है, उसका नाम 'अभय' है। जो बाढ़में नहीं कूदता, उसे डूबनेका डर भी नहीं लगता अथवा जो पथ्यसे रहता है, उसके सामने व्याधिका भय छू भी नहीं जाता। ठीक इसी प्रकार अहंकारका प्रवेश कर्म और अकर्मके मार्गमें नहीं होने देना चाहिये तथा संसारका भय त्याग देना चाहिये अथवा यदि अद्वैतकी भावना बढ़ जाय तो उसका परित्याग कर समस्त विषयोंमें आत्मभाव रखना चाहिये तथा भयकी बात मनसे हटा देनी चाहिये। परिणामस्वरूप अद्वैत बुद्धि आ जानेके कारण सब कुछ वैसे ही आत्ममय प्रतीत होने लगता है, जैसे जल यदि लवणको डुबानेहेतु आवे तो लवण स्वयं ही जलका रूप धारण कर लेता है और इससे भयका नाश होता है। हे धनंजय! इसीका नाम 'अभय' है। सम्यक् ज्ञानके मार्गकी यह बात है। अब मैं 'सत्त्वशुद्धि' को पहचाननेका लक्षण बतलाता हूँ, सुनो। जैसे राख न तो जलती ही है और न बुझती ही है अथवा जैसे मध्यम अवस्थाका चन्द्रमा सूक्ष्मरूपसे अविकृत रहता है और उसमें न तो प्रतिपदाकी बढ़नेवाली कला ही होती है और न अमावास्याका क्षय ही होता है अथवा जैसे वह नदी मध्यम अवस्थामें शान्त होकर बहती रहती है, जिसमें न तो बरसातकी बाढ़ ही होती है और न ग्रीष्मकालवाला जलाभाव ही होता है, ठीक वैसे ही रजोगुण और तमोगुणसे भरे हुए नाना प्रकारके मनोरथोंका ध्यान त्यागकर बुद्धि एकमात्र स्वधर्ममें ही अनुराग रखती है तथा इन्द्रियोंके सामने अच्छे-बुरे किसी प्रकारके विषय रखे जायँ, पर मन जरा-सा भी विचलित नहीं होता। जैसे पतिके बाहर चले जानेपर पतिव्रताका विरहाकुल मन किसी प्रकारकी लाभ-हानिकी ओर प्रवृत्त नहीं होता, अपितु उदासीन रहता है, वैसे ही एकमात्र आत्मस्वरूपकी लगन लगनेके कारण बुद्धि जो इस प्रकार तन्मय हो जाती है, उसीको केशिहन्ता भगवान् श्रीकृष्ण 'सत्त्वशुद्धि'

नामसे सम्बोधित करते हैं। आत्मप्राप्तिके लिये ज्ञानयोगमें अपने सामर्थ्यसे स्थिर रहने तथा उस स्थितिमें चित्तवृत्तिको पूर्णतया छोड़ देनेको ही ज्ञानयोगकी व्यवस्थिति कहते हैं। जैसे यज्ञाग्निमें निष्कामभावसे पूर्णाहुति डाली जानी चाहिये अथवा जैसे कुलीन व्यक्तिको चाहिये कि वह कुलीनको ही अपनी कन्या दे अथवा जैसे लक्ष्मी एकमात्र श्रीमुकुन्दमें ही अनन्यभावसे रमण करती हैं, ठीक वैसे ही सारे संकल्प-विकल्पोंका परित्याग कर निश्चित-रूपसे योग तथा ज्ञानमें ही जीवन-वृत्ति लगानेको श्रीकृष्णनाथ तृतीय गुण यानी ज्ञानयोग-व्यवस्थिति कहते हैं। यदि अपना परम शत्रु भी संकटापन्न स्थितिमें हो तो उसे देखकर तन, मन, वचन और धनसे सहायता किये बिना न रहना और हे धनंजय! यदि कोई आर्त व्यक्ति हमारे सन्निकट आवे तो उसकी सहायतामें अपना धन-धान्य इत्यादि सब कुछ ठीक वैसे ही अन्तःकरणपूर्वक लगा देना, जैसे रास्तेमें स्थित वृक्ष राहगीरोंको अपने पत्र, पुष्प, छाया और फल इत्यादि प्रदान करनेमें जरा-सा भी संकोच नहीं करता, 'दान' कहलाता है। ऐसे दानको मोक्षरूपी गुप्त धनको दिखलानेवाला दिव्यांजन ही जानना चाहिये। अब तुम 'दम'को पहचाननेका लक्षण सुनो। जैसे कोई खड्ग चलानेवाला व्यक्ति अपने शत्रुका सिर सद्यः काट डालता है, वैसे ही विषयों तथा इन्द्रियोंके संयोगको एकदम मूलोच्छेद कर डालना 'दम' कहलाता है। इन्द्रियोंको विषयोंके मेघोंके तिमिरसे रोकनेके लिये उन्हें भलीभाँति बाँधकर प्रत्याहारके अधीन कर दिया जाता है। उस समय 'प्रवृत्ति' चित्तकी शक्तिसे व्याकुल होकर अन्दरसे बाहर निकलती है और तब उन्हीं इन्द्रियोंके दसों द्वारोंसे वैराग्य देहके अन्दर प्रविष्ट करता है। जो व्यक्ति ऐसे कठोर व्रतोंका श्वासोच्छ्वासकी अपेक्षा भी निरन्तर चलनेवाला आचरण करता है तथा अविराम अहर्निश उन व्रतोंका पालन करता है, उसके इस प्रकारके आचरणको ही 'दम' नामसे सम्बोधित करते हैं। इसके लक्षण भलीभाँति समझ लो। अब मैं तुम्हें यज्ञ अथवा याज्ञका अर्थ बतलाता हूँ, सुनो। एक ओर तो गिनतीमें सबसे पहले गिने जानेवाले

ब्राह्मण होते हैं और दूसरी ओर सबके अन्तमें स्त्रियाँ इत्यादि होती हैं। उन दोनोंके बीचमें अपने वर्ण-धर्मके अधिकारके अनुसार उनमेंसे हर एक अपने लिये उचित तथा देव-धर्मके मार्गका अनुसरण करता है। इनमेंसे शास्त्रोक्त विधिसे षट्कर्म करनेवाले ब्राह्मण तथा उनको नमन करनेवाले शूद्र दोनों ही समानरूपसे अपने-अपने आचारोंका पालन करते हैं और इस प्रकार वे लोग यज्ञ सम्पादन करते हैं तथा उन यज्ञोंका उन्हें समानरूपसे फल प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने अधिकारानुरूप यज्ञोंका सम्पादन करना सबका कर्तव्य होना चाहिये। परन्तु यज्ञ करते समय इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि फलाशाके विषसे वे यज्ञ विषाक्त न हों और देहाभिमानसे अपने मनमें ऐसी अहंभावना नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिये कि हम कर्ता हैं। साथ-ही-साथ समस्त लोगोंको वेदाज्ञाका पालन करना चाहिये। हे अर्जुन! सर्वत्र यज्ञ-शब्दका यही भाव रहता है। ऐसा यज्ञ मोक्ष-मार्गमें एक सुविज्ञ सुहृद्‌का काम करता है। गेंदको जमीनपर पटकनेका उद्देश्य जमीनको मारनेके लिये नहीं होता, अपितु इसलिये पटका जाता है कि वह फिर लौटकर हमारे हाथमें आ जाय अथवा खेतमें जो बीज फेंके जाते हैं, उनका भी उद्देश्य बीज फेंकना नहीं बल्कि उनसे और अधिक फसल प्राप्त करना होता है। जैसे अँधेरेमें रखी हुई वस्तुको ढूँढ़नेके लिये दीपकको आदरपूर्वक ग्रहण किया जाता है अथवा जैसे वृक्षकी शाखाओं-प्रशाखाओंको मजबूत बनानेके लिये उसके मूलमें जल डाला जाता है अथवा यदि संक्षेपमें कहा जाय तो जैसे स्वयं ही अपना मुख देखनेके लिये दर्पणको ठीक तरह साफ किया जाता है, वैसे ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय ईश्वरके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रुतियोंका अनवरत अभ्यास अथवा अध्ययन करना परमावश्यक होता है। ब्रह्मसूत्र ब्राह्मणोंके लिये तथा अन्य वर्णोंके लिये अपने-अपने अधिकारानुसार स्तोत्र इत्यादि पढ़ना अथवा नाम-मन्त्रका जप करना ही शुद्ध चैतन्यकी प्राप्तिके लिये यथेष्ट है। हे पार्थ! इसीका नाम स्वाध्याय है।

अब तुम 'तप' का लक्षण सुनो। अपना सर्वस्व दान कर डालना ही अपने सर्वस्वको सार्थक करना है, जैसे बीज निकलनेपर वनस्पतियाँ स्वतः सूख जाती हैं अथवा धूप जैसे अग्निमें जलकर सुगन्ध बिखेरता है अथवा जैसे मिलावटका अंश नष्ट हो जानेपर स्वर्ण वजनमें कम हो जाता है अथवा चन्द्रमा जैसे कृष्णपक्षकी वृद्धि करता हुआ स्वयं क्षीण हो जाता है, ठीक वैसे ही आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये अपने प्राण, इन्द्रियों तथा देहको सुखा डालनेका नाम ही 'तप' है। अब तपके और भी अनेक प्रकार बतलाये जाते हैं। पर जैसे हंस जलको पृथक् करके अपनी चोंचको दूध निकाल लेनेके काममें लगाता है, ठीक वैसे ही देह और जीवका संयोग होनेपर उनमेंसे देह-भाव तथा जीव-भावको चुनकर पृथक् कर लेनेका काम जिस विवेकके द्वारा सम्पन्न होता है, उस विवेकको निरन्तर अपने अन्तःकरणमें जाग्रत् रखना चाहिये। आत्मावलोकन करते समय बुद्धि हैरान हो जाती है। उस समय जैसे जागर्ति होनेपर निद्रासहित स्वप्नका भी अवसान हो जाता है, ठीक वैसे ही जो व्यक्ति आत्मदर्शनार्थ विवेकपूर्वक व्यवहार करता है, हे धनुर्धर! उसीसे इस तपका साधन होता है। अब जैसे बच्चेके कल्याणके लिये ही माताके स्तनमें यथासमय दूध उत्पन्न होता है अथवा जीवमात्रके अनेक प्रकार होनेपर भी जैसे चैतन्य सबमें समानरूपसे विराजमान रहता है, वैसे ही समस्त जीवोंके साथ मधुर और सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना ही आर्जव (सरलता) कहलाता है। (९८—११३)

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

जगत्को सुख प्रदान करनेके उद्देश्यसे ही शरीरसे, वाणीसे और मनसे व्यवहार करनेको 'अहिंसा' कहते हैं। मोगरेकी कली जैसे अत्यन्त छोटी होनेपर भी कोमल होती है अथवा चन्द्रमाका प्रकाश जैसे तेजवान् होनेपर भी शीतगुणयुक्त होता है, ठीक वैसे ही जो व्याख्यान सूक्ष्म और

तेजस्वी होनेपर भी कोमल तथा शीतल होता है, यही सत्य है। जब ऐसी औषधि कहीं न मिलती हो, जिसके दर्शनमात्रसे ही व्याधिका निवारण हो जाता है और जो स्वादमें कटु भी न लगे, तो फिर ऐसी वस्तु भला कहाँसे मिल सकती है, जिसके साथ सत्यकी सटीक उपमा दी जा सके? पर यदि जलका छींटा नेत्रपर डाला जाय, तो वह अपनी कोमलताके कारण नेत्रको जरा-सा भी क्लेश नहीं पहुँचाता, पर वही जल पर्वतोंको भी तोड़कर अपना रास्ता प्रशस्त ही कर लेता है। ठीक इसी प्रकार भ्रम और मोहको तोड़नेके लिये जो लौह-सदृश कठोर होता है, पर श्रवणेन्द्रियोंको माधुर्यसे भी मधुर लगता है, जिसे श्रवणके समय ऐसा प्रतीत होता है कि कर्णको मानो मुख निकलते जा रहे हैं, पर जो अपनी सत्यताकी सामर्थ्यसे ब्रह्मतत्त्वका भी स्पष्टीकरण करता है, आशय यह कि जो प्रिय और मधुर होनेपर भी किसीकी वंचना नहीं करता तथा सत्य होनेपर भी किसीको बुरा नहीं लगता, नहीं तो शिकारीका गाना श्रवणेन्द्रियोंको तो मधुर लगता है, पर हरिणीके लिये यह जानलेवा साबित होता है अथवा अग्नि अपना शुद्धिकरणका काम तो ठीक तरह करती है, परन्तु ऐसा करते समय वह जलाकर भस्म भी कर देती है—ठीक इसी प्रकार जो वाणी श्रवणेन्द्रियोंको तो मधुर लगती है, पर अपने अर्थसे हृदयको विदीर्ण भी कर देती है, उसे कभी सुन्दर नहीं कहा जा सकता। उसे तो राक्षसी ही कहना उचित है। परन्तु बालकके अपराध करनेपर जो ऊपरसे तो क्रोध प्रदर्शित करती है किन्तु इसका लालन-पालन करनेमें जो पुष्पसे भी अधिक मृदु होती है, उस माताके स्वरूपकी तरह जो वचन कर्णप्रिय न होनेपर भी अन्ततः ठीक और अच्छा सिद्ध होता है तथा जो बुरे विकारोंसे लिप्त नहीं होता है, उस वचनको ही इस सन्दर्भमें सत्य जानना चाहिये। पाषाणमें चाहे कितना ही जल क्यों न डाला जाय, किन्तु उसमें कभी अंकुर प्रस्फुटित नहीं होता अथवा माड़को चाहे कितना ही क्यों न मथा जाय, पर उसमेंसे कभी मक्खन

नहीं निकलता अथवा यदि सर्पकी केंचुलीपर चरण प्रहार किया जाय तो भी वह केंचुली जैसे कभी काटनेके लिये नहीं दौड़ती अथवा वसन्तकाल होनेपर भी आकाशमें जैसे कभी फल नहीं लगते अथवा रम्भाके सौन्दर्यको देखकर भी शुकदेवजीके मनमें जैसे कभी कामवासनाका संचार नहीं हुआ था अथवा जो अग्नि एकदम शान्त हो जाती है, वह जैसे घृत डालनेसे पुनः नहीं जलती, ठीक वैसे ही यदि कितनी ही इस प्रकारकी बातें क्यों न कहें जिन्हें श्रवण करते ही अनजान बालक भी क्रोधाविष्ट हो जाय, तो भी हे अर्जुन! जैसे स्वयं ब्रह्मदेवके पैरोंपर पड़नेसे भी मृत व्यक्ति जीवन धारण नहीं कर सकता, ठीक वैसे ही मनकी जो अवस्था होती है तथा जिसमें क्रोध कभी उत्पन्न ही नहीं होता, उसीको 'अक्रोध' नामसे सम्बोधित करते हैं।" इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे यही सब बातें उस समय कही थी।

तदनन्तर भगवान् लक्ष्मीपति कहते हैं—"अब यदि मृत्तिकाका परित्याग कर दिया जाय तो घड़ेका, सूतका परित्याग कर दिया जाय तो वस्त्रका, बीजका परित्याग कर दिया जाय तो वृक्षका, दीवारका परित्याग कर दिया जाय तो सारे चित्रका, निद्राका परित्याग कर दिया जाय तो उसमें दृष्टिगोचर होनेवाले सारे स्वप्न-जालका, जलका परित्याग कर दिया जाय तो तरंगोंका, वर्षाकालका परित्याग कर दिया जाय तो मेघोंका तथा धनका परित्याग कर दिया जाय तो विषय-भोगोंका स्वतः परित्याग हो जाता है। ठीक इसी प्रकार बुद्धिमान् लोग देहात्मबुद्धिका परित्याग कर समस्त प्रपचात्मक विषयोंको दूर भगा देनेको ही त्याग नामसे पुकारते हैं।" यह बात सुनकर परम सौभाग्यशाली अर्जुनने कहा—"हे देव! अब आप मुझे शान्तिका लक्षण स्पष्टरूपसे बतलावें।" तब भगवान्‌ने कहा—"बहुत अच्छा, तुमने बहुत ही सुन्दर बात पूछी है, सो सुनो। ज्ञेयको नष्ट करके जब ज्ञाता और ज्ञान भी लयको प्राप्त हो जाते हैं, तब जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसीको लोग 'शान्ति' कहते हैं। जैसे प्रलयकालका जल सारे विश्वको

जलमग्न कर विश्वका नामोनिशान भी मिटा देता है और चतुर्दिक् केवल जल-ही-जल रहता है तथा इस प्रकारका भेद-दर्शक भाषा व्यवहारमें हो ही नहीं सकता कि यह नदीका उद्गम है, यह प्रवाह है और यह समुद्र है और जिधर दृष्टि डालो, उधर एक-सा जल ही फैला हुआ दृष्टिगत होता है, पर उस समय भी क्या उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उससे भिन्न कोई रहता है? कोई नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार जिस समय ज्ञेयके साथ आलिंगन होनेपर तन्मयता हो जाती है, उस समय ज्ञातृत्वका भी नामोनिशान मिट जाता है। फिर जो कुछ अवशिष्ट रह जाता है, हे किरीटी! उसीका नाम 'शान्ति' है। अब मैं तुम्हें अपैशुन्यके बारेमें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। जिस समय व्याधिग्रस्त व्यक्ति किसी व्याधिसे अत्यधिक क्लेश पाता है, उस समय उसे व्याधिमुक्त करनेकी चिन्तामें चतुर वैद्य यह नहीं देखता कि यह मेरा शत्रु है अथवा जब दलदलमें फँसी हुई गाय दिखायी देती है, तब देखनेवाला इस बातका विचार नहीं करता कि वह दूध देती है अथवा नहीं और वह उस गायका दुःख देखकर ही व्याकुल हो जाता है अथवा जिस समय कोई व्यक्ति जलाशयमें डूबने लगता है, उस समय सुविज्ञ व्यक्ति यह नहीं सोचता कि यह ब्राह्मण है अथवा अन्त्यज है और यही समझता है कि इसके प्राण बचाना ही मेरा कर्तव्य है अथवा जिस समय कोई चाण्डाल दैवयोगसे वनमें मिलनेवाली स्त्रीको निर्वस्त्र करके तथा उसके कपड़े छीनकर उसे छोड़ देता है, उस समय सभ्य व्यक्ति तबतक उस स्त्रीपर दृष्टि नहीं डालता, जबतक वह उसे फिरसे वस्त्र नहीं पहना लेता। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति अज्ञान और भ्रम इत्यादिके कारण अथवा पूर्व जन्मार्जित कर्मोंके कारण समस्त प्रकारके निन्दनीय मार्गोंमें लगे रहते हैं, उन्हें ये अपना शारीरिक शक्ति प्रदान कर उन्हें सालनेवाले दुःखोंको विस्मृत करा देते हैं। हे पार्थ! दूसरेके दोषोंको पहले अपनी दृष्टिसे दूर करके तब ये उन्हें अच्छी तरह देखने लगते हैं। जैसे सर्वप्रथम देवताकी पूजा-अर्चना करके तब उनका

ध्यान किया जाता है अथवा सबसे पहले खेत जोतकर तथा उसमें बीज बोकर तब उनकी रखवाली करने जाते हैं अथवा अतिथिको सर्वप्रथम आदर-सत्कारसे सन्तुष्ट करके तब उसका आशीर्वाद लिया जाता है, ठीक वैसे ही सर्वप्रथम अपने गुणोंसे दूसरोंकी त्रुटियाँ पूरी करनी चाहिये और तब उसकी ओर सूक्ष्म दृष्टिसे देखना चाहिये। सिर्फ यही नहीं, वे कभी किसीके मर्मपर आघात नहीं करते, कभी किसीको कुकर्मोंमें प्रवृत्त नहीं करते और कभी किसीको दोष नहीं लगाते। बस उनका आचरण अथवा व्यवहार इसी प्रकारका होता है। इसके अलावा उनका व्यवहार इस प्रकारका होता है कि यदि किसीका पतन हो गया हो, तो वे किसी-न-किसी उपायसे उसे सँभाल लेते हैं; परन्तु किसीको मर्माहत करनेका विचार उनके मनमें कभी आता ही नहीं। आशय यह कि हे पार्थ, बड़ोंके लिये वे कभी दूसरोंको तुच्छ समझने अथवा बनानेके लिये तैयार नहीं होते और न उनकी दृष्टि कभी दूसरोंके दोषकी तलाश ही करती है। हे अर्जुन! इसी प्रकारके व्यवहारका नाम 'अपैशुन्य' है, निःसन्देह मोक्षमार्गपर यह एक विश्रान्तिका प्रमुख स्थान है।

अब मैं तुम्हें दयाके सम्बन्धमें बतलाता हूँ, सुनो। जैसे पूर्णिमाकी चन्द्रप्रभा सारे जगत्‌को एक समान शीतलता प्रदान करती है और इस प्रकारका पंक्तिभेद कभी नहीं करती कि यह बड़ा है वह छोटा है, वैसे ही जिनमें दया भरी होती है, वे दुःखी जनोंके दुःखोंका दयालुतापूर्वक परिहार करते समय कभी यह नहीं सोचते कि यह अधम है और वह उत्तम है। देखो, जगत्‌में जल-जैसा पदार्थ भी स्वयं विनष्ट हो जाता है, पर मरती हुई वनस्पतियोंको वह हरा-भरा कर देता है। ठीक इसी प्रकार दयालु व्यक्तिके मनमें दूसरे व्यक्तियोंके दुःखको देखकर करुणाका इतना प्राबल्य होता है कि उनके दुःखोंका निवारण करनेके लिये यदि वे अपना सब कुछ दाँवपर लगा दें तो वह उन्हें अत्यल्प ही जान पड़ता है। जब प्रवाहमान जलको रास्तेमें कोई गड्ढा इत्यादि मिलता है, तब वह उसे

बिना भरे एक पग भी आगे नहीं बढ़ता। ठीक इसी प्रकार दयालु व्यक्ति भी अपने सम्मुख आनेवाले दीन व्यक्तिको संतुष्ट करके ही आगे कदम बढ़ाता है। जैसे पाँवमें काँटा चुभनेपर उसकी पीड़ाके चिह्न चेहरेपर प्रकट होते हैं, वैसे ही दूसरोंके दुःख देखकर वह भी अपने देहमें क्लेशका बोध करता है। जैसे पाँवमें ठंडक पहुँचनेपर उसकी तरावट आँखोंतक पहुँचती है, वैसे ही वह भी दूसरोंको सुखी देखकर स्वयं सुखी होता है। आशय यह कि जैसे पिपासित व्यक्तिको प्यास बुझानेके लिये जगत्में जलकी सृष्टि हुई है, वैसे ही दुःखसे संतप्त प्राणियोंके कल्याणके लिये ही जिसका जीवन होता है, हे वीरशिरोमणि! वह व्यक्ति मूर्तिमान् दया ही होता है। मैं उसका जन्मसे ही ऋणी होता हूँ। अब मैं तुमको 'भूतेष्वलोलुप्त्वम्' के बारेमें बतलाता हूँ; सुनो। कमलकी अनुरक्ति सूर्यके प्रति चाहे कितना ही क्यों न हो, पर फिर भी सूर्य कभी उसकी सुगन्धको स्पर्श नहीं करता अथवा वसन्तके मार्गमें चाहे कितनी ही अधिक वन-श्री क्यों न हो, तो भी वह उस वनश्रीको स्वीकार नहीं करता तथा निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। फिर इतनी सब बातें किसलिये कही जायँ? यदि महासिद्धियोंके समेत स्वयं लक्ष्मी ही क्यों न निकट आ जायँ, पर फिर भी महाविष्णुके लिये वह किसी गिनतीमें नहीं होती। ठीक इसी प्रकार लौकिक अथवा पारलौकिक विषय-सुख चाहे उसकी इच्छाके दास ही क्यों न बन जायँ, पर फिर भी अलोलुप व्यक्ति कभी भी उन सुखोंको भोगनेका विचार अपने मनमें नहीं करता। किंबहुना, जिस अवस्थामें जीवके मनमें कुतूहलसे भी विषयोंकी अभिलाषा नहीं रह जाती, उसी अवस्थाको 'अलोलुप्त्व' जानना चाहिये। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि 'मार्दव' किसे कहते हैं। मधुमक्खियोंके लिये जैसे शहदका छत्ता अथवा जलचरोंके लिये जल अथवा पक्षियोंके लिये खुला आकाश अथवा बालकके लिये माताका प्रेम अथवा वसन्तके स्पर्शसे कोमल होनेवाली मलय वायु अथवा नेत्रोंके लिये प्रियजनोंके दर्शन अथवा अपने बच्चोंके लियें जैसे कच्छपीकी

दृष्टि होती है, वैसे ही मार्दवगुणसम्पन्न व्यक्तिका प्राणिमात्रके साथ अत्यन्त मृदु तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार होता है। जो कपूर छूनेमें अत्यन्त कोमल, खानेमें बहुत ही स्वादिष्ट, घ्राणेन्द्रियके लिये अत्यन्त सुगन्धित तथा देखनेमें अत्यन्त निर्मल होता है, वह अभीष्ट मात्रामें मिल जाता है। वह यदि विषाक्त न होता और उसकी विषाक्तता बीचमें बाधक न होती, तो वह अपनी मृदुता और निर्मलताके कारण मार्दवगुणयुक्त व्यक्तिकी कोमलताकी बराबरी कर सकता। गगन जैसे महाभूतोंको भी अपने पेटमें रखता है तथा परमाणुओंमें भी समाया रहता है और विश्वानुरूप ही अपना आकार भी बना लेता है, हे पार्थ! मैं और अधिक क्या कहूँ, ठीक उसी गगनकी भाँति समस्त जगत्‌के जीवों और प्राणियोंके लिये जीता है उसे ही मैं 'मार्दव' नामसे सम्बोधित करता हूँ।

अब मैं 'लज्जा' गुणका लक्षण बतलाता हूँ, सुनो। जैसे पराजित होनेपर कोई राजा मारे लज्जाके मुँह नहीं दिखला सकता अथवा अपमानके कारण जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति तेजहीन हो जाता है अथवा जैसे भूलसे किसी चाण्डालके घरमें जा पहुँचनेपर किसी संन्यासीको अत्यधिक लज्जा जान पड़ती है अथवा युद्धभूमिसे क्षत्रियका पलायन जैसे लज्जास्पद होता है और उसे कोई सहन नहीं कर सकता अथवा पतिव्रताके लिये जैसे वैधव्यका आमन्त्रण अत्यन्त कष्टकारक और असह्य होता है अथवा जैसे किसी रूपवान् व्यक्तिके देहमें कुष्ठ होनेपर अथवा किसी सम्मानित व्यक्तिपर व्यर्थ ही कोई लांछन लगनेपर मारे लज्जाके उसके प्राण संकटमें आ जाते हैं, वैसे ही इस साढ़े तीन हाथके देहमें आबद्ध होकर प्रेत-जैसा जीना और पुनः-पुनः जन्म धारण करना और मृत्युका शिकार होना तथा गर्भाशयके विवरके साँचेमें रक्त, मूत्र और रसका पुतला बनकर रहना उसके लिये अत्यन्त लज्जास्पद होता है। आशय यह कि शरीरके बन्धनमें पड़कर नाम-रूपात्मक होनेसे बढ़कर लज्जाजनक और कोई बात उसके लिये हो ही नहीं सकती। ऐसे देहके प्रति जो घृणा उत्पन्न होती है,

उसीको लज्जा कहते हैं। परन्तु यह लज्जा सिर्फ साधुओंको ही जान पड़ती है, निर्लज्जोंको तो यह देह अत्यन्त प्रिय लगता है। अब मैं 'अचापल्य' गुणकी व्याख्या करता हूँ। जैसे कठपुतलियोंको नचानेवाली डोरीके टूट जानेसे उनका हिलना-डुलना इत्यादि बन्द हो जाता है, वैसे ही योगका साधन करनेसे कर्मेन्द्रियोंकी गति बन्द हो जाती है अथवा जैसे सूर्यास्त होनेपर उसकी रश्मियोंका जाल भी छिप जाता है, वैसे ही मनोनिग्रह करनेसे इन्द्रियाँ भी पूर्णतया दब जाती हैं। इस प्रकार मन और प्राणका नियमन तथा योगका साधन करनेसे दसों इन्द्रियाँ अक्षम हो जाती हैं; इसी अवस्थाको 'अचापल्य' नामसे पुकारते हैं। (१४४—१८५)

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

यदि ईश्वर-प्राप्तिके लिये ज्ञानके मार्गमें कदम रखते समय मनमें दृढ़ निश्चय हो गया हो तो फिर धैर्यकी कमी नहीं होती। एक तो मृत्यु वैसे ही भयंकर होती है, तिसपर अग्निमें जलकर मरना तो और भी अधिक भयंकर होता है। लेकिन इतना होनेपर भी पतिव्रता उसपर जलकर मरनेकी भी परवाह नहीं करती। ठीक इसी प्रकार आत्मप्राप्तिकी अग्निसे विषयरूपी विषको जीव भस्मकर निकाल डालता है और तब शून्यकी ओर जानेवाले योग-साधनके विकट मार्गपर जल्दी आगे बढ़ने लगता है। फिर किसी प्रकारका निषेध उसके मार्गमें बाधक नहीं होता। वह न तो विधिको ही मानता है और न तो महासिद्धियोंके मोहपाशमें ही पड़ता है। इस प्रकार अपनी आन्तरिक प्रेरणासे ईश्वरकी ओर बढ़नेको 'आध्यात्मिक तेज' कहते हैं। यदि व्यक्तिमें इस प्रकारका अहंकार न हो कि समस्त धैर्यशालियोंमें एकमात्र मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ, तो इसीको 'क्षमा' जानना चाहिये। देहपर सहस्रों रोम होते हैं, पर उनका भार सहन करनेपर भी देहको कभी उनका भान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियाँ कुमार्गगामी हो जायँ अथवा देहस्थ कोई जीर्ण व्याधि एकदमसे उभड़ पड़े अथवा प्रियजनोंका अकस्मात् वियोग

हो जाय और अप्रियके साथ काम पड़े अथवा इसी प्रकारके अन्य किसी अनिष्ट चीजोंकी एक ही समय वहाँ बाढ़ भी आ जाय तो भी अगस्त-ऋषिकी तरह सीना तानकर उसके समक्ष निश्चल भावसे खड़े रहना और हे पाण्डव! यदि आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके ताप आकर खड़े हों तो उन सबको ठीक वैसे ही अति तुच्छ समझकर अपने सामनेसे हटा देना, जैसे आकाशमें उड़नेवाली धूएँकी रेखाको वायु एक ही झोंकेमें उड़ा देती है और चित्तको अस्थिर करनेवाले ऐसे विकट प्रसंगके आ पड़नेपर भी धैर्य न त्यागकर भलीभाँति उसके मुकाबलेमें डँटे रहनेका नाम ही 'धृति' है। अब मैं 'शौच' के सम्बन्धमें बतलाता हूँ। 'शौच' सोनेका मुलम्मा चढ़ा-चढ़ाकर स्वच्छ किये हुए गंगाजलसे भरे हुए कलशकी भाँति है, कारण कि देहके द्वारा निष्काम कर्मोंका होना तथा जीवका विवेकानुसार आचरण करना सब शुचित्वके ही ऊपरसे दृष्टिगत होनेवाले ये लक्षण हैं अथवा जैसे गंगाजल भूतमात्रके सन्तापका शमन करता है और अपने तटपर स्थित वृक्षोंका पोषण करता हुआ समुद्रकी ओर प्रस्थान करता है अथवा जैसे सूर्य संसारका तिमिर भगाता हुआ और सम्पत्तिके मन्दिरोंके द्वार खोलता हुआ आकाशकी परिक्रमा करनेके लिये निकलता है, वैसे ही वह भी बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको मुक्त करता है, डूबते हुए लोगोंको बाहर निकालता है और दु:खीजनोंके दु:खका निवारण करता है। अपितु यह कहना चाहिये कि वह अहर्निश दूसरोंका सुख अधिक-से-अधिक बढ़ाता हुआ प्रकारान्तरसे अपना ही उल्लू सीधा करता है। सिर्फ यही नहीं, अपना काम बनानेके लिये किसी जीवकी बुराई करनेकी कल्पना भी कभी उसके चित्तमें उत्पन्न होकर उसका मार्गावरोधक नहीं होती। हे किरीटी! अभी जो यह सब तुमने सुना है, वह सब अद्रोहके लक्षण हैं और जिस प्रकार मैंने ये लक्षण तुम्हें बतलाये हैं, उसी प्रकार ये तुम्हें उस व्यक्तिमें स्पष्ट दृष्टिगत होंगे जिसमें अद्रोह होगा। हे पार्थ! जैसे गंगा शंकरके मस्तकपर पहुँचकर संकुचित हो गयी, वैसे ही मानकी

प्राप्ति होनेपर जो संकुचित होता है, उसीके विषयमें यह जानना चाहिये कि उसमें अमानित्व नामक गुण विद्यमान है। हे अर्जुन! यह बात तुम अनवरत अपने ध्यानमें रखो। ये समस्त बातें पहले भी बतलायी जा चुकी हैं, इसलिये अब वही फिर क्यों दोहरायी जायँ? इस प्रकार ये छब्बीस गुण हैं, जो दैवी सम्पत्तिसे सम्बन्धित हैं। ये मानो मोक्षरूपी राज्यके राजाके ताम्रपटके अनुसार दी हुई जागीरें ही हैं अथवा यह समझना चाहिये कि यह दैवी सम्पत्ति मानो गुणरूपी जलसे सदा भरपूर रहनेवाली गंगा ही वैराग्यरूपी सगरपुत्रोंके शरीरोंपर पड़ी हुई है अथवा यह दैवी सम्पत्ति मानो सद्गुणरूपी पुष्पोंकी माला है और ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तिरूपी वधू वही माला विरक्तोंके गलेमें डाल रही है अथवा इन छब्बीस गुणोंकी बत्ती जलाकर यह गीता नामक पत्नी अपने आत्माराम नामक पतिकी आरती कर रही है। ये गुण मानो गीतारूपी सिन्धुसे निकाली हुई दैवी सम्पत्तिरूपी सीपियोंके निर्मल और सच्चे मोतियोंके दाने ही हैं। ऐसी दशामें भला इनका यथातथ्य वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है? इनका अनुभव तो स्वतः ही होता रहता है। इस प्रकार गुणोंके आगार इस दैवी सम्पत्तिका वर्णन हुआ। आसुरी सम्पत्ति यद्यपि दुःखोंके दोषरूपी काँटोंसे भरी हुई बेलके ही तरह हैं, फिर भी प्रसंगानुसार उसका भी वर्णन कर दिया जाता है। यदि गर्हणीय वस्तुका परित्याग करना हो तो यह जानना भी अत्यावश्यक होता है कि वह गर्हणीय चीज कौन-सी है। इसलिये यद्यपि यह आसुरी सम्पत्ति अनिष्ट है तो भी इसका स्वरूप मनोयोगपूर्वक सुनना बहुत ही समीचीन है। अधोगतिके दुःख अपने पल्लेमें बाँधनेके लिये घोर पातकोंने मिलकर जो संग्रह किया है, वही यह आसुरी सम्पत्ति है अथवा जैसे समस्त विषवर्गके समूहका नाम कालकूट है, वैसे ही समस्त पापोंके समूहोंका नाम आसुरी सम्पत्ति है। (१८६—२१६)

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

इन आसुरी दोषोंमें जिसकी शक्तिका ढिंढोरा खूब जोरोंसे पीटा जाता है, उस दम्भका स्वरूप मैं तुमको बतलाता हूँ। हे पार्थ! यह ठीक है कि अपनी माता एकमात्र तीर्थस्वरूपिणी ही होती है; पर यदि हम उसे नग्नावस्थामें सबके समक्ष प्रस्तुत करें तो वह हमारे अध:पतनका ही कारण होती है अथवा गुरूपदिष्ट विद्याएँ यद्यपि इष्ट फलदात्री होती हैं, पर यदि किसी चतुष्पथपर खड़े होकर उनका घोष किया जाय तो ये भी अनिष्टकारक ही होती हैं अथवा जिस समय हम डूबने लगते हैं, उस समय जो नाव हमें सुरक्षित किनारेतक पहुँचानेका साधन होती है, उसी नावको यदि हम अपने सिरसे बाँध लें तो वह हमें डुबानेका ही कारण होती है। हे पाण्डुसुत! निःसन्देह अन्न ही जीवनका आधार है, पर यदि हम उसे आवश्यकतासे अधिक खा जायँ तो वही अन्न हमारे लिये विष हो जाता है। इसी प्रकार जो धर्म लोक और परलोकमें भी हमारा सँघाती होता है, यदि उसी धर्मका आचरण करके हम अहंकारपूर्वक यह घोषणा करने लग जायँ कि हम धर्मका आचरण करते हैं, तो वह तारक धर्म भी हमारे लिये दोषका साधन बन जाता है। इसलिये हे धनुर्धर! यदि हम अपने द्वारा सम्पादित धार्मिक कृत्योंका शाब्दिक आडम्बर चतुर्दिक् फैलाने लगें तो वह धर्म भी अधर्म हो जाता है और इसी प्रकारकी करनीको 'दम्भ' नामसे पुकारते हैं। अब मैं 'दर्प' के सम्बन्धमें बतलाता हूँ, सुनो। जैसे मूर्खकी जिह्वापर चार अक्षरोंके छींटे पड़ते ही वह तत्त्व-ज्ञानियोंकी सभाकी भी निन्दा करने लगता है अथवा जैसे अस्तबलमें स्थित घोड़ा अपने सामने ऐरावतको भी तुच्छ समझने लगता है, जैसे किसी काँटेदार झाड़ीके शिखरपर चढ़ा हुआ गिरगिट स्वर्गको भी तुच्छ समझने लगता है अथवा यदि ईंधनके साथ घास-फूस भी आ जाय तो अग्निकी लपटें जैसे आकाशकी ओर उठने लगती हैं, तथा किसी गड्ढेका सहारा पाकर मछली सागरको भी तुच्छ समझने लगती है, वैसे ही स्त्री, धन, विद्या, स्तुति और मान प्राप्त करके व्यक्ति भी मदान्ध हो जाता है। मानो एक दिनके लिये पराया अन्न पाकर ही वह

दरिद्र भिक्षुक स्वयंको कृतकृत्य समझने लगता है अथवा जैसे मेघोंकी छाया मिलनेपर कोई भाग्यहीन व्यक्ति अपना घर गिरा देता है, जैसे मृगजलकी बाढ़ देखकर कोई मूढ़ व्यक्ति अपना जलका घट फोड़ डालता है, ठीक वैसे ही प्राप्त होनेवाली सम्पत्तिके कारण मत्त हो जाना ही 'दर्प' कहलाता है। हे धनंजय! इसमें कहीं लेशमात्र भी अपवाद नहीं है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि 'अभिमान' किसे कहते हैं। जगत्‌की श्रद्धा वेदोंपर है और इस श्रद्धामें ईश्वरको परमपूज्य माना गया है। सारे जगत्‌को प्रकाशित करनेवाला सूर्य ईश्वर ही है। सारे विश्वको सार्वभौम ऐश्वर्यकी लालसा रहती है और उसको इस बातका बहुत ध्यान रहता है कि हमारी मृत्यु न आवे और यदि इन्हीं बातोंके लिये सारा विश्व ईश्वरार्चन करने लगे तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? परन्तु ईश्वरार्चन एवं गुणानुवादके शब्द कानोंमें पड़ते ही आसुरी व्यक्तियोंके मनमें मत्सर उत्पन्न होता है तथा उस मत्सरकी बेल बढ़ने लगती है। आसुरी व्यक्ति कहने लगता है कि मैं तुम्हारे ईश्वरको निगल जाऊँगा, तुम्हारे वेदोंको विष दे दूँगा और अपनी महत्तासे उनकी सत्ताका विनाश कर डालूँगा। दीपककी ज्योतिपर दृष्टि पड़ते ही जैसे पतंगा व्याकुल हो जाता है, खद्योतको जैसे सूर्य नहीं भाता और टिट्टिभने (टिटहरीने) जैसे सागरके साथ शत्रुता ठानी थी, वैसे ही आसुरी व्यक्ति अपने गर्वके चक्करमें पड़कर ईश्वरका नाम भी सहन नहीं कर सकता। सौतेलेपनका भाव वह अपने पिताके साथ भी रखता है, क्योंकि यह डर उसे सताता रहता है कि यह मेरी सम्पत्तिमें हिस्सेदार होगा। इस प्रकार जो व्यक्ति अहंमन्यतासे अति प्रसन्न हुआ, उन्मत्त तथा अभिमानी होता है, उसे नरकका चलता हुआ मार्ग ही समझना चाहिये।

अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि 'क्रोध' किसे कहते हैं। दूसरोंका सुख आसुरी व्यक्तियोंके मनको विषवत् कटु जान पड़ता है तथा दूसरोंका सुख देखकर वह क्रुद्ध भी होता है। जैसे खौलते हुए तेलमें जलके छींटे पड़ते

ही वह तेल भभककर जल उठता है अथवा जैसे चन्द्रदर्शनसे शृगाल व्याकुल होकर मनमें जल-भुन उठता है अथवा विश्वके जीवन-स्वरूप और उसे उज्ज्वल करनेवाले सूर्यके उदय होते ही पापी ऊलूककी आँखें फूट जाती हैं अथवा जगत्‌को आनन्द प्रदान करनेवाला प्रात:काल जैसे चोरोंके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दु:खदायक होता है अथवा जैसे सर्पके उदरमें पहुँचकर दूध भी विष बन जाता है, जैसे समुद्रके अपार जलसे बड़वाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है और चाहे कितने ही उपाय क्यों न किये जायँ, पर फिर भी वह शान्त होनेका नाम भी नहीं लेती, ठीक वैसे ही दूसरेकी विद्या और सुख इत्यादि ऐश्वर्य देखकर यदि किसीका क्रोध भड़क उठे तो इसी मनोवृत्तिको क्रोध कहते हैं। अब मैं 'पारुष्य' के लक्षणोंकी व्याख्या करता हूँ। जिसका मन मानो सर्पकी बिल हो, नेत्र मानो वाणोंकी सनसनाहटके सदृश हों तथा बातें बिच्छुओंकी वृष्टिकी भाँति हों और शेष क्रियाएँ फौलादके आरेके सदृश हों, तात्पर्य यह कि जिसका बाह्याभ्यन्तरस्वरूप इस प्रकार प्रखर होता है, उस व्यक्तिको मानव-जातिमें अधम कोटिका जानना चाहिये। यह तो हुई पारुष्यकी बात। अब 'अज्ञान' के लक्षण सुनो। पाषाणको जैसे ठंडे और गरम स्पर्शका भेद नहीं जान पड़ता अथवा जैसे जन्मसे अन्धे व्यक्तिको अहर्निशके अन्तरका पता नहीं चलता अथवा अग्नि जब एक बार भड़ककर खाने लगती है, तब वह खाद्य और अखाद्यका तथा विधि अथवा निषेधका कुछ भी विचार नहीं करती अथवा पारस पत्थर जैसे लौह और स्वर्णमें कोई भेदभाव नहीं करता अथवा भिन्न-भिन्न प्रकारके खाद्य पदार्थोंमें संचार करनेपर भी कड़छी जैसे उनमेंसे किसीका रसास्वादन नहीं कर सकती, अथवा वायु जैसे टेढ़े-मेढ़े तथा सीधे मार्गोंका अन्तर नहीं जानती, ठीक वैसे ही जिस अवस्थामें पुरुष कर्तव्याकर्तव्यके विषयमें अन्धा रहता है, स्वच्छ और मलिनका भेद नहीं जानता, पाप और पुण्य सबको मिलाकर ठीक वैसे ही निगल जाता है, जैसे बालक हस्तगत भली और बुरी समस्त चीजें मुँहमें डाल लेता है और जो-जो इस प्रकारकी घृणाहीन अवस्था होती है कि उसमें

बुद्धिको इसका ज्ञान ही नहीं होता कि मधुर क्या है और कड़वा कैसा होता है, उसी अवस्थाको अज्ञान नामसे पुकारते हैं। इसमें शंकाके लिये रत्तीभर भी जगह नहीं है। इस प्रकार षट् दोषोंका यह विवरण किया गया है। जैसे सर्पका शरीर चाहे छोटा ही क्यों न हो, पर फिर भी उसमें भयंकर विष रहता है अथवा यदि अग्नियोंकी श्रेणी देखी जाय तो प्रलयाग्नि, विद्युदग्नि और बड़वाग्नि—इन तीन अग्नियोंकी संख्या अत्यल्प जान पड़ती हैं, पर ये अग्नियाँ यदि भड़क उठें तो इनकी आहुतिके लिये समस्त संसार भी पूरा नहीं होता, वैसे ही ये दोष भी गिनतीमें तो सिर्फ छः ही हैं, पर इनके योगसे आसुरी सम्पत्तिको अत्यधिक बल प्राप्त होता है जैसे सुन्दर स्त्री कृशकाय भी हो तो भी उसमें कामवासना अधिक होती है। यदि व्यक्तिके शरीरमें त्रिदोष इकट्ठे हो जायँ तो फिर चाहे स्वयं ब्रह्माके ही पैर क्यों न जाकर पकड़े जायँ, पर फिर भी मृत्युसे पिण्ड नहीं छूट सकता। किन्तु ये दोष तो छः अर्थात् उस तीनसे दूने हैं। इन्हीं षट् दोषोंकी नींवपर आसुरी सम्पत्तिकी अट्टालिका पड़ी हुई है; इसीलिये वह कमजोर होती ही नहीं। इसके विपरीत जैसे कभी-कभी समस्त पापग्रह एक ही राशिपर आसीन होते हैं अथवा निन्दा करनेवालेके संग्रहमें सभी पाप आकर पहुँच जाते हैं, अथवा जिसका मृत्युकाल सन्निकट होता है, उसपर जैसे समस्त रोग एकदमसे आकर टूट पड़ते हैं अथवा जैसे अशुभ दिनमें समस्त दुष्ट योग इकट्ठे हो जाते हैं अथवा जैसे विश्वास रखनेवाले और निश्चिन्त रहनेवाले व्यक्तिको चोरको सौंप दिया जाता है अथवा जैसे कोई श्रान्त व्यक्ति बाढ़में ढकेल दिया जाता है, ठीक वैसे ही ये षट् दोष अघोर कृत्य करते हैं अथवा जैसे बकरीकी आयु पूरी हो जानेपर उसे सात डंकोंवाला बिच्छू काटता है, वैसे ही ये षट् दोष भी मनुष्यको डँसते हैं। मोक्ष-मार्गकी ओर जरा-सी भी प्रवृत्ति होनेपर भी जो यह कहकर सांसारिक कलह-कोलाहलमें डूब जाता है कि मैं इस मार्गपर नहीं चलूँगा। जो अधम योनियोंकी सीढ़ियाँ उतरता हुआ अन्ततः स्थावरोंसे भी नीचे जा बैठता है, उसीमें ये षट् दोष इकट्ठे होकर आसुरी सम्पत्तिको बलवान् बनाते

वैसे ही ये आसुरी प्रकृतिके लोग भी कुमार्गमें निरन्तर आगे ही बढ़ते जाते हैं और अनवरत नंगे होकर नृत्य करते हैं तथा सत्यके साथ सदा शत्रुभाव रखते हैं। यदि बिच्छू कभी अपने डंकसे सिर्फ गुदगुदा सकता हो, तभी ये आसुरी प्रवृत्तिके लोग भी सत्य बात कह सकते हैं अथवा यदि अपान वायुमेंसे कभी सुगन्ध निकल सकती हो, तभी इन आसुरी स्वभाववालोंमें सत्य भी दृष्टिगत हो सकता है और फिर ऐसे लोग इस प्रकारका काम करें अथवा न करें तो भी वे स्वभावतः बुरे होते हैं। अब मैं उनकी बातोंकी कुछ विलक्षणता तुम्हें बतलाता हूँ। वास्तवमें ऊँटके शरीरका ऐसा कौन-सा अवयव है जो अच्छा कहा जा सके? ठीक वही हाल इन आसुरी प्रवृत्तिवालोंकी भी है। किन्तु प्रसंगानुसार मैं तुम्हें इनकी कुछ बातें बतला देता हूँ; सुनो। जैसे धूम्र निःसारण करनेवाली चिमनीके मुखसे निरन्तर धूम्रके भभके ही निकलते हैं, ठीक वैसे ही इन लोगोंके मुखसे अपशब्द ही निकलते हैं। (२८१—२९४)

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

यह विश्व अनादि है और इनका नियन्ता एकमात्र ईश्वर है और न्याय तथा अन्यायका निर्णय वेदकी कचहरीमें होता है। वेद जिन्हें अन्यायी ठहराते हैं, उन्हें नरकभोगका दण्ड मिलता है और वे जिन्हें न्यायी घोषित करते हैं, वे स्वर्गका सुख भोगते हैं। हे पार्थ! इस प्रकारकी इस विश्वकी जो अनादिसिद्ध व्यवस्था है, उसे ये आसुरी स्वभावके लोग एकदम नहीं मानते। वे इन सब बातोंको एकदम मिथ्या ठहराते हैं। वे कहते हैं कि मूढ़ याज्ञिक लोग यज्ञोंके चक्करमें पड़े रहते हैं, देवताओंके चक्करमें पड़े हुए लोग मूर्ति-पूजन इत्यादि करते रहते हैं और गेरुए वस्त्र पहननेवाले जोगड़े समाधिके भ्रममें फँसे रहते हैं। पर इस संसारमें जो कुछ मनुष्यके हाथ लग जाय, उसका उसे अपने साहसके आधारपर भोग करना चाहिये। इसके अलावा दूसरा और कौन-सा पुण्य कृत्य हो सकता है? अथवा

यदि अपनी असमर्थताके कारण हम भिन्न-भिन्न विषयोंका अपने सुखोपभोगके लिये संग्रह न कर सकें और इसी कारण यदि हम विषय-सुखके लिये व्याकुल रहते हों तो यही वास्तविक पाप है। (यह ठीक है कि धनाढ्य व्यक्तियोंकी हत्या करना पाप है; पर उनका समस्त वैभव, जो हमारे हाथ लगता है, वह क्या पुण्यका फल नहीं है?) यदि यह कहा जाय कि शक्तिशालियोंका दुर्बलोंको खाना निषिद्ध है, तो देखो कि सभी बड़ी-बड़ी मछलियाँ छोटी-छोटी मछलियोंको निगल जाती हैं। पर फिर भी वे बड़ी मछलियाँ निःसंतान क्यों नहीं होतीं? इसी प्रकार लोग कुल और गोत्रकी जाँच-परख करके शुभ मुहूर्तमें छोटे-छोटे लड़के एवं लड़कियोंका विवाह करते हैं। परन्तु यदि विवाहका उद्देश्य एकमात्र सन्तानकी उत्पत्ति करना ही हो तो पशु-पक्षी इत्यादि जो प्राणी वर्ग हैं और जिनकी सन्तानकी गणना ही नहीं हो सकती वे किस शास्त्रोक्त विधिसे विवाह करते हैं? चोरी कर लाया हुआ धन भला किसके लिये हितकर सिद्ध होता है? प्रीतिपूर्वक परायी स्त्रीके साथ सम्भोग करनेसे क्या कोई कोढ़ी हो जाता है? लोग प्रायः कहा करते हैं कि ईश्वर सबका स्वामी है, वही धर्माधर्मके फलोंका भोग कराता है और इस लोकमें जैसा आचार किया जाता है, वैसा ही भोग परलोकमें प्राप्त होता है। पर यदि ये सब सिद्धान्त ठीक मान लिये जायँ तो परलोक कहीं दृष्टिगत ही नहीं होता और न कहीं देवता ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव ये सारी बातें मिथ्या हैं और फिर जब शुभाशुभ कर्म करनेवालेका ही कहीं अस्तित्व नहीं रह जाता तो फिर कर्म-फलका भोग कहाँ रह जाता है? स्वर्गलोकमें जैसे इन्द्र उर्वशीके सहवासमें स्वयंको धन्य मानता है, वैसे ही नरकमें पड़ा हुआ कीट भी स्वयंको धन्य समझता है। इसलिये स्वर्ग और नरक पुण्य तथा पापसे प्राप्त होते हैं यह कथन उक्तिसंगत नहीं है; कारण कि दोनों ही जगहोंमें कामवासना समानरूपसे सन्तुष्ट होती है। जब स्त्री और पुरुष अथवा नर-मादाकी संगति कामवासनासे होती है, तब समस्त

जीवोंका जन्म होता है और पारस्परिक लोभके कारण स्वार्थ-बुद्धिसे कामवासना जिनका पोषण करती है, उन्हींका अन्तमें पारस्परिक द्वेषके कारण स्वार्थी कामवासना ही नाश भी करती है। इस प्रकार कामवासनाके अलावा इस संसारका अन्य कोई मूलाधार ही नहीं है। बस इसी प्रकारकी बकवाद ये आसुरी प्रवृत्तिके लोग किया करते हैं। परन्तु ये बातें बहुत हो चुकीं। ऐसी निन्दनीय तथा घृणित बातें बोलनेसे वाणीको व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ता है। (२९५—३१३)

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

ये आसुरी प्रकृतिके लोग ईश्वरके विरुद्ध केवल बक-बक करते रहते हैं; पर फिर भी इस बातका पता नहीं चल पाता कि उनके मनमें कोई एक बात निश्चितरूपसे बैठी है अथवा उनका कोई एक सिद्धान्त है। किंबहुना, ये लोग खुल्लमखुल्ला पाखण्ड खड़ा करके जीवोंके देहमें नास्तिकताकी हड्डी चुभाकर एक गर्हणीय बस्ती खड़ी कर देते हैं। ऐसी दशामें स्वर्गके लिये आदर-भाव और नरकके भयवाली मनोवृत्तिका अंकुर ही जल जाता है और फिर हे सुहृद्! वे आसुरी स्वभावके लोग इस गन्दे जलके गड्ढेकी तरह देहमें उलझकर विषयरूपी दलदलमें फँसे हुए दिखायी देते हैं। जैसे किसी सरोवरके सूख जानेपर उसमें रहनेवाली मछलियोंका मरण निकट देखकर धीवर इत्यादि उस सरोवरके सन्निकट इकट्ठे हो जाते हैं अथवा देहावसानका समय आनेपर अनेक प्रकारकी व्याधियाँ आ धमकती हैं, जैसे विनाश करनेके लिये धूमकेतुका उदय होता है, वैसे ही लोगोंका संहार करनेके लिये ये आसुरी लोग जन्म लेते हैं। जिस समय अमंगलरूपी बीज बोया जाता है, उस समय उसमेंसे आसुरी मनुष्यरूपी अंकुर उत्पन्न होते हैं, अपितु इन्हें पापके चलते-फिरते स्तम्भ ही समझना चाहिये। जैसे अग्नि जब एक बार अपनी ज्वलन क्रिया आरम्भ कर देती है, तब आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखती, ठीक वैसे ही ये लोग

भी स्वेच्छानुसार नीतिविरुद्ध आचरण करनेके समय किसी चीजका कुछ भी विचार नहीं करते पर अब यह भी सुन लो कि अपने उसी गर्हणीय आचरणका वे लोग अभिमानपूर्वक अभिनन्दन करते हैं।" बस, यही बातें लक्ष्मीपतिने पार्थसे कही थीं। (३१४—३२२)

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—"हे पाण्डव! चाहे कितना ही जल क्यों न हो, पर उससे जाल कभी भरा नहीं जा सकता और आगमें चाहे कितना ही अधिक ईंधन क्यों न डाला जाय, पर उसके जलानेके लिये कुछ भी पर्याप्त नहीं होता। इस प्रकार जिनकी उदर-पूर्ति कभी नहीं होती, उनमें जो सबसे बढ़कर माना जा सकता है, उस कामको, हे पार्थ! ऐसे लोग अपने सीनेसे चिपकाये रखते हैं और अपने चतुर्दिक् ढोंग खड़ा किये रहते हैं। मस्त हाथीको मदिरा पिलानेसे उसकी जो दशा हो जाती है, ठीक वही दशा ऐसे लोगोंकी भी होती है और ज्यों-ज्यों वे वृद्ध होते जाते हैं, त्यों त्यों उनका अभिमान भी बढ़ता जाता है। इस प्रकारके लोगोंमें एक तो पहलेसे ही दुराग्रह भरा रहता है; तिसपर उस दुराग्रहके सहयोगके लिये मूढ़ता भी आ जाती है। फिर भला उनकी हठवादिताका वर्णन कहाँतक हो सकता है! जिन क्रियाओंसे दूसरोंको क्लेश होता है और जिनसे अन्य जीवोंकी धज्जियाँ उड़ जाती हैं, उन क्रियाओंमें इस प्रकारके लोग जन्मसे ही अत्यधिक पटु होते हैं। फिर वे लोग ऐसे पराक्रमका स्वयं ही ढिंढोरा पीटते रहते हैं तथा सारे संसारको तुच्छ समझते हैं और दसों दिशाओंमें अपनी वासनाका जाल फैलाते हैं। जैसे कोई बन्धनमुक्त गौ चतुर्दिक् घूमती रहती है और जो कुछ उसके सामने आता है, वही खाती फिरती है वैसे ही ये आसुरी प्रवृत्तिके लोग भी अपनी स्वेच्छाचार-वृत्तिके कारण चतुर्दिक् पापोंकी ही वृद्धि करते रहते हैं। (३२३—३२९)

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

इस प्रकारके लोगोंके सारे व्यवहार बस एक इसी नीतिके अनुसार होते हैं; पर साथ ही उन्हें यह भी चिन्ता सताती रहती है कि मरणोपरान्त क्या होगा। ये आसुरी स्वभाववाले उस अघोर चिन्ताको बराबर बढ़ाते रहते हैं जो पातालसे भी अधिक गहरी और आकाशसे भी अधिक ऊँची होती है तथा जिसके सम्मुख यह त्रिभुवन भी परमाणुके सदृश जान पड़ता है, जो भोगरूपी वस्त्रके तारोंको नापकर जीवको अपरिमित दुःख देती है तथा जो अपने जीवरूपी प्रेमीको मृत्युपर्यन्त भी त्यागनेका विचार अपने मनमें नहीं आने देती। वे आसुरी प्रवृत्तिवाले लोग निःसार विषयोपभोगका शौक अपने मनमें पाल लेते हैं। वे लोग स्त्रियोंके गीत सुनना चाहते हैं, उनके रूप-सौन्दर्यको आँखोंसे देखना चाहते हैं, उन्हें प्रगाढ़ालिंगन करना चाहते हैं और अमृतको भी उनपर निछावर कर देना चाहते हैं। आशय यह कि वे अपने अन्दर यह धारणा अच्छी तरहसे बना लेते हैं कि स्त्रियोंसे बढ़कर अन्य किसी पदार्थमें वास्तविक सुख नहीं है और तब उस स्त्री-भोगके लिये वे स्वर्ग, पाताल तथा दिशाओंकी सीमाओंका अतिक्रमण करके दौड़ लगाते रहते हैं। (३३०—३३६)

आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२॥

जैसे मछली लोभवश बिना विचारे काँटेमें लगा हुआ मांस निगल जाती है, ठीक वैसे ही ये आसुरी प्रवृत्तिके लोग भी बिना आगा-पीछा सोचे सदा विषय-वासनाओंके चक्करमें पड़े रहते हैं। जिस समय इन्हें अभिलषित विषय नहीं मिलता, उस समय ये लोग कोयेमें बन्द रहनेवाले रेशमके कीड़ेकी भाँति बैठे हुए कोरी आशाओंके ही ताने-बाने बुनते रहते हैं और जब वासनाकी तृप्ति नहीं होती, तब वही वासना द्वेषका रूप धारण कर लेती है। आशय यह कि ऐसे लोगोंके लिये काम क्रोध इत्यादिके अलावा जीवनका अन्य कोई कर्तव्य ही अवशिष्ट नहीं रह जाता है। हे पाण्डव! जैसे चौकीका पहरेदार दिनभर तो इधर-उधर चक्कर लगाता

रहता है और रातके समय पहरा देता रहता है तथा दिन अथवा रातमें किसी समय वह यह नहीं जानता कि विश्राम कैसा होता है, वैसे ही ये आसुरी लोग भी जब कामवासनाके कारण एक बार ऊँचाईपरसे नीचे गिरा दिये जाते हैं, तब ये क्रोधरूपी पहाड़ीपर आ गिरते हैं और तब उनमें राग द्वेष इत्यादि विषयोंके सम्बन्धमें जो प्रेम होता है, वह इतना बढ़ जाता है कि पूरे विश्वमें भी नहीं समा सकता और फिर मनकी हाहीके कारण यदि नाना प्रकारकी विषय-वासनाओंके मंसूबे बाँधे जायँ तो भी विषयोंका प्रत्यक्ष उपभोग करनेके लिये द्रव्य चाहिये अथवा नहीं? यही कारण है कि विषयोंका उपभोग करनेके लिये जिस वैभवकी आवश्यकता होती है, वह वैभव पानेके लिये आसुरी प्रवृत्तिके लोग संसारमें नाना प्रकारके उपद्रव तथा उत्पात करने लगते हैं। वे किसीकी जान ले लेते हैं, किसीका सर्वस्व लूट लेते हैं और किसीका अपकार करनेके लिये तरह-तरहके यन्त्रोंकी रचना करते हैं। जैसे जंगलमें शिकार-हेतु जानेके समय बहेलिये अपने साथ जाल, फन्दे, कुत्ते, बाज, बाँसकी कमचियाँ आदि सब सामान ले जाते हैं, वैसे ही ये आसुरी प्रवृत्तिके लोग भी दूसरोंको फँसानेके लिये अपने साथ कुछ इसी तरहका सामान लेकर निकलते हैं। जिस तरह बहेलिये अपना उदर-पोषण करनेके लिये अनेक प्रकारके पापकर्म करते हैं, उसी तरह ये लोग दूसरोंकी हत्या करके द्रव्य प्राप्त करते हैं और इस प्रकार मिले हुए धनसे इन्हें कितना अधिक सन्तोष होता है! (३३७—३४७)

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

आसुरी प्रवृत्तिवाला व्यक्ति कहता है कि मैंने बहुतेरोंकी सम्पत्ति हस्तगत कर ली है, अतएव मैं धन्य हूँ अथवा नहीं? इस प्रकार वह ज्यों-ज्यों आत्मप्रशंसाके क्षेत्रमें प्रवेश करता है, त्यों-त्यों उसका मन उस आत्म-प्रशंसाके मार्गमें और भी अधिक बढ़ने लगता है और तब वह कहने लगता है कि अब और कौन मेरे चंगुलमें फँसता है और किसकी सम्पत्ति मुझे

मिलती है। अभीतक हस्तगत किया हुआ जो कुछ भी है, वह सब तो मेरा हो ही चुका है। अब मुझे ऐसी युक्ति सोचनी चाहिये कि इसी पूँजीके सहारे सारे चराचरका मुझे लाभ हो और इस प्रकार मैं समस्त संसारके ऐश्वर्यका स्वामी बन जाऊँगा और फिर मेरी दृष्टिपथपर जो कुछ भी आवेगा, उसे अपने चंगुलमें फँसाये बिना मैं नहीं मानूँगा। (३४८—३५१)

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

अभीतक मैंने जितने शत्रुओंकी हत्या की है, वह तो कुछ भी नहीं है। मैं अभी और भी अधिक लोगोंको मारूँगा। फिर इस सारे संसारमें एकमात्र मेरा ही बोलबाला रहेगा। फिर जो लोग मेरी आज्ञाके अधीन रहेंगे, उन्हें छोड़कर शेष अन्य लोगोंकी हत्या कर डालूँगा। लोग जिसे ईश्वर कहते हैं, वह मैं ही हूँ। इस सुखभोगरूपी साम्राज्यका राजा मैं ही हूँ तथा समस्त सुखोंका आगार भी मैं ही हूँ। मेरे सम्मुख इन्द्र भी कोई चीज नहीं है। मैं मन वाणी अथवा शरीरसे जो भी काम करना चाहूँगा, वह भला कैसे न होगा? मेरे अलावा और ऐसा कौन है जिसमें आज्ञा करनेकी शक्ति हो। काल भी तभीतक बलवान् है जबतक मुझसे उसका पाला नहीं पड़ता। यदि कोई सुखकी राशि है तो वह मैं ही हूँ। (३५२—३५६)

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

यह बात ठीक है कि कुबेर धनवान् है, पर फिर भी वह मेरी बराबरी नहीं कर सकता। स्वयं लक्ष्मीपतिके पास भी इतनी सम्पत्ति नहीं है जितनी मेरे पास है। यदि मेरे कुलके महत्त्व तथा मेरे सगे सम्बन्धियोंके विस्तारका विचार किया जाय तो प्रजापति ब्रह्मा भी मेरे सामने तुच्छ ही साबित होंगे, इसीलिये ईश्वर इत्यादि नामोंके महत्त्वका गुणगान करनेवाले सब लोग निकम्मे हैं। उनमेंसे किसीमें भी मेरी बराबरी करनेकी योग्यता नहीं है। आजकल मारण इत्यादि मन्त्र-तन्त्रोंका जो लोप हो गया है, उनका

मैं पुनः उद्धार करूँगा, यही नहीं, जीवोंको पीड़ा देनेवाले यज्ञोंकी भी स्थापना करूँगा। जो लोग मेरी स्तुति करेंगे तथा नाचकर मेरा मनोरंजन करेंगे, वे जो कुछ माँगेंगे, वही मैं उन्हें दूँगा। मैं नाना प्रकारके मादक पदार्थोंका सेवन करूँगा तथा तरुण स्त्रियोंका प्रगाढ़ आलिंगन कर मैं त्रिभुवनमें सानन्द विलास करूँगा। हे पार्थ! ऐसे लोगोंकी इस प्रकारकी बातें कहाँतक बतलायी जायँ! आसुरी प्रवृत्तियोंके चक्करमें पड़े हुए ये पिशाच अपने मनमें बड़ी-बड़ी आशाएँ सँजोकर काल्पनिक आकाश-कुसुमकी सुगन्ध सूँघनेकी चेष्टा करते हैं। (३५७—३६३)

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

जैसे ज्वरके वेगके कारण रोगी यों ही बक-बक करता है, वैसे ही ये लोग भी सकल्प-विकल्पकी लहरोंमें पड़े हुए कुछ-न-कुछ बड़बड़ाते रहते हैं। इस प्रकारके लोगोंपर अज्ञानरूपी धूल जमी रहती है और ये आशारूपी आँधीमें पड़कर मनोरथोंके आकाशमें चक्कर काटते रहते हैं। पर जैसे आषाढ़मासके मेघोंकी कोई गणना नहीं होती अथवा जैसे समुद्रकी लहरें कभी टूटती नहीं, वैसे ही ये आसुरी पुरुष भी मनोरथोंके असंख्य जाल बुनते रहते हैं। फिर ऐसे जीवोंमें मनोरथोंकी बेलोंके अनेक समूह बन जाते हैं और जैसे काँटोंपर पड़कर कमलदल क्षत-विक्षत हो जाते हैं अथवा हे पार्थ! जैसे पत्थरपर पटककर कोई घड़ा तोड़ा जाता है, वैसे ही ये जीव मनोरथोंके चक्करमें पड़कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, ऐसी दशामें जैसे चढ़ती हुई रातमें अँधेरा निरन्तर बढ़ता ही जाता है, वैसे ही इन असुरोंके चित्तमें मोह भी निरन्तर बढ़ता जाता है और ज्यों-ज्यों उनमें मोह बढ़ता है, त्यों-त्यों विषयोंके प्रति उनका अनुराग भी बढ़ता जाता है और जहाँ विषयोंके प्रति अनुराग हुआ, वहाँ पातक स्वतः आकर डेरा डाल देते हैं और जब पातक ताकतवर हो जाते हैं तथा उनकी अधिकता हो जाती है तब मनुष्यको इसी जीवनमें नरकवासका अनुभव होने लगता

है। अतएव हे सुमति! जो कुमनोरथोंका पालन-पोषण करते हैं वे लोग अन्ततः ऐसी जगहपर जाकर निवास करते हैं, जहाँ ऐसे वृक्ष होते हैं, जिनके पत्ते तलवारकी तरह तेज धारवाले होते हैं, जहाँ खैरके अंगारोंके पहाड़ दृष्टिगत होते हैं और जहाँ खौलते हुए तेलके समुद्र लहराते रहते हैं। इस प्रकारके आसुरी लोग उस भयंकर नरकमें जाकर रहते हैं, जहाँ निरन्तर यातनाओंकी परम्परा लगी रहती है, जहाँ यमराज लोगोंको नित्य नये-नये दण्ड देते रहते हैं। परन्तु ऐसे नरकके मुख्य भागमें जो लोग जन्म धारण करते हैं, वे लोग भी अपनी भ्रान्तिपूर्ण अवस्थामें यज्ञ-यागादि करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। हे धनंजय! यज्ञादि समस्त विधि-विधान जैसे होने चाहिये, वैसे ही होते हैं, पर ये आसुरी लोग नाटकीय ढंगसे उन विधि-विधानोंको विफल कर देते हैं। जैसे कोई कुलटा स्त्री किसी यारके आश्रयमें रहकर व्यर्थ ही अपने-आपको सौभाग्यशालिनी समझकर सन्तोष करती है, (३६४—३७७)

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

—वैसे ही ये लोग भी स्वयं ही अपनी महत्ता प्रतिपादित करके मारे अभिमानके विलक्षणरूपसे फूल उठते हैं। फिर ढाले हुए लौह-स्तम्भ अथवा आकाशमें उठे हुए पर्वतकी भाँति वे कभी झुकना अर्थात् नम्र होना जानते ही नहीं। उन्हें अपनी सज्जनता ऐसी अच्छी जान पड़ती है कि वे पूरे संसारको तृणसे भी तुच्छ समझते हैं। इसके अतिरिक्त हे धनुर्धर! उन्हें धनका लोभ इतना अधिक होता है कि वे कभी भूलकर भी उचित-अनुचितका विचार नहीं करते। जिसमें इस प्रकारकी वृत्ति समायी हो, वह भला यज्ञ क्यों करने लगा! पर इस बातका कोई नियम ही नहीं होता कि आसुरी पिशाच क्या करेंगे और क्या नहीं करेंगे। इसीलिये यदा कदा मूर्खताके चक्करमें पड़कर ये लोग यज्ञोंका स्वाँग रचनेका भी विचार करते हैं। परन्तु यज्ञके लिये न तो कुण्डकी, न मण्डपकी

और न वेदीकी ही आवश्यकता होती है। इसके लिये उन्हें साधनोंकी भी आवश्यकता नहीं होती तथा शास्त्रोक्त विधि-विधानोंसे तो मानो उनकी शत्रुता ही रहती है। यदि कहीं इनके श्रवणेन्द्रियोंमें देवताओं अथवा ब्राह्मणोंके नामकी भनक भी पड़ जाय तो उसे भी ये लोग सहन नहीं कर सकते। तो फिर भला ऐसी अवस्थामें इनके यज्ञोंके चक्करमें कोई देवता अथवा ब्राह्मण कहाँसे आ सकता है? पर फिर भी जैसे चतुर लोग मरे हुए बछड़ेकी खालमें भूसा भरकर उसे गौके सामने खड़ा करके उसका दूध दुहते हैं, वैसे ही ये आसुरी लोग भी सारे जगत्‌को निमन्त्रण देकर बलात् अपने यज्ञोंमें ले आते हैं और उनसे उपहार आदि लेकर उन्हें व्यर्थ ही खर्चमें डालते हैं। इस प्रकार ऐसे लोग यदा-कदा अपने लोभके कारण हवन करते हैं और उसमें अनेक जीवोंका सर्वनाश करनेकी कामना करते हैं। (३७८—३८८)

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

फिर ये आसुरी प्रवृत्तिके लोग डंका, भेरी, नौबत आदि बाजे लेकर चलते हैं तथा व्यर्थ ही चतुर्दिक् यह शोर मचाते हुए फिरते हैं कि 'हम दीक्षित हुए हैं'। उस समय इन अधम जनोंका अपने महत्त्वका अभिमान शिखरपर जा पहुँचता है। जैसे अन्धकारको कालिमाके कूट दिये जानेपर वह कालिमा और भी घनी हो जाती है, वैसे ही उनकी मूढ़ता और भी अधिक घनीभूत हो जाती है, उनका औधत्य और भी बढ़ जाता है, अहंकार द्विगुणित हो जाता है तथा अविवेककी भी इसी प्रकार वृद्धि होती है। फिर मानो अन्य किसीका नाम भी अवशिष्ट न रहने देनेके लिये उनकी बलिष्ठताको एक नूतन बल प्राप्त होता है। अहंकार और बलका संयोग जब इस प्रकार हो जाता है, तब उनके अभिमानका समुद्र मर्यादाका उल्लंघन करके उसके बाहर निकल जाता है। जब इस प्रकार गर्वकी अत्यधिक वृद्धि होने लगती है, तब कामका पित्त भी खूब प्रबल होता है, फलस्वरूप

क्रोधाग्नि एकदमसे भड़क उठती है। फिर जैसे भीषण गर्मीके दिनोंमें घृत और तेलके भण्डारमें भयंकर आग लगे और तत्क्षण प्रचण्ड वायु भी बहने लगे, ठीक वैसे ही जब इन आसुरी लोगोंका बल अत्यधिक बढ़ जाता है और उनका अहंकार काम क्रोधसे युक्त हो जाता है तथा इस प्रकार इन सबका संयोग हो जाता है, तब भला वे लोग स्वेच्छानुसार हिंसा करनेमें पीछे क्यों रहने लगे? हे अर्जुन! फिर इस प्रकारके यज्ञ करनेवाले आसुरीलोग सर्वप्रथम मारण इत्यादि प्रयोग सिद्ध करनेके लिये स्वयं अपने ही रक्त और मांसका व्यय करने लगते हैं। फिर वे जीवित शरीर जलाते हैं तथा इस कृत्यसे इस देहमें विद्यमान जो मैं हूँ, उस मुझ आत्मतत्त्वको विलक्षण ताप पहुँचाते हैं और ये मारण इत्यादि करनेवाले जिनको पीड़ा पहुँचाते हैं, उन सबमें मैं ही चैतन्यरूपसे निवास करता हूँ, इसलिये उन समस्त उपद्रवोंका क्लेश मुझको ही सहन करना पड़ता है। जो लोग सौभाग्यसे उनके अभिचार कर्मसे बच जाते हैं, वे लोग उनकी दुष्ट निन्दाके पत्थरोंकी वर्षासे विकल होते हैं। तात्पर्य यह कि आसुरी लोग उनकी निन्दा करके उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं। पतिव्रता, साधु-सन्त, दाता, याज्ञिक, सत्पुरुष, लोकोत्तर तपस्वी, सन्यासी, महात्मा, भक्त इत्यादि मेरे परमप्रिय विषय हैं और इन्हीं लोगोंके आचरणसे सारे श्रौत, स्मार्त आदि क्रिया, अनुष्ठान पवित्र होते हैं। पर ये आसुरीलोग उन सज्जनोंपर भी द्वेषरूपी तीक्ष्ण कालकूटका लेपकर दुर्वचनरूपी तीव्र बाणोंका प्रहार करते हैं। (३८९—४०४)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

अब यह सुनो कि जो लोग सभी तरहसे मेरे साथ शत्रुता करते हैं, उनकी मैं किस प्रकार व्यवस्था करता हूँ। ये लोग मनुष्य-शरीरके धागेका आश्रय लेकर सारे संसारके संग लापरवाहीके साथ व्यवहार करते हैं, इसलिये मैं उनकी ऐसी गति करता हूँ कि क्लेशरूपी गाँवका सारा

कचड़ा जहाँ इकट्ठा होता है तथा संसाररूपी नगरका सारा दूषित जल जहाँ बहकर जाता है, उसी जगहकी तामस योनियोंमें मैं इन मूर्खोंको रखता हूँ। फिर जिस जगहपर खानेके लिये तृणतक नहीं उगता, उस उजाड़ वनमें मैं उन्हें बाघ अथवा बिच्छूकी गति प्रदान करता हूँ। उस समय भूखसे व्यथित होकर वे लोग स्वय अपना ही मांस भक्षण करते रहते हैं तथा बार-बार मृत्युको प्राप्त होकर फिर वहीं जन्म धारण करते रहते हैं अथवा मैं उन्हें उस सर्पकी योनिमें उत्पन्न करता हूँ, जो स्वयं अपने ही विषसे अपने ही शरीरको जलाता है और उन्हें बिलोंमें बन्द कर रखता हूँ। साँस लेकर पुनः उसे बाहर निकालनेमें जितना समय लगता है, उतना समय भी मैं कभी इन दुष्टोंको विश्रामहेतु नहीं देता और उतने अनन्तकालतक मैं इन क्लेशोंसे उन्हें छुटकारा नहीं देता, जिसकी तुलनामें कोटि कल्पोंकी संख्या भी अत्यल्प ही होती है। फिर इन आसुरी लोगोंको अन्तमें जहाँ जाना पड़ता है, उसका यह पहला ही पड़ाव होता है। फिर भला इस पड़ावसे आगे बढ़नेपर उन्हें इनसे भी बढ़कर भीषण दुःख क्यों न झेलने पड़ेंगे। (४०५—४१३)

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

ऐसे लोग इतनी दुःखमय स्थितितक केवल इस आसुरी सम्पत्तिके कारण ही पहुँचते हैं। तदनन्तर व्याघ्र इत्यादिकी तामस योनियोंमें भी विश्राम-हेतु देहका जो थोड़ा-सा आधार रहता है, उनका वह आधार भी मैं उनसे छीन लेता हूँ और तब वे लोग शुद्ध तमका ही रूप हो जाते हैं। वे ऐसे घोर तम हो जाते हैं कि यदि वे कालिखके साथ भी लग जायँ तो वह और भी अधिक काली हो जाय। फिर वे ऐसे घृणित हो जाते हैं कि पापको भी उनसे घृणा होने लगती है, नरक भी उनसे भय खाता है, उनके कष्टको देखकर स्वयं कष्ट भी मूर्च्छित हो जाता है, उनके सम्बन्धसे मल भी मलीन हो जाता है, ताप भी उनसे तप्त हो जाता है,

महाभय भी उनसे थर-थर काँपने लगता है, अमंगल भी उन्हें अमंगलका रूप समझता है तथा छुआछूत भी उनके संसर्ग-दोषसे डरती है। इस प्रकार ये सारे संसारके अधमोंसे भी बढ़कर अधम आसुरी लोग भिन्न-भिन्न तामस योनियोंमें प्रवेश कर अन्तमें हे धनंजय! साक्षात् तम ही बन जाते हैं। इन मूर्खोंने भी कैसे नरकोंका साधन किया है! इसका वर्णन करनेमें वाणी भी विकल हो जाती है तथा मन भयभीत होकर कदम पीछे हटा लेता है। यह बात समझमें नहीं आती कि वे ऐसी आसुरी सम्पत्तिका उपार्जन क्यों करते हैं, जिससे ऐसी भयकर अधोगति प्राप्त होती है। इसीलिये हे धनुर्धर! तुम कभी आसुरी सम्पत्तिके राहपर भी न चलो। जिस जगहपर आसुरी सम्पत्तिवाले रहते हों तथा उपर्युक्त दम्भ इत्यादि षट् दोष दृष्टिगत होते हों, उस जगहपर अपने कदम न रखना ही समीचीन है। (४१४—४२४)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंकी प्रबलता जहाँ विद्यमान हो, तो यह समझना चाहिये कि वहाँ अशुभकी ही उपज होती है। हे धनंजय! समस्त दुःखोंने इन तीनोंका एक ऐसा मार्ग बना रखा है, जिससे चलकर जो चाहे, वही उन दुःखोंके दर्शन कर सकता है—वे दुःख प्राप्त कर सकता है अथवा पाप करनेवालोंको नरक-भोगमें पहुँचानेके लिये ही पातकोंकी यह एक विशाल सभा स्थापित हुई है। जबतक हृदयमें इन तीनोंका उदय नहीं होता, तबतक रौरव नरकका वर्णन पुराणोंतक ही सीमित रहता है, पर ज्यों ही इन तीनों दोषोंका संचार होता है, त्यों ही समस्त अपाय मनुष्यका पीछा करने लगते हैं और कष्ट मानो एकदमसे सस्ते हो जाते हैं। लोग जिसे हानि नामसे पुकारते हैं, वास्तवमें वह हानि नहीं है। ये तीनों ही वास्तविक हानिके रूपमें हैं। हे सुभट (अर्जुन)! अधिक क्या कहूँ। नरकोंमें जो सबसे निकृष्ट नरक है, उसका प्रवेशद्वार इन्हीं

तीनों दोषोंका त्रिकूट है। इस त्रिशंकु यानी तीनों मुखवाले प्रवेश द्वारपर जो जीव खड़ा रहे, वही नरकरूपी नगरीके मुख्य सभागृहमें प्रवेश करता है। अतएव हे किरीटी! काम, क्रोध और लोभके इस त्रिकूटका सभी अवसरोंपर पूर्णतया त्याग ही करना चाहिये। (४२५—४३२)

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि तभी हो सकती है, जब जीव इन सब दोषोंको एकदमसे परित्याग कर दे। जबतक ये त्रिदोष जीवमें जाग्रत् रहते हैं, तबतक कल्याण-प्राप्तिकी वार्ता हमारे कान नहीं सुन सकते, उस समय यही सब बातें श्रीदेवने कही थीं। तदनन्तर वे फिर कहते हैं—"जिसके चित्तमें आत्मप्रेम हो अथवा आत्मनाशका भय सता रहा हो, उसे इस राहपर कभी नहीं चलना चाहिये। उसे अनवरत जाग्रत् रहना चाहिये। जैसे कोई अपने पेटके साथ पत्थर बाँधकर केवल अपनी भुजाओंके बलसे ही समुद्रको तैरकर पार करना चाहता हो अथवा जीवन धारण करनेके लिये कालकूट पीना चाहता हो, वैसे ही वह मनुष्य भी होता है, जो काम, क्रोध और लोभ—इन त्रिदोषोंको अपने साथ रखकर अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है। इसलिये इन सबका नामोनिशान तक मिटा देना चाहिये। जब यह तीन नाड़ियोंवाली जंजीर टूटती है, तभी जीव आत्मकल्याणके पथपर सुखपूर्वक जा सकता है। जैसे कफ, पित्त और वात—इन त्रिदोषोंसे मुक्त देह अथवा चुगली, चोरी और छिनाल—इन त्रिकुटोंसे अलिप्त रहनेवाला नगर अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन त्रितापोंसे मुक्त अन्त:करण सुखी होता है, वैसे ही काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंसे मुक्त जीव भी संसारमें सुखी होता है और वह मोक्ष-पथपर चलकर साधु-सन्तोंकी संगति प्राप्त करता है। फिर सत्संग और सत्-शास्त्रोंकी सहायतासे वह जीवन और मृत्युके पथरीले जंगलसे बाहर निकल जाता है। फिर उस समय गुरु-कृपासे उसे वह नगर प्राप्त

होता है, जिसमें निरन्तर आत्मानन्दका ही वर्चस्व रहता है। वहाँ उस आत्मस्थितिरूपी माताके गले लगता है, जो प्रियजनोंकी पराकाष्ठा है और उस माताके मिलते ही सांसारिक कोलाहल बन्द हो जाता है। वही मनुष्य इस प्रकारके लाभका स्वामी होता है, जो काम, क्रोध और लोभको भगाकर स्वयं स्वतन्त्र होकर खड़ा होता है। (४३३—४४४)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

जो आत्मघाती इन सब चीजोंपर ध्यान नहीं देता और काम इत्यादि दोषोंमें ही अपना सिर डालता है जो उन श्रेष्ठ वेदोंका अपमान करता है, जो सबपर समभावसे कृपादृष्टि रखनेवाले हैं तथा सबका हिताहित स्पष्टरूपसे दिखलानेवाले दीपककी ही भाँति हैं, जिसे विधि और निषेधका ध्यान नहीं रहता, जो आत्मप्राप्तिकी कामना नहीं करता, जो एकमात्र इन्द्रियोंका ही लालन-पालन करता रहता है, जो निरन्तर काम इत्यादिके ही चक्करमें पड़ा रहता है और उनकी बात कभी नहीं टालता तथा जो स्वेच्छाचारके वनमें अन्धा होकर घुसता है, उसे मुक्तिरूपी सरिताका जल कभी चखनेतकको नहीं मिलता। सारा श्रम दूर करनेवाली यह मुक्तिरूपी नदी उसे कभी स्वप्नमें भी दृष्टिगत नहीं होती। इस प्रकारके मनुष्यके पारलौकिक हितकी तो बात ही मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये, पर उसे लौकिक भोग भी सुलभ नहीं होते। जैसे कोई ब्राह्मण मत्स्य पकड़नेके लोभसे पानीमें गोता लगाता है, पर वहाँ भी उसके हाथ कुछ नहीं लगता, और-तो-और उसके प्राणोंपर संकटके बादल भी मँड़राने लगते हैं, वैसे ही जो मनुष्य सिर्फ विषय-भोगके लोभसे परलोक-साधनका प्रयत्न करता है, उस प्रयत्नके दौरान ही उसपर मृत्यु अपना कब्जा जमा लेती है तथा उसे खींचकर दूसरी ओर ले जाती है। परिणामतः उसे न तो स्वर्ग-भोग ही मिलता है और न तो सांसारिक विषयभोग ही। फिर भला उसे मोक्ष प्राप्त होनेकी बात ही कहाँ! अतएव जो व्यक्ति विषयभोगको पानेकी चेष्टा

करता है, वह इस लोकके विषयभोगसे भी और स्वर्ग-सुखोपभोगसे भी वंचित हो जाता है तथा उसका उद्धार कभी नहीं होता। (४८५—४५४)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

इसलिये हे तात! जिनको स्वयंपर दया हो, उन्हें वेद-वचनोंकी कभी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। जैसे अपने पतिके मनोऽनुकूल आचरण करनेवाली पतिपरायणा स्त्री स्वतः आत्मकल्याणका साधन करती है अथवा जैसे कोई शिष्य अपने गुरुके वचनोंकी ओर ध्यान रखकर आत्मस्वरूपमें स्थान प्राप्त करता है अथवा जैसे अँधेरेमें रखा हुआ अपना धन पुनः प्राप्त करनेकी कामनावाला व्यक्ति प्रकाश करनेके उद्देश्यसे बहुत तत्परतापूर्वक दीपक लाकर सामने रखता है, वैसे ही जो लोग पुरुषार्थ-चतुष्टयसे सम्पन्न होना चाहते हों, हे पार्थ! उन्हें श्रुतियों और स्मृतियोंको सिरपर धारण करना चाहिये। शास्त्रोंने जिसे त्याज्य बतलाया है, फिर वह चाहे विशाल साम्राज्य ही क्यों न हो पर फिर भी उसे तृणवत् तुच्छ समझकर फेंक देना चाहिये और शास्त्र जिसे ग्राह्य बतलाते हों, वह चाहे विषतुल्य ही क्यों न हो, पर फिर भी उसे विरुद्ध नहीं समझना चाहिये। हे सुभट (अर्जुन)! यदि ऐसी अचल निष्ठा वेद-शास्त्रोंके प्रति हो तो क्या कभी अनिष्टकी प्राप्ति हो सकती है? अहितसे बचानेवाली और कल्याणका साधन करके उसकी वृद्धि करनेवाली संसारमें श्रुतियोंसे बढ़कर दूसरी कोई माता नहीं है। अतएव जीवको ब्रह्मस्वरूपमें पहुँचानेवाली इस श्रुतिरूपी माताका परित्याग कभी किसीको नहीं करना चाहिये; हे अर्जुन! तुम विशेषरूपसे सदा इसीकी सेवा किया करो; क्योंकि तुमने इस संसारमें धर्मनिष्ठा और सत्-शास्त्रोंकी सहायतासे अपना जीवन धन्य करनेके उद्देश्यसे ही जन्म लिया है और तुम आप-से-आप धर्मके छोटे भाई हो।

इसलिये तुम्हें वेदविरुद्ध आचरण कभी नहीं करना चाहिये। कार्याकार्यका निर्णय शास्त्रोंके आधारपर ही करना चाहिये। जो अकृत्य और बुरी बातें शास्त्रोंमें कही गयी हों, उन्हें एकदम त्याग देना चाहिये और तब जो वास्तविक कर्तव्य निश्चित हो, उसका अपनी पूरी सामर्थ्यसे और शुद्ध हृदयसे अच्छी तरह पालन करके उसकी सिद्धि करनी चाहिये। हे बुद्धिमान् अर्जुन! सम्पूर्ण विश्वको आधार प्रदान करनेवाली मुद्रा अर्थात् प्रामाणिकताकी मोहर आज तुम्हारे हाथमें ही है और लोकसंग्रहकी शक्ति भी तुममें निश्चितरूपसे विद्यमान है।''

इस प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनको आसुरी सम्पत्तिके लक्षण बतलाकर उनसे सूचित होनेवाला निर्णय भी स्पष्टरूपसे बतला दिया। तदनन्तर वह पाण्डुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे अन्तःकरणके सद्‌भावके बारेमें जो प्रश्न करेगा, वह भी आपलोग चैतन्यके श्रवणेन्द्रियोंसे श्रवण करें। संजयने व्यासदेवकी कृपासे महाराज धृतराष्ट्रको वह प्रकरण सुनाया था। उसी प्रकार मैं भी श्रीनिवृत्तिनाथकी कृपासे वह प्रकरण आपलोगोंसे निवेदन करूँगा। यदि आप सन्तजन मुझपर अपनी कृपादृष्टिकी वृष्टि करेंगे तो मैं भी आप ही लोगोंके सदृश बड़ा बन जाऊँगा। अतएव आपलोगोंकी मुझपर इतनी ही अनुकम्पा होनी चाहिये कि आपलोगोंका ध्यान मेरी ही तरफ रहे। फिर मैं ज्ञानदेव सचमुच धन्य तथा समर्थ हो जाऊँगा। (४५५—४७३)

~~~ ० ~~~
~~~

अध्याय सत्रहवाँ

आपकी जो योगमाया है वही विश्वरूपको प्रकट करती है तथा जीवरूपी जो गण हैं उनके स्वामी आप ही हैं, उन आप श्रीगुरुराज गणेशको मैं नमन करता हूँ। त्रिगुणरूपी त्रिपुरोंसे घिरी हुई जीवरूपी किलेमें बन्द इस आत्मारूपी शम्भुकी मुक्ति आपके स्मरणसे होती है। अतएव यदि शम्भुके साथ आपकी तुलना की जाय तो आपकी ही श्रेष्ठता अधिक सिद्ध होती है, पर साथ ही मोक्षके अभिलाषीजनोंको इस मायारूपी सागरसे पार करनेके लिये नौकाके सदृश जिस हलकेपनकी जरूरत होती है, वह हलकापन भी आपमें है। जिन लोगोंको आपके बारेमें जरा-सा भी ज्ञान नहीं है, उन्हीं लोगोंको आप वक्रतुण्ड जान पड़ते हैं; पर जो ज्ञानसे भरपूर हैं, उन्हें आप निरन्तर सरल ही दृष्टिगत होते हैं। यदि आपकी दिव्य दृष्टिपर दृष्टिपात किया जाय तो वह अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म प्रतीत होती है; पर उसी दृष्टिको खोल और बन्द करके आप उत्पत्ति और प्रलय बड़ी सरलतासे कर देते हैं। जिस समय आप अपना प्रवृत्तिरूपी कर्ण फड़काते हैं उस समय मद तथा रससे युक्त जो सुगन्धित वायु निकलती है, उस कारण जीवरूपी भ्रमर आपके गण्डस्थलपर ऐसे सुशोभित होते हैं, मानो नील कमलोंसे आपकी पूजा की गयी है। तदनन्तर जिस समय आप निवृत्तिरूपी दूसरा कर्ण हिलाते हैं, उस समय मानो उस पूजाका विसर्जन हो जाता है और आप अपने खुले हुए सुन्दर आत्मरूपमें भासमान होते हैं। आपकी वामांगी जो माया है, उसके ललित नृत्यके कारण यह जो नाम-रूपोंवाला जगत्-रूपी मोहका भास उत्पन्न होता है, वह भी आपके

ताण्डव कौशलका ही परिचय देता है। सिर्फ यही नहीं, अपितु और भी आश्चर्यकी बात है कि हे गुरुराज गणेश! आपके साथ जिसका आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध हो जाता है, वह सद्यः आत्मीयताहेतु परकीय हो जाता है—उस आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध अथवा भाई-चाराके व्यवहारसे वंचित हो जाता है। ज्यों ही आप सारे बन्धनोंका क्षय करते हैं, त्यों ही मनुष्यके हृदयमें यह भाव उमड़ता है कि आप जगद्बन्धु हैं और भक्तकी आनन्दवृत्ति आपमें विलीन होने लगती है। फिर हे देवराज! द्वैत भावका पूर्णतया लोप हो जाता है और उसे अपने देहका भान भी नहीं रह जाता। पर जो लोग आपको अपनेसे पृथक् समझते हैं और जो आपको अपनी आँखोंके समक्ष रखकर आपको पानेके लिये अनेक प्रकारके योग इत्यादि मार्गोंपर दौड़ लगाते हैं, आप उनके बहुत पीछे ही रहते हैं। जो लोग आसन लगाकर मनमें आपका ध्यान करते हैं, उनके ग्राम अथवा नगरमें भी आप नहीं रहते। पर जो लोग आत्मैक्यके भावसे ध्यानको भी भुला बैठते हैं, उनपर अवश्य ही आपका परम प्रेम बरसता है। जिन्हें यह ज्ञान नहीं है कि आप स्वयंसिद्ध हैं और एकमात्र अपनी सर्वज्ञताका ही अभिमान करते हैं, उनकी बातोंका श्रवण भला आप कहाँसे कर सकते हैं? कारण कि जो वेद इतना अधिक वक्तृत्व करते हैं, उनकी तरफ आपकी श्रवणेन्द्रियाँ ही नहीं होतीं। आपका मौन नाम पड़नेका कारण आपकी जन्मराशि ही है, तो फिर आपकी स्तुति करनेका क्यों साहस किया जाय? आँखोंको जो कुछ दिखलायी देता है, वह सब यदि मायाजन्य ही है, तो फिर आपकी भक्तिहेतु साधन ही कहाँ अवशिष्ट रहता है? देवरूपमें आपकी कल्पना करके आपकी सेवा करनेका भाव मनमें जगता है, पर यदि आपमें तथा अपनेमें भेदभाव माना जाय, तो मानो आत्मद्रोह ही होता है। अतएव अब आपके सम्बन्धमें कुछ न कहना ही समीचीन है। आपके अद्वितीय स्वरूपकी प्राप्ति तभी होती है, जब समस्त भेदभाव पूर्णरूपसे त्याग दिया जाता है। हे आराध्यमूर्ति! आपका यह रहस्य अब ठीक तरह मेरी समझमें

आ गया है। अतएव जैसे बिना किसी भेदभावके अन्न-रसके द्वारा लवण स्वीकार किया जाता है, ठीक वैसे ही आप भी मेरा नमन स्वीकार करें। इससे अधिक अब मैं और क्या कहूँ। जैसे रिक्त कुम्भ समुद्रमें डाला जाय और फिर ऊपर निकाला जाय, तब वह जैसे जलसे लबालब भरा हुआ निकलता है अथवा दीपकके संसर्गसे जैसे बत्ती भी दीपकका रूप धारण कर लेती है, ठीक वैसे ही हे श्रीनिवृत्तिनाथजी महराज! मैं भी आपको नमन करके परिपूर्ण हो गया हूँ। अतएव अब मैं गीतार्थ स्पष्ट करनेके लिये प्रवृत्त होता हूँ। षोडश अध्यायके अन्तिम श्लोकमें श्रीकृष्णदेवने इस सिद्धान्तका निर्णय किया है कि हे पार्थ! जिस समय यह निश्चय करनेकी आवश्यकता हो कि करणीय और अकरणीय काम कौन-सा है, तब तुम केवल शास्त्रोंको ही प्रमाण मानो। इसपर अर्जुनके मनमें यह प्रश्न उठा कि ऐसा क्यों है कि बिना शास्त्रोंकी सहायताके कर्मका निर्णय ही न हो? तक्षकके फणपर पैर रखकर उसकी मणि कैसे प्राप्त की जाय और सिंहकी नासिकाके बाल कैसे उखाड़े जायँ? और तब यह कहा जाता है कि तक्षककी वही मणि सिंहकी नासिकावाले बालमें गूँथकर तथा उसकी कण्ठी बनाकर गलेमें धारण की जाय। पर यदि मनुष्य ऐसा न कर सके तो क्या वह अपना गला यों ही नंगा रखे? ठीक वैसे ही मतभेदका झमेला खड़ा करनेवाले भिन्न-भिन्न शास्त्रोंकी गठरी भला कैसे और कौन बाँधे? और फिर उनकी एकवाक्यतावाला फल ही कैसे प्राप्त किया जा सकता है? और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि किसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रोंका तालमेल बैठाकर किसी कार्यके विषयमें कोई निर्णय कर भी लिया, तो भी उसके आचरणके लिये यथेष्ट समय भी किसीके पास है? इस जीवको इतना अधिक प्रसार भला कैसे अच्छा लगेगा? और फिर सब लोग इस प्रकारका उपाय भला कैसे कर सकते हैं, जिससे शास्त्र, अर्थ, देश तथा काल—सबका एक ही कार्यमें उचित योग हो सके? यही कारण है कि इस शास्त्रोक्त

प्रकरणका साधन प्रायः कठिन ही है। फिर उन लोगोंके लिये कौन-सा मार्ग खुला रहता है, जो लोग अज्ञानी हों, पर साथ ही मोक्षके अभिलाषी भी हों? बस, यही प्रश्न अर्जुनके मनमें उठ रहा है और इसीका विवेचन इस सत्रहवें अध्यायमें किया गया है। जो समस्त विषयोंसे विरक्त है, जो सम्पूर्ण कलाओंमें निपुण है, जो स्वयं कृष्णके लिये भी अर्जुनके रूपमें दूसरा कृष्ण (आकर्षण करनेवाला) ही है, जो शौर्यका अधिष्ठान है, जो सोमवंशका शृंगार है, सुख इत्यादिका उपभोग जिसके लिये सिर्फ क्रीड़ा है, जो प्रज्ञाका प्रियोत्तम है तथा ब्रह्मविद्याका विश्रामस्थल है, जो श्रीकृष्णके सन्निकट रहनेवाला मानो मनोधर्म ही है; (१—३३)

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

उस अर्जुनने कहा—"हे तमाल-पत्र-श्याम प्रभो! यद्यपि आप इन्द्रियग्राह्य साक्षात् ब्रह्म ही हैं, तो भी आपका वचन मुझे संशयात्मक ही जान पड़ता है। आपने यह क्यों कहा है कि प्राणियोंके लिये मोक्षका साधन करनेवाला शास्त्रोंके अलावा अन्य कोई चीज नहीं है? शास्त्राभ्यास करनेके लिये उचित स्थान, काल और अध्यापककी आवश्यकता होती है; पर जिसे इन सब चीजोंकी उपलब्धि न हो और शास्त्राभ्यास करनेके लिये जो नाना प्रकारकी सामग्री अपेक्षित होती है, उसकी भी जिसके पास कमी हो, साथ ही जिसे पूर्वकालके पुण्यका बल भी प्राप्त न हो और इसीलिये जिसमें बुद्धि, बल भी न हो, उसके किये शास्त्राभ्यास या शास्त्राध्ययन हो चुका; और इस प्रकार जो शास्त्राध्ययन न कर सकते हों और यहाँतक कि शास्त्रोंके साथ जिनका कुछ भी सम्पर्क न हो और इसीलिये जिन्होंने शास्त्रीय ऊहापोह करनेका सारा बवाल ही त्याग दिया हो, पर फिर भी जिन लोगोंके मनमें इस बातकी लालसा होती है कि हम भी उन्हीं लोगोंकी भाँति हों जो शास्त्रोंमें बताये गये कर्मोंका

अनुष्ठान करके वास्तवमें पारलौकिक सुख सम्पादित करते हैं तथा इसी विचारसे जो शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोंका अनुकरण करनेकी कोशिश करते हों और हे उदार भगवन्! किसी सुयोग्य लेखकके लिखे हुए अक्षरोंके नीचे जैसे कोई बालक उन अक्षरोंको देख-देखकर तदनुरूप स्वयं भी वही अक्षर लिखता है अथवा किसी आधार या मार्गदर्शकको अपने सम्मुख रखकर जैसे कोई अन्धा अथवा लँगड़ा उसके पीछे-पीछे चलता है, वैसे ही जो उन्हीं लोगोंके सदृश आचरण करते हों, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत हों और जो अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ऐसे ही लोगोंके मार्गपर उनका अनुकरण करते हुए चलते हों और फिर जो बहुत ही भावुकता तथा श्रद्धापूर्वक शिव इत्यादि देवताओंकी पूजा, भूमि इत्यादिके दान, अग्निहोत्र इत्यादि यज्ञ विधियाँ तथा इसी प्रकारके अन्यान्य कर्मोंका आचरण करते हों, हे भगवन्! आप मुझे यह बतलावें कि उन व्यक्तियोंको सत्त्व, रज और तममेंसे कौन-सी गति प्राप्त होती है।" इसपर जो वैकुण्ठाधिपति हैं, जो निगमरूपी पद्मपराग हैं, जिनकी छायासे इस सारे जगत्का जीवन चलता है और जो काल स्वभावतः बलवान्, अलौकिक तथा भव्य है और जो मेघ अगम्य तथा आनन्दमय है, उस काल और मेघको भी जिस सामर्थ्यसे महत्त्व मिलता है, वह सामर्थ्य जिसमें कूट-कूटकर भरी हुई है, वे भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही कहने लगे। (३४—४८)

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

भगवान्ने कहा—तुम्हारी अभिरुचि हम जानते हैं। तुम्हें शास्त्राभ्यास या शास्त्राध्ययनका बन्धन अत्यन्त ही क्लेशकारक जान पड़ता है। क्यों, यही बात है न? तुम यह सोचते हो कि एकमात्र श्रद्धाके द्वारा ही परमपद प्राप्त कर लिया जाय। पर हे प्रबुद्ध! यह काम इतना आसान नहीं है। हे किरीटी! केवल यह कहना कि—हमारी अपनी श्रद्धा है और उसीपर

अवलम्बित रहना उचित नहीं है। यदि ब्राह्मण किसी अन्त्यजसे मेल-जोल और सम्बन्ध स्थापित करे तो क्या वह भी अन्त्यज नहीं हो जाता? मद्यके पात्रमें चाहे गंगाजल ही क्यों न लाया जाय, पर फिर भी उसको ग्रहण नहीं करना चाहिये। तुम स्वयं यह विचार करो कि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह उचित है अथवा अनुचित। यह ठीक है कि चन्दन वास्तवमें शीतल होता है, पर फिर भी यदि उसका संयोग अग्निके साथ हो जाय तो उस दशामें यदि उसे हाथपर रखा जाय तो क्या वह कभी बिना जलाये रह सकता है? हे किरीटी! यदि अशुद्ध स्वर्णमें जरा-सा शुद्ध स्वर्ण मिला दिया जाय और तब यदि उसे शुद्ध स्वर्ण मानकर ग्रहण किया जाय तो क्या उसमें हानि न होगी? ठीक इसी प्रकार श्रद्धाका सत्त्व भी यथार्थतः शुद्ध ही है, पर वह सत्त्व जिन प्राणियोंके हिस्सेमें आता है, वे प्राणी तो स्वभावतः अनादि मायासे उत्पन्न होनेवाले त्रिगुणोंके ही बने हुए होते हैं। इन त्रिगुणोंमेंसे दो गुण तो दबे रहते हैं और एक गुण सशक्त होता है और तब प्राणियोंकी वृत्ति उसी गुणके अनुसार चलने लगती है। फिर वृत्तियोंके अनुरूप ही मन होता है, मनके अनुसार ही कर्मोंका सम्पादन होता है और तब देहावसानके बाद प्राणी अपने कर्मानुसार नूतन देह धारण करता है। जब बीजका क्षय हो जाता है, तब उससे वृक्षका निर्माण होता है और फिर जब वृक्षका नाश होता है, तब वह बीजमें समाया रहता है। यह क्रम कोटिकल्पपर्यन्त चलता रहता है, पर फिर भी वृक्ष जातिका कभी विनाश नहीं होता। ठीक इसी प्रकार अनगिनत जन्म होते रहते हैं, पर जो त्रिगुणत्व प्राणियोंका पीछा करता रहता है, वह कभी उनका पीछा नहीं छोड़ता। इसीलिये तुम यह बात ध्यानमें रखो कि जो श्रद्धा प्राणियोंके हिस्सेमें आती है, वह भी उनके गुणोंके अनुसार होती है। यदि कभी शुद्ध सत्त्वगुण बढ़ जाय तो उस श्रद्धासे कुछ ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है, पर उस एक सत्त्वके मारक दो अन्य गुण भी तो वहाँ मौजूद रहते हैं। सत्त्वके सहयोगसे श्रद्धा मोक्ष-फलकी ओर प्रवृत्त होती है; पर ऐसे

अवसरपर रजोगुण तथा तमोगुण चुप्पी क्यों साधे रहें? अतः जब सत्त्वकी शक्ति समाप्त कर रजोगुण स्वतन्त्ररूपसे बढ़ने लगता है, तब वही श्रद्धा कर्मोंका बेगार करनेवाली क्रीतदासी बन जाती है और फिर जब तमका प्राबल्य होता है, तब उसी श्रद्धाकी ऐसी दशा हो जाती है कि वही स्वतः विषयोंके भोगमें फँस जाती है। (४९—६५)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

हे ज्ञानवान् अर्जुन! इस जीवन संघको इस प्रकारकी निर्दोष श्रद्धा कभी प्राप्त हो नहीं सकती, जो सत्त्व, रज और तम—इन त्रिगुणोंसे अलिप्त हो। श्रद्धा स्वभावतः तत्त्व ही है, पर वह त्रिगुणोंसे आवेष्टित रहती है और इसीलिये उसके राजस, तामस और सात्त्विक—ये तीन भेद होते हैं। यों तो जल ही जीवन है, पर वही जल विषके सम्बन्धसे मारक, मिर्चके संगसे तीक्ष्ण और इक्षु (गन्ने)-के सम्बन्धसे मधुर होता है। इसी प्रकार जो निरन्तर भयंकर तमसे युक्त होकर पुनः-पुनः जन्म धारण करता है और मृत्युको प्राप्त होता है, उसकी श्रद्धा भी तमोरूप ही होती है। फिर जैसे काजल और स्याहीमें कुछ भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही यह श्रद्धा भी तामसी ही होती है और उसमें तमसे भिन्न और कुछ भी नहीं होती। ठीक इसी प्रकार रजोगुणीकी श्रद्धा राजसी तथा सत्त्वगुणीकी श्रद्धा पूर्णतया सात्त्विक ही होती है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र श्रद्धासे ही ओत-प्रोत है; पर इन त्रिगुणोंकी सामर्थ्यसे श्रद्धापर जो तीन प्रकारकी छाप बैठती है, उन्हें तुम पहचान लो। जैसे पुष्पको देखकर उसके सहयोगसे झाड़ (वृक्ष) पहचाना जाता है अथवा सम्भाषणसे मनुष्यके अन्तःकरणका परिचय जाना जाता है; जैसे इस जन्मके भोगको देखकर पूर्व जन्मोंके कार्य जाने जाते हैं, वैसे ही जिन चिह्नोंके द्वारा श्रद्धाके ये तीनों रूप पहचाने जा सकते हैं, वे चिह्न अब मैं तुम्हें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (६६—७५)

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

जिसको देहकी रचना सात्त्विक श्रद्धाकी होती है, उसका अनुराग प्रायः स्वर्ग-सुखकी ओर ही होता है। वह समस्त विद्याएँ सीखता है, यज्ञ इत्यादि विधान करता है और सिर्फ यही नहीं, अपितु देवलोकमें चला जाता है। हे वीरेश! जिनकी श्रद्धा राजस होती है, वे राक्षसों और पिशाचोंकी भक्ति करते हैं और जिनकी श्रद्धा तामसी होती है, अब मैं उनके भी लक्षण बतलाता हूँ। जो जीव केवल पापपुंज ही होते हैं, जो अत्यन्त कर्कश और निष्ठुर होते हैं, जो प्राणियोंकी हत्या करके सन्ध्याकालमें श्मशानमें जाकर भूतों और प्रेतोंकी पूजा करते हैं उन जीवोंके बारेमें यही जानना चाहिये कि वे तमोगुणका सार-तत्त्व निकालकर ही बनाये गये हैं। इस प्रकारके लोग तामसी श्रद्धाका मानो घर ही होते हैं। इस प्रकार इन तीन चिह्नोंसे युक्त ये त्रिविध श्रद्धाएँ संसारमें दृष्टिगत होती हैं। कहनेका आशय यह है कि हे सुविज्ञ! तुम भी अपने मनमें एकमात्र सात्त्विक श्रद्धा ही रखो और शेष दोनों जो घातक श्रद्धाएँ हैं, उन्हें एकदमसे त्याग दो। हे धनंजय! यह सात्त्विक श्रद्धा जिसकी संरक्षक हो जाती है, उसके लिये कैवल्य कोई हौवा नहीं होता अर्थात्, मोक्ष उसके लिये कठिन नहीं होता, फिर चाहे वह ब्रह्मसूत्रका अध्ययन न किया हो अथवा शास्त्रोंमें निपुण न हुआ हो अथवा उसे महासिद्धान्तोंकी उपलब्धि न हुई हो। जो बड़े लोग एकमात्र श्रुतियों तथा स्मृतियोंके अर्थोंके मूर्तिमान् अवतार होकर जगत्‌को सदाचरणका उदाहरण दिखलाते हैं, उनके आचरणका ढंग देखकर तथा उसीके अनुरोधसे वे लोग भी सात्त्विक श्रद्धासे आचरण करते हैं और इसीलिये शास्त्राध्ययनसे मिलनेवाला फल उन्हें सहजमें ही प्राप्त हो जाता है। एक व्यक्ति तो अत्यधिक प्रयत्न करके दीपक प्रज्वलित करता है तथा दूसरा व्यक्ति अनायास ही उस दीपकके सहयोगसे अपना दीपक भी प्रज्वलित कर लेता है। पर क्या उस दूसरे दीपक प्रज्वलित करनेवालेको प्रकाश नहीं मिलता?

अथवा कुछ कम मिलता है? एक व्यक्ति अपार सम्पत्ति खर्च करके विशाल मकान तैयार करता है, पर जो अन्य लोग उस मकानमें रहते हैं, क्या उन्हें उस मकानका वह सुख भोगनेको प्राप्त नहीं होता? क्या सरोवर उसीको प्यासका शमन करता है, जो उसका निर्माण कराता है और दूसरोंकी प्यासका शमन नहीं करता? अथवा क्या घरमें भोजन सिर्फ उसीको मिलना चाहिये जो उसे पकाता हो; और शेष अन्य लोगोंको नहीं मिलना चाहिये? इस विषयकी बहुत-सी बातें हो चुकीं। मैं सिर्फ यही कहता हूँ कि गौतम ऋषि अत्यधिक प्रयत्न करके गंगा (गोदावरी)-नदीको इस पृथ्वीपर लाये थे; पर क्या कभी किसीको यह महसूस हुआ है कि वह सिर्फ गौतमके लिये ही पवित्र गंगाके रूपमें सिद्ध हुई थीं और अन्योंके लिये वह सिर्फ साधारण नालेके सदृश सिद्ध हुई हों? अतएव जो व्यक्ति अपनी बुद्धिके अनुसार शास्त्रोंका मार्ग जानता है, उसका अनुकरण जो कोई श्रद्धापूर्वक करता है, वह यदि मूढ़ भी हो तो भी तर जाता है। (७६—९२)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥

जो लोग शास्त्रोंका नामोच्चारण करनेके लिये अपना गला स्वच्छ करनेका भी विचार नहीं करते, सिर्फ यही नहीं, जिन्हें शास्त्र जाननेवालोंका सम्पर्क भी सहन नहीं होता, जो श्रेष्ठ जनोंका व्यवहार देखकर बन्दरोंकी भाँति उनकी नकल उतारते तथा चुटकियाँ बजा-बजाकर उनकी खिल्ली उड़ाते हैं और अपने ही बड़प्पनके अभिमानमें तथा ऐश्वर्यमदसे धर्म भ्रष्ट क्रियाओंका आचरण करते हैं, जो लोग अपने तथा दूसरोंके अंगोंमें लकड़ी काटनेके यंत्रसे घाव करके रक्त और मांससे यज्ञपात्र पूरा-पूरा भरते हैं और फिर उन्हें जलते हुए यज्ञकुण्डमें डालते हैं तथा कुछ विशिष्ट देवताओंके मुखमें लगाते हैं, जो अपनी मनौती पूर्ण करनेके लिये बच्चोंकी बलि चढ़ाते हैं, जो क्षुद्र देवताओंका वर पानेके लिये आग्रहपूर्वक सात-सात दिनोंतक उपवास करते हैं, हे अर्जुन! वे तमोगुणरूपी क्षेत्रमें

आत्मक्लेश तथा दूसरोंके लिये पीड़ारूपी बीज बोते हैं; और फिर वही बीज अंकुरित होकर अपनी जातिकी फसल तैयार करते हैं। हे धनंजय! फिर इस प्रकारके व्यक्तियोंकी वैसी ही दशा होती है, जैसी उस व्यक्तिकी होती है, जिसके पास न तो हाथ ही होते हैं और न तो नावका ही आश्रय ग्रहण करता है, पर फिर भी जो समुद्रमें पड़ जाता है अथवा जैसे वह व्याधिग्रस्त व्यक्ति स्वयं ही पीड़ासे व्याकुल होता है जो वैद्योंसे भी विरोध करता है तथा औषधिको भी उठाकर फेंक देता है अथवा सहारा देनेवाले व्यक्तिके साथ लड़ाई करके स्वयं ही अपनी आँखें फोड़ लेनेवाले अन्धेकी अपने ही गृहमें जो दुर्दशा होती है, ठीक वैसी ही दुर्दशा उन लोगोंकी भी होती है, जो शास्त्रोंका आश्रय तिरस्कारपूर्वक त्याग देते हैं और मोहके वशीभूत होकर भयंकर वनोंमें इधर उधर भटकते हैं। इस प्रकारके लोग वही काम करते हैं, जिस कामके लिये विषय-वासनाएँ उनसे कहती हैं। वे उसीको मारते हैं, जिसे मारनेके लिये क्रोध कहता है, सिर्फ यही नहीं, बल्कि सबके हृदयमें निवास करनेवाला जो 'मैं' हूँ, उस 'मुझ' को भी वे दुःखरूपी पत्थरोंके नीचे दबा देते हैं। (९३—१०४)

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

इस प्रकारके लोग अपने तथा दूसरोंके शरीरोंको जो-जो क्लेश पहुँचाते हैं, उन सबकी सारी पीड़ा मुझ आत्माको ही होती है। वास्तवमें ऐसे पापियोंका सम्पर्क वाणीसे भी नहीं होने देना चाहिये; पर ये समस्त बातें इसलिये कहना आवश्यक हुआ है कि सबको इस बातका बोध हो जाय कि ऐसे पापियोंसे सदा दूर रहना चाहिये और इसलिये इस समय उनका उल्लेख किये बिना काम ही नहीं चल सकता। देखो, मरे हुए शरीरको हाथोंसे उठाकर घरसे बाहर निकालना पड़ता है, अन्त्यजको मार्ग बतलानेके लिये उसके साथ बातें करनी पड़ती हैं, सिर्फ यही नहीं, बल्कि मलका प्रक्षालन हाथोंसे करना पड़ता है, पर यह आशा बनी रहती है कि ये

सब काम करके हम शुद्ध हो जायँगे और इसीलिये जैसे हम इस तरहकी बातोंमें कोई अपशकुन नहीं मानते, वैसे ही आसुरी स्वभावको दूर करनेके लिये ही यहाँ उसका वर्णन किया गया है। इसीलिये हे पार्थ! यदि कभी ऐसे असुरोंकी मुलाकात तुम्हें हो जाय तो उस समय तुम हमारा स्मरण करो, क्योंकि इस पापकी निवृत्ति किसी अन्य प्रायश्चित्तसे नहीं हो सकती। इसीलिये जिस सात्त्विक श्रद्धाका मैं अभी विवेचन करना चाहता हूँ, उसका सम्यक् प्रकारसे संग्रह और रक्षण करना चाहिये। एतदर्थ ऐसे ही लोगोंका संग करना चाहिये जिनसे सत्त्वगुणको बल प्राप्त हो तथा ऐसे ही आहारका सेवन करना चाहिये, जिससे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो। प्रायः यही देखा जाता है कि स्वभावकी वृद्धिको बल प्रदान करनेवाला अन्नके अलावा अन्य कोई साधन नहीं है। हे वीरशिरोमणि! यह तो प्रत्यक्ष ही दिखायी देता है कि जिसका होश ठिकाने हो, वह जब मदिराका सेवन कर लेता है, तब तत्काल ही वह उन्मत्त हो जाता है। जो सदा अन्न-रसका ग्रहण करता है, उसे सहज ही वात इत्यादि विकार ग्रस लेते हैं। यदि किसी व्यक्तिको भीषण ज्वर सता रहा हो तो क्या वह ज्वर दूध इत्यादिके सेवनसे कम होता है? जैसे अमृत पीनेसे मनुष्य मृत्युसे बच जाता है अथवा विष जैसे समस्त अंगोंमें पहुँचकर उन्हें विषाक्त कर देता है, ठीक वैसे ही जिस तरहके आहारका ग्रहण किया जाय, उसी तरहका धातु-रस बनता है और धातु रसके अनुसार ही मनुष्यके चित्तमें भावनाओंका (स्वभावका) पोषण होता है। जैसे पात्रके गरम होनेपर उसमें रखा हुआ जल भी गरम हो जाता है, ठीक वैसे ही चित्तकी वृत्तियोंपर धातु रसका संस्कार होता है। अतएव जब सात्त्विक अन्न ग्रहण किया जाय, तभी सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है तथा अन्य प्रकारके अन्नोंका सेवन करनेसे चित्तवृत्ति राजस अथवा तामस होती है। अब तुम ध्यानपूर्वक सुनो कि सात्त्विक आहार कौन से हैं तथा राजस-तामस आहारोंके लक्षण क्या हैं।

(१०५—११९)

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

समस्त आहार तो एक ही हैं, पर हे वीरशिरोमणि! अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि वे त्रिविध किस तरह होते हैं। भोजन करनेवालेकी रुचिके अनुसार अन्न बनता है तथा भोजन करनेवाला गुणोंका दास बना रहता है। जो जीव कर्ता और भोक्ता होता है, वह त्रिगुणोंके कारण स्वभावतः त्रिविध अर्थात् तीन प्रकारका होता है और यही कारण है कि वह तीन प्रकारसे आचरण करता है। इसीलिये आहार भी तीन प्रकारका होता है। ठीक इसी प्रकार यज्ञ भी तीन प्रकारके होते हैं। तप और दानके व्यवहार भी त्रिविध ही होते हैं। अब मैं सर्वप्रथम आहारके लक्षण बतलाता हूँ। ये लक्षण बहुत ही सुगम करके बतलाये जायँगे, मन लगाकर सुनो। (१२०—१२४)

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

दैवयोगात् भोक्ताकी प्रवृत्ति यदि सत्त्वगुणकी ओर हो तो उसकी रुचि मधुर रसमें बढ़ती है। जो खाद्य पदार्थ स्वभावतः सुरस, मधुर रससे परिपूर्ण तथा पके हुए होते हैं, जो बेढंगे आकारमें नहीं होते, जो स्पर्शमें अत्यन्त कोमल प्रतीत होते हैं तथा जिह्वाको उत्तम और स्वादिष्ट जान पड़ते हैं और जिनमेंका द्रव-अंश अपने स्थानपर ही अग्निके तापसे सूख जाता है, जो आकार और परिमाणकी दृष्टिसे देखनेमें छोटे ही होते हैं, पर जो अन्तमें हितकारक होते हैं, जो गुरुमुखसे निःसरित शब्दोंकी तरह अत्यल्प होनेपर भी अपार समाधान करते हैं तथा जो अन्दर जाकर उदरके लिये भी उतने ही आनन्ददायक होते हैं, जितने वे खानेमें मुखको मधुर लगते हैं, उन सब खाद्य वस्तुओंके प्रति सात्त्विक मनुष्योंकी अत्यधिक रुचि रहती है। जो अन्न इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको सात्त्विक जानना चाहिये। ऐसा अन्न अनवरत आयुकी रक्षा करता है। इस प्रकारका सात्त्विक

रसरूपी मेघ जब देहमें अपनी वृष्टि करता है, तब आयुष्यरूपी नदी दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होती है। हे सुविज्ञ! जैसे दिनकी वृद्धिका कारण दिवाकर होता है, वैसे ही सत्त्वको पोषण प्रदान करनेवाला इस तरहका आहार होता है और यही आहार शरीर तथा मनके बलका आधार होता है। जब इस प्रकारके आहारका सेवन हो, तब फिर रोग कहाँसे प्रकट हो सकते हैं? जब ऐसा आहार प्राप्त होता है, तब यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये कि उसके शरीरका आरोग्य भोगनेका भाग्योदय हो आया है। मनुष्य इस प्रकारके आहारके कारण स्वयं भी सुख भोगता है और अन्योंको भी सुखी करता है। ऐसा आहार शरीरके बाह्याभ्यन्तरके लिये अत्यन्त उपकारक होता है। प्रसंगवश अब मैं यह भी बतलाता हूँ कि रजोगुणी मनुष्योंकी अभिरुचि किस प्रकारके अन्नके प्रति होती है। (१२५—१३८)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

जो चीज अपने कड़ुआपनके सामने कालकूट विषको भी ठहरने नहीं देता, जो चूनेसे भी अधिक दाहक तथा विकट अम्ल होता है, जैसे आटेको गुंथनेके लिये उसमें जितना जल डाला जाता है, वैसे ही नमककी मात्रा डाली जाती है, तथा साथ ही जिसमें और भी अनेक क्षार-रस उतनी ही प्रचुर मात्रामें मिले हुए होते हैं, वही सब चीजें रजोगुणी व्यक्तियोंको रुचिकर लगती हैं। रजोगुणी लोग कहा करते हैं कि अत्यन्त उष्ण भोजन रुचिकर होता है और इसीलिये वे अग्निकी तरह दाहक उष्ण अन्नका सेवन करते हैं। ऐसे लोग आग्रहपूर्वक इतना अधिक उष्ण अन्न माँगते हैं जिसको भापके अग्रभागमें यदि दीपककी बत्ती लगा दी जाय तो वह भी प्रज्वलित हो उठे। पत्थर तोड़नेवाली छेनी (टाँकी)-की तीक्ष्णता जगजाहिर है। बस, उसी छेनीके सदृश तीक्ष्ण अन्न वे लोग खाते हैं। ऐसे अन्न ऊपरसे देखनेमें तो कोई घाव नहीं करते, पर अन्दर-अन्दर वे बहुत चुभते हैं। इसी प्रकार

जो अन्न बाह्याभ्यन्तर राखकी भाँति शुष्क होता है, उसके सेवनसे जिह्वाको जो स्वाद मिलता है, वह उन्हें अत्यन्त रुचिकर लगता है। जिस अन्नके भक्षण करनेसे दाँत कड़ाकड़ बोलते हैं, उस अन्नको मुखमें रखनेसे उन्हें अत्यन्त संतोष प्राप्त होता है। जो चीज एक तो पहले ही तीव्र स्वादवाली होती है और तिसपर जिनमें राई पड़ी होती है तथा जिन्हें खानेसे नासिका और मुखसे निरन्तर पानी गिरने लगता है, सिर्फ यही नहीं, अपितु अपनी तीक्ष्णताके कारण अग्निको भी पीछे कर देनेवाली मसालेदार चीजें तथा अचार इत्यादि ऐसे व्यक्तियोंको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय आन पड़ते हैं। इस प्रकार जिह्वाका चटोरापन जिसे पागल बना देता है, वह अन्नके रूपमें अपने उदरमें धधकती हुई अग्नि ही भरता रहता है। इस प्रकारकी चीजें सेवन करनेसे शरीरमें ऐसी आग फूँकती है कि उस व्यक्तिको न तो भूमिपर ही और न तो बिस्तरपर ही चैन मिलता है। यही नहीं, जलपात्र कभी उसके मुखसे पृथक् ही नहीं होता। ये सब चीजें आहार नहीं होतीं, अपितु जो शरीरमें व्याधिरूपी कालसर्प रहता है, उसे उत्तेजित करनेके साधन ही होती हैं। इस प्रकारके अन्न मिलते ही समस्त रोग एक-दूसरेके साथ होड़ करते हुए एकदमसे उठ खड़े होते हैं। इस प्रकार ये राजस आहार एकमात्र दुःखरूपी फल ही उत्पन्न करते हैं। हे धनुर्धर! यह हुआ राजस आहारका वर्णन। अब मैं तुम्हें तामस पुरुषोंको किस प्रकारका आहार रुचिकर लगता है, उसके सम्बन्धमें बतलाता हूँ। सम्भव है कि उस आहारका विवेचन सुनकर तुम्हें कुछ घृणा हो। सड़ा हुआ, बासी तथा उच्छिष्ट अन्न भक्षण करते समय तमोगुणी व्यक्तिके मनमें जरा-सी भी घृणा उत्पन्न नहीं होती। जैसे भैंस उच्छिष्ट तथा बासी अन्न बहुत प्रेमसे सेवन करती है, (१३९—१५४)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

—वैसे ही तामस प्रकृतिका व्यक्ति भी मध्याह्नका पका हुआ अन्न

अथवा एक दिन पूर्वका पका हुआ और अवशिष्ट बासी भोजन सानन्द ग्रहण करता है तथा जो अन्न अधपका रहता है अथवा जलकर राख हो जाता है अथवा जिसमेंके रसका ठीक तरह परिपाक नहीं हुआ रहता, वही अन्न वह खाता है। जो अन्न अच्छी तरहसे पका हुआ होता है, जो अत्यन्त स्वादिष्ट होता है, जिसमें रस भरा होता है, वास्तवमें वही अन्न खानेके योग्य होता है। पर तामस व्यक्तियोंको ऐसे अन्नका जरा-सा भी अनुभव नहीं होता। कदाचित् इस तरहका उत्तम और स्वादिष्ट अन्न यदि उन्हें मिल भी जाय तो भी वे उस अन्नको ग्रहण नहीं करते और व्याघ्रकी भाँति उसे तबतक रख छोड़ते हैं जबतक वह सड़ नहीं जाता तथा उसमेंसे दुर्गन्ध नहीं निकलने लगती। क्योंकि जो अन्न बहुत दिनोंतक पड़ा रहनेके कारण एकदम सड़ जाता है, जो स्वादविहीन हो जाता है, जो शुष्क तथा रसहीन हो जाता है, यहाँतक कि इसमें कीड़े भी बिलबिलाने लगते हैं, ऐसे अन्नको वह बच्चोंकी भाँति सानकर कीचड़की भाँति बना लेता है तथा पत्नीके साथ एक ही थालीमें वही अन्न खाता है और तभी वह यह समझता है कि आज दिव्य भोजन हुआ। किन्तु इस प्रकारके अन्नसे भी इन पापियोंकी तृप्ति नहीं होती। इसके बाद वह जो विलक्षण काम करता है, वह भी सुन लो। शास्त्रनिषिद्ध अखाद्य और अपेय वस्तुओंको खाने पीनेकी भयंकर वासना वह तामस पुरुष बढ़ाता है। तामस आहार ग्रहण करनेवालोंकी ऐसी ही प्रवृत्ति होती है और हे वीरशिरोमणि! इस प्रकारके आहारका फल पानेके लिये उसे दूसरे क्षणतक भी नहीं ठहरना पड़ता—उसका फल उसे तत्क्षण प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसका मुख जिस समय इस प्रकारके अपवित्र पेय अथवा खाद्य पदार्थका स्पर्श करता है, उसी समय वह पापका भागी हो जाता है। तदनन्तर वह जो खाता है, उसे खानेका कोई प्रकार नहीं समझना चाहिये, अपितु उदर-पूर्तिकी एक यन्त्रणा ही समझना चाहिये। उसे इस प्रकारका कुछ अनुभव तो होता है कि सिर कटनेके समय क्या पीड़ा होती है और अग्निमें प्रवेश करनेपर कैसा प्रतीत होता है, पर वह इन सारी

यन्त्रणाओंको भी सहन करता हुआ चलता है। इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि तामस अन्नका परिणाम तामस वृत्तिसे भिन्न होता है। बस यही बातें उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे बतलायी थीं। तत्पश्चात् वे फिर कहने लगे कि आहारकी तरह यज्ञ भी त्रिविध होते हैं। हे जगत्-प्रसिद्ध यशस्वियोंमें परमश्रेष्ठ अर्जुन! त्रिविध यज्ञोंमें जो प्रथम सात्त्विक यज्ञ है, उसके भी लक्षण ध्यानपूर्वक सुनो। (१५५—१७०)

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

जैसे पतिपरायणा स्त्रीका यह मनोधर्म रहता है कि अपने पतिके अतिरिक्त अन्य किसी पुरुषके विषयमें उसके मनमें कभी कोई वासना उत्पन्न ही नहीं होती अथवा जैसे समुद्रमें समाविष्ट हो जानेपर गंगा फिर आगे नहीं बहती अथवा जैसे आत्मदर्शन हो जानेपर वेद चुप्पी साध लेते हैं, ठीक वैसे ही जो व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति आत्मकल्याणमें लगा देता है तथा कर्मफलके बारेमें अपने मनमें जरा-सा भी अहंभाव नहीं रखता और जो शरीरसे तथा मनसे यज्ञ-कर्मोंमें उसी प्रकार तल्लीन हो जाता है, जिस प्रकार वृक्षके मूलमें आनेवाला जल फिर कभी पीछे लौटनेका नामतक नहीं लेता और सिर्फ उस वृक्षमें ही समाविष्ट हो जाता है तथा जो व्यक्ति किसी प्रकारकी वासना अपने मनमें नहीं रखता, वह फलेच्छाका परित्याग कर और एक स्वधर्म साधनके अलावा अन्य वस्तुओं तथा विषयोंसे विरक्त रहकर जो यज्ञ सम्पन्न करता है, वही यज्ञ यथार्थतः सर्वोत्तम तथा यथासांग होता है। पर जैसे दर्पणके द्वारा आँखें अपना ही रूप देखती हैं अथवा जैसे दीपकके द्वारा हम हथेलीपर रखा हुआ रत्न देखते हैं अथवा सूर्योदय होनेपर जैसे हमें अपना अभीष्ट मार्ग दृष्टिगोचर होने लगता है, वैसे ही जब एक निष्ठाके भावमें वेदशास्त्रोंको देखकर यज्ञहेतु कुण्ड, मण्डप और वेदियाँ इत्यादि प्रस्तुत की जाती हैं तथा यज्ञ-कर्मके संसाधन जुटा करके सारी व्यवस्था इस तरहसे की जाती

है कि देखनेमें जान पड़े कि मानो वह समग्र व्यवस्था स्वयं वेदवक्ता ब्रह्माने ही की है तथा जैसे शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंमें उन्हींके अनुरूप अलंकार इत्यादि धारण किये जाते हैं, वैसे ही जब समस्त पदार्थ उचित स्थानपर रखे जाते हैं और तब जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, उसके विधानके महत्त्वका भला मैं कहाँतक वर्णन करूँ। उस समय वह यज्ञ देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वयं यज्ञ विद्या ही सर्वथा अलंकृत होकर यजमानके रूपमें प्रकट हुई है। इस प्रकार जो यज्ञ अंगों और उपांगोंसहित पूर्ण होता है तथा जो फलेच्छा मनमें लेशमात्र भी अंकुरित नहीं करता तथा जो यज्ञ ठीक वैसे ही निःस्वार्थ भावसे किया जाता है, जैसे तुलसी वृक्षमें जल डालकर उसका देख-रेख किया जाता है और उससे फल, फूल या छाया इत्यादिकी अपेक्षा नहीं की जाती, हे धनंजय! वास्तवमें वही सात्त्विक यज्ञ है। (१७१—१८४)

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

हे वीरेश! जो यज्ञ इसी प्रकार सांगोपांग सम्पन्न किया जाता है, पर जैसे श्राद्धके दिन राजाको इस उद्देश्यसे निमन्त्रण दिया जाता है कि यदि राजा हमारे घर पधारे तो उनका बहुत कुछ उपयोग होगा, जगत्‌में हमारी ख्याति भी हो जायगी तथा श्राद्धमें भी कोई कमी नहीं आयेगी और इसी प्रकारके उद्देश्यको ध्यानमें रखकर जब यज्ञकर्ता अपने मनमें यह कहता है कि यज्ञसे मुझे स्वर्गकी उपलब्धि होगी, यज्ञमें दीक्षित हो जानेके कारण जनतामें मेरी मान प्रतिष्ठा अधिक होगी तथा मेरे द्वारा यज्ञ भी सम्पन्न हो जायगा, आशय यह कि हे पार्थ! जो यज्ञ केवल फलाशासे तथा संसारमें मान बड़ाई और अपनी प्रसिद्धिके लिये किया जाता है, उस यज्ञको राजस समझना चाहिये। (१८५—१८८)

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

जैसे पशु-पक्षियोंके विवाहके लिये काम-वासनाके सिवा विवाह-कर्म-हेतु अन्य किसी जोशीको आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही तामस यज्ञका मूल कारण भी केवल आग्रह ही होता है। हे पार्थ! यदि कभी ऐसी स्थिति उपस्थित हो जाय कि वायुको खोजनेपर भी मार्ग न मिले अथवा मृत्युको भी मुहूर्तका विचार करनेकी जरूरत आ पड़े अथवा निषिद्ध वस्तुओंको देखकर धधकती हुई अग्नि भी भयभीत होकर पीछे हट जाय, तभी तामस प्रवृत्तिके व्यक्तिके व्यवहारमें भी किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न हो सकती है। हे धनुर्धर! तामस व्यक्ति सदा उच्छृंखल ही होता है। उसे न तो विधि-निषेधकी ही चिन्ता सताती है और न मन्त्र इत्यादिकी ही उसके लिये कोई बाधा होती है। अन्नपर दृष्टि जाते ही मक्खी कितनी शीघ्रतासे आकर उसपर बैठ जाती तथा उसे ग्रहण करने लगती है। तामस व्यक्तिको भी विधि-निषेधका उतना ही विचार होता है, जितना मक्खीको होता है। ब्राह्मण तो विरक्त होते हैं। फिर लोभके वशीभूत होकर दक्षिणार्थ उनके यज्ञमें भला कौन ब्राह्मण प्रवेश कर सकता है? जैसे अग्नि प्रचण्ड वायुके झोंकेमें पड़कर खूब भड़क उठती है, वैसे ही वह भी अपने अभिमानके वशीभूत होकर अपना सर्वस्व उड़ाने लगता है। जैसे किसी निःसन्तान व्यक्तिका लावारिस घर आने-जानेवाले सभी लोग लूटने लगते हैं, वैसे ही इस प्रकारके लोभी व्यक्ति, जिनमें श्रद्धा लेशमात्र भी नहीं होती, आ-आकर उसकी सम्पत्ति लूटने लगते हैं। ऐसी बातें जिस यज्ञमें होती हैं, वह मिथ्या तथा भ्रामक यज्ञ होता है और उसीको लोग तामस-यज्ञ कहते हैं।" यही सब बातें लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णने उस समय कही थीं। तदनन्तर उन्होंने कहा—"हे पार्थ! गंगाका जल सदा एक रूप ही रहता है, पर अलग-अलग स्थानोंमें प्रवाहित होनेके कारण कहीं तो वह गन्दगी बहा ले जाता है और इसलिये एकदम मटमैला हो जाता है तथा कहीं एकदम निर्मल रहता है। ठीक इसी प्रकार तप भी त्रिगुणोंके संयोगसे तीन प्रकारका होता है। उनमेंसे एक प्रकारके तपके आचरणसे

पाप तथा दूसरेसे उद्धार होता है। हे ज्ञानवान् अर्जुन! तपके ये त्रिविध भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, यदि यह बात जाननेकी उत्सुकता तुम्हारे मनमें हो तो तुम्हें सर्वप्रथम तपका स्वरूप ही समझ लेना चाहिये। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि 'तप' किसे कहते हैं इसके उपरान्त मैं तुमको यह भी बतलाऊँगा कि गुणोंके योगसे उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप किस प्रकार् होते हैं। जिसे 'तप' नामसे पुकारते हैं वह भी शारीरिक, मानसिक और शब्द-भेदसे तीन प्रकारका होता है। इन त्रिविध तपोंमें जो प्रथम शारीरिक तप है, अब उसका स्वरूप ध्यानपूर्वक सुनो। श्रीशंकर अथवा श्रीहरि—इन दोनोंमेंसे जो देवता प्रिय हो।" (१८९—२०१)

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

—उस प्रिय देवताके मन्दिरको तथा वहाँकी यात्रा करने और आगन्तुकोंको पंखा इत्यादि झलनेके लिये पैर आठों पहर चलते रहते हैं। उस देवताके आँगनको सजानेके लिये, देवताके निमित्त पूजाके गन्ध, पुष्प इत्यादि उपचार इकट्ठा करनेके लिये तथा देवताका आदेश पालन करनेके लिये उसके हाथ निरन्तर चलते रहते हैं। शिवलिंग अथवा देवमूर्ति दिखायी देते ही देह पृथ्वीपर लोटकर दण्डवत् करता है और इस प्रकारके ब्राह्मणोंको जीभरके शुश्रूषा की जाती है। जो अपने सदाचार इत्यादि गुणोंके कारण जगत्‌में यथेष्ट सम्मान प्राप्त कर चुके होते हैं अथवा जो लोग प्रवास या व्याधि इत्यादि पीड़ाओंके कारण अथवा सङ्कटादिके कारण दुःखी होते हैं, उन जीवोंको सुखी किया जाता है। समस्त तीर्थोंमें श्रेष्ठ जो माता पिता हैं, उनकी शुश्रूषाके लिये अपना शरीर निछावर कर दिया जाता है। ज्ञान-दान करनेमें परम दयालु उन गुरुदेवका भजन करना चाहिये जिनके इस संसार-सरीखी दारुण अवस्थामें भी मिलते ही समस्त मल एकदम दूर हो जाते हैं। हे सुभट (अर्जुन)! स्वधर्मरूपी अँगीठीमें अभ्यासयोगके पुट देकर देहाभिमानके समस्त दोष जलाकर राख कर दिये जाते हैं। इस

प्रकारके तप करनेवालेको यह मानकर कि प्राणिमात्रमें आत्मवस्तु है, उन्हें नमन करना चाहिये; सदा परोपकार करते रहना चाहिये तथा विषय-भोगोंका पूर्णतः दृढ़तापूर्वक नियमन करना चाहिये। जन्म धारण करनेके लिये तो स्त्रीके देहका स्पर्श करना ही पड़ता है, पर उस प्रसंगके उपरान्त आजीवन उस स्पर्शसे स्वयंको दूर रखना चाहिये। जीवमात्रमें प्राणका निवास है, यह समझकर एक तृण भी नहीं तोड़ना चाहिये, किं बहुना उसका छेदन अथवा भेदन भी नहीं करना चाहिये। जिस समय इस प्रकार देहकी स्थिति शुद्ध तथा सरल हो जाय, उस समय यह समझ लेना चाहिये कि शारीरिक तप अपनी चरम सीमाको प्राप्त हो गया है। हे पार्थ! इन समस्त व्यवहारोंमें शरीरकी ही मुख्य भूमिका होती है, इसीलिये मैं इसे शारीरिक तप नामसे सम्बोधित करता हूँ। इस प्रकार यह शारीरिक तपका विवेचन हुआ। अब मैं तुमको निष्पाप वाङ्मय तपके बारेमें बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (२०२—२१५)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

पारस पत्थर जैसे लोहेको बिना क्षतिग्रस्त किये और बिना उसके स्वरूपमें परिवर्तन किये उसे विशुद्ध स्वर्ण बना देता है, ठीक वैसे ही जिसकी वाणीमें ऐसी साधुता दिखायी देती है कि वह किसीको बिना कष्ट पहुँचाये आस-पासके लोगोंके लिये अत्यन्त मधुर तथा सुखकर होती है; जिसका भाषण होता तो किसी एक व्यक्तिके उद्देश्यसे है, पर फिर भी सबके लिये वैसे ही हितकर होता है, जैसे जल जाता तो वृक्षका पोषण करनेके लिये है, परन्तु वह जाते-जाते स्वभावतः तृणोंको भी जीवन प्रदान करता है, जो भाषण अमृतकी उस दिव्य गंगाकी भाँति होता है जो प्राप्त होनेपर जीवोंको अमरत्व प्रदान तो करती ही है पर साथ ही स्नानार्थियोंके पाप और ताप भी दूर करती है, केवल यही नहीं, अपितु जिह्वाको भी मधुर स्वाद प्रदान करती है और यही कारण है कि जिस

भाषणसे अविचार दूर हो जाता है; अपना अनादि स्वरूप प्रकट होता है, जो श्रवण करनेमें अमृतवत् प्रिय जान पड़ता है और जिसके श्रवण करनेसे मन नहीं भरता और जो यह नियम बना लिया होता है कि जब कोई पूछे, तभी वह मुख खोलता है अन्यथा मौन धारणकर वेदों और संहिताओं, भगवन्नाम इत्यादिका ही आवर्तन करता है; जो त्रिवेदोंका अपने वाणीरूपी मन्दिरमें प्रतिष्ठापन करके अपनी वाणीको मानो वेदशाला ही बना लेता है और जिसमें शिवका, विष्णुका अथवा इसी प्रकारके किसी अन्य देवताका नाम अहर्निश समानरूपसे उच्चारण किया जाता है, उसीका नाम वाचिक तप है। इसके उपरान्त लोकपालोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अब तुम मानसिक तपका भी वर्णन सुनो। (२१६—२२४)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

"जैसे तरंगोंके बिना सरोवर, मेघोंके बिना आकाश, सर्पोंके बिना चन्दनवन, कलाओंकी अस्थिरताके बिना चन्द्रमा, चिन्तामुक्त हो जानेपर राजा अथवा मन्थन करनेवाले मन्दराचलके बिना क्षीरसिन्धुकी अवस्था होती है, वैसे ही भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्पोंके बखेड़े शान्त हो जानेपर जो मन एकमात्र आत्मरूपमें स्थिर हो जाता है, सन्तापशून्य प्रकाश, जड़ताहीन रस अथवा पोलेपनसे रहित अवकाशकी तरह होकर जिस समय मन निज हितका साधन करके आनन्दमय स्वरूप देखता है और अपने स्वभावका ठीक वैसे ही त्याग कर देता है, जैसे सर्दीसे शून्य हो जानेवाला अवयव स्पर्श ज्ञानसे रहित हो जाता है और फिर सर्दीकी बाधाका अनुभव नहीं करता, उस समय मनको निष्कलंक तथा पूर्ण चन्द्रमण्डलकी भाँति जो उत्तम सौन्दर्य उपलब्ध होता है, मनकी उस अवस्थामें वैराग्यसे क्लेश नहींके समान हो जाते हैं; मनकी चंचलताका अवसान हो जाता है और एकमात्र आत्मबोधकी पूर्णता ही अवशिष्ट रहती है। इसीलिये शास्त्रोपदेश करते समय जो मुख हिलाना-डुलाना पड़ता है, वह बन्द हो जाता है

और वह प्रयत्न ही वाणीका सूत्र हाथमें न लेकर केवल मौन स्वीकृत करता है। आत्मोपलब्धि हो जानेपर मनका मनत्व भी समाप्त हो जाता है और लवण जैसे जलमें घुलकर लीन हो जाता है, वैसे ही मन भी आत्मतत्त्वमें विलीन हो जाता है। फिर ऐसी स्थितिमें मनके वे भाव भला उत्पन्न ही कहाँसे हो सकते हैं जो इन्द्रियोंके मार्गसे दौड़कर विषयरूपी ग्राममें पहुँचते हैं? फिर जैसे करतलमें बाल नहीं होते, वैसे ही मनमें विषय-भावनाओंका रत्तीभर भी स्थान नहीं होता। किं बहुना हे अर्जुन! मनकी जब ऐसी स्थिति हो जाती है तब यह समझना चाहिये कि यह मन मानसिक तपका पात्र होता है। पर यह विवेचन बहुत हो चुका। मैंने इस प्रकार तुम्हें मानस तपके समस्त लक्षण बतला दिये हैं।'' बस यही भगवान् श्रीकृष्णने कहा था। तदनन्तर वे फिर कहने लगे—''इस प्रकार शरीर, वाणी और मनके सम्बन्धसे जो तपके तीन प्रकार होते हैं, वे मैंने तुम्हें अच्छी तरह बतला दिये हैं। अब त्रिगुणोंके कारण इन त्रिविध तपोंके जो तीन भेद होते हैं, उसका विवेचन भी अपने बुद्धि-बलके द्वारा भलीभाँति ग्रहण करो। (२२५—२३९)

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

हे ज्ञानवान् अर्जुन! ये जो त्रिविध तपके सम्बन्धमें तुम्हें बतलाये हैं, जब उनका आचरण फलाशाका परित्याग करके किया जाता है और जब ये तप शुद्ध सात्त्विक वृत्तिसे तथा आस्तिक्य बुद्धिसे किये जाते हैं, तब ज्ञानीजन उसे सात्त्विक तप कहते हैं। (२४०-२४१)

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

और नहीं तो तपके निमित्तसे भेदभाव उत्पन्न करके गौरवके शिखरपर विराजमान होनेके लिये यह सोचकर कि तीनों लोकोंमें मेरे अतिरिक्त अन्य किसीको सम्मान प्राप्त न हो, सभा तथा भोजन इत्यादिके अवसरपर स्वयं

ही सर्वाधिक और सर्वप्रथम मान-सम्मान पानेके लिये, स्वयं ही समस्त विश्वकी स्तुतिका पात्र बननेके लिये और इस उद्देश्यसे कि समस्त लोग दौड़-दौड़कर मेरे घर पधारा करें तथा लोगोंसे नाना प्रकारके जो सम्मान प्राप्त होते हैं; वे अन्य किसीको न मिले हों, गौरवकी समस्त बातोंका स्वयं ही अनुभव पानेके लिये जैसे कोई कुरूप व्यक्ति अपना महत्त्व बढ़ानेके लिये सुन्दर-से सुन्दर वस्त्र धारण करता तथा सजता-सँवरता है, वैसे ही देह तथा वाणीपर तपका मुलम्मा चढ़ानेके लिये तथा इस प्रकार अपना महत्त्व प्रतिपादित करनेके लिये, तात्पर्य यह कि ऐश्वर्य और मानकी वासनाओंको पराकाष्ठापर्यन्त पहुँचाकर जिस तपका कष्ट किया जाता है, वही तप राजस कहलाता है। जिस गर्भिणी गौके स्तनको पहुरनी नामक जन्तु चूस लेता है वह बच्चा पैदा होनेपर भी दूध नहीं देती, उस गौके सदृश अथवा उस खेतके सदृश जो तैयार तो हो जाता है, पर फिर भी जिसे पशु चर जाते हैं और फिर जिससे अनाज लेशमात्र भी प्राप्त नहीं होता, वह तप भी सिर्फ निष्फल होता तथा व्यर्थ जाता है, जो बहुत आडम्बरपूर्वक किया जाता है। इसके अलावा हे अर्जुन! इस प्रकारका तप करनेवाले तपस्वीको जिस समय यह समझमें आता है कि मेरा तप निष्फल होता जा रहा है, उस समय वह उसे अधूरा ही छोड़ देता है और इसीलिये ऐसे तपमें स्थिरता अथवा स्थायित्व भी नहीं हो सकता। सामान्यत: जो मेघ असमयमें ही आकाशमण्डलमें छा जाता है और जोर-जोरसे गरजकर समस्त ब्रह्माण्डको गुंजा देता है, वह क्या कभी पलभर भी टिकता है? इसी प्रकार जो तप राजस कोटिका होता है, वह सिर्फ निष्फल होकर वन्ध्याकी भाँति ही सिद्ध होता है तथा साथ ही आचरणमें भी वह पूरा नहीं उतरता अब वही तप तामसी रीतिसे किया जाय तो उससे स्वर्ग-लाभ और ऐहिक कीर्ति—इन दोनोंकी हानि होती है। (२४२—२५३)

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

हे धनुर्धर! जिस तपमें एकमात्र मूर्खताका सहारा लेकर अपने शरीरके साथ शत्रुवत् व्यवहार किया जाता है, शरीरको पंचाग्निका ताप पहुँचाया जाता है अथवा अन्दरसे इस प्रकारकी अग्नि जलायी जाती है जिसमें शरीर ईंधनकी भाँति जले, जिसमें सिरपर गुग्गुल जलाते हैं, पीठपर काँटे बाँधते हैं; चारों ओर जलनेवाली अग्निमें शरीर अंगारोंसे जलाया जाता है अथवा श्वासोच्छ्वास बन्द करके व्यर्थ ही उपवास किया जाता है, तथा अपने पैरको ऊपर टाँगकर तथा मुँहको धूनीपर लटकाकर धुएँका सेवन किया जाता है, हिम-शीतल जलमें कण्ठपर्यन्त खड़े होकर अथवा किनारेके शिलापर बैठकर तपस्या की जाती है अथवा जीते-जी अपने शरीरके मांसके टुकड़े काटे जाते हैं और हे धनंजय! जब इस तरह अपने शरीरको नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ दी जाती हैं, तब जो तप होता है और जिसका हेतु एकमात्र दूसरोंका नाश करना होता है, उस तपका आचरण करके जो अपने शरीरको पीड़ित करता है, उसकी दशा उसी पत्थरकी भाँति होती है, जो स्वयं अपने ही गुरुतर भारके कारण नीचेकी ओर निरन्तर लुढ़कता जाता है और इस प्रकार स्वयंके साथ-साथ उसके मार्गमें पड़नेवाली समस्त चीजोंको चूर-चूर कर डालता है। इस प्रकारका व्यक्ति सुखपूर्वक रहनेवाले अपने जीवको पीड़ित कर विजयोपलब्धिकी दुर्वासनासे तपका आचरण करता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार देह-सम्बन्धी यातनाके भयंकर कृत्योंसे जो तप निष्पन्न होता है, वही तामस तप कहलाता है। इस प्रकार सत्त्व इत्यादि गुणोंके योगसे जो त्रिविध तप होते हैं, वे मैंने तुम्हें साफ-साफ बतला दिये हैं। अब प्रसंगानुसार दानके भी त्रिविध लक्षण तुम्हें बतला देता हूँ। इस प्रकरणमें त्रिगुणोंके योगसे दानके भी तीन प्रकार होते हैं। उनमेंसे प्रथम सात्त्विक दानके लक्षण ध्यानपूर्वक सुनो। (२५४—२६५)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

स्वधर्मानुसार आचरण करनेमें जो कुछ धन प्राप्त हों, वे अत्यन्त

आदरपूर्वक दूसरेको देने चाहिये। यदा-कदा यह भी देखनेमें आता है कि उत्तम बीज तो प्राप्त हो जाते हैं, पर बोनेहेतु उत्तम खेत प्राप्त नहीं होता। प्रायः दानके विषयमें भी ठीक इसी तरहकी बात दृष्टिगत होती है। जब-तब ऐसा भी होता है कि अनमोल हीरा तो हाथ लग जाता है, पर ऐसा स्वर्ण उपलब्ध नहीं होता जिसमें वह जड़ा जा सके अथवा यदि हीरा और स्वर्ण दोनों मिल जायँ तो फिर उनसे निर्मित अलंकार धारण करनेके लिये अंग ही नहीं होता। बस इसी तरहकी बात दानके विषयमें भी दृष्टिगत होती है। पर जिस समय मनुष्यका भाग्योदय होता है, उस समय जैसे शुभ समय अथवा त्योहार, जीवन सखा और सम्पत्ति— तीनोंका योग हो जाता है, वैसे ही दानके सहयोगके लिये जिस समय सत्त्वगुणका पदार्पण होता है, उस समय दानके योग्य स्थल, पात्र, काल तथा द्रव्यके चारों साधन उपस्थित हो जाते हैं। अतः उचित दान करनेके लिये सर्वप्रथम कुरुक्षेत्र, काशीक्षेत्र अथवा इन्हींकी भाँति किसी अन्य पवित्र क्षेत्रतक प्रयत्नपूर्वक पहुँचना चाहिये। फिर वहाँ पहुँचकर पूर्णिमा अथवा अमावस्याका पुण्यकाल अथवा इसी प्रकारका अन्य कोई शुद्धकाल देखना चाहिये। फिर ऐसे स्थल और ऐसे कालमें दानके योग्य कोई उपयुक्त पात्र ढूँढ़ना चाहिये। वह पात्र मूर्तिमान् तथा शुद्ध ही होना चाहिये। वह पात्र ऐसा परम पवित्र ब्राह्मण श्रेष्ठ होना चाहिये जो सदाचारका उत्पत्ति-स्थान तथा वेद-ज्ञानका संग्रहालय हो। जब इस प्रकारका उत्तम पात्र मिल जाय, तब अपनी सम्पत्तिपरसे अपना स्वामित्व हटाकर वह सम्पत्ति उसे अर्पण करना चाहिये, पर यह काम ठीक वैसे ही सम्पन्न करना चाहिये, जैसे पत्नी अपने पतिके सम्मुख मर्यादापूर्वक जाती है, जैसे कोई सज्जन व्यक्ति अपने पास धरोहरके रूपमें रखी हुई किसीकी वस्तु उसे वापस करके भारसे मुक्त होता है अथवा कोई परिचारक अत्यन्त विनम्रतापूर्वक किसी राजाको ताम्बूल प्रदान करता है। बस ठीक इसी प्रकार निष्काम मनसे उस ब्राह्मण श्रेष्ठको भूमि इत्यादि दान देनी चाहिये। सारांश यह

कि दान देते समय किसी प्रकारकी फलाशा अपने मनमें अंकुरित होने नहीं देनी चाहिये। इसके सिवा दान देनेहेतु जिस व्यक्तिकी तलाश की जाय, वह ऐसा होना चाहिये जो लिये हुए दानका बदला कभी भी चुका न सकता हो। जैसे आकाशको बुलानेपर उससे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता अथवा दर्पणके अलावा किसी दूसरी ओर देखनेसे दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता अथवा जलसे भरे हुए स्थानपर फेंका हुआ गेंद जैसे पुनः लौटकर हमारे हाथ नहीं आता अथवा जैसे उत्सर्ग किये हुए साँड़को दिया हुआ चारा अथवा कृतघ्नके साथ किया हुआ उपकार कभी भी फलप्रद नहीं होता, ठीक वैसे ही दाताको भी यही चाहिये कि वह ऐसे ही व्यक्तिको दान दे, जिससे फिर उस दानका कोई अंश अथवा उसके बदलेमें अन्य कोई उपकार इत्यादि प्राप्त न हो सकता हो। मैं दाता हूँ और वह गृहीता है, इस प्रकारका भेदभाव अपने मनमें दान देते समय नहीं आने देना चाहिये। हे वीरशिरोमणि! जब इन सब बातोंका योग होनेपर दान किया जाता हो, तब उसी दानको सात्त्विक दानकी कोटिमें गिना जाना चाहिये। वही दान निर्दोष तथा शास्त्रोक्त होता है, जो देश, काल तथा सत्पात्रको ध्यानमें रखकर किया जाता है। (२६६—२८४)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

पर जैसे दूध पानेकी लालसाको मनमें पालकर गौको चारा दिया जाता है अथवा अनाजसे अपना भण्डार भरनेके लिये खेतमें बीज बोये जाते हैं अथवा व्यवहारकी ओर दृष्टि रखकर अपने सगे-सम्बन्धियोंको निमन्त्रण दिया जाता है अथवा जैसे किसी व्रतस्थ व्यक्तिके यहाँ कुछ खाद्य सामग्री भेजी जाती है, जिसके सम्बन्धमें यह निश्चय रहता है कि वह किसी न-किसी रूपमें अवश्य ही लौटा देगा अथवा जैसे पुरस्कारस्वरूप प्राप्त द्रव्य पहले अपनी गाँठमें बाँध दिया जाता है और फिर पुरस्कार प्रदाताका कार्य सम्पन्न किया जाता है अथवा जैसे द्रव्य

लेकर रोगीकी चिकित्सा की जाती है, वैसे ही जो दान इस दृष्टिसे दिया जाता है कि उस दानके द्वारा आगे चलकर हमारा कुछ उपकार होगा अथवा मार्गमें चलते समय किसी ऐसे उत्तम ब्राह्मणके मिल जानेपर जिसे दिया हुआ दान कभी किसी रूपमें वापस नहीं मिल सकता, उसे दानरूपमें एक कौड़ी दे दी जाती है और अपने समस्त वंशजोंके प्रायश्चित्तके संकल्पका जल उसके हाथपर रख दिया जाता है, ठीक वैसे ही नाना प्रकारके परलोकविषयक सुखपूर्ण फलोंका ध्यान रखकर इतना अल्प दान दिया जाता है जो किसीकी भूखकी निवृत्तिके लिये यथेष्ट न हो और वह अत्यल्प दान भी जिस समय ब्राह्मण लेकर चलने लगता है, उस समय यजमानको मानो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे घर डाका पड़ा है और हमारा सर्वस्व हरण कर लिया गया है और यही कारण है कि वह अपने मनमें बेचैन होने लगता है। हे सुविज्ञ! ऐसी मनोवृत्तिसे जो दान दिया जाता है उस दानको राजस दान कहते हैं। (२८५—२९३)

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

हे पार्थ! म्लेच्छोंकी बस्तीमें, अरण्यमें, अपवित्र स्थलमें, शिविरमें अथवा नगरके चतुष्पथपर, सन्ध्याकाल अथवा रातको चोरीका धन दान करना और वह दान भी भाट, बाजीगर, वेश्या अथवा जुआरी-सरीखे ऐसे लोगोंको जो अत्यन्त भ्रममें पड़े हों और अन्योंको ठगते हों; तिसपर सामने रूपवती स्त्रियोंका नृत्य होता हो, आँखोंमें चर्बी छायी हो, भाटोंके द्वारा की हुई स्तुतियाँ निरन्तर श्रवणेन्द्रियोंमें पड़ती हों, ऐसे समयमें जब कि पुष्पों और दूसरे सुगन्धित द्रव्योंकी सुगन्धोंके कारण अंगोंमें मानो विषयरूपी लोभके बेतालका ही संचार हो रहा हो, समस्त विश्वको लूटकर एकत्रित किया हुआ ऐश्वर्य इस प्रकार दान करना कि मानो दुष्टोंके लिये अन्नसत्र ही खोल दिया गया हो, ऐसे दानको मैं तामस दान कहता हूँ। इसके सिवा कभी-कभी दैवयोगसे एक और प्रकार भी हो जाता है।

वह भी ध्यानपूर्वक सुनो। जैसे कीड़ोंके द्वारा भक्षण की हुई लकड़ीपर रेखाओंके योगसे कभी-कभी कुछ अक्षर निर्मित हो जाते हैं अथवा ताली बजाते समय स्वतः कोई काक करतलोंके बीचमें आ जाता है, ठीक वैसे ही यदा-कदा तामस व्यक्तिके लिये भी शुभ काल तथा पवित्र स्थलका योग मिल जाय और ऐसे योगपर कोई इस प्रकारका व्यक्ति भी उसके पास दान माँगनेके लिये आ जाय, जो वास्तवमें दान ग्रहण करनेका सत्पात्र हो और धनकी आवश्यकताके कारण वह याचना कर बैठे, तो उस तामस व्यक्तिके मनमें श्रद्धाका कहीं नामोनिशान भी नहीं होता, अतएव वह उस अतिथिको नमन भी नहीं करता और न स्वयं ही अर्घ्य इत्यादिसे उसका आदर सत्कार करता है न किसी अन्यसे ही इस प्रकार उसका आदर-सत्कार कराता है, यहाँतक कि आगन्तुकके बैठनेके लिये उसे आसनतक नहीं देता। ऐसी स्थितिमें गन्धादिके द्वारा उसकी पूजा करनेका तो कोई सवाल ही नहीं उठता। हे किरीटी! तामसी व्यक्तियोंके हाथों इसी प्रकारका अमर्यादित तथा अशास्त्रीय व्यवहार होता है। यदि उसने उस याचकका बहुत सत्कार किया तो ठीक वैसे ही उसके हाथपर अत्यल्प द्रव्य रख देता है, जैसे कोई ऋणी व्यक्ति तगादा करनेवालेके हाथपर कुछ रखकर अपना पिण्ड छुड़ाता है और इस प्रकार दान देते समय भी उसके मुखसे अपमानकारक बातें निरन्तर निकलती रहती हैं। हे अर्जुन! इस प्रकार जो दान वह किसीको देता है, उसका वह तामसी दान करनेवाला उस दान ग्रहण करनेवालेसे बार-बार उल्लेख भी करता जाता है और खरी-खोटी बातें कहकर उसका तिरस्कार भी करता चलता है। पर इस विषयका विस्तार बहुत हो चुका। हे सुविज्ञ अर्जुन! इस प्रकार जो धन दान किया जाता है, उसे सब जगह तामस दान ही कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें राजस इत्यादि त्रिविध दान लक्षणोंसहित स्पष्टरूपसे बतला दिये हैं, पर हे अर्जुन! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् तुम्हारे मनमें ऐसी कल्पना उठ सकती है कि यदि संसारमें मोक्ष दिलानेवाला एकमात्र

सात्त्विक कर्म ही है, तो फिर अन्य बन्धनकारक दुष्ट कर्मोंका वर्णन क्यों होता है? तो इसका समाधान यही है कि भूतको भगाये बिना भूमिमें गड़ा हुआ धन हाथ नहीं लगता और न धूएँका कष्ट सहे बिना दीपककी बत्ती ही प्रज्वलित होती है। इसीलिये शुद्ध सत्त्वको छिपानेवाले जो-जो रज तथा तमके आवरण हैं, उन आवरणोंको हटानेका कृत्य भला कैसे बुरा कहा जा सकता है? मैंने जो अभी यह बतलाया है कि श्रद्धासे लेकर दानपर्यन्त सम्पूर्ण कर्मसमूह त्रिगुणोंसे व्याप्त रहते हैं, उनमेंसे मैं सिर्फ तीन ही प्रकारोंका विवेचन करना चाहता था; पर सत्त्वका सम्यक् स्वरूप स्पष्ट करनेके लिये ही मैंने अन्य प्रकारोंका विवेचन किया है। जो वस्तु दूसरी दो वस्तुओंके मध्य प्रान्तमें दबी हुई रहती है, उसका सम्यक् स्वरूप तभी स्पष्ट होता है, जब उस वस्तुको दबानेवाली शेष दोनों वस्तुओंका स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाय। जिस समय अहर्निशका परित्याग कर दिया जाय, उस समय सन्ध्याकालका ठीक-ठीक प्रत्यय हो जाता है। ठीक इसी न्यायसे जिस समय रज और तमका अवसान हो जाता है, उस समय जो सत्त्व अवशिष्ट रह जाता है, वह स्वत: मूर्तिमान् होकर सामने आ जाता है। इसी विचारसे तथा सत्त्वका सम्यक् ज्ञान तुम्हें करानेके लिये ही मैंने इस समय रज और तमका भी निरूपण किया है। तुम रज और तमका त्यागकर सत्त्वगुणके सहयोगसे अपने कर्तव्यका पालन करो। तुम शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त होकर ही यज्ञ इत्यादि कर्मोंको सम्पन्न करो, बस फिर तुम्हें अपने आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हो जायगी। जब स्वयं सूर्य ही दिखलानेवाला बन जाय, तो फिर भला ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो दृष्टिगोचर न हो? ठीक इसी प्रकार यदि सत्त्वगुणकी सहायतासे कार्योंका सम्पादन किया जाय तो ऐसा कौन-सा फल है जो उपलब्ध न हो सकता हो? सारांश यह कि नि:सन्देह जितने प्रकारकी शक्तियोंकी आवश्यकता होती है, वे समस्त शक्तियाँ सत्त्वगुणमें उपलब्ध होती हैं; पर मोक्ष प्राप्त करके आत्मस्वरूपमें समरस हो जाना कुछ और

ही बात है। जिस समय उसकी सहायता मिलती है, उस समय मोक्षके गाँवमें भी स्वतः प्रवेश हो जाता है। स्वर्ण चाहे कितनेही रुपये तोलेका तथा एकदम विशुद्ध ही क्यों न हो, पर फिर भी वह व्यवहारके लिये तभी उपयोगी होता है, जब उसपर राजाके नामका मोहर होता है। यह ठीक है कि स्वच्छ, शीतल और सुगन्धित जल अत्यन्त सुखदायक होता है, पर फिर भी उसे पवित्रता तभी मिलती है, जब उसका सम्बन्ध किसी तीर्थसे होता है। वैसे सामान्य नदी चाहे कितनी ही विशाल क्यों न हो, पर जब गंगाके साथ उसका मिलन होता है, तभी समुद्रमें भी उसका प्रवेश होता है। ठीक इसी प्रकार हे किरीटी! जो लोग सात्त्विक कर्मोंका आचरण करनेवाले होते हैं, उनके लिये मोक्ष पानेके रास्तेमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं रह जाती। पर यह प्रश्न कुछ पृथक् ही है।'' यह बात सुनकर अर्जुनकी उत्कण्ठा इतनी प्रबल हो उठी कि वह उसके अन्तरंगमें समा न सकी। उसने भगवान्‌से कहा कि हे देव! आप कृपापूर्वक उस प्रश्नविषयक कुछ बातें भी मुझे बतलावें। उस समय दयालुशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा—''अच्छा, अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि सात्त्विक व्यक्ति किस प्रकार मोक्षरूपी रत्नके दर्शन प्राप्त करता है; ध्यानपूर्वक सुनो। (२९४—३२७)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

जो अनादि परब्रह्म समस्त जगत्‌का मूल कारण और विश्रान्तिका स्थल है, उसका नाम तो एक ही है, पर यह तीन प्रकारका है। वास्तवमें परब्रह्मका न तो कोई नाम ही है और न कोई जाति ही है। परन्तु इस मायासे उत्पन्न मोहान्धकारमें परब्रह्मकी कुछ परिकल्पना करानेके लिये उसका यह नाम सिर्फ पहचानके लिये रख दिया है। जिस समय कोई बालक जन्म धारण करता है, उस समय वह अपने साथ अपना नाम लेकर नहीं आता; परन्तु आगे चलकर उसका जो नाम रखा जाता है,

उस नामके उच्चारण करते ही वह तुरन्त बोल उठता है। जब जगत्के क्लेशोंसे क्लेशित जीव अपने पीड़ाओंकी चर्चा करने लगते हैं, तब उनके जिस नामके उच्चारण करनेपर ब्रह्मतत्त्व बोल उठता तथा उसका उत्तर देता है, वही यह सांकेतिक अर्थात् पहचानका नाम है। वेदोंने संसारपर अनुकम्पा करके अपनी दिव्य दृष्टिसे एक ऐसा मन्त्र खोज निकाला है जिसके सहयोगसे ब्रह्मतत्त्व वाणीके क्षेत्रमें आ सकता है तथा उसके अद्वैत स्वरूपका व्यक्तरूपसे अनुभव किया जा सकता है। जिस समय उस एक मन्त्रका उच्चारण करके ब्रह्मका आह्वान किया जाता है, उस समय वह पीछे होनेपर भी सम्मुख आ खड़ा होता है; परन्तु इस मन्त्रका ज्ञान उन्हीं लोगोंको होता है, जो वेदरूपी पर्वतके शिखरपर उपनिषद्के अर्थरूपी नगरमें परब्रह्मकी पंक्तिमें बैठे रहते हैं। सिर्फ यही नहीं, बल्कि स्वयं प्रजापति ब्रह्मामें जगत्की सृष्टि करनेकी जो सामर्थ्य है, वह जिस नामकी एक ही आवृत्तिसे उसे मिली हुई है, वह भी यही नाम है। हे वीरशिरोमणि! सृष्टिका सृजन करनेसे पूर्व ब्रह्मा इतने व्याकुल हो गये थे कि वे मुझ ईश्वरको भुला बैठे थे और यही कारण है कि वे सृष्टिका सृजन भी नहीं कर सकते थे। पर जिस नामकी सहायतासे उनमें सृष्टिका सृजन करनेकी शक्ति आयी, जिस नामार्थका मनन करनेके कारण और जिन तीन अक्षरोंका जप करनेके कारण ब्रह्माको सृष्टि सृजन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हुई थी, वह यही मन्त्र है। फिर उन्होंने ब्राह्मण उत्पन्न किये, उन्हें वेदानुसरणका आदेश प्रदान किया तथा यज्ञकर्मको उनके निर्वाहका साधन बना दिया। तदनन्तर उन्होंने अनगिनत मनुष्योंकी सृष्टि की। उन सबके निर्वाहके लिये ब्रह्माने तीनों लोकोंका मानो दानपत्र लिख दिया। जिस नाम-मन्त्रके प्रभावसे ब्रह्मा ऐसा अद्भुत कार्य कर सके थे, अब तुम उसका स्वरूप सुनो।" बस यही बात श्रीलक्ष्मीपतिने अर्जुनसे कही थी। तदनन्तर उन्होंने फिर कहा—"समस्त मन्त्रोंका राजा जो प्रणव यानी ओंकार है, उसे इस नामका आदि वर्ण समझना चाहिये। उसका द्वितीय वर्ण तत्

इस नामके तीनों अक्षरोंकी कर्मके आरम्भ, मध्य तथा अन्त—इन तीनों स्थानोंमें योजना करनी चाहिये। हे किरीटी! इसी एक युक्तिकी सहायतासे ब्रह्मज्ञानियोंको ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति हुई है। जो लोग शास्त्रोंके ज्ञानके कारण कर्मनिष्ठ हो जाते हैं, वे ब्रह्मके साथ एकता पानेके लिये बिना यज्ञ इत्यादि कर्म सम्पादित किये नहीं रहते; पर आरम्भकालमें वे लोग ओंकारको अपने ध्यानमें रखते हैं और तब वाणीसे भी उसका उच्चारण करते हैं। ओंकारके ध्यान तथा उच्चारणके साथ वे लोग कर्मके मार्गमें प्रवृत्त होते हैं। जैसे अन्धकारमें प्रवेश करते समय प्रज्वलित दीपक अथवा जंगलमें जाते समय शक्तिशाली मनुष्य अपने संग रखना चाहिये, वैसे ही कर्मारम्भ करते समय प्रणवका आश्रय लेना चाहिये। ब्रह्मवेत्ता लोग अपने इष्ट देवताके उद्देश्यसे धर्मार्जित नाना प्रकारके द्रव्य ब्राह्मणोंके द्वारा अग्निमें आहुतिके रूपमें डलवाते हैं। वे लोग शास्त्रमें बतायी गयी विधियोंके अनुसार कुशलतापूर्वक आहवनीय इत्यादि तीनों अग्नियोंमें त्यागात्मक त्रिकालिक आहुति देकर यज्ञ कर्मका आचरण करते हैं। वे नाना प्रकारके यज्ञों तथा यागों इत्यादिका अंगीकार करके इस मायाजन्य सांसारिक मोहका परित्याग करते हैं अथवा न्यायार्जित भूमि इत्यादिका दान उचित स्थान और कालमें सत्पात्रको देते हैं अथवा एकान्तराद् भोजनका व्रत करते हैं, चान्द्रायण इत्यादि व्रत करते हैं और मास-मासपर्यन्त उपवास करके अपने शरीरको धातुओंको सुखाते हुए तपस्या करते हैं। इस प्रकार जो यज्ञ, दान और तप इत्यादि कर्म जगत्‌में बन्धनकारक कहे जाते हैं, उन्हीं कर्मोंको करने तथा उन्हींके द्वारा ब्रह्मको जाननेवाले लोग सहजमें ही मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं। स्थलमें जो लकड़ियाँ इत्यादि प्रतीत होती हैं, उन्हींके सहयोगसे हमलोग जैसे जलमें तैरते हैं, वैसे ही इस नामके सहयोगसे लोग बन्धनकारक कर्मोंसे छुटकारा पाते हैं पर यह विस्तार बहुत हो चुका। इस प्रकार ये यज्ञ और दान इत्यादि क्रियाएँ ओंकारके सहयोगसे हित करनेवाली होती हैं। हे किरीटी! तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि जिस समय

सुननेयोग्य है। अब मैं तुमको उसी सत्-शब्दके सम्बन्धमें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (३६९—३७१)

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

इस सत्-शब्दके द्वारा असत् यानी अज्ञानसे उत्पन्न नाम-रूपवाले जगत्की छाप मिट जाती है तथा सत्रूपी सुवर्णका विशुद्ध स्वरूप व्यक्त होता है। यह सत् कभी काल अथवा स्थलके प्रभावके कारण परिवर्तित नहीं होता और सदा निजस्वरूपमें ही विलास करता रहता है। यह समस्त नाम–रूपोंवाला दृश्य जगत् अनित्य है और यही कारण है कि वह सत्में नहीं आ सकता और सिर्फ निज रूप अर्थात् आत्मरूपकी प्राप्तिसे ही जिस सत्–तत्त्वका ज्ञान होता है, उस सत्-तत्त्वके द्वारा वे समस्त कर्म ऐक्यज्ञानके कारण समरूप हो जाते हैं, जो प्रथमतः प्रशस्त हो चुके रहते हैं और तब आत्मस्वरूप ब्रह्म दृष्टिगत होने लगता है। अतएव ओंकार तथा तत्कारसे जो कर्म ब्रह्माकार हो जाते हैं, वे सब पचकर एकदमसे सद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार इस सत्-शब्दका अन्तस्थ उपयोग तुम ध्यानमें रखो।'' यही भगवान् कहते हैं। ये समस्त बातें मैं अपनी तरफसे नहीं कह रहा हूँ। पर यदि इस प्रकार यह बात कही जाय तो भगवान्के विषयमें द्वैतभावका दोष उत्पन्न होता है। अतः यही निश्चय करना चाहिये कि यह समस्त कथन भगवान्का ही है। भगवान् कहते हैं कि अब इस सत् शब्दका सात्त्विक कर्मोंके लिये एक और भी उपकारक प्रयोग होता है। वह भी सचेत होकर सुनो। समस्त लोग अपने–अपने अधिकारानुसार ठीक तरह सत्कर्मका आचरण करते रहते हैं; पर जब कुछ कारणोंसे वे कर्म किसी अंगसे हीन होते हैं, तब जैसे कोई अवयव पीड़ाग्रस्त होनेके कारण देह अच्छी तरहसे नहीं चलता, अथवा जैसे चक्रहीन रथकी गति अवरुद्ध हो जाती है, ठीक वैसे ही किसी एक गुणके अभावके कारण सत्कर्म भी असत् हो जाते हैं। फिर ओंकार तथा तत्कारके सहयोगके

यह न समझ लो कि यह नाम एकमात्र तीन अक्षरोंका समूह ही है; अपितु इसे तुम साक्षात् ब्रह्म ही समझो। इसीलिये जो-जो कर्म सम्पन्न किये जायँ, (३८०—४०५)

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

—फिर चाहे वे याज्ञिक कर्म हों, चाहे दान हों और चाहे तप इत्यादि हों, वे चाहे पूर्ण किये जायँ अथवा चाहे अपूर्ण ही रह जायँ, पर जैसे पारस पत्थरकी कसौटीपर घिसे जानेके कारण शुद्ध और खोटे स्वर्णका भेद कभी नहीं रह सकता, वैसे ही सारे कर्म ब्रह्मार्पण होनेपर ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। जैसे समुद्रमें समा जानेपर नदियाँ पृथक्-पृथक् नहीं की जा सकतीं, वैसे ही ब्रह्मको अर्पण किये हुए कर्मोंमें पूर्ण और अपूर्णका कोई भेद रह ही नहीं जाता। इस प्रकार हे सुविज्ञ! मैंने तुम्हें ब्रह्मके नामकी सामर्थ्य बतला दी है और हे वीरशिरोमणि! इस नामके एक-एक अक्षरका विनियोग भी मैंने तुम्हें सुन्दर भाषामें स्पष्टरूपसे बतला दिया है। इस प्रकार इस नामका माहात्म्य बहुत अधिक है और इसीलिये यह ब्रह्म नाम है। अब तुम इसका रहस्य अच्छी तरह समझ गये न? अतएव अब मेरी यही लालसा है कि आजसे तुममें इस नामकी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती रहे, कारण कि इस नामका जिस समय उदय होता है, उस समय यह जन्म-बन्धनका कहीं नामोनिशान भी नहीं रहने देता। जिस कर्ममें इस सत्-शब्दका विनियोग किया जायगा, वह कर्म मानो वेदके ही पूर्ण अनुष्ठानकी ही भाँति हो जायगा। (४०६—४१३)

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

पर यदि इस मार्गका परित्याग करके श्रद्धाको त्यागकर दुराग्रहपूर्वक

देखकर वास्तवमें उसके विषयमें प्रेमसे परिपूर्ण आदरका भाव ही उत्पन्न होता है और हमलोगोंको आनन्दरूपी मन्त्रका उपदेश करनेके लिये यह हमारा गुरु हुआ है। यदि इस अर्जुनने भगवान्‌से प्रश्न ही न किया होता तो उन्होंने अपने हृदयमें छिपा हुआ रहस्य क्यों खोला होता? और तब हमलोगोंको भी परमार्थकी प्राप्ति कैसे होती? हमलोग अज्ञानान्धकारमें जैसे-तैसे जन्म व्यतीत कर रहे थे; पर उसने हमलोगोंको आत्मज्ञानके प्रकाशरूपी मन्दिरमें लाकर खड़ा कर दिया है। हमलोगोंपर उसने यह कितना बड़ा उपकार किया है! वास्तवमें गुरुके सम्बन्धसे उसे श्रीव्यासमुनिका सहोदर ही जानना चाहिये।" इतना कहकर संजय अपने मनमें सोचने लगा कि मैं जो अर्जुनकी अभ्यर्थना कर रहा हूँ, यह निश्चय ही महाराज धृतराष्ट्रके मनमें खटकेगी, अतएव अब इस विषयमें और कुछ न कहना ही श्रेयस्कर है। यही सोच करके उसने उस समय चुप्पी साध ली। फिर उसने उस प्रकरणकी चर्चा छेड़ दिया जो अर्जुनने उस समय भगवान्‌से स्पष्ट करनेके लिये कहा था। श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्य ज्ञानदेव कहते हैं कि जो कुछ संजयने किया था, वही अब मैं भी करूँगा। हे श्रोतावृन्द! आपलोग ध्यानपूर्वक सुनें। (४१४—४३३)

~~ ○ ~~

हैं। हे गुरुराज! आपकी जय हो, जय हो। हे भेदरहित श्रीगुरु! परन्तु आप ऐसे हैं कि आपके विशिष्ट लक्षण मनके द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकते और न वाणीके द्वारा उनका उच्चारण ही हो सकता है। अतएव आपके उद्देश्यसे नाना प्रकारके शब्दोंकी योजना करके मैं आपके स्तोत्रोंकी कहाँतक रचना करूँ! आपके विशिष्ट लक्षण बतलानेके लिये जिन जिन विशेषणोंका प्रयोग किया जाय उनके बारेमें यही बात समझमें आती है कि वे समस्त विशेषण आपके यथार्थ स्वरूपके बोधक नहीं हो सकते और यही कारण है कि मैं सिर्फ लज्जित हो रहा हूँ।

समुद्र सदा अपनी मर्यादामें ही रहता है; पर यह नियम तभीतक है, जबतक पूर्ण चन्द्रोदय नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि अपने अंगकी आर्द्रतासे चन्द्रमाको कभी अर्घ्य नहीं देती, पर स्वयं चन्द्रमा ही उससे यह कृत्य कराता है। वसन्त-ऋतु आते ही समस्त वृक्षोंमें नयी-नयी कोपलें निकल आती हैं; पर स्वयं उन वृक्षोंको यह ज्ञात नहीं होता कि हममें ये नयी-नयी कोपलें कैसे निकल आयीं। सूर्यकी रश्मियोंका स्पर्श होते ही कमलिनीका संकोच लेशमात्र भी शेष नहीं रह जाता और जलका सम्पर्क होते ही लवण अपने शरीरकी सुध-बुध खो देता है। ठीक इसी प्रकार हे गुरुदेव! जैसे ही आप मेरी स्मृतिपटलपर आते हैं वैसे ही मैं स्वयंको भुला बैठता हूँ। जी भरकर भोजन करके सन्तुष्ट होनेवाला व्यक्ति खूब डकारें लेता है, ठीक वैसी ही स्थिति आपने मेरी कर दी है। मेरे अहंभावको आपने मानो देशनिकाला कर दिया है और मेरी वाणीपर इस प्रकारका पागलपन सवार करा दिया है कि वह आपकी स्तुति करने लगी है। पर यदि अपने देहका भान रखकर भी आपकी स्तुति की जाय तो भी गुण तथा गुणातीतमें भेदभाव करना ही पड़ता है; पर आप तो एकरसात्मक लिंग हैं, फिर गुण तथा गुणातीतमें जिस प्रकारका भेद होता है वैसा भेद भला आपमें कहाँसे हो सकता है! मोतीको टुकड़े-टुकड़े करके फिर उसे जोड़ना अच्छा है अथवा उसे अखण्ड ही रखना अच्छा है? ठीक इसी प्रकार आपकी

है और तृतीय वर्ण सत् है। इस प्रकार यही ओम् तत् सत् उस ब्रह्मका तिहरा नाम है। उपनिषदोंके अर्थ अथवा साररूपी इस सुन्दर पुष्पकी सुगन्धिका तुम उपभोग करो। जब इस नामके साथ एकरूप होकर सात्त्विक कर्मोंका सम्पादन किया जाता है, तभी मनुष्य मोक्षको अपने घरका चाकर बना लेता है। हो सकता है कि भाग्यवश हमें कर्पूरके अलंकार भी मिल जायँ; पर यह समझना अत्यन्त कठिन है कि वे अलंकार शरीरपर पहने किस प्रकार जायँगे। ठीक इसी प्रकार यदि सत्कर्मोंका आचरण भी किया जाय और ब्रह्मका नामोच्चारण भी किया जाय तो भी यदि विनियोग (शास्त्रोक्त विधि)-का ज्ञान न हो तो जैसे अनगिनत साधुजनोंके घर आनेपर भी उनका उचित सम्मान न हो सकनेके कारण अपने पासका पुण्य भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही अथवा जैसे आभूषण धारण करनेकी अभिलाषासे कुछ नग और स्वर्णके टुकड़े इत्यादि कहींसे जुटा करके यूँ ही बाँधकर गलेमें लटका लिये जाते हैं, यदि मुख ब्रह्मका नामोच्चारण करता हो और हाथोंसे सात्त्विक कर्म भी सम्पन्न होते हों, पर यदि उनके विनियोगका ज्ञान न हो तो ये सारे-के-सारे कृत्य व्यर्थ हो जाते हैं। अन्न तथा भूख दोनों पास ही रहते हैं; पर यदि बालकको भोजन ग्रहण करनेकी कला न आती हो तो फिर उसे उपवासका ही सामना करना पड़ेगा। अथवा हे वीरशिरोमणि अर्जुन! यदि तेल, बत्ती और अग्नि—तीनों एक साथ ही हों, पर इन तीनोंको व्यवस्थित करके जलानेकी योजना न मालूम हो तो प्रकाश किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार यदि समयानुसार कर्म भी होता हो तथा उसका मन्त्र भी स्मरण हो, पर उसके विनियोगका रत्तीभर भी ज्ञान न हो तो सब-की-सब बातें निष्फल हो जाती हैं। इसीलिये इन तीनों वर्णोंके योगसे निर्मित परब्रह्मका जो एक नाम है, उसका विनियोग तुम ध्यानपूर्वक सुनो। (३२८—३५३)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

समझमें आती है कि मानो साक्षात् देवदर्शन हो गये। ठीक वही बात इस एक अध्यायके सम्बन्धमें भी है; क्योंकि इसके द्वारा ही गीताका सारा रहस्य ध्यानमें आ जाता है। इसीलिये मैं इस अठारहवें अध्यायको श्रीव्यासजीद्वारा इस गीतारूपी मन्दिरपर चढ़ाया गया कलश ही समझता हूँ। जैसे मन्दिरपर कलश चढ़ जानेके बाद मन्दिर-निर्माणका अन्य कोई काम अवशिष्ट नहीं रह जाता, वैसे ही यह अध्याय भी गीताकी समाप्तिका द्योतक है। व्यासजी स्वभावतः चतुर सूत्रकार थे, उन्होंने वेदरूपी रत्नगिरिपर उसके बीचोबीच उपनिषदर्थ-रूपी भूमिमें खुदाई करके उसे स्वच्छ किया था। उसमें जो धर्म, अर्थ तथा कामरूपी बहुत-से कंकड़, पत्थर और मिट्टी इत्यादि निकले थे; उन्हींसे उन्होंने उस भूमिके चतुर्दिक् महाभारतरूपी परकोटा तैयार किया था। उसी परकोटेमें कृष्ण-अर्जुन-संवादके कौशलसे अखण्ड आत्मज्ञानरूपी शिलाको स्वच्छ और सुन्दर किया। फिर निवृत्तिरूपी डोरियाँ तानकर और समस्त शास्त्रोंके अर्थोंका मसाला डालकर मोक्ष-रेखाकी नींव अथवा तलमीमा सुनिश्चित की गयी। इस प्रकार मकानका काम चलते-चलते पन्द्रह अध्यायोंतक मकानकी पन्द्रह मंजिलें अथवा खण्ड पूरे हो गये तथा अध्यात्म मन्दिर निर्माणकी प्रक्रिया सम्पन्न हो गयी।

तदनन्तर, सोलहवें अध्यायमें उस मन्दिरका शिखर बना तथा सत्रहवें अध्यायमें कलशका आधार बनाया गया और उसीपर यह अठारहवाँ अध्याय मानो कलशके रूपमें स्थापित किया गया। इसी कलशपर श्रीव्यासजीकी गीता नामकी ध्वजा फहराती रहती है। इसीलिये पूर्वके समस्त अध्याय एक-पर-एक चढ़नेवाली मंजिलोंके आकार हैं तथा उन सबकी पूर्णता इस अठारहवें अध्यायमें दृष्टिगोचर होती है। भवनके जितने काम सम्पन्न हुए रहते हैं, उसे गुप्त न रखकर कलश उसे अनवरत प्रकट करता रहता है। ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत अध्याय भी गीताको आरम्भसे अन्ततक प्रज्वलित तथा प्रकट करता है। इस प्रकार श्रीव्यासने इस गीतारूपी मन्दिरको पूर्णताके शिखरपर पहुँचाकर जीवोंका नाना प्रकारसे संरक्षण किया है। इस मन्दिरकी

यह जान पड़ता है कि ये क्रियाएँ फलके निकट आ पहुँची हैं, उस समय तत् शब्दका प्रयोग किया जाता है। (३५४—३६८)

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

समस्त मायाजन्य संसारसे परेकी जो परब्रह्म नामक वस्तु है, जो सर्वस्व देखनेवाली है तथा जो तत्-शब्दसे दर्शायी जाती है, वही सबका कारण है और इसी रूपमें अन्तःकरणमें उसके स्वरूपका ध्यान करके, हे किरीटी! ज्ञानीजन वाणीसे भी उसका उच्चारण करते हैं। वे कहते हैं कि तत्रूपी जो ब्रह्म है, उसीको हमारी ये समस्त क्रियाएँ अपने फलोंसहित समर्पित हों और हमारे भोगनेके लिये इनमेंसे कुछ भी अवशिष्ट न रहे। इस प्रकार तत्रूपी ब्रह्मको अपनी समस्त क्रियाएँ अर्पित करके वे **"न मम"** (यह मेरा नहीं है) कहकर स्वयंको समस्त कर्मफलोंसे पृथक् कर लेते हैं। फिर ओंकारसे आरम्भ किया हुआ और तत्कारमें ब्रह्मार्पण किया हुआ जो कर्म इस प्रकार ब्रह्मरूप होता है, वह एकमात्र ऊपरसे दृष्टिगत होनेवाला कर्म होता है; पर कर्तामें कर्तृत्वके अभिमानके कारण जो द्वैतभाव विद्यमान रहता है, वह इस बाह्यकर्मको ब्रह्मार्पण करनेसे भी ब्रह्मरूप नहीं होता। लवण तो स्वयं जलमें घुल जाता है, पर उसकी क्षारता फिर भी अवशिष्ट रह जाती है। ठीक इसी प्रकार कर्तामें इस तरहकी भावनाका द्वैतभाव बना रहता है कि हमने अपना कर्म ब्रह्मार्पण किया है और जिस समयतक यह भाव बना रहता है, उस समयतक संसारके भयसे मुक्ति नहीं मिलती। यह बात वे वेद, जो परमेश्वरके मुख हैं, चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं। अतएव कर्तृत्वाभिमानके कारण जो ब्रह्म अपनेसे भिन्न जान पड़ता है, उसपर आत्मत्वका प्रत्यय होनेके लिये ही 'सत्' शब्दकी योजना की गयी है। ओंकार और तत्कारके द्वारा जो कर्म ब्रह्माकार हो जाते हैं, वे प्रशस्त इत्यादि शब्दोंसे वर्णित किये गये हैं। उन्हीं प्रशस्त कर्मोंमें सत्-शब्दका जो विनियोग किया जाता है, वह

निर्मित मालाकी पृथक्-पृथक् गिनती नहीं की जा सकती, पर यदि उनकी सुगन्धकी गणना की जाय तो उसके लिये एक अँगुली उठानेके बाद दूसरी अँगुली उठानेकी नौबत ही नहीं आती, ठीक वही बात इन अध्यायों और श्लोकोंके बारेमें भी समझनी चाहिये। सात सौ श्लोकोंवाली इस गीताके अध्यायोंकी संख्या अठारह है, पर भगवान्‌ने जिस तत्त्वका निरूपण किया है वह एक ही है, दूसरा नहीं और मैंने भी उस मार्गका परित्याग किये बिना ही ग्रन्थका अर्थ स्पष्ट किया है। अब मैं उसी मार्गके अनुसार प्रस्तुत प्रश्नका भी स्पष्टीकरण करता हूँ। आपलोग मन लगाकर सुनें।

सत्रहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—"हे अर्जुन! ॐ तत्-सत्‌वाले ब्रह्म नामपर अश्रद्धा रखे हुए जिन कर्मोंको किया जाता है, वे समस्त कर्म असत् होते हैं।" यह सुनकर अर्जुनने अपने मनमें यह सोचा कि मानो भगवान्‌के इस वचनने कर्मनिष्ठ जनोंपर दोष मढ़ा है; पर कर्म करनेवाला जीव अज्ञानके कारण अन्धा होता है। उन्हें ईश्वरके स्वरूपका ही पता नहीं चलता तो फिर उन्हें ॐ तत्-सत्‌वाले ब्रह्म नामका भला किस प्रकार ज्ञान हो सकता है? इसके अलावा जिस समयतक रज तथा तम—इन दोनोंका नाश नहीं होता, उस समयतक मनुष्यकी श्रद्धा भी अत्यन्त निम्न कोटिकी रहती है। फिर वह श्रद्धा ब्रह्म नामपर किस प्रकार हो सकती है? ऐसी दशामें जैसे शस्त्रोंका आलिंगन करना, रस्सीपर दौड़ना अथवा नागिनके साथ खेलना जानलेवा होता है, ठीक वैसे ही श्रद्धारहित समस्त कर्म भी अत्यन्त विकट हैं और अनन्त जन्म-मरणके सदृश दुःसाध्य संकट इन कर्मोंमें ही हैं। यदि प्रारब्धवशात् मनुष्यके द्वारा अच्छे कर्म सम्पन्न हो जायँ तो उसमें ज्ञान पानेकी योग्यता आ जाती है, अन्यथा उन्हीं कर्मोंके द्वारा मनुष्यको अधोगति प्राप्त होती है। कर्मके यथावत् सम्पन्न होनेके रास्तेमें न जाने कितनी ही अड़चनें हैं। ऐसी स्थितिमें कर्मनिष्ठ जनोंको भला कब मोक्षकी उपलब्धि हो सकती है? अतएव यह कर्म करनेका बन्धन तोड़ डालना चाहिये, सब कर्मोंको छोड़ देना चाहिये, और सब प्रकारसे दोषरहित संन्यास ही ग्रहण करना चाहिये।

लिये यह सत्कार आ धमकता है और इससे उन हीन कर्मोंकी हीनता भी दूर हो जाती है अर्थात् वे कर्म भी ऊँचे होकर सर्वांगपूर्ण हो जाते हैं। यह सत् उन कर्मोंका असत्पन मिटा करके और उन्हें ठीक तरह प्रचलित करके अपने सत्त्वबलसे वैसे ही हीन कर्मोंको सर्वांगपूर्ण कर देते हैं, जैसे कोई दिव्य औषधि व्याधिसे पीड़ित व्यक्तिको व्याधिसे मुक्त कर देती है अथवा पीड़ाग्रस्त व्यक्तिको पीड़ारहित कर देती है। कुछ कर्म कभी-कभी भूलवश विधि-नियमोंका उल्लंघन करके निषिद्ध मार्गमें जाने लगते हैं, कारण कि चलनेवाले ही मार्ग भूलते हैं तथा पारखीको ही भ्रम होता है। भला यह बात दावेके साथ कौन कह सकता है कि व्यवहारमें क्या-क्या नहीं हो जाता? इसीलिये जब इस प्रकार अविचारके कारण कर्मकी मर्यादा समाप्त हो जाती है और जब वे कर्म बुरे कर्म होनेके मार्गमें लग जाते हैं, तब हे सुविज्ञ! यदि इस सत्-शब्दका प्रयोग ओंकार तथा तत्कारके प्रयोगसे भी अत्यधिक सावधानीपूर्वक सम्पन्न किया जाय तो यह उस कर्मको उज्ज्वल कर देता है. जैसे लौहहेतु पारस पत्थरकी रगड़ अथवा किसी नालेके लिये गंगाकी भेंट अथवा मृतके लिये अमृतकी वृष्टि होती है, ठीक वैसे ही हे वीरशिरोमणि! सदोष कर्महेतु सत्-शब्दका प्रयोग भी हितावह होता है। इस शब्दकी ऐसी ही महिमा है। इस विवेचनका मर्म समझकर तुम जब इस नामका विचार करोगे, तब यह बात तुम्हारे अनुभवमें आ जायगी कि यह केवल परब्रह्म ही है। जिस स्थानसे इस नाम-रूपवाले वस्तुमात्रकी उत्पत्ति होती है, उसी स्थानपर जीव इस 'ओम् तत्सत्' का उच्चारण करनेसे पहुँच जाता है। वह स्थान केवल अपरिच्छिन्न शुद्ध परब्रह्म ही है और यह नाम उसमें विद्यमान रहनेवाली सामर्थ्यका दर्शक है; पर आकाशके लिये जैसे स्वयं आकाशका ही आश्रय रहता है, ठीक वैसे ही इस नामके लिये भी इस नामका ही आश्रय है। आकाशमें उदित होनेवाला सूर्य जैसे स्वयं ही स्वयंको प्रकट करता है, वैसे ही यह नाम भी स्वयं ही अपने ब्रह्मस्वरूपको प्रकट करता है। अतएव तुम

दर्शनका अनुभव कर रहा था जो व्यवहारमें उसे मिल नहीं रही थी। वह सोचता था कि जिस समय यह संवाद बन्द हो जायगा, उस समय यह अद्‌भुत सुखानुभव भी बन्द हो जायगा; परन्तु अर्जुनको तो उस परम सुखका चसका लग चुका था। फिर भला श्रीकृष्णका इस प्रकार चुप्पी साध लेना वह कैसे सहन कर सकता था? यही कारण है कि उसने गीतारूपी वस्त्रकी तह त्याग और संन्यासके विषयको निमित्त बनाकर फिरसे खोलवायी। यह गीताका अठारहवाँ अध्याय नहीं है, अपितु इसे एक अध्यायवाली गीता ही समझो। जब गौका दूध स्वयं बछड़ा ही दुहने लगे, तब भला उसमेंसे दूधकी धारा निकलनेमें विलम्ब किस प्रकार हो सकती है? ठीक इसी प्रकार ज्यों ही गीता समाप्तिपर आयी, त्यों ही अर्जुन फिर पीछे मुड़ पड़ा और उसने मानो गीताकी फिरसे आवृत्ति ही करा डाली। जो अच्छे और सच्चे स्वामी होते हैं, वे अपने सेवककी बात मानकर तदनुसार आचरण करते हैं अथवा नहीं? परन्तु ये सब बातें बहुत हो चुकीं। अब अर्जुन पूछता है। वह कहता है—"हे विश्वेश! आप मेरी विनती सुनिये। (१—८६)

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

हे महाराज! संन्यास तथा त्याग—इन दोनों शब्दोंसे एक ही अर्थ निकलता है। जैसे संघात और संघ—इन दोनों शब्दोंसे सिर्फ संघात ही सूचित होता है, ठीक वैसे ही मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि त्याग और संन्यास—इन दोनों शब्दोंसे सिर्फ त्याग ही सूचित होता है। हे भगवन्! यदि इन दोनों शब्दोंमें अर्थका कोई भेद हो तो वह आप कृपापूर्वक बतला दें।" यह सुनकर श्रीमुकुन्दने कहा—"दोनों शब्दोंके अर्थोंमें भेद है; तो भी हे अर्जुन! यह बात मैं अच्छी तरहसे समझता हूँ कि तुम्हें त्याग और संन्यास—ये दोनों ही शब्द एकार्थी जान पड़ते हैं। यह एकदम ठीक बात है कि इन दोनोंसे

लिखा हुआ लेख मिटाया नहीं जा सकता अथवा देहकी त्वचाका कालापन और गोरापन धोकर हटाया नहीं जा सकता, ठीक वैसे ही कामिक कर्मोंका फल भोगनेसे भी मनुष्य किसी प्रकार बच नहीं सकता। जैसे ऋणसे कोई व्यक्ति तबतक उऋण नहीं हो सकता, जबतक वह ऋण चुका न दिया जाय; वैसे ही इस तरहके कर्मफल भोगके लिये मानो धरना देकर बैठ जाते हैं और उन्हें बिना भोगे पिण्ड नहीं छूट सकता अथवा हे पाण्डुसुत! यदि प्रत्यक्षरूपसे कामना न की जाय और यों ही सहज भावसे ऐसे कामिक कर्म किसीके द्वारा सम्पन्न हो जायँ तो भी जैसे भुथरे बाणोंके साथ यों ही खेल-खेलमें लड़नेपर भी व्यक्ति क्षतिग्रस्त हो जाता है अथवा जैसे अनजानमें मुँहमें डाला हुआ गुड़ भी मधुर लगता है; जैसे राख समझकर अंगारेपर रखा हुआ पैर अंगारेसे जल जाता है, वैसे ही बन्धकत्व भी काम्य कर्मोंकी एक स्वाभाविक सामर्थ्य है और इसीलिये जो मुमुक्षुजन हों, उन्हें कभी मनोविनोदमें भी उन कर्मोंको नहीं करना चाहिये। सिर्फ यही नहीं, हे पार्थ! काम्य कर्मोंको विषवत् त्याग देना चाहिये। इसी प्रकारके त्यागको संन्यास नामसे जाना जाता है।" ये ही सब बातें उस समय सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने बतायी थीं।

"तदनन्तर, भगवान्‌ने कहा—"यदि राहगीर अपने साथ धन-दौलत रखना त्याग दे तो मानो वह चोर-डाकुओंसे होनेवाले भयका नाश कर डालता है। ठीक इसी प्रकार काम्य कर्मोंको त्याग देना भी मानो कामनाको ही निर्मूल कर डालना है। चन्द्र या सूर्यको ग्रहण लगनेके समय जो कर्म करने पड़ते हैं अथवा माता-पिताकी मृत्यु-तिथिपर जो कर्म किये जाते हैं अथवा किसी अतिथिके पधारनेपर उसके स्वागतार्थ जो कर्म करने पड़ते हैं, उन सब कर्मोंको नैमित्तिक जानना चाहिये। जैसे वर्षाकालमें गगन मेघोंसे आच्छन्न हो जाता है अथवा वसन्तकालका आगमन होनेपर वृक्षोंमें बहुत-सी कोपलें निकलती हैं तथा वनकी शोभा द्विगुणित हो जाती है अथवा जैसे तारुण्यावस्थामें देहमें एक विशेष प्रकारकी मोहकता आ जाती है अथवा

कोटि अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये जायँ, रत्नोंसे भरकर समग्र पृथ्वी दान कर दी जाय, मात्र एक अँगूठेपर खड़े रहकर हजारों वर्ष तप किये जायँ, इतने विशाल जलाशयके निर्माण कराये जायँ कि मानो दूसरे समुद्र ही हों, पर ये सारी-की-सारी बातें एकदम निष्फल होती हैं। जैसे पत्थरपर बरसा हुआ जल, भस्ममें किया हुआ हवन, छायाके साथ किया हुआ प्रगाढ़ालिंगन अथवा आकाशको मारा हुआ थप्पड़ व्यर्थ साबित होता है, वैसे ही हे अर्जुन! ये सारे-के-सारे कर्म-समारम्भ भी एकदम व्यर्थ ही हो जाते हैं। अगर कोल्हूमें पत्थर पेरे जायँ तो न उसमेंसे तेल ही हाथ लगता है और न खली ही। ठीक इसी प्रकार इस कर्म-समारम्भसे भी दरिद्रताके सिवा कुछ भी हाथ नहीं लगता। गाँठमें केवल खप्पर बाँधकर चाहे कोई अपने देशमें घूमे और चाहे अन्य देशमें चला जाय, पर उसका कहीं कुछ भी मूल्य नहीं मिलता तथा उसे ढोकर ले जानेवालेको केवल भूखकी ही मार झेलनी पड़ती है। ठीक इसी प्रकार इस तरहके कर्माचरणसे इस लोकके ही भोग प्राप्त नहीं हो सकते तो फिर परलोकके सुख उपभोगकी प्राप्ति तो कोसों दूर है। आशय यह कि यदि ब्रह्मके नामके प्रति श्रद्धा न हो तो जो काम किया जाता है, वह इहलोकमें भी और परलोकमें भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है। पापरूपी गजका नाश करनेवाले सिंह तथा त्रितापरूपी तिमिरको भगानेवाले सूर्य जो कमलापति वीरशिरोमणि नरोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने यही सारी बातें कही थीं। जैसे स्वयं चन्द्रमा भी चन्द्रिकामें छिप जाता है, वैसे ही उस समय अर्जुन भी अपार आत्मानन्दमें पूर्णरूपसे डूब गया था। अहो, संग्राम भी एक प्रकारका व्यापार ही है, जिसमें बाणोंकी नोकोंको मापनेका साधन बनाकर उसके द्वारा मांस काट-काटकर जीवित मनुष्य ही मापे जाते हैं। ऐसे कठिन अवसरपर अर्जुनको स्वानन्दरूपी साम्राज्यका सुख भोगना भला कैसे शोभा देता था? पर वास्तवमें अर्जुनकी भाँति भाग्य इस जगत्‌में अन्य किसीका नहीं है। धृतराष्ट्रसे संजयने कहा—"हे कौरवाधिपति! अपने शत्रु (अर्जुन)-का यह सद्‌गुण

शाखाओंमें फल लगने लगते हैं, त्यों ही वह उन फलोंको बिना छूए ही अपना समस्त वैभव नीचे फेंकने लगता है। ठीक इसी प्रकार कर्मकी मर्यादाका परित्याग न करते हुए नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंकी ओर ध्यान देना चाहिये और तब उन सबसे उत्पन्न होनेवाले फलोंको पूर्णतया वमनके सदृश त्याज्य मानना चाहिये। कर्मफलके इसी त्याज्यको ज्ञानीजन त्याग नामसे पुकारते हैं। इस प्रकार त्याग और संन्यासका स्वरूप मैंने तुम्हें स्पष्टरूपसे बतला दिया है। जब इस प्रकारका सन्यास होता है, तब काम्यकर्म बन्धनकारक नहीं होते। रही बात निषिद्ध कर्मकी, तो वे स्वभावतः ही त्याज्य होते हैं। जैसे सिरके कट जानेपर शेष शरीर स्वतः पृथ्वीपर गिर पड़ता है, वैसे ही इन फलोंके परित्याग करनेसे नित्य कर्म भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं। फिर जैसे फसलके परिपक्व होनेपर पौधोंकी पत्तियाँ इत्यादि मर जाती हैं और पत्तियोंके नष्ट होते ही फसल हाथ आती है, वैसे ही समस्त कर्मोंके नष्ट होते ही आत्मज्ञान स्वय ही खोजता हुआ जीवके सन्निकट आ पहुँचता है. इस युक्तिसे जो लोग त्याग और संन्यास—दोनों करते हैं, वे आत्मज्ञान पानेका साधन सम्पादित करते हैं; पर जिनसे इस युक्तिका साधन नहीं बन पाता तथा जो लोग एकमात्र अनुमान अथवा विचारमें ही त्याग करते हैं, उनके द्वारा लेशमात्र भी त्याग नहीं होता और वे दिनोंदिन निरन्तर जालमें उलझते जाते हैं। यदि व्याधिकी चिकित्साके लिये नहीं अपितु यों ही किसी ओषधिकी योजना कर दी जाय, तो वह खानेपर विषतुल्य होती है और इसके विपरीत यदि अन्न सेवन न किया जाय तो क्या भूखों मरनेकी नौबत नहीं आ जाती? अतएव जो वस्तु त्याग करनेयोग्य न हो उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिये और जो त्याग करनेयोग्य हो, उसका कभी लोभ नहीं करना चाहिये। त्यागके इस वैशिष्ट्यपर ध्यान न रखकर जो त्याग किया जाता है वह सब बोझस्वरूप ही होता है। जो वैराग्यसम्पन्न होते हैं, उन्हें निषिद्ध (त्याज्य) कर्मोंके साथ सर्वत्र संघर्ष ही करना पड़ता है। (९८—१३४)

अध्याय अठारहवाँ

हे निर्मलदेव! आपकी जय हो, जय हो, आप अपने भक्तोंका सर्वथा हित करते हैं तथा आप ही जन्म और जरारूपी मेघोंके समूहका नाश करनेवाले प्रभंजन प्रबल वायु हैं हे प्रबलदेव! समस्त अशुभोंका नाश आप ही करते हैं और वेदशास्त्ररूपी वृक्षके जो फल हैं, उन फलोंके भी दाता आप ही हैं। हे स्वयंपूर्णदेव! आपका प्रेम सदा विरक्तोंपर रहता है, कालकी सामर्थ्यको भी आप ही रोकते हैं तथा इतना होनेपर भी आप समस्त कलाओंसे परे हैं। हे निश्चलदेव! चंचल चित्तोंका सेवन करनेके कारण आपकी तोंद निकली हुई है। जगत्को विकसित करके उसमें अनवरत क्रीड़ा करना आपको बहुत भाता है। हे अज्ञेयदेव! आप उत्कट अत्यानन्दको स्फूर्ति प्रदान करनेवाले हैं। समस्त प्रकारके दोषोंका आप सदा नाश करते रहते हैं। आप विश्वके मूलाधार हैं। हे स्वयंप्रकाशदेव! आप ही इस जगद्रूपी मेघको आश्रय प्रदान करनेवाले आकाश हैं। इस सारे विश्वकी रचना जिस मूल स्तम्भपर हुई है, वह स्तम्भ भी आप ही हैं। जीवन और मृत्युरूपो जगत्का विध्वंस आप ही करते हैं। हे विशुद्धदेव! सिर्फ अज्ञानके ही नहीं, अपितु ज्ञानरूपी उद्यानका भी विध्वंस करनेवाले गज, शम-दमके द्वारा मदनका मद चूर करनेवाले तथा दयासिन्धु भी आप ही हैं। हे एकस्वरूपदेव! कामरूपी सर्पका गर्व हरण करनेवाले, भक्तोंके भक्तिरूपी मन्दिरको प्रकाशित करनेवाले दीपक तथा तापका शमन करनेवाले आप ही हैं। हे अद्वितीय परमेश्वर! जिनकी शान्ति और विरक्ति पूर्णताको प्राप्त हुई होती है, उन्हें आप अत्यन्त प्रिय होते हैं। आप अपने भक्तजनोंके अधीन होते हैं। आप एकमात्र भक्तिके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य हैं, पर मायाके लिये आपका स्वरूप अगम्य है। हे श्रीगुरुरूपी देव! आप ऐसे विलक्षण फल प्रदान करनेवाले कल्पवृक्ष हैं जो कल्पनासे परे है। आप ऐसी उर्वराभूमि हैं जिसमें आत्मज्ञानरूपी वृक्षका बीज उगता है और उसमेंसे अंकुर निकलते

त्यागके विषयमें निश्चित निर्णय किया जा सके। तुम इस स्पष्टीकरणको ध्यानपूर्वक सुनो। (१३५—१४४)

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

हे पाण्डव! त्याग भी त्रिविध हैं। अब मैं इन त्रिविध त्यागोंके पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाता हूँ। यद्यपि मैंने तुम्हें यह बतलाया है कि त्याग त्रिविध हैं, तो भी उन सबका तात्पर्य वही है जो मैंने अभी कहा है। मैं सर्वज्ञ हूँ तथा मेरी बुद्धिको जो तत्त्व निश्चित जान पड़ता है, सर्वप्रथम तुम वही तत्त्व सुनो। जो मुमुक्षु अपने मोक्ष-सम्बन्धमें जाग्रत् और सचेत रहना चाहता हो, उसे त्यागका यह रहस्य समझकर तदनुसार अपना आचरण रखना चाहिये। बस, इतनेसे ही उसे मोक्षकी उपलब्धि हो जायगी। (१४५—१४८)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

पथिकको जैसे मार्गमें चलते समय पैर बढ़ाना रोकना नहीं चाहिये, ठीक वैसे ही व्यक्तिको यज्ञ, दान तथा तप इत्यादि जो आवश्यक कर्म हैं उन्हें कभी बन्द नहीं करना चाहिये। जैसे खोयी हुई वस्तुको निरन्तर उस समयतक खोजते रहना चाहिये, जिस समयतक वह प्राप्त न हो जाय, परोसी गयी थाली उस समयतक अपने सामनेसे हटानी नहीं चाहिये, जिस समयतक पेट न भर जाय अथवा तटपर पहुँचनेसे पूर्व कभी नौकाका परित्याग नहीं करना चाहिये अथवा फल लगनेसे पूर्व कदली वृक्ष नहीं काटना चाहिये; उस समयतक दीपक नहीं बुझाना चाहिये जिस समयतक रखी हुई वस्तु प्राप्त न हो जाय, ठीक वैसे ही उस समयतक यज्ञादि कर्मोंकी ओरसे कभी उदासीन नहीं होना चाहिये जिस समयतक आत्मज्ञानके विषयमें बुद्धिको पूर्णतया निश्चय न हो जाय। समस्त लोगोंको अपने-अपने अधिकारानुसार यज्ञ, दान और तप इत्यादि कर्मोंका अनुष्ठान बहुत ही तत्परतापूर्वक करने चाहिये। यदि पथिक रास्ता चलते समय अपने

माता-पिताके रूपमें कल्पना करके स्तुति करना ही समीचीन नहीं है, कारण कि उसमें संततिरूपी उपाधिका दोष आ जाता है। हे प्रभो! यदि मैं यह कल्पना करूँ कि मैं आपका सेवक हूँ, तो फिर आपमें स्वामीके भावका स्वतः आरोप हो जाता है, फिर ऐसी उपाधियोंसे दूषित वर्णन करनेका अर्थ ही क्या हो सकता है? तथा ऐसी स्तुतिसे लाभ ही क्या हो सकता है? यदि मैं यह कहूँ कि आप ही आत्मस्वरूप हैं तो मानो आप-सरीखे ज्ञानदाताको मैं अपने अन्तःकरणसे निकालकर बाहर कर देता हूँ। अतएव हे गुरुराज! मुझे तो इस जगत्‌में ऐसा कोई सुभीता दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे मैं आपकी स्तुति कर सकूँ। आप मौनके सिवा अन्य किसी प्रकारका अलंकार अपने शरीरपर धारण नहीं करते। मौन धारण करना ही वास्तवमें आपकी स्तुति है, कर्मोंका अभाव होना ही आपकी वास्तविक पूजा है, आपमें लीन होकर शून्यत्वको प्राप्त होना ही आपका वास्तविक सान्निध्य प्राप्त करना है। अतएव प्रेमरूपी मोहका पागलपन, बकवाद करानेके व्याजसे मेरे द्वारा आपकी स्तुति कराता है और यही कारण है कि मैं बक-बक करके आपके गुणोंका यह वर्णन करता हूँ; पर हे देव! आप करुणासे भरी हुई माताकी भाँति हैं, अतएव यदि आप जैसे-तैसे मेरी ये सारी बातें सहन कर लें तो मेरा काम बिलकुल बन जाय। अब आप मेरी वाणीके विस्तारपर गीता-रहस्यरूपी दृढ़मुद्रा इस प्रकार अंकित करें कि उससे इन सज्जन श्रोता-मण्डलीका मनमयूर नाच उठे।

यह सुनकर श्रीनिवृत्तिनाथने कहा कि तुम बार-बार ऐसी बातें क्यों कहते हो? क्या लोहेको पारसपर बार-बार घिसना पड़ता है? इसपर मैं ज्ञानदेव निवेदन करता हूँ कि महाराज! बस, यही आपका प्रसाद हो गया। अच्छा, अब देव! इस ग्रंथकी ओर ध्यान दें। महाराज! यह वही अठारहवाँ अध्याय है जो गीतारूपी रत्नजटित मन्दिरके अर्थरूपी चिन्तामणिका निर्मित कलश है, जो गीता-रहस्यका बोधक है। व्यवहारमें यह बात देखनेमें आती है कि जब किसी मन्दिरका कलश दूरसे दृष्टिगत होता है, तब यही बात

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

यदि महायाग इत्यादि कर्म एकदम अच्छी तरहसे पूरे उतर जायँ, तो भी व्यक्तिको अपने चित्तमें कर्तृत्वका अभिमान नहीं आने देना चाहिये। जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्तिसे द्रव्य इत्यादि लेकर तथा उसका सहचर बनकर तीर्थाटनके लिये जाता हो, उसके अन्तःकरणमें इस प्रकारका अपने महत्त्वका समाधान नहीं होता कि मैं तीर्थाटन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी सामर्थ्यवान् राजाके आदेशसे अकेला ही किसी राजाको गिरफ्तमें ले लेता हो तो वह आज्ञाकारी सेवक अपने मनमें इस बातका अभिमान नहीं पाल सकता कि मैं विजेता हूँ तथा मैंने इस राजाको जीतकर गिरफ्तमें ले लिया है। जो किसी दूसरेके आधारपर तैरता है, उसमें इस प्रकारका अभिमान जरा-सा भी नहीं रह जाता है कि मैं तैरता हूँ। ठीक इसी प्रकार कर्ताको भी अपने मनमें कर्तृत्वका अहं भाव नहीं उत्पन्न होने देना चाहिये तथा सारे कर्मोंकी मोहरें आगे खिसकाते चलना चाहिये। हे पाण्डव! किये हुए कर्मोंका जो फल होता है, उस फलकी ओर कभी अपने मनोरथको प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिये। आरम्भमें ही फलाशा त्यागकर कर्मारम्भ करना चाहिये, जैसे कोई धाय दूसरेके बच्चेका निर्विकार भावसे पालन-पोषण करती है अथवा जैसे पीपल-वृक्षको सींचनेवाले उससे फलकी कोई आशा नहीं रखते, ठीक वैसे ही फलकी बिना कोई आशा रखे समस्त कर्म सम्पादित करते रहना चाहिये। जिस प्रकार गौकी चरानेवाला चरवाहा पूरे गाँवकी गौओंको इकट्ठा करके चरानेहेतु ले जाता है और उन गौओंका दूध पानेकी कोई अभिलाषा नहीं करता, ठीक उसी प्रकारका भाव व्यक्तिको कर्म करते समय अपने चित्तमें रखना चाहिये तथा कर्मफलकी एकदम आशा नहीं करनी चाहिये। जब इस युक्तिसे व्यक्तिके द्वारा कर्म सम्पन्न होता है, तब अवश्य ही उसे आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है। इसीलिये फलका लोभ रखनेवाला यह देहाभिमान त्यागकर यथास्थित समस्त कर्मोंको करना चाहिये; बस, यही मेरा सबके लिये सर्वोत्तम सन्देश है।

प्रदक्षिणा कुछ लोग (आवर्तनके) जपके बहाने बाहरसे ही करते हैं और कुछ लोग इसके श्रवणपर श्रद्धा रखकर इसकी छायाका सेवन करते हैं। कुछ लोग अर्थज्ञानके गर्भगृहमें एकाग्रवृत्तिसे ताम्बूल और दक्षिणा लेकर सहज ही प्रवेश करते हैं। यह तीसरे प्रकारके जीव तत्क्षण ही आत्मस्वरूप श्रीहरिसे जा मिलते हैं, फिर भी इस मोक्षरूपी मन्दिरमें समस्त लोग प्रविष्ट हो सकते हैं। जैसे समर्थ व्यक्तियोंके यहाँ भोजनहेतु ऊपर तथा नीचे बैठनेवालोंको भी एक समान समस्त भोज्य पदार्थ परोसे जाते हैं, वैसे ही इस गीताका पाठ करनेवाले, सुननेवाले तथा अर्थको ग्रहण करनेवाले सारे लोग समानरूपसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार समस्त बातोंको ध्यानमें रखकर ही मैंने यह कहा है कि यह गीताग्रन्थ वैष्णवोंके लिये मन्दिरके रूपमें है और यह अठारहवाँ अध्याय मन्दिरका उज्ज्वल कलश है।

अब मैं अपनी समझके अनुसार यह बतलाता हूँ कि सत्रहवें अध्यायके बाद इस अठारहवें अध्यायका प्रकरण किस प्रकार उत्पन्न हुआ। जैसे गंगा-यमुना दोनों नदियोंका जल जलत्वकी दृष्टिसे एकरूप ही होता है, पर धाराकी दृष्टिसे दोनों ही नदियाँ पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होती हैं अथवा स्त्री-पुरुषरूप दोनोंके वर्तमान रहते हुए भी अर्द्धनारी-नटेश्वरकी मूर्तिमें उन दोनों रूपोंका एक शरीर बना रहता है अथवा दिनोंदिन चन्द्रबिम्बकी बढ़ती हुई कलाओंका प्रसार होनेपर भी जैसे चन्द्रबिम्बपर उनका कोई पृथक् पृथक् लेप नहीं दृष्टिगत होता, ठीक वैसे ही भिन्न-भिन्न चारों चरणोंके कारण श्लोक तो पृथक्-पृथक् रहते हैं तथा अध्यायोंके अनुक्रम अंकोंके कारण अध्याय भी पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं, पर फिर भी ग्रन्थके विषय-प्रतिपादनका कहीं कोई पृथक् रूप नहीं है—विषय-प्रतिपादन सारे-के-सारे अध्यायोंमें समानरूपसे हुआ है। रत्न तो भिन्न-भिन्न होते हैं, पर जैसे उन्हें जोड़नेवाला धागा एक ही होता है अथवा बहुत-से मोतियोंको एकमें गूँथकर जैसे एक लड़वाली माला बनती है तथा उसका आकार एक ही दृष्टिगत होता है अथवा पुष्पों और उनसे

कालतक अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। जैसे रास्तेके लिये अपने संग भोजन बाँधकर ले चलना बहुत बोझिल जान पड़ता है अथवा नीम जैसे खानेमें जिह्वाको कटु लगती है और हर्रे जैसे सेवन करनेमें कसैली जान पड़ती है, ठीक वैसे ही कर्मारम्भ भी अत्यन्त कठिन जान पड़ता है अथवा जैसे गौके सिरमें घातक सींग होते हैं; सेवती (सफेद गुलाब)-में उसके कँटीले अंग होते हैं अथवा भोजनका सुखानुभव करनेसे पूर्व जैसे भोजन बनानेका झंझट उठाना पड़ता है, ठीक वैसे ही बार-बार कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करना शुरूमें अत्यन्त कठिन जान पड़ता है और इसीलिये उन कर्मोंका आचरण कर्म करनेवालेके लिये अत्यन्त कष्टकारक होता है। पर फिर भी वह यह जानकर उन कर्मोंको करना आरम्भ कर देता है कि यह हमारा विहित कर्म है। पर ज्यों ही उसमें थोड़ा-सा भी क्लेश होता है, त्यों ही वह तुरन्त व्याकुल हो जाता है जैसे अंगारेसे जल जानेवाला व्यक्ति उसे व्याकुल होकर तुरन्त फेंक देता है। उसी प्रकार वह आरम्भ किया हुआ कार्य बीचमें अधूरा छोड़कर भाग खड़ा होता है। वह यह कहता फिरता है कि मुझे सौभाग्यसे यह देह-सरीखी अमूल्य वस्तु मिली हुई है; फिर मैं किसी कर्मदरिद्री पापीकी भाँति अपना यह शरीर कर्म इत्यादिके कष्टोंसे क्यों सुखाऊँ? भला यह कौन कहता है कि सर्वप्रथम कर्म करो और तब उसके भोगकी प्रतीक्षा करो? आज मुझे जो सुखोपभोग प्रत्यक्ष प्राप्त हो रहा है, बस, उसीको भोगकर सुखी होना चाहिये। इस प्रकार देह-सम्बन्धी कष्टोंसे भयभीत होकर जो व्यक्ति कर्मोंका त्याग कर देता है, हे वीरेश! उस व्यक्तिके द्वारा किये हुए त्यागको राजस त्याग कहते हैं। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इसमें भी त्याग ही है, पर इसमें त्यागके फलकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे गर्म घृत छलककर जमीनपर गिर जाय तो उसे हवन हुआ नहीं मान सकते और यदि कोई आदमी पानीमें डूबकर मृत्युको प्राप्त हो जाय, तो उसके बारेमें यह नहीं कहा जा सकता कि उसने जल-समाधि ले ली; अपितु उसके बारेमें यही जानना चाहिये कि उसे दुर्मरण ही प्राप्त हुआ है। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति शरीरके लोभके कारण अपने विहित कर्मोंको त्याग देता है, उसको

जिनमें कर्मबाधाके भयकी वार्ता भी कहीं सुनायी नहीं देती, जिनमें एकमात्र योगसे ही आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, जो ज्ञानको आवाहन करनेके मानो मंत्र ही हैं जो ज्ञानरूपी फसलको पैदा करनेके लिये मानो उत्तम क्षेत्र ही हैं, अथवा जो ज्ञानको आकर्षित करनेवाले सूत्रके मानो तन्तु ही हैं, वे दोनों संन्यास तथा त्याग हैं। इन्हीं दोनोंका अनुष्ठान करनेसे जगत्‌का नाता टूट जाता है। अतः अब भगवान्‌से इन दोनोंका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिये प्रार्थना करना समीचीन है। अपने मनमें यही बात सोचकर जिस समय पार्थने भगवान् श्रीकृष्णसे त्याग और संन्यासका स्वरूप स्पष्ट करनेकी प्रार्थना की और इस विषयमें उनसे प्रश्न किया, उस समय भगवान्‌ने उसे जो उत्तर दिया, वही इस अध्यायमें दिया गया है। इस प्रकार एक अध्याय दूसरे अध्यायको जन्य और जनकभावसे उत्पन्न करता है।

अब अर्जुनने जो कुछ प्रश्न किया था वह सब सुनिये। उस पाण्डुनन्दनने भगवान् श्रीकृष्णके अन्तिम वचन ज्ञातृत्व भावसे सुने। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो अबतक उसे तत्त्वसिद्धान्तका निश्चित ज्ञान हो चुका था; पर भगवान्‌की बातें अब समाप्त हो गयी थीं और उसका प्रेमसे सराबोर मन इसे सहन नहीं कर सकता था। माँके दूधसे जब बछड़ेका पेट भर जाता है उस समय भी उस बछड़ेकी यही लालसा रहती है कि मेरी माता मुझसे दूर न जाय। एकनिष्ठ प्रेमकी यही रीति है। वह प्रेम कोई कारण अथवा अवसर न होनेपर भी सदा बोलता ही रहता है और ऐसा प्रेम करनेवालेकी यह अभिलाषा होती है कि जो चीज मैं एक बार देख चुका हूँ, वही बार-बार देखता रहूँ। अपनी प्रिय वस्तुका उपभोग करते समय इस प्रकार एकनिष्ठ प्रेम करनेवालेका उस प्रिय वस्तुके प्रति और भी अधिक अनुराग होता जाता है। यही इस प्रेमका लक्षण है और पार्थ तो मानो मूर्तिमान् प्रेम ही था। यही कारण है कि भगवान्‌के चुप्पी साध लेनेपर उसे अत्यधिक कष्ट होने लगा। जैसे दर्पणमें ही रूप देखा जाता है, ठीक वैसे ही अर्जुन संवादके निमित्तसे उस वस्तुके

फिर योग्य तथा स्वाभाविक कर्म भी कभी व्यक्तिके लिये दुःखका कारण नहीं हो सकते। ऐसे त्यागको मोक्षरूपी फल उत्पन्न करनेवाला सर्वश्रेष्ठ वृक्ष ही जानना चाहिये। संसारमें इसी त्यागका नाम सात्त्विक त्याग है। जैसे बीजको भस्म कर डालनेसे वृक्ष वंशविहीन हो जाता है, ठीक वैसे ही फलाशा त्याग देनेके कारण जिसका कर्म-बन्धकत्व विनष्ट हो जाता है, जिसके रज और तम—ये दोनों ठीक वैसे ही विनष्ट हो चुके होते हैं, जैसे पारसका संसर्ग होते ही लौहकी अमंगलजनक कालिमा समाप्त हो जाती है और तब निर्मल सत्त्व गुणके कारण जिसके आत्मज्ञानरूपी नेत्र खुल जाते हैं, उस व्यक्तिकी बुद्धि आदिके सामनेका यह प्रचंड विश्वभ्रम सन्ध्यासमयके मृगजलकी तरह स्वतः विनष्ट हो जाता है। इस प्रकारके व्यक्तिके लिये वह भ्रम आकाशकी तरह एकदम अदृश्य हो जाता है अर्थात् कहीं दिखायी नहीं देता है। (२००—२११)

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

यही कारण है कि प्रारब्धानुसार मनुष्यको जो अच्छे और बुरे कर्म प्राप्त होते हैं, वे ज्ञानी व्यक्तियोंके लिये वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे आकाशमें मेघ लुप्त हो जाते हैं। इसके अलावा हे पार्थ, इस प्रकारके व्यक्तिकी दृष्टिके समक्ष वर्तमान कर्म भी निर्मल होते हैं और यही कारण है कि वह सुख-दुःखके झमेलोंमें नहीं फँस सकता। उसके लिये यह बात कभी हो ही नहीं सकती कि वह कर्मोंको शुभ समझकर आनन्दपूर्वक उनका आचरण करे अथवा यह समझकर कि कर्मोंका परिणाम दुःखद होता है, उनके साथ द्वेष करे। जैसे स्वप्नावस्थामें अनुभव किये जानेवाले सुख-दुःखका हर्ष अथवा शोक कोई व्यक्ति जाग्रत् होनेपर कभी नहीं करता, ठीक वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति भी इस मायाजन्य विश्वमोहमें होनेवाले कर्मोंके इष्ट और अनिष्ट परिणामोंके विषयमें उदासीन रहता है। इसीलिये हे पाण्डुसुत! जिस त्यागमें कर्म और कर्तावाली द्वैतभावनाकी गन्ध लेशमात्र भी नहीं होती उसी त्यागका नाम सात्त्विक त्याग है। हे अर्जुन! यदि इस

सिर्फ त्याग ही सूचित होता है; पर इनके अर्थोंमें भेद होनेका एकमात्र कारण यही है कि जब कर्म सर्वथा अपनेसे पृथक् अथवा दूर कर दिया जाता है, उसीका नाम संन्यास है और कर्मफलकी कोई आकांक्षा न रखना ही त्याग कहलाता है। अब मैं यह बतलाता हूँ कि किन किन कर्मोंके फलका त्याग करना चाहिये तथा कौन-से कर्म एकदम त्याग देने चाहिये। तुम भलीभाँति इन बातोंकी ओर ध्यान दो। जंगलों और पहाड़ोंपर अनगिनत वृक्ष स्वतः उगते तथा बढ़ते हैं, पर धानके पौधे अथवा उद्यानोंके वृक्ष उस प्रकार स्वतः नहीं उगते। बिना जोते-बोये नाना प्रकारकी वनस्पतियाँ उगती हैं, पर बिना बीज बोये और रोपाई किये खेतोंमें धान इस प्रकार स्वतः नहीं हो सकता अथवा शरीर यद्यपि स्वतः उत्पन्न होता है तो भी आभूषण बनवानेके लिये—परिश्रम ही करना पड़ता है अथवा नदी तो स्वतः मिल जाती है, पर कूप-खननहेतु परिश्रम करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार नित्य तथा नैमित्तिक कर्म तो स्वाभाविकरूपसे होते रहते हैं, पर यदि मनमें उनके फलकी आशा न रखी जाय तो वे कर्म कामिक नहीं होते और यही कारण है कि बन्धनकारक नहीं होते।'' (८७—९७)

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

''जिन कर्मोंका अनुष्ठान सिर्फ कामनाके विस्तारके कारण ही होता है, जिनमें अश्वमेध इत्यादि विशाल यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, तड़ाग तथा कूप इत्यादि खुदवाये जाते हैं, बाग-बगीचे लगवाये जाते हैं, भूमिदान तथा बड़े-बड़े गाँव दान किये जाते हैं और नाना प्रकारके व्रतादि किये जाते हैं। आशय यह कि ऐसे जितने सकाम और इष्टापूर्त कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्ताके लिये बन्धनकारक होते हैं तथा उन कर्ताओंको अपने फल भोगवाते हैं। हे धनंजय! जैसे देहरूपी गाँवमें आकर रहनेपर जन्म-मृत्युके झमेलोंका अवसान नहीं किया जा सकता अथवा जैसे ललाटपर

कर दिये जायँ तो वही ईश्वरकी कृपासे ज्ञानका बोध उज्ज्वल करते हैं; और जब इस प्रकार ज्ञानबोध उज्ज्वल हो जाता है, तब आत्मज्ञानके कारण अज्ञानके संग कर्मोंका भी ठीक वैसे ही नाश हो जाता है, जैसे रस्सीका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर उसमें होनेवाली सर्पवाली भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। हे पार्थ! ऐसा त्याग ही सच्चा कर्मत्याग है और जो व्यक्ति इस प्रकारका त्याग करते हैं उन्हींको मैं वास्तविक त्यागी समझता हूँ और नहीं तो जैसे किसी व्याधिग्रस्त व्यक्तिको मूर्छा आनेपर यह कहा जाय कि उसे खूब गहरी नींद आयी है, ठीक वैसे ही चाहे कोई व्यक्ति एक कर्मसे ऊबकर दूसरे कर्ममें उलझनेको भले ही विश्राम कह ले, पर वास्तवमें ऐसा करना भी लाठीकी मारसे बचनेके लिये घूँसोंकी मार सहनेके लिये तैयार होनेके सदृश ही है। पर इसका विस्तार बहुत हो चुका। मैं एक बार फिर तुम्हें यह बतला देता हूँ कि इन तीनों लोकोंमें सच्चा त्यागी सिर्फ उसी व्यक्तिको समझना चाहिये जो कर्मफलोंका त्याग करके स्वयं उन कर्मोंको नाशवाली दशातक पहुँचा देता है। (२१८—२३२)

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

हे धनंजय! वास्तवमें कर्मफल त्रिविध हैं और जो कर्मफलकी आशाका परित्याग नहीं करता, उसीको कर्मके फल भोगने पड़ते हैं। कन्याको जन्म देनेवाला उसका पिता यह कहकर अपनी उस कन्याको दूसरेको दान कर देता है कि यह मेरी नहीं है और इस प्रकार वह पिता अपने उत्तरदायित्वसे मुक्त हो जाता है और उस कन्याका ग्रहीता उसका जामाता जंजालमें फँस जाता है। जहरीली वनस्पतियाँ उत्पन्न करनेवाले लोग उन वनस्पतियोंको दूसरेके हाथ बेच देते हैं और स्वयं उनसे धनार्जन करके सुखपूर्वक जीवनयापन करते हैं; पर जो लोग उन वनस्पतियोंको खरीदकर उनका सेवन करते हैं, वही अपने प्राण गँवा बैठते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्ता भले ही समस्त कर्म सम्पादित करे, पर यदि वह अपने मनमें उन कर्मोंके फलोंकी आशा न रखे तो वह अकर्ता ही रहता है और इन दोनों बातोंको

चन्द्ररश्मियोंके कारण जैसे चन्द्रकान्तमणि द्रवित होने लगती है अथवा सूर्योदय होनेपर जैसे कमल प्रस्फुटित होते हैं और इन सब उदाहरणोंमें जैसे कारण विशेषसे उसी बातकी वृद्धि होती है जो वास्तवमें मूलमें होती है और मूल बातसे भिन्न अन्य कोई नयी बात नहीं उत्पन्न होती, ठीक वैसे ही जब कोई निमित्त नित्य कर्ममें आ लगता है, तब उसी कर्मको नैमित्तिक नामसे पुकारते हैं। जो कर्म नित्यश: प्रात:, मध्याह्न और सायं—इन तीनों कालोंमें करने पड़ते हैं, पर जैसे नेत्रोंमें दृष्टि कहीं बाहरसे लाकर लगायी हुई नहीं होती अथवा बिना सम्पादन किये ही पैरोंमें चलनेकी स्वाभाविक सामर्थ्य भरी होती है; दीपकमें जैसे तेज स्वाभाविकरूपसे विद्यमान रहता है अथवा बाह्य सुगन्ध लगाये बिना ही जैसे चन्दनमें स्वाभाविक सुगन्ध भरी रहती है, ठीक वैसे ही जिन कर्मोंमें स्वभावत: अधिकारका रूप होता है और जिन्हें किये बिना मनुष्यका पिण्ड नहीं छूट सकता, हे पार्थ! नित्य कर्म उन्हीं कर्मोंका नाम है। इस प्रकार मैंने तुम्हें नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके बारेमें बतला दिये हैं। ये नित्य और नैमित्तिक कर्म करने अत्यावश्यक हैं और यही कारण है कि कुछ लोग इन्हें बाँझ (निष्फल) कहने लगते हैं पर जैसे भोजन-सेवन करनेसे भूख मिटती है, ठीक वैसे ही नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंसे सभी ओरसे फलोंकी उपलब्धि होती है। जिस समय खोटा सोना स्वर्णकारकी अँगीठीमें पड़ता है उस समय उसमें स्थित अशुद्ध अंश जल जाता है और सोना पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार कर्मफल भी होते हैं। बात यह है कि कर्माचरणसे समस्त दोष मिट जाते हैं, मनुष्यके अधिकारमें वृद्धि हो जाती है और उसे तत्क्षण सद्‌गति भी मिल जाती है। यद्यपि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंको करनेमें इतने बड़े फलकी उपलब्धि होती है, तो भी जैसे मूल नक्षत्रमें उत्पन्न होनेवाले बालकका त्याग करना पड़ता है, ठीक वैसे ही इन फलोंका भी त्याग करना चाहिये। जब वसन्तकाल आता है तब आम्रवृक्षमें उस समयतक नये-नये पत्ते उत्पन्न होते रहते हैं, जिस समयतक उसकी एक-एक शाखा फलोंसे लद नहीं जाती; परन्तु ज्यों ही उन

वेश्याके साथ अंगस्पर्श नहीं होता, तभीतक वह देखनेमें रूपवती जान पड़ती है। ठीक इसी प्रकार कर्मोंका आचरण करनेसे अंगोंमें प्रौढ़ताका संचार होने लगता है; पर अन्ततः उन कर्मोंके फल एकदमसे आक्रमण कर बैठते हैं। जैसे कोई साहूकार किसी ऋणीके पास उसके वादेपर अपना ऋण वसूल करनेके लिये आता है और उस समय ऋणी व्यक्ति बिना उसे ऋण चुकाये किसी तरह अपना बचाव नहीं कर सकता, ठीक वैसे ही कोई मनुष्य इन कर्मफलोंके भोगसे भी किसी प्रकार नहीं बच सकता। जैसे ज्वारकी बालमेंसे निकलकर जमीनपर गिरे हुए दाने फिर ज्वार ही उत्पन्न करते हैं और फिर उस ज्वारके दाने जमीनपर गिरते हैं; वे भी फिर वही ज्वार उत्पन्न करते हैं; ठीक वैसे ही जीव जिस कालमें एक फल भोगता है, तब वह साथ ही अन्य अनेक कर्मफल भी उत्पन्न करता रहता है। जैसे चलनेके समय प्रत्येक पग पिछले पगसे आगे ही पड़ता है अथवा नदीको पार करनेके लिये हम उसके जिस किनारेपर पहुँचते हैं, वह किनारा 'इस पार' होता है और सामनेवाला दूसरा किनारा 'उस पार' होता है तथा हमें उस पार जाना ही पड़ता है और अनवरत इस पारसे उस पार करना पड़ता है, ठीक वैसे ही कर्मफलके भोगका भी कहीं अवसान नहीं होता। साध्य-साधनके निमित्तसे फलभोगका बराबर विस्तार ही होता जाता है और इस प्रकार फलाशाका परित्याग न करनेवाले जीव संसाररूपी जालमें और भी अधिक उलझते जाते हैं। चमेलीकी कलियाँ प्रस्फुटित तो होती हैं, पर प्रस्फुटनके साथ-ही-साथ उनका सूखना भी आरम्भ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जो लोग कर्मके निमित्त बनते हैं, पर स्वयंपर कर्तृत्वका आरोप नहीं करते और जो लोग कर्मफलका त्याग करके कर्मोंका ठीक वैसे ही नाश कर देते हैं, जैसे बीजके निमित्त सुरक्षित धान्य भोजनके काममें लानेसे कृषि-कार्य प्रभावित हो जाता है, वे लोग सत्त्व शुद्धिके बलसे गुरुकृपारूपी अमृत-तुषारसे लबालब भरे हुए आत्मबोधसे परिपूर्ण हो जाते हैं और उनकी द्वैतरूपी दीनता समाप्त हो जाती है। फिर जगत् भ्रमके निमित्तसे भासित होनेवाले त्रिविध फल विनष्ट हो जाते हैं और उस दशामें भोक्ता तथा भोगका भी लोप हो जाता है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

बहुतेरे लोग ऐसे होते हैं जिनके अन्तःकरणसे फलकी लालसा कभी दूर ही नहीं होती और यही कारण है कि वे लोग समस्त कर्मोंको बन्धनकारक कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति स्वयं नग्न होकर नृत्य करता है तथा पूरे संसारको लड़ाका कहता फिरता है अथवा हे धनंजय! जैसे वह व्याधिग्रस्त व्यक्ति समस्त अन्नोंकी शिकायत करता है, जिसकी जिह्वाकी चाट कभी तृप्त ही नहीं होती अथवा जैसे कुष्ठ रोगसे ग्रसित व्यक्ति स्वयं अपने दोषयुक्त देहसे न चिढ़कर उसपर भनभनानेवाली मक्खियोंपर चिढ़ता है, ठीक वैसे ही जो दुर्बल लोग फलकी कामनामें उलझे रहते हैं, वे फलोंका त्याग करनेमें सक्षम न होनेके कारण समस्त कर्मोंको ही बुरा-भला बतलाते हैं और यह निर्णय कर लेते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंका ही सम्यक् त्याग करना चाहिये। बहुतेरे लोग (पूर्वमीमांसक) ऐसे भी होते हैं जो यह कहते फिरते हैं कि यज्ञ इत्यादि कर्म अवश्य करने चाहिये, क्योंकि इनके अतिरिक्त चित्तशुद्धि करनेवाली अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। यदि चित्तशुद्धिवाला मार्ग शीघ्रतासे अतिक्रमण करनेकी अभिलाषा हो, तो कर्मरूपी शस्त्रको चलानेमें आलस्य नहीं करना चाहिये। यदि स्वर्णको शुद्ध करना हो तो जैसे अग्निका कष्ट सहन करनेके लिये तैयार होना चाहिये और जैसे दर्पणको स्वच्छ करनेहेतु उसमें बहुत-सी राख लगानी चाहिये अथवा यदि वस्त्रको स्वच्छ करना हो तो रजककी नादको दूषित नहीं समझना चाहिये, ठीक वैसे ही कर्मोंकी इसीलिये अवहेलना नहीं करनी चाहिये कि वे दुःखका कारण होते हैं। क्या बिना पकाये कभी स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हो सकता है? हे पार्थ! कुछ लोग इसी प्रकारकी बातें कहकर कर्माचरणकी ओर ध्यान देते हैं और इसी प्रकारके मतभेदके कारण त्यागका विषय संदिग्ध हो गया है। अतएव अब मैं इस प्रकार स्पष्टीकरण करता हूँ जिससे वह संशय मिट जाय तथा

जिस प्रकार चन्द्रके संग मिलकर भी एकरूप नहीं हो सकता; दृष्टि तथा आँखोंमें जिस प्रकार महान् अन्तर होता है, रास्ता और राही अथवा प्रवाह तथा उसमें प्रवहमान व्यक्ति अथवा दर्पण और उसमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब देखनेवाले व्यक्तिमें जितना अधिक अन्तर होता है, हे पार्थ! उतना ही अन्तर आत्मा तथा कर्ममें है; इस अन्तरका ज्ञान अज्ञानके कारण होता है। जलाशयमें स्थित कमल प्रस्फुटित होकर यह संकेत करते हैं कि सूर्योदय हो गया तथा वे कमल भ्रमरोंसे अपने कमल-मधुकी लूट कराते हैं। ठीक इसी प्रकार और ही कारणोंसे आत्माके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ बारम्बार उत्पन्न होती हैं। ये कारण पाँच हैं। अब मैं इन कारणोंका वर्णन करता हूँ। (२३३—२७७)

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

सम्भव है कि वे पाँचों कारण तुम्हें भी ज्ञात होंगे, क्योंकि उनका विवेचन शास्त्रोंने हाथ उठा-उठाकर किया है। वेद राजाकी राजधानीमें सांख्य वेदके मन्दिरमें तत्त्व-निरूपणरूपी डंकेकी ध्वनिमें उसकी गर्जना हो रही है। जैसे संसारके समस्त कर्मोंके होनेके मूल हेतु यही कारण होते हैं, वैसे ही आत्माके साथ उनका सम्बन्ध नहीं लगाना चाहिये। हे किरीटी! इस प्रकार इन पाँच कारणोंका डंका बजानेसे इनकी प्रसिद्धि हुई है। अतएव मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि इन कारणोंको तुम भी सुन लो तो तुम्हारे लिये बहुत ही अच्छा है और जब तुम्हारे हाथ मुझ-जैसा ज्ञानरत्न लगा है, तो फिर भला इसकी क्या जरूरत है कि उन कारणोंका तुम्हें अन्य किसीके द्वारा ज्ञान हो? यदि सम्मुख दर्पण पड़ा हो तो फिर दूसरोंसे यह पूछनेकी क्या जरूरत है कि मैं देखनेमें कैसा हूँ और इस प्रकार दूसरे व्यक्तियोंकी आँखोंको इतना अधिक महत्त्व क्यों प्रदान किया जाय? मेरा भक्त इस हेतुसे जिस तरफ दृष्टिपात करता है, मैं भी उसी तरफ उसके हेतुका स्वरूप धारण करके पहुँच जाता हूँ। मैं इस प्रकारका

पैर जल्दी-जल्दी उठाता है तो वह अतिशीघ्र ही उद्दिष्ट स्थानतक पहुँचकर विश्राम कर सकता है। ठीक इसी प्रकार कर्मोंका पूरी तरहसे आचरण करनेसे व्यक्तिको सहजमें निष्कामता प्राप्त हो सकती है। ज्यों-ज्यों औषधि-सेवन करनेमें गम्भीरता दिखायी जाती है, त्यों-त्यों व्याधि भी मिटती जाती है। ठीक इसी प्रकार ज्यों-ज्यों ये समस्त कर्म शीघ्रता तथा तत्परतापूर्वक सम्पन्न किये जाते हैं, त्यों-त्यों रज और तमका भी उन्मूलन होता जाता है। स्वर्णमें जब एकके बाद एक इस प्रकार क्षारोंके अनेक पुट दिये जाते हैं, तब उसमें मिश्रित अशुद्ध अंश निरन्तर जलता जाता है तथा स्वर्ण एकदम शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार जिन कर्मोंका सम्पादन निष्ठापूर्वक किया जाता है, वे रज तथा तमको एकदम मिटा देते हैं और शुद्ध सत्त्वरूपी मन्दिरको दृष्टिके क्षेत्रमें ले आते हैं। इसीलिये हे धनंजय! कर्म भी उसी योग्यता तथा पदपर आसीन हो गये हैं, जिस योग्यता तथा पदपर सत्त्वशुद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि) करनेवाले पवित्र तीर्थ हैं। तीर्थोंसे तो बाह्य मलका नाश होता है और कर्म आन्तरिक मलका प्रक्षालन करते हैं। इसीलिये यह कहा जाता है कि तीर्थोंको जो पवित्रता प्राप्त होती है, उसमें एकमात्र कारण सत्कर्म ही हैं। जैसे किसी पिपासित व्यक्तिके लिये मरुस्थल क्षेत्रमें ग्रीष्मकालमें चलनेवाली लू ही अमृतवृष्टि करके उसे अमृतपान करा दे अथवा जैसे किसी नेत्रविहीन व्यक्तिके नेत्रोंमें सूर्यका तेज आ जाय; नदीमें डूबते हुए व्यक्तिको बचानेके लिये स्वयं नदी ही दौड़ पड़े अथवा किसी मरनेवाले व्यक्तिको स्वयं मृत्यु ही दीर्घायु प्रदान करे, ठीक वैसे ही हे पाण्डुसुत! ये कर्म ही मोक्ष चाहनेवाले व्यक्तियोंको कर्मबन्धनसे छुड़ाते हैं। जैसे रसायनका सेवन मरनेवालेको विषसे बचाता है, वैसे ही हे धनंजय! इन कर्मोंको भी यह एक अद्भुत युक्ति हाथ लगी है कि अपना बन्धकत्व विनष्ट करनेके लिये स्वयं ही मुख्य साधन होते हैं। हे किरीटी! अब मैं तुम्हें उस युक्तिके सम्बन्धमें बतलाता हूँ जिससे कर्मोंके द्वारा ही स्वयं कर्मका नाश होता है। (१४९—१६५)

हम दोनोंका व्यक्ति भेद भी अवश्य ही बना रहेगा। इसीलिये अब इस विषयकी अत्यधिक चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं है। हे पाण्डुपुत्र! अब तुम यह सुनो कि आत्मासे कर्म किस प्रकार भिन्न होते हैं।'' यह सुनकर अर्जुनने कहा—''हे देव! मेरे चित्तमें इस समय जो प्रश्न उठ रहा था, उसकी प्रस्तावना करके आपने बहुत ही सुन्दर काम किया है। सम्पूर्ण कर्मोंके मूल बीज जो कारण-पंचक हैं, उनके सम्बन्धमें बतलानेका वचन क्या आप मुझे नहीं दे चुके हैं? और आपने जो यह कहा कि आत्माका इन कर्मोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, सो आपके द्वारा उसका विवेचन होना भी अभी शेष है।'' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने संतोषपूर्वक कहा—''ऐसे प्रश्नोंके उत्तर सुननेके लिये तुम्हारी तरह धरना देकर बैठनेवाला श्रोता भला मिलता ही कहाँ है? इसीलिये हे अर्जुन! अब मैं तुमको उन समस्त बातोंको बतलाता हूँ जो-जो मैंने तुम्हें बतलानेके लिये कही हैं; पर इन सब बातोंके कारण तुम्हारे ऊपर लदा हुआ प्रेमका बोझ पहलेसे और भी गुरुतर हो जायगा।'' यह सुनकर अर्जुनने कहा कि हे देव! जान पड़ता है कि आप अपनी पहली बात भूल गये। इस प्रेमके लिये ही तो आप 'मैं' तथा 'तुम' वाला व्यक्ति-भाव रखते हैं। इसपर भगवान्ने कहा—''वास्तवमें क्या ऐसी बात है? तो फिर मैंने जो वचन तुम्हें दिया है, वह अब मैं पूरा करता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

हे धनुर्धर! यह सत्य है कि समस्त कर्म उन्हीं पाँच कारणोंसे सम्पन्न होते हैं और आत्माको किसी कर्मके होनेका पता भी नहीं चलता और इन पाँच कारणोंके मेलसे कर्मोंको जो आकार मिलता है, उसके हेतु भी पाँच ही हैं। इन सबसे भिन्न जो आत्मतत्त्व है, वह सिर्फ उदासीन बना रहता है। वह न तो हेतु ही है, न निमित्त कारण ही है और न कर्मोंकी सिद्धिके लिये स्वयं कोई प्रयत्न ही करता है। जैसे आकाशमें अहर्निश होते हैं, ठीक वैसे ही आत्मामें भी शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं। जिस समय जल, तेज और धूम्रका वायुके साथ मेल होता है, उस समय आकाशमें

जो मोक्ष पानेके लिये व्याकुल रहता हो जिसे जीवनके बन्धनसे घृणा जान पड़ती हो, उसके लिये मैं बार-बार यही कहता हूँ कि वह मेरे इस वचनके विरुद्ध कभी कोई आचरण न करे। (१६६—१७७)

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

और नहीं तो जैसे कोई व्यक्ति अन्धकारपर कोप करके स्वयं अपने ही नाखून अपने नेत्रोंमें चुभा लेता है, ठीक वैसे ही जो व्यक्ति कर्मोंको बन्धनकारक समझकर और इसीलिये उनसे खीझकर उनका आचरण त्याग देता है, उसके इस कर्मत्यागको मैं तामस त्याग कहता हूँ। इस प्रकारका काम भी उसी तरहका है, जिस तरह सिरदर्दके कारण कोप करके अपना सिर फोड़ डालना होता है। जिस समय मार्ग अत्यन्त कठिन हो, उस समय ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिसमें कदम आगे बढ़ते चलें अथवा मार्गके दोषके कारण स्वयं अपने पैर ही काट डालने चाहिये? मान लो कि कोई मनुष्य भूखसे पीड़ित है और उसके सम्मुख खानेके लिये कुछ उष्ण अन्न रख दिया जाता है। अब यदि वह इसलिये उस अन्नको ठुकरा दे कि यह अधिक उष्ण है तो उसे अन्ततः उपवासका ही सामना करना पड़ेगा। इसी प्रकार भ्रममें फँसे हुए तामस व्यक्तिकी समझमें यह बात नहीं आती कि स्वयं कर्मोंसे ही कर्मोंका बन्धकत्व विनष्ट करना चाहिये। तात्पर्य यह कि तामसी मनुष्य उसी कर्मका त्याग करता है जो कर्म उसके हिस्सेमें आते हैं। अतएव हे किरीटी! तुम ऐसे तामस त्यागका कभी स्पर्श भी न करो। (१७८—१८३)

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

यदा-कदा ऐसी अवस्था भी होती है कि व्यक्ति यह समझने लगता है कि अमुक कार्य करनेका मैं अधिकारी हूँ और उसका आचरण करना मेरा कर्तव्य है; पर फिर भी उसकी कठिनता देखकर वह भयभीत हो जाता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि कर्मका आरम्भिक अंश कुछ

भी आधारस्थल है; इसलिये हे पार्थ, इस देहका अधिष्ठान नाम पड़ा है। 'कर्ता' कर्मका दूसरा कारण है। इसी कर्ताको चैतन्यका प्रतिबिम्ब कहते हैं। जलवृष्टिका कार्य आकाश ही करता है तथा उस जलसे जमीनपर ताल इत्यादि बनते हैं और फिर उसी तालमें आकाश प्रतिबिम्बित होता है अथवा कभी-कभी निद्रावस्थामें राजा स्वयंको ही भुला बैठता है और तब उसे स्वप्नावस्थामें यह अनुभव होता है कि मैं रंक हो गया हूँ। ठीक इसी प्रकार चैतन्य भी आत्मस्वरूपकी स्मृतिको भुला बैठता है और तब उसमें देहाभास उत्पन्न होता है। फिर जो चैतन्य देहाभिमानके कारण नाना प्रकारका अभिनय करता है और जिसे आत्मस्वरूपकी विस्मृति हो जानेके कारण जीवका नाम मिलता है और जो सभी बातोंमें देहके संग रहनेका संकल्प कर चुका होता है और जो भ्रमके वशीभूत होकर यह कहता फिरता है कि प्रकृतिके द्वारा होनेवाले समस्त कर्म मेरे ही द्वारा हुए हैं, इस प्रकरणमें उस जीवात्माको ही कर्ता नामसे सम्बोधित किया गया है। फिर जैसे एकस्वरूप रहनेवाली दृष्टि बरौनीके बालोंके कारण चौरीकी भाँति सब जगहसे फटी हुई दृष्टिगत होती है अथवा गृहमें प्रज्वलित एक ही दीपकका प्रकाश बाहरसे भिन्न-भिन्न गवाक्ष-मार्गोंसे (झरोखोंसे) देखनेपर पृथक्-पृथक् जान पड़ता है अथवा एक ही आदमी शृंगार इत्यादि नौ रसोंसे क्रम-क्रमसे उल्लसित होनेपर जैसे वृत्ति-भेदसे नौ प्रकारका भासित होने लगता है, ठीक वैसे ही बुद्धिकी जाननेकी सामर्थ्य यद्यपि एकस्वरूप ही है, पर फिर भी वह श्रवणेन्द्रिय इत्यादि बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा भिन्न भिन्न रूपोंसे प्रकट होती है। 'पृथग्विधकरण' इसीका नाम है। हे अर्जुन, कर्मोंका यह तीसरा कारण है।

अब पूर्व और पश्चिम दिशासे प्रवहमान प्रवाहोंका मिलन होनेपर जैसे एक ही जल भिन्न-भिन्न नदों तथा नदियोंके रूपमें भासमान होता है, वैसे ही जो अखण्ड एकस्वरूप क्रियाशक्ति वायुमें विद्यमान रहती है, वही भिन्न-भिन्न जगहोंमें प्राप्त होनेके कारण पृथक्-पृथक् स्वरूपोंवाली जान पड़ती है। जिस समय वह शक्ति वाणीमें आती है, उस समय मनुष्य बोलने लगता है; जिस समय वह हाथोंमें प्रकट होती है, उस समय उससे आदान-प्रदानकी

वास्तविक कर्मत्यागका फल कभी प्राप्त ही नहीं हो सकता। सारांश यह कि हे धनंजय! जैसे प्रातःकाल समस्त नक्षत्रोंका लोप कर देता है ठीक वैसे ही जिस समय आत्मज्ञान उदित होकर अज्ञानसहित समस्त क्रियाओंका लोप कर देता है, उस समय मानो सच्चा कर्मत्याग होता है और ऐसे ही त्यागमें मोक्षरूपी फल लगता है। हे अर्जुन! उस व्यक्तिको इस मोक्षफलकी प्राप्ति नहीं होती जो व्यक्ति अज्ञानके कारण कर्मोंका त्याग करता है। इसीलिये जो त्याग राजस हो उसे कभी सच्चा कर्मत्याग समझना ही नहीं चाहिये। अब प्रसंगानुसार मैं तुम्हें यह भी बतलाता हूँ कि किस प्रकारके त्यागसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है, ध्यानपूर्वक सुनो। (१८४—१९९)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

स्वाधिकारानुसार स्वभावतः जो कर्म अपने हिस्सेमें आते हैं सात्त्विक व्यक्ति उन्हींका विधि-विधानसहित आचरण करते हैं। पर ऐसे व्यक्तिके मनको इस प्रकारके अहंकारकी भावना कभी छूतीतक नहीं कि मैं इन कर्मोंका करनेवाला हूँ और साथ ही वह फलाशाको भी तिलांजलि दे बैठता है। हे पार्थ! अपनी माताकी अवमानना करना तथा उसके विषयमें कामवासना रखना—ये दोनों ही बातें अधोगतिका हेतु होती हैं। अतएव इन दोनों महापातकोंसे बचना चाहिये तथा माताकी निर्मल मनसे सेवा करनी चाहिये। गौका मुख अपवित्र होता है पर क्या इसी कारणसे समग्र गौको त्यागनेयोग्य समझना चाहिये? जो फल हमें अत्यधिक प्रिय होते हैं, उनके भी छिलके तथा गुठलियाँ खानेके लायक नहीं होतीं; पर क्या उन्हीं छिलकों आदिके कारण कभी कोई उन फलोंको ही फेंक देता है? ठीक इसी प्रकार मैं कर्ता हूँ—एक तो इस बातका अभिमान और दूसरे कर्मफलका लोभ—ये दोनों बातें कर्ममें बन्धक तत्त्व हैं। जैसे पिता अपनी कन्याके बारेमें कभी अपने मनमें कामभावना उत्पन्न होने नहीं देता, वैसे ही यदि ये दोनों बातें भी कभी अपने चित्तमें उभड़ने न दी जायँ तो

संगति मिली हुई हो तथा उस रसिकतामें भी परमार्थ तत्त्वकी लालसा हो और इस प्रकारका अप्रतिम योग उपस्थित हो तो वह कितना सुन्दर होता है! ठीक इसी प्रकार एक बुद्धि ही अन्तःकरणकी समस्त वृत्तियोंमें सर्वश्रेष्ठ है तथा इन्द्रियोंके आवेशसे वह और भी अधिक तेजस्वी हो जाती है और उन इन्द्रियोंके आवेशमें उनके अधिदेवताओंका मण्डल और भी अधिक शोभादायक होता है। चक्षु इत्यादि दसों इन्द्रियोंके पीछे उन्हें अपने अनुग्रहसे बल प्रदान करनेवाले सूर्य इत्यादि देवताओंका मण्डल होता है। हे अर्जुन, इसी देवता-मण्डलको कर्मोंका पाँचवाँ कारण कहते हैं।" बस, यही श्रीकृष्णदेवने अर्जुनसे कहा था। तदनन्तर उन्होंने फिर कहा—"इस प्रकार मैंने समस्त कर्मोंके मूल कारणोंका तुम्हारे समक्ष इस तरहसे निरूपण किया है कि सारी बातें तुम्हारी समझमें अच्छी तरह आ जायँ और यह निरूपण तुमने भलीभाँति सुन ही लिया है। अब इन्हीं मूल कारणोंका विस्तार होता है और जिन पाँच हेतुओंके कारण कर्मसृष्टिकी रचना होती है, उन हेतुओंका अब मैं स्पष्ट विवेचन करता हूँ। (३१५—३५३)

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

जिस समय वसन्त-ऋतुका आगमन होता है, उस समय वह नूतन पल्लवोंकी उत्पत्तिका हेतु होता है। फिर इन्हीं पल्लवोंसे फूलके गुच्छे तथा उनसे फलोंकी उत्पत्ति होती है अथवा जिस समय पावस-ऋतुका पदार्पण होता है उस समय वह अपने संग बहुत-से मेघ लाती है। वृष्टि उन मेघोंके कारण होती है और उसके कारण धान्य उत्पन्न होता है तथा उससे सुखभोग प्राप्त होता है। अरुणका प्रसव पूर्व दिशा करती है और वह अरुण सूर्योदयका कारण होता है तथा सूर्यके कारण दिन निकलता है। ठीक इसी प्रकार हे पाण्डव! मन भी कर्मोंके संकल्पका हेतु होता है। इन्हीं संकल्पोंसे वाणीरूपी दीपक प्रज्वलित होता है और जब वह दीपक समस्त कर्मसमुदायके मार्ग प्रकाशित करता है, तभी

प्रकार कर्मोंका त्याग किया जाय, तभी वास्तवमें कर्मोंका त्याग हो सकता है, अन्यथा यदि किसी अन्य प्रकारसे कर्मोंका त्याग किया जाय तो वे और भी अधिक बन्धक हुए बिना नहीं रहते। (२१२—२१७)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

हे सव्यसाची! जो लोग शरीर धारण करके भी कर्मोंकी अवहेलना करते हैं उन्हें अज्ञानी तथा मूर्ख ही जानना चाहिये। यदि घट मृत्तिकासे ऊब जाय तो क्या कभी उसका काम चल सकता है? जो पट तन्तुओंकी अवहेलना करना चाहे, क्या स्वयं वह अवशिष्ट रह सकता है? इसी प्रकार जिस वस्तुके अन्दर अग्नि विद्यमान हो, वह क्या उष्णतासे दुःखी हो सकती है? क्या अपने प्रकाशके साथ दीपक कभी द्वेष करता है? यदि हींग अपनी गन्धसे व्याकुल हो, तो क्या उसे कभी सुगन्धि प्राप्त हो सकती है? यदि पानी अपना पतलापन त्याग दे तो फिर भला वह कहाँ रह सकता है? ठीक इसी प्रकार जबतक शरीर-भ्रम बना हुआ है, तबतक पूर्णतया कर्मोंके त्यागवाले पागलपनका भला क्या अर्थ हो सकता है? हमलोग अपने मस्तकपर तिलक लगाकर उसे इच्छानुसार पोंछ भी सकते हैं; पर यह क्या कभी सम्भव है कि हम जब चाहें तब अपना मस्तक ही छीलकर फेंक दें और जब चाहें तब उसे फिर लगा लें? ठीक इसी प्रकार जो शास्त्रमें बतलाये गये कर्म हम स्वयं अपनी इच्छानुसार करते हैं, वे तो कदाचित् हम त्याग भी सकते हैं पर देहके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वे भला किस प्रकार छूट सकते हैं? और इसका एकमात्र कारण यही है कि श्वासोच्छ्‌वास इत्यादिकी जो क्रियाएँ हैं वे सुप्तावस्थामें भी होती रहती हैं। इस देहके निमित्तसे समस्त कर्म व्यक्तिके साथ लगे हुए हैं। ये न तो जीते-जी ही छूटते हैं और न मरनेपर ही छूटते हैं। इन कर्मोंके जालसे केवल वे ही व्यक्ति छूटते हैं जो कर्मोंका आचरण करनेपर भी उनके फलाशाके जालमें नहीं फँसते। यदि कर्मफल ईश्वरको समर्पित

मिल जायँ, तो उन्हें न्यायसगत कर्म कहना चाहिये और नहीं तो यदि दूध परोसते समय पात्रमें न पड़े तो वह बाहर गिर पड़ता है; दूधका इस प्रकार बाहर गिरना भी है तो उसका व्यय ही, पर उस व्ययको उचित व्ययकी कोटिमें नहीं गिना जा सकता। इसी प्रकार जो कर्म शास्त्रोंकी अनुमतिके बिना सम्पन्न किये जाते हैं, वे यदि निष्फल सिद्ध न होते हों तो फिर डाकू हमारा जो धन लूट ले जाते हैं, उसे हम धर्म अथवा दानके खातेमें खर्चके तौरपर क्यों न लिखें? क्या ऐसा कोई मन्त्र है जो वर्णमालाके बावन अक्षरोंमें न हो? और क्या ऐसा कोई व्यक्ति है जो उन बावन अक्षरोंका कभी न-कभी उच्चारण न करता हो? पर हे कोदंडपाणि अर्जुन! जबतक मंत्रका रहस्य न जाना जाय, तबतक जैसे सिर्फ बावन अक्षरोंके उच्चारणसे ही वाणीको मंत्रके उच्चारण करनेका फल प्राप्त नहीं होता, वैसे ही कारण और हेतुका योग होनेपर यों ही जो कर्म निष्पन्न होता है, वह जबतक शास्त्रानुकूल तथा शास्त्रसम्मत नहीं होता, तबतक वह कर्म होता ही रहता है, पर उसे भी वास्तविक कर्म करना नहीं कह सकते। इस प्रकारके कर्म न केवल अन्यायपूर्ण होते हैं अपितु वे अन्यायके ही हेतु होते हैं। (३५४—३७६)

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

इस प्रकार हे कीर्तिशाली अर्जुन! पाँच कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंके पाँच हेतु भी होते हैं और इन्हींके झंझटोंमें आत्मा फँस गयी है। जैसे सूर्य बिना किसी तरहका रूप धारण किये आँखोंको भी तथा वस्तुओंके रूपोंको भी प्रकाशित करता है, ठीक वैसे ही आत्मा भी स्वयं तो कर्म नहीं होती, पर फिर भी कर्मोंको प्रकट करती रहती है। हे वीरशिरोमणि! जैसे दर्पणमें अपना मुख देखनेवाला स्वयं न तो दर्पण ही होता है और न तो अपना प्रतिबिम्ब ही होता है, पर फिर भी वह उन दोनोंको प्रकाशित करता है अथवा सूर्य जैसे स्वयं अहर्निशका अनुभव न करनेपर भी उन्हें उत्पन्न

केवल कर्म बाँध नहीं सकते। मार्गमें स्थित वृक्षोंके फल उन्हीं लोगोंके हाथ लगते हैं जो उन्हें पानेकी लालसा करते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्मफल भी उन्हीं लोगोंको मिलते हैं जो उन्हें पानेकी अभिलाषा करते हैं। परन्तु कर्मोंका आचरण करके भी जो उनके फल ग्रहण नहीं करता, वही इस संसार-चक्रमें कभी नहीं फँसता, क्योंकि यह सम्पूर्ण त्रिविध संसार कर्मोंका ही फल है।

देव, मनुष्य और स्थावरको ही संसार कहते हैं और ये तीनों ही कर्मफलके प्रकार हैं। इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट भेदसे कर्मफल भी तीन प्रकारके होते हैं। जब बुद्धि विषयोंसे अंकित हो जाती है तथा जीव अधर्ममें प्रवृत्त होकर बुरे कर्म करने लगते हैं, तब वे कृमि, कीट तथा मिट्टी और कंकड़-पत्थर इत्यादिके नीचे देह प्राप्त करते हैं। इन्हींको अनिष्ट कर्मोंका फल जानना चाहिये। पर जब स्वधर्मका सम्मान करते हुए तथा अपने अधिकारपर ध्यान रखते हुए वे वेद और शास्त्रोंके आज्ञानुसार पुण्य-कर्मोंका आचरण करते हैं, तब हे सव्यसाची! वे इन्द्र इत्यादि देवताओंके उत्तम शरीर प्राप्त करते हैं। इन्हींको इष्ट कर्मोंका फल कहते हैं। खट्टे-मीठे रसोंके मिलनेसे एक तीसरा ही रस उत्पन्न होता है और योगकी साधनामें रेचकके सहयोगसे ही कुम्भक भी होता है। इसी प्रकार जब सत्य-असत्य परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, तब सत्य-असत्य—दोनोंसे भिन्न एक और विचित्र पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इसीलिये शुभ और अशुभ फलोंके मेलसे जिस कर्मफलकी सृष्टि होती है, उसीके योगसे मानव-देहकी उपलब्धि होती है। इसीका नाम कर्मोंका इष्टानिष्ट यानी मिश्रफल है। सारे संसारमें यही तीन प्रकारके कर्मफल फैले हुए हैं और जो जीव आशाके चक्करमें पड़े रहते हैं, उनके लिये उन फलोंको भोगनेके अलावा अन्य कोई उपाय ही नहीं रह जाता। जिस समय जिह्वाका पानी गिरने लगता है, उस समय दूषित पदार्थोंका सेवन बहुत रुचिकर लगता है; परन्तु अन्तमें उन्हीं पदार्थोंके कारण व्यक्तिको मृत्युका ग्रास बनना पड़ता है। जबतक मनुष्य जंगलमें नहीं पहुँचता, तभीतक उसे ठगोंकी दोस्ती रुचिकर जान पड़ती है और जबतक

अपनी आत्मापर शरीररूपी जाल ठीक वैसे ही लादता है, जैसे गीदड़ मेघोंकी गतिका आरोप चन्द्रमापर करते हैं। फिर अपनी इसी समझके कारण, हे किरीटी! वह कर्मकी मजबूत गाँठसे इस देहरूपी कैदखानेमें अच्छी तरह जकड़कर बन्द हो जाता है।

देखो बेचारा तोता जिस समय नलिका-यन्त्रपर बैठता है, उस समय यद्यपि उसके पंजे मुक्त ही रहते हैं, पर फिर भी उसके मनमें इस बातका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मैं इसी नलिका यन्त्रके साथ बँध गया हूँ और यही कारण है कि वह नलिका यन्त्रपर दृढ़तापूर्वक बैठा रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने निर्मल आत्मस्वरूपपर प्रकृति (माया)-से किये हुए कर्मोंका आरोप करता है, वह असंख्य कोटि मापोंसे सदा कर्मोंको मापता ही रह जाता है। बड़वानल तो रहता समुद्रमें ही है, पर समुद्रका जल उसका स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार जो कर्मोंसे व्याप्त तो रहता है, पर फिर भी जिसके साथ कर्मोंका सम्पर्क नहीं होता और इस प्रकार अलिप्तरूपसे रहकर जो समस्त कर्म सम्पन्न करता है, उसे पहचाननेके लक्षण अब मैं तुमको बतलाता हूँ, सुनो।

बात यह है कि मुक्तोंके लक्षणोंके सम्बन्धमें विचार करते-करते ही व्यक्तिको मोक्षकी उपलब्धि सहजमें हो जाती है। जैसे हमारी खोयी हुई वस्तु दीपकके प्रकाशमें खोजनेपर आसानीसे प्राप्त हो जाती है अथवा दर्पण ज्यों-ज्यों साफ किया जाय, त्यों-त्यों जैसे उसमें हमारा रूप और भी अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अथवा जलका मिलन होते ही जैसे लवण भी जलका ही रूप धारण कर लेता है अथवा प्रतिबिम्ब यदि पीछे मुड़कर फिर अपने बिम्बको देखनेके लिये आवे तो वह जैसे आप-से-आप बिम्ब ही हो जाता है, ठीक वैसे ही सन्तोंकी बातोंका विचार करते करते हमें अपना खोया हुआ आत्मस्वरूप फिरसे मिल जाता है। इसीलिये सदा सन्तोंकी बातोंका वर्णन और श्रवण करना चाहिये। जैसे चर्मचक्षुओंमें विद्यमान दृष्टि चक्षुओंके चमड़ेसे नहीं बँधती, ठीक वैसे ही जो कर्म करनेपर

हे वीरशिरोमणि! इस प्रकार जो लोग ज्ञानप्रधान संन्यास ग्रहण करते हैं, वास्तवमें वे ही लोग फलभोगकी वासनाओंका नाश करते हैं। इस प्रकारके संन्यासके कारण जब आत्मस्वरूपमें दृष्टि विस्तृत होती है, तब भला यह भास हो ही कैसे सकता है कि कर्म कोई स्वतन्त्र अथवा भिन्न वस्तु है? जिस समय दीवार ही धराशायी हो जाती है, उस समय उसपर निर्मित चित्र भी मिट्टी हो जाते हैं। जिस समय रात व्यतीत हो जाती है, उस समय अन्धकारका कहीं नामोनिशान भी नहीं रह जाता। जिस समय मूल वस्तुका स्वरूप ही विनष्ट हो गया, उस समय फिर भला उसकी छाया किस जगह पड़ सकती है? यदि दर्पण ही न हो तो मुखका प्रतिबिम्ब कैसे और किसमें पड़ सकता है? जब निद्रा भंग हो गयी, तब स्वप्नकी घटना कहाँसे घट सकती है? और जहाँ स्वप्नका अभाव है, वहाँ भला सत्यासत्यका प्रश्न किस प्रकार खड़ा हो सकता है? ठीक इसी प्रकार ऐसे ज्ञानप्रधान संन्याससे जब मूल अविद्याके ही जीवनका अवसान हो जाता है अर्थात् अज्ञानका नाश हो जाता है तो फिर उसका कार्य जो कर्मफल है उसका आदान प्रदान किस प्रकार हो सकता है? इसीलिये कर्मकी मात्रा कभी संन्यासीपर प्रयुक्त हो ही नहीं सकती। पर जिस समयतक मनुष्यके देहमें अविद्या विद्यमान रहती है, उस समयतक आत्मा कर्तृत्वके अभिमानसे शुभ-अशुभ समस्त प्रकारके कर्मोंके पीछे लगी रहती है और जबतक दृष्टिपर भेदभावकी छाप लगी रहती है तबतक हे सुविज्ञ, आत्मा तथा कर्ममें भेदभाव बना ही रहेगा। इस प्रकारका भेदभाव पूर्व और पश्चिम दिशामें होता है अथवा आकाश और मेघ, सूर्य और मृगजल अथवा पृथ्वी और वायुमें जिस प्रकारकी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है अथवा नदीके जलमें पाषाणों और चट्टानोंके डूबे रहनेपर भी जिस प्रकार उन दोनोंमें आकाश और पातालका अन्तर रहता है; जलको आच्छादित करनेवाली सेवार जिस प्रकार जलसे एकदम भिन्न होती है अथवा दीपकसे उत्पन्न होनेवाले काजलको जिस प्रकार कभी दीपक नामसे पुकारा नहीं जा सकता, चन्द्रमापर दृष्टिगत होनेवाला धब्बा अथवा कलंक

प्रलयकालका जल क्या कभी किसी अन्य प्रवाहमें मिल सकता है अथवा उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान सकता है ? हे पाण्डव! ठीक इसी प्रकार अभिन्न भावके कारण स्फुरण प्राप्त करनेवाली अहंता जिस समय पूर्णताको प्राप्त हो जाती है, उस समय क्या वह इस तुच्छ देहभावमें समा सकती है ? क्या कभी सूर्यको ही सूर्यबिम्ब दबा सकता है ? यदि दहीको मथकर निकाला हुआ नवनीत फिर छाँछमें डाला जाय तो अपने अलिप्ततावाले गुणके कारण क्या वह नवनीत फिर कभी उस छाँछमें मिल सकता है? अथवा हे वीरशिरोमणि! यदि काष्ठमें विद्यमान गुप्त अग्नि एक बार काष्ठमेंसे निकालकर बाहर कर दी जाय तो फिर क्या वह कभी काष्ठमें छिपाकर रखी जा सकती है ? अथवा रात्रिके गर्भसे जो सूर्य बाहर निकलता है, उसके बारेमें क्या कभी यह बात सुननेमें आती है कि वह रात्रिहीके रूपमें रहता है ? ठीक इसी प्रकार जो जीव ज्ञान-विषय तथा ज्ञाताका भेद ही मिटा देता है, उसमें भला 'मैं देह हूँ' इस प्रकारकी तुच्छ अहंताका किस प्रकार स्फुरण हो सकता है ? आकाश जिस एक जगहसे दूसरी जगहपर जाता है, उस जगहपर वह पूरी तरहसे भरा हुआ रहता है और यही कारण है कि वह अनवरत स्वतः अपनी सर्वव्यापकतासे भरा रहता है। ठीक इसी प्रकार ऐसा जीव जो कुछ करता है, वह सब स्वयं उसीका आत्मरूप होता है। फिर भला वह किस कर्ममें अपने कर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त हो सकता है ? जैसे आकाशका कोई स्वतन्त्र निवासस्थान नहीं होता अथवा समुद्रका कोई स्वतन्त्र प्रवाह नहीं होता अथवा ध्रुव-तारेमें जैसे कोई गति नहीं होती, ठीक वैसे ही इस प्रकारके जीवका कोई कर्म भी नहीं होता। इस प्रकार जिसका अहंभाव आत्मबोधके कारण पूरी तरहसे जलकर भस्म हो जाता है, उसके कर्म उस समयतक होते रहते हैं, जिस समयतक उसका यह देह विद्यमान रहता है। जिस समय वेगसे चलनेवाली हवा बन्द हो जाती है उस समय भी उसके कारण हिलनेवाले वृक्ष बादमें कुछ देरतक हिलते ही रहते हैं और जिस समय कपूर समाप्त हो जाता है, उस समय भी कुछ देरतक कपूर रखी जानेवाली डिबियामें

भक्तवत्सल अब तुम्हारे हाथका खिलौना बन रहा हूँ।" प्रेमावेशमें इस प्रकार बातें करते-करते भगवान् स्वयंमें खो गये और अर्जुन तो मानो आनन्दसागरमें डूब ही गया। जैसे चाँदनीकी वृष्टि हो रही हो और उसके कारण चन्द्रकान्तमणिका पर्वत पसीजकर सरोवर बन जाय, ठीक वैसे ही सुख और आत्मप्रत्ययके मनोभावोंके बीचका पर्दा विनष्ट हो जानेके कारण अर्जुन एकमात्र सुखकी प्रतिमूर्ति ही बन गया था। भगवान् तो समस्त चीजोंमें समर्थ थे, अतएव ऐसे अवसरपर वे फिर पूर्वकी भाँति प्रकृतिस्थ हो गये और सुखरूपी सागरमें डूबते हुए अर्जुनको बचानेके लिये शीघ्रतासे दौड़ पड़े। उस समय सुखकी इतनी तेज बाढ़ आयी थी कि उसमें अर्जुन-सदृश बड़े बड़े धीर-वीर भी अपनी बुद्धिसहित डूब सकते थे परन्तु श्रीकृष्णदेवने उस बाढ़को भी खींच लिया और कहा कि हे पार्थ! तुम अपना आत्मस्वरूप मत भूलो।

अर्जुनने यह सुनकर अपना सिर झुका लिया और कहा—"हे भगवन्! आप अत्यन्त उदार हैं, दाता हैं। यह बात आप अच्छी तरहसे समझ ही गये हैं कि यद्यपि मैं आपके सन्निकट ही रहता हूँ, तो भी आपसे पृथक् रहनेके कारण मैं बहुत व्याकुल हो गया हूँ और यही कारण है कि अब मैं आपके साथ पूर्णरूपसे एकत्व अथवा समरसता पानेके लिये उत्सुक हो रहा हूँ। मेरी इस प्रकारकी दशा होनेपर यदि आप प्रेमपूर्वक कुछ विनोद न कर रहे हों, तो फिर आप बारम्बार मेरी जीव-दशाका स्मरण क्यों करा देते हैं?" तब भगवान्‌ने कहा—"अरे पगले! अभीतक यह विषय तुम्हारे बुद्धिमें नहीं घुसा। क्या चन्द्र और उसकी चन्द्रिकामें कभी कोई भेद होता है! इसके अलावा मैं एक और बात बतलाता हूँ कि तुम्हें वह समरसता दिखानेमें तथा तुम्हें उसका अनुभव करनेमें मुझे बहुत भय हो रहा है और तुम्हारे नाराज होनेपर मुझमें तुम्हारी नाराजगी सहन करनेकी जो सामर्थ्य आती है, उसका भी एकमात्र कारण यही है कि तुम्हारे प्रति मेरे मनमें अत्यधिक प्रेम है और जबतक परस्पर प्रेमके लक्षण बने हुए हैं, तबतक

प्रकार कर्मोंका त्याग किया जाय, तभी वास्तवमें कर्मोंका त्याग हो सकता है, अन्यथा यदि किसी अन्य प्रकारसे कर्मोंका त्याग किया जाय तो वे और भी अधिक बन्धक हुए बिना नहीं रहते। (२१२—२१७)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

हे सव्यसाची! जो लोग शरीर धारण करके भी कर्मोंकी अवहेलना करते हैं उन्हें अज्ञानी तथा मूर्ख ही जानना चाहिये। यदि घट मृत्तिकासे ऊब जाय तो क्या कभी उसका काम चल सकता है? जो पट तन्तुओंकी अवहेलना करना चाहे, क्या स्वयं वह अवशिष्ट रह सकता है? इसी प्रकार जिस वस्तुके अन्दर अग्नि विद्यमान हो, वह क्या उष्णतासे दुःखी हो सकती है? क्या अपने प्रकाशके साथ दीपक कभी द्वेष करता है? यदि हींग अपनी गन्धसे व्याकुल हो, तो क्या उसे कभी सुगन्धि प्राप्त हो सकती है? यदि पानी अपना पतलापन त्याग दे तो फिर भला वह कहाँ रह सकता है? ठीक इसी प्रकार जबतक शरीर-भ्रम बना हुआ है, तबतक पूर्णतया कर्मोंके त्यागवाले पागलपनका भला क्या अर्थ हो सकता है? हमलोग अपने मस्तकपर तिलक लगाकर उसे इच्छानुसार पोंछ भी सकते हैं; पर यह क्या कभी सम्भव है कि हम जब चाहें तब अपना मस्तक ही छीलकर फेंक दें और जब चाहें तब उसे फिर लगा लें? ठीक इसी प्रकार जो शास्त्रमें बतलाये गये कर्म हम स्वयं अपनी इच्छानुसार करते हैं, वे तो कदाचित् हम त्याग भी सकते हैं पर देहके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वे भला किस प्रकार छूट सकते हैं? और इसका एकमात्र कारण यही है कि श्वासोच्छ्वास इत्यादिकी जो क्रियाएँ हैं वे सुप्तावस्थामें भी होती रहती हैं। इस देहके निमित्तसे समस्त कर्म व्यक्तिके साथ लगे हुए हैं। वे न तो जीते-जी ही छूटते हैं और न मरनेपर ही छूटते हैं। इन कर्मोंके जालसे केवल वे ही व्यक्ति छूटते हैं जो कर्मोंका आचरण करनेपर भी उनके फलाशाके जालमें नहीं फँसते। यदि कर्मफल ईश्वरको समर्पित

मिल जायँ, तो उन्हें न्यायसंगत कर्म कहना चाहिये और नहीं तो यदि दूध परोसते समय पात्रमें न पड़े तो वह बाहर गिर पड़ता है; दूधका इस प्रकार बाहर गिरना भी है तो उसका व्यय ही, पर उस व्ययको उचित व्ययकी कोटिमें नहीं गिना जा सकता। इसी प्रकार जो कर्म शास्त्रोंकी अनुमतिके बिना सम्पन्न किये जाते हैं, वे यदि निष्फल सिद्ध न होते हों तो फिर डाकू हमारा जो धन लूट ले जाते हैं, उसे हम धर्म अथवा दानके खातेमें खर्चके तौरपर क्यों न लिखें? क्या ऐसा कोई मन्त्र है जो वर्णमालाके बावन अक्षरोंमें न हो? और क्या ऐसा कोई व्यक्ति है जो उन बावन अक्षरोंका कभी न-कभी उच्चारण न करता हो? पर हे कोदंडपाणि अर्जुन! जबतक मंत्रका रहस्य न जाना जाय, तबतक जैसे सिर्फ बावन अक्षरोंके उच्चारणसे ही वाणीको मंत्रके उच्चारण करनेका फल प्राप्त नहीं होता, वैसे ही कारण और हेतुका योग होनेपर यों ही जो कर्म निष्पन्न होता है, वह जबतक शास्त्रानुकूल तथा शास्त्रसम्मत नहीं होता, तबतक वह कर्म होता ही रहता है, पर उसे भी वास्तविक कर्म करना नहीं कह सकते। इस प्रकारके कर्म न केवल अन्यायपूर्ण होते हैं अपितु वे अन्यायके ही हेतु होते हैं। (३५४—३७६)

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

इस प्रकार हे कीर्तिशाली अर्जुन! पाँच कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंके पाँच हेतु भी होते हैं और इन्हींके झंझटोंमें आत्मा फँस गयी है। जैसे सूर्य बिना किसी तरहका रूप धारण किये आँखोंको भी तथा वस्तुओंके रूपोंको भी प्रकाशित करता है, ठीक वैसे ही आत्मा भी स्वयं तो कर्म नहीं होती, पर फिर भी कर्मोंको प्रकट करती रहती है। हे वीरशिरोमणि! जैसे दर्पणमें अपना मुख देखनेवाला स्वयं न तो दर्पण ही होता है और न तो अपना प्रतिबिम्ब ही होता है, पर फिर भी वह उन दोनोंको प्रकाशित करता है अथवा सूर्य जैसे स्वयं अहर्निशका अनुभव न करनेपर भी उन्हें उत्पन्न

केवल कर्म बाँध नहीं सकते। मार्गमें स्थित वृक्षोंके फल उन्हीं लोगोंके हाथ लगते हैं जो उन्हें पानेकी लालसा करते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्मफल भी उन्हीं लोगोंको मिलते हैं जो उन्हें पानेकी अभिलाषा करते हैं। परन्तु कर्मोंका आचरण करके भी जो उनके फल ग्रहण नहीं करता, वही इस संसार-चक्रमें कभी नहीं फँसता; क्योंकि यह सम्पूर्ण त्रिविध संसार कर्मोंका ही फल है।

देव, मनुष्य और स्थावरको ही संसार कहते हैं और ये तीनों ही कर्मफलके प्रकार हैं। इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट भेदसे कर्मफल भी तीन प्रकारके होते हैं। जब बुद्धि विषयोंसे अंकित हो जाती है तथा जीव अधर्ममें प्रवृत्त होकर बुरे कर्म करने लगते हैं, तब वे कृमि, कीट तथा मिट्टी और कंकड़-पत्थर इत्यादिके नीचे देह प्राप्त करते हैं। इन्हींको अनिष्ट कर्मोंका फल जानना चाहिये। पर जब स्वधर्मका सम्मान करते हुए तथा अपने अधिकारपर ध्यान रखते हुए वे वेद और शास्त्रोंके आज्ञानुसार पुण्य-कर्मोंका आचरण करते हैं, तब हे सव्यसाची! वे इन्द्र इत्यादि देवताओंके उत्तम शरीर प्राप्त करते हैं। इन्हींको इष्ट कर्मोंका फल कहते हैं। खट्टे मीठे रसोंके मिलनेसे एक तीसरा ही रस उत्पन्न होता है और योगकी साधनामें रेचकके सहयोगसे ही कुम्भक भी होता है। इसी प्रकार जब सत्य-असत्य परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, तब सत्य-असत्य—दोनोंसे भिन्न एक और विचित्र पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इसलिये शुभ और अशुभ फलोंके मेलसे जिस कर्मफलकी सृष्टि होती है, उसीके योगसे मानव-देहकी उपलब्धि होती है। इसीका नाम कर्मोंका इष्टानिष्ट यानी मिश्रफल है। सारे संसारमें यही तीन प्रकारके कर्मफल फैले हुए हैं और जो जीव आशाके चक्करमें पड़े रहते हैं, उनके लिये उन फलोंको भोगनेके अलावा अन्य कोई उपाय ही नहीं रह जाता। जिस समय जिह्वाका पानी गिरने लगता है, उस समय दूषित पदार्थोंका सेवन बहुत रुचिकर लगता है; परन्तु अन्तमें उन्हीं पदार्थोंके कारण व्यक्तिको मृत्युका ग्रास बनना पड़ता है। जबतक मनुष्य जंगलमें नहीं पहुँचता, तभीतक उसे ठगोंकी दोस्ती रुचिकर जान पड़ती है और जबतक

अपनी आत्मापर शरीररूपी जाल ठीक वैसे ही लादता है, जैसे गीदड़ मेघोंकी गतिका आरोप चन्द्रमापर करते हैं। फिर अपनी इसी समझके कारण, हे किरीटी! वह कर्मकी मजबूत गाँठसे इस देहरूपी कैदखानेमें अच्छी तरह जकड़कर बन्द हो जाता है।

देखो बेचारा तोता जिस समय नलिका-यन्त्रपर बैठता है, उस समय यद्यपि उसके पंजे मुक्त ही रहते हैं, पर फिर भी उसके मनमें इस बातका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मैं इसी नलिका-यन्त्रके साथ बँध गया हूँ और यही कारण है कि वह नलिका-यन्त्रपर दृढ़तापूर्वक बैठा रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने निर्मल आत्मस्वरूपपर प्रकृति (माया)-से किये हुए कर्मोंका आरोप करता है, वह असंख्य कोटि मापोंसे सदा कर्मोंको मापता ही रह जाता है। वड़वानल तो रहता समुद्रमें ही है, पर समुद्रका जल उसका स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार जो कर्मोंसे व्याप्त तो रहता है, पर फिर भी जिसके साथ कर्मोंका सम्पर्क नहीं होता और इस प्रकार अलिप्तरूपसे रहकर जो समस्त कर्म सम्पन्न करता है, उसे पहचाननेके लक्षण अब मैं तुमको बतलाता हूँ, सुनो।

बात यह है कि मुक्तोंके लक्षणोंके सम्बन्धमें विचार करते-करते ही व्यक्तिको मोक्षकी उपलब्धि सहजमें हो जाती है। जैसे हमारी खोयी हुई वस्तु दीपकके प्रकाशमें खोजनेपर आसानीसे प्राप्त हो जाती है अथवा दर्पण ज्यों-ज्यों साफ किया जाय, त्यों-त्यों जैसे उसमें हमारा रूप और भी अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अथवा जलका मिलन होते ही जैसे लवण भी जलका ही रूप धारण कर लेता है अथवा प्रतिबिम्ब यदि पीछे मुड़कर फिर अपने बिम्बको देखनेके लिये आवे तो वह जैसे आप-से-आप बिम्ब ही हो जाता है, ठीक वैसे ही सन्तोंकी बातोंका विचार करते-करते हमें अपना खोया हुआ आत्मस्वरूप फिरसे मिल जाता है। इसीलिये सदा सन्तोंकी बातोंका वर्णन और श्रवण करना चाहिये। जैसे चर्मचक्षुओंमें विद्यमान दृष्टि चक्षुओंके चमड़ेसे नहीं बँधती, ठीक वैसे ही जो कर्म करनेपर

हे वीरशिरोमणि! इस प्रकार जो लोग ज्ञानप्रधान संन्यास ग्रहण करते हैं, वास्तवमें वे ही लोग फलभोगकी वासनाओंका नाश करते हैं। इस प्रकारके संन्यासके कारण जब आत्मस्वरूपमें दृष्टि विस्तृत होती है, तब भला यह भास हो ही कैसे सकता है कि कर्म कोई स्वतन्त्र अथवा भिन्न वस्तु है? जिस समय दीवार ही धराशायी हो जाती है, उस समय उसपर निर्मित चित्र भी मिट्टी हो जाते हैं। जिस समय रात व्यतीत हो जाती है, उस समय अन्धकारका कहीं नामोनिशान भी नहीं रह जाता। जिस समय मूल वस्तुका स्वरूप ही विनष्ट हो गया, उस समय फिर भला उसकी छाया किस जगह पड़ सकती है? यदि दर्पण ही न हो तो मुखका प्रतिबिम्ब कैसे और किसमें पड़ सकता है? जब निद्रा भंग हो गयी, तब स्वप्नकी घटना कहाँसे घट सकती है? और जहाँ स्वप्नका अभाव है, वहाँ भला सत्यासत्यका प्रश्न किस प्रकार खड़ा हो सकता है? ठीक इसी प्रकार ऐसे ज्ञानप्रधान संन्याससे जब मूल अविद्याके ही जीवनका अवसान हो जाता है अर्थात् अज्ञानका नाश हो जाता है तो फिर उसका कार्य जो कर्मफल है उसका आदान-प्रदान किस प्रकार हो सकता है? इसीलिये कर्मकी मात्रा कभी संन्यासीपर प्रयुक्त हो ही नहीं सकती। पर जिस समयतक मनुष्यके देहमें अविद्या विद्यमान रहती है, उस समयतक आत्मा कर्तृत्वके अभिमानसे शुभ-अशुभ समस्त प्रकारके कर्मोंके पीछे लगी रहती है और जबतक दृष्टिपर भेदभावकी छाप लगी रहती है तबतक हे सुविज्ञ, आत्मा तथा कर्ममें भेदभाव बना ही रहेगा। इस प्रकारका भेदभाव पूर्व और पश्चिम दिशामें होता है अथवा आकाश और मेघ, सूर्य और मृगजल अथवा पृथ्वी और वायुमें जिस प्रकारकी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है अथवा नदीके जलमें पाषाणों और चट्टानोंके डूबे रहनेपर भी जिस प्रकार उन दोनोंमें आकाश और पातालका अन्तर रहता है; जलको आच्छादित करनेवाली सेवार जिस प्रकार जलसे एकदम भिन्न होती है अथवा दीपकसे उत्पन्न होनेवाले काजलको जिस प्रकार कभी दीपक नामसे पुकारा नहीं जा सकता, चन्द्रमापर दृष्टिगत होनेवाला धब्बा अथवा कलंक

प्रलयकालका जल क्या कभी किसी अन्य प्रवाहमें मिल सकता है अथवा उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान सकता है? हे पाण्डव! ठीक इसी प्रकार अभिन्न भावके कारण स्फुरण प्राप्त करनेवाली अहंता जिस समय पूर्णताको प्राप्त हो जाती है, उस समय क्या वह इस तुच्छ देहभावमें समा सकती है? क्या कभी सूर्यको ही सूर्यबिम्ब दबा सकता है? यदि दहीको मथकर निकाला हुआ नवनीत फिर छाँछमें डाला जाय तो अपने अलिप्ततावाले गुणके कारण क्या वह नवनीत फिर कभी उस छाँछमें मिल सकता है? अथवा हे वीरशिरोमणि! यदि काष्ठमें विद्यमान गुप्त अग्नि एक बार काष्ठमेंसे निकालकर बाहर कर दी जाय तो फिर क्या वह कभी काष्ठमें छिपाकर रखी जा सकती है? अथवा रात्रिके गर्भसे जो सूर्य बाहर निकलता है, उसके बारेमें क्या कभी यह बात सुननेमें आती है कि वह रात्रिहीके रूपमें रहता है? ठीक इसी प्रकार जो जीव ज्ञान-विषय तथा ज्ञाताका भेद ही मिटा देता है, उसमें भला 'मैं देह हूँ' इस प्रकारकी तुच्छ अहंताका किस प्रकार स्फुरण हो सकता है? आकाश जिस एक जगहसे दूसरी जगहपर जाता है, उस जगहपर वह पूरी तरहसे भरा हुआ रहता है और यही कारण है कि वह अनवरत स्वतः अपनी सर्वव्यापकतासे भरा रहता है। ठीक इसी प्रकार ऐसा जीव जो कुछ करता है, वह सब स्वयं उसीका आत्मरूप होता है। फिर भला वह किस कर्ममें अपने कर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त हो सकता है? जैसे आकाशका कोई स्वतन्त्र निवासस्थान नहीं होता अथवा समुद्रका कोई स्वतन्त्र प्रवाह नहीं होता अथवा ध्रुव-तारेमें जैसे कोई गति नहीं होती, ठीक वैसे ही इस प्रकारके जीवका कोई कर्म भी नहीं होता। इस प्रकार जिसका अहंभाव आत्मबोधके कारण पूरी तरहसे जलकर भस्म हो जाता है, उसके कर्म उस समयतक होते रहते हैं, जिस समयतक उसका यह देह विद्यमान रहता है। जिस समय वेगसे चलनेवाली हवा बन्द हो जाती है उस समय भी उसके कारण हिलनेवाले वृक्ष बादमें कुछ देरतक हिलते ही रहते हैं और जिस समय कपूर समाप्त हो जाता है, उस समय भी कुछ देरतक कपूर रखी जानेवाली डिबियामें

भक्तवत्सल अब तुम्हारे हाथका खिलौना बन रहा हूँ।" प्रेमावेशमें इस प्रकार बातें करते-करते भगवान् स्वयंमें खो गये और अर्जुन तो मानो आनन्दसागरमें डूब ही गया। जैसे चाँदनीकी वृष्टि हो रही हो और उसके कारण चन्द्रकान्तमणिका पर्वत पसीजकर सरोवर बन जाय, ठीक वैसे ही सुख और आत्मप्रत्ययके मनोभावोंके बीचका पर्दा विनष्ट हो जानेके कारण अर्जुन एकमात्र सुखकी प्रतिमूर्ति ही बन गया था। भगवान् तो समस्त चीजोंमें समर्थ थे, अतएव ऐसे अवसरपर वे फिर पूर्वकी भाँति प्रकृतिस्थ हो गये और सुखरूपी सागरमें डूबते हुए अर्जुनको बचानेके लिये शीघ्रतासे दौड़ पड़े। उस समय सुखकी इतनी तेज बाढ़ आयी थी कि उसमें अर्जुन-सदृश बड़े बड़े धीर-वीर भी अपनी बुद्धिसहित डूब सकते थे परन्तु श्रीकृष्णदेवने उस बाढ़को भी खींच लिया और कहा कि हे पार्थ! तुम अपना आत्मस्वरूप मत भूलो।

अर्जुनने यह सुनकर अपना सिर झुका लिया और कहा—"हे भगवन्! आप अत्यन्त उदार हैं, दाता हैं। यह बात आप अच्छी तरहसे समझ ही गये हैं कि यद्यपि मैं आपके सन्निकट ही रहता हूँ, तो भी आपसे पृथक् रहनेके कारण मैं बहुत व्याकुल हो गया हूँ और यही कारण है कि अब मैं आपके साथ पूर्णरूपसे एकत्व अथवा समरसता पानेके लिये उत्सुक हो रहा हूँ। मेरी इस प्रकारकी दशा होनेपर यदि आप प्रेमपूर्वक कुछ विनोद न कर रहे हों, तो फिर आप बारम्बार मेरी जीव-दशाका स्मरण क्यों करा देते हैं?" तब भगवान्ने कहा—"अरे पगले! अभीतक यह विषय तुम्हारे बुद्धिमें नहीं घुसा। क्या चन्द्र और उसकी चन्द्रिकामें कभी कोई भेद होता है! इसके अलावा मैं एक और बात बतलाता हूँ कि तुम्हें वह समरसता दिखानेमें तथा तुम्हें उसका अनुभव करनेमें मुझे बहुत भय हो रहा है और तुम्हारे नाराज होनेपर मुझमें तुम्हारी नाराजगी सहन करनेकी जो सामर्थ्य आती है, उसका भी एकमात्र कारण यही है कि तुम्हारे प्रति मेरे मनमें अत्यधिक प्रेम है और जबतक परस्पर प्रेमके लक्षण बने हुए हैं, तबतक

ही यह नहीं देखता कि देह इत्यादिसे होनेवाली क्रियाओंके द्वारा सृष्टिका सृजन होता है अथवा सृष्टिका संहार होता है, जैसे नींदसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। परन्तु जो लोग एकमात्र चर्मचक्षुओंसे देखते हैं तथा जिनकी दृष्टि देहसे आगे जाती ही नहीं, उन्हें यही ज्ञात होता है कि इस प्रकारका मुक्त पुरुष भी कर्मोंमें जकड़ा हुआ है। जानवरोंको डराने तथा भगानेके लिये खेतमें तृण आदिका जो पुतला बनाकर खड़ा कर दिया जाता है उसके विषयमें गीदड़ क्या यह नहीं समझता कि यह वास्तवमें खेतका रखवाला ही है? किसी पागल व्यक्तिको देखनेवाले भले ही यह सोचा करें कि वह वस्त्रविहीन है अथवा वस्त्र धारण किये हुए है, पर स्वयं उस पागलको अपनी इन सब चीजोंसे कुछ भी लेना-देना नहीं होता। ℃

युद्धमें मरे हुए सैनिकके शरीरके घाव दूसरे लोग भले ही गिना करें पर स्वयं उस मृतकको इन सब चीजोंका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जिस समय कोई पतिपरायणा स्त्री सती होने लगती है, उस समय सम्पूर्ण जगत् भले ही सोचा करे कि वह किस प्रकार अपना अन्तिम शृंगार करती है, पर स्वयं उस पतिव्रता सती स्त्रीको अग्निकी ज्वाला, अपना शरीर अथवा अपने चारों तरफका जगत् एकदम दृष्टिगत नहीं होता। ठीक इसी प्रकार उस व्यक्तिको आत्मस्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है, जिसका द्रष्टत्व दृश्य वस्तुके साथ मिलकर एकाकार हो जाता है तथा उसीमें समा जाता है, उसे इसका भान भी नहीं होता कि इन्द्रियाँ किन-किन कर्मोंका आचरण कर रही हैं। यदि जलके किसी बड़े प्रवाहमें कुछ छोटे-छोटे प्रवाह आकर समा जायँ और उस बड़े प्रवाहके तटपर खड़ा होकर कोई व्यक्ति यह समझ ले कि एक प्रवाहने दूसरे प्रवाहको ग्रस लिया, तो भी इस क्रियामें जैसे जलके एक प्रवाहको वास्तवमें कोई अन्य प्रवाह नहीं ग्रसता, ठीक वैसे ही जो पुरुष पूर्णावस्थाको प्राप्त हो जाता है, उसे मारनेके लिये स्वयं अपनेसे भिन्न कोई अन्य चीज बचती ही नहीं। स्वर्णनिर्मित चण्डिका स्वर्णनिर्मित महिषासुरका स्वर्णनिर्मित शूलसे वध करती है और यह दृश्य देखनेवाले मन्दिरके निकट

मेघ उत्पन्न होते हैं; पर आकाशको उनका पता भी नहीं चलता। नाव लकड़ीसे बनती है, उसे पानीमें नाविक खेता है तथा हवा उस नौकाको चलाती है; परंतु पानी एकमात्र साक्षी भावसे तटस्थ रहता है। मृत्तिका कहींसे उठाकर ले आते हैं तथा उससे बर्तन बनते हैं और डंडेके सहयोगसे चाकको घुमाया जाता है तथा उनके साथ ही साथ बर्तन भी घूमते रहते हैं; पर इन सबका कर्तृत्व कुम्भकारमें होता है। इन समस्त चीजोंको पृथ्वीका आश्रय तो अवश्य मिलता है, पर उस आश्रयके सिवा क्या कभी पृथ्वीका और भी कुछ खर्च होता है? इन सब बातोंका अब तुम्हीं विचार करो। इस विषयमें मैं एक और उदाहरण देता हूँ, सुनो—सूर्यके प्रकाशमें लोगोंके नाना प्रकारके व्यापार चलते रहते हैं; पर क्या उन समस्त व्यापारोंका सूर्यके साथ भी कभी कोई सम्पर्क होता है? ठीक इसी प्रकार जिस समय पाँच हेतुओंका योग होता है, उस समय उन पाँच कारणोंसे कर्म-लताएँ लगती हैं; पर आत्मा उन सबसे सदा भिन्न ही रहती है। अब मैं इन पाँचों कारणोंके पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाता हूँ। जैसे भिन्न-भिन्न मौक्तिक पृथक्-पृथक् तौल कर लिये जाते हैं, (२७८—३१४)

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

—वैसे ही कर्मोंके इन पाँच कारणोंका वर्णन उनके पृथक्-पृथक् लक्षणोंसहित सुनो। इन पाँचों कारणोंमें 'देह' प्रथम कारण है। इसे 'अधिष्ठान कारण' के नामसे पुकारते हैं, क्योंकि इस देहमें भोक्ता अपने भोग्य विषयोंके साथ डेरा डाले रहता है। इन्द्रियाँ अहर्निश कष्ट करती रहती हैं और उनके द्वारा प्रकृतिके सामर्थ्यसे जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें भोगनेके लिये पुरुषके पास इस देहके अलावा अन्य कोई स्थान ही नहीं होता और यही कारण है कि इस देहको 'अधिष्ठान' नामसे पुकारते हैं। यह देह चौबीस तत्त्वोंके एक साथ मिलकर रहनेका साझेका घर है। इसी देहमें बन्ध और मोक्षके झंझटोंका समाधान भी होता है। यही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंका

कुशलताके साथ प्रस्तुत करता है। फिर न्याय और अन्याय—दोनों प्रकारकी नींव तैयार करता है तथा पलभरमें वह कर्मरूपी मन्दिरका निर्माण कर देता है। इस महत्त्वपूर्ण और विशाल काममें आत्मा रत्तीभर भी सहयोग नहीं करती और यदि तुम यह प्रश्न खड़ा करो कि यह आत्मा कर्मोंकी पूर्व योजनामें भी कुछ सहायक होती है अथवा नहीं? इसका उत्तर यह है कि वह उसमें रत्तीभर भी सहायक नहीं होती। जो आत्मा एकमात्र साक्षीभूत तथा आत्मस्वरूप है, वह क्या कभी यह कह सकती है कि कर्म प्रवृत्तिके संकल्प उत्पन्न हों? पर जिस कर्म-प्रवृत्तिके चक्करमें समस्त लोग पड़े हुए हैं, उस प्रवृत्तिके दुःख भी कभी आत्माको स्पर्श नहीं करते। अतएव जो व्यक्ति पूर्णतया आत्मस्वरूप हो जाता है, वह कभी कर्मरूपी कैदखानेमें रह ही नहीं सकता। पर जब अज्ञानरूपी पटपर ज्ञानरूपी उलटा चित्र अंकित होता है, तभी कार्य, कर्ता तथा क्रिया—इन तीनोंकी जगत्-प्रसिद्ध त्रिपुटी चित्रित होती है। (४०३—४६०)

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥ १८॥

ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय—इन तीनोंकी त्रिपुटी ही जगत्का बीज है और निःसन्देह इसीसे कर्मोंकी प्रवृत्ति होती है। हे धनंजय! अब मैं इन त्रिपुटियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। जीवरूपी सूर्यबिम्बको श्रोत्र इत्यादि पाँच इन्द्रियरूपी रश्मियाँ वेगपूर्वक आकर विषयरूपी कमलकी कलियाँ खिलाती हैं अथवा जीवरूपी राजाके सवाररहित मन-संकल्परूपी घोड़ोंको साथ लेकर इन्द्रियसमुदाय विषय-प्रान्तमें पहुँच जाते हैं और वहाँसे सुख-दुःख लूट लाते हैं। पर ये रूपक बहुत हो चुके। इन इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले व्यापारोंसे जो ज्ञान सुखों और दुःखोंको अपने संग लेकर जीवको मिलता है, वह सुषुप्तिवाली अवस्थामें जिसमें लीन होता है, उसी जीवको ज्ञाता कहते हैं और अबतक जिसका वर्णन किया गया है, हे पाण्डुसुत! उसीको ज्ञान कहते हैं। हे किरीटी! अविद्याके उदरमें जन्म लेते

क्रिया होने लगती है; जिस समय वह पैरोंमें पदार्पण करती है, उस समय उससे चलना-फिरना होने लगता है और जिस समय वह मल-मूत्रके द्वारमें प्रवेश करती है, उस समय उससे मल-मूत्र निकलने लगता है। फिर वही वायु जिस समय नाभिसे हृदयपर्यन्त ओंकारको प्रकट करने लगती है, उस समय उसे 'प्राणवायु' नामसे सम्बोधित करते हैं। फिर वही शक्ति जिस समय ऊर्ध्व प्रान्तमें प्रवेश करने लगती है, उस समय उसे 'उदानवायु' नामसे पुकारते हैं। जिस समय वही शक्ति अधोद्वारसे प्रवाहित होने लगती है, उस समय उसे 'अपानवायु' कहते हैं और जिस समय यही शक्ति पूरे शरीरमें व्याप्त रहती है, उस समय वह 'व्यानवायु' कहलाती है। यही शक्ति खाये गये अन्नके रसको शरीरके विभिन्न भागोंमें पहुँचाती है तथा शरीरके अन्तरंग प्रान्तमें अनवरत व्याप्त रहती है। इस प्रकार चतुर्दिक् घूमकर वह क्रियाशक्ति अन्ततः नाभिप्रदेशमें स्थिर होती है और उस समय वह 'समानवायु' के नामसे जानी जाती है। जम्हाई, छींक, डँकार इत्यादि रूपोंमें होनेवाली वायुकी क्रियाओंके नाम नाग, कूर्म तथा कृकर इत्यादि हैं। इस प्रकार हे वीरशिरोमणि! यद्यपि वायुकी समस्त क्रियाएँ एकरूप ही हैं, पर रीति-भेदके अनुसार उसे भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होते हैं और यही भिन्न-भिन्न रीतियोंसे भिन्न रूप होनेवाली वायुशक्ति कर्मोंका चौथा कारण है। शरद्-ऋतु षड्-ऋतुओंमें सर्वोत्तम होती है और उस ऋतुका चन्द्रमा और भी मनोहारी होता है और उसमें भी पूर्णिमाके चन्द्रमाकी मनोहरताकी बात ही क्या है! इसी प्रकार वसन्त-ऋतुमें उद्यानकी अत्यधिक शोभा होती है और यदि ऐसे उद्यानमें प्रिय जनोंकी संगति हो तो फिर क्या पूछना! यदि इस प्रकारकी संगतिमें प्रेमपूर्ण उपचार भी मिले तो फिर उस सुखका पारावार ही नहीं रह जाता अथवा हे पाण्डव! एक तो कमल हो, दूसरे वह पूर्णरूपसे विकसित हो और तिसपर भी सुगन्धित परागकणका आधिक्य हो तो फिर शोभाकी भला कौन सी कमी रह सकती है? एक तो पहले ही मृदु वाणी हो, तिसपर उसमें कवित्वका मेल हो और फिर उस कवित्वको रसिकताकी

बछड़ा गौकी तरफ दौड़ पड़ता है अथवा स्वर्गकी उर्वशी इत्यादि अप्सराओंकी सुख-भोगकी मनोहर बातें सुनकर जैसे लोग स्वर्गसुख पानेके लिये आकाशमें यज्ञरूपी सीढ़ियाँ लगाने लगते हैं अथवा हे किरीटी! आकाशमें उड़नेवाला कबूतर जैसे कबूतरीको देखते ही लोट-पोट होकर जमीनपर गिरने लगता है अथवा मेघोंकी गर्जना सुनते ही जैसे मोर आकाशकी ओर दृष्टिपात करने लगता है, ठीक वैसे ही ज्ञेयको देखते ही ज्ञाता भी उसकी ओर तत्काल दौड़ पड़ता है। अतएव हे पाण्डुनन्दन! ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इन तीनोंसे ही समस्त कर्मोंका आरम्भ होता है। अब वही ज्ञेय इत्यादि ज्ञाताको प्रिय जान पड़े तो फिर उसका उपभोग करनेमें उससे पलभरका भी विलम्ब नहीं सहा जाता। इसके विपरीत यदि वह ज्ञेय ज्ञाताको अप्रिय जान पड़ता है तो उसका तिरस्कार करके उसे भगानेमें भी जो थोड़ा-सा समय लगता है, वह भी उसे युगके समान प्रतीत होता है। सर्प तथा रत्नोंके हारके घेरेमें जो व्यक्ति एकदमसे पहुँच जाता है, उसे जैसे भय तथा आनन्द दोनों ही एक साथ जान पड़ते हैं, ठीक वैसी ही अवस्था उस समय ज्ञाताकी भी होती है, जिस समय कुछ प्रिय-अप्रिय वस्तु दृष्टिगत होती है और तब वह प्रिय वस्तुको स्वीकार तथा अप्रिय वस्तुको त्याग करनेकी चेष्टा करने लगता है। विरोधी दलके मल्लोंमें अपने टक्करका मल्ल देखकर जैसे किसी सेनापतिका उसके साथ दो-दो हाथ करनेको जी चाहता है और वह स्वयं ही अपने रथपरसे नीचे उतरकर उससे लड़नेके लिये उसकी ओर पैदल ही चल पड़ता है, ठीक वैसे ही जो अबतक अपने ज्ञातृत्वके कारण एकमात्र ज्ञाता ही था, वह अब कार्यारम्भ करके कर्ताकी स्थिति अथवा पदको प्राप्त होता है। जैसे कोई भोजन ग्रहण करनेवाला ही भोजन बनानेके लिये बैठ जाय अथवा मधुप ही उद्यान लगाने लग जाय अथवा स्वर्णकी परख करनेवाला ही स्वयं कसौटीका पत्थर बन जाय अथवा स्वयं देवता ही अपने लिये मन्दिरका निर्माण करने लगें, ठीक वैसे ही हे पाण्डव! ज्ञेय विषयके स्वीकार

कर्ता कर्म करनेके व्यापारमें प्रवृत्त होता है। इन्हीं व्यापारोंमें शरीर इत्यादि समुदाय शरीरादिके हेतु होते हैं। जैसे लोहेकी चीजें बनानेके समस्त काम लोहेके ही घनसे होते हैं और जैसे सूतके तानेमें सूतके ही बाने पड़नेसे वे सूत समुदाय ही वस्त्रका रूप धारण कर लेते हैं, ठीक वैसे ही जिन कारणोंका आचरण मन, वाणी और शरीरके द्वारा होता है, वे कर्म ही मन, वाणी और शरीरके हेतु होते हैं। रत्नजटित आभूषण रत्नोंसे ही बनते हैं; इस सम्बन्धमें भी ठीक यही बात लागू होती है। अब यदि कोई यह पूछे कि यदि शरीर इत्यादि ही कारण हैं तो फिर वही हेतु किस प्रकार बन जाते हैं, तो वे अपने इस आक्षेपका निराकरण भी कर लें। जैसे सूर्य ही सूर्यके प्रकाशका हेतु भी है और कारण भी है अथवा ईक्षुकांड जैसे ईक्षुकी वृद्धिके हेतु भी होते हैं तथा कारण भी होते हैं अथवा यदि वाग्-देवताकी स्तुति करनी हो तो उसके लिये वाणीको ही श्रम करना पड़ता है अथवा वेदोंका महिमा-गान जैसे स्वयं वेदोंसे ही हो सकता है, ठीक वैसे ही यद्यपि हम यह बात निर्विवादरूपसे जानते हैं कि शरीर इत्यादि ही कर्मोंके कारण होते हैं, तो भी यह बात मिथ्या नहीं है कि वही उन कर्मोंके हेतु भी होते हैं। जब शरीर इत्यादि हेतुओंके साथ शरीर इत्यादि कारणोंका मेल होता है, तब जिस कर्मसमुदायकी सृष्टि होती है, वह कर्मसमुदाय यदि शास्त्रमें बतलाये गये मार्गसे ही चलता रहे तो वे समस्त कर्म न्यायसंगत होते हैं और फिर वही कर्म न्यायके हेतु भी होते हैं। बरसातका जल बहकर कदाचित् धानके खेतोंकी ओर जाय तो वहाँ जाकर वह उन खेतोंमें पूरी तरहसे समा जाता है। पर उसका कितना अधिक लाभ होता है! अथवा जैसे कोई आदमी क्रोधके कारण घरका परित्याग कर अनजानमें ही द्वारकाके मार्गपर चल पड़े तो यद्यपि उसे क्लेश तो होता है, पर उसके पैरोंका आगे बढ़ना निष्फल नहीं होता, ठीक वैसे ही जिन कर्मोंकी उत्पत्ति हेतु और कारणके योगसे होती है, वे एकदम अन्धे होते हैं; पर यदि उन कर्मोंको शास्त्ररूपी आँखें

है कि मैं इन इन्द्रियोंको करण यानी साधन अथवा यन्त्र नामसे पुकारता हूँ. कर्ता इन करणोंका उपयोग करके जो क्रियाएँ करता है उन क्रियाओंकी व्याप्ति ही इस प्रकरणमें कर्म है। स्वर्णकारकी बुद्धि जैसे अलंकारोंमें व्याप्त रहती है, चन्द्ररश्मियाँ जैसे चाँदनीमें व्याप्त रहती हैं अथवा सुन्दरतासे जैसे वेलें व्याप्त रहती हैं, प्रभा जैसे प्रकाशमें व्याप्त रहती है; मिठास जैसे इक्षु-रसमें व्याप्त रहती है अथवा अवकाश जैसे आकाशमें व्याप्त रहता है, ठीक वैसे ही हे धनंजय! जो कुछ कर्ताकी क्रियाओंसे व्याप्त रहता है उसीका नाम कर्म है। इसके अलावा कर्म अन्य कोई चीज नहीं है। इस प्रकार हे ज्ञानिशिरोमणि! कर्ता, कर्म और करण—इन तीनोंके लक्षण मैंने तुमको स्पष्टरूपसे बतला दिये हैं। यहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीनों तो कर्म-प्रवृत्तिके त्रिकूट हैं तथा कर्ता, करण और कार्य—ये तीनों कर्मके संग्रह हैं। कर्ता, क्रिया और करणमें कर्मका जीवन ठीक वैसे ही भरा रहता है, जैसे अग्निमें धूम्र अथवा बीजमें वृक्ष तथा मनमें वासना भरी रहती है। कर्ता, क्रिया और करणमें कर्म भी ठीक वैसे ही भरा रहता है, जैसे स्वर्णकी खानमें स्वर्ण भरा रहता है। इसीलिये हे पाण्डुसुत! जहाँ ऐसी भावना रहती है कि यह कार्य है और मैं कर्ता हूँ, वहाँ उन समस्त क्रियाओंसे आत्मा सदा दूर और अलिप्त रहती है। इसलिये हे सुविज्ञ! मैं बार-बार यही कहता हूँ कि आत्मा इस कर्म-प्रवृत्तिसे एकदम पृथक् है; पर तुम ये सारी बातें जानते ही हो, अतः अब मैं इस प्रकरणका यहीं अवसान करता हूँ। (४६१—५१६)

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

पर अभी मैंने जो ज्ञान, कर्म और कर्ताकी चर्चा की है, वे त्रिगुणोंके कारण तीन प्रकारके होते हैं। अतएव हे धनंजय! ज्ञान, कर्म और कर्तापर भी विश्वास नहीं करना चाहिये; कारण कि त्रिगुणोंमेंसे दो गुण रज और तम तो बन्धनकारक होते हैं और सिर्फ तीसरा सत्त्वगुण ही मोक्ष प्रदान करनेमें

करता है, ठीक वैसे ही हे पाण्डुसुत! आत्मा कर्म-कर्ता न होनेपर भी उन्हें प्रकट करती है; परन्तु जिस मनुष्यकी बुद्धि देहाभिमानके भ्रममें पड़े होनेके कारण सदा देहमें ही उलझी रहती है, उसके लिये आत्मज्ञानके विषयमें एकमात्र मध्य रात्रिका घोर अन्धकार ही रहता है। जो लोग चैतन्य ईश्वर अथवा ब्रह्मको देहकी सीमामें आबद्ध कर रखते हैं, उन्हें यह सिद्धान्त एकदम अटल प्रतीत होता है कि आत्मा ही कर्ता है; पर यह बात भी नहीं होती। उन्हें इस बातका भी दृढ़ निश्चय नहीं होता कि आत्मा ही कर्म-कर्ता है। अपितु वे वास्तवमें यही मानते हैं कि कर्म करनेवाला मैं शरीर ही हूँ। इसका प्रमुख कारण यही है कि वह कभी ऐसी बातें अपने श्रवणेन्द्रियोंतक पहुँचने भी नहीं देता कि मैं आत्मा हूँ और मैं एकमात्र समस्त कर्मोंका साक्षी हूँ। यही कारण है कि वह असीम आत्म-तत्त्वको इस देहसे मापनेकी चेष्टा करता है; पर इसमें आश्चर्य ही क्या है? उलूक क्या दिनको ही घोर अन्धकारवाली रात नहीं बना लेता? जिसने आकाशमें विद्यमान वास्तविक सूर्यको कभी न देखा हो, वह गड्ढेमें दिखायी देनेवाले सूर्यके प्रतिबिम्बको ही वास्तविक सूर्य क्यों न मान ले? उसके लिये तो जिस समयतक जलसे भरा हुआ गड्ढा रहता है, उस समयतक सूर्य भी रहता है। यदि वह गड्ढा नहीं रहा तो सूर्य भी नहीं रहा। केवल यही नहीं, यदि उस गड्ढेका जल हिलने लगा तो वह समझ लेता है कि सूर्य भी हिल-डुल रहा है। सोया हुआ व्यक्ति जबतक नहीं जागता, तबतक उसे स्वप्न ही सच्चा जान पड़ता है। जबतक मनुष्यको यह ज्ञान न हो जाय कि वास्तवमें यह डोरी है तबतक यदि उसे उस डोरीमें सर्पाभास होता रहे तथा उससे भय लगता रहे तो इसमें आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है? जबतक आँखोंमें पीलिया रोग रहेगा, तबतक चन्द्रमा पीत वर्णका ही दृष्टिगत होगा। यदि मृगजलके धोखेमें मृग आ जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी प्रकार जो व्यक्ति शास्त्रों और गुरुके नामकी हवातक अपने अंगमें नहीं लगने देता, जो एकमात्र मूर्खताके वशीभूत होकर अपना जीवन यापन करता है, वह

स्वरूप क्या है अथवा प्रयास करनेपर भी जैसे अपनी छाया पकड़ी नहीं जाती, वैसे ही जिस ज्ञानको शिवसे लेकर तृणपर्यन्त कोई कभी स्पर्श ही नहीं कर सकता, जैसे हाथसे चित्रको दबाकर उसे देखनेपर अथवा जलसे लवणको धोनेका प्रयत्न करनेपर; जागनेके बाद स्वप्नका अनुभव करनेपर कुछ भी शेष नहीं रह जाता, वैसे ही जिस ज्ञानके द्वारा ज्ञेयको देखनेपर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंमेंसे कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता अथवा जैसे स्वर्णको गलाकर उसमेंसे कोई अपनी इच्छानुसार आभूषण नहीं निकाल सकता; जलको छानकर उसमेंसे कोई लहरोंको पृथक् नहीं कर सकता, वैसे ही यह भी अच्छी तरहसे जान लेना चाहिये कि जिस ज्ञानके द्वारा किसी दृश्य स्थितिकी प्राप्ति नहीं होती, वास्तवमें वही ज्ञान पूर्णरूपसे सात्त्विक है। जिस समय कोई आदमी कुतूहलवश दर्पणको देखनेके लिये जाता है, उस समय उसे सामने स्वयं अपना ही रूप दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार जो ज्ञान ज्ञेयका नामोनिशान मिटाकर स्वयं ज्ञाता ही बन जाता है और जो ज्ञान मोक्ष लक्ष्मीका मन्दिर है, वास्तवमें वही सात्त्विक ज्ञान है। अस्तु, अब मैं तुमको राजस ज्ञानका लक्षण बतलाता हूँ, सुनो। (५२९—५३७)

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

हे पार्थ! सुनो, भेदके आधारपर जो ज्ञान अपने कदम आगे बढ़ाता है, उस ज्ञानको राजस ज्ञान कहते हैं। स्वयं भेदभावसे भूतमात्रके अनगिनत भेद करके तथा ज्ञाताको ही धोखेमें डालकर जो ज्ञान विचित्रता उत्पन्न करता है, जो ज्ञान वास्तविक आत्मज्ञानके क्षेत्रके बाहर मिथ्या मोहरूपी खंदकमें जीवको ठीक वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंका खेल दिखलाता है, जैसे प्रत्यक्ष दृष्टिगत होनेवाली वस्तुपर विस्मृतिका परदा डालकर निद्रा व्यक्तिको स्वप्नकी व्यर्थकी चिन्ताओंका अनुभव कराती है, जिस ज्ञानके कारण नाम तथा रूपकी ओटमें छिपा

भी कर्मकी समता तथा विषमता अथवा सुख-दुःखसे बाँधा नहीं जाता और इस प्रकार जो बन्धन-मुक्त हो जाता है, अब मैं उसीके लक्षणोंके बारेमें बतलाता हूँ। (३७७—४०२)

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

हे सुविज्ञ! जो जीव अनादिकालसे अविद्यारूपी नींदमें पड़ा हुआ विश्व-रूपी स्वप्नजालमें उलझा रहता है, वह तत्त्वमसिके महावाक्यका श्रवण करते ही और मस्तकपर गुरुकृपाका हाथ पड़ते ही तुरन्त विश्वके स्वप्नाभाससमेत मायारूपी निद्राका परित्याग कर सहसा अभेद भावके आनन्दसे जाग उठता है। जैसे चन्द्ररश्मियाँ निकलनेपर मृगजलकी स्पष्ट प्रतीत होनेवाली तरंगें लुप्त हो जाती हैं अथवा जैसे बाल्यावस्थाके निकल जानेपर मनमें बैठे हुए हौवेका भय चला जाता है अथवा ईंधन जल जानेपर फिर किसी प्रकार ईंधन नहीं बन सकता अथवा निद्रा समाप्त हो जानेपर जैसे स्वप्न नेत्रोंके समक्ष नहीं ठहरते, ठीक वैसे ही हे किरीटी! ऐसे जीवमें अहंता-ममता कहीं लेशमात्र भी नहीं रह जाती। अँधेरेकी तलाश करनेके लिये सूर्य चाहे किसी सुरंगमें ही क्यों न घुस जाय, पर फिर भी उसकी भेंट कभी अंधकारसे नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार जो जीव आत्मभावसे आवेष्टित हो जाता है, वह जिस दृश्य पदार्थकी ओर दृष्टिपात करता है वही पदार्थ स्वयं उस दृष्टिपात करनेवालेका ही रूप धारण करने लगता है और इस प्रकार उसके साथ मिलकर एकाकार हो जाता है। आग जिस वस्तुमें लगती है, वही वस्तु आगका रूप ग्रहण कर लेती है और फिर उन दोनोंमें दाह्य तथा दाहकका भाव स्वतः मिट जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस समय कर्मका आकार आत्मासे भिन्न मान लिया जाता है और उस कर्मको आकार प्रदान करनेके कर्तृत्वका आत्मापर होनेवाला मिथ्या आरोप नहीं रह जाता, उस समय फिर जो कुछ अवशिष्ट रह जाता है, वही आत्म-स्थिति है। इस आत्म-स्थितिका स्वामित्व जिसे मिलता है, वह क्या कभी इस देहमें बद्ध होकर रह सकता है?

गाँवमें छोड़े हुए उस श्वानकी भाँति होता है, जो सिर्फ उसी चीजको छोड़ता है जो उसके मुखमें नहीं समा सकता अथवा जिसके सेवन करते ही मुख जलने लगता है और जो शेष सभी चीजोंको हजम कर जाता है जो ज्ञान उस चूहेकी भाँति होता है, जो स्वर्णनिर्मित किसी चीजको खींचकर अपनी बिलमें ले जाते समय यह विचार नहीं करता कि उसका स्वर्ण असली है या नकली अथवा जो ज्ञान उस मांसभक्षी मनुष्यकी भाँति होता है जो मांस-भक्षण करते समय यह विचार नहीं करता कि यह मांस काले जानवरका है अथवा गोरे, अथवा जो ज्ञान वनमें लगनेवाली अग्निकी भाँति यह विचार नहीं करता कि यह कौन है और वह कौन है अथवा जो ज्ञान उस मक्खीकी भाँति होता है, जो किसी देहपर बैठते समय यह नहीं देखती कि यह मरा हुआ है या जीवित है अथवा जो ज्ञान उस काकपक्षीके ज्ञानकी भाँति होता है जो यह विचार ही नहीं करता कि यह वमित अन्न है या परोसा हुआ है, ताजा है या सड़ा हुआ है। आशय यह है कि जो ज्ञान यह विचार ही नहीं करता कि अमुक चीज निषिद्ध है और उसे त्याग देना चाहिये तथा अमुक चीज विहित है उसको स्वीकार करना चाहिये, जो उन समस्त चीजोंको अपने उपभोगका विषय बना लेता है जो उसके समक्ष उपस्थित होती हैं तथा जो ज्ञान प्राप्त होनेवाली हर एक स्त्रीको शिश्नके हवाले कर देता है और हर एक द्रव्यको उदरको सौंप देता है, जो ज्ञान जलपर दृष्टि पड़नेपर यह नहीं विचारता कि यह पवित्र है या अपवित्र है और जो केवल यही समझकर उसे सद्यः पान कर जाता है कि इससे मेरी प्यास तो बुझेगी और जो खाने-पीनेके विषयमें भी अपना यही सिद्धान्त रखता है और यह चीज खानेयोग्य है तथा यह चीज खाने-योग्य नहीं है, यह निन्दनीय है और यह अनिन्दनीय है इत्यादिका जरा-सा भी विचार नहीं करता तथा यही समझता है कि जो कुछ मुँहको भाता है, वही पवित्र है, स्त्री जातिके विषयमें भी जो सिर्फ अपनी स्पर्शेन्द्रियको ही निर्णायक समझता है और उसके संग शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना

कपूरकी गन्ध अवशिष्ट ही रहती है।

यदि गान खत्म भी हो जाय तो भी उसके कारण लोगोंको जो तन्द्रा आती है, वह शीघ्र ही दूर नहीं हो जाती अथवा यदि पृथ्वीके ऊपरी सतहसे पानी बह जाय तो भी उसकी कुछ नमी कुछ देरतक बनी ही रहती है और जिस समय सूर्य अस्ताचलकी ओर चला जाता है उस समय भी सन्ध्याके चबूतरेपर सूर्य-ज्योतिकी प्रभा कुछ देरतक क्रीड़ा करती ही रहती है। जिस वस्तुको ध्यानमें रखकर बाणका सन्धान किया जाता है, उस वस्तुका भेदन करनेके बाद भी वह बाण उतनी दूर और आगे निकल जाता है, जितना उसमें जोर रहता है। जिस समय चाकपर बर्तन बनाया जाता है और कुम्भकार उसे चाकपरसे उतार लेता है, उस समय भी चाक उस गतिके कारण, बर्तन न रहनेपर भी, कुछ समयतक चक्कर काटता ही रहता है, जो गति उसे पहले बर्तन निर्माणके समय प्राप्त होती है। ठीक इसी प्रकार देहाभिमानके मिट जानेपर भी हे धनंजय! देह जिस स्वभावसे उत्पन्न हुआ रहता है, वह स्वभाव देहसे स्वतः कर्म कराता ही रहता है। मनमें निरुद्देश्य भी स्वप्न दृष्टिगत होता है और बिना वृक्ष लगाये भी जंगलोंमें स्वतः वृक्ष उत्पन्न होते ही हैं तथा बिना निर्माण किये ही आकाशमें मेघोंकी इमारतें निर्मित होती ही रहती हैं। ठीक इसी प्रकार आत्माके द्वारा कोई क्रिया-कलाप न करनेपर भी देहके पाँच कारणोंसे समस्त कर्म स्वतः ही होते रहते हैं। पूर्व कर्मोंके संस्कारानुसार पाँच हेतुओं और पाँच कारणोंका मेल नाना प्रकारके कर्म करता ही रहता है। फिर चाहे उन कर्मोंके द्वारा सारे संसारका संहार हो और चाहे नूतन संसारकी सृष्टि हो, पर जैसे सूर्य कभी इस बातका विचार नहीं करता कि कुमुद क्यों सूखता है तथा कमल क्यों प्रस्फुटित होता है अथवा आकाशसे बिजलीकी बरसात होनेके कारण चाहे पृथ्वीके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ और चाहे शान्तपर्जन्य वृष्टिके कारण तृण इत्यादिसे पृथ्वी हरी-भरी हो जाय, पर जैसे आकाशको इन दोनों बातोंमेंसे एकका भी ज्ञान नहीं होता, ठीक वैसे ही जो देहमें ही विदेही होकर रहता है, वह भी वैसे

करते ? आशय यह कि जिस ज्ञानके कारण व्यक्तिके मनमें यह विचार उठता है कि यदि पलभरके लिये यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर नामकी कोई चीज है, तो वह सिर्फ पाषाण ही साबित होता है तथा आत्मा एकमात्र देह ही है, पाप-पुण्य इत्यादि जो दूसरी बहुत-सी बातें कही जाती हैं, उन्हें एकदम मिथ्या समझकर जो ज्ञान यह निश्चित कराता है कि सदा विषयोंमें ही लिप्त रहना तथा वनाग्निकी भाँति सर्वस्व हवन करते चलना ही ठीक है, उसी ज्ञानका नाम तामस है। जिस ज्ञानके कारण व्यक्तिके मनमें यह विश्वास उमड़ता है कि चर्मचक्षुओंको जो कुछ दृष्टिगोचर होता है तथा इन्द्रियाँ जिस चीजकी चसका लगा दें, वही चीजें ठीक हैं, उसी ज्ञानको तामस कहते हैं।

किं बहुना, हे पार्थ, यही विचारधारा बढ़ती-बढ़ती इस प्रकारका रूप धारण कर लेती है कि जैसे धूम्रमेघ आकाशमें व्यर्थ ही इधर-उधर चक्कर काटते हैं अथवा जैसे कुछ जंगली वनस्पतियाँ न तो हरी रहनेपर ही किसी उपयोगमें आती हैं और न सूखनेपर ही उपयोगी सिद्ध होती हैं और स्वतः बढ़ती-बढ़ती अन्ततः विनष्ट हो जाती हैं अथवा जैसे ईक्षुका ऊर्ध्व भाग, नपुंसक मनुष्य अथवा करीलके वृक्ष चाहे कितने ही क्यों न बढ़ें, पर वे किसी कामके नहीं होते हैं अथवा बालकका मनोरथ, चोरोंके घरका धन तथा बकरीके गलेमें निकला हुआ स्तन चाहे देखनेमें कितना ही खूबसूरत क्यों न हो पर फिर भी एकदम निष्फल होता है, ठीक वैसे ही जो ज्ञान व्यर्थ और तेजशून्य दृष्टिगत होता है, उसीको मैं तामस ज्ञान कहता हूँ। वास्तवमें तो उसे 'ज्ञान' कहना ही समीचीन नहीं है, पर फिर भी जो मैं उसे ज्ञान कहता हूँ उसका एकमात्र कारण यही है कि जैसे जन्मान्धकी आँखें देखनेमें बहुत अच्छी जान पड़ती हैं अथवा बहरेके कान देखनेमें ठीक लगते हैं अथवा मद्यको जैसे लोग 'पान' कहते हैं, ठीक वैसे ही उस तामस ज्ञानका भी यह 'ज्ञान' नाम एकमात्र संकेत-सूचक है। आशय यह कि जो ज्ञान तामसी वृत्तिका होता है, वह वास्तवमें

201

खड़े पुजारीको एकदम सत्य जान पड़ता है; पर वास्तवमें चण्डिका, महिषासुर और शूल—ये तीनों ही स्वर्णनिर्मित होते हैं। चित्रोंमें अग्नि तथा जल—इन दोनोंको ही एकदम ज्यों-के-त्यों दिखलाये जाते हैं, पर यह सारा-का-सारा खेल दृष्टिका ही होता है। वास्तवमें चित्रपटमें न तो अग्नि ही होती है और न तो जल ही होता है। ठीक इसी प्रकार मुक्त अथवा विदेही व्यक्तियोंके देह एकमात्र प्राचीन संस्कारोंके कारण ही चलते-फिरते हैं; पर अज्ञानियोंकी समझमें यह रहस्य तो आता ही नहीं और यही कारण है कि वे मुक्त व्यक्तियोंको ही उन क्रियाओंका कर्ता समझते हैं; परन्तु यदि स्वाभाविक क्रियाओंके द्वारा तीनों लोकोंका भी नाश हो जाय तो भी कभी यह नहीं समझना चाहिये कि यह नाश उन मुक्त अथवा विदेही व्यक्तियोंके द्वारा किया गया है। भला यह कहना कहाँकी बुद्धिमत्ता है कि हम सर्वप्रथम प्रकाशके सहयोगसे अन्धकारको देखेंगे और फिर उसका नाश कर डालेंगे? कारण कि प्रकाशके आते ही अन्धकार तो स्वतः विनष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्तिमें ज्ञानके सिवा अन्य कोई भाव ही नहीं रहता और उसे मारनेके लिये स्वयं अपनेसे भिन्न अन्य कोई चीज ही शेष नहीं रह जाती। यही कारण है कि पाप और पुण्यकी गन्ध उसकी बुद्धिमें लेशमात्र भी नहीं होती। यदि कोई नदी आकर गंगामें समा जाय तो भी गंगा उससे कभी मैली नहीं होती। ठीक वही बात यहाँ भी है।

हे धनंजय! यदि अग्नि अग्निके साथ संघर्ष कर बैठे तो भला उनमेंसे कौन किसे भस्म करेगी? यदि शस्त्र स्वयंपर ही प्रहार करे, तो उससे क्या होगा? इसी प्रकार जिसको यह पता ही नहीं है कि कर्म मुझसे पृथक् है, वह अपनी बुद्धिपर उन कर्मोंका लेप ही किस प्रकार लगा सकता है? कार्य, कर्ता और क्रिया—इन तीनोंकी त्रिपुटी जिस व्यक्तिके विषयमें आत्मरूप ही हो जाती है, उसके लिये देह इत्यादिसे होनेवाले कर्म कभी बन्धनकारक नहीं हो सकते। इसका प्रमुख कारण यह है कि जो जीव स्वयंको कर्ता मानता है, वह दस इन्द्रियोंके औजारोंसे पाँच प्रकारके हेतुओंको बड़ी

ठीक इसी प्रकारकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये। ऐसी दशामें यदि काम न पूरा उतरे तो विषाद कभी मनुष्यको दुःखी नहीं करता अथवा यदि वह पूरा हो जाय तो वह अत्यधिक प्रसन्न नहीं होता। हे धनंजय! ऐसी युक्तियोंसे जिन कर्मोंको किया जाता है, वे कर्म अपने इसी गुणके कारण सात्त्विक कहलाते हैं। अब मैं तुमको राजस कर्मके लक्षणके बारेमें बतलाता हूँ। तुम अपना अवधान (एकाग्रता) कम मत होने दो। (५८६—५९४)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

जैसे कोई मूढ़ व्यक्ति अपने घरमें माता-पिताके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता, पर बाहर सारे संसारका आदर करता है अथवा तुलसीके बिरवेमें तो कभी दूरसे भी जलका एक छींटा भी नहीं डालता, पर द्राक्षाकी जड़ दूधसे सींचता है, ठीक वैसे ही जो नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके लिये तो अपने बैठनेकी जगहसे कभी उठनेका नाम भी नहीं लेता और कोई अपने स्वार्थकी बात आनेपर अपने देहको पीड़ित करनेमें भी कोई विशेष हानि नहीं समझता और जैसे कोई अच्छी फसल उत्पन्न करनेके लिये बीज बोते समय कभी यह नहीं कहता कि बीज बोनेका काम बहुत हो चुका, ठीक वैसे ही जिसे उस जगहपर द्रव्य खर्च करनेमें कुछ भी चिन्ता नहीं सताती, जिस जगहसे उसे यथेष्ट लाभकी आशा होती है अथवा जैसे पारस पत्थरके प्राप्त हो जानेपर रसायनविद् (कीमियागर) लौह खरीदनेहेतु अपना सारा वैभव भी बहुत प्रसन्नतासे बेच डालता है, ठीक वैसे ही राजस्वकर्ता भी आगे मिलनेवाले फलपर दृष्टि रखकर बड़े-बड़े कष्टसाध्य काम्य कर्म करता है और ऐसे चाहे कितने ही अधिक कर्म वह क्यों न सम्पन्न कर डाले, पर फिर भी वह उन सबको अत्यल्प ही समझता है। वह फलाशामें उलझा रहता है और यही कारण है कि जितने काम्य कर्म हैं वे सब बहुत अच्छी तरहसे यथाविधि करता है और साथ-ही-साथ वह जो-जो काम करता है उन सबका ढिंढोरा भी पीटता चलता है और सारे जगत्में अपने नामके महत्त्वका गान करते

ही जो ज्ञान तीन स्थानोंमें अपना विधान करता है और जो ज्ञान अपनी दौड़के मार्गमें सामने ज्ञेय यानी ज्ञान-विषयका गोला फेंककर अपने पीछेकी ओर ज्ञातृत्वके अभिमानकी सृष्टि करता है तथा इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेयके मध्यमें सम्बन्ध स्थापित करनेका मार्ग प्रस्तुत होनेपर जिस ज्ञानके सहयोगसे इस मार्गपर आवागमन निरन्तर चलता रहता है, ज्ञेयकी सीमातक ही जिस ज्ञानकी दौड़ होती है और जो सम्पूर्ण पदार्थोंको भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है, निःसन्देह वह ज्ञान सामान्य ज्ञान है। अब मैं तुमको ज्ञेयके भी लक्षण बतलाता हूँ, मन लगाकर सुनो।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच प्रकारके लक्षण ज्ञेयके हैं। जैसे एक ही आम अपने गन्ध, रंग और रस इत्यादिके द्वारा भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंको स्पर्श करके अपना भास कराता है, वैसे ही ज्ञेय भी होता तो एक ही है पर ज्ञान इन्द्रियोंके मार्गसे उस ज्ञेयका ग्रहण करता है और इसीलिये वह ज्ञेय पाँच प्रकारका होता है। जैसे जलप्रवाह अन्ततः समुद्रमें घुसते ही समाप्त हो जाता है अथवा अनाजके पौधोंकी बाढ़ उनमें बालें लगते ही समाप्त हो जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके प्रवाहके साथ-साथ दौड़ लगानेवाले ज्ञानका जिसमें अवसान होता है, हे किरीटी! उसीको ज्ञेय अर्थात् ज्ञानका विषय कहते हैं। हे धनंजय! इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके बारेमें मैंने तुम्हें बतला दिया है। समस्त क्रियाओंकी उत्पत्ति इन्हीं तीनोंसे होती है। जो शब्द इत्यादि विषय हैं, वे तो इन्हीं पाँच प्रकारोंके हैं; पर जो ज्ञेय है, वह या तो प्रिय होता है अथवा अप्रिय। हे धनंजय! ज्ञेय ज्यों ही जरा-सा भी ज्ञान सम्मुख लाकर खड़ा करता है, त्यों ही ज्ञाता उस विषयको या तो स्वीकार अथवा त्याग करना शुरू कर देता है। जैसे किसी मत्स्यको देखते ही बगला अथवा द्रव्यको देखकर रंक अथवा किसी स्त्रीको देखते ही कामी व्यक्ति विचलित हो जाता है और उसे पानेकी लालसा करता है अथवा जैसे ढालकी तरफ जल या फूलोंकी सुगन्धकी ओर भ्रमर अथवा सन्ध्याकालको दुग्ध-दोहनके समय

जाल बिछाना इत्यादि समस्त काम एकदम निष्फल होते हैं तथा व्यर्थ जाते हैं, ठीक वैसे ही जो कर्म करनेपर एकदम ही व्यर्थ जाते हैं और जिनका कुछ भी फल नहीं होता अथवा यदि वे कर्म व्यर्थ न भी जायँ तो भी मनुष्यदेह-सरीखी बहुमूल्य वस्तुको खर्च करके जिन कर्मोंका आचरण करनेके कारण संसार-सुखका क्षय होता है, वे समस्त कर्म तामस कोटिके होते हैं। अथवा जैसे कमलोंपर काँटेदार जाल फेंकनेसे उस जालके काँटे भी टूटते हैं और कमलदल भी फट जाते हैं अथवा जैसे दीपकके साथ द्वेष भावके कारण पतंगे उसपर टूट पड़ते हैं तथा अपना ही अंग जलाकर राख कर देते हैं और दीपकको बुझाकर दूसरोंके लिये अँधेरा कर देते हैं, ठीक वैसे ही चाहे अपना सर्वस्व व्यर्थ ही विनष्ट क्यों न हो जाय, यहाँतक कि अपने देहका भी नाश क्यों न हो जाय, पर फिर भी जिन कर्मोंके द्वारा जान-बूझकर दूसरोंका अहित किया जाता है, जिन कर्माचरणसे उस मक्खीकी दुष्टताका स्मरण हो आता है जो अपने खाने-पीनेकी समस्त चीजें तो मनुष्योंसे ही पाती है, पर फिर भी अपने व्यवहारसे जो मनुष्यको वमनका क्लेश पहुँचाती है, वे सब तामस कोटिके कर्म होते हैं, और ये समस्त कर्म बिना इस बातका विचार किये हुए ही सम्पन्न किये जाते हैं कि इन्हें सम्पन्न करनेको सामर्थ्य हममें है भी अथवा नहीं। यह विचार नहीं किया जाता कि हमारी सामर्थ्य कितनी है, यह कार्य करनेमें कितनी झंझटें उठानी पड़ेंगी और अन्ततः इससे हमारी फलसिद्धि ही क्या होगी। ऐसी समस्त बातोंका विचार अविवेकके साथ पैरोंतले कुचला जाता है और तब ऐसे कर्म करनेका आयोजन किया जाता है। आग पहले अपने ही रहनेके स्थानको जलाकर आस-पास फैलती है और समुद्र पहले अपनी ही मर्यादा डुबाकर ऊपर उछलता है। फिर वह आग या वह समुद्र छोटे बड़ेका कुछ भी विचार नहीं करता, आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखता तथा टेढ़े-मेढ़े एवं सीधे-साधे मार्गोंको एकाकार करता जाता है तथा उसका यह क्रम अनवरत जारी रहता है। ठीक इसी प्रकार भले-बुरे आदिका बिना विचार किये तथा अपने और

अथवा त्यागके लिये ज्ञाता अपनी इन्द्रियोंको काममें प्रवृत्त करता है और उस समय ज्ञाता ही कर्ता बन जाता है। जब इस प्रकार ज्ञाता ही स्वयं कर्ता हो जाता है, उस समय वह ज्ञानको साधन बनाता है तथा उससे 'ज्ञेय' स्वतः 'कार्य' हो जाता है। इस प्रकार हे सुविज्ञ! यह परिवर्तन ज्ञानकी करनीसे हो जाता है। रात जैसे आँखोंकी शोभा बदल देती है अथवा जैसे भाग्यके प्रतिकूल हो जानेपर ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्तिका समस्त धन समाप्त हो जाता है; पूर्णिमाके बाद जैसे चन्द्रबिम्बमें भी बदलाव आने लगता है और वह निरन्तर घटने लगता है, वैसे ही इन्द्रियोंकी गतिके योगसे ज्ञाताके चतुर्दिक् कर्तृत्वका पेंच बैठने लगता है। अब उस दशामें उसमें जो-जो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वह भी मन लगाकर सुनो।

बुद्धि, मन, चित्त तथा अहंकार—ये सब अन्तरिन्द्रियाँ हैं तथा त्वचा, कान, आँख, जीभ और नाक—ये पाँच बाह्य अंगोंकी इन्द्रियाँ हैं। इनमेंसे अन्तरिन्द्रियोंके द्वारा तो कर्ता अपने कर्तव्यका अनुमान करता है और तब यदि उसे यह निश्चय होता है कि उस कर्तव्यका पालन सुखका कारण होगा तो वह चक्षु इत्यादि बाहरकी दसों इन्द्रियोंको उस काममें नियुक्त कर देता है। फिर जिस समयतक उस कर्तव्यकी सिद्धि नहीं होती उस समयतक वह उन समस्त इन्द्रियोंको उनमें नियुक्त किये रहता है। इसके विपरीत यदि उसे इस बातका अनुभव होता है कि वह कर्तव्य दुःखका कारण होगा, तो वह तत्क्षण ही अपनी दसों इन्द्रियोंसे उसका त्याग करनेमें लग जाता है और वह उस समयतक अपनी समस्त इन्द्रियोंको उसके त्यागके काममें संलग्न किये रहता है, जिस समयतक दुःखका निर्मूल नहीं हो जाता। जैसे कोई नृप अपना कर वसूलनेके लिये अपने समस्त सेवकोंको अहर्निश लगाये रहता है, वैसे ही जब समस्त इन्द्रियाँ भी किसी काममें नियुक्त की जाती हैं, तब हे पार्थ! यह बात तुम अच्छी तरहसे समझ लो कि उस ज्ञाताको कर्ता नामसे सम्बोधित करते हैं और कर्ता अपने समस्त कार्योंमें इन्द्रियोंको यन्त्रोंकी भाँति लगाये रहता है और यही कारण

रहनेपर भी जो देह-सम्बन्धी सुखोंके जालमें नहीं उलझता, जिसमें आलस्य तथा निद्रा रत्तीभर भी नहीं रह जाती, जो कभी भूखसे व्याकुल नहीं होता और देहका सुख जिसे रुचिकर नहीं लगता और इतना सब कुछ होनेपर भी कर्मोंके प्रति जिसका उत्साह ठीक वैसे ही निरन्तर बढ़ता हुआ दृष्टिगत होता है, जैसे मिलावटके भस्म हो जानेके कारण वजन कम हो जानेपर भी स्वर्ण उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है, वही सात्त्विक कर्ता कहलाता है। यदि मनमें किसी चीजका अनुराग भरा हो तो प्राण केवल तुच्छ जान पड़ते हैं। जिस समय कोई पतिपरायणा स्त्री अपने पतिके वशीभूत होकर सती होनेके लिये उद्यत होती है, उस समय क्या अग्निमें प्रवेश करते समय कभी भयसे उसे रोमांच होता है? ऐसी स्थितिमें हे धनंजय! जो पुरुष आत्मस्वरूप-सरीखे प्रिय चीजको पानेके लिये उद्यत होता है, वह क्या कभी इस बातका अफसोस कर सकता है कि मेरा देह क्षीण हो गया? यही कारण है कि जिसकी विषयेच्छा कम होती जाती है और ज्यों-ज्यों देहाभिमान मिटता जाता है, त्यों-त्यों कर्माचरणमें जिसे द्विगुणित आनन्द प्राप्त होता है और इस प्रकार जो निरन्तर द्विगुणित आनन्दसे कर्मोंका आचरण करता चलता है और यदि कभी कोई आरम्भ किया हुआ कार्य किसी कारणसे अधूरा ही रह जाय, तो भी उस कार्यके बिगड़नेके कारण जिसे वैसे ही कोई दुःख नहीं होता जैसे पर्वतपरसे लुढ़ककर जमीनपर गिर पड़नेवाली गाड़ी कभी अपने लिये कोई दुःख नहीं करती अथवा कोई आरम्भ कर्म सिद्ध हो जानेपर जो चतुर्दिक् उसकी जय-घोषणा नहीं करता फिरता। आशय यह कि जो इन समस्त लक्षणोंसे युक्त होकर कर्म करता हुआ दृष्टिगत होता है, हे पाण्डुसुत! वास्तवमें वही सात्त्विक कर्ता होता है। हे धनंजय! राजस कर्ताको पहचाननेका लक्षण यह है कि वह सांसारिक वासनाओंमें ही सदा निमग्न रहता है। (६३१—६४९)

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

समर्थ होता है। अब मैं इन त्रिगुणोंके लक्षण इस प्रकार पृथक्-पृथक् करके बतलाता हूँ जिससे तुम सत्त्वगुणको भलीभाँति पहचान लो। सांख्यशास्त्रमें इस गुण-भेदका स्पष्टीकरण अच्छी तरह किया गया है।

जो सांख्यशास्त्र विचारका क्षीरसागर है, जो आत्मबोधरूपी कुमुदिनीको प्रस्फुटित करानेवाला चन्द्रमा है, जो ज्ञानकी दृष्टि देनेवाले शास्त्रोंका राजा है अथवा जो अहर्निशकी तरह एकमें सम्पृक्त प्रकृति तथा पुरुषको स्पष्ट रूपसे पृथक्-पृथक् दिखलानेवाला प्रचण्ड मार्तण्ड ही है, जिस शास्त्रके सहयोगसे अपरिमित अज्ञानराशि चौबीस तत्त्वोंकी माप-तौल करके परम तत्त्व ब्रह्मका अखण्ड आनन्द भोगा जा सकता है, हे अर्जुन! उस सांख्यशास्त्रने जो कुछ कहा है, वह गुण-भेदका आख्यान मैं तुम्हें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो।

जिस दृष्टिसे अपने अंगकी सामर्थ्यसे इन त्रिगुणोंने त्रिविधताके रंगसे सम्पूर्ण दृश्य जगत्को रँगा है, उस दृष्टिसे सत्त्व, रज और तमका महत्त्व सिर्फ इतना ही है कि ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त सभी इन गुणोंके कारण त्रिविध हो गये हैं। पर मैं सर्वप्रथम तुमको उस ज्ञानके सम्बन्धमें बतलाता हूँ जिसने इस सम्पूर्ण विश्वका भेदन किया है और इसीलिये जो स्वयं भी गुण-भेदके चक्करमें पड़ गया है। बात यह है कि जब दृष्टि स्वच्छ होती है, तब प्रत्येक वस्तु स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार जब शुद्ध ज्ञान उप[illegible]ब्ध होता है, तब सब कुछ शुद्ध हो जाता है। कैवल्य गुणनिध[illegible] श्रीकृष्ण कहते हैं कि अब मैं सात्त्विक ज्ञानका वर्णन [illegible] सुनो। (५१७—५२८)

येनैकं [illegible] भावमव्ययमीक्षते।
[illegible] तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

[illegible] त्विक ज्ञान ही निर्मल होता है, इसके उदय [illegible] में विलीन हो जाते हैं। जैसे अन्धकारको [illegible] सको यह ज्ञान नहीं होता कि नदीका

नियुक्[illegible] लो कि उस [illegible] समस्त कार्योंमें इन्द्रि[illegible]

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

जैसे अग्निको इस बातका पता नहीं होता कि मेरे ही कारण दूसरी वस्तुएँ कैसे जलती हैं अथवा जैसे शस्त्रको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि मेरे धारकी तीक्ष्णताके कारण दूसरोंको असह्य वेदना किस प्रकार होती है अथवा जैसे कालकूट नामक विषको अपने घातक कृत्यका ज्ञान नहीं होता, ठीक वैसे ही हे धनंजय! जो अपने समक्ष पड़नेवाले जीवोंका घात करके अपने दुष्कर्म जारी रखता है तथा उन दुष्कर्मोंको करते समय स्वेच्छानुसार बड़ी तीव्र गतिसे दौड़ लगानेवाले बादलोंकी भाँति इस बातका जरा-सा भी ध्यान नहीं रखता कि मैं क्या कर रहा हूँ और हे धनंजय! जिसके कार्य-कारणमें ताल-मेल न होनेके कारण विक्षिप्त व्यक्ति भी जिसके सामने पासंगतक नहीं ठहरता तथा बैलके उदरमें लगी हुई किलनीकी भाँति जो इन्द्रियोंके बढ़े हुए विषयभोगके आधारपर अपना जीवन चलाता है, जिसका रहन-सहन उस बालककी भाँति होता है, जो कभी स्वतः हँस पड़ता है और कभी रुदन करने लगता है, मायाके वशीभूत होनेके कारण जिसे यह पता ही नहीं होता कि करणीय क्या है, अकरणीय क्या है और एकमात्र कूड़ा-करकटके कारण बढ़नेवाले कूड़ेखानेकी भाँति जो सिर्फ मिथ्या समाधानसे ही फूला रहता है और इसीलिये जो अपनी अहं मन्यताके कारण स्वयं ईश्वरके सम्मुख भी सिर नहीं झुकाता और अपनी ऐंठके आगे पहाड़को भी कुछ नहीं समझता है और जिसका मन कपटी तथा रहन-सहन चोरोंकी भाँति होता है तथा दृष्टि मानो बाजारमें बैठनेवाली वेश्याओंकी दृष्टि-जैसी होती है, किं बहुना जिसकी पूरी-की-पूरी देह ही कपटसे निर्मित होती है, जिसका जीवन मानो जुआरियोंका अड्डा होता है, जिसके दर्शनको मानो दर्शन नहीं अपितु स्वार्थी भीलोंका गाँव ही जानना चाहिये और इसीलिये जिसके रास्ते कभी किसीको जाना ही नहीं चाहिये, दूसरोंके सद्कृत्य जिसके चित्तमें काँटेकी भाँति चुभते हैं और दूसरोंके

हुआ अद्वैत तत्त्व वैसे ही दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे आभूषणकी ओटमें छिपा हुआ स्वर्ण किसी बालकको दृष्टिगत नहीं होता, जिस ज्ञानके कारण अद्वैत तत्त्वका वैसे ही पता नहीं लगने पाता, जैसे घटके रूपमें दृष्टिगत होनेवाली मृत्तिका अज्ञानियोंको दृष्टिगत नहीं होती अथवा दीपककी भावना होनेके कारण उसमें विद्यमान अग्निका ज्ञान नहीं होता अथवा किसी चीजका नाम वस्त्र पड़ जानेके कारण अज्ञानियोंको उसके सूतका ज्ञान नहीं होता, जिस ज्ञानके कारण जीवमात्र भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं और ऐक्य बुद्धि नष्ट हो जाती है और तब जैसे ईंधनके कारण अग्निपर, पुष्पोंके कारण सुगन्धपर अथवा लहरोंके कारण पूर्ण चन्द्रमापर भेदभावका आरोप किया जाता है, ठीक वैसे ही जो ज्ञान तरह-तरहके पदार्थोंका भेद करके उनके रूपों तथा आकारोंके अनुसार उनके छोटे-बड़े अनेक वर्गीकरण करता है, वही राजस ज्ञान कहलाता है। चाण्डालके घरसे बचनेहेतु इस चीजकी जानकारी रखनी पड़ती है कि वह कहाँ और कैसा है। ठीक इसी प्रकार तामस ज्ञानके लक्षणोंका जानना भी अत्यावश्यक होता है। अतएव अब मैं तुमको उनके लक्षण भी बतलाता हूँ। तुम उन्हें भलीभाँति जान लो। (५३८—५४८)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

हे किरीटी! जो ज्ञान शास्त्रविधिरूपी वस्त्रको धारण नहीं करता और इसीलिये जिसके निर्वस्त्र होनेके कारण जिसकी ओर सदाचारकी माता श्रुति कभी भूलकर भी नहीं देखती और जिस ज्ञानको शास्त्रके बहिष्कारके कारण निन्दाकी भी परवाह नहीं होती और यही कारण है कि जिसे दूसरों (स्मृति आदि)-ने भी म्लेच्छ धर्मरूपी पर्वतकी ओर हाँक दिया है, जो ज्ञान इस प्रकार तमोगुणरूपी पिशाचसे आविष्ट होनेके कारण विक्षिप्तोंकी भाँति इधर-उधर भटकता रहता है, जो ज्ञान देह-सम्बन्धी किसी प्रकारका अवरोध नहीं मानता, जो किसी भी चीजको निषिद्ध नहीं समझता, जो ज्ञान वीरान

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥ २९॥

अब अविद्यारूपी गाँवमें मोहरूपी वस्त्र पहनकर और अपने देहपर संशय-वृत्तिरूपी अलंकार धारण करके समस्त अवयवोंसहित आत्मनिश्चयकी शोभा जिस दर्पणमें देखी जाती है, उस दर्पणका नाम बुद्धि है और इस बुद्धिका प्रवाह भी त्रिविध है। इस संसारमें ऐसा कौन-सा पदार्थ है जो सत्व इत्यादि त्रिगुणोंके योगसे तीन प्रकारका न हुआ हो। क्या इस जगत्में कहीं कोई ऐसा भी काष्ठ है जिसके अन्त:प्रदेशमें अग्निका निवास न हो? इसी प्रकार इस दृश्य जगत्में भला ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है जो इन त्रिगुणोंके कारण तीन प्रकारकी न हुई हो? यही कारण है कि इन त्रिगुणोंके योगसे बुद्धि भी त्रिविध हो गयी है और वही दशा धृतिकी भी हुई है। अब इसी बुद्धि और धृतिकी त्रिविधता उनके भिन्न-भिन्न लक्षणोंसहित स्पष्ट की जायगी, पर हे धनंजय! बुद्धि और धृति—इन दोनोंमेंसे सर्वप्रथम मैं बुद्धिके तीनों प्रकारोंका विवेचन करता हूँ। हे वीरशिरोमणि! इस संसारमें जितने भी प्राणी आते हैं, उन सबके लिये उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीनों मार्ग सदा खुले रहते हैं। ये तीनों मार्ग नित्य-नैमित्तिक विहित कर्म, कामिक कर्म और निषिद्ध कर्म हैं। संसार-भयके कारण ये तीनों ही मार्ग जीवोंके लिये कष्टकारक होते हैं। (६९०—६९८)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

यही कारण है कि इन समस्त कर्मोंमें वह नित्य कर्म ही सर्वश्रेष्ठ है जो व्यक्तिके अधिकारको सुशोभित करता है और एकमात्र स्वाभाविक क्रमसे प्राप्त होता है। एकमात्र आत्मप्राप्तिके फलपर दृष्टि रखकर उन्हीं नित्य कर्मोंका ठीक वैसे ही आचरण करना चाहिये जैसे पिपासित व्यक्ति जल पीता है। बस, इतनेसे वे कर्म जन्म-भयका संकट मिटा करके मोक्षकी उपलब्धि कराते हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार नित्य कर्मोंको करता है, उसका सांसारिक भय बिलकुल छूट जाता है और कर्म करके वह मुमुक्षुओंका

ही अपना प्रधान लक्ष्य रखता है तथा एकमात्र उसीको अपना सगा समझता है जिससे उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होता है और सगे-सम्बन्धियोंके लिये शारीरिक सम्बन्धको कुछ भी महत्त्व नहीं देता, आशय यह कि जिस ज्ञानके कारण इस प्रकारका विचार उत्पन्न होता है, वही ज्ञान तामस कहलाता है।

मृत्यु सबको निगल जाती है और अग्नि सब कुछ भस्म कर डालती है। इसी प्रकार तामस ज्ञानवालेको भी निरन्तर यही जान पड़ता है कि समस्त संसार एकमात्र मेरे ही उपभोगके लिये है, इस प्रकार जो व्यक्ति यह मान लेता है कि सम्पूर्ण विश्व सिर्फ मेरे ही उपभोगका विषय है तो उसके झोलीमें मात्र एक ही फल आता है—वह है अपने देहका पोषण करना। जैसे आकाशसे गिरे हुए जलका अन्तिम आश्रयस्थान एकमात्र समुद्र ही होता है, वैसे ही तामसी ज्ञानके समस्त कृत्य भी एकमात्र निज उदर-पोषणहेतु ही होते हैं। यही नहीं, जिस ज्ञानमें यह विचार ही नहीं होता कि स्वर्ग तथा नरक नामकी भी कोई चीज है तथा हमें स्वर्ग पानेके लिये और नरकसे बचनेके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये और इन सबकी जानकारीके लिये जिस ज्ञानमें सिर्फ अन्धकार-ही-अन्धकार भरा होता है, जिस ज्ञानकी पकड़ सिर्फ यहींतक होती है कि देह-पिण्ड ही आत्मा है तथा देवता सिर्फ पत्थरकी प्रतिमा हैं, जो ज्ञान यह बतलाता है कि देहका नाश होते ही सम्पूर्ण कृत्योंसहित आत्मा भी विनष्ट हो जाती है और तब कर्म-भोगहेतु कोई बच ही नहीं पाता अथवा यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर है तथा वही सबको भोग भोगनेमें प्रवृत्त करता है तो जो ज्ञान व्यक्तिके मनमें यह विचार उत्पन्न करता है कि चलो, उस ईश्वरको ही बेच खाओ जिससे सारे बवाल ही खत्म हो जायँ अथवा यदि यह मान लिया जाय कि हमारे गाँवके मन्दिरमें पत्थरका जो ईश्वर रखा हुआ है, वास्तवमें वही पूरे विश्वका नियमन करनेवाला है तो जो ज्ञान मनुष्यसे यह कहलाता है कि तो फिर ये देशभरके पहाड़ क्यों मौन साधे रहते हैं और यही पूरे विश्वका नियमन क्यों नहीं

करती है और साथ ही जिस बुद्धिके द्वारा कृत्य-अकृत्यका निर्णय भी उत्तम प्रकारसे होता है, यह बात तुम अच्छी तरहसे समझ लो कि वही बुद्धि सात्त्विक है। (६९९—७१७)

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

बगुलोंके गाँवमें जैसे जल मिला हुआ दूध ग्रहण किया जाता है अथवा जैसे नेत्रहीनको अहर्निशकी पहचान नहीं होती अथवा जो मधुप पुष्पोंका मकरन्द निकाल सकता है, वह यदि काष्ठको छेदनेमें प्रवृत्त हो तो भी उसकी मधुपता समाप्त नहीं होती, ठीक वैसे ही जो बुद्धि धर्मरूप उचित कर्मों और अधर्मरूप निषिद्ध कर्मोंका विचार न करके व्यवहार करती है, वह बुद्धि राजसी कहलाती है। जो नेत्रोंके सहयोगके बिना ही मोती लेता है उसे शायद ही शुद्ध मोती प्राप्त होती है और उसके खातेमें शुद्ध मोतीका न मिलना ही आता है। ठीक इसी प्रकार यदि दैववश निषिद्ध कर्म न प्राप्त हों, तभी जो बुद्धि उन निषिद्ध कर्मोंसे बचती है और नहीं तो सामान्यतः जो बुद्धि करणीय और अकरणीय सभी प्रकारके कर्मोंको एक-सा समझती तथा समानरूपसे करती चलती है, उसी बुद्धिका नाम राजसी है। जैसे पात्र और अपात्रका विचार न करके समस्त जनसमुदायको निमन्त्रित कर दिया जाता है, ठीक वैसे ही इस प्रकारकी बुद्धि भी शुद्धि और अशुद्धिका विचार नहीं करती और सभी तरहके कर्मोंको अंगीकार करती है। (७१८—७२३)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

और जैसे चोरोंके लिये राजमार्ग हितकर नहीं होता और वे जिस समय चलते हैं, उस समय प्रायः राजमार्गसे बचकर चलते हैं अथवा लोगोंके लिये जो दिन होता है, राक्षसोंके लिये वही रात होती है; जैसे किसी भाग्यहीनको जमीनमें गड़ा हुआ खजाना कोयलोंका ढेर ही प्रतीत

ज्ञान ही नहीं है। उसे तो प्रत्यक्ष अन्धकार ही जानना चाहिये।

हे श्रोत्रशिरोमणि! इस प्रकार त्रिगुणोंके कारण होनेवाले ज्ञानके तीनों प्रकार मैंने तुम्हें समस्त लक्षणोंके साथ बतला दिये हैं। अब हे धनुर्धर! इसी तीन प्रकारके ज्ञानके प्रकाशसे कर्ताओंकी समस्त क्रियाएँ चलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इसीलिये जैसे चलते हुए प्रवाहके समक्ष जो जल आता है, वह उसीमें मिलकर उसके साथ प्रवाहित होने लगता है, वैसे ही कर्म भी तीनों प्रकारके ज्ञानके तीनों मार्गोंपर चलते रहते हैं और एक ही कर्म ज्ञानके तीन भेदोंके कारण तीन प्रकारका हो जाता है। अब मैं उनमेंसे सर्वप्रथम सात्त्विक कर्मके लक्षणके सम्बन्धमें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (५४९—५८५)

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

जैसे पतिपरायणा स्त्री अपने प्रिय पतिको आलिंगन करती है, वैसे ही अधिकारानुसार जो कर्तव्य स्वभावतः आकर हमारे गले पड़ते हैं, जो कर्तव्य हमारे अधिकारके कारण हमारे लिये ठीक वैसे ही भूषण होते हैं, जैसे श्यामवर्णके शरीरमें चन्दनका लेप अथवा तारुण्य अवस्थावाली स्त्रीकी आँखोंमें काजल शोभा देता है, वही नित्य कर्म हैं और वे अच्छे ही होते हैं और यदि नैमित्तिक कर्म भी उनके साथ मिल जायँ, तब तो मानो सोनेमें सुगन्ध ही आ जाती है। माता अपने बच्चेका भरण-पोषण अपनी आत्मा तथा तन मनको नाना प्रकारके कष्ट देकर भी करती है, पर फिर भी उसका मन कभी ऊबता नहीं। ठीक इसी प्रकार समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये, पर उन कर्मफलोंकी ओर एकदम दृष्टि नहीं रखनी चाहिये और समस्त कर्म ब्रह्मार्पण कर देने चाहिये। जिस समय कोई स्त्री अपने पति तथा प्रियजनोंको भोजन परोसने लगती है, उस समय उसके मनमें यह भावना ही नहीं जगती कि यह सम्पूर्ण भोजन समाप्त हो जायगा तथा मेरे लिये इसमेंसे कुछ बचेगा भी अथवा नहीं। मनुष्यको सत्कर्म करनेके समय भी

सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है और दसों इन्द्रियाँ मनरूपी माताके उदरमें समा जाती हैं। ऊर्ध्व वायु और अधो वायुका मार्ग बन्द कर प्राणवायु नौ वायुओंकी गठरी बाँधकर मध्यमा यानी सुषुम्नामें चली जाती है। उस समय बुद्धि मनपरसे संकल्प-विकल्परूपी वस्त्र हटाकर और इस प्रकार उसे वस्त्रविहीन करके पीछेकी ओर एकदम मौन साधकर बैठ जाती है। इस प्रकार जिस महान् धैर्यके आगे मन, प्राण और इन्द्रियोंको अपने सारे व्यापार त्यागने पड़ते हैं और तब वे सब निर्लेप स्थितिमें उसी प्रकार योगकी युक्तिसे ध्यानके मठ यानी हृदयकोशमें बन्द हो जाते हैं और फिर जिस समयतक उनका चक्रवर्ती सम्राट् परमात्मा उन्हें बन्धनमुक्त नहीं करता, उस समयतक जो धैर्य बिना किसी लोभके चक्करमें पड़े उन सबको वहीं रोके रहता है, निश्चितरूपसे जान लेना चाहिये कि वही धृति सात्त्विक है।" उस समय यही बात लक्ष्मीकान्त श्रीकृष्णने अर्जुनसे कही थी। (७३३—७४४)

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

तदनन्तर, भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—"जो जीव देह धारण करके स्वर्गमें तथा इस संसारमें भी धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंको यथास्थित प्राप्त करके वैभवपूर्वक रहता है, वह जीव जिस धृतिके बलपर संकल्प तथा विकल्पोंके सागरमें धर्म, अर्थ और कामके जहाज भरकर कर्मोंका व्यापार करता है तथा कर्मको ही पूँजी मानकर वह जीव जिस धृतिके सहयोगसे उस पूँजीको चतुर्गुण बढ़ानेके लिये कठोर परिश्रम करता है, हे पार्थ! उसे ही राजस धृति कहते हैं। मैं तीसरी जो तामस धृति है उसके भी लक्षण बतलाता हूँ; मन लगाकर सुनो।" (७४५—७४८)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

"कोयला जैसे कालिखका बना हुआ होता है, वैसे ही अधम गुणोंसे जिसका स्वरूप बना हुआ है, यदि उस अधम कोटिके तमको भी गुण कहा

हुए यह कहता फिरता है कि इन समस्त कामोंको करनेवाला मैं ही हूँ। फिर उसमें कर्तृत्वाभिमान इतना प्रबल हो जाता है कि वह अपने पिता अथवा गुरुका भी कोई महत्त्व नहीं बचने देता। जैसे जानलेवा ज्वर किसी औषधको नहीं मानता, वैसे ही वह भी किसीको नहीं मानता। इस प्रकार अहंकारके द्वारा पछाड़े हुए तथा फलके चक्करमें पड़े हुए मनुष्यके द्वारा जो-जो कर्म अनुरागपूर्वक होते हैं और वह भी नाना प्रकारके कष्ट सहकर और इस प्रकार होते हैं, जैसे मदारी अपनी उदर-पूर्तिके लिये भाँति-भाँतिके कठिन और कष्टसाध्य खेल करते हैं, वे सब-के-सब कर्म राजस कोटिके होते हैं। जैसे अन्नके एक कणके निमित्त चूहा पहाड़ खोद डालता है अथवा सेवारके लिये मेढक पूरा समुद्र मटमैला कर डालता है अथवा भीखके लिये सँपेरा जैसे सर्प लेकर घर-घर घूमता है, वैसे ही नाना प्रकारके कष्ट सहकर निज लाभ-हेतु जो कार्य किये जाते हैं, वे सब-के-सब राजस होते हैं। पर क्या कहा जाय; कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनको ऐसे कष्ट ही बहुत अच्छे लगते हैं। आशय यह कि जैसे एक कण पानेके लिये भी दीमक पातालपर्यन्त सुराख करता हुआ चला जाता है, ठीक वैसे ही स्वर्ग-सुख पानेकी लालसामें जो नाना प्रकारके क्लेशपूर्ण श्रम किये जाते हैं, उन्हीं क्लेशकारक सकाम कर्मोंको राजस कोटिका कर्म जानना चाहिये। अब मैं तुमको तामस कर्मके लक्षण बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (५९५—६१०)

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

वे समस्त कर्म तामस कर्म कहलाते हैं जो कर्म मानो निन्दाका घर ही होते हैं तथा जिनके कारण मानो निषेधका जन्म सार्थक होता है। जलपर खींची हुई लकीरकी भाँति जिन कर्मोंका आचरण करनेपर पीछे कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता अथवा जैसे काँजीका मंथन करना, राखमें फूँक मारना, तेल निकालनेके लिये कोल्हूमें रेत डालकर पेरना अथवा भूसा फटकना, आकाशमें कोई चीज भोंकना अथवा वायुको कैद करनेके लिये

कर्म दृष्टिगत होते हैं और इन्द्रियाँ इत्यादि साधनसमूह ने कर्म करते हैं; पर फिर भी उन कर्मोंको सम्पन्न होनेके लिये जिस धैर्य (धृति)-की आवश्यकता होती है, उसके तीन प्रकार मैंने तुमको स्पष्टरूपसे बतला दिये हैं। जब इस प्रकार त्रिविध कर्मोंकी उत्पत्ति होती है, तब उन कर्मोंमें जो सुख नामका फल लगता है, वह भी त्रिविध ही होता है और इसका प्रमुख कारण यही है कि वे समस्त फल एकमात्र कर्मानुसार ही उत्पन्न होते हैं। अतएव अब मैं तुम्हें निर्दोष शब्दोंमें यह स्पष्टरूपसे बतलाता हूँ कि ये सुखरूपी फल किस तरह तीन भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। पर शब्दोंके चोखेपनकी ही योजना क्यों की जाय? कारण कि यदि यह बात शब्दोंके द्वारा सपझी और समझायी जाय तो शब्दोंमें कर्णरूपी हाथोंकी मैल लग ही जाती है। अतएव उस अन्तरंगकी सहायतासे ये बातें ध्यानपूर्वक सुनो, जिस अन्तरंगका निरोध करनेसे श्रोताके कान भी बहरे हो जाते हैं।" इतना कहकर श्रीकृष्णदेवने त्रिविध सुखोंका विषय आरम्भ किया। अब मैं उसी वृत्तान्तका यहाँ वर्णन करता हूँ। (७४९—७७१)

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

भगवान् कहते हैं—"हे सुविज्ञ अर्जुन! त्रिविध सुखके लक्षण बतलानेकी जो मैंने तुमसे प्रतिज्ञा की थी, वह अब तुम सुनो। आत्माकी भेंट होनेपर जीवको जो सुख प्राप्त होता है, हे किरीटी! अब मैं उसी सुखका स्वरूप तुम्हारे समक्ष रखता हूँ। पर जैसे दिव्यौषध भी सिर्फ मात्रानुसार ली जाती है अथवा जैसे रसायनकी क्रियासे राँगेसे चाँदी बनायी जाती है अथवा जैसे लवणको जल बनानेके लिये उसपर दो-चार बार जलका छिड़काव करना पड़ता है, ठीक वैसे ही इस प्रसंगमें उसीको आत्मसुख समझना चाहिये, जिसमें जीवोंका दुःख उस दशामें विनष्ट हो जाता है, जिस दशामें वह सुखको होनेवाली थोड़ी-थोड़ी अनुभूतिके साथ-साथ अपना तत्सम्बन्धी अभ्यास भी बढ़ाता चलता है; पर वह भी त्रिगुणोंसे

पराये समस्त लोगोंके धुर्रे उड़ाते हुए जिन कर्मोंको किया जाता है, उनके विषयमें निश्चितरूपसे यह जान लेना चाहिये कि वे तामस कर्म हैं। हे अर्जुन! इन त्रिगुणोंके कारण कर्म किस प्रकार त्रिविध होते हैं, इसका स्पष्ट विवेचन मैंने तुम्हें अभी-अभी बतला दिया है। अब इन समस्त कर्मोंको करनेवाला तथा इनके कर्तृत्वका अहंकार करनेवाला जो जीव होता है, वह भी त्रिविधता प्राप्त करता है। जैसे एक ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य इत्यादि चार आश्रमोंमें रहकर पृथक्-पृथक् चार प्रकारका दृष्टिगोचर होता है, ठीक वैसे ही कर्मोंकी त्रिविधताके कारण कर्तामें भी त्रिविधता आ जाती है। अतएव इन त्रिविध कर्ताओंमें जो प्रथम श्रेणीका सात्त्विक कर्ता है, अब मैं उसके सम्बन्धमें बतलाता हूँ, तुम दत्तचित्त होकर सुनो। (६११—६३०)

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

जैसे मलयगिरिके चन्दनवृक्षकी शाखाएँ फलकी इच्छा छोड़कर एकदम सीधी बढ़ती रहती हैं अथवा जैसे नागवल्लीका जन्म फल न लगनेपर भी सार्थक होता है, ठीक वैसे ही सात्त्विक कर्ता भी सदा अपने नित्य-नैमित्तिक कर्म करता है; पर उसके उन कर्मोंको इस फलशून्यताके कारण विफलता नहीं प्राप्त होती, क्योंकि हे पाण्डुसुत! क्या कभी फलमें भी फल लगते हैं? जो व्यक्ति समस्त काम तो अत्यन्त आदरपूर्वक करता है, पर फिर भी जिसे इस प्रकारका अहंकार कभी स्पर्श भी नहीं कर पाता कि मैं कर्ता हूँ, जो वर्षा-ऋतुके मेघोंकी भाँति परमात्मापर अनवरत वृष्टि करनेके योग्य विपुल कर्मोंका आचरण करता रहता है, जो कालका उल्लंघन नहीं करता, देश-शुद्धिपर ध्यान देता है, कर्मविधियोंका निर्णय शास्त्र वचनोंके आधारपर करता है, अपना चित्त एकाग्र करता है, चित्तको फलाशाकी ओर नहीं प्रवृत्त होने देता, उचितरूपसे नियमोंका पालन करता है तथा इस निर्बन्धको सहनेके लिये स्वतः पूरा-पूरा धैर्य लानेकी अनवरत चिन्ता तथा प्रयत्न करता है और एकमात्र आत्मस्वरूपके प्रेमके कारण क्रियाएँ करते

उत्पन्न होनेवाले इस वैराग्यरूपी कालकूट नामक विषको यदि धैर्यरूपी शंकर निगल जाय, तो फिर जिस सुखमें ज्ञानामृतकी प्राप्तिका उत्सव मनानेकी संधि मिलती है, उसीका नाम सात्त्विक धृति है। जिस समय द्राक्षा (अंगूर) कच्ची और हरा रहता है, उस समय उसकी खटास जिह्वाको कैसी अटपटी लगती है! पर वही द्राक्षा जिस समय ठीक तरहसे पक जाता है, उस समय उसमें कितना अधिक माधुर्य आ जाता है! इसी प्रकार जब ये वैराग्य इत्यादि भाव आत्मज्ञानरूपी प्रकाशसे पूर्णताको प्राप्त होते हैं, तब इन्हींके साथ समस्त मायाजन्य नामरूपात्मक द्वैत भी समाप्त हो जाता है। उस समय बुद्धि भी आत्माके साथ मिलकर ठीक वैसे ही एकरस हो जाती है, जैसे समुद्रके संग मिलनेपर गंगा हो जाती है और तब अद्वैतानन्दकी खान स्वतः खुल जाती है। इस प्रकारके जिस सुखका मूल वैराग्यमें है, पर जिसका अवसान आत्मानुभवके आनन्दमें होता है उसी सुखका नाम सात्त्विक है। (७७८—७९३)

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

हे धनंजय! विषयों और इन्द्रियोंका मिलन होते ही जिस सुखकी धारा अपने दोनों तटोंको डुबाकर चतुर्दिक् प्रवाहित होने लगती है, उसी सुखको राजसी कहते हैं। किसी बड़े अधिकारीके अपने नगरमें प्रवेश करनेपर लोग जिस प्रकारका उत्सव करते हैं अथवा कर्ज लेकर जिस प्रकार बहुत तड़क-भड़कसे विवाह किया जाता है, रुग्ण व्यक्तिको जिस प्रकार शक्कर और केला वर्जित होनेपर भी बहुत रुचिकर लगता है अथवा बछनाग जिस प्रकार विषैला होनेपर भी पहले-पहल खानेमें मधुर जान पड़ता है, जिस प्रकार आरम्भमें चोरोंके संग मैत्री-सम्बन्ध, बाजारू औरतका व्यवहार अथवा बहुरुपियेका विनोद बड़ा रुचिकर लगता है, पर अन्तमें जिस प्रकार ये सभी चीजें दुःखदायक सिद्ध होती हैं, ठीक उसी प्रकार विषयों तथा इन्द्रियोंके मिलनसे जो सुख पहले तो जीवको प्रसन्न करता है, पर बादमें जो जीवके सुखकी सारी दौलत ठीक उसी प्रकार अपहृत कर लेता है, जिस प्रकार हंस चट्टानपर गिर जानेपर अपने

जैसे गाँवमें स्थित कूड़ेखानेमें ही सारा कचरा एवं कूड़ा-करकट आदि गन्दगी आकर एकत्रित होता है अथवा समस्त अमंगलजनक वस्तुएँ श्मशानमें ही आश्रय प्राप्त करती हैं, वैसे ही जो व्यक्ति पूरे संसारकी वासनाओंके दोषोंका पायदान होता है और इसीलिये जो व्यक्ति एकमात्र ऐसे ही कर्मोंका आयोजन करता है, जिनमें फलोंकी अखण्ड उपलब्धि होती हुई दृष्टिगत होती है और उन कर्मोंसे होनेवाले लाभकी एक कौड़ी भी बिना छोड़े जो उनके लिये अपने प्राणतक गँवानेके लिये सदा तत्पर रहता है, जो स्वयं अपनी चीजोंकी तो पूर्णतया रक्षा करता ही है, पर साथ ही दूसरोंकी चीज अपहरण करनेके लिये भी ठीक वैसे ही ध्यान लगाये रहता है, जैसे मत्स्यको पकड़नेकेलिए बगला निरन्तर ध्यान लगाये रहता है, जिसकी दशा बेरके उस पेड़की तरह होती है जो अपने सन्निकट आनेवालेको तो अपने काँटोंसे पकड़ता है तथा छूनेवालोंका देह ही छेद डालता है और इतना होनेपर भी जिसके फल अपने खटासके कारण जिह्वाके लिये अत्यन्त दुःखदायक होते हैं, जो निरन्तर दूसरोंको दुःख प्रदान करता रहता है और अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंके हितकी कुछ भी परवाह नहीं करता, अपना काम करनेके लिये दूसरोंको तनिक भी अवसर नहीं देता और जो भावना स्वयंको पसन्द न हो—वह चाहे कितनी ही उदात्त क्यों न हो, तो भी—उस भावनामें जो कभी अपना मन नहीं रमाता, जिसकी दशा धतूरेके उस फलकी भाँति होती है जिसके अंदर विष भरा होता है और बाहर काँटेदार कवच होता है तथा इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर शुद्धतासे एकदम रिक्त रहता है और हे धनंजय! निजकृत कर्मका फल प्राप्त होनेपर जो मारे आनन्दके पूरे संसारको मुँह चिढ़ाने लगता है अथवा यदि आरम्भ किया हुआ कर्म निष्फल हो जाय तो जो पुरुष शोकग्रस्त होकर समस्त संसारको धिक्कारने लगता है और हे पार्थ! जो इस प्रकार कर्मोंमें उलझा रहता है, उसके विषयमें ठीक तरहसे यह समझ रखना चाहिये कि वह राजस कर्ता है। अब मैं उस तामस कर्ताके सम्बन्धमें बतलाता हूँ जिसे समस्त दुष्कर्मोंका एकमात्र फलने-फूलनेका प्रमुख स्थान ही जानना चाहिये। (६५०—६६२)

सन्मार्गके विषयमें भ्रम हो जाता है तथा वह अनुचित मार्गमें लग जाता है, हे पार्थ! वही सुख पूर्णरूपसे तामस कहलाता है; परन्तु मैं इस विषयका विशेष बिस्तार नहीं करता, कारण कि इसकी कहानी एकदम निन्द्य है। इस प्रकार जो सुखका मूल कारण कर्मफल है, वह भी कर्मभेदके अनुसार तीन प्रकारका हो गया है और उसका वर्णन मैंने तुम्हारे समक्ष शास्त्रीय ढंगसे कर दिया है। अब इस जगत्में छोटी-बड़ी समस्त चीजोंमें कर्ता, कर्म और कर्मफलकी त्रिपुटीके अलावा और कुछ भी नहीं है। हे किरीटी! इस त्रिपुटीमें तीनों गुण ठीक उसी प्रकार ओत-प्रोत रहते हैं, जिस प्रकार वस्त्रमें तन्तु बुने होते हैं। (८०६—८१२)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

इसीलिये स्वर्गलोकमें भी तथा मृत्युलोकमें भी ऐसी कोई चीज नहीं है जो मायाके क्षेत्रमें होनेपर भी इन सत्त्वादि गुणोंसे युक्त न हो। क्या कभी ऊनके बिना कम्बल, मिट्टीके बिना ढेला और जलके बिना तरंग भी उत्पन्न हो सकती है? ठीक इसी प्रकार प्राणियोंका ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि गुणोंके बिना इस सृष्टिकी रचना हो सके। अतएव तुम यह बात अच्छी तरहसे समझ लो कि ये सम्पूर्ण सृष्टि इन त्रिगुणोंसे ही बनी हुई है। इन्हीं गुणोंने देवताओंमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश—ये त्रिवर्ग किये हैं और इन्होंने स्वर्ग, मर्त्य और नरक—इन त्रिलोकोंका निर्माण किया है। इन्हीं गुणोंने चारों वर्णोंके पीछे भिन्न-भिन्न कर्मोंका झमेला खड़ा कर दिया है। (८१३—८१७)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

अब यदि तुम यह पूछो कि ये चारों वर्ण कौन-से हैं तो मैं तुम्हें बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। इन वर्णोंमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके बाद

अच्छे कृत्य भी जिसके चक्करमें पड़कर ठीक वैसे ही विद्रूप हो जाते हैं, जैसे लवणके संयोगसे दुग्ध पीनेयोग्य नहीं रह जाता; अग्निके चपेटमें पड़कर शीतल पदार्थ भी गलकर आगका रूप धारण कर लेता है अथवा हे किरीटी! उत्तम-से-उत्तम अन्नादि पदार्थ भी शरीरमें प्रविष्ट होकर मल बन जाते हैं, जो गुणोंको भी दोषोंका रूप प्रदान करता है तथा सर्पकी भाँति अमृतको भी विष बना देता है और संयोगवश कोई इस प्रकारका शुभ कर्म उपस्थित होनेपर जिससे सांसारिक जीवन भी सार्थक हो सकता हो तथा परलोक भी सध सकता हो, जिसे निद्रा इतनी जल्दी आ जाती है कि मानो उसके पास रखी हुई हो और दुर्व्यवहार शुरू करते ही जिसकी नींद इस प्रकार उड़ जाती है कि मानो उससे बहुत घृणा करती हो, जो कल्याणका समय आनेपर आलस्यसे ठीक वैसे ही भरा रहता है, जैसे द्राक्षा अथवा आम्ररस खानेके दिनोंमें काक पक्षीके मुँहमें रोग हो जाता है अथवा दिनके प्रकाशमें जैसे उलूककी आँखें अंधी हो जाती हैं और यदि कोई कुकृत्य करनेके लिये कहा जाय तो मानो आलस्य जिसकी आज्ञामें रहता है और सद्यः सुदूर भाग जाता है, जिसके अन्तःकरणमें मत्सर ठीक उसी तरह बँधा रहता है, जैसे समुद्रके पेटमें सदा बड़वाग्नि धधकती रहती है और जो आजन्म वैसे ही नासिकापर्यन्त मत्सरसे लबालब भरा रहता है जैसे कंडोंकी आगमें धूम्र भरा रहता है, अथवा मलद्वारमें सदा दुर्गन्ध ही भरी रहती है और हे वीरशिरोमणि! जो ऐसे-ऐसे कामिक व्यापारोंका श्रीगणेश करता है, जिनका सूत्र कल्पान्तसे भी और आगेतक पहुँच जाता है, पर यदि कोई हितकारक कार्य करना हो तो उससे एक तृणकी उपलब्धि नहीं होती, हे पार्थ! इस संसारमें इस प्रकार एकमात्र पापके मूर्तिमान् समूहके रूपमें ही जो पुरुष दृष्टिगोचर हो, उसके विषयमें अच्छी तरह यह जान लेना चाहिये कि वह तामस कर्ता है। हे सज्जनशिरोमणि! इस प्रकार मैंने तुम्हें कर्म, कर्ता तथा अज्ञानके त्रिविध लक्षण बतला दिये हैं। (६६३—६८९)

अर्जुन! अब तुम यह सुनो कि भिन्न-भिन्न वर्णोंके लिये स्वाभाविक और उपयुक्त कर्म कौन-से हैं। (८१८—८३२)

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

इस प्रकारकी शान्तस्थिति जो बुद्धिकी होती है कि वह सारे इन्द्रियोंको अपने हाथमें लेकर एकान्त भावसे धर्मपत्नीकी तरह आत्मतत्त्वके साथ मिली रहती है, उसीको 'शम' कहते हैं। इसी शमसे अच्छे कर्मोंका आरम्भ होता है। इस प्रकारके कर्मोंमें 'दम' नामका वह दूसरा गुण उस शमका सहयोगी होता है जिसके कारण स्वधर्मके आचरणपूर्वक समस्त व्यवहार होते हैं। 'तप' नामका वह तीसरा गुण भी ऐसे कर्मोंमें दृष्टिगत होता है जिसके द्वारा चित्तमें ईश्वरविषयक श्रद्धा ठीक वैसे ही अनवरत जाग्रत् रहती है, जैसे छठीवाली रातको इस बातका सम्यक् ध्यान रखा जाता है कि प्रसविणीके कक्षका दीप न बुझने पावे। इसी प्रकार दोनों तरहका 'शौच' (शुद्धता) ऐसे कर्मोंमें भी रहती है। हे पार्थ! यह शौच उस गुणका नाम है जिसके कारण मन शुद्ध भक्तिसे परिपूर्ण रहता है तथा शरीर शुद्ध आचरणसे अलंकृत रहता है और इस प्रकार पूरा जीवन-क्रम बाह्याभ्यन्तर शुद्ध बना रहता है। उन कर्मोंमें यह चौथा गुण भी विद्यमान रहता है। पृथ्वीकी तरह पूर्णरूपसे सब कुछ सहन करनेका जो गुण है, हे पाण्डव! उसीका नाम 'क्षमा' है। जिस प्रकार संगीतमें पंचम स्वर विद्यमान रहता है, ठीक उसी प्रकार उन कर्मोंमें यह क्षमावाला पाँचवाँ गुण विद्यमान रहता है। यदि गंगाका प्रवाह टेढ़ा-मेढ़ा भी हो तो भी वह गंगा सदा सीधी समुद्रकी ओर प्रवाहित होती रहती है और ईख चाहे अपनी बाढ़के कारण टेढ़ा-मेढ़ा भी हो तो भी उसमें सर्वत्र समानरूपसे मधुरता भरी रहती है। ठीक इसी प्रकार जीवकी वृत्ति टेढ़ी-मेढ़ी होनेपर भी उसमें पूरी पूरी सरलता रखनेके गुणको 'आर्जव' नामसे पुकारते हैं और उन कर्मोंमें यह आर्जव नामका छठा गुण भी होता है। माली अत्यधिक श्रम करके वृक्षोंकी जड़में जल डालता है; पर फिर भी जैसे उसे इस बातका पता होता है कि मुझे इन वृक्षोंसे फलकी प्राप्ति होगी और

अंश प्राप्त करता है। जिस बुद्धिको यह भरोसा हो जाता है कि ऐसे कर्मोंके आचरणमें ही मोक्ष रखा हुआ है और इसीलिये जो बुद्धि यह कहती है कि निवृत्तिके आधारपर प्रवृत्तिकी रचना करके इन नित्य कर्मोंमें डुबकी क्यों न लगायी जाय वही बुद्धि सात्त्विक होती है। पिपासित व्यक्तिको जलसे जीवन प्राप्त होता है, बाढ़में फँसनेवालेको तैरना पड़ता है, अन्धकूपमें गिरे हुए व्यक्तिको सूर्यरश्मियोंकी सहायतासे ही गति मिल सकती है। यदि अच्छी तरहसे पथ्य और औषध प्राप्त हो तो रोगग्रस्त मनुष्य भी अच्छा हो जाता है अथवा जिस समय मछलीको जलका आश्रय प्राप्त हो जाता है, उस समय उसे जान जानेका भय नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार इन नित्य कर्मोंका आचरण करनेसे मोक्ष ही प्राप्त होता है। जो बुद्धि इस विषयमें एकदम निर्दोष होती है कि इस प्रकारके करणीय और अकरणीय कर्म कौन-से हैं, उसी बुद्धिको सात्त्विक कहते हैं। संसारका भय उत्पन्न करनेवाले जो काम इत्यादि कर्म हैं और जिनपर निषिद्धताकी मोहरें लगी हुई हैं, उन निषिद्ध न करनेयोग्य तथा जीवन-मृत्युके भयसे भरे हुए कर्मोंसे जो बुद्धि प्रवृत्तिको पिछले पैरों दूर हटाती है, उसीका नाम सात्त्विक बुद्धि है। अग्निमें प्रवेश नहीं किया जाता, अथाह दहमें कूदा नहीं जाता और जो तप्त लौह हाथसे पकड़ा नहीं जाता अथवा फुफकारनेवाले काले नागको देखकर उसे हाथ नहीं लगाया जाता तथा व्याघ्रकी गुफामें जाया नहीं जाता। ठीक इसी प्रकार न करनेयोग्य कर्मोंको अपने सम्मुख देखकर जो बुद्धि निस्संदेहरूपसे अत्यधिक भयग्रस्त होती है, जिस बुद्धिको यह ज्ञान होता है कि जैसे विष मिलाकर पकाये हुए अन्नमें मृत्यु रखी ही रहती है, ठीक वैसे ही निषिद्ध कर्म करनेसे व्यक्तिको बन्धनमें अवश्य जकड़ना पड़ता है और फिर बन्धनसे भयभीत
निषिद्ध कर्मोंके विषयमें जो बुद्धि कर्म-निवृत्तिका प्रयोग करती
जैसे शुद्ध और अशुद्धकी जाँच की जाती है, ठीक वैसे ही
के विचारसे जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्तिकी अच्छी तरहसे जाँच

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

जैसे सूर्य अपना तेज प्रकट करनेके समय किसीके सहयोगकी अपेक्षा नहीं करता अथवा सिंहको शिकार करनेमें किसी सहायककी जरूरत नहीं होती, ठीक वैसे ही स्वयं अपने ही साहससे और बिना किसीके सहयोगके पराक्रम कर दिखलानेका 'शौर्य' नामका जो गुण है, वह गुण जिस कर्मवृत्तिका सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ गुण है, वही स्वाभाविक क्षात्रवृत्ति होती है। जैसे सूर्यके प्रकाशके समक्ष करोड़ों नक्षत्र लुप्त हो जाते हैं, पर यदि सारे-के-सारे नक्षत्र चन्द्रमाके साथ इकट्ठे हों तो भी उनके द्वारा सूर्यका कभी लोप नहीं होता, ठीक वैसे ही जिस अलौकिक शक्तिके कारण मनुष्य अपनी तेजस्वी गुणोंसे समस्त जगत्को आश्चर्यचकित कर देता है, पर स्वयं कभी किसी चीजसे भ्रान्त नहीं होता, उसी बलका नाम 'तेज' है। यही दूसरा तेज नामक गुण है जो उस वृत्तिमें दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार उसमें 'धैर्य' नामका तीसरा गुण भी होता है। चाहे आकाश ही टूटकर जमीनपर क्यों न गिर जाय, पर फिर भी जिस धैर्यगुणके कारण बुद्धिकी आँखें भयसे कभी नहीं झपकतीं और चित्त कभी चंचल नहीं होता, वह धैर्यगुण उस वृत्तिमें दृष्टिगत होता है। चाहे जल कितना ही अपार क्यों न हो, पर फिर भी जैसे उसे दबोचकर कमलके पत्ते फैलते हैं और चाहे कोई व्यक्ति कितनी ही ऊँचाईपर क्यों न जा पहुँचे तो भी जैसे आकाश सदा उसके ऊपर ही रहता है; ठीक वैसे ही चाहे कैसा ही प्रसंग क्यों न आ पड़े, तो भी हे पार्थ! इष्ट फल प्रदान करनेवाले कार्य अत्यन्त दक्षतापूर्वक तथा अचूक प्रवेश करनेको 'दक्षत्व' नामसे सम्बोधित करते हैं, और यह दक्षत्व नामका जो चौथा गुण है, वह भी उस वृत्तिमें पूर्णरूपसे दृष्टिगोचर होता है। खूब डटकर युद्ध करना, जैसे सूर्यमुखीका पुष्प निरन्तर सूर्यकी ओर ही रहता है, ठीक वैसे ही शत्रुके समक्ष साहसपूर्वक खड़े रहना और जैसे गर्भिणी महिला सब तरहके प्रयत्न करके अपने पतिकी शय्यापर पीठ नहीं लगने देती और उस शय्यासे अपनी

होता है अथवा सच्चा आत्मस्वरूप जैसे जीवको नहींके सदृश जान पड़ता है, ठीक वैसे ही जिस बुद्धिको समस्त धर्मकृत्य पातक ही जान पड़ते हैं, जो बुद्धि खरेको खोटा समझती है, सारे अर्थोंको अनर्थोंका रूप प्रदान करती है और सद्गुणोंको दोष मानती है, किं बहुना वेदोंमें जो बातें उचित और करणीय बतलायी गयी हैं, उन्हीं सबको जो बुद्धि अनुचित और अकरणीय समझती है, उस बुद्धिको हे पाण्डुपुत्र! बिना किसीसे पूछे ही तामसी कहना चाहिये। भला काली रातकी भाँति ऐसी बुद्धि धर्म-कार्यके लिये किस प्रकार योग्य कही जा सकती है? हे आत्मबोधरूपी कुमुदचन्द्र! इस प्रकार मैंने तुम्हें बुद्धिके तीनों भेद स्पष्टरूपसे बतला दिये हैं। अब इसी बुद्धिके आधारपर निश्चय करके जो धृति समस्त कार्योंमें सहायक होती है, उस धृतिके भी तीन प्रकार उनके लक्षणोंसहित मैं तुमको बतलाता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (७२४—७३२)

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

जिस समय सूर्योदय होता है, उस समय चौर्यकर्मके साथ-ही-साथ अन्धकारका भी अवसान हो जाता है अथवा जैसे राजाज्ञासे समस्त प्रकारके बुरे कर्म बन्द हो जाते हैं अथवा जब वायु तीव्र गतिसे बहने लगती है तब आकाशमें बादल छँट जाते हैं तथा उनकी गर्जना भी बन्द हो जाती है; अगस्त-ऋषिके दर्शन होते ही जैसे समुद्र डरकर शान्त हो जाता है अथवा चन्द्रोदय होते ही जैसे कमल बन्द हो जाते हैं अथवा जिस समय कोई मतवाला हाथी चलनेके लिये अपना एक पैर उठाता है, उस समय यदि दहाड़ता हुआ सिंह भी उसके सम्मुख आ जाय तो जैसे वह हाथी अपना पैर उसी तरह ऊपर उठाये रहता है तथा नीचे पृथ्वीपर नहीं रखता, ठीक वैसे ही जिस समय मनुष्यमें धृतिका संचार होता है, उस समय मन इत्यादिके समस्त व्यवहार जिस दशामें होते हैं, उसी दशामें एकदम बन्द हो जाते हैं। हे किरीटी! उस समय इन्द्रियों तथा उसके विषयोंका

हैं। हे सुविज्ञ! अब मैं वैश्य-जातिके उचित कर्म कौन-से हैं इसके सम्बन्धमें बतलाता हूँ, सुनो। (८५६—८७९)

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

जमीन, बीज, हल तथा पूँजीके आधारपर अपार लाभ प्राप्त करना, किंबहुना, कृषि आदिपर जीवन-निर्वाह करना, पशुओंको पालना अथवा सस्ती खरीदी हुई वस्तुओंको अधिक मूल्य लेकर बेचना इत्यादि कार्य, हे पाण्डव! वैश्योंकी वृत्तिके अन्तर्गत हैं। तुम यह अच्छी तरहसे जान लो कि ये समस्त कर्म वैश्य जातिके स्वाभाविक अधिकार-क्षेत्रमें आते हैं। वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण—इन तीनों द्विज वर्णोंकी सेवा करना शूद्रोंका कर्म है। वास्तवमें इन द्विज वर्णोंकी सेवाके अतिरिक्त शूद्रोंका अन्य कोई कर्म ही नहीं है। इस प्रकार चारों वर्णोंके विहित कर्मोंके सम्बन्धमें मैंने तुम्हें स्पष्टरूपसे बतला दिया है। (८८०—८८४)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

हे सुविज्ञ! जैसे श्रवण इत्यादि भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके लिये शब्द इत्यादि भिन्न-भिन्न गुण उपयुक्त होते हैं अथवा हे पाण्डुसुत! मेघोंसे बरसनेवाले जलके लिये जैसे नदी उपयुक्त पात्र है अथवा नदीके लिये जैसे सिन्धु उपयुक्त है, वैसे ही इन चतुर्वर्णोंके लिये ये सब भिन्न-भिन्न कर्म भी उपयुक्त हैं। इसीलिये वर्णाश्रमके अनुसार जो-जो कर्म प्राप्त होते हैं, वे सब गोरे आदमीके गोरेपनकी भाँति शोभा देनेवाले होते हैं। इसीलिये हे वीरोत्तम! उन स्वभावसिद्ध विहित कर्मोंको शास्त्राज्ञानुसार आचरण करनेके लिये अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिये। जैसे स्वयं अपने ही रत्नकी भी परख रत्नपारखीसे करानी पड़ती है, ठीक वैसे ही अपने कर्म भी शास्त्रोंके द्वारा निश्चित कराने पड़ते हैं। दृष्टि तो अपनी जगहपर सदा रहती ही है, पर फिर भी दीपकके बिना उसका कोई उपयोग नहीं होता

जाय तो फिर राक्षसको भी साधु पुरुष क्यों न कहा जाय? पर ग्रहोंमें जो धधकता हुआ अंगारा है, उसे भी जैसे लोग मंगल नामसे सम्बोधित करते हैं, ठीक वैसे भी तमको भी गुणका नाम मिल जाता है। हे वीरशिरोमणि! जो तम समस्त दोषोंकी खान है, उस तमकी कमाईमे जिस व्यक्तिकी मूर्ति निर्मित होती है, वह व्यक्ति आलस्यको सदा अपनी काँखमें दबाये रहता है और जैसे पापोंका पोषण करनेसे दुःख आदमीको त्यागकर कभी नहीं जाते, ठीक वैसे ही उस आलसीको निद्रा भी कभी नहीं त्यागती। जैसे पत्थरकी कठोरता कभी नहीं छूटती, वैसे ही देहरूपी धनपर प्रेम होनेके कारण भय भी उसे कभी नहीं छोड़ता और जैसे कृतघ्नताके पल्लेमें पाप सदा बँधे ही रहते हैं, वैसे ही प्रत्येक चीजपर अनुराग होनेके कारण शोकका भी उसमें अनवरत निवास रहता है। वह अहर्निश अपने हृदयसे असंतोषको लगाये रहता है और यही कारण है कि वह विषादके संगमें मैत्री स्थापित कर लेता है। जैसे दुर्गन्ध लहसुनको अथवा व्याधि अपथ्य करनेवालेको कभी छोड़कर नहीं जाती, वैसे ही विषाद भी उसे अन्त-समयतक कभी नहीं छोड़ता। वह तारुण्य, द्रव्य तथा वासनाके प्रति उत्साह और मोह निरन्तर बढ़ाता ही रहता है, इसलिये मद उसे अपने रहनेका आश्रय-स्थल ही बना लेता है। जैसे कभी अग्निका परित्याग उष्णता नहीं करती, अथवा अच्छी जातिका सर्प विना अपना बदला चुकाये नहीं मानता; जैसे संसारका वैरी भय कभी नष्ट नहीं होता अथवा जैसे काल किसी समय शरीरको नहीं छोड़ता, वैसे ही तामस जीवमें मद भी अपने लिये अटल पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ये निद्रा इत्यादि पंचदोष जिस धृतिमे तामस जीवमें अपना डेरा डाले रहते हैं, उसी धृतिको तामस समझना चाहिये।" यही बात जगत्‌के स्वामी भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कही थी।

तदनन्तर, भगवान्‌ने फिर कहा—"सूर्यके सहयोगसे ही रास्ता साफ-साफ दृष्टिगोचर होता है और पैर उस रास्तेसे चलते हैं; पर फिर भी चलनेवालेके धैर्यसे ही चलनेका काम होता है। इसी प्रकार बुद्धिके सहयोगसे

हे पाण्डव! तुम यह बात अच्छी तरहसे समझ लो कि यह वैराग्य भाव ऐसा अरुणोदय है जो इस बातकी सूचना देता है कि अतिशीघ्र ही आत्मज्ञानरूपी सूर्योदय होनेवाला है और उस साधकको यही वैराग्य भाव प्राप्त होता है अथवा यह वैराग्य मानो एक ऐसा दिव्यांजन है जिसके लगानेमात्रसे आत्मज्ञानरूपी गुप्त खजाना अच्छी तरह दृष्टिगोचर होने लगता तथा मिल जाता है। केवल इतना ही नहीं, वह साधक यह दिव्यांजन स्वयं ही अपने नेत्रोंमें लगा लेता है। इस प्रकार हे पाण्डुसुत! इन विहित कर्मोंको करनेसे साधकको मोक्ष प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। हे पार्थ! जीवको ये विहित कर्म ही आश्रय प्रदान करनेवाले हैं तथा इन कर्मोंको करना ही मेरे परमात्मस्वरूपकी वास्तविक सेवा है। जैसे पतिपरायणा स्त्री अपने पतिके संग समस्त प्रकारके सुख भोगती है, अपितु यों कहना चाहिये कि जैसे उसकी सम्पूर्ण तपस्या पतिके निमित्त होती है अथवा जैसे बालकके लिये माताके अलावा जीवनका अन्य कोई आश्रय ही नहीं होता और इसलिये उसका उचित कर्तव्य यही होता है कि वह अपनी माताकी ही सेवामें तल्लीन रहे अथवा जैसे मत्स्य यद्यपि एकमात्र जलके ही विचारसे गंगामें निवास करता है, तो भी वह गंगा-मार्गसे सागरमें पहुँच जाता है और उसे स्वतः समस्त तीर्थोंमें रहनेका फल भी प्राप्त हो जाता है, ठीक वैसे ही यदि इस विचारसे विहित कर्मोंको किया जाय कि इन कर्मोंके करनेके अलावा हमारे लिये अन्य कोई गति ही नहीं है, तो हमारा सारा भार स्वतः ईश्वरपर जा पड़ता है। हे किरीटी! जिसके लिये जो विहित कर्म हैं वे ईश्वरको ही इष्ट होते हैं और यही कारण है कि उन कर्मोंको करनेसे ईश्वर स्वतः प्राप्त हो जाता है। जो स्त्री किसीके अन्तःकरणकी कसौटीपर खरी उतरनेके कारण उसकी प्रिय हो जाती है, वह चाहे पहलेकी सेविका ही क्यों न रही हो, पर फिर भी वह उसकी स्वामिनी हो जाती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने स्वामीकी हर तरहसे उसकी इच्छानुसार सेवा करता है, उसे उसका स्वामी अपने

सिद्ध हुआ है। अब मैं उसके भी एक-एक रूपका वर्णन करता हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो। (७७२—७७७)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

जैसे सर्पोंसे आवेष्टित होनेके कारण चन्दन वृक्षका तना अथवा पिशाचोंके पहरेके कारण जमीनमें गड़े हुए भाण्डारका मुख भयंकर हो जाता है, वैसे ही स्वर्ग-सुख यद्यपि अत्यन्त मधुर होता है, तो भी बीचमें जैसे यज्ञ-याग इत्यादि विधानोंका उपक्रम करना पड़ता है अथवा भाँति भाँतिके कष्ट पहुँचानेके कारण बालकोंकी बाल्यावस्था पीड़ाकारक होती है; जैसे दीपक जलानेवालेको पहले धुएँका कष्ट सहना पड़ता है अथवा मुखमें रखते समय जैसे औषधि कड़वी जान पड़ती है, वैसे ही हे पाण्डव! उस सुखके प्रवेशद्वारपर ही यम दम इत्यादिके संकट सहने पड़ते हैं। दिखायी देनेवाली समस्त वस्तुओंके प्रति व्यक्तिमें जो प्रेम होता है, उस प्रेमको विनष्ट करनेवाली इस प्रकारकी विरक्ति उत्पन्न होती है, जो स्वर्ग तथा संसारके सारे बन्धनोंको समूल उखाड़ कर फेंक देती है। नित्य अनित्य विवेकके श्रवण तथा कठोर व्रतोंके आचरणसे बुद्धि इत्यादिके धुर्रे उड़ जाते हैं, प्राण वायु और अपान वायुकी लहरोंको सुषुम्ना नाड़ीका मुख निगल जाता है; पर ये सारे कष्ट केवल शुरूमें ही होते हैं। यदि चक्रवाक पक्षियोंके युग्मको एक दूसरेसे पृथक् कर दिया जाय, गौके सामनेसे बछड़ेको हटा लिया जाय अथवा किसी भिक्षुकको परोसी गयी भोजनकी थालीके सामनेसे उठा दिया जाय अथवा यदि माताका इकलौता बेटा मृत्युके द्वारा उससे छीन लिया जाय, मत्स्यको पानीसे बाहर कर दिया जाय तो उस समय उनको जो अपार दुःख होता है, हे पार्थ! ठीक वैसा ही दुःख इन्द्रियोंको विषयोंका घर त्यागते समय होता है; पर वह दुःख भी पूर्ण विरक्तिके साथ सहन करना पड़ता है। इस प्रकार जिस सुखके शुरुआतमें तो बहुत दुःख सहने पड़ते हैं, परन्तु अन्तमें उसी प्रकार मोक्ष-सुधाकी उपलब्धि होती है जिस प्रकार क्षीरसिन्धुका मन्थन करते समय उसमेंसे अमृतकी उपलब्धि हुई थी। सर्वप्रथम

हे पार्थ! यदि स्वधर्म आचरण करनेमें कठिन भी हो, तो भी इस बातकी ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है कि उसके परिणामस्वरूप हमें कैसा अच्छा फल प्राप्त होगा। हे धनंजय! यदि अपने देहको रोगमुक्त करनेहेतु सिर्फ कड़वी नीम ही दवाके रूपमें हो तो उसके कड़वेपनसे उकतानेसे किस प्रकार काम चलेगा? यदि कदली-वृक्षको फल लगनेसे पहले देखा जाय और उसपर उस समय फल न दृष्टिगत हो तब यदि हताश होकर वह कदली-वृक्ष ही काट डाला जाय तो इस कृत्यसे भला कौन-सा अच्छा फल मिल सकता है? ठीक इसी प्रकार यदि हम स्वधर्मका सिर्फ इसलिये त्याग कर दें कि उसका आचरण करना अत्यन्त दुष्कर होता है, तो फिर क्या हम कभी मोक्ष-सुख प्राप्त कर सकेंगे? यदि हमारी माता कुछ कुबड़ी हो तो भी उसके जिस प्रेमसे हम जीवन धारण करते हैं, वह प्रेम कभी कुबड़ा नहीं होता। अन्य स्त्रियाँ चाहे रम्भासे भी अधिक रूपवती क्यों न हों, तो भी मातृप्रेमके अभावमें बालकके लिये वे किस कामकी? घृतमें जलकी अपेक्षा अत्यधिक गुण विद्यमान होते हैं, पर फिर भी क्या मछलियाँ कभी घृतमें रह सकती हैं? जो चीज सम्पूर्ण जगत्के लिये विष होती है वही चीज उन विष-कीड़ोंके लिये अमृत होती है और सम्पूर्ण जगत्को मीठा लगनेवाला गुड़ उन विष-कीड़ोंके लिये जानलेवा होता है। इसीलिये जिसके जो विहित कर्म हैं और जिनको करनेसे संसारका बन्धन छूटता है वे कर्म यद्यपि करनेमें दुष्कर भी हों तो भी उन कर्मोंको अवश्य करना चाहिये। यदि दूसरोंके व्यवहार अच्छे जान पड़ें और इसीलिये हम भी वही आचार करने लगें तो ऐसा करना ठीक वैसे ही हानिकारक है, जैसे कोई व्यक्ति पैरोंके बदले सिरसे चलनेका प्रयत्न करने लगे। इसीलिये हमारे जन्म तथा स्वभावके अनुसार जो कर्म अपने खातेमें हों, उन्हीं कर्मोंको जो व्यक्ति करता है उसके विषयमें यह जान लेना चाहिये कि उसने कर्मोंका बन्धन तोड़ डाला और हे पाण्डव! क्या इसीलिये यह जरूरी नहीं हो जाता कि हमें स्वधर्मका पालन तथा परधर्मका परित्याग कर देना चाहिये? जरा तुम्हीं विचार करो कि जबतक

जानसे हाथ धो बैठता है* और जिस सुखके कारण अन्ततः व्यक्तिके प्राणोंका भी नाश होता है और उसके पासकी पुण्यरूपी पूँजी भी नष्ट हो जाती है और तब वे समस्त सुख स्वप्नवत् विनष्ट हो जाते हैं, जिन्हें वह प्रारम्भसे ही भोगता आया था और तब उसे अपना सर्वस्व गँवाकर एकमात्र कष्ट ही झेलने पड़ते हैं। आशय यह कि इस प्रकारका जो सुख अन्तमें इस लोकमें भी व्यक्तिपर विपत्ति लाता है तथा दूसरे लोक यानी परलोकमें भी जो विषतुल्य सिद्ध होता है, वह सुख राजसी होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जहाँ एकमात्र इन्द्रियोंका पालन-पोषण करके तथा धर्मक्षेत्रका नाश करके सिर्फ विषयोंका सुख भोगा जाता है, वहाँ पातक अत्यन्त बलवान् हो जाते हैं और फिर वही पातक जीवकी दुर्दशा कराते हैं। इस प्रकार जिस सुखसे परलोकमें इतनी हानि उठानी पड़ती है और जो उसी विषकी तरह होता है, जो माहुर (मधुर) कहलानेपर भी अन्तमें प्राणोंका नाश करके विष ही सिद्ध होता है और इस प्रकार जो सुख शुरूमें तो मधुर जान पड़ता है, पर अन्ततः अत्यन्त कटु सिद्ध होता है, हे पार्थ, उस सुखके विषयमें यह अच्छी तरहसे जान लेना चाहिये कि वह रजोगुणका ही बना हुआ है और इसीलिये उस सुखको कभी भी हाथ नहीं लगाना चाहिये। (७९४—८०५)

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

अपेय वस्तुओंको पीनेसे, अखाद्य सामग्रियोंका सेवन करनेसे, व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी संगत करनेसे जो सुख मिलता है अथवा दूसरोंका घात करके, दूसरोंका द्रव्य अपहृत करके और भाटोंके मुखसे कृति गान सुनकर जो सुख मिलता है, आलस्यसे जिस सुखका पोषण होता है, जो सुख निद्रामें दिखलायी पड़ता है और जिस सुखके आरम्भ तथा अन्तमें जीवको अपने

* हंस रात्रिमें उड़ते समय जलमें तारोंके प्रतिबिम्बको देखकर उसे रत्न समझकर लेनेके लिये झपटता है और चट्टानसे टकराकर मर जाता है।

कुलमें विवाहित स्त्री (प्रताड़ित होनेपर) किसी दूसरेके घरमें जाकर रहे और वहाँ भी उसे डंडोंकी ही मार सहनी पड़े, तो फिर यदि घरमें स्वयं उसका पति मारता हो, तो सिर्फ इस कारणसे पतिका परित्याग कर घरसे बाहर जानेमें उसे कौन-सा लाभ हो सकता है? ठीक इसी प्रकार बिना कष्ट सहे यदि अपना कार्य भी सिद्ध नहीं होता, तो फिर हम किस मुँहसे यह कह सकते हैं कि विहित कर्मका आचरण करना अत्यन्त कठिन है।

हे पाण्डुसुत! जिस अमृतसे हमारा जीवन अमरत्वको प्राप्त होता है, यदि उसका छोटे-से-छोटा अंश पानेके लिये भी हमें अपना सब कुछ दाँवपर लगाना पड़े, तो भी उसमें क्या हानि है? जिस विषको पीकर हम अपने प्राण गँवा सकते हैं, वही विष हम क्यों खरीदें और क्यों पीयें? ठीक इसी प्रकार इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाकर और उम्रके सारे दिन व्यर्थ नष्टकर हम पापोंको जो एकत्रित करते हैं उसमें दुःखके अलावा और क्या रखा है? इसीलिये स्वधर्मका आचरण करना चाहिये। वह हमारे पूरे परिश्रमको मिटा देता है और पुरुषार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ जो मोक्ष नामका पुरुषार्थ है, उसकी हमें प्राप्ति करा देता है। इसीलिये हे किरीटी! जैसे संकटके समय सिद्ध मन्त्र नहीं भूलना चाहिये, ठीक वैसे ही स्वधर्माचरणसे भी हमें कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिये। जैसे समुद्रमें नावका त्याग नहीं करना चाहिये अथवा जैसे महाव्याधिसे ग्रसित होनेपर दिव्यौषधिका परित्याग नहीं करना चाहिये, ठीक वैसे ही इस संसारमें बुद्धिमें स्वकर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। हे कपिध्वज! जिस समय परमात्मा इस स्वधर्माचरणरूपी आराधनासे सन्तुष्ट हो जाता है, उस समय वह उस भक्तमेंसे रजोगुण तथा तमोगुण निकालकर उसे सत्त्वगुणके मार्गपर संलग्न करता है और उसके चित्तमें इस प्रकारका वैराग्य उत्पन्न करता है, जिसमें आत्मसाधनकी उत्कण्ठाके कारण उसे इहलोक और परलोक—इन दोनों लोकोंके सुख कालकूट विषकी भाँति प्रतीत होते हैं। जिस वैराग्यके सम्बन्धमें स्पष्टरूपसे (श्लोक ४५ में) चर्चा की गयी है, उसी वैराग्यका पद उस पुरुषको प्राप्त होता है। अब तुम यह सुनो

जो क्षत्रिय तथा वैश्य हैं, उन्हें भी महत्त्वको दृष्टिसे ब्राह्मणोंके समकक्ष ही जानना चाहिये, कारण कि उन्हें भी वैदिक धर्म-कृत्योंका अधिकार प्राप्त है। हे धनंजय! चौथा जो शूद्र वर्ण है उन्हें वेदोंका अधिकार नहीं है और यही कारण है कि इनका जीवन उपर्युक्त तीनों वर्णोंपर निर्भर है; पर इन शूद्रोंकी जीवनवृत्तिकी ब्राह्मण इत्यादि तीनों वर्णोंके साथ अत्यन्त ही सन्निकटता रहती है और इसीलिये इनका भी वर्णोंकी पंक्तिमें चौथा स्थान है। जैसे पुष्पोंके साथ-साथ श्रीमन्त लोग उस डोरेको भी अपने गलेमें धारण करते हैं, जिसमें वे पुष्प पिरोये हुए होते हैं, ठीक वैसे ही त्रैवर्णिक द्विजोंके साथ शूद्रोंका भी व्यवहार-सम्बन्ध होनेके कारण श्रुतियोंके लिये वर्णसंस्थामें शूद्रोंका भी समावेश करना अत्यावश्यक हुआ है, हे किरीटी! यही चातुर्वर्ण्यकी संस्थाका स्वरूप है।

अब मैं इन सबके विहित कर्मोंका विवेचन करता हूँ। ये चारों वर्ण इन्हीं कर्मोंके गुणोंसे जीवन और मृत्युके झंझटोंसे छूटकर आत्मस्वरूप प्राप्त करते हैं, प्रकृतिके त्रिगुणोंमें ये कर्म चारों वर्णोंको चार प्रकारसे बाँट दिये हैं। जैसे पिताके द्वारा इकट्ठा किया हुआ वैभव उसके बेटोंमें बँट जाता है अथवा सूर्यके प्रकाशमें दृष्टिगोचर होनेवाले मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जानेवाले पथिकोंमें बँट जाते हैं अथवा जैसे कोई ऐश्वर्यवान् व्यक्ति अपना सारा कारोबार अपने सेवकोंमें बाँट देता है, ठीक वैसे ही प्रकृतिके इन गुणोंने भी इन कर्मोंके पृथक्-पृथक् विभाग करके चारों वर्णोंमें बाँट दिये हैं। इनमेंसे सत्त्वगुणने अपने आधे-आधे भागसे ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंको अंकित किया है। वैश्योंके हिस्सेमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण और शूद्रोंके खातेमें तमसे भरा हुआ रजोगुण रहता है। हे सुविज्ञ! यह बात तुम अपने ध्यानमें रखो कि शुरुआतमें जो मानव-संघ एकदम एक ही रूपवाला था, उसमें इन गुणोंने यह चातुर्वर्ण्यात्मक भेद उत्पन्न किया है। फिर जैसे अन्धकारमें पड़ी हुई वस्तु हमें दीपक दिखलाता है, ठीक वैसे ही अपने गुणोंसे आवृत कर्म हमें शास्त्र दिखलाता है। हे परम सौभाग्यशाली

पुराने कर्म भी शरीर-भोगके द्वारा समाप्त हो जाते हैं तथा नये कर्म करनेमें उसका मन जरा-सा भी सहयोग नहीं करता। हे वीरशिरोमणि! ऐसी अवस्थाका ही नाम कर्मसाम्य है। उस पुरुषको सद्गुरुके दर्शन इस अवस्थामें बहुत सहजमें हो जाते हैं। जैसे रात्रिका चतुर्थ प्रहर व्यतीत हो जानेपर तिमिरारि (अन्धकारको दूर करनेवाले) सूर्यके दर्शन आँखोंको स्वतः प्राप्त हो जाते हैं अथवा जैसे फलोंके घौद (गुच्छे)-के आते ही कदली-वृक्षकी बाढ़ स्वतः बन्द हो जाती है; ठीक वैसे ही मुमुक्षुको इस स्थितिमें सद्गुरुके दर्शन स्वतः हो जाते हैं। फिर हे वीरशिरोमणि! जैसे पूर्णिमाके आलिंगनसे चन्द्रमाकी सारी न्यूनता मिट जाती है और वह परिपूर्ण हो जाता है, ठीक वैसे ही वह पुरुष भी सद्गुरुकी कृपासे परिपूर्ण हो जाता है। फिर उसमें जो अज्ञानांश अवशिष्ट रह जाता है वह भी सद्गुरुकी कृपासे समाप्त हो जाता है। फिर जैसे सूर्यका उदय होते ही अन्धकारसहित रात्रि भी पूरी तरहसे निर्मूल हो जाती है अथवा जैसे किसी गर्भिणीका वध करनेसे उसके उदरमें स्थित बच्चा भी तत्क्षण मृत्युका ग्रास बन जाता है, वैसे ही अज्ञानके उदरमें विद्यमान कर्म, कर्ता तथा कार्यकी त्रिपुटीका भी नाश हो जाता है। इसके बाद अज्ञान नष्ट होते ही उसके साथ ही समस्त कर्मसमूह भी विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह संन्यास एकदम मूलतक जा पहुँचता है। इस मूलवाले अज्ञानका विनाश होनेसे इस नाम-रूपवाली मायाकी कृतियोंका आधार ही विनष्ट हो जाता है और वह पुरुष स्वयं ही ज्ञेयस्वरूप हो जाता है। जो व्यक्ति अपने-आपको किसी दहमें डूबनेका स्वप्न देखता है, क्या वह कभी जागनेके बाद भी स्वयंको डूबनेसे बचाने तथा उस दहसे बाहर निकलनेके लिये कोई प्रयत्न करता है? अब उसके उस दुःस्वप्नका अवसान हो जाता है, जिसमें वह यह विचार करता था कि मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता और अब मैं ज्ञान-सम्पादन करूँगा और वह ज्ञाता तथा ज्ञेयवाली भावनाओंसे निकलकर सिर्फ ज्ञानस्वरूप हो जाता है।

हे वीरशिरोमणि! जिस समय दर्पण ओटमें चला जाता है और उसके

211

मेरा सारा श्रम सार्थक होगा, ठीक वैसे ही इस प्रसंगमें यह तथ्य भलीभाँति जान लेना ही 'ज्ञान' कहलाता है कि शास्त्रानुसार कर्मोंको करके ईश्वरकी प्राप्ति करना अत्यावश्यक है तथा ईश्वरकी वह प्राप्ति इस प्रकार हमें अवश्य हो जायगी और यही ज्ञान उन कर्मोंका सातवाँ गुण होता है। मनुष्य शुद्ध सत्त्व होकर शास्त्र ज्ञानके बलसे अथवा अपने ध्यानके सहयोगसे ईश्वर तत्त्वके साथ संदेहरहित बुद्धिसे समरस हो जाय तो इसीको 'विज्ञान' नामक आठवाँ गुण कहते हैं। यह आठवाँ गुण भी उन कर्मोंमें रहता है। नवें गुण 'आस्तिक्य' का स्वरूप यह है कि शास्त्रोंने जितने मार्गोंको उचित बतलाया है, उनमेंसे हरेक मार्गको उसी प्रकार ठीक और आदरणीय समझा जाय, जिस प्रकार प्रजा उस हरेक चीजको, जिसपर राजाका नाम अंकित होता है, चलनसार सिक्केके रूपमें स्वीकार कर लेती है; और यह आस्तिक्य नामका नवाँ गुण भी उन कर्मोंमें होता है। सारांश यह कि जिन कर्मोंमें ये नौ गुण विद्यमान होते हैं, वही कर्म अच्छे और ठीक होते हैं।

इस प्रकार शम इत्यादि नौ गुणोंके रहनेके कारण जो कर्म स्वभावतः दोषरहित होते हैं, उन्हींको ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म जानना चाहिये। जिस व्यक्तिको इन नौ रत्नोंका हार प्राप्त हो जाता है, वह व्यक्ति नौ गुणोंका रत्नाकर (समुद्र) ही हो जाता है। जैसे अपने देहमेंसे बिना कुछ भी निकाले अथवा पृथक् किये हुए सूर्य प्रकाश धारण करता है अथवा चम्पाका वृक्ष जैसे स्वयं अपनी कलियोंसे ही सुशोभित रहता है, चन्द्रमा जैसे अपनी चाँदनीसे ही प्रकाशमान रहता है अथवा चन्दन जैसे स्वयं अपनी सुगन्धसे ही सुवासित रहता है, ठीक वैसे ही इन नौ गुणरूपी रत्नोंसे जड़ा हुआ यह नग ब्राह्मणोंका निर्मल आभूषण है और ब्राह्मणोंका देह यह आभूषण उतारकर नग्न होनेका कृत्य कभी नहीं करता। हे धनंजय! अब तुम यह ध्यानपूर्वक सुनो कि क्षत्रियोंके उचित कर्म कौन-से हैं। (८३३—८५५)

कोई यह कह सकता है कि उस व्यक्तिके लिये अभी और भी कुछ कर्तव्य अवशिष्ट रह गया है? क्या कभी आकाश भी उत्पन्न अथवा नष्ट हो सकता है? इसीलिये निर्विवादरूपसे यह बात भी कही जा सकती है कि ऐसे व्यक्तिके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता; पर यह बात हरेक व्यक्तिके विषयमें तत्क्षण ही नहीं हो जाती। अपने श्रवणेन्द्रिय तथा गुरुवचनका संयोग होते ही हर कोई वस्तुस्वरूप यानी आत्मस्वरूपकी एकदमसे सिद्धि नहीं कर सकता; कारण कि सामान्य-रूपसे विहित कर्मके आचरणकी आगसे यदि काम्य तथा निषिद्ध कर्मोंका ईंधन प्रज्वलित कर उसमें रजोगुण तथा तमोगुण इन दोनों ही गुणोंको जलाकर भस्म कर दिये जायँ, धन-सम्पत्ति, पुत्र और स्वर्ग-सुख इत्यादिका लोभ यदि उसी प्रकार पूर्णतया अपने वशमें कर लिया जाय, जिस प्रकार कोई दास वशमें किया जाता है, चतुर्दिक् स्वेच्छानुसार दौड़ लगानेवाली और विषयरूपी मनसे मलीन इन्द्रियाँ यदि निग्रहरूपी तीर्थमें धोकर निर्मल कर ली गयी हों तथा स्वधर्माचरणका फल यदि ईश्वरको समर्पित करके अटल वैराग्य प्राप्त कर लिया गया हो और इस प्रकार यदि वह समस्त सामग्री इकट्ठी कर ली गयी हो जिसकी आत्मसाक्षात्कारके समय ज्ञानोत्कर्षके लिये आवश्यकता होती है और ऐसे ही अवसरपर यदि सद्गुरुसे भेंट हो जाय और वे निःसंकोच स्पष्टरूपसे आत्मबोधका उपदेश करें, तो भी हमें यह बात अवश्य सोचनी चाहिये कि क्या दवा सेवन करते ही हमारे देहकी समस्त व्याधियाँ सद्यः दूर हो जाती हैं और हमारा देह बिलकुल व्याधिमुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है? अथवा क्या सूर्योदय होते ही कभी मध्याह्न हो सकता है?

यदि उर्वरा भूमिमें उत्तम किस्मके बीज बोये जायँ तो निश्चय ही अच्छी फसल पैदा होती है; पर वह भी उचित समय आनेपर। यदि रास्ता सुगम और सहचर अच्छा मिल जाय, तो हम आसानीसे ही अपने इष्ट स्थानतक पहुँच जाते हैं; पर इन दोनों चीजोंके अलावा इष्ट स्थानतक

पीठका लगना बचाती है, ठीक वैसे ही युद्धभूमिमें शत्रुका सामना होनेपर उसे पीठ न दिखलाना उस क्षात्रवृत्तिका पाँचवाँ गुण है; हे गुणशिरोमणि धनंजय! इस बातको तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो। जैसे चारों पुरुषार्थोंमें भक्ति श्रेष्ठ है, ठीक वैसे ही उपर्युक्त चारों गुणोंमें यह गुण भी श्रेष्ठ है। जैसे अत्यधिक पुष्प और फल इत्यादि आनेपर वृक्षकी शाखाएँ नीचेकी ओर झुक जाती हैं अथवा जैसे पद्मवन अपनी सुगन्ध चतुर्दिक् फैला देता है अथवा जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी जो चाहे तथा जितनी मात्रामें चाहे उतनी मात्रामें ले सकता है, ठीक वैसे ही लेनेवालेको उसकी इच्छानुसार दान देनेको 'दान' कहते हैं और वह क्षात्रवृत्ति इस छठे गुणरत्नसे भी भूषित रहती है।

इसी प्रकार स्वयंकी ही आज्ञा पूरे जगत्में मान्य कराने तथा अपने अवयवोंका पोषण करके उन्हें अपने कामके अनुकूल बनाया जाता है, ठीक वैसे ही प्रजाका पालन करके और उनके सन्तोषके द्वारा जगत्‌का उपभोग करना ईश्वरभाव कहलाता है। यह ईश्वरभाव उस क्षात्रवृत्तिका सातवाँ गुण है, जो समस्त सामर्थ्योंका आश्रय-स्थान तथा गुणोंका सम्राट् है। इन शौर्य इत्यादि सप्तगुणोंसे जो वृत्ति ठीक वैसे ही पवित्र होती है, जैसे सप्तर्षियोंसे आकाश अलंकृत होता है, वही स्वाभाविक क्षात्रवृत्ति होती है, यही क्षत्रियोंके वास्तविक सहज गुण हैं। इन समस्त गुणोंसे युक्त जो क्षत्रिय होता है, वह साधारण मनुष्य नहीं होता, अपितु सत्त्वरूपी स्वर्णका मेरुगिरि ही होता है और यही कारण है कि वह सप्तगुणोंके स्वर्गको सँभालकर रखता है अथवा यह समझना चाहिये कि इन सप्तगुणोंसे आवृत यह क्रिया वृत्ति नहीं है, बल्कि सप्तसमुद्रोंसे आवृत पृथ्वी ही है और यह वीरशिरोमणि उसका उपभोग करता है अथवा इन सप्तगुणोंके प्रवाहोंसे यह क्रियारूपी गंगा इस क्षत्रियरूपी महासागरके अंगोंपर मानो विलास करती है, पर विषय-विस्तार बहुत हो चुका। आशय यह कि शौर्य इत्यादि गुणोंसे अंकित जो कर्म होते हैं, वही वास्तवमें क्षत्रिय-जातिके स्वाभाविक कर्म

पतिका ही अनुसरण करती है, वैसे ही उसकी बुद्धि भी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको त्यागकर एकमात्र आत्मस्वरूपके चिन्तनमें लीन हो जाती है और इन्द्रियाँ जिन शब्द तथा स्पर्श इत्यादि पाँचों विषयोंकी महत्ता बढ़ाती हैं, वे पाँचों विषय ज्ञानका मूल तत्त्व पानेकी आशासे किये जानेवाले इन्द्रिय-निरोधके कारण ठीक वैसे ही विलीन हो जाते हैं, जैसे सूर्यकी रश्मियोंके न रह जानेपर मृगजलका भी लोप हो जाता है। जैसे अनजानमें किसी अधमका ग्रहण किया हुआ अन्न वमन करके अपने उदरसे बाहर निकाल देना चाहिये, वैसे ही वह पुरुष विषय-वासनाओंको भी इन्द्रियोंके द्वारा वमन करा देता है। फिर अन्तर्मुख वृत्तिसे उन इन्द्रियोंको पवित्र तटपर ले जाकर और उनसे प्रायश्चित कराके वह उन्हें शुद्ध कर देता है।

तदनन्तर वह उन इन्द्रियोंका सत्त्वसम्पन्न धैर्यसे शोधन करके योग-साधनके द्वारा उन्हें मनके साथ जोड़कर एक कर देता है। अपने पूर्व कर्मानुसार उसे इस जन्मसे जो इष्टानिष्ट भोग भोगने पड़ते हैं, उनमें यदि कुछ गड़बड़ी अथवा क्लेश दिखायी देता है, तो भी वह अपने मनमें उसके लिये राग अथवा द्वेष नहीं करता अथवा यदि कभी उन भोगोंमें कोई अच्छी बात दृष्टिगत होती हो, तो भी वह उनके सुखके लोभमें नहीं फँसता। इस प्रकार हे किरीटी, वह पुरुष इष्ट और अनिष्ट बातोंके सम्बन्धमें राग और द्वेष—इन दोनोंको ही त्यागकर गिरि-कन्दराओं, निकुंजोंमें जा बसता है। (१०११—१०२१)

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

संसारकी भीड़वाली बस्ती छोड़कर वह मनुष्य एकमात्र अपने देहके अवयवोंकी संगतिमें ही वनमें निवास करता है। शम-दम इत्यादिके ही संग उसके सारे खेल होते हैं। मौन ही उसका भाषण होता है तथा नित्य गुरुवचनोंके चिन्तनमें रत रहनेके कारण उसे समयका जरा-सा भी ध्यान नहीं रह जाता। भोजन करनेके समय वह यह नहीं सोचता कि इससे मेरे अंग

अथवा यदि मार्ग ही न मिले तो पाँव रहकर भी क्या कर सकते हैं? इसीलिये जाति-धर्मानुसार जो हमें उचित अधिकार मिला हुआ हो, वह हमें शास्त्रोंको देखकर सुनिश्चित कर लेना चाहिये। अब हे पाण्डव! यदि अपने गृहमें अन्धकारमें रखा हुआ द्रव्य दीपक हमें दिखला दे तो उसे ग्रहण करनेमें कौन-सी बाधा है? इस प्रकार जो चीजें स्वभावतः हमारे खातेमें हैं और शास्त्रोंने भी जिनका विधान किया है, जो व्यक्ति अपने उन विहित कर्मोंको करता है, जो आलस्यका परित्याग कर और फलेच्छाको मिटाकर तन मनसे उन कर्मोंको करनेमें तल्लीन हो जाता है, जो अपने कर्मोंके आचरणके साथ व्यवस्थिततरूपसे ठीक वैसे ही चलता है, जैसे प्रवाहमें मिला हुआ जल बिना इधर-उधर मुड़े ही उस प्रवाहके साथ ही-साथ बहता चलता है; हे अर्जुन! इस प्रकार जो अपने विहित कर्मोंको करता है, वह मोक्षके इस पारवाले तटतक आ पहुँचता है। अकरणीय और निषिद्ध कर्मोंके साथ उसका कोई रिश्ता ही नहीं होता और यही कारण है कि संसारसम्बन्धी बखेड़े उसके मोक्ष-मार्गमें बाधक नहीं होते। कुतूहलवश भी वह कभी कामिक कर्मोंको स्वीकार नहीं करता और फिर चाहे चन्दनकी ही बेड़ी क्यों न हो, तो भी वह उसमें अपना पाँव नहीं फँसाता, कारण कि चन्दनकी बेड़ी होनेसे ही क्या होता है! अन्ततः है तो वह बेड़ी ही! वह सारा नित्य कर्म फलेच्छा त्यागकर करता है तथा वे सारे-के-सारे कर्म भी वह ईश्वरको अर्पण करता रहता है और यही कारण है कि वह मोक्षको सीमातक पहुँच सकता है। इस प्रकार वह इस संसारके शुभाशुभ बखेड़ोंसे छूट जानेके कारण वैराग्यरूपी मार्गसे मोक्षके द्वारपर जा धमकता है। जो समस्त सौभाग्यकी परिपूर्णता है, जिसमें मोक्षकी उपलब्धि सुनिश्चित है, जिसमें कर्मकाण्डका एकदम अवसान हो जाता है, जिसकी मोक्षफल देनेकी जवाबदेही होती है और जो पुण्यकर्मरूपी वृक्षका फल है, साधक पुरुष उस वैराग्यपर भौंरेकी तरह अनायास ही और सहज भावसे पैर रखता है।

हे धनंजय! मलद्वार तथा मूत्रद्वारके बीचवाली सीवनको एड़ीसे भलीभाँति दबाकर वह मूलबन्ध बाँधता है। वह अधोभागको संकुचित करके तथा मलस्थानके मूलबन्ध नाभिचक्रके उड्डियान-बन्ध तथा कण्ठस्थानके जालन्धर-बन्ध—इन तीनोंकी साधना करके भिन्न-भिन्न वायुओंको एक समान कर लेता है। फिर कुंडलिनीको जागृत कर तथा मध्यमा यानी सुषुम्नाका मार्ग खुला और विस्तृत करके तथा आधारचक्रसे अग्निचक्रपर्यन्त समस्त चक्रोंको भेदकर अन्तवाले सातवें चक्रका भेदन करता है जिससे ब्रह्मरन्ध्रके सहस्रदल कमलसे अमृत-वृष्टि होने लगती है और उसका प्रवाह मलस्थानके मूल-बन्धतक पहुँचा देता है। फिर ब्रह्मरन्ध्ररूपी कैलाशगिरिपर नृत्य करनेवाले चैतन्यरूपी भैरवके खप्परमें मन तथा प्राणवायुकी खिचड़ी भर देता है और इस प्रकार सिद्ध किये हुए योगकी बलिष्ठ सेना अपने आगेकी ओर खड़ा कर तथा पीछेकी ओर अपने ध्यानका दुर्ग खूब मजबूत करता है। ध्यान तथा योग—इन दोनोंको आत्मतत्त्वरूपी ज्ञानमें निर्विघ्नतापूर्वक स्थिर रखनेके लिये वह पहलेसे ही वैराग्य-सदृश मित्रके संग मित्रता स्थापित कर लेता है। ऊपर जितने स्थान बताये गये हैं, उन स्थानोंको पार करनेमें यह वैराग्य-सरीखा मित्र उसका बहुत सहयोग करता है तथा बराबर उसके साथ ही रहता है। जितनी जगहतक दृष्टिकी पहुँच है, उतनी जगहतक यदि दृष्टि तथा दीपकका वियोग न हो तो फिर इष्ट वस्तुके दिखायी देनेमें भला किस चीजका विलम्ब हो सकता है? ठीक इसी प्रकार जिस समय जीवको मुमुक्षता मिल जाती है, उस समय उसकी अन्तःकरण-वृत्ति ब्रह्मतत्त्वमें समा जाती है और यदि उस स्थितितक उसका वैराग्य कायम रहे, तो फिर ब्रह्मके संग होनेवाली उसकी एकता कहाँसे भंग हो सकती है? आशय यह है कि जिस सौभाग्यशाली व्यक्तिसे वैराग्ययुक्त योगाभ्यास सध जाता है, वही व्यक्ति आत्मप्राप्तिके योग्य हो जाता है। वैराग्यरूपी अभेद्य कवच धारण कर वह राजयोगरूपी अश्वपर सवारी करता है तथा मार्गमें जो छोटे-बड़े विघ्न उसे दृष्टिगत होते हैं, उनके टुकड़े करनेवाले ध्यानरूपी तीक्ष्ण धारवाली तलवार वह अपने विवेकरूपी

मस्तकपर उठा लेता है अर्थात् उसका अत्यधिक आदर करता है। वही सच्ची और उत्कृष्ट सेवा कहलाती है जिस सेवामें स्वामीके समस्त मनोरथ पूर्ण किये जाते हैं। हे पाण्डव! इसके अलावा चाहे और जो सेवा हो, वह सब एकमात्र व्यापार ही है। (८८५—९१३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

अतएव यह सिर्फ विहित कर्मोंको करना ही नहीं है, अपितु इसे ईश्वरकी इच्छाका पालन ही जानना चाहिये। जिससे इस जीवसृष्टिने आकार धारण किया है, जो अविद्या (माया)-रूपी धज्जियाँ जोड़कर यह जीवरूपी गुड़िया बनाता है और त्रिगुणोंकी बटी हुई अहंकाररूपी रज्जुसे उसे नचाता है, जिसने यह समस्त जगत् अपने प्रकाशसे दीपज्योतिकी तरह बाह्याभ्यन्तर प्रकाशित कर रखा है, यदि उस सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी विहित कर्माचरणरूपी पुष्पोंसे पूजा की जाय तो उसे अपार सन्तोष होता है। जिस समय इस प्रकारकी पूजासे वह ईश्वर सन्तुष्ट हो जाता है, उस समय वह उस विहित कर्मोंका आचरण करनेवाले भक्तको वैराग्यसिद्धिका प्रसाद प्रदान करता है, फिर जब उस वैराग्यकी दशामें एकमात्र उस एक ईश्वरकी ही धुन लग जाती है, तब जीवको यह समस्त जगत् वमन किये हुए अन्नकी भाँति घृणित जान पड़ता है। प्राणप्रिय पतिसे वियुक्त होनेवाली स्त्रीका जीवन जैसे पतिकी चिन्ताके कारण निरर्थक हो जाता है, ठीक वैसे ही उस भक्तको भी सुखके समस्त विषय दुःखद ही जान पड़ते हैं। इस परोक्ष ज्ञानका इतना अधिक माहात्म्य है कि ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके पूर्व ही एकमात्र उसके ध्यानसे ही जीवमें तन्मयता आ जाती है। इसीलिये जो व्यक्ति मोक्ष पानेकी कामना तथा प्रयत्न करता हो, उसे स्वधर्मका आचरण आस्थापूर्वक करना चाहिये। (९१४—९२२)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

ज्यों उसकी पूर्ति की जाय, त्यों-त्यों वह रिक्त होता जाता है और जितना ही उसका पोषण किया जाय, उतना ही वह उग्ररूप धारण करता जाता है, उस 'काम' नामक वैरीका भी वह योद्धा नाश कर डालता है; कारण कि उसका नाश करते ही 'क्रोध' नामक वैरीका नाश स्वतः हो जाता है। कामका नाश कर डालनेसे क्रोधका भी स्वतः नाश ठीक उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार जड़ काटनेमात्रसे ही शाखाओंका अपने-आप नाश हो जाता है। इसीलिये जहाँ कामरूपी वैरीका नाश कर दिया जाता है। वहाँ क्रोधरूपी वैरीका नृत्य भी अपने-आप नाश हो जाता है। जैसे कोई सामर्थ्यवान् पुरुष अपना बोझ दूसरेके ऊपर जबर्दस्ती लादनेसे नहीं चूकता, वैसे ही जिस परिग्रहका स्वीकार करनेसे उसका अत्याचार निरन्तर बढ़ता ही जाता है, जो सिरपर सवार हो जाता है, मनुष्यमें नाना प्रकारके दुर्गुण उत्पन्न करता है तथा जीवको ममतारूपी लाठी पकड़कर चलनेके लिये मजबूर करता है, जिस परिग्रहने शिष्यों तथा शास्त्रों इत्यादिका आडम्बर रचकर और मठ-मुद्रा इत्यादिके ढोंग खड़े करके संन्यासियोंतकको अपने फन्देमें फँसा लिया है, जो घरमें कुटुम्बरूपमें साथ लग जाता है और वनमें जो वन्यरूपमें निरन्तर सम्मुख खड़ा रहता है, जो नंगे शरीरोंका भी पीछा नहीं छोड़ता, उस परिग्रह नामक अजेय वैरीका जो आश्रय-स्थान है उसको भी वह योद्धा नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है और संसारपर विजय पानेका सुख भोगता है। यही कारण है कि ज्ञान-गुणके अमानित्व इत्यादि जो समूह हैं, वे मानो कैवल्य देशके राजाओंके रूपमें आकर उसके सम्मुख उपस्थित होते हैं और तब शुद्ध सत्य ज्ञानका स्वामित्व उसे सौंप करके वे स्वयं उसके परिवारमें एक सदस्य बनकर रहते हैं। फिर जिस समय प्रवृत्तिरूपी राजमार्गसे उस योद्धाकी सवारी निकलती है, उस समय जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थारूपी प्रमदाएँ कदम-कदमपर उसके ऊपरसे सुखरूपी राई-नोन उतारती चलती हैं। उसके आगे-आगे ब्रह्मबोधरूपी अंगरक्षक (विवेक) समस्त मायिक प्रसाररूपी भीड़-भाड़ दूर

आत्मदर्शन न हो, तबतक कर्म करना क्या कभी बन्द हो सकता है? और चाहे कोई कर्म क्यों न किया जाय, पर उसे करनेका क्लेश सबसे पहले रखा ही रहता है। (९२३—९३५)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता: ॥ ४८ ॥

सभी कर्मोंको करनेमें यदि कष्ट सहना ही पड़ता है, तो फिर यदि स्वधर्मके पालनमें भी कष्ट होता हो तो इसके लिये स्वधर्मको दोष क्यों दिया जाय? यदि सीधे रास्तेसे मनुष्य चले तो भी पैरोंको श्रम करना पड़ता है और यदि टेढ़े मेढ़े वन मार्गसे चले तो भी परिश्रम करना ही पड़ता है। चाहे कंकड़-पत्थरोंकी गठरी बाँधकर उठाओ और चाहे भोजन-सामग्रीकी गठरी उठाओ, बोझ तो दोनोंका ही होता है; पर जो भार ढोनेसे यात्रामें थकान दूर करनेमें सहायता मिले, वही भार ढोना उचित होता है। और नहीं तो चाहे अनाज हो और चाहे भूसा हो—इन दोनोंको ही कूटनेमें परिश्रम एक समान ही करना पड़ता है। चाहे श्वानका मांस पकाया जाय और चाहे हविष्यान्न पकाया जाय—इन दोनोंमें पकानेकी क्रिया एक समान ही होती है। हे सुविज्ञ! चाहे दधिका मंथन किया जाय और चाहे जलका मंथन किया जाय—इन दोनोंमें मंथनकी क्रिया एक समान ही होती है। ठीक इसी प्रकार कोल्हूमें बालू डालकर पेरना और तिल डालकर पेरना—ये दोनों क्रियाएँ एक ही हैं। हे धनंजय! चाहे हवनहेतु आग जलायी जाय और चाहे किसी अन्य कामके लिये आग जलायी जाय, पर धूआँ सहनेका कष्ट इन दोनों क्रियाओंमें एक समान ही होता है।

यदि धर्मपत्नी और वेश्या—इन दोनोंका पालन करनेमें धनका खर्च एक समान ही होता हो तो फिर वेश्याको रखकर अपने ऊपर कलंक क्यों लिया जाय? यदि शत्रुको पीठ दिखाकर पीठपर लगे हुए चोटोंसे भी मृत्यु अवश्यम्भावी हो, तो फिर शत्रुका डटकर मुकाबला करने तथा चोट खानेमें और कौन-सी विशेष हानि हो सकती है? यदि किसी बुरे

(स्त्री) पतिके साथ भेंट होनेपर शान्त हो जाती है अथवा कदली-वृक्षकी बाढ़ फल लगनेपर बन्द हो जाती है अथवा जैसे किसी ग्राम या नगरमें पहुँचनेपर रास्ता समाप्त हो जाता है, वैसे ही वह पुरुष आत्मसाक्षात्कारका प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर साधनके समस्त हथियार भी शनैः-शनैः निकालकर नीचे रख देता है। हे धनंजय! उसकी एकता ब्रह्मके साथ स्थापित हो जाती है और इसलिये शनैः-शनैः उसके साधनके उपायोंका भी अवसान होने लगता है। हे परम सौभाग्यशाली! उस समय उस पुरुषके अंगमें उस शान्तिका पूर्णतः संचार हो जाता है जो वैराग्य-संस्कारकी पूर्ति करनेवाला गोधूलिका समय अथवा ज्ञानाभ्यासका अन्त अथवा योगफलके परिपाककी अवस्था है और तब उस पुरुषमें प्रत्यक्ष ब्रह्म होनेकी पात्रता आ जाती है।

चतुर्दशीकी चन्द्रकला पूर्णिमाकी चन्द्रकलाकी अपेक्षा जितनी कम होती है, स्वर्णका पन्द्रहवाँ कस सोलहवें कसकी अपेक्षा जितना हलका होता है अथवा नदीका जितना जल समुद्रमें प्रवेश करता है, केवल उतना ही जल नदीका चंचलरूप दिखलाता है और शेष जल जैसे समुद्रका ही शान्त स्वरूप प्रकट करता है, ठीक वैसे ही 'ब्रह्म' और 'ब्रह्मस्वरूप होनेवाले सिद्ध' में न्यूनता और अधिकतावाला सम्बन्ध होता है और वह थोड़े समयमें इस शान्तिवाले गुणसे केवल ब्रह्म ही हो जाता है; पर इस प्रकार प्रत्यक्ष ब्रह्म न होनेपर भी पुरुषको ब्रह्मत्वका जो अनुभव होता है, वही अनुभव 'ब्रह्मस्वरूप होनेकी योग्यता' कहलाता है। (१०५०—१०९०)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

हे पाण्डुसुत! जिस समय पुरुषमें ब्रह्मस्वरूप होनेकी यह योग्यता आ जाती है, उस समय वह पुरुष चित्तकी उस प्रसन्नताके आसनपर विराजमान होता है, जो ब्रह्मबोधके कारण होती है। जिस उष्णताके कारण अन्न पकता है वही उष्णता जब पकाये हुए अन्नमेंसे निकल जाती है, तब यह अन्न

कि इस जगहपर पहुँचनेपर वह पुरुष सर्वत्र कैसा आचरण करता है और उसे क्या लाभ प्राप्त होता है। (९३६—९५५)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

जैसे जालमें हवा कैद नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही इस देहादिमें वह पुरुष भी कैद नहीं हो सकता। जिस समय फलोंके पकनेका मौसम आता है, उस समय न तो फल ही डालमें लगा रह सकता है और न डाल ही उस फलको पकड़े रह सकती है। ठीक इसी प्रकार इस परिपूर्णावस्थामें उस पुरुषका सांसारिक प्रेम एकदम निर्बल हो जाता है। जैसे कोई यह आग्रह नहीं करता कि यह विषसे भरा पात्र मेरा ही है और मैं ही इसे पीऊँगा, ठीक वैसे ही पुत्र-कलत्र तथा धन-सम्पत्ति इत्यादि उसके मनसे उतर जाते हैं और वह कभी यह नहीं कहता कि यह सब मेरे हैं। आशय यह कि उसके मनमें विषयोंके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है और उसकी बुद्धि समस्त विषयोंसे दूर रहने लगती है तथा हृदयके एकान्त प्रदेशमें प्रवेश करती है। अब यदि इस प्रकारके पुरुषका मन बाहर भी भ्रमण करता है, तो भी उसकी वैराग्ययुक्त बुद्धि एकनिष्ठ सेविकाकी भाँति उससे भयभीत होकर सब काम करती है और उसकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण कभी नहीं करती। इसके अलावा हे किरीटी! वह मनको ऐक्य भावनारूपी मुट्ठीमें कैद करके उसे आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त करता है। उस समय सांसारिक और पारलौकिक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उसकी वासना ठीक वैसे ही दबकर मर जाती है; जैसे मिट्टीसे दबी हुई अग्नि मर जाती है। इस प्रकार मनोनिग्रह करनेके कारण उसकी सम्पूर्ण वासनाएँ स्वतः नष्ट हो जाती हैं। किंबहुना वह पुरुष ऐसे लक्षणोंवाली अवस्थाको प्राप्त हो जाता है।

हे पाण्डव! वह मायाजन्य ज्ञानाभासको त्यागकर और उसका नाश करके वास्तविक ज्ञानके क्षेत्रमें आकर स्थित हो जाता है। जैसे एकत्रित किया हुआ जल प्रयोगमें लानेसे समाप्त हो जाता है, ठीक वैसे ही उसके

जाता है और उसी दिनसे शुक्लपक्षका भी अवसान हो जाता है, ठीक वैसे ही जब जाननेके समस्त विषयोंका अस्तित्व मिटाकर जाननेवाला अपने साथ ज्ञानको लेकर मेरे स्वरूपमें समा जाता है, उसी समय अज्ञानकी पूर्णतया इति श्री हो जाती है। फिर जैसे कल्पके अन्तके समय नदी तथा समुद्र इत्यादिके आकार नष्ट हो जाते हैं और समस्त ब्रह्माण्ड जलमग्न हो जाता है, जैसे घट इत्यादि आकारोंके विनष्ट हो जानेपर सर्वत्र समानरूपसे भेदहीन आकाश ही अवशिष्ट रह जाता है अथवा जैसे काष्ठके भस्म हो जानेपर एकमात्र आग ही अवशिष्ट रहती है, जैसे स्वर्णकारकी घरियामें पड़नेपर तथा आभूषणका आकार विनष्ट हो जानेपर स्वर्णके लिये नाम-रूप इत्यादिवाला भेदभाव प्रयुक्त नहीं हो सकता अथवा यदि और उदाहरण प्रस्तुत करना हो तो जैसे जाग उठनेपर तथा स्वप्नके न रह जानेपर एकमात्र हमीं-हम शेष रह जाते हैं, ठीक वैसे ही वह मेरे अतिरिक्त अन्य किसीको नहीं देखता अथवा पहचानता; यहाँतक कि स्वयंको भी वह न देखता ही है और न पहचानता ही है। इस प्रकार उसके द्वारा मेरी चौथी भक्ति होती है।

आर्त्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्त जिन मार्गोंसे मेरी भक्ति करते हैं, वे तीनों मार्ग इससे अलग हैं और यही कारण है कि मैं इस ज्ञानभक्तिको चौथी भक्ति नामसे पुकारता हूँ; और नहीं तो यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो न यह भक्ति तीसरी ही है और न चौथी ही है, न पहली ही है और न अन्तिम ही है। वास्तवमें यह भक्ति तो मेरी स्वाभाविक अवस्था है। हे पार्थ! वह जो मेरा स्वाभाविक प्रकाश है, जो उस अज्ञान तिमिरका अन्त करता है, जो लोगोंके मनमें मेरे विषयमें होता है, मेरा वास्तविक स्वरूप जिसके सहयोगसे लोगोंको दृष्टिगोचर होने लगता है, जो समस्त लोगोंको सबके भजनमें प्रवृत्त करके उन्हें पूर्ण और वास्तविक ज्ञान करा देता है और जिस प्रकाशका यह चमत्कार होता है कि जो जिस जगहपर बैठकर देखता है, वह उसी जगहपर श्रद्धापूर्वक बैठा हुआ सब कुछ देखता है, जिस प्रकाशके सहयोगसे जगत्‌का भाव अथवा अभाव ठीक

साथ उसमें दृष्टिगत होनेवाला प्रतिबिम्ब भी नेत्रोंसे दूर हो जाता है, उस समय जिस प्रकार एकमात्र द्रष्टा ही अवशिष्ट रह जाता है, ठीक उसी प्रकार जो अज्ञान विनष्ट हो जाता है, उसके साथ-ही-साथ ज्ञातृत्व भी लुप्त हो जाता है और तब सिर्फ क्रियाहीन चैतन्य ही बचा रह जाता है। हे पार्थ! इस चैतन्यमें स्वभावतः ही किसी प्रकारकी क्रिया नहीं हो सकती और यही कारण है कि इसे 'नैष्कर्म्य' नामसे पुकारते हैं। हमारा जो मूल स्वरूप है, वही उस समय हमें मिल जाता है तथा हमारा अज्ञानजन्य भेदभाव अथवा भिन्नता एकदम मिट जाती है। जिस प्रकार वायुका प्रवाह बन्द हो जानेपर लहरें जलमें विलीन होकर समुद्रका रूप धारण कर लेती हैं, उसी प्रकार 'न' होना अथवा 'भिन्नता मिट जाना' उत्पन्न होता है और इसीको नैष्कर्म्यकी सिद्धिके रूपमें जानना चाहिये। यही सिद्धि समस्त सिद्धियोंमें सर्वाधिक महत्त्वकी तथा श्रेष्ठ है। मन्दिर-निर्माणमें जैसे कलश होता है अथवा गंगा जैसे सिन्धुमें प्रवेश करती है अथवा स्वर्णका शुद्धपन जैसे सोलहवाँ कस है, ठीक वैसे ही ज्ञानाज्ञानके विनष्ट हो जानेपर इस दशाको पहुँचना है। इस दशामें पहुँचनेके बाद फिर कुछ भी निष्पन्न करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रह जाता और इसीलिये इसको परम सिद्धि कहते हैं। गुरुकृपा होनेपर परम सौभाग्यशाली व्यक्तिको इस आत्मसिद्धिकी उपलब्धि होती है। (९५६—९८४)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है अथवा कपूर भी दीपकके संसर्गसे दीपकका रूप धारण कर लेता है अथवा लवण भी जलका स्पर्श होते ही जलका रूप धारण कर लेता है अथवा सुषुप्त व्यक्तिके जागनेपर निद्रा तथा स्वप्न दोनोंका ही नाश हो जाता है और वह तत्क्षण चेतनायुक्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार गुरुवचन श्रवण करते ही भाग्यवश जिसकी द्वैत बुद्धिका क्षय हो जाता है और जिसे ऐक्यरूप आत्मप्रतीतिमें विश्राम प्राप्त होता है, उसके बारेमें क्या कभी

युक्त नहीं होता? अवश्य होता है; पर उसमें पूर्णता सिर्फ पूर्णिमाके दिन ही आती है। इसी प्रकार ज्ञानमार्गसे भी एकमात्र 'मैं' ही दृष्टिगत होता हूँ; पर सिर्फ भिन्न-भिन्न दिशाओंसे दृष्टिगत होता हूँ और इस प्रकार दृष्टिगत होनेपर 'मैं' को 'मैं' की ही उपलब्धि होती है और इसीलिये द्रष्टाका द्रष्टत्व एकदम समाप्त हो जाता है। इसीलिये हे पार्थ! दृश्य-पथके परे जो मेरा भक्तियोग है उसे मैंने चौथी भक्ति कही है। (१०९१—११२९)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

जो भक्त इस ज्ञान-भक्तिके द्वारा मुझसे मिलकर एकरूप हो जाता है, उसके बारेमें तुम यह सुन ही चुके हो कि वह भक्त नहीं है, अपितु स्वयं मैं ही हूँ। कारण कि हे कपिध्वज! सप्तम अध्यायमें मैं हाथ उठाकर यह बात तुमको बतला चुका हूँ कि ज्ञानी पुरुष मेरी आत्मा ही होता है। हे धनंजय! कल्पारम्भमें मैंने यही भक्ति भागवतके निमित्तसे ब्रह्मदेवको सिखलायी थी। ज्ञानीजन इसे 'स्व-संविती' और शैव इसे 'शक्ति' कहते हैं तथा मैं इसे 'अपनी परम भक्ति' कहता हूँ। जिस समय क्रमयोगी (क्रमशः ब्रह्मप्राप्ति करनेवाला) मद्रूप हो जाते हैं, उस समय उन्हें इसका फल प्राप्त होता है और तब फिर सम्पूर्ण जगत् एकमात्र मेरे योगसे भर जाता है। उस दशामें विवेकके साथ-साथ वैराग्य, मोक्षके साथ-साथ बन्ध तथा निवृत्तिके साथ-साथ वृत्ति भी पूर्णतया विनष्ट हो जाती है। सब कुछ इसी पार चला आता है और यही कारण है कि उस पार कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। जैसे छिति, जल, तेज और वायु—इन चारों भूतोंको निगलकर एकमात्र आकाश ही अवशिष्ट रहता है, ठीक वैसे ही साध्य और साधनसे परे जो निर्मल और निर्दोष तत्त्व मैं हूँ, उसी तत्त्वके साथ मिलकर और एकाकार होकर वह पुरुष आत्मानन्दका अनुभव करता है। जैसे गंगा समुद्रमें प्रविष्ट होकर तथा उसके साथ मिलकर प्रकाशित होती है, ठीक वैसे ही तुम यह बात अच्छी तरहसे समझ लो कि आत्मानन्दके उपभोगका भी

पहुँचनेके लिये समयकी भी आवश्यकता होती ही है। ठीक इसी प्रकार जब चित्तमें पूर्णरूपसे वैराग्य प्रवेश कर जाता है, तिसपर सद्गुरुके भी दर्शन होते हैं और अन्तःकरणमें आत्म-अनात्मरूपी विवेकका अंकुर भी बहुत जोरोंसे फूटता है और इस विवेकके कारण जब ऐसा निश्चित अनुभव हो जाता है कि अगर कोई सत्य वस्तु है तो वह एकमात्र ब्रह्म ही है और इसके सिवा जो कुछ है, वह सब मायाजनित मोहजाल है, तभी वह पुरुष कालक्रमसे उन ब्रह्मतत्त्वमें समरस होकर ब्रह्मत्ववाली स्थितिको पहुँचता है। जो ब्रह्मतत्त्व सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें मोक्षका कोई कार्य ही नहीं रह जाता है, जो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—इन तीनोंको भी निगल जाता है, जो ज्ञानकी सारी क्रियाएँ भी अन्तमें बन्द कर देता है, जिसमें ऐक्यकी एकता भी नहीं रहती है, जिसमें आनन्दकण भी विलीन हो जाता है और जो अन्ततः एक ऐसा शून्यस्वरूप शेष रहता है, जो कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार भूखे व्यक्तिके सम्मुख षड्रस व्यंजन परोसनेपर हरेक ग्रासमें उसका समाधान होता है, ठीक उसी प्रकार वैराग्यके सहयोगसे ज्यों ही विवेकरूपी दीपक प्रज्वलित होता है, त्यों ही आत्मस्वरूपरूपी गुप्त भण्डार उसके लिये खुल जाता है। फिर भी जो मनुष्य इतनी अत्यधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है कि आत्मस्वरूपके वैभवका प्रत्यक्ष उपभोग कर सके, वह जिस क्रमसे उस ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यतातक पहुँचता है, उसके लक्षणके सम्बन्धमें अब मैं तुमको स्पष्टरूपसे बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। (९८५—१०१०)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

गुरोपदिष्ट मार्गसे चलकर वह विवेकरूपी तीर्थपर पहुँचकर अपनी बुद्धिका सारा मल धो डालता है। फिर जैसे राहुके मुखसे मुक्तकान्ति आकर चन्द्रमाका आलिंगन करती है, ठीक वैसे ही उस पुरुषकी शुद्ध हो जानेवाली बुद्धि आत्मस्वरूपसे जा मिलती है। जैसे कोई पतिपरायणा स्त्री अपने श्वशुरगृह तथा मातृ-पक्ष दोनोंका परित्याग कर एकमात्र अपने

क्रिया किये मेरा उपभोग करता रहता है। आभूषण जैसे स्वभावतः स्वर्णका उपभोग करता है अथवा सुगन्ध जैसे चन्दनमें बिना कुछ भी किये बनी रहती है, चाँदनी जैसे बिना कोई क्रिया किये चन्द्रबिम्बमें विलास करती है, ठीक वैसे ही अद्वैतमें यद्यपि किसी क्रियाको करनेकी गुंजाइश नहीं होती, पर फिर भी भक्तिके लिये उसमें गुंजाइश रहती है। किन्तु यह बात अनुभव करनेसे ही समझमें आती है, सिर्फ शब्दोंके द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। फिर इस प्रकारका केवलस्वरूप पुरुष जिस समय अपने पुराने संस्कारोंके वशीभूत होकर कुछ भी बोलता है, उस समय उसका वही बोलना मेरी भक्ति होता है और तब अतिशीघ्र ही मैं उसका उत्तर देता हूँ और फिर मैं ही वह बोलनेवाला भी होता हूँ। जिस समय बोलनेवालेका सिर्फ अपने-आपसे योग होता है, उस समय उससे कुछ भी बोला ही नहीं जा सकता और यही कारण है कि उस अवस्थामें मेरा उत्तम स्तवन एकमात्र मौन रहकर ही किया जाता है।

अतएव जिस समय वह भक्त बोलने लगता है, उस समय मानो मैं ही उसके द्वारा बोलता हूँ और इसीलिये मौन फलीभूत होता है तथा उसी मौनसे वह मेरा स्तवन भी करता है। इसी प्रकार वह अपनी आँखोंसे जो कुछ देखता है, उसे देखनेमें दृश्य वस्तु तो एक ओर हट जाती है और वह देखना उसे स्वयं उसीका स्वरूप दिखलाता है। जैसे दर्पणमें देखनेवालेको स्वयं अपना वही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जो उस दर्पणमें देखनेसे पूर्व विद्यमान होता है। ठीक वैसे ही उस भक्तका देखना भी उसे स्वयं उसीका दर्शन कराता है। इस प्रकार जिस समय दृश्य लुप्त हो जाता है तथा द्रष्टाको द्रष्टाके रूपमें उसका अनुभव होता है, उस समय द्रष्टाके अलावा अन्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता और यही कारण है कि उसके द्रष्टत्वका भी लोप हो जाता है। जब स्वप्नावस्थामें दृष्टिगत होनेवाली स्त्रीको गले लगानेके लिये कोई पुरुष आगे बढ़ता है, पर शीघ्र ही जाग उठता है, तब उसे मालूम पड़ता है कि न तो वह मेरी पत्नी ही थी और न मैं उसका पति हूँ और

बलवान् हों, मेरी भूख शान्त हो और मेरी जिह्वाको ही कुछ स्वाद मिले। मिताहार (अल्पाहार)-से उसे जो सन्तोष प्राप्त होता है उसकी माप ही नहीं की जा सकती। वह यह विचार कर अत्यल्प आहार ग्रहण करता है कि खाये हुए अन्नकी उष्णतासे मेरे क्षीण प्राण बचे रहें। जैसे अपने पतिके सिवा किसी दूसरे पुरुषके इच्छा दिखलानेपर कुलांगना उसकी ओर स्वप्नमें भी प्रवृत्त नहीं होती ठीक वैसे ही वह भी निद्रा तथा आलस्यके अधीन नहीं होता। साष्टांग नमन करनेके समय तो उसका शरीर जमीनको निश्चितरूपसे स्पर्श करता है, पर उस नमन प्रसंगके अलावा वह कभी जमीनपर लेटनेका अविचार ही नहीं करता। वह अपने हाथ-पैरका प्रयोग सिर्फ उतना ही करता है जितना उसके शरीरके लिये आवश्यक होता है। आशय यह है कि वह अपने शरीरका बाह्याभ्यन्तर सब कुछ अपने ही अधीन रखता है; और हे वीरशिरोमणि! वह अपने अन्तःकरणकी वृत्तिको मनकी चौखट भी नहीं देखने देता, तो फिर उस चौखटको लाँघकर उसके मनतक पहुँचनेका कोई सवाल ही नहीं उठता। फिर भला ऐसी स्थितिमें मनके विचार कहनेका अवसर ही कहाँ रह जाता है? इस प्रकार वह तन, वाणी तथा मन इत्यादि अगल-बगलके इन समस्त पदार्थोंपर विजय प्राप्त करके ध्यानरूपी आकाशपर ही हाथ डालता है। गुरुके उपदेशसे उसका जो आत्मबोध जाग्रत् हो जाता है, उसके सम्बन्धका अपना निश्चय वह अनवरत दर्पणकी भाँति अपने सम्मुख रखकर उसे देखा करता है। यह ठीक है कि वह स्वयं ध्याता (ध्यान करनेवाला) होता है, पर उसके अन्तःकरणकी वृत्तिमें ध्यान भी ध्येयमें मिलकर उसके साथ एकाकार हो जाता है। हे पाण्डुसुत! उसके ध्यान करनेकी इस रीतिको तुम अपने ध्यानमें रखो। फिर जिस समयतक ध्येय, ध्यान और ध्याता—ये तीनों मिलकर एकाकार नहीं हो जाता, उस समयतक उसका ध्यान निरन्तर चलता रहता है। यही कारण है कि इस प्रकारका मोक्ष आत्मज्ञानमें दक्ष हो जाता है; पर उसके द्वारा ये समस्त बातें इसी कारण होती हैं कि वह योगाभ्यासको अपनी और सब बातोंसे आगे रखता और महत्त्व देता है।

कैसे उपयोगी हो सकता है? यही कारण है कि वह भक्त भी जिस समय पूर्णतया मद्रूप हो जाता है, उस समय उसका आवागमन इत्यादि सारे-के-सारे व्यवहार बन्द हो जाते हैं और यह बन्द होना ही मानो मेरी अद्वैतताकी यात्रा है। जलपर तरंगें चाहे कितनी ही सुदूर क्यों न चली जायँ, तो भी यह नहीं माना जा सकता कि उसने भूमिपरकी मंजिल पूर्ण की है। उसमें पुरानी जगह छोड़नेवाला भी जल ही होता है तथा नयी जगह ग्रहण करनेवाला भी जल ही होता है; जो गति प्रदान करता है, वह भी जल ही होता है तथा जिसे गति मिलती है, वह भी जल ही होता है। आशय यह कि जो कुछ होता है, वह सब जल-ही-जल होता है।

हे पाण्डुसुत! जलकी बाढ़ चाहे कितनी ही अधिक क्यों न आवे, पर फिर भी उसका जलत्व सदा अबाधित ही रहता है और यही कारण है कि तरंगोंका एकत्व कभी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार मैंपनका विस्तार चाहे कितना ही अधिक क्यों न हो, पर फिर भी वह सारा-का-सारा मुझमें ही आ पहुँचता है और इसी आवागमनके कारण वह मेरा ही यात्री ठहरता है और यदि देहके स्वभाववश वह कोई कर्म करने लगे, तो उस कर्मके निमित्तसे भी मैं ही उसे प्राप्त होता हूँ। ऐसी दशामें हे पाण्डुसुत! कर्म तथा कर्ता—इन दोनोंके ही नामोंका लोप हो जाता है और मुझे आत्मस्वरूपमें देखकर वह स्वयं ही 'मैं' हो जाता है। दर्पणको यदि दर्पण ही देखे तो वह कोई देखना नहीं कहा जा सकता। स्वर्णका ही मुलम्मा कभी स्वर्णपर नहीं चढ़ सकता अथवा दीपकको कभी दीपकसे प्रकाश नहीं दिखलाया जा सकता। इसी प्रकार 'मैं' जो कर्म हूँ वही कर्म यदि 'मैं' करे, तो उस दशामें वह किसी प्रकार कर्म हो ही नहीं सकता। जिस दशामें कर्म तो सम्पन्न किये जाते हों, पर यह न कहा जा सकता हो कि वह कर्म सम्पन्न करता है, तब उसका कर्म करना न करनेके ही बराबर होता है। सम्पूर्ण कर्मोंके मद्रूप हो जानेके कारण उसका फल कुछ न करना ही होता है और वास्तवमें यही मेरी सच्ची भक्ति है।

मुट्ठीमें कसकर पकड़ लेता है। इस प्रकार जैसे अँधेरेको चीरता हुआ सूर्य आगे बढ़ता जाता है, ठीक वैसे ही वह संसाररूपी युद्ध-क्षेत्रमें आगे बढ़ता जाता है और अन्तमें मोक्षरूपी विजयलक्ष्मी उसके गलेमें जयमाल डालती है। (१०२२—१०४९)

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

इस विजय-अभियानमें जो दोषरूपी वैरी बाधक होते हैं और जिन्हें यह योद्धा परास्त करता है, उनमेंसे प्रमुख वैरी देहका 'अहंकार' है, यह अहंकार ऐसा वैरी है जो न तो आदमीको कालकवलित हो जानेपर ही छोड़ता है और न जन्म धारण करनेपर ही चैनसे जीने देता है तथा हड्डियोंके इस ढाँचेमें ही जीवको उलझाकर उसे क्लेश देता रहता है। यही देहरूपी दुर्ग ही उस अहंकारका मुख्य आधार है और उसके इसी दुर्गपर आक्रमण करके वह योद्धा उसे मटियामेट करता है, उसका दूसरा वैरी 'बल' होता है और उसके भी वह प्राण ले लेता है। विषयोंका नामोल्लेख होते ही यह वैरी चौगुनेसे भी अधिक आवेशसे उठ खड़ा होता है और इसके कारण मानो सारे संसारको निगलनेके लिये मृत्यु दौड़कर आ पहुँचती है। इसे विषयरूपी विषका गहरा दह (कुण्ड) ही जानना चाहिये। समस्त दोषोंका यही अधिपति है, परन्तु यह ध्यान-खड्गका वार भला किस प्रकार सहन कर सकता है? जो-जो विषय मधुर तथा सुखकर जान पड़ते हैं, उन्हींका नकाब ओढ़कर जो मनुष्यके देहपर आक्रमण करता है, जो मनुष्यको बहकाकर सन्मार्गसे दूर ले जाता है तथा प्रवासी जीवोंको अधर्मरूपी अरण्यमें ले जाकर नरकरूपी व्याघ्रोंके मुखमें डाल देता है, वह विश्वसनीय बनकर घात करनेवाला 'दर्प' नामक वैरी है, जिसका नाश यह योद्धा ही करता है।

इसी प्रकार बड़े-बड़े तपस्वी भी जिससे भय खाते हैं, जिससे क्रोध-सरीखा महादोष उत्पन्न होता है और जिसका यह स्वभाव है कि ज्यों-

इसी प्रकार वह पुरुष भी भावरूपसे अथवा अभावरूपसे ज्ञेयके रूपमें मालूम पड़नेवाले सारे पदार्थोंके विषयमें यही समझता है कि सब कुछ जाननेवाला मैं ही हूँ और यही अनुभव करके वह उन सबका उपभोग करता है। उसे इस बातका पता होता है कि मैं अजन्मा, अमर, अक्षय, अक्षर, अपूर्व तथा अपार आनन्द हूँ। मैं ही अचल, अच्युत, अनन्त, अद्वय, आद्य, निराकार तथा साकार भी हूँ। मैं ही सत्ताके सम्मुख दबनेवाला अथवा जीव भी हूँ तथा उसका संचालन करनेवाला ईश्वर भी हूँ और मैं ही अनादि, अविनाशी, निर्भय, आधार तथा आधेय भी हूँ। सत्ताधारी, नित्य, सिद्ध, स्वयंभू, सदा सर्वरूप, सर्वान्तर्यामी तथा सबसे परेका हूँ। मैं ही नूतन, पुरातन, शून्य तथा सम्पूर्ण भी हूँ। मैं ही स्थूल भी हूँ और सूक्ष्म भी हूँ; जो कुछ है वह सब मैं ही हूँ। मैं ही कर्मशून्य, द्वैतशून्य, संगशून्य तथा शोकशून्य भी हूँ और व्याप्त होनेवाला तथा व्याप्त करनेवाला पुरुषोत्तम भी मैं ही हूँ। मैं शब्दरहित तथा श्रवणरहित हूँ। मुझमें रूप अथवा गोत्र इत्यादि कुछ भी नहीं है। मैं सब जगह समान तथा स्वयंसिद्ध और परब्रह्म हूँ।

इस प्रकारके अपनेपनके एकत्वके द्वारा वह मुझे इस अद्वय (एकत्व) भक्तिके सहयोगसे सचमुच जानता है और इस बातको भी वह भलीभाँति जानता है कि इस आत्मबोधका अनुभव जो ज्ञान है वह भी मैं ही हूँ। जैसे नींद खुलनेपर स्वप्नाभास एकदम मिट जाता है, और एकमात्र वह पुरुष ही जो स्वप्न देखता है, रह जाता है और इसका पता जैसे स्वयं उसे ही होता है अथवा जैसे सूर्य जिस समय प्रकट होता है उस समय वही प्रकट करनेवाला भी होता है और यह बात भी वही बतलाता है कि प्रकट होनेवाला तथा प्रकट करनेवाला दोनों अभिन्न हैं, ठीक वैसे ही ज्ञान-विषयका लोप हो जानेके कारण एकमात्र ज्ञाता ही अवशिष्ट रह जाता है और यह बात जिसकी समझमें आती है, वह भी वह स्वयं ही होता है। हे धनंजय, अपनी उस अद्वैतताको जाननेकी जो ज्ञानशक्ति है, उसके बारेमें भी उसकी समझमें यह बात आ जाती है कि वह शक्ति भी सर्वसमर्थ मैं ही हूँ। तदनन्तर वह यह भी जान लेता है कि द्वैत तथा

हटाता हुआ चलता है तथा योगावस्था आरती लेकर उसकी आरती उतारनेके लिये आती है। उस समयपर ऋद्धि-सिद्धियोंके भी समुदाय आ जाते हैं और उनके द्वारा की गयी पुष्पोंकी वर्षासे मानो उस योद्धाका स्नान होता है। इस प्रकार ब्रह्मैक्यरूपी स्वराज्य एकदम सन्निकट आ जानेके कारण उसे त्रिभुवन आनन्दसे परिपूर्ण दिखायी देते हैं।

हे धनंजय! एकजात सम-अवस्थाके कारण उस व्यक्तिके लिये कोई ऐसी चीज रह ही नहीं जाती, जिसके कारण वह यह कह सकता हो कि अमुक व्यक्ति मेरा दुश्मन है अथवा अमुक व्यक्ति मेरा सुहृद् है। सिर्फ यही नहीं यदि किसी कारणसे उसके मुँहसे 'मेरा' शब्द निकल भी जाय तो भी उसके सम्मुख द्वैतका भाव रह ही नहीं जाता; कारण कि वह एकमात्र अपनी सत्तासे एक-स्वरूप हो चुका होता है। हे पाण्डुसुत! इस प्रकार वह सिर्फ एकभावसे समस्त जगत्‌को भर देता है और इसीलिये संकुचित वृत्तिकी ममता कभी उसे स्पर्श भी नहीं करती और वह उसका पूर्णतया त्याग कर देता है। जिस समय इस प्रकार वह योद्धा अपने सारे वैरियोंका उन्मूलन कर डालता है तथा सम्पूर्ण मायिक प्रसारका भी अवसान कर देता है, उस समय उसका योगरूपी अश्व स्वतः स्थिर हो जाता है। अपने शरीरपर धारण किये हुए वैराग्यरूपी कवचको भी वह कुछ शिथिल कर देता है। वह अपना ध्यानरूपी शस्त्र भी रख देता है। उस समय उसके सम्मुख आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता और इसीलिये वह वृत्ति भी रुक जाती है। रसायन औषध अपना समस्त काम तो ठीक तरहसे करती है; किन्तु व्याधिग्रस्त व्यक्ति उसका सेवन करता है, इसलिये वह स्वयं भी समाप्त हो जाती है। इस सम्बन्धमें भी ठीक वही बात लागू होती है। जैसे रुकनेका स्थान देखकर तीव्रगतिसे आगे बढ़नेवाले पैर भी एकदमसे रुक जाते हैं, ठीक वैसे ही ब्रह्मका सान्निध्य हो जानेके कारण उसके अभ्यासका वेग भी कम हो जाता है। जैसे नदीका वेग महासागरके साथ मिलनेके समय कम हो जाता है अथवा जैसे कामिनी

है और विस्मय मानो विस्मयमें ही डूब जाता है। उस स्थितिमें शमको भी एकदम शान्ति मिलती है, विश्रामको विश्रान्ति प्राप्त होती है और अनुभवपर अनुभवका भूत सवार हो जाता है। किं बहुना, उस पुरुषको क्रमयोगकी सुन्दर बेल लगानेका यही आत्मस्वरूपवाला निर्दोष फल प्राप्त होता है। हे किरीटी! मैं ही इस क्रमयोगरूपी सम्राट्‌के मुकुटपर चैतन्यरूपी रत्न होता हूँ और इसके एवजमें वह मेरा मुकुटमणि होता है अथवा मानो मोक्ष ही इस क्रमयोगरूपी मन्दिरका कलश है और उस कलशके ऊपर रहनेवाला आकाशका विस्तार वह क्रमयोगी होता है अथवा यह समझना चाहिये कि संसाररूपी अरण्यमें क्रमयोग ही एक सुन्दर और सरल मार्ग है और वह सीधे मेरे ऐक्यरूपी गाँवतक आ पहुँचता है अथवा ज्ञानभक्तिरूपी जलके साथ क्रमयोगरूपी प्रवाह-मार्गसे वह वेगपूर्वक चलकर 'मैं' नामक आत्मानन्दरूपी सागरमें आ मिलता है।

हे सुविज्ञ! इस क्रमयोगकी महिमा इतनी अधिक है और यही कारण है कि मैं तुम्हें बार-बार इसका उपदेश करता हूँ। यह 'मैं' कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे देश-काल या पदार्थ इत्यादि साधनोंके द्वारा प्राप्त किया जा सके, अपितु यह 'मैं' एक ऐसी चीज है जो स्वतः सबमें पूर्णरूपसे विद्यमान रहती है और इसीलिये मुझे पानेके लिये किसी प्रकारका कष्ट नहीं सहना पड़ता। वास्तवमें मैं इसी क्रमयोगके द्वारा ही प्राप्त हो जाता हूँ। यह व्यवहार सर्वत्र प्रचलित है कि एक शिष्य होता है और दूसरा गुरु होता है; पर यह व्यवहार एकमात्र मेरी प्राप्तिका मार्ग जाननेके लिये ही है। हे किरीटी! पृथ्वीके पेटमें धन-दौलत, काष्ठके उदरमें अग्नि तथा स्तनमें दूध स्वभावतः रहता ही है; पर इन चीजोंको पानेके लिये जो उपाय करता है, वही इन्हें पा सकता है। ठीक इसी प्रकार वास्तवमें मैं भी स्वतःसिद्ध ही हूँ, पर उपायोंसे साध्य होता हूँ।' यहाँ कोई यह प्रश्न खड़ा कर सकता है कि इतने समयतक फलका विवेचन कर चुकनेपर अब श्रीदेव उपायकी प्रस्तावना क्यों करते हैं, तो इसका एकमात्र उत्तर यह है कि इस प्रस्तावनामें यह बतलाया गया है कि इस

सेवन करनेसे समाधानकारक होता है। बरसातमें जो बाढ़ आती है, उसकी सारी झंझटें मिटा करके शरद्कालमें गंगा शान्त हो जाती है अथवा गीत समाप्त होते ही संगीतके उपांग—तबला आदि स्वतः बन्द हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मबोध पानेके लिये जो उद्योग होता रहता है, आत्मबोध होते ही उस सारे उद्योगका अवसान हो जाता है। 'आत्मबोध प्रशस्ति' इसी शान्त और प्रसन्न अवस्थाका नाम है। उस पुरुषको यही प्रसन्नतावाली अवस्था प्राप्त होती है। ग्राह्य-साध्यकी भरती उस समय हो चुकी होती है, इसलिये यदि उसकी कोई वस्तु उस समय खो जाय, तो उसे कुछ भी दुःख नहीं होता और यदि उसे कोई वस्तु मिलनेको हो तो उसके लिये कोई चेष्टा भी नहीं करता। इन दोनोंमेंसे एक भी चीज उस पुरुषके द्वारा करनेमें हो ही नहीं सकती। जैसे सूर्योदय होते ही सम्पूर्ण नक्षत्र अपनी प्रभा खो देते हैं, वैसे ही आत्मस्वरूपके अनुभवका संचार होते ही, हे किरीटी! वह पुरुष जिस तरफ दृष्टि डालता है, उस तरफ उसके लिये मानो इस भेद-भावात्मक भूत-सृष्टिका अवसान ही हो जाता है। जैसे पाटोंपर लिखे हुए अक्षर सिर्फ हाथसे पोंछकर मिटाये जा सकते हैं, वैसे ही उसकी दृष्टि पड़ते ही समस्त भेद-भाव विनष्ट हो जाता है। फिर जाग्रत् तथा स्वप्न—इन दोनों अवस्थाओंमें जो विपरीत और असत्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे दोनों अव्यक्त यानी मूल अज्ञानमें लुप्त हो जाते हैं और फिर ब्रह्मबोधकी वृद्धिके कारण वह मूल अज्ञान भी घटता-घटता अन्ततः पूर्ण बोधमें समा जाता है। जैसे भोजन ग्रहण करते समय प्रत्येक ग्रासके साथ भूख उत्तरोत्तर कम होती जाती है और पूर्ण तृप्ति होनेपर सारी-की-सारी भूख मिट जाती है अथवा मनुष्य रास्तेपर ज्यों-ज्यों चलता जाता है, त्यों-त्यों रास्तेकी दूरी कम होती जाती है और अन्तमें मंजिलपर पहुँचनेपर रास्ता एकदम समाप्त हो जाता है अथवा निद्राका त्यों-त्यों नाश होता जाता है, ज्यों-ज्यों जाग्रत्-अवस्थाका उदय होता है और पूर्णरूपसे जाग जानेपर निद्रा एकदम खत्म हो जाती है; जैसे चन्द्रकलाएँ पूर्णिमाके दिन पूर्ण हो जानेपर उसके बिम्बकी वृद्धिका अन्त हो

वे समस्त सिद्धान्त ही इस शास्त्रके प्रमुख तथा सारभूत सिद्धान्त हैं। यही कारण है कि उन समस्त सिद्धान्तोंको एक महासिद्धान्तके साँचेमें ढालकर गीतारम्भकी उसकी समाप्तिके साथ एकवाक्यता की गयी है। अविद्याका नाश इस ग्रन्थका मुख्य विषय है और मोक्षका सम्पादन ही उस अविद्या नाशका फल है और इन दोनोंका ही साधन ज्ञान है। इस विशाल ग्रन्थमें एकमात्र यही विषय अनेक प्रकारसे विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया है। अब यही विवेचन यहाँ बहुत थोड़े-से शब्दोंमें होनेको है। यही कारण है कि फल हस्तगत होनेपर ही उसको पानेके उपायोंका फिरसे वर्णन करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण प्रवृत्त हुए हैं। (११३०—१२४५)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

भगवान्ने कहा—"हे वीरशिरोमणि! वह क्रमयोगी अपनी स्थिर भक्तिके सहयोगसे 'मैं' हो जाता है तथा मुझमें अटलरूपसे निवास करता है। स्वकर्मरूपी निर्मल पुष्पोंसे मेरी पूजा करता है तथा उस पूजासे मिलनेवाले प्रसादसे उसे ज्ञाननिष्ठाका लाभ होता है। जब यह ज्ञाननिष्ठा हाथ आती है, तब मेरी भक्तिका उत्कर्ष होता है और उस भक्तिसे मिलनेवाली सम अवस्थाकी शान्तिसे वह सुखी होता है। विश्वको आलोकित करनेवाला जो 'मैं' हूँ, उस 'मैं' को यानी स्वयंकी ही आत्माको जो सर्वत्र भरा हुआ समझता है और तदनुसार आचरण करता है, जो ठीक वैसे ही बुद्धि, वाणी तथा शरीरमें सिर्फ मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है, जैसे लवण अपना निरालापन त्यागकर जलका आश्रय ग्रहण करता है अथवा हवा जैसे चतुर्दिक् चक्कर लगाना त्यागकर आकाशमें स्तब्ध होकर रहती है, यदि उसके द्वारा कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाय तो भी जैसे गंगासे मिलनेपर मार्गका गँदले जलका प्रवाह तथा महानदीका प्रवाह—ये दोनों मिलकर एक ही हो जाते हैं। चन्दन तथा सामान्य काष्ठमें तभीतक भेद रहता है, जबतक

वैसे ही भासमान होता है, जैसे स्वप्नका दिखायी देना अथवा न दिखायी देना स्वयं द्रष्टाके अस्तित्वपर आश्रित रहता है, उसी प्रकाशका नाम भक्ति है। यही कारण है कि जो लोग आर्त होते हैं उनमें यह भक्ति आर्तिके रूपमें निवास करती है और उस पीड़ाके निवारणार्थ जो कुछ अपेक्षित होता है, उसीके अनुरूप वह भक्त मेरी कल्पना करता है।

हे वीरशिरोमणि! जिज्ञासुमें यही भक्ति जिज्ञासाके रूपमें निवास करती है और यही भक्ति उसे मेरे दर्शन ऐसे रूपमें कराती है कि वह मुझको ही अपनी जिज्ञासाका विषय समझता है और मैं उसके लिये जिज्ञासाका विषय बन जाता हूँ। यही भक्ति अर्थकी लालसा रखनेवाले अर्थी भक्तमें अर्थकी इच्छाका रूप धारण कर लेती है और हे अर्जुन! उसकी वह भक्ति मुझे ही अर्थका रूप प्रदान करती है जिसके कारण वह मेरा ही नाम अर्थ रख लेता है। इसी प्रकार मेरी जो भक्ति अज्ञानका आश्रय लेकर रहती है, वह द्रष्टाको ऐसी शक्ति प्रदान करती है जिससे वह मुझको ही दृश्य समझता है। निःसन्देह इस प्रकार मुखको मुख ही दृष्टिगत होता है, पर उसमें जो भेदभाव उत्पन्न होता है उसका कारण दर्पण होता है। दृष्टिको यदि एक चन्द्रमा दृष्टिगत हो तो वह ठीक ही है; पर एकके स्थानपर जो दो चन्द्रमा दृष्टिगत होते हैं, वह तिमिर नामक नेत्र-रोगके कारण होते हैं। ठीक इसी प्रकार सर्वत्र सब भक्त इस भक्तिके कारण मेरा ही ग्रहण करते हैं, पर मुझसे ये लोग जो व्यर्थके दृश्यत्वकी परिकल्पना करते हैं, वह एकमात्र अज्ञानके कारण करते हैं। जिस समय वह अज्ञान मिट जाता है, उस समय बिम्बमें ही प्रतिबिम्ब समा जानेकी भाँति द्रष्टाका द्रष्टत्व मद्रूप हो जाता है। जिस समय स्वर्णमें अशुद्ध अंश मिला रहता है, उस समय भी स्वर्णमें स्वर्णपन विद्यमान रहता है; पर जिस समय उसका अशुद्ध अंश निकल जाता है, उस समय जैसे एकमात्र शुद्ध स्वर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है, ठीक वैसे ही द्रष्टाके लिये एकमात्र मैं-ही-मैं रह जाता हूँ। क्या पूर्णिमासे पूर्व चन्द्रमा अपने समस्त अवयवोंसे

करने लगेगा। अतएव तुम सदा ऐसी ही चेष्टा करते रहो जिसमें तुम्हारा चित्त सारी चंचलता त्यागकर मुझमें ही आकर मिल जाय। (१२६०—१२६८)

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

फिर इस अनन्य भक्तिसे जब मैं पूर्णतया भर जाऊँगा, तब तुम जान लेना कि मेरा पूर्ण प्रसाद प्राप्त हो गया। जिस समय इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त हो जायगी, उस समय वे नाना प्रकारके दुःखदायक स्थल भी जो जन्म तथा मृत्युके कारण भोगने पड़ते हैं तुम्हें सुखदायक जान पड़ने लगेंगे। यदि सूर्यके सहयोगसे आँखें बनी हुई हों, तो फिर उनके सम्मुख अँधेरा क्या चीज है? इसी प्रकार मेरी कृपासे जिसका जीव-भाववाला अंश एकदम नष्ट हो जाता है, उसे इस संसारका हौवा भला किस प्रकार कष्टकारक हो सकता है? अतएव हे धनंजय! तुम मेरे प्रसादसे इस संसारकी दुर्गतिसे पार हो जाओगे, पर यदि अहंकारके वशीभूत होकर तुम मेरी इन सब बातोंका अपने श्रवणेन्द्रिय तथा मनके साथ स्पर्श भी न होने दोगे, तो तुम नित्यमुक्त और अव्यय होनेपर भी व्यर्थमें ही देह-सम्बन्धके घाव सहते रहोगे। इस देह-सम्बन्धसे कदम-कदमपर आत्मघातकी पीड़ा सहनी पड़ती है और उसमें कभी पलभरके लिये भी साँस लेनेका अवकाश नहीं मिलता। यदि तुम मेरे वचनोंपर ध्यान न दोगे तो न मरनेपर भी तुम इतने दारुण संकटके कारण मरे हुएकी भाँति ही हो जाओगे। (१२६९—१२७७)

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

जैसे पथ्यसे द्वेष करनेवाला रोगी ज्वरको अथवा दीपकसे द्वेष करनेवाला मनुष्य अन्धकारको बढ़ाता है, ठीक वैसे ही यदि तुम विवेकसे द्वेषकर अहंकारका पोषण करोगे और उस अहंकारके कारण अपने देहको 'अर्जुन', दूसरोंके देहोंको 'स्वजन' तथा इस संग्रामको 'मलिन पापाचरण' कहोगे और यदि अभिमानपूर्वक यह निश्चय करोगे कि 'मैं युद्ध नहीं

स्वरूप होता है। जैसे दो दर्पण साफ करके एक-दूसरेके सम्मुख रखनेपर उनके रूपोंको एक-दूसरेमें सुन्दर एकता होती है, ठीक वैसे ही द्रष्टा भी मेरे साथ समरस होकर आत्मानन्दका उपभोग करता है। जैसे सम्मुखका दर्पण हटा देनेपर उसमें दृष्टिगत होनेवाला मुखका आभास न रह जानेपर द्रष्टा सिर्फ अपने आपमें सुखसे रहता है अथवा जैसे जागनेपर स्वप्नका नामोनिशान मिट जाता है और तब उस जाग्रत् अवस्थामें स्वयंका एकाकीपन देखकर कोई पुरुष बिना किसी अन्यकी संगतिके अपने उस एकाकीपनका उपभोग करता है, ठीक वैसे ही यह भक्त आत्मानन्दका भी उपभोग करता है। कुछ लोगोंका यह कहना है कि जिस समय कोई व्यक्ति किसी वस्तुके साथ एकरूप हो जाता है, उस समय उसके लिये उस वस्तुका उपभोग हो ही नहीं सकता। इस प्रकारके लोगोंसे मैं यह पूछता हूँ कि शब्दके द्वारा ही शब्दका उच्चारण किस प्रकार होता है? क्या इस प्रकारके कथन करनेवाले लोगोंके देशमें सूर्यको देखनेके लिये दीपक जलाना पड़ता है, आकाशके नीचे कोई चौंड़ लगानी पड़ती है अथवा सूर्यका आलिंगन क्या कभी अन्धकार कर सकता है? जब आकाश ही नहीं होगा, तो फिर आकाशका ज्ञान कहाँसे होगा? क्या कभी गुंजाके आभूषणके बारेमें यह गर्व किया जा सकता है कि यह आभूषण जवाहरातका है? इसी प्रकार जो 'मैं' हो ही नहीं सकता, उसकी दृष्टिमें 'मैं' का अस्तित्व ही कहाँ है? फिर इस विषयमें कुछ भी कहनेकी जरूरत नहीं रह जाती कि वह उसका उपभोग करेगा अथवा नहीं।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि यह क्रमयोगी (क्रमशः ब्रह्मप्राप्ति करनेवाला) 'मैं' का उपभोग 'मैं' होकर ही करता है। वह उसका उपभोग ठीक वैसे ही करता है, जैसे तरुण व्यक्ति अपने तारुण्यका उपभोग करता है। जैसे लहरें जलका चुम्बन करती हैं अथवा सूर्यबिम्बमें प्रभा सर्वत्र चमकती रहती है अथवा आकाशतत्त्व जैसे गगनमें सर्वत्र भरा रहता है, ठीक वैसे ही मेरा स्वरूप देखकर यह क्रमयोगी भी बिना किसी प्रकारकी

हे पाण्डुसुत! तुम्हारी प्रकृतिने ही तुम्हें सौर, तेज तथा तत्परता इत्यादि गुण प्रदान कर दिये हैं और यदि तुम उन गुणोंके अनुरूप कार्य न करोगे तो तुम्हारी वह प्रकृति ही तुम्हें चैन नहीं लेने देगी। अतएव हे धनुर्धर! तुम इन गुणोंसे बँधे हुए हो और यही कारण है कि तुम क्षात्र-कर्मके मार्गमें निःसन्देहरूपसे प्रवृत्त होओगे; पर यदि तुम अपने जीवनका यह रहस्य अपने ध्यानमें न रखकर सिर्फ यह निश्चय करके बैठे रहोगे कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो भी मुझे इस बातका पूरा-पूरा भरोसा है कि तुम भी वैसे ही कुछ-न-कुछ अवश्य करोगे, जैसे वह व्यक्ति स्वयं न चलनेपर भी अपनी जगहसे सुदूर चला जाता है, जिसे हाथ-पैर बाँधकर रथमें बैठा दिया जाता है। तुम अपने मनमें यह सोचते ही रह जाओगे कि मैं कुछ भी न करूँगा और तुम्हारी प्रकृति बलात् तुमसे बहुत कुछ करा डालेगी। जिस समय विराट देशका राजकुमार उत्तर युद्धभूमिसे पलायन कर रहा था, उस समय तुम्हारे क्षात्रस्वभावने ही तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त किया था अथवा नहीं? आज भी तुम्हारा वही क्षात्रस्वभाव तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त करेगा। बड़े-बड़े योद्धाओंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंको तुमने उत्तरके गो-ग्रहणके समय अकेले ही युद्धभूमिमें धूल चटा दिया था। हे कोदंडपाणि! इस समय भी वही क्षात्रस्वभाव तुम्हें युद्धभूमिमें प्रवृत्त करेगा। क्या व्याधिग्रस्त व्यक्तिको कभी व्याधि रुचिकर लगती है? क्या दरिद्र व्यक्तिको कभी दरिद्रता अच्छी लगती है? नहीं। पर जिस बलिष्ठ दैवके (प्रारब्धके) वशीभूत होनेके कारण व्याधिग्रस्त व्यक्तिको व्याधि अथवा दरिद्र व्यक्तिको दरिद्रता झेलनी पड़ती है, वही दैव (प्रारब्ध), ईश्वरकी सत्ता बिना अपना कार्य किये न रहेगा तथा वह ईश्वरीय सत्ता भी तुम्हारे हृदयमें विराज ही रही है। (१२८६—१२९८)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

जो ईश्वररूपी सूर्य समस्त भूतोंके अन्तःकरणमें अथवा उनके हृदयरूपी

यही कारण है कि उसके भीतरका पति-पत्नी भाव नष्ट होकर वह स्वयं (आत्मा) रह जाता है अथवा दो काष्ठोंको आपसमें घर्षण करनेसे उनके मध्यमें अग्नि उत्पन्न होती है और तब उन दोनों काष्ठोंका अस्तित्व नहीं रह जाता। इतना ही नहीं वे दोनों काष्ठ परस्पर मिलकर एक अग्निके ही रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं अथवा जलमें पड़ रहे सूर्यके प्रतिबिम्बको पकड़नेके लिये यदि स्वयं सूर्य ही आगे बढ़े तो उसका वह प्रतिबिम्ब वहाँ नहीं रह जाता और यही नहीं स्वयं उसके बिम्बत्वका भी लोप हो जाता है। इसी प्रकार जिस समय भक्त मेरे स्वरूपमें मिलकर दृश्यको भी अपने-आपमें लीन कर लेता है, उस समय उसके वास्तविक द्रष्टत्वके साथ-ही-साथ दृश्यका भी अवसान हो जाता है। जिस समय अन्धकारको सूर्य प्रकाशित करता है, उस समय जैसे प्रकाशित करनेके लिये अन्धकार शेष ही नहीं रह जाता, ठीक वैसे ही जब द्रष्टाको मेरा स्वरूप एक बार प्राप्त हो जाता है, तब दृश्यमें दृश्यत्व भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। फिर ऐसी दशामें उसी स्थितिको वास्तविक दर्शन कह सकते हैं जिसमें दृश्य दिखायी भी देता है और नहीं भी दिखायी देता।

हे किरीटी! उसका सामना फिर चाहे जिस वस्तुसे हो जाय और उसे चाहे जो वस्तु दिखायी दे, प्रतिक्षण उसे वही दर्शन होते रहते हैं और तब वह उस दृष्टिका उपभोग करता है, जो द्रष्टा और दृश्य दोनोंसे परे रहती है और जैसे आकाश सदा आकाशसे ही खचाखच भरा रहनेके कारण कभी टस-से-मस नहीं होता, ठीक वैसे ही स्वयं आत्मस्वरूपमें प्रवेश करनेके कारण वह भी कभी अपनी जगहसे हिलता-डुलता नहीं। कल्पके अन्तमें सर्वत्र जल-ही-जल हो जाता है और समस्त जल एक स्थानपर जमा हुआ-सा रहता है, इसीलिये उसमें बहनेकी क्रिया हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार जिस समय आत्मामें ही आत्मा भर जाती है, उस समय उसमें स्थिरता आ जाती है। पाँव जितनी दूर आगे बढ़ता है, उससे और आगे वह बढ़ ही कैसे सकता? अग्नि स्वयंको भस्म कैसे कर सकती है? जल स्वयंके ही स्नानार्थ

सन्निकटताके ही कारण समुद्र इत्यादि अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं यानी समुद्रमें ज्वार-भाटा होता है, चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगती है, कुमुद तथा चक्रवाककी उदासीनता मिट जाती है तथा वे उल्लसित होते हैं, ठीक वैसे ही मूल प्रकृतिके अनुरोधसे एकमात्र ईश्वर ही सम्पूर्ण जीवोंको भिन्न-भिन्न रीतियोंसे नचाता रहता है और वही ईश्वर, तुम्हारे हृदय-प्रान्तमें भी रहता है। हे पाण्डुसुत! अर्जुनत्वको अपने अंगमें चिपकने न देकर तुम्हारे चित्तमें जो यह भाव उमड़ता है कि मैं हूँ, वही मैंपन यानी अहंवृत्ति उस ईश्वरका तात्त्विक स्वरूप है। अतएव इस बातमें जरा-सा भी सन्देह नहीं है कि वह ईश्वर ही प्रकृतिकी सत्ता चलायेगा और यदि तुम्हारे चित्तमें युद्ध करनेका भाव न भी होगा तो भी इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं कि वह प्रकृति ही तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त करेगी। इसीलिये यह भी कहा जाता है कि ईश्वर सबका स्वामी है तथा वह प्रकृतिका नियमन करता है और तब वह प्रकृति अपनी इन्द्रियोंको चलाती है। अतएव तुम्हें युद्ध करना चाहिये अथवा नहीं, इस बातका विचार तुम प्रकृतिपर ही छोड़ दो। (१२९९—१३१८)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

अहंकारसे, वाणीसे, चित्तसे तथा देहसे उस ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसकी सत्तामें रहकर वह प्रकृति समस्त कार्य सम्पन्न करती है। "तुम भी ईश्वरमें ठीक वैसे ही प्रवेश करो, जैसे गंगाजल महासागरमें प्रवेश करता है। फिर उस ईश्वरके कृपा-प्रसादसे तुम्हारा पूर्ण शान्तिरूपी प्रमदाके साथ समागम होगा और तुम आत्मानन्दसे निज स्वरूपमें रमण करने लगोगे। स्वयं उत्पत्ति भी जिससे उत्पन्न होती है, विश्रामको भी जिस जगहपर विश्राम प्राप्त होता है तथा अनुभवको भी जिस जगहपर अनुभव मिलता है, उस निजात्मपदके तुम अक्षय राजा बनोगे।" उस समय लक्ष्मीनाथ श्रीकृष्णने पार्थसे यही बात कही थी। (१३१९—१३२२)

अतएव हे कपिध्वज! कर्म करनेके मार्गसे भी कर्म न करना ही घटित होता है और वह मेरी अर्चा इसी महापूजासे करता है। आशय यह कि उसका बोलना ही मेरा स्तोत्र होता है, उसका देखना ही मेरा दर्शन होता है और उसका चलना ही मेरी अद्वैतताका ही गमन होता है। वह जो कुछ करेगा, वह सारी-की-सारी चीजें मेरी ही पूजा होगी; जिस किसी भी बातका विचार वह अपने मनमें करेगा, वह सब मेरा ही जप होगा; और हे सुभट (अर्जुन)! उसका स्वस्थ रहना ही मेरी समाधि है। जैसे कंगनको अनवरत स्वर्णकी ही संगतिमें रहना पड़ता है, वैसे ही वह भक्तियोगसे अनवरत अद्वैतरूपमें मुझमें रहता है। जलमें तरंगें, कपूरमें सुगन्ध तथा रत्नोंमें तेज बिना किसी द्वैतभावके ही रहता है। पट तन्तुओंके साथ तथा घट मिट्टीके साथ सदा एकमें मिला रहता है। ठीक इसी प्रकार वह भक्त भी मेरे साथ समरस होकर रहता है। मेरी इस अनन्य भक्तिके कारण वह दृश्य पदार्थमात्रमें मुझ द्रष्टाको ही आत्मभावसे देखता है। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंके कारण उपाधि यानी क्षेत्र तथा उपाधियुक्त यानी क्षेत्रज्ञके कारण भाव या अभावरूपसे जो कुछ दृश्य होता है, उसके विषयमें हे सुविज्ञ! उसे यही दृष्टिगत होता है कि वह सब मैं ही द्रष्टा हूँ इस बोधके कारण कन्धेपर घरको बैठाये हुए व्यक्तिकी भाँति नाचने लगता है। जब यह ज्ञात हो जाता है कि यह रस्सी है, तब यह निश्चय हो जाता है कि उसके विषयमें होनेवाला सर्पाभास भी रस्सी ही है। जब अलंकार गलाया जाता है तब यह निश्चय हो जाता है कि उसमें लेशमात्र भी कोई ऐसी अलंकारता नहीं थी जो स्वर्णसे पृथक् हो। मनुष्यको जब यह ज्ञात हो जाता है कि जब तरंग वास्तवमें जलके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तब उस तरंगके आकारको कभी वास्तविक नहीं समझता। नींद खुलनेपर स्वप्न-विकारोंका ब्योरा रखनेवाला स्वयंको छोड़कर और कुछ भी नहीं देख सकता।

करना मानो स्वयंको ही धोखा देना है और अपनी इस भूलके कारण उसे आत्मवंचनाका भी पाप लगता है पर हे धनंजय, तुम्हारी इस स्तब्धतासे मुझे यह ज्ञात होता है कि एक बार फिर इस ज्ञानकी चर्चा हो।''

यह सुनकर अर्जुनने कहा कि हे भगवन्, यदि मैं यह कहूँ कि आपने मेरे अन्तःकरणकी बात एकदम समझ ली है तो यह कहना भी कुछ ठीक नहीं लगता है; कारण कि भला इस प्रकारका ज्ञाता भी कहीं मिल सकता है जिसकी तुलना आपके साथ की जा सके? एकमात्र आप ही स्वभावतः उसके ज्ञाता हैं। फिर यदि सूर्यको सूर्य कहकर वर्णन किया जाय तो इससे कौन-सा विशेष अभिप्राय निकल सकता है? यह वचन सुनकर भगवान्‌ने कहा—''हे पार्थ, तुम्हारे द्वारा यह जो मेरा स्तुतिपूर्ण वर्णन किया गया है, उसे क्या तुम कम समझते हो? (१३२३—१३४०)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

अब तुम ध्यान देकर मेरे निर्मल वचनको एक बार फिर सुनो। कोई इस प्रकारकी बात नहीं है जो कहनेयोग्य होनेके कारण ही मैं कह रहा हूँ तथा जो श्रवणयोग्य होनेके कारण ही तुम्हें श्रवण करना चाहिये, बल्कि इस कथनके विषयमें तुम यही जान लो कि तुम्हारा भाग्योदय ही हुआ है। हे धनंजय, कच्छपीकी दृष्टिमात्रसे ही उसके बच्चोंको पोषक दूध मिलता है तथा चातकके गृहमें स्वयं आकाश ही जल भरनेका काम करता है। अतएव जिस जगहपर जो व्यवहार नहीं हो सकता, उस जगहपर भी उस व्यवहारका फल भोगनेको मिलता है। यदि दैव अनुकूल हो तो कौन-सा लाभ कहाँ नहीं मिल सकता? यदि साधारणतः देखा जाय तो यह रहस्य-ज्ञान इस प्रकारका है कि द्वैतका बखेड़ा त्यागकर अद्वैत यानी एक तत्त्वके गृहमें ही यह भोगनेको मिल सकता है और हे सुहृद्, जिस प्रेममें कोई बनावटीपना नहीं होता, उस प्रेमका जो विषय होता है, उसके बारेमें यह बात जान लेनी चाहिये कि वह स्वयं अपने अलावा अन्य कुछ भी नहीं होता।

अद्वैत—इन दोनोंसे परे रहनेवाली जो एकमेवाद्वितीय आत्मा है, निःसन्देह वह भी मैं ही हूँ और जिस समय उसे इस ज्ञानका साक्षात् अनुभव होता है, उस समय जैसे उस दशामें, जबकि नींद खुलनेपर अपने अकेलेपनका जो भान होता है, उसके भी विनष्ट हो जानेपर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका स्वरूप किस प्रकार होगा अथवा नेत्रोंसे देखते ही जैसे स्वर्णमें स्वर्णपनके साथ-साथ अलंकारका भी लोप हो जाता है अथवा लवणके जलरूप हो जानेपर उस लवणकी लवणता उस जलमें विद्यमान रहती है, पर उस लवणताके भी न रह जानेपर जैसे लवणका अस्तित्व ही एकदम समाप्त हो जाता है, ठीक वैसे ही जब यह भान भी कि 'मैं वही परब्रह्म हूँ' स्वानन्दके अनुभवरूपी शान्तरसमें विलीन हो जाता है, तब वह मुझमें प्रवेश करता है। उस दशामें 'यह' का भी कहीं नामोनिशान नहीं रह जाता तथा 'मैं' के लिये भी कोई स्थान नहीं रह जाता।

इस प्रकार उसकी 'मैं' तथा 'यह' वाली भावना विनष्ट हो जाती है और वह मेरे स्वरूपमें समा जाता है। जब कपूर जलने लगता है, तब तो उसे अग्निका नाम देना उचित होता है और जिस समय कपूर और अग्नि—इन दोनोंका भी लोप हो जाता है, उस समय जैसे एकमात्र आकाशतत्त्व ही अवशिष्ट रह जाता है अथवा जैसे एकमेंसे एक घटानेपर सिर्फ शून्य ही शेष रह जाता है ठीक वैसे ही 'है' तथा 'नहीं है' अथवा 'भाव' तथा 'अभाव'—इन दोनोंको पृथक् कर देनेपर जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वही मैं हूँ। उस दशामें 'ब्रह्म', 'आत्मा' तथा 'ईश्वर' इत्यादि शब्दोंमें भी उस स्वानन्दमें विघ्न पड़ता है और 'न' यानी कुछ नहीं कहनेकी भी वहाँ जगह शेष नहीं रह जाती। उस समय बिना कुछ मुँहसे उच्चारण किये हुए ही, खूब मन भरकर 'न' कहा जाता है तथा ज्ञान-अज्ञानकी कोई जानकारी न होनेपर भी वह एकदम ठीक तरहसे जाना जाता है। वहाँ बोधको बोधसे ही समझाया जाता है, आनन्दका आलिंगन आनन्दसे ही किया जाता है और सुखका भोग सुखसे ही किया जाता है। उस दशामें लाभको ही लाभ मिलता है, प्रभा ही प्रभाका आलिंगन करती

हे पाण्डव, अपने अथवा पराये लोगोंके साथ तुम जो उपकाररूपी यज्ञ करोगे, उसीसे तुम मेरे सच्चे याज्ञिक हो सकोगे; पर एक-एक बात मैं तुमको कहाँतक बतलाऊँ। तुम स्वयंमें सेवक-भावकी स्थापना करो तथा शेष लोगोंको मद्रूप मानकर उन्हें सेव्य समझो। इससे जीवमात्रकी ओरसे तुम्हारे मनका द्वेष मिट जायगा और तुम इसी ज्ञान-भावनासे विनम्रता ग्रहण कर सकोगे कि सर्वत्र मैं-ही-मैं हूँ और इससे तुम्हें मेरा पूर्ण आश्रय प्राप्त होगा। फिर इस संसारमें किसी तीसरी वस्तुका नाम ही न रह जायगा और हम-तुम सचमुच एकान्तमें मिल सकेंगे। फिर चाहे कैसी ही अवस्था क्यों न उत्पन्न हो, तो भी तुम्हारा और मेरा आपसी सहवास उपभोग करनेके लिये ही अवशिष्ट रह जायगा तथा हम लोगोंका सुख स्वतः बढ़ने लगेगा और हे पार्थ, तीसरेपनका झगड़ा जिस अवस्थामें नहीं रह जाता, तुम अन्तमें उसी अवस्थामें मद्रूप होकर मिल जाओगे। जिस समय जलका अवसान हो जाता है, उस समय जलमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बको अपने बिम्बके साथ मिलकर एक होनेसे भला कौन रोक सकता है?

यदि आकाशके संग वायु अथवा समुद्रके संग तरंग मिलकर एक होने लगे तो भला उसमें कौन बाधा पहुँचा सकता है? हम और तुम जो पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं, वह इसी देहधर्मके कारण दृष्टिगोचर होते हैं; पर जिस समय यह देह ही न रह जायगा, उस समय यह बात निश्चित है कि तुम भी 'मैं' ही हो जाओगे। मेरे इस वचनके बारेमें तुम अपने मनमें जरा-सी भी शंका मत उत्पन्न होने दो। यदि इस सम्बन्धमें तुम कुछ भी अवहेलना करो तो तुम्हें अपनी शपथ है। तुम्हें तुम्हारी ही शपथ देना मानो आत्मस्वरूपकी ही शपथ देना है; पर इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है, कारण कि प्रीतिकी रीति यही है कि वह लज्जाका कभी स्मरण ही नहीं होने देती और नहीं तो जो ज्ञानका विषय है, जो प्रपंचसे अलिप्त है, जिसके कारण वास्तवमें इस विश्वका भास होता है, स्वयं कालको भी जिसकी आज्ञाका प्रताप हरा देता है, वह मैं देव यदि सत्य-संकल्प हूँ और यदि मैं जगत्‌के हितके लिये सदा चेष्टाशील

गीताका मुख्य रहस्य यही है कि प्रत्यक्ष मोक्ष-साधनके विषयमें समस्त दृष्टियोंसे विवेचन किया जाय। अन्य अनेक शास्त्रोंमें भी इसके अनेक उपाय बतलाये गये हैं, पर उनके बारेमें यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब प्रमाणसिद्ध ही हैं। वायु अधिक-से-अधिक मेघोंको उड़ा सकती है, पर वह सूर्यका सृजन नहीं कर सकती। हाथसे जलमें स्थित शैवाल हटाकर एक तरफ की जा सकती है पर उससे जल नहीं उत्पन्न किया जा सकता। इसी प्रकार आत्मदर्शनमें बाधक जो अविद्यारूपी मल होता है, उसे तो शास्त्र दूर कर सकते हैं पर शेष 'मैं' नित्य स्वयंप्रकाश तथा निर्मल ही रहता हूँ। इसीलिये सम्पूर्ण शास्त्र एकमात्र अविद्यारूपी मल धोनेके साधन हैं। इसके अलावा उनमें आत्मबोध करानेकी कोई स्वतन्त्र योग्यता नहीं है। उन अध्यात्म शास्त्रोंमें जिस समय सच्चाईको साबित करनेका प्रसंग आता है, उस समय वे जिस स्थानका आश्रय ग्रहण करते हैं वह स्थान यही गीता है। जिस समय सूर्य पूर्व दिशाको विभूषित करता है, उस समय समस्त दिशाएँ प्रकाशित हो जाती हैं। इसी प्रकार शास्त्रोंको सही दिशा प्रदान करनेवाली यह गीता है और इसीके सहयोगसे समस्त शास्त्र सनाथ होते हैं। अस्तु।

सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने पिछले अध्यायोंमें आत्मप्राप्ति करनेके अनेक उपाय सविस्तार बतलाये हैं, पर फिर भी श्रीहरिने यह सोचा कि हो सकता है कि यह विषय एक बार श्रवण करनेपर शीघ्र ही अर्जुनकी समझमें ठीक तरहसे न आया हो और यही कारण है कि एक बार बतलाया हुआ सिद्धान्त शिष्यके अन्तःकरणमें स्थिर करनेके उद्देश्यसे संक्षिप्त रीतिसे भगवान् पुनः कह रहे हैं तथा साथ ही गीताकी समाप्ति निकट आ पहुँचनेके कारण यहाँ यह भी दिखलाया गया है कि उसके आरम्भ और अन्तमें एकसूत्रता है। यह दिखलानेका एकमात्र कारण यह है कि ग्रंथारम्भ तथा ग्रंथान्तके मध्यमें अनेक प्रकारके प्रश्न उपस्थित होनेके कारण अनेक सिद्धान्तोंका स्पष्ट विवेचन किया गया है। इसके पूर्वापरके सन्दर्भोंपर अच्छी तरहसे ध्यान न देनेके कारण कोई यह भी कह सकता है कि

भावनासे चित्त शान्त तथा प्रमुदित हो जाता है; फिर उससे मेरा ज्ञान प्राप्त होता है और उसके द्वारा व्यक्ति मेरे स्वरूपके साथ मिलकर एकाकार हो सकता है। हे पार्थ, उस स्थितिमें साध्य अथवा साधन कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता, अपितु यों कहना चाहिये कि उस स्थितिमें कुछ भी काम करनेके लिये शेष नहीं रह जाता। तुम अपने सब कर्म अनवरत मुझे समर्पित करते रहे हो और यही कारण है कि आज तुम्हें मेरी प्रसन्नता मिली हुई है। इसीलिये इस प्रसन्नताके बलसे युद्धका प्रतिबन्ध समाप्त हो जायगा। मैं एक बार तुमपर मोहित हुआ हूँ और इसलिये अब मैं कभी इस प्रकारकी स्थिति नहीं आने दूँगा जिसमें तुम्हें विनती करनी पड़े। जिसके योगसे इस प्रपंचसहित अज्ञानका भी नाश होता है और सर्वत्र एकमात्र मैं-ही-मैं दृष्टिगत होने लगता हूँ, उसी ज्ञानका दृष्टान्त इत्यादिके सहयोगसे स्पष्ट किया हुआ रूप यह गीता है। मैंने तुम्हें नाना प्रकारसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है और धर्म-अधर्मकी भ्रान्ति पैदा करनेवाले जो अज्ञान हैं, उन सबको तुम इस ज्ञानके सहयोगसे हटाकर दूर फेंक दो। (१३५३—१३८९)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

जैसे दुःखोंको आशा उत्पन्न करती है अथवा पातककी उत्पत्ति निन्दासे होती है अथवा जैसे दीनताका कारण दुर्दैव होता है, वैसे ही स्वर्ग तथा नरक प्राप्त करनेवाले धर्म-अधर्मकी सृष्टि अज्ञानने की है; पर अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले उन समस्त कल्पनाओंको तुम इस ज्ञानसे एकदम दूर कर दो। रस्सीको हाथमें ले लेनेपर जैसे हम उस रस्सीमें होनेवाले सर्पाभासका त्याग कर देते हैं अथवा जैसे स्वप्नके साथ-साथ हम उसके सारे व्यवहारोंका भी नाश कर देते हैं अथवा जैसे पीलिया रोग ठीक होते ही चन्द्रबिम्बमें दृष्टिगत होनेवाला पीलापन भी स्वतः मिट जाता है अथवा जैसे रोगके नष्ट होनेपर हमारी जिह्वाका कड़वापन स्वतः ही चला जाता है अथवा जैसे दिनके पीठ फेरते ही मृगजल भी अदृश्य हो जाता है अथवा जैसे काष्ठके त्यागके साथ-ही-साथ अग्निका भी त्याग आप-से-आप हो जाता है, वैसे ही जो मूल अज्ञान धर्म-

उनमें आग नहीं लगती। खोटे तथा खरे सोनेका भेद तभीतक रहता है जबतक पारसके स्पर्शसे वे दोनों एकरूप नहीं हो जाते। ठीक इसी प्रकार शुभ और अशुभके भेदका आभास तभीतक होता है, जबतक मेरे सर्वव्यापी प्रकाशकी प्राप्ति न हो। रात और दिनके द्वन्द्वका भास तभीतक होता है, जबतक हमलोग सूर्यके गाँवमें प्रवेश न करें। इसीलिये हे किरीटी! मेरी प्राप्ति होते ही उसके सारे कर्मोंका लोप हो जाता है तथा वह सायुज्य मोक्षके पदपर आरूढ़ हो जाता है। उसे मेरा वह अविनाशी पद प्राप्त होता है, जिसका देश, काल अथवा स्वभावसे कभी क्षय नहीं होता। किं बहुना, हे पाण्डुसुत! जहाँ मेरी यानी प्रत्यक्ष आत्माके प्रसन्नताकी प्राप्ति होती हो, वहाँ भला ऐसा कौन-सा लाभ है जो प्राप्त नहीं हो सकता। (१२४६—१२५१)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

अतएव हे धनंजय! तुम अपने सारे-के-सारे कर्मोंका मुझमें ही संन्यास करो। अपने सब कर्म मुझको ही अर्पित करो। पर हे वीरशिरोमणि! यही नित्य कर्मोंका संन्यास है। तुम अपनी चित्तवृत्ति सदा आत्मविवेकमें स्थिर रखो। बस, फिर उसी विवेकके बलसे तुम्हें अपना आत्मतत्त्व मेरे उस स्वरूपमें निर्मलरूपसे दृष्टिगत होने लगेगा, जो समस्त प्रकारके कर्मोंसे अलिप्त रहता है और उस समय यह बात भी तुम्हारे ध्यानमें आ जायगी कि कर्मोंकी जन्मस्थली जो प्रकृति अथवा माया है, वह भी आत्मासे सुदूर है। फिर हे धनंजय! जैसे किसी वस्तुकी छाया उससे पृथक् नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही यह प्रकृति भी आत्मतत्त्वसे पृथक् नहीं रह सकती। जब इस प्रकार प्रकृतिका अवसान हो जायगा, तब समूल कर्म संन्यास स्वतः हो जायगा। फिर कर्मोंका अवसान हो जानेपर एकमात्र 'मैं' अथवा आत्मतत्त्व ही अवशिष्ट रह जायगा तथा बुद्धि एक पतिपरायणा स्त्रीकी तरह पूर्ण निष्ठासे उसमें रमण करेगी। इस प्रकार जिस समय बुद्धि अनन्य भक्तिसे मुझमें समा जायगी, उस समय चित्त भी अपनी सारी चंचलता त्यागकर मेरा ही भजन

अग्नि प्रकट कर ली जाय तो फिर वह अग्नि काष्ठमें छिपी नहीं रह सकती। हे अर्जुन, क्या कभी सूर्यको भी अन्धकार दृष्टिगत होता है? अथवा क्या कभी जाग्रत् अवस्थामें भी स्वप्न-भ्रमका अनुभव किया जा सकता है? ठीक इसी प्रकार मेरे साथ एक बार भी एकता स्थापित कर लेनेपर मेरे स्वरूपके अलावा क्या अन्य कोई चीज अवशिष्ट रहनेका कोई कारण हो सकता है? अतएव तुम मेरे अलावा अन्य किसीकी कल्पना भी मत करो। मैं ही तुम्हारे समस्त पाप-पुण्य होऊँगा। सारे बन्धनोंका लक्षण जो पाप वास्तवमें द्वैतभावके कारण बाकी रह जाता है, वह भी मेरे ज्ञानके कारण विनष्ट हो जायगा। हे सुविज्ञ, जो लवण जलमें पड़ता है, वह पूर्णतया जल ही हो जाता है। इसी प्रकार यदि तुम अनन्यभावसे मेरी शरणमें आओगे तो तुम भी मद्रूप ही हो जाओगे और हे धनंजय, जिस समय तुम मद्रूप हो जाओगे, उस समय स्वत: मुक्त भी हो जाओगे। तुम मुझे जान लो तो मैं अपने प्रकाशसे तुम्हारी मुक्ति कर दूँगा। इसीलिये हे बुद्धिमान् पार्थ, इस समय तुम्हें चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हे सुविज्ञ, तुम इस ज्ञानसे युक्त होकर केवल मेरी ही शरणमें आ जाओ।" विश्वस्वरूप, सर्वद्रष्टा और सर्वव्यापी भगवान्ने पार्थसे यही बातें कही थीं।

तदनन्तर, भगवान्ने अपनी कंकणयुक्त श्यामवर्णवाली दाहिनी भुजा फैलाकर शरणागत उस भक्तराज अर्जुनको हृदयसे लगा लिया। जहाँ न पहुँच सकनेके कारण बुद्धिको बगलमें दबाकर वाणी पीछे लौट आती है तथा जिसका वाणी या बुद्धिसे आकलन नहीं हो सकता, वही स्वरूप अर्जुनको देनेके लिये भगवान्ने मानो आलिंगनका बहाना किया। अर्जुनका हृदय भगवान् श्रीकृष्णके हृदयके साथ मिलते ही उनके हृदयका रहस्य अर्जुनके हृदयमें समा गया तथा उसके द्वैतभावका नाश होते ही भगवान्ने उसे आत्मस्वरूप कर लिया। वह प्रगाढ़ आलिंगन भी ठीक वैसे ही हुआ था जैसे एक दीपकसे दूसरा दीपक जलाया जाता है। इस प्रकार द्वैत बनाये रखकर भी भगवान्ने अर्जुनको आत्मस्वरूप कर लिया था। फिर उस अर्जुनके अन्त:करणमें आनन्दकी जो बाढ़ आयी, उसमें इतने बड़े भगवान् श्रीकृष्ण भी डूब गये। जिस समय एक

करूँगा' तो भी तुम्हारा नैसर्गिक स्वभाव तुम्हारा वह निश्चय एकदम निष्फल कर डालेगा। तुम्हारे मनमें जो इस प्रकारकी भावनाएँ हैं कि मैं अर्जुन हूँ और ये मेरे आप्तजन हैं और इनका वध करना घोर पाप है, तो तुम्हीं सोचो कि ऐसी भावनाओंमें मायाके अतिरिक्त क्या अन्य कोई वास्तविक तथ्य भी है? सर्वप्रथम तो तुम युद्ध करनेके लिये तत्पर हुए और यहाँतक कि तुमने हाथमें शस्त्र भी धारण किये और इतना सब कुछ करके भी अब तुम यह प्रतिज्ञा करना चाहते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। तुम्हारी ये सब बातें अत्यन्त विलक्षण हैं। मैं युद्ध नहीं करूँगा यह कहना एकदम व्यर्थ है। यदि सिर्फ लौकिक दृष्टिसे देखा जाय तो भी तुम्हारी इन बातोंका कुछ भी मतलब समझमें नहीं आता। तुम जो अपने मनमें यह ठान लिये हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तुम्हारे इस निश्चयको तुम्हारा स्वभाव ही विचलित कर देगा अर्थात् तुम्हारा स्वभाव ही तुम्हें अपना यह दृढ़निश्चय तोड़कर युद्ध करनेके लिये विवश कर देगा। (१२७८—१२८५)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

यदि जलका प्रवाह पूर्व दिशाकी ओर हो तथा पश्चिम दिशाकी ओर तैरकर जानेकी कोशिश की जाय तो तैरनेवालेके हिस्सेमें एकमात्र पागलपनवाला आग्रह ही पड़ेगा। इस प्रकारके मनुष्यको जलका प्रवाह स्वयं ही तैरनेवालेके इच्छाके विरुद्ध तथा अपनी इच्छानुसार बहा ले चलेगा, अथवा यदि धान्य-कण यह कहे कि मैं धानकी भाँति अंकुरित नहीं होऊँगा और न मैं उसकी तरह बढूँगा, तो भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या वह कभी अपने स्वभावका अतिक्रमण कर सकेगा? ठीक इसी प्रकार हे सुविज्ञ! तुम्हारा स्वभाव तथा तुम्हारी प्रकृति—इन दोनोंका निर्माण ही क्षात्रधर्मके संस्कारोंसे हुआ है। इसीलिये यद्यपि इस समय तुम यह कह रहे हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो भी कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त कर देगी।

देहाभिमानके बन्धनमें बाँधते हैं, उन्हें छोड़कर व्यक्तिको अपने लिये सदा उपयुक्त नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंको करना चाहिये। भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि इस प्रकार निर्मल वृत्तिसे कर्मोंको करना चाहिये। इसीको कर्मकाण्ड समझना चाहिये। जिस समय बद्ध व्यक्तिके अन्तःकरणमें यह विचार पैदा होता है कि यह नित्य-नैमित्तिक इत्यादि कर्माचरण अज्ञानका बन्धन किस प्रकार तोड़ता है, उस समय वह मुमुक्षु पदपर आ पहुँचता है और उस समयके लिये श्रीकृष्णने यह उपदेश दिया है कि व्यक्तिको अपने सारे कर्म ब्रह्मार्पण करते हुए करना चाहिये। भगवान्‌का उपदेश यह है कि तन, मन तथा वाणीके द्वारा जिन विहित कर्मोंका जिस प्रकार आचरण हो, वे समस्त कर्म उसी रूपमें ईश्वरार्पण किये जाने चाहिये। कर्मयोगके द्वारा सम्पन्न होनेवाली ईश्वर-भक्तिके व्याख्यानका जो यह सुमधुर भोज्य पदार्थ चौथे अध्यायके अन्तिम भागमें परोसा गया है, वही "ईश्वरका भजन कर्माचरणके द्वारा करना चाहिये" वाला तत्त्व निरन्तर विश्वरूप दर्शनवाले ग्यारहवें अध्यायके समाप्तिपर्यन्त प्रतिपादित किया गया है। अतएव चौथे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायपर्यन्त जो आठ अध्याय हैं, वही देवता (उपासना)-काण्ड है। गीताशास्त्रने समस्त प्रतिबन्धोंको हटा करके इस विषयमें ऊहापोह किया है और इस ईश्वर-भक्तिके कारण ईश्वरके प्रसादसे श्रीगुरु सम्प्रदायके अनुरूप जो सत्य तथा प्रेमपूर्ण ज्ञान मिलता है, उसके विषयमें मैं यह समझता हूँ कि बारहवाँ अध्याय यह बतलाता है कि उसे अद्वेष्टा तथा अमानिता इत्यादि गुणोंके सहयोगसे बढ़ाना चाहिये। उस बारहवें अध्यायसे पन्द्रहवें अध्यायपर्यन्त ज्ञानका परिपक्व फल ही निरूपणका विषय है। अतएव ऊर्ध्वमूलपर्यन्त इन चार अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डका ही वर्णन है। इसलिये यहाँ काण्डत्रयका विवेचन करनेवाली श्रुति (ब्रह्मविद्या) यही गीता पद्यरूपी रत्नोंका अलंकार धारणकर सुशोभित हुई है। अस्तु। तीन काण्डोंवाली यह श्रुति जिस मोक्षफलकी जोर-जोरसे गर्जना करती है और जिसे निश्चितरूपसे पानेके लिये वह कहती है। उस फलके साधन ज्ञानके साथ अहर्निश वैर करनेवाले जो अज्ञानके समुदाय हैं, उनका वर्णन सोलहवें अध्यायमें किया गया है। सत्रहवें

महाकाशमें चिद्वृत्तिरूपी सहस्रों रश्मियोंसहित उदित होता है, वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थारूपी तीनों लोकोंको प्रकाशित करके मायाके चक्करमें पड़े हुए यात्री जीवोंको जाग्रत् करता है। दृश्य वस्तुरूपी जलके सरोवरमें विषयरूपी कमलोंपर अपना तेज फैलाकर वह ईश्वररूपी सूर्य पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा छठा मन मिलाकर कुल छः पैरवाले उस जीव-रूपी भ्रमरको निरन्तर चलाता रहता है। पर यह रूपक बहुत हो चुका। वह हृदयमें स्थित ईश्वर अहंकारका वेष्टन ओढ़कर अनवरत विलास करता रहता है। निज मायारूपी परदेकी ओटसे वह सम्पूर्ण सूत्रोंका संचालन करता रहता है और बाहर जगत्-रूपी रंगभूमिपर चौरासी लाख स्थावर और जंगम योनियोंके छायाचित्र नचाता रहता है। वह ब्रह्मासे लेकर कीट-पर्यन्त समस्त भूतोंको उनकी योग्यतानुसार देहाकृतिसे सजाकर रखता है। जिसके सम्मुख जो आकार वह सँवारकर रखता है, उस देहमें वह जीव इसी भावनासे आबद्ध हो जाता है कि यह देह ही मैं हूँ। जैसे एक सूत किसी अन्य सूतके साथ लिपटा हुआ रहता है अथवा किसी तृण इत्यादिका डंठल किसी अन्य डंठलके साथ लिपटा हुआ रहता है अथवा बच्चे जलमें अपनी प्रतिच्छाया देखकर उसे अपना स्वरूप ही समझते हैं, ठीक वैसे ही देहाकार रूपमें स्वयंकी ही छाया देखकर जीव भी उसमें आत्मबुद्धिकी स्थापना कर लेता है—यह समझने लगता है कि यह देह ही मैं हूँ। इस प्रकार देहरूपी यन्त्रपर जीवमात्रको बैठाकर यह हृदयमें स्थित ईश्वर प्राचीन कर्मोंके सूत्र हिलाता रहता है। उनमेंसे जो प्राचीन सूत्र जिस जीवके साथ स्वतन्त्र रीतिसे बँधे होते हैं, वे जीव उस सूत्रसे मिलनेवाली गति ग्रहण करने लगते हैं।

हे धनुर्धर! जैसे वायु तृणोंको आकाशमें घुमाती रहती है, ठीक वैसे ही ईश्वर भी जीवमात्रको स्वर्ग तथा संसारमें सदा घुमाता रहता है। जैसे चुम्बकके आकर्षणसे लोहा चक्कर खाने लगता है, वैसे ही जीवमात्र भी ईश्वरकी सत्तासे चलते-फिरते रहते हैं। हे धनंजय! जैसे सिर्फ चन्द्रमाकी

भयभीत होकर वेद गीताके पेटमें प्रविष्ट हुआ है और यही कारण है कि अब उसकी कीर्ति विशुद्ध और उज्ज्वल हो गयी है।

इस प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनको जिस गीताका उपदेश किया था, वह मानो वेदका ऐसा रूप है जिसका सेवन हर वर्गके लोग कर सकते हैं, पर जैसे बछड़ेके व्याजसे गौके स्तनमें दूध उतरता है और तब वह दूध जन-जनको मिलता है, ठीक वैसे ही इस गीताने भी पाण्डवोंके व्याजसे सम्पूर्ण जगत्‌का उद्धार कर दिया है। प्याससे व्याकुल चातकपर दया करके मेघ उसके लिये जल लेकर दौड़ पड़ता है, पर उस जलसे चराचर जगत्‌का कल्याण होता है। जिस कमलको अन्य कोई आश्रय नहीं है, उस कमलके लिये सूर्य प्रतिदिन उदित होता है, पर उससे सारे जगत्‌की आँखोंको सुख मिलता है। इसी प्रकार अर्जुनके व्याजसे श्रीकृष्णने गीताको प्रकाशित किया है, पर इसीसे सम्पूर्ण जगत्‌के सिरपरसे संसार-सरीखा विशाल बोझ दूर हो गया है। ये लक्ष्मीपति नहीं हैं, अपितु इन्हें मुखरूपी आकाशसे उदित होकर शास्त्रीय रहस्यके रत्नोंकी प्रभासे त्रिभुवनको प्रकाशित करनेवाला सूर्य ही कहना चाहिये। वह कुल सचमुच परम पावन और धन्य है जिसमें जन्म लेनेवाला अर्जुन इस गीतारूपी ज्ञानका पात्र हुआ तथा जिसने सारे संसारके लिये गीताशास्त्रका यह द्वार खोल दिया। अस्तु।

तदनन्तर, भगवान् श्रीकृष्ण निज-स्वरूपमें मिल जानेवाले अर्जुनको फिर द्वैतभावमें ले आये। वे कहने लगे कि हे पाण्डव! क्या यह शास्त्र तुम्हें रुचिकर जान पड़ा? यह सुनकर अर्जुनने कहा कि हे देव, आपकी कृपासे यह शास्त्र मुझे बहुत अच्छा लगा। फिर श्रीदेव कहने लगे—"हे धनंजय, गुप्त खजाना पानेके लिये भाग्यके अलौकिक बलकी जरूरत होती है; पर भाग्यसे जुटायी हुई सम्पत्तिका उचित उपभोग करनेके लिये महद्भाग्य किसी विरलेको ही मिलता है। बिना जमाये हुए विशुद्ध दुग्धके क्षीरसागर-सरीखे पात्रका मंथन करनेमें कितना अधिक क्लेश हुआ होगा! पर वह पूरा-का-पूरा श्रम भी अन्ततः सफल ही हुआ, कारण कि उसका मंथन करनेवालोंने स्वयं अपने नेत्रोंसे देख लिया था कि उसमेंसे अमृत निकला है; पर अन्ततः उस अमृतका उचित सार-सँभाल उन लोगोंसे न हो सका।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

"समस्त साहित्यका मन्थन करके निकाला हुआ यह गीता नामका सुप्रसिद्ध सार है, जिससे आत्मा नामक रत्न हाथ लगता है, वेदान्तमें जिसका महिमा-गान 'ज्ञान' नामसे हुआ है और इसीलिये जिसकी उत्तम कीर्ति सम्पूर्ण जगत्में फैली हुई है, जिसके प्रकाशसे बुद्धि इत्यादि शक्तियोंमें देखने तथा समझनेकी योग्यता आती है और जिसके द्वारा मैं सर्वद्रष्टा भी दृष्टिगत होता हूँ, वही यह आत्मज्ञान है। मैं तो अव्यक्त हूँ ही और मुझ अव्यक्तका भी यह छिपाकर रखा हुआ गुप्त धन है। किन्तु तुमसे मैं अपना यह धन भला किस प्रकार छिपाकर रख सकता हूँ! इसीलिये हे पाण्डुसुत, दया तथा प्रेमसे एकदम परिपूर्ण हो जानेके कारण मैंने अपना यह गुप्त खजाना तुम्हारे सम्मुख खोलकर रख दिया है। प्रेमावेशमें माता जिस तरह अपने बालकके साथ उन्मुक्त मनसे बातें करती है, ठीक उसी तरह हमारी यह प्रीति भी क्या हमें उसी प्रकारकी बातोंमें प्रवृत्त नहीं करेगी? जिस प्रकार आकाश भी गला डाला जाय, अमृतकी भी छाल उतार ली जाय अथवा दिव्यको भी और दिव्य बनाया जाय तथा जिसके अंगके प्रकाशसे पातालके परमाणु भी प्रकाशित होते हैं, उस सूर्यकी भी आँखोंमें दिव्यांजन लगाया जाय, उसी प्रकार इस अवसरपर हे धनंजय, मुझ सर्वज्ञने भी समस्त दृष्टियोंसे विचार करके तुम्हें वही बात बतलायी है जो निश्चयपूर्वक ठीक है। अब तुम इन समस्त बातोंपर विचार करके वही काम करो, जो तुम्हें उचित जान पड़े।"

श्रीकृष्णकी ये बातें सुनकर अर्जुन स्तब्ध हो गया। उस समय श्रीदेवने कहा—"हे पार्थ, वास्तवमें तुम अत्यन्त गम्भीर हो। यदि भूखसे पीड़ित व्यक्ति भोजन परोसनेवालेसे कुछ संकोचपूर्वक कहे कि बस, अब रहने दो, मेरा पेट भर गया, तो निस्सन्देह स्वयं उस व्यक्तिको ही भूखे रहना पड़ेगा तथा साथ ही उसे मिथ्या भाषणका भी दोष लगता है। ठीक इसी प्रकार सर्वज्ञ सद्गुरुके मिलनेपर लज्जावश उनसे आत्मनिर्णयविषयक प्रश्न न

लालसा न हो, तो वह अपने पहले दोनों गुणोंके कारण जगत्‌में पूजित तो होगा, पर गीता सुननेका अधिकारी वह न हो सकेगा। मोती चाहे कितना ही अधिक चमकदार क्यों न हो, पर यदि उसमें छिद्र ही न हो तो क्या उसमें कभी धागा पिरोया जा सकेगा? सागर अत्यन्त गम्भीर है यह बात भला कौन न मानेगा? पर उसपर जो वर्षा होती है, क्या वह व्यर्थ ही नहीं जाती? जिसका उदर भरा हुआ हो, उसके सम्मुख उत्तम पक्वान्न परोसकर उन्हें व्यर्थ नष्ट करनेकी अपेक्षा वही पक्वान्न उदारताके साथ भूखे व्यक्तियोंको ही क्यों न परोसे जायँ? अतएव मनुष्य चाहे कितना ही अधिक योग्य क्यों न हो, तो भी यदि उसके अन्तःकरणमें ज्ञान-श्रवणकी अभिलाषा न हो, तो उससे विनोदमें भी इस शास्त्रकी चर्चा नहीं करनी चाहिये। चक्षु तो रूपके पारखी होते हैं, पर वे भला परिमलका मर्म किस प्रकार समझ सकते हैं? जिस जगहपर जो बातें उचित हों, उसी जगहपर वह फलवती भी होती हैं।

अतएव हे सुभद्रापति, तपस्वियों तथा भक्तोंका सम्मान तो अवश्य करना चाहिये, पर जो शास्त्र-श्रवणके प्रति श्रद्धावान् न हो, उसे इस गीताशास्त्रका उपदेश कभी न देना चाहिये। अब मान लो कि किसी व्यक्तिमें तपश्चर्या है, भक्ति है और शास्त्र-श्रवणकी अभिलाषा भी है, तो भी इस गीताशास्त्रकी रचना करनेवाले तथा सम्पूर्ण लोकोंके मुझ प्रभुके विषयमें जो प्रायः निकृष्टतापूर्ण बातें कहा करता हो अथवा जो मेरे भक्तोंके विषयमें भी तथा स्वयं मेरे विषयमें भी निन्दापूर्ण बातें कहा करता हो, उसे भी तुम गीता-श्रवणहेतु उचित पात्र न समझो। उसमें जो अन्य गुणोंकी सामग्री है, उसे बिना दीप-ज्योतिवाला रातका दीपक ही जानना चाहिये। मान लो कि किसी व्यक्तिका शरीर गौर वर्णका है और उसकी अवस्था तरुण भी है तथा अलंकार इत्यादिसे अच्छी तरह सुसज्जित भी है, पर उसका शरीर प्राणविहीन है अथवा विशुद्ध स्वर्णनिर्मित मन्दिर है, पर उसके प्रवेश द्वारपर नागिन मार्ग रोककर खड़ी है अथवा दिव्यान्न पककर तैयार है, पर उसमें कालकूट मिला दिया गया है अथवा मित्रता तो है, पर उसके भीतर कपट भरा हुआ है। हे सुविज्ञ, तुम यह बात अच्छी तरह ध्यानमें रखो कि उन लोगोंकी भी ठीक इसी प्रकारकी दशा होती

हे धनंजय, हमें अपना मुँह देखनेके लिये जिस दर्पणका प्रयोग करना होता है, उस दर्पणको हम स्वयं ही स्वच्छ करते हैं, पर यह स्वच्छता हम उस दर्पणके लिये नहीं करते, अपितु स्वयंके लिये ही करते हैं। इसी प्रकार हे पार्थ, मैं तुम्हें निमित्त बनाकर ये सब बातें स्वयं अपने ही लिये कह रहा हूँ; क्योंकि तुम्हीं बतलाओ कि क्या मुझमें और तुझमें किसी प्रकारका भेदभाव है? और यही कारण है कि मैं अपना आन्तरिक रहस्य तुमको बतला रहा हूँ, कारण कि तुम्हीं मेरे अन्तरंगमें निवास करनेवाले हो और एकनिष्ठ भक्तोंके लिये मैं पागल रहता हूँ। हे पाण्डुसुत, लवण अपना सर्वस्व जलको अर्पण करते ही स्वयंको भूल जाता है और सर्वांशमें जलरूप होनेमें वह रत्तीभर भी लज्जित नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब तुम मुझसे किसी तरहका छिपाव करना नहीं जानते, तब मैं तुमसे कोई बात किस प्रकार छिपाकर रख सकता हूँ? इसीलिये जिस रहस्यके सम्मुख जगत्‌के शेष सब रहस्य एकदम प्रकट हो जाते हैं, वह अपना अत्यन्त गुप्त रहस्य-वचन तुम्हें बतला रहा हूँ; ध्यानपूर्वक सुनो! (१३४१—१३५२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

हे वीरशिरोमणि, तुम अपने बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकारके व्यवहारोंका विषय मुझ सर्वव्यापकको बना दो। जैसे आकाशके समस्त अंगोंमें वायु मिली हुई रहती है, ठीक वैसे ही तुम मुझमें मिलकर रहो। किं बहुना तुम अपने मनको केवल मेरा ही मन्दिर बनाओ और अपने श्रवणेन्द्रियोंको मेरे ही श्रवणसे ठीक तरह भरो। आत्मज्ञानसे निर्मल हो चुके जो सन्तजन हैं, वे ही मेरी छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं; अतएव जैसे कामिनी अपने पतिकी ओर प्रेम भरी दृष्टिसे देखती है, ठीक वैसे ही तुम्हारी दृष्टि भी इन सन्तोंकी ओर देखे। मैं समस्त वस्तुओंका निवासस्थान हूँ, अतएव मेरे शुद्ध नामकी रट तुम अपनी जिह्वाके साथ लगाकर उसे जीवित रखो। तुम इस प्रकारकी व्यवस्था करो जिसमें तुम्हारे हाथोंके द्वारा काम करना तथा पैरोंके द्वारा चलना आदि सब कुछ मेरे ही लिये हो।

होगा। ज्ञानी, कर्मठ तथा तपस्वीमेंसे सिर्फ ऐसा पुरुष मुझे जितना अधिक प्रिय होता है, हे पाण्डव, उतना अधिक प्रिय इस पृथ्वीपर मुझे अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। जो भक्त-मण्डलीमें गीताका उपदेश करता है, जो मुझ वैभव-सम्पन्नके विषयमें अपने मनमें पूर्ण प्रेम तथा भक्ति रखकर शान्तिपूर्वक संतोंकी सभामें गीताका पाठ करता है, जो उन भक्तोंको ठीक वैसे ही रोमांचित करता है, जैसे नूतन पत्तोंके निकलनेसे वृक्ष हर्षसे रोमांचित होते हैं, जो उन्हें ठीक वैसे ही हिलाता है, जैसे मन्द पवनके झोंके वृक्षोंको हिलाते हैं, जो उनके आँखोंको वैसे ही रसार्द्र करता है, जैसे उन वृक्षोंके फल रसार्द्र होते हैं, जो कोयलकी मधुर वाणीकी भाँति गद्‌गद वचन बोलता है, जो भक्त-मण्डलीरूपी उद्यानमें वसन्त-कालकी भाँति प्रवेश करता है, जो सन्तजनोंकी सभामें एकमात्र मेरे स्वरूपपर ध्यान रखकर गीताके पद्यरूपी रत्नोंकी ठीक वैसे ही अटूट वृष्टि करता है, जैसे आकाशमें चन्द्रोदय होते ही चक्रवाकका जन्म सफल होता है अथवा जैसे मयूर-ध्वनिका जवाब देता हुआ बरसातका नवीन सजल मेघ आ पहुँचता है, उस पुरुषकी भाँति सचमुच मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं है और न इसके पहले कभी कोई मेरा प्रिय था और न आगे कोई उतना अधिक प्रिय होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। हे अर्जुन, जो सन्तोंका आतिथ्य गीताके अर्थके द्वारा करता है, उसे मैं सदा अपने हृदयमें धारण किये रहता हूँ। (१५१४—१५२३)

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

मेरे और तुम्हारे संवादमें मोक्ष-धर्मको उत्पन्न करनेवाली जिस कथाका विस्तार हुआ है, उसके सम्पूर्ण अर्थका ज्ञान करा देनेवाली इस गीताका जो बिना एक अक्षरमें भी परिवर्तन किये पाठ करेगा, वह मानो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर उसमें मूल अविद्याकी आहुति देगा तथा शुद्धमति होकर मेरा स्वरूप प्राप्त करेगा। ज्ञानिजन गीतार्थका अच्छी तरह अन्वेषण करके जो कुछ प्राप्त करते हैं, हे सुविज्ञ, वही चीज उन लोगोंको भी प्राप्त होगी, जो इस गीताका पाठ करेंगे। गीतार्थ जाननेवालोंको जो फल प्राप्त होता है, वह फल गीताका सिर्फ पाठ करनेवालेको भी प्राप्त होगा। यह गीता ज्ञानी तथा अज्ञानी सन्तानमें कभी कोई भेद-भाव नहीं करती। (१५२४—१५२८)

रहता हूँ, तो फिर मैं शपथ देनेका व्यर्थ प्रयत्न ही क्यों करूँ? पर हे अर्जुन, तुम्हारे प्रेमके वशीभूत होनेके कारण मैं इतना बौरा गया हूँ कि अपने ईश्वरत्ववाले भूषण भी मैंने उसी बौरापनके हवाले कर दिये हैं। हे पार्थ, यही कारण है कि मैं तो अधूरा हो गया हूँ और तुम मद्रूप होनेके कारण सम्पूर्ण बन गये हो। हे धनंजय, जैसे अपना काम निकालनेके लिये राजाको स्वयं अपनी ही शपथ खानी पड़ती है, ठीक वैसी ही बात यहाँ भी है।''—इसपर अर्जुनने कहा—''हे देव! आप ऐसी बातें न कहें, कारण कि मेरे सब कार्य एकमात्र आपके नामस्मरणसे ही सिद्ध हो रहे हैं। तिसपर आप इस समय मुझे उपदेश प्रदानके निमित्त विराजमान हैं। अब यदि आप ही शपथ देने लगें तो फिर मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या आपकी इस विनोदभरी लीलाकी कोई मर्यादा भी है? सूर्य-प्रकाशका एक अत्यल्प अंश भी कमलवनको प्रस्फुटित कर देता है, पर इसी निमित्तसे वह पूर्णरूपसे प्रकट होता है। मेघ इतनी वृष्टि करता है कि उससे पृथ्वीकी दाहकताका भी शमन हो जाय तथा सम्पूर्ण समुद्र भी भर जाय। ऐसी दशामें जिस समय वह चातककी प्यास मिटाता है, उस समय क्या वह चातक उसका सिर्फ निमित्त नहीं है? अतएव हे दयानिधि, दाताओंमें सर्वश्रेष्ठ, क्या इस अवसरपर यह नहीं कहना पड़ता कि मैं भी आपकी इस उदारताका निमित्तमात्र ही हूँ?''

यह सुनकर भगवान्‌ने कहा—''बस, बहुत हो चुका। ऐसा कहनेका यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है। अभी-अभी मैंने जो साधन तुम्हें बतलाये हैं, उन साधनोंके द्वारा निःसन्देह तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे। हे धनंजय, जिस समय लवण सिन्धुमें पड़ता है, उसी समय वह गल जाता है अथवा उसके न गलनेके लिये कोई कारण होता है? इसी प्रकार जिस समय प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान मेरे स्वरूपकी भक्ति उत्पन्न हो जायगी, उस समय समस्त विषयोंमें तुम्हारे मनमें आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तुम्हारा देहाभिमान एकदम समाप्त हो जायगा तथा तुम भी 'मैं' ही बन जाओगे। इस प्रकार मैंने तुम्हें यह बात अच्छी तरहसे बतला दिया है कि कर्मसे आगे बढ़ते-बढ़ते साधनोंकी मंजिल मेरी प्राप्तिपर्यन्त किस प्रकार आकर पहुँचती है। हे पाण्डुसुत, इस निरन्तर बढ़नेवाली गतिका क्रम इस प्रकार है कि यदि समस्त कर्म मुझे समर्पित कर दिये जायँ तो मेरी

बीचमें कोई ऐसी बात रह गयी है जो तुम्हारे ध्यानमें आनेसे छूट गयी हो अथवा जो उपेक्षाके कारण यों ही रह गयी हो? मैंने जैसे इस ज्ञानका तुम्हें उपदेश दिया है, यदि वैसे ही यह ज्ञान तुम्हारे हृदयमें बैठ गया हो, तो फिर मैं जो कुछ पूछता हूँ, उसका तुम शीघ्रातिशीघ्र उत्तर दो। मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि तुम्हारे मनमें जो मोह आत्मा-सम्बन्धी अज्ञानके कारण उत्पन्न हुआ था और जिसने तुम्हें भ्रमित कर दिया था, तुम्हारा वह मोह अभीतक मिटा या नहीं? तुम सिर्फ यह बतलाओ कि कर्म तथा अकर्मका भेद तुम्हें दृष्टिगत होता है अथवा नहीं।" भगवान्‌ने अर्जुनके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित कर उसकी ऐसी दशा बना दी थी कि वह आत्मानन्दके अद्वैत रसमें निमग्न होने तथा उसके विषयमें कुछ पूछनेके बदले फिर उसी पुराने द्वैत भावपर खिंच आया था। अर्जुन पूर्ण ब्रह्म हो गया था, पर उस समय जो कार्य सम्मुख आ पड़ा था, उसे सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌ने उसे भेद-भाववाली मर्यादाका अतिक्रमण करने नहीं दिया था और नहीं तो सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्णने अबतक जो कुछ किया और कहा था, उससे क्या वे अनभिज्ञ थे? पर अर्जुनको फिरसे द्वैतके भानपर लाकर खड़ा करनेके लिये ही उन्होंने उससे यह प्रश्न पूछा था। उस समय भगवान्‌ने अर्जुनसे उपर्युक्त प्रश्न पूछ करके और उसे फिरसे अर्जुनत्वके भानपर लाकर उसके मुखसे उसका यह अनुभव कहलाया था कि 'अब मैं पूर्ण हो गया हूँ।' फिर जैसे क्षीर-सिन्धुसे निकलनेवाला तथा आकाशमें अपनी प्रभा बिखेरनेवाला पूर्ण चन्द्रमा बिना पृथक् किये ही स्पष्टरूपसे पृथक् तथा निराला दृष्टिगोचर होता है, ठीक वैसे ही उस समय अर्जुनको एक ओर तो यह भी नहीं भूलता था कि मैं ब्रह्म हूँ तथा दूसरी ओर उसे दृष्टिगोचर होता था कि सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म है। एक ओर तो उससे संसार छूट रहा था तथा दूसरी ओर ब्रह्मत्व भी नष्ट हो रहा था।

इस प्रकार वह ब्रह्मत्वके विषयमें कुछ अच्छा-बुरा विचार करता हुआ बड़े कष्टसे एक बार फिर देहाभिमानकी सीमापर पहुँचकर रुक गया तथा वहाँ वह—'मैं अर्जुन हूँ' यह सोचकर स्थिर हो गया। फिर अपने कम्पायमान हाथोंसे उठती हुई रोमावली दबाकर, स्वेद बिन्दु पोंछकर और तीव्रगतिसे चलते हुए श्वासके कारण कम्पित अंगोंको सँभालकर, देहकी घबराहट अत्यन्त निग्रहपूर्वक रोककर,

अधर्मकी अव्यवस्था उत्पन्न करता है, उस अज्ञानको मिटा देनेपर धर्म-अधर्मके समस्त बखेड़े भी स्वतः दूर हो जाते हैं और जब अज्ञान एकदम समाप्त हो जाता है, तब स्वतः केवल मैं ही अवशिष्ट रहता हूँ। जैसे निद्राके संग स्वप्नका भी क्षय होनेपर सिर्फ अपना ही भान शेष नहीं रह जाता है, ठीक वैसे ही अज्ञानके मिट जानेपर मेरे अलावा अन्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता और मेरे उस केवल स्वरूपमें मिलकर जीव एकदम एकाकार हो जाता है। स्वयं अपनी भी भिन्नता न रखकर साथ मिलकर एक हो जाना ही 'मेरी शरणमें आना' कहलाता है। जैसे घटके विनष्ट होते ही उसमें स्थित आकाश आकाशमें मिल जाता है, ठीक वैसे ही मेरे साथ एकता इस शरणागतिसे सिद्ध होती है। जैसे स्वर्णमणि स्वर्णमें अथवा तरंग जलमें मिल जाती है, वैसे ही हे धनंजय, तुम भी मेरी शरणमें आकर मेरे साथ मिल जाओ। हे किरीटी, और नहीं तो समुद्रके शरणमें बड़वाग्नि आयी और उसने स्वयं समुद्रको ही जला डाला; ऐसी परिकल्पनाएँ तुम एकदम त्याग दो। कोई मेरी शरणमें आवे और फिर भी उसमें अपने जीव होनेका भाव बना रहे, यह बात एकदम उपहासका विषय है। ऐसी बातें जिस बुद्धिके कारण मुँहसे निकलें, उस बुद्धिको भला लज्जा क्यों न आवे?

हे धनंजय, यदि किसी राजाके गले कोई साधारण सेविका भी आ पड़े तो वह भी राज्य-सम्पदा प्राप्त कर लेती है। फिर यदि कोई यह कहे कि मुझ विश्वेश्वरकी भेंट हो जानेपर भी जीवत्वकी ग्रन्थि नहीं टूटती, तो ऐसे अभद्र वचनोंकी ओर तुम एकदम ध्यान मत दो। मेरी सेवा मद्‌रूप होकर सहजमें की जा सकती है; अतएव तुम मेरी ऐसी ही सेवा करो, कारण कि इसीके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तदनन्तर, जैसे मट्ठेमेंसे निकला हुआ नवनीत फिर कोटि उपाय करनेपर भी उस मट्ठेमें नहीं मिल सकता, ठीक वैसे ही जिस समय तुम अद्वैतवाली भावनासे एक बार भी मेरी शरणमें आ जाओगे, उस समय कोटि उपाय करनेपर भी धर्म-अधर्मका बखेड़ा तुम्हें जरा-सा भी स्पर्श न कर सकेगा। लोहा यों ही रखे-रखे मिट्टी हो जाता है; पर जब एक बार पारसके संग पड़ जाता है तो वह स्वर्णका रूप धारण कर लेता है, तब फिर उसमें कभी मल नहीं लगता अथवा यदि काष्ठका घर्षण कर उसमें स्थित

अब मेरे लिये आपकी आज्ञाके अलावा अन्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह गया है, क्योंकि जिसके दिखायी देनेपर यह दृश्य जगत् नहीं रह जाता, जो स्वयं दूसरा होनेपर भी द्वैतका सर्वनाश कर डालता है, जो एक होनेपर भी सदा-सर्वत्र निवास करता है, जिसके संग सम्बन्ध होते ही समस्त बन्धन टूट जाते हैं, जिसकी आशा होते ही अन्य समस्त आशाओंका नाश हो जाता है, जिसके भेंट होनेपर स्वयं अपने ही साथ अपनी भेंट हो जाती है, वह मेरे परमाराध्य गुरुदेवता आप ही हैं। जो सदा ऐक्यके साथ रहनेवाले हैं, जिनके कारण अद्वैत बोधके क्षेत्रमें प्रवेश होता है और स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर करणीय और अकरणीयका झंझट दूर करके तथा एकनिष्ठ होकर जिनकी अपार सेवा करते रहना चाहिये, जो अपने भक्तोंको स्वयंमें ठीक वैसे ही मिला लेते हैं, जैसे समुद्रसे भेंट करनेवाली नदी आकर स्वयं समुद्रका ही रूप धारण कर लेती है, वे आप मेरे निरुपाधिक सेवायोग्य सद्गुरु हैं। अतएव अब आप यही जान लें कि मेरे ऊपर ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कारका उपकार हुआ है। आपके तथा मेरे बीचमें जो भेद-भाववाली बाधा थी, उसे मिटा करके आज आपने मुझे अपनी सेवाका सुमधुर सुख प्राप्त कराया है। अतएव हे देवाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण! अब आप मुझे जो कुछ आज्ञा प्रदान करेंगे, मैं उसका बिना पालन किये न रहूँगा।'' अर्जुनकी ये सब बातें सुनकर भगवान् आनन्द-विभोर हो गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा कि आज मुझे अर्जुनके रूपमें समस्त फलोंसे बढ़कर फल प्राप्त हुआ है। जिस चन्द्रमाकी क्षीण कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं, उस अपने पुत्र पूर्णचन्द्रको देखकर क्या क्षीर-सिन्धु अपनी मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करने लगता? इसी प्रकार सम्भाषणरूपी मण्डपमें भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका यह संयोग देखकर संजय भी मारे आनन्दके उछल पड़ा। अपनी अत्यधिक बढ़ी हुई आनन्द-भावनासे संजयने महाराज धृतराष्ट्रसे कहा कि श्रीव्यासदेवकी यह कितनी अधिक अनुकम्पा है कि उन्होंने इस युद्धकालमें हम दोनोंका भरपूर संरक्षण किया है! सांसारिक व्यवहार करनेके लिये भी आपके पास चर्मचक्षु नहीं रह गये, पर ऐसी स्थितिमें भी ज्ञानकी दृष्टिसे व्यवहार करनेकी सामर्थ्य महर्षि व्यासकी अनुकम्पासे आज आपको प्राप्त हुई है। मुझे तो एकमात्र

22

समुद्र दूसरे समुद्रमें मिलता है, उस समय जल दुगुना हो जाता है और यथेष्ट जगह पानेके लिये वह जल ऊपर आकाशमें भी उछलने लगता है। भगवान् और अर्जुनके मिलनमें भी ठीक यही बात हुई थी। मारे आनन्दके वे दोनों फूले नहीं समाते थे। कौन कह सकता है कि यह सम्मिलन कैसा हुआ था। किंबहुना, उस समय सम्पूर्ण विश्व मानो पूर्णतया श्रीनारायणसे भर गया था। इस प्रकार वेदोंका मूल सूत्र यह गीताशास्त्र समस्त अधिकारसम्पन्न और परम पवित्र भगवान् श्रीकृष्णने प्रकट किया था। सम्भव है आपलोगोंके मनमें यह शंका उत्पन्न हो कि यह गीता वेदोंका मूल किस प्रकार हुई, तो मैं इसके भी सम्बन्धमें स्पष्ट विवेचन कर देता हूँ। वेदोंका जन्म जिनके श्वाससे हुआ, स्वयं वही सत्यसंकल्प भगवान् अपने मुखारविन्दसे प्रतिज्ञापूर्वक यह बात कहते हैं और इसीलिये हमारा यह कथन भी एकदम समीचीन है कि वेदोंका मूल गीता है। इसका स्पष्ट विवेचन और भी तरीकेसे किया जा सकता है।

यदि किसी चीजका क्षय न हो और उसका सारा विस्तार किसी पदार्थमें लयरूपमें संग्रहीत हो तो वह पदार्थ उस चीजका बीज ही समझा जाना चाहिये और जैसे बीजमें वृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही त्रिकाण्डोंवाली सम्पूर्ण वेदराशि इस गीताके अन्दर पूर्णरूपसे भरी हुई है। इसीलिये मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह गीता ही वेदोंका मूल बीज है और यह बात स्पष्टरूपसे दृष्टिगत भी हो सकती है। जैसे हीरे तथा माणिक्य इत्यादिके बने आभूषणोंसे पूरा शरीर अलंकृत होता है, ठीक वैसे ही वेदोंके त्रिकाण्डात्मक भाग इस गीतामें सुशोभित हो रहे हैं। वेदोंके तीनों काण्ड गीतामें कहाँ-कहाँ हैं इसके सम्बन्धमें अब मैं स्पष्टरूपसे बतलाता हूँ।

इसका पहला अध्याय तो एकमात्र शास्त्रीय विचारकी आरम्भिक प्रस्तावना है। दूसरे अध्यायमें सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है। इस अध्यायमें यह बतलाया गया है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिये सांख्यशास्त्र ज्ञानके अलावा अन्य किसी चीजकी अपेक्षा नहीं करता। तीसरे अध्यायमें यह स्पष्ट किया गया है कि जो लोग अज्ञानसे बँधे हुए हैं, उनके लिये मोक्ष पानेके साधन कौन-से हैं। वह साधन यह है कि जो काम्य तथा निषिद्ध कर्म व्यक्तिको

दृष्टिगत होने लगा। श्रीदेव जिस अंगमें और जिस जगहपर स्वयंको भी तथा अपने भक्त अर्जुनको भी देखने लगे, उसी अंगमें तथा उसी जगहपर भक्त अर्जुनको भी देव श्रीकृष्ण दृष्टिगोचर होने लगे और अब, जब कि उन दोनोंके अलावा कोई अन्य रह ही नहीं गया था, उन लोगोंने क्या किया? बस वे दोनों एकाकार हो गये और जब इस प्रकार द्वैतभाव समाप्त हो गया, तब भला प्रश्न और उत्तरका प्रसंग कहाँसे आ सकता था! जिस समय कोई भेद ही बाकी नहीं रह गया, उस समय फिर सम्भाषणका सुख कहाँसे आ सकता था? इस प्रकार द्वैतभावके रहनेपर भी सम्भाषणके समय जिनमें द्वैतभाव नहीं रह गया था, उन दोनोंका सम्भाषण मैंने श्रवण किया।

यदि दो दर्पण एक-दूसरेके सम्मुख रख दिये जायँ तो क्या कभी यह परिकल्पना की जा सकती है कि उनमेंसे कौन किसे देखता है? अथवा यदि किसी प्रज्वलित दीपके समक्ष कोई दूसरा प्रज्वलित दीप रख दिया जाय तो यह किस प्रकार जाना जा सकता है कि उनमेंसे कौन-सा दीप किससे प्रकाशकी याचना करता है? अथवा यदि सूर्यके सम्मुख कोई अन्य सूर्य उदित हो तो इस बातका निर्णय भला किस प्रकार किया जा सकता है कि उनमेंसे कौन-सा सूर्य प्रकाश प्रदान करनेवाला है और कौन-सा प्रकाशित होनेवाला है। यदि कोई इस बातका निर्णय करने लगे तो स्वयं निश्चय ही स्तब्ध हो जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण तथा अर्जुन उस सम्भाषणमें एकदम एक-से हो गये थे।

यदि दो दिशाओंसे आकर जलके दो प्रवाह परस्पर मिल जायँ और ऊपरसे लवण भी आकर उनमें मिल जाय तो क्या वह लवण उन दोनों जल-प्रवाहोंको अवरुद्ध कर सकता है अथवा वह भी पलभरमें उन दोनों प्रवाहोंके साथ मिलकर एकाकार हो जायगा? ठीक इसी प्रकार जब मैं उस संवादमें इस प्रकार एकाकार होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका अपने हृदयमें ध्यान करता हूँ, तो मेरी दशा भी उसी लवणकी भाँति हो जाती है।" संजय इन शब्दोंको पूरा-पूरा मुखसे निकाल भी न पाया था कि इतनेमें सात्त्विकभावने आकर उसकी संजयत्ववाली स्मृति नष्ट कर दी अर्थात् मैं संजय हूँ उसे इस बातका ध्यान भी न रह गया। उसे ज्यों-ज्यों रोमांच होता आता था, उसका

अध्यायमें यह सन्देश है कि शास्त्रोंके सहयोगसे इन वैरियोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकार पहले अध्यायसे लेकर सत्रहवें अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त श्रीकृष्णने वेदोंके ही रहस्यका वर्णन किया है और इन सत्रहों अध्यायोंके अर्थका निचोड़ जिसमें दिया गया है, वह यह अठारहवाँ कलशाध्याय है।

इस प्रकार सम्पूर्ण अध्यायोंकी संख्याको ध्यानमें रखते हुए यह भगवद्गीता नामक ग्रन्थ अपने ज्ञान-दानकी उदारताके कारण मानो मूर्तिमान् वेद ही है। निस्सन्देह वेद अपने स्थानपर ज्ञानरूपी सम्पत्तिसे भरा हुआ है; किन्तु उसके सदृश दूसरा कृपण भी और कहीं न मिलेगा। इसका एकमात्र कारण यह है कि वह सिर्फ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—इन तीन जातियोंके ही श्रवणेन्द्रियोंतक पहुँच सकता है। इनके अलावा स्त्री तथा शूद्र इत्यादि जो अन्य मानवी जीव हैं, उन्हें वेद अपने ज्ञानरूपी मन्दिरमें थोड़ी भी जगह नहीं देता। यही कारण है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वकालके इस दोषको दूर करनेके लिये ही वेद इस गीताशास्त्रका रूप ग्रहण करके समस्त लोगोंके लिये साध्य हुआ है। इतना ही नहीं, अपितु यह गीताके स्वरूपमें अर्थरूपसे मनमें प्रविष्ट करके श्रवणके द्वारा श्रवणेन्द्रियोंमें लगकर अथवा जप तथा पाठके व्याजसे मुखमें रहकर अब समस्त लोगोंको प्राप्त होता है। जिन लोगोंको इस गीताका पाठ याद होता है, उन लोगोंको तो वेद इस गीताके रूपमें मोक्ष-सुख प्रदान करता ही है, पर उन लोगोंके साथ-साथ जो लोग गीताको लिखकर और उसे पुस्तकके रूपमें अपने पास रखते हैं, उन साधारण बुद्धिवालोंके लिये भी वेदने इस संसारके चतुष्पथपर मोक्ष-सुखका मानो यह अन्न-सत्र ही खोल रखा है। जैसे आकाशमें बसने, पृथ्वीपर बैठने अथवा सूर्यके प्रकाशमें भ्रमण करनेके लिये एकमात्र आकाश ही एक ऐसी जगह है जो सबके लिये समान रूपसे खुला हुआ है और जिसमें किसीके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है, ठीक वैसे ही यह गीताशास्त्र भी बिना किसी प्रतिबन्धके सबके लिये सुलभ है। जो कोई व्यक्ति इसके सन्निकट पहुँचता है, उसे बिना उत्तम अथवा अधम कहे यह अपना लेती है और बिना भेद-भाव किये समस्त लोगोंको एक समान कैवल्य-सुख प्रदानकर समस्त संसारको शान्त करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पुरानी निन्दासे

ही 'राजन्' शब्द निकला, त्यों ही वह अत्यधिक विस्मित हो गया और जैसे किसी रत्नकी प्रभा स्वयं उसीपर पड़कर फैलती है, ठीक वैसे ही वह स्वयं भी अपने विस्मयसे पूर्णतया व्याप्त हो गया। जिस प्रकार चन्द्रोदय होनेपर हिमालयके सरोवर भी स्फटिककी भाँति दृष्टिगोचर होने लगते हैं, पर सूर्योदय होते ही वे फिर द्रवरूप जान पड़ते हैं, उसी प्रकार संजयको अपने देहका ज्यों ही भान होता था, त्यों ही उसे श्रीकृष्णार्जुन-संवाद याद आ जाता था और ज्यों ही उसके स्मृति पटलपर वह संवाद आता था, त्यों ही वह फिर विस्मित होकर अपने देहका भान भुला बैठता था। बस यही क्रम उस समय निरन्तर चल रहा था। (१६१३—१६१५)

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

फिर संजयने खड़े होकर महाराज धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजन्! श्रीहरिका साक्षात् विश्वरूपका दर्शन कर आप इस प्रकार निश्चेष्ट होकर क्यों बैठे हुए हैं? जो न देखनेपर भी दृष्टिगोचर होता है, जो न होनेके कारण ही अस्तित्वमें है तथा जो विस्मृत होनेपर ही स्मृतिपटलपर आता है, उससे यदि कोई बचना चाहे तो भला किस प्रकार बच सकता है? यहाँतक तो रत्तीभर भी गुंजाइश नहीं है कि उसे दूरसे देखकर सिर्फ आश्चर्य किया जाय। कारण कि इस सम्भाषणरूपी ज्ञान-गंगाका वेग इतना अधिक है कि वह अपने सहित मुझे भी बहाये लिये चला जाता है।" संजयने श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूपी इस संगममें स्नान करके अपने अहम् भावको तिलांजलि दे दी। उस दशामें वह परमानन्दका अनुभव करता हुआ थोड़ी-थोड़ी देरमें कुछ बड़बड़ा उठता था और बार-बार रुद्ध कण्ठसे श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण कह उठता था; पर कुरुराज धृतराष्ट्रको उसकी दशाका कुछ भी भान नहीं था और वह अपने मनमें उसके विषयमें यों ही खरी-खोटी कल्पनाएँ कर रहा था। उस समय संजयको जो सुखानुभूति मिल रही थी, उसे स्वयंतक सीमित रखकर संजयने अपनी वह विभोरता शान्त की। प्रसंगसे हटकर महाराज धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—"हे संजय, यह तुम्हारा कौन-सा तरीका है! महर्षि व्यासने तुम्हें यहाँ किस कामके लिये बैठाया था और तुमने न जाने यह कहाँका बखेड़ा लाकर खड़ा कर दिया।"

यही कारण है कि जो चीज अमरत्व प्राप्तिहेतु सम्पादित की गयी थी, वही मृत्युका कारण बनी। सम्पत्तिका भोग किस प्रकार करना चाहिये यदि इस बातका ज्ञान प्राप्त किये बिना सम्पत्तिका संग्रह किया जाय तो इसी प्रकार अनर्थ होता है। राजा नहुष स्वर्गके अधिपति तो हो गये थे, पर उनका आचरण ठीक नहीं हुआ और इसीलिये तुम यह बात जानते हो न कि उन्हें सर्प-योनिमें जाना पड़ा था?

हे धनंजय! तुम्हारे संग्रहमें अनगिनत पुण्य थे, यही कारण है कि इस गीताशास्त्रके तुम एकमात्र अधिकारी हुए हो। पर अब तुम इस शास्त्रानुसार सम्यक् आचरण करो तथा अटल निष्ठासे इसका पालन करो; अन्यथा हे किरीटी, यदि तुम सम्प्रदायका ठीक ठीक ध्यान न रखोगे और सिर्फ इसके अनुष्ठानमें लग जाओगे तो वही अमृतमंथनवाली दशा उस अनुष्ठानकी भी होगी। हे अर्जुन, मान लो कि खूब स्वस्थ और उत्तम गौ प्राप्त हो गयी, किन्तु उसका दुग्ध हमें उसी दशामें प्राप्त हो सकेगा, जब हम उसके दुग्ध-दोहनकी युक्ति अच्छी तरह जानते होंगे, ठीक इसी प्रकार मान लो कि गुरु प्रसन्न हो गये तथा शिष्य भी विद्यासम्पन्न हो गया; पर उस विद्याका ठीक-ठीक फल तभी उपलब्ध होता है, जब उस विद्याके सम्प्रदायका उचित पालन किया जाता है। इसीलिये इस शास्त्रका जो उचित सम्प्रदाय है वह तुम अत्यन्त निष्ठापूर्वक श्रवण करो। (१३९०—१४८५)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

हे पार्थ, तुमने जो यह गीताशास्त्र आस्थापूर्वक प्राप्त किया है, इसकी चर्चा कभी किसी तपोहीनसे नहीं करनी चाहिये अथवा यदि कोई बढ़िया तपस्वी भी हो, पर उसके अन्तःकरणमें गुरुभक्ति न हो, तो उससे भी यह शास्त्र ठीक वैसे ही बचाना चाहिये, जैसे अन्त्यजोंसे वेद बचाये जाते हैं। काक पक्षी चाहे अत्यधिक वृद्ध ही क्यों न हो, पर फिर भी जैसे उसे हुतशेष (यज्ञावशेष) नहीं दिया जाता, वैसे ही गुरुभक्तिसे हीन तपोवृद्धको भी यह गीता नहीं देनी चाहिये अथवा यदि कोई इस प्रकारका मनुष्य मिले, जिसने तप भी किया हो तथा जिसमें गुरुभक्ति भी विद्यमान हो, पर फिर भी जिसमें ज्ञान-श्रवण करनेकी

जगहपर मित्रता भी होगी और जिस जगहपर आग उपस्थित होगी, उस जगहपर दाहक-शक्ति भी अवश्य ही रहेगी। जिस जगहपर दया विद्यमान होगी उस जगहपर धर्म भी डेरा डाले रहेगा और जिस जगहपर धर्म उपस्थित होगा, उस जगहपर सुखोपलब्धि भी अवश्य ही होगी। जिस जगहपर सुख विद्यमान होगा, उस जगहपर पुरुषोत्तम विद्यमान हो रहेंगे। जिस जगहपर वसन्त होगा, उस जगहपर वन भी होगा, जिस जगहपर वन होगा उस जगहपर पुष्प होंगे-ही-होंगे। जिस जगहपर पुष्प होंगे, उस जगहपर भ्रमर-समूह अवश्य ही मँडरायेंगे। जिस जगहपर गुरु निवास करते हैं, उस जगहपर ज्ञानका वास होता है; जिस जगहपर ज्ञानका वास होता है, उस जगहपर आत्म-दर्शन भी होता है और जिस जगहपर आत्म-दर्शन होता है, उस जगहपर समाधान भी होता ही है। सौभाग्यके पास विलास, सुखके पास उल्लास तथा सूर्यके पास प्रकाश अवश्य ही देखनेमें आता है। इसी प्रकार समस्त पुरुषार्थोंको सामर्थ्य अथवा शोभा जिनके कारण मिलती है, वे भगवान् श्रीकृष्ण जिस तरफ उपस्थित रहेंगे, लक्ष्मी भी उसी तरफ रहेंगी; और अपने स्वामीसहित वह जगदम्बा लक्ष्मी जिसे प्राप्त होगी, क्या अणिमा इत्यादि अष्टसिद्धियाँ उसकी सेविका नहीं हो जायँगी?

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही विजयस्वरूप हैं, अतः वे जिस ओर रहेंगे उसी ओर विजय भी द्रुत गतिसे जायगी। फिर अर्जुनकी ख्याति तो विजयके नामसे ही है तथा श्रीकृष्ण स्वयं ही विजयस्वरूप हैं और इसलिये इसमें जरा सा भी सन्देह नहीं है कि जिस तरफ श्रीकृष्ण होंगे, उसी तरफ लक्ष्मीसहित विजय भी अवश्य रहेगी। जिन लोगोंको ऐसे श्रेष्ठ माता-पिताका आश्रय प्राप्त है, उन लोगोंके देशके सामान्य वृक्ष भी क्या प्रतिस्पर्धामें कल्पवृक्षतकको नहीं जीत लेंगे? वहाँके पाषाण भी चिन्तामणि क्यों न हो जायँगे? वहाँकी मिट्टीमें भी स्वर्णगुण क्यों न विलास करेंगे? यदि उनके गाँवकी नदियोंमें अमृत बहे तो हे महाराज, इसमें आश्चर्य ही क्या है? भला आप ही विचार करके देखें। जिनके मुखसे उच्चरित उलटे शब्द भी सानन्द वेदोंमें गिने जाते हैं, भला स्वयं वे मूर्तिमान् सच्चिदानन्द क्यों न होंगे? श्रीकृष्ण जिनके पिता तथा लक्ष्मी जिनकी

है जिनके अन्दर तप, गुरु भक्ति तथा बुद्धि तो भरी होती है, पर फिर भी जो मेरे भक्तोंकी अथवा मेरी निन्दा करते हैं।

अतएव हे धनंजय, मेरे भक्तोंकी तथा मेरी निन्दा करनेवाला व्यक्ति चाहे गुरु-भक्त, बुद्धिमान् और तपस्वी ही क्यों न हो, उससे कभी इस शास्त्रका स्पर्श भी मत होने दो। किंबहुना निन्दा करनेवाला चाहे जगत्-स्रष्टा ब्रह्मा सरीखा योग्य ही क्यों न हो, तो भी तुम उसके हाथोंमें यह गीताशास्त्र कभी विनोदमें भी मत दो। अतएव हे धनुर्धर, जो नींवोंमें तपश्चर्याकी पूर्ण भरायी भरकर उसके आधारपर गुरुभक्तिरूपी मजबूत मन्दिर बन गया है तथा जिसका ज्ञान-श्रवणकी अभिलाषावाला दरवाजा सर्वदा खुला रहता है और अनिन्दारूपी रत्नोंसे जिसका सुन्दर कलश बना है, (१४८६—१५०८)

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

ऐसे उस निर्मल भक्तिरूपी मन्दिरमें तुम इस गीता-रत्नरूपी ईश्वरकी प्रतिष्ठा करो। ऐसा करनेसे तुम इस संसारमें स्वयं मेरी ही योग्यतातक पहुँच जाओगे। अकार, उकार और मकार—इन तीन मात्राओंके कुक्षिमें 'ॐ' एकाक्षरके रूपमें बन्द पड़ा हुआ था। इस गीताकी शाखाओंसे वेदोंके उस मूल बीज प्रणवका विस्तार हुआ है अथवा यह समझना चाहिये कि वह गायत्री ही श्लोकोंके पुष्पों तथा फलोंके द्वारा अवतरित हुई है। जिस माताके लिये एक बालकके अलावा अन्य कोई न हो, उस माताको जैसे इस प्रकारका बालक प्राप्त करा दिया जाय, जिसके लिये माताके अलावा अन्य कोई गति ही न हो, ठीक वैसे ही जो व्यक्ति इस महामन्त्रसे परिपूर्ण इस गीताका मेरे भक्तोंके साथ प्रेमपूर्वक योग करा देगा, वह देहावसानके बाद अवश्य ही मेरे संग मिलकर एकाकार हो जायगा। (१५०९—१५१३)

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

और जिस समयतक इस प्रकारका पुरुष देहरूपी अलंकार धारण करके देखनेमें मुझसे पृथक् रहेगा, उस समयतक वह मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय

दे दिया। अग्निका विस्तार अपार है; पर सूर्यास्त हो जानेके कारण जो हानि होती है उसकी भरपाई करनेके लिये जैसे कपासकी बत्तीके अग्रभागमें उसका उपयोग करते हैं, ठीक वैसे ही सर्वप्रथम वह शब्द-ब्रह्म अथवा सवा लाख श्लोकोंवाला भारत बना, जिसका कहीं अवसान ही नहीं है।

तदनन्तर सात सौ श्लोकोंकी वह गीता बनी जिसमें भारत-ग्रंथका सम्पूर्ण सार भरा हुआ है और इन सात सौ श्लोकोंमेंसे यह अन्तिम श्लोक जिसमें महर्षि व्यासके शिष्य संजयका पूर्ण उद्‌गार समाया हुआ है, सम्पूर्ण गीताका इकट्ठा किया हुआ अर्थ है। जो पुरुष इस एक ही श्लोकको अपने हृदयसे लगा रखेगा, वह मानो सम्पूर्ण अविद्याको पूर्णतया जीत लेगा। इस प्रकार ये सात सौ श्लोक मानो इस गीताके चलते-फिरते पैर ही हैं अथवा इन्हें पैर न समझकर गीतारूपी आकाशका परमामृत ही जानना चाहिये अथवा मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये गीतारूपी आत्म-राजसभाके सात सौ खम्भे ही हैं अथवा सप्तशती यानी सात सौ श्लोकोंमें भगवतीके विषयमें निर्मित ग्रन्थके द्वारा वर्णित यह गीता मानो भगवती देवी ही समझी जानी चाहिये। यह मोहरूपी महिषासुरको मुक्ति देकर यानी मार करके आनन्दित हुई है। अतएव जो तन-मन और वचनसे इसका भक्त होगा, वह स्वानन्द अथवा आत्मानन्दके साम्राज्यका एकचक्र सम्राट् होगा अथवा अविद्यारूपी अंधकार मिटानेमें प्रतिज्ञापूर्ण सूर्यको भी मात करनेवाले ये श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने गीताके रूपमें प्रकट किये हैं अथवा संसारके श्रान्त पथिकोंको विश्रामस्थल देनेके लिये यह गीता श्लोकाक्षररूपी द्राक्षावल्लीका मण्डप बन गयी है अथवा सात सौ श्लोकरूपी कमलोंसे धन्य हुई तथा सन्तरूपी भ्रमरोंसे भरी हुई इस गीताको भगवान् श्रीकृष्णकी मुखरूपी पुष्करिणी ही समझना चाहिये अथवा ये सात सौ श्लोक और कोई नहीं, गीताकी महिमा-गान करनेवाले भाट ही जान पड़ते हैं अथवा इन सात सौ श्लोकोंके चतुर्दिक् गृह-निर्माण कर इस गीतारूपी सुन्दर नगरीमें मानो वेदसमूह ही बसनेके उद्‌देश्यसे आ गये हैं अथवा ये श्लोक और कोई नहीं, अपने पति परमात्माका प्रेमालिंगन करनेके लिये गीता प्रियाके द्वारा फैलायी गयी बाँहें हैं अथवा ये श्लोक गीतारूपी कमलके भृंग हैं अथवा गीतारूपी समुद्रकी लहरें हैं

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

और जो सब तरहसे निन्दाका त्याग कर शुद्ध बुद्धिसे गीता-श्रवणके प्रति श्रद्धा रखता है, उसके श्रवणेन्द्रियोंमें गीताके अक्षर ज्यों ही प्रवेश करते हैं, त्यों ही उसके पाप उसे त्यागकर सुदूर भाग जाते हैं। जैसे जंगलमें आग लगते ही उसमें निवास करनेवाले समस्त जीव दसों दिशाओंमें भाग जाते हैं अथवा जैसे उदयाचलके शिखरपर सूर्यके निकलते ही अन्धकार अन्तरालमें जाकर छिप जाता है, ठीक वैसे ही श्रवणेन्द्रियोंके महाद्वारमें ज्यों ही गीताकी झंकार पहुँचती है, त्यों ही सृष्टिकी उत्पत्तिकालतकके समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह जन्मरूपी बेल दोषरहित होकर पुण्यरूपी पुष्पोंसे खिलती है और अन्ततः उसमें अपार फल आते हैं। कारण यह है कि श्रवणेन्द्रियोंके द्वारा गीताके जितने अक्षर हृदयमें प्रविष्ट करते हैं, उतने अश्वमेधका फल प्राप्त होता है। अतएव गीताके सुननेसे पापोंका क्षय होता है तथा पुण्यकी वृद्धि होती है और अन्तमें उन पुण्योंके द्वारा इन्द्रका ऐश्वर्य प्राप्त होता है। मुझसे मिलनेके लिये वह जो प्रवास करता है, उसका प्रथम पड़ाव स्वर्गमें होता है और वहाँ वह जितना सुखोपभोग करना चाहता है उतना सुखोपभोग कर अन्ततः वह मुझमें ही आकर समा जाता है।

हे धनंजय! गीता श्रवण करनेवालोंको भी तथा उसका पाठ करनेवालोंको भी इसी प्रकार आनन्द प्रदान करनेवाले फल प्राप्त होते हैं। अब मैं इन बातोंको कहाँतक कहूँ! जो कुछ कहा जा चुका है, वही यथेष्ट है; पर जिस उद्देश्यके लिये मैंने इस शास्त्रका इतना अधिक विस्तार किया है, उस उद्देश्यके विषयमें मैं अब तुमसे एक बात पूछता हूँ। (१५२९—१५३९)

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ ७२॥

हे पाण्डव! तुम यह बतलाओ कि ये समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त तुमने एकाग्रचित्तसे सुना है अथवा नहीं? जैसे मैंने यह ज्ञान तुम्हारे श्रवणेन्द्रियोंतक पहुँचाया है, ठीक वैसे ही यह ज्ञान तुम्हारे चित्तमें भी भरा है या नहीं? अथवा

देखिये, समस्त विश्वपर कृपा करके तथा अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्णने यह परम आत्मानन्द सबके लिये किस प्रकार सुगम कर दिया है! जैसे चक्रवाकको सुख पहुँचानेके व्याजसे चन्द्रमा तीनों लोकोंका दाह शमन करता है अथवा जैसे गौतम ऋषिके बहाने कलिकालके कारण उत्पन्न होनेवाला संसारका दाह शमन करनेके लिये भगवान् शिवने गंगाका प्रवाह धरतीपर ला उपस्थित किया था, ठीक वैसे ही श्रीकृष्णरूपी गौने अर्जुनको बछड़ा बनाकर यह गीतारूपी दूध सम्पूर्ण जगत्के लिये दिया है। यदि आप इस शास्त्रमें निमग्न हो जायँगे तो कैवल्यवाली स्थितिमें पहुँच जायँगे। केवल इतना ही नहीं, अपितु एकमात्र पढ़नेके उद्देश्यसे भी यदि जिह्वाके साथ इसका संयोग कराया जायगा तो जैसे पारसका जरा-सा भी स्पर्श होनेसे लोहा स्वतः सोना हो जाता है, ठीक वैसे ही यदि पाठको कटोरा बनाकर किसी श्लोकका एक चरण भी आप अपने अधरोंसे स्पर्श करायेंगे तो आपके देहपर ब्रह्मैक्यकी पुष्टता चढ़ेगी अथवा यदि उस कटोरेको मुँह न लगाकर उसे टेढ़ा-मेढ़ा करके रख देंगे तथा उसकी ओरसे मुँह फेर लेंगे तो यदि गीताके अक्षर भी आपके श्रवणेन्द्रियोंमें पड़ जायँगे तो भी वही फल होगा। जैसे कोई ऐश्वर्यवान् तथा उदार व्यक्ति कभी किसीके द्वारा किसी चीजकी याचना करनेपर 'ना' नहीं कहता, ठीक वैसे ही यदि इस गीताका श्रवण, पठन अथवा अर्थ-ग्रहणमेंसे किसी एकका भी अवलम्बन किया जाय तो यह मोक्षसे कम कभी किसीको कुछ देती ही नहीं।

इसलिये ज्ञान-प्राप्तिके निमित्त एकमात्र गीताकी ही सेवा करनी चाहिये। अन्य अनेक शास्त्रोंको लेनेसे क्या लाभ हो सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो संवाद हुआ था, उसे श्रीव्यासदेवजीने हथेलीमें लेनेयोग्य बना दिया है अर्थात् जो चाहे वही उसका बड़ी ही सुगमतासे आकलन कर सकता है। माता जिस समय अपने बालकको भोजन कराने बैठती है, उस समय वह उसके मुखमें इतने छोटे-छोटे कौर देती है जिन्हें वह सहजमें खा सके अथवा जैसे वायुके असीम होनेपर भी चतुर मनुष्य पंखा तैयार करके उससे सिर्फ उतनी ही हवा करता है, जितनी वह स्वयं सहन कर सकता है, ठीक वैसे ही महर्षि

दोनों आँखोंसे अश्रुप्रवाहके रूपमें आनेवाली आनन्दामृतकी बाढ़को जहाँ-का तहाँ रोककर, अनेक प्रकारकी उत्कण्ठाओंके कारण भर आनेवाले गलेको ठीक करके तथा उन उत्कण्ठाओंको अपने भीतर ही दबाकर, लड़खड़ाती हुई जबानको सँभालकर तथा श्वासोच्छ्वासको ठिकाने लाकर— (१५४०—१५५७)

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

—अर्जुनने कहा—"हे देव, आप यह क्या पूछ रहे हैं कि मोहने अभीतक मेरा परित्याग किया अथवा नहीं? वह तो अपने कुटुम्बसहित समस्त भावोंको लेकर अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर कभीका मुझे छोड़कर चलता बना। क्या यह भी कभी हो सकता है कि सूर्य आँखोंके सन्निकट आकर पूछे कि तुम्हें अँधेरा दिखायी देता है? इसी प्रकार आप श्रीकृष्ण महाराज मुझे इस समय साक्षात् दृष्टिगोचर हो रहे हैं और यही क्या कम है? फिर जो चीज किसी प्रकारकी चेष्टा करनेपर भी मिल नहीं सकती, वही चीज आप मातासे भी बढ़कर प्रेमपूर्वक मुझे जी भरकर बतला रहे हैं। अब जिस दृष्टिसे आपने मुझसे यह पूछा है कि तुम्हारा मोह अभीतक दूर हुआ अथवा नहीं, उस दृष्टिसे मैं कहता हूँ कि हे भगवन्, आपकी कृपाप्रसादसे मैं धन्य हो गया। मैं अभीतक इसी भ्रमका शिकार था कि मैं अर्जुन हूँ, पर अब आपके कृपाप्रसादसे आपके स्वरूपका ज्ञान होनेपर मैं पूर्णतया मुक्त हो गया हूँ। अब तो प्रश्न पूछना और उत्तर देना—ये दोनों बातें ही नहीं रहीं। हे देव, आपकी कृपासे मुझे जिस आत्मबोधकी उपलब्धि हुई है, वह मोहका कहीं नामोनिशान भी शेष नहीं रहने देता। अब जिस द्वैतभावसे यह प्रश्न खड़ा होता है कि अमुक कार्य करना चाहिये अथवा नहीं, वह आपको छोड़कर अन्य किसीमें मुझे दृष्टिगत नहीं होता। इस विषयमें अब मुझे रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। मैं अब उस दशामें पहुँच गया हूँ जिसमें कर्म एकदम अवशिष्ट ही नहीं रह जाते। आज मैंने आपकी कृपासे 'मैं' यानी आत्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है और यही कारण है कि कर्तव्य-कर्मोंका एकदम अवसान हो गया है।

फिर भी इधर-उधर फुदकते रहते हैं और उसी आकाशमें गरुड़ भी तीव्र गतिसे उड़ा करता है। पृथ्वीपर राजहंस अत्यन्त सुन्दर गतिसे चला करते हैं; पर क्या इसीलिये और कोई अपने बेढंगे चालसे उसपर चलने ही न पावे? अपनी मापके अनुसार घड़ा अत्यधिक जल अपने उदरमें समेट लेता है, तो क्या इसीलिये चुल्लूमें जल नहीं लिया जा सकता? दीपक अत्यन्त बड़ा होता है और यही कारण है कि उसका प्रकाश भी अत्यधिक होता है, पर छोटी बत्तीमें भी उसके अंगके अनुरूप प्रकाश होता है अथवा नहीं? समुद्रमें उसके विस्तारके अनुरूप ही आकाश प्रतिबिम्बित होता है; पर छोटेसे गड्ढेमें भी उसके अनुरूप आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। ठीक इसी प्रकार इस गीताके विषयमें व्यास-सदृश दिव्य ऋषि विचरण करते हैं; पर सिर्फ इस दृष्टिसे यह कहना उचित नहीं है कि उसमें मुझ-सदृश अल्पज्ञको कदम नहीं रखना चाहिये। जिस सिन्धुमें मन्दरगिरिकी भाँति विशाल जल-जन्तु संचरण करते हैं, क्या छोटी मछलियोंको उस सिन्धुकी तरफ देखना भी नहीं चाहिये? अरुण निरन्तर सूर्यके रथपर विराजमान रहता है और यही कारण है कि वह निरन्तर सूर्यको देखता भी रहता है; पर क्या पृथ्वीपर रेंगनेवाली चींटी सूर्यकी ओर नहीं देखती? इसीलिये यदि मुझ जैसे सरल स्वभावके मनुष्य भी देशी भाषामें गीताका प्रणयन करें तो यह कोई अनुचित बात नहीं है।

यदि आगे-आगे पिता चल रहा हो और उसका अनुगमन करता हुआ पुत्र चले, तो क्या वह उस जगहपर नहीं पहुँच सकता, जिस जगहपर पिता पहुँचता है? ठीक इसी प्रकार व्यासदेवका अनुगमन कर तथा गीताके भाष्यकारोंसे मार्ग पूछ-पूछकर भी आगे बढ़ूँ तो मैं अयोग्य होनेपर भी उचित जगहपर अवश्य पहुँच जाऊँगा। यदि मैं किसी अन्य जगह जाऊँ तो कैसे और कहाँ जाऊँगा? इसके अलावा जिससे क्षमा-गुण प्राप्त करके पृथ्वी चराचरसे दु:खी नहीं होती, जिनसे अमृत प्राप्त करके चन्द्रमा सम्पूर्ण जगत्‌को शीतलता प्रदान करता है, जिनके अंगका तेज प्राप्त करके सूर्य अन्धकारको दूर भगाता है, जिनसे सिन्धुको जल, जलको मधुरता, मधुरताको लावण्य, वायुको शक्ति, आकाशको विस्तार, ज्ञानको उज्ज्वल राज्य-वैभव, वेदोंको बोलनेकी शक्ति, सुखको

अश्वोंकी परीक्षा हेतु रथपर बैठनेवाले वीर-मण्डलीमें प्रवेश करनेका सौभाग्य मिला हुआ था। सो मेरी समझमें भी ज्ञानकी जो ये सब बातें आने लगीं, यह भी श्रीव्यासदेवकी अनुकम्पा ही है। युद्ध इतना भयानक हो रहा था कि हर एक व्यक्ति यही समझता था कि चाहे जिस पक्षकी पराजय हो, पर इस युद्धमें मुझे अपने प्राण अवश्य गँवाने पड़ेंगे। जिस-जिस जगहपर इस प्रकारका भीषण प्रसंग आया था, उस जगहपर भी मेरे लिये ब्रह्मानन्दका गुप्त भण्डार खुल गया तथा मैं उस आनन्दका अनुभव कर सका। महर्षि व्यासके इस कृपाप्रसादकी गहनताका भला मैं कहाँतक विवेचन करूँ! इन सब बातोंको संजय कह तो गया, पर जैसे चन्द्ररश्मियोंसे पाषाण कभी नहीं पिघलता, ठीक वैसे ही धृतराष्ट्रका हृदय भी इन बातोंसे रत्तीभर भी नहीं पिघला। संजयने उसकी यह दशा देखकर उसका ध्यान ही त्याग दिया, पर फिर भी वह आनन्दके मारे पागल बना हुआ था और इसलिये वह फिर बोलने लगा। उस समय सिर्फ हर्षावेगसे संजय बोल रहा था और नहीं तो धृतराष्ट्रमें ऐसा कोई भी लक्षण दृष्टिगत नहीं होता था कि उसमें इस बातकी उत्कण्ठा है कि संजय कुछ और कहे। (१५५८—१५८६)

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजयने कहा—"हे कुरुराज, आपके भ्रातृ-पुत्रने भगवान्‌से जो कुछ कहा, वह उन्हें अत्यधिक मृदु जान पड़ा। वास्तवमें पूर्व सागर तथा पश्चिम सागर इत्यादि नाम ही भिन्न हैं और नहीं तो उन दोनों सागरोंका जल एकदम एक-सा है और इसी प्रकार अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्णका भेद सिर्फ शरीरके कारण ही दृष्टिगत होता है, पर उनके संवादमें यह भेद कहीं लेशमात्र भी नहीं रह जाता। यदि दर्पणसे भी स्वच्छ दो वस्तुएँ एक-दूसरेके सम्मुख की जायँ तो जैसे वे एक-दूसरेमें अपना ही स्वरूप देखेंगी, ठीक वैसे ही अर्जुन भी स्वयंको श्रीकृष्णसहित श्रीकृष्णकी मूर्तिमें देखने लगा और श्रीकृष्णको भी अर्जुनकी मूर्तिमें उसके सहित स्वयं अपना स्वरूप

और चाहे यों ही रखो हों, पर उनकी सुगन्धमें किसी अवस्थामें भी कोई न्यूनता नहीं होती। ठीक इसी प्रकार मैंने संस्कृत गीता-ग्रन्थको व्याख्या ऐसे छन्दोबद्ध ढंगसे की है जिसमें गेय गुण भी स्वाभाविक-रूपसे विद्यमान है और बिना गेय गुणके भी जिसका रंग खूब खिलता है। इन छन्दोंके प्रणयनमें मैंने ब्रह्मरससे सुगन्धित किये हुए अक्षर इस प्रकार रखे हैं कि उन्हें आबाल-वृद्धपर्यन्त समस्त लोग बड़ी आसानीसे समझ सकते हैं। जैसे चन्दन-वृक्षमें सुगन्धिके लिये पुष्पोंकी खोज नहीं करनी पड़ती, वैसे ही इस ग्रन्थके छन्द भी श्रवणेन्द्रियोंमें पड़ते ही श्रवण करनेवालोंकी समाधि लगा देते हैं। फिर यदि इसकी व्याख्या करनेवाले व्याख्यान श्रवण किये जायँ तो क्या वे मनको न लुभायेंगे? इसका पाठ करनेपर भी पांडित्यका इस प्रकारका आनन्द आता है कि यदि पासमें अमृत भी प्रवाहित होता हो तो उसकी तरफ भी ध्यान न जायगा।

इस प्रकार सिद्धतापूर्वक इसका कवित्व इतना अधिक शान्ति उत्पन्न करता है कि इसके श्रवणने मनन तथा निदिध्यासनपर भी विजय प्राप्त कर ली है। प्रत्येक व्यक्तिको इसके श्रवणसे आत्मानन्दके अनुभवका सर्वोच्च अंश उपलब्ध होगा और उसकी सारी इन्द्रियाँ पुष्ट होंगी। चक्रवाक अपनी सामर्थ्यसे चन्द्रमाका उपभोग करके सुखी होते हैं; पर उस चन्द्रकी चन्द्रिका क्या अन्य किसीको प्राप्त नहीं हो सकती? ठीक इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्रके अधिकारियोंको इसके अन्दर स्थित गम्भीर रहस्यका ज्ञान होता है; पर बहुत-से लोग एकमात्र वाक्-चातुरीसे भी सुखी होते ही हैं। वास्तवमें यह सारा-का-सारा महत्त्व श्रीनिवृत्तिनाथजीका ही है। आपलोग इस प्रबन्धको ग्रन्थ न कहें, अपितु यह श्रीगुरुनाथकी कृपाका ही वैभव है। प्राचीनकालमें क्षीर-सिन्धुके सन्निकट भगवान् शिवने पार्वतीजीके कानोंमें जो रहस्य बतलाया था, वह रहस्य क्षीर-सिन्धुकी तरंगोंके मकरके उदरमें रहनेवाले मत्स्येन्द्रनाथको प्राप्त हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथको भग्न अवयववाले चौरंगीनाथ सप्तशृंगीपर मिले। चौरंगीनाथके भग्न अवयव मत्स्येन्द्रनाथके दर्शनोंसे पूर्वकी ही भाँति ठीक हो गये। फिर मत्स्येन्द्रनाथने अटल समाधिका सम्यक् उपभोग करनेका विचार किया और इसीलिये उस रहस्यका संकेत उन्होंने श्रीगोरक्षनाथको बतला दिया। श्रीगोरक्षनाथजी

शरीर भी त्यों-त्यों संकुचित होता जाता था। उसी स्तम्भित अवस्थामें उसके शरीरसे जो स्वेद निकल आया था, उसके कारण उसके देहका कम्प भी अत्यधिक हो गया था। उसकी आँखें अद्वैतानन्दका अनुभव होनेके कारण भर आयीं। उसके नेत्रोंमें वे प्रेमके आँसू नहीं थे, बल्कि मानो केवल जलप्रवाह ही शुरू हो गया था। ऐसा प्रतीत होता था कि शब्दार्थ उसके उदरमें नहीं समा रहे थे तथा गला अवरुद्ध हो गया था और यही कारण है कि श्वासके साथ शब्दार्थ मिलकर एक हो गये थे। किंबहुना, आठों सात्त्विकभाव एकदम प्रकट हो गये और संजयकी कुछ ऐसी विचित्र दशा हो गयी कि उसके मुखसे शब्द ही न निकल पाता था। उस समय संजय मानो श्रीकृष्णार्जुन-संवाद सुखका चतुष्पथ बन गया था, पर इस सुखका स्वभाव ही इस प्रकारका है कि वह स्वतः शान्त हो जाता है। अतएव संजय भी अतिशीघ्र शान्त हो गया और फिर उसे अपने देहकी स्मृति हो आयी। (१५८७—१६०७)

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

आनन्दकी बाढ़ उतरनेपर संजयने कहा—"स्वयं उपनिषदोंको भी जिस ज्ञानके बारेमें पता नहीं है, वही ज्ञान आज मैंने श्रीव्यासदेवकी कृपासे श्रवण किया। उसे श्रवण करते ही मेरे भीतर ब्रह्मत्व समा गया और मेरे लिये 'मैं' तथा 'तुम' की यानी द्वैतकी सृष्टिका अवसान हो गया। इन समस्त योग-मार्गोंका जिनमें पर्यवसान होता है, उन भगवान्‌के वचन महर्षि व्यासकी अनुकम्पासे आज मुझे बहुत ही सरलतासे प्राप्त हो गये। श्रीदेवने अर्जुनके बहाने स्वयंमें बलपूर्वक द्वैतभाव अथवा भिन्नताकी स्थापना करके आत्म-विचारके विषयमें जो कुछ कहा था, जो उपदेश किया था, जब उस उपदेशके सर्वोत्कृष्ट पात्र बननेकी योग्यता मुझ-जैसे साधारण व्यक्तिमें आ गयी, तो फिर श्रीगुरुकी सामर्थ्य भला मैं कहाँतक बखानूँ!" (१६०८—१६१२)

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

तदनन्तर संजयने जब पुनः कहना शुरू किया और उसके मुखसे ज्यों

सूत्रधारकी इच्छानुसार नृत्य करती है, ठीक वैसे ही मेरे गुरुदेव मुझे आगे रखकर ये सब बातें कह रहे हैं। यही कारण है कि मैं विशेष आग्रहपूर्वक इस ग्रन्थके गुण-दोषोंके लिये क्षमा प्रार्थना नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि गुरुदेवने एकमात्र ग्रन्थ-वाहकके रूपमें मेरी योजना की है और यदि आप सन्तजनोंकी सभामें कोई गुणहीन ही खड़ा हुआ हो और वह पूर्ण गुणोंसे युक्त न हुआ हो, तो वह अपने लाडलेपनके कारण उलटे आप ही लोगोंपर क्रोध करेगा।

यदि पारसका स्पर्श होनेपर भी लोहेका लोहत्व दूर न हो तो इसमें दोष किसका है? नाले तो सिर्फ इतना ही कर सकते हैं कि वे जाकर गंगामें मिल जायँ, पर तिसपर भी यदि उन्हें गंगाका रूप प्राप्त न हो तो इसमें उनका क्या कसूर है? अतएव यदि मैं सौभाग्यसे आप सन्तजनोंके चरणोंके सन्निकट आ पहुँचा हूँ तो फिर इस जगत्में मेरे लिये किस चीजकी कमी हो सकती है? हे गुरुराज! आपने ही मुझे सन्तोंकी संगति प्राप्त करा दी है जिससे मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो गये हैं। हे सन्तजन, आप-जैसा नैहर (मयका) मुझे मिला हुआ है तथा ग्रन्थ-रचनाका मेरा हठ अच्छी तरह पूरा हो गया है। समस्त पृथ्वीतल स्वर्णका बनाया जा सकता है, मेरु-गिरिकी भाँति चिन्तामणियोंका विशाल पर्वत बनाया जा सकता है, अमृतरससे सातों समुद्र बड़ी सरलतासे भरा जा सकता है, छोटे-छोटे नक्षत्रोंको चन्द्रमा बनाना भी कठिन नहीं है और न कल्पवृक्षोंका बगीचा लगाना ही बहुत दुःसाध्य है, पर गीताका रहस्य सरलतासे स्पष्ट नहीं किया जा सकता। फिर भी मेरे-जैसा मूक व्यक्ति गीताका अर्थ इतना अधिक स्पष्ट कर सका है कि जो समस्त लोगोंको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इस ग्रन्थरूपी अगाध सिन्धुको पार करके तथा यशकी ध्वजा हाथमें लेकर जो मैं सानन्द विचरण कर रहा हूँ, मेरुगिरिकी भाँति विशाल दृष्टिगत होनेवाला तथा बृहत् कलशवाला गीतार्थरूपी मन्दिरकी रचना कर और उसमें श्रीगुरुकी प्रतिमा स्थापित करके उनकी जो पूजा-अर्चना कर रहा हूँ, यह सब उन्हीं श्रीगुरुदेवकी कृपाका फल है। जो बालक गीता-सरीखी शुद्ध अन्तःकरणवाली माताको भूलकर इधर-उधर भटक रहा था, उसकी जो उस माताके साथ पुनः भेंट हो गयी है, यह भी उन्हीं श्रीगुरुकी कृपाका ही फल

यदि जंगलमें निवास करनेवाले किसी व्यक्तिको कोई राजमहलमें ले जाय तो उस जंगलनिवासीको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी कोई वस्तु गुम हो गयी है और उसे दसों दिशाएँ बिलकुल सूनी प्रतीत होती हैं अथवा जिस समय दिनका उदय होता है, उस समय निशाचरोंके लिये मानो रात हो हो जाती है। उस व्यक्तिको वह विषय अत्यन्त नीरस जान पड़ता है, जो व्यक्ति जिस विषयकी सरसता नहीं समझता और यही कारण है कि संजयकी समस्त बातें धृतराष्ट्रको रुचिकर नहीं लगती थीं तथा व्यर्थ जान पड़ती थीं और यह बात उसके लिये एकदम स्वाभाविक ही थी। फिर महाराज धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—"हे संजय, अब तुम जरा यह बतलाओ कि यह जो युद्ध आ खड़ा हुआ है, इसमें अन्ततः विजयश्री किसके हाथ लगेगी। मुझे तो यह पूरा-पूरा भरोसा है कि दुर्योधनका पराक्रम सदा सफल होता है और यदि पाण्डव-पक्षकी सेनाके साथ तुलना की जाय तो दुर्योधनपक्षकी सेना भी उससे डेढ़ गुनी अधिक है। अतएव मैं तो यही समझता हूँ कि अन्ततः विजयश्री दुर्योधनके ही हाथ लगेगी। क्यों, यह बात मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं? संजय, मैं तो यही समझता हूँ, पर न जाने तुम्हारी ज्योतिष क्या कहती है? अतएव हे संजय, तुम जैसा समझते हो, वैसा ही मुझे बतलाओ।" (१६१६—१६३०)

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इसपर संजयने कहा—"हे महाराज! यह बात मेरी समझमें बिलकुल नहीं आती कि इस युद्धमें किसकी विजय होगी, पर इतना सच अवश्य है कि यदि आयु शेष हो तो मनुष्य अवश्य जीवित रहता है। जिस जगहपर चन्द्रमा रहता है, उस जगहपर चाँदनीकी उपस्थिति अवश्य रहती है; जिस जगहपर शंकर निवास करते हैं, उस जगहपर पार्वती भी अवश्य रहती हैं; जिस जगहपर सन्त रहते हैं, उस जगहपर विवेक रहता ही रहता है। जिस जगहपर राजा होगा वहाँ सेना भी होगी; जहाँ सुजनता विद्यमान होगी, उस

सत्कर्मोंके प्रति प्रेम उत्पन्न हो तथा प्राणियोंमें हार्दिक मैत्री हो, पापरूपी अन्धकारका विनाश हो तथा आत्मज्ञानरूपी प्रकाशसे सारा संसार उज्ज्वल हो और तब जो प्राणी जिस चीजकी कामना करे, वह उसे प्राप्त हो। समस्त मंगलोंकी वृष्टि करनेवाले सन्तजनोंका जो समुदाय है, उसका इस पृथ्वीके समस्त जीवोंके साथ अखण्ड मिलन हो। ये सन्तजन मानो चलते-फिरते कल्पतरुके अंकुर हैं अथवा इनको चैतन्य चिन्तामणियोंका ग्राम अथवा अमृतका बोलता हुआ सिन्धु ही समझना चाहिये। ये सन्तजन मानो निष्कलंक चन्द्रमा अथवा तापशून्य सूर्य हैं तथा समस्त लोगोंके सदाके सम्बन्धी हैं। आशय यह है कि तीनों लोक अद्वैत सुखसे पूर्ण होकर अखण्डरूपसे उस आदि पुरुषके भजनमें तल्लीन रहे और विशेषतः इस लोकमें जो ऐसे जीव हैं जिनका जीवन ग्रन्थाध्ययनपर ही निर्भर रहता है, उन्हें लोक तथा परलोक-दोनोंपर विजय सुख प्राप्त हो। यह सुनकर विश्वेश्वर प्रभुने कहा कि ठीक है, यह प्रसाद तुम्हें दिया जाता है। यह वर-प्रसाद प्राप्त करके ज्ञानदेव अत्यन्त प्रसन्न हुआ है।

इस कलियुगमें महाराष्ट्र प्रान्तमें गोदावरी नदीके दक्षिण तटपर, जहाँपर जगत्‌के जीवन-सूत्र मोहिनीराजका निवास है वहाँपर परम पावन और अत्यन्त प्राचीन पंचक्रोश (नेवासें) नामक क्षेत्र है। इस क्षेत्रमें यदुवंशशिरोमणि समस्त कलानिष्णात राजा श्रीरामचन्द्र न्यायपूर्वक राज्य करते हैं। यहींपर शंकर परम्पराके श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्य ज्ञानदेवने मराठी भाषाका साज गीतापर चढ़ाया है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका जो सुन्दर संवाद महाभारतके भीष्मपर्वमें दिया गया है, जो उपनिषदोंका सार अंश तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंकी जन्मभूमि है और परमहंस योगी जिसका ठीक वैसे ही आश्रय ग्रहण करते हैं, जैसे हंस सरोवरका आश्रय ग्रहण करते हैं। श्रीनिवृत्तिनाथका दास मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि यह अठारहवाँ अध्याय उस गीता नामक संवादका पूर्ण कलश है। अब इस ग्रन्थकी पुण्य सम्पत्तिसे समस्त प्राणियोंको उत्तरोत्तर सब प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति हो। ज्ञानेश्वरने गीताकी यह टीका शक संवत् १२१२ में की है तथा सच्चिदानन्द बाबाने प्रेमपूर्वक (पूज्य बुद्धिसे) इसे लिखा है। (१६३१—१८१०)

~~~०~~~
~~~

माता हों उनके अधीन स्वर्ग तथा मोक्ष दोनों ही रहते हैं। इसीलिये मुझे तो सिर्फ इतना ही मालूम है कि जिस तरफ लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उस तरफ समस्त सिद्धियाँ मानो स्वत: रखी हुई हैं। इसके अलावा मेरी समझमें और कुछ भी नहीं आता। समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला मेघ स्वयं समुद्रसे भी बढ़कर उपयोगी सिद्ध होता है। ठीक यही बात अर्जुन तथा श्रीकृष्णके विषयमें भी है। नि:सन्देह लौहको स्वर्णकी दीक्षा प्रदान करनेवाला गुरु पारस ही होता है, पर फिर भी जगत्‌का सारा व्यवहार सिर्फ स्वर्णसे ही चलता है, पारससे नहीं। इनपर कुछ लोग यह कहेंगे कि इन विचारोंके कारण गुरुत्वमें कमी होती है; पर यह बात कभी भी मनमें नहीं लानी चाहिये। जैसे अग्नि दीपकके द्वारा स्वयं अपना ही प्रकाश प्रकट करती है, वैसे ही अर्जुन उस समय श्रीकृष्णकी ही शक्तिसे श्रीकृष्णसे भी बढ़कर दिखायी देने लगा था; पर वह श्रीकृष्णसे जितना अधिक दृष्टिगत होता था, उतना ही अधिक इस बातमें श्रीकृष्णका गौरव बढ़ता है तथा प्रशंसा भी होती है। फिर पिताकी निरन्तर यही लालसा होती है कि हमारे पुत्र सद्‌गुणोंमें हमसे भी बढ़-चढ़कर हों, और शार्ङ्गपाणि भगवान्‌की वही लालसा सफल हुई थी।

किं बहुना, हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णकी अनुकम्पासे अर्जुन जिस पक्षका सहयोगी बना है, उसके बारेमें आपको यह सन्देह क्यों होता है कि उसे विजयश्री न प्राप्त होगी। यदि उसको विजय नहीं मिली तो फिर स्वयं विजय ही व्यर्थ हो जायगी। इसीलिये मैं कहता हूँ कि जिस जगहपर लक्ष्मी निवास करती हैं, उसी जगहपर श्रीमान् कृष्णदेव उपस्थित रहते हैं और जिस जगहपर पाण्डुनन्दन अर्जुन रहते हैं, उसी जगहपर सारी विजय तथा सारा अभ्युदय उपस्थित रहेगा। यदि महर्षि व्यासके सत्य वचनोंपर आपका विश्वास हो तो आप यह अच्छी तरहसे समझ लें कि मेरा भी यह वचन अटल है। जिस जग[illegible] ने लक्ष्मीपति भगवान् नारायण हैं, उसी जगहपर भक्तशिरोमणि अर्जुन [illegible] सुख तथा मंगलके लाभके निवास हैं। यदि मेरा यह कथन मिथ्या [illegible] पझ लेना कि मैं महर्षि व्यासका शिष्य ही नहीं।" इस प्रकार [illegible] चाका उद्‌घोष करके अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये और जगह [illegible] ंका सारांश एक ही श्लोकमें रखकर धृतराष्ट्रके हाथमें

अथवा गीतारूपी रथके अश्व ही हैं अथवा अर्जुनरूपी सिंहस्थ पर्व उपस्थित होनेके कारण इस गीतारूपी गंगामें स्नानार्थ समस्त तीर्थ ही इन श्लोकोंके रूपमें आ पहुँचे हैं और उन तीर्थोंका मानो मेला ही लगा हुआ है अथवा ये श्लोकावलियाँ नहीं हैं, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि विरक्त चित्तको भी लुभानेवाले चिन्तामणियों अथवा कल्पतरुओंकी पंक्तियाँ लगायी गयी हैं।

इस प्रकार ये सात सौ श्लोक हैं जो कि एकसे-बढ़कर-एक हैं। ऐसी दशामें यदि कोई उन सबका पृथक्-पृथक् गुण-कीर्तन करना चाहे तो भला किस प्रकार कर सकता है? कामधेनुके विषयमें कभी यह कहा ही नहीं जा सकता कि यह पर्याप्त दूध नहीं देती या यह दूध देनेवाली नहीं है। दीपकके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आगा और पीछा किधर है। सूर्यको छोटा अथवा बड़ा तथा अमृत-सिन्धुको छिछला अथवा गहरा किस प्रकार कहा जा सकता है? ठीक इसी प्रकार गीताके किसी श्लोकके विषयमें यह नहीं कहना चाहिये कि यह प्रथम श्लोक है अथवा यह अन्तिम श्लोक है। पारिजात पुष्पके विषयमें क्या कभी यह भी कहा जा सकता है कि ये बासी हैं और वे ताजे हैं? योग्यताकी दृष्टिसे गीताके श्लोकोंमें भी कोई कमी-अधिकता नहीं है; न उसका कोई श्लोक किसीसे बढ़कर है और न घटकर है। यह बात इतनी निश्चित है कि अब मैं इसका और अधिक समर्थन अथवा पुष्टि क्या करूँ। इसका प्रमुख कारण यह है कि गीताका श्लोक वाचन करते समय वाच्य-वाचकका भेद बिलकुल नहीं रह जाता। यह सर्वविदित है कि इस गीतामें वाच्य तथा वाचक एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। इस गीताका अर्थ जाननेसे जो कुछ मिलता है, वही चीज इसका पाठ करनेसे भी मिलता है। यह गीताशास्त्र वाच्य और वाचककी एकता इतनी शीघ्रतासे करा देता है।

अतएव अब मेरे समर्थन करनेके लिये कोई विषय ही अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस गीताशास्त्रको भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर वाङ्मय मूर्ति ही समझना चाहिये। उदाहरणके लिये कोई भी शास्त्र लीजिये, वह सर्वप्रथम तो वाचकको अपना उद्दिष्ट अर्थ बतलाता है और तब स्वयं ही लुप्त हो जाता है; पर गीताके विषयमें यह बात नहीं है, यह सम्पूर्ण परब्रह्म ही है।

व्यासने भी वे समस्त बातें जो शब्दोंके द्वारा बतलायी ही नहीं जा सकती थीं, अनुष्टुप् छन्दमें ऐसे सुन्दर रूपमें रख दी हैं कि स्त्रियों तथा शूद्रों इत्यादिकी बुद्धि भी उन्हें ग्रहण कर सकती है। यदि मोतियोंके निर्माण स्वातीके जलसे नहीं होते तो वे रूपवती स्त्रियोंके शरीरपर पहुँचकर सुशोभित ही कैसे होते? वाद्य-यन्त्रमें यदि नाद ही न हो तो वह श्रवणेन्द्रियोंको सुनायी कहाँसे पड़े? यदि वृक्षमें पुष्प ही उत्पन्न न हों तो उनकी सुगन्ध कैसे ली जाय? यदि मधुरताका वास पक्वान्नमें ही न हो तो फिर वह जिह्वाको कहाँसे मिल सकती है? यदि दर्पण ही उपस्थित न हो तो नेत्र स्वयंको कैसे देख सकते हैं? गुरुकी सत्कार मूर्ति यदि द्रष्टाको दृष्टिगत न हो तो वह सेवा किसकी करेगा? ठीक इसी प्रकार यदि उस असंख्यात ब्रह्मके लिये श्लोकोंकी सात सौवाली संख्याका प्रयोग न किया गया होता तो उसका आकलन कौन कर सकता? मेघ समुद्रका जल निरन्तर सोखा करते हैं, पर जगत्‌को समुद्र अनवरत ज्यों-का-त्यों दृष्टिगोचर होता है; कारण कि जिसकी कोई माप ही नहीं है, उसमें अगर कुछ न्यूनता अथवा अधिकता हो तो किसीको उनका पता ही किस प्रकार चल सकता है? जिसका वर्णन वाणीके लिये साध्य नहीं है, वही यदि इन श्लोकोंमें समाया हुआ न होता तो मुख तथा श्रवणेन्द्रियोंको उसका अनुभव किस प्रकार होता?

इसीलिये महर्षि व्यासने भगवान्‌के वचनको जो इस ग्रंथमें संकलित किया है, सो उन्होंने जगत्‌पर बड़ा भारी उपकार किया है और महर्षि व्यासके शब्दोंपर पूरा-पूरा ध्यान रखकर उनके उसी ग्रन्थका मैंने मराठी भाषा (ओवी नामक विशेष छन्द)-में अनुवाद करके आप लोगोंके श्रवणेन्द्रियोंतक पहुँचाया है। जिस विषयमें व्यास इत्यादि महर्षियोंका ज्ञान भी धोखा खा जाता है, उसी विषयमें इस अल्पज्ञ व्यक्तिने (मैंने) कोरी वाचालता की है; पर ये गीतेश्वर अत्यन्त भोले-भाले हैं। यदि उन्होंने व्यासोक्तिरूपी पुष्पोंकी माला धारण की है, तो मेरे सीधे-सादे दूर्वादलोंके लिये भी वे 'नहीं' नहीं करते। क्षीर सिन्धुके तटपर अपनी प्यास शान्त करनेके लिये हाथियोंके झुण्ड आते हैं; पर क्या इसीलिये मच्छरोंको वहाँ आनेकी मनाही होती है? चिड़ियोंके जिन बच्चोंके पंख अभी निकले नहीं होते, वे आकाशमें ठीक तरह उड़ तो नहीं सकते, पर

उत्साह और यहाँतक कि समस्त रूप तथा आकार मिलते हैं और जो सबपर उपकार करते हैं, वे समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे हृदय-प्रान्तमें प्रवेश करके विचरण कर रहे हैं।

अब यदि मैं गीताका ठीक-ठीक विवेचन मराठी (देशी) भाषामें करूँ तो इसमें आश्चर्यका क्या कारण है? गुरु द्रोणाचार्यके नामसे पहाड़पर मिट्टीका ढेर लगाकर जिस पहाड़ी भील एकलव्यने उसकी सेवा की थी, उस एकलव्यने भी अपनी धनुर्विद्याकी निपुणतासे त्रिभुवनको हिला डाला था। चन्दनके इर्द-गिर्द उपस्थित वृक्ष भी चन्दनकी ही भाँति सुगन्धित हो जाते हैं। वसिष्ठका काष्ठ-दण्ड था, वह सूर्यके साथ भी प्रतिस्पर्द्धा कर सका था और मैं तो सचेतन प्राणी हूँ। तिसपर मेरे श्रीगुरु इतने अधिक सामर्थ्यवान् हैं कि वे अपनी कृपा-कटाक्षसे ही अपने शिष्यको आत्मपदपर ले जाकर आसीन कर देते हैं। एक तो पहलेसे ही तीव्र दृष्टि हो और तिसपर सूर्यका समर्थन प्राप्त हो तो फिर भला ऐसी कौन-सी चीज है जो दृष्टि-पथपर न आ सकती हो? इसीलिये मेरे सिर्फ श्वासोच्छ्वास भी नये-नये ग्रंथ हो सकते हैं। यह ज्ञानदेव स्वयंसे पूछता है कि ऐसा कौन-सा काम है जो गुरुकृपासे सम्भव नहीं हो सकता? इसीलिये मैंने गीताका अर्थ मराठी (देशी) भाषामें ऐसे ढंगसे कहा है कि उसे सभी लोग सरलतासे समझ सकें। यदि कोई व्यक्ति मेरे इन मराठी बोलोंको कुशलतापूर्वक गायेगा तो उसके गानकी मोहिनीमें कहीं कोई न्यूनता न दिखायी देगी। यही कारण है कि यह गीता गीता-गान करनेवालेके लिये भूषण ही होगी। यदि कोई व्यक्ति इन शब्दोंका सिर्फ पाठ करेगा तो भी यह गीता उसमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रहने देगी। यदि आभूषण धारण न किया जाय और यों ही रख दिया जाय तो भी वह सुन्दर लगता है। फिर यदि वह आभूषण पहन लिया जाय तो क्या वह उपयुक्त न होगा और अधिक सुन्दर न लगेगा? जहाँतक मोतियोंकी बात है कि यदि वे स्वर्णपर जड़ दिये जायँ तो वे स्वर्णकी रंगत और भी अधिक कर देते हैं; पर यदि इस प्रकारका संयोग न भी हो तो भी यह बात नहीं है कि वे पृथक् लड़ीमें पिरोये रहनेकी स्थितिमें कुछ कम सुन्दर जान पड़ते हों। वसन्तकालमें प्रस्फुटित होनेवाले मोगरेकी कलियाँ चाहे मालामें गुथी हुई हों

योगरूपी कमलिनीके सरोवर तथा विषयोंका विध्वंस करनेवाले काल ही थे। मत्स्येन्द्रनाथने श्रीगोरक्षनाथको अपना समस्त अधिकार प्रदानकर अपनी समाधि-पीठपर अधिष्ठित कर लिया।

तदनन्तर श्रीगोरक्षनाथने उस अद्वैतानन्दका, जो श्रीशंकरके समयसे चला आ रहा था, श्रीगैनीनाथजीको समूल उपदेश दिया। जिस समय उन गैनीनाथजीने यह देखा कि कलिकाल समस्त जीवोंको अपना ग्रास बना रहा है, उस समय उन्होंने श्रीनिवृत्तिनाथको आदेश दिया कि आदि शंकरसे लेकर शिष्य परम्परासे रहस्य-बोध करानेका जो यह सम्प्रदाय मुझतक चला आया है, वह सम्प्रदाय तुम स्वीकार करो तथा जिन जीवोंको कलिकाल ग्रस रहा है उन जीवोंकी रक्षा करनेके लिये तुम दौड़े हुए जाओ। श्रीनिवृत्तिनाथजी निसर्गतः कृपालु थे, तिसपर उन्हें ऐसे गुरुका आदेश मिला हुआ था। अतएव समस्त विश्वको शान्ति देनेवाले श्रीनिवृत्तिनाथ वर्षा-ऋतुके मेघकी भाँति उठे। उस समय पीड़ितजनोंपर करुणा करके गीतार्थ पिरोनेके व्याजसे उन्होंने शान्तरसकी जो वृष्टि की थी, वही यह ग्रन्थ है। उस समय मैं चातककी तरह अत्यन्त अनुरागपूर्वक उनके समक्ष उपस्थित हो गया और यही कारण है कि आज मैं यह कीर्ति अर्जित कर सका हूँ। इस प्रकार जो आत्म-समाधिरूपी द्रव्य गुरु-परम्परासे मिला हुआ था, वही गुरु महाराजने इस ग्रन्थके द्वारा उपदेश करके मुझे प्रदान किया है। यदि ऐसी बात न होती तो फिर मेरे-जैसे मनुष्यमें, जो न तो पढ़ता-लिखता ही है और न गुरुकी शुश्रूषा ही करना जानता है, इस ग्रन्थको रचनेकी योग्यता कहाँसे आती? वास्तवमें यह बात आपलोग अच्छी तरह ध्यानमें रखें कि श्रीगुरुने मुझे निमित्त बनाकर इस ग्रन्थके रचनेमें संसारकी रक्षा ही की है; इस प्रकार मैं तो सिर्फ नामके लिये आगे कर दिया गया हूँ। ऐसी दशामें यदि मेरी बातोंमें कहीं कोई कमी रह गयी हो तो हे श्रोतावृन्द, आपलोग माताकी तरह प्रेमसे सराबोर होकर उन सबको अपने उदरमें धारण कर लें यानी मन-ही-मन समझकर उसके लिये मुझे क्षमा कर दें। शब्दोंकी रचना कैसे की जाती है, सिद्धान्त कैसे स्थापित किया जाता है तथा अलंकार किसे कहते हैं, इत्यादि बातोंका मुझे जरा-सा भी ज्ञान नहीं है। जैसे कठपुतली अपने

है। आप सब सज्जनोंसे मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि हे महाराज, मैंने आचार-व्यवहारको दृष्टिमें रख करके ही यह बात कही है। यह स्वयं इस ज्ञानदेवकी छोटी-मोटी बातें नहीं हैं।

किंबहुना आप ही लोगोंकी अनुकम्पासे आज इस ग्रन्थकी समाप्तिका आनन्द मैं मना सका हूँ और इससे मेरा जन्म धारण करना सफल हो गया है। मैंने जो-जो आशाएँ आपलोगोंसे की थीं, वे समस्त आशाएँ आपलोगोंने ठीक तरह पूर्ण कर दी हैं और इसलिये मैं अत्यन्त ही सुखी हुआ हूँ। हे स्वामी, मुझ सदृश दीनके लिये आपने जो इस ग्रन्थरूपी विलक्षण सृष्टिका सृजन किया है, उसे देखकर मैं दूसरी सृष्टिका सृजन करनेवाले विश्वामित्रको भी आज तुच्छ समझ रहा हूँ; क्योंकि त्रिशंकुको लेकर एकमात्र ब्रह्मदेवको नीचा दिखलानेके लिये मरणधर्मा सृष्टिका सृजन करनेमें कौन-सा बड़ा पुरुषार्थ है! भगवान् शिवने उपमन्युपर प्रसन्न होकर उसके लिये क्षीर-सिन्धु उत्पन्न किया था; पर उनका यह कृत्य भी यहाँ उपमायोग्य नहीं है, क्योंकि उस क्षीर-सिन्धुके गर्भमें विष भरा था। यह सत्य है कि अन्धकाररूपी निशाचरके द्वारा समस्त चराचरको ग्रस लेनेपर उनकी रक्षार्थ सूर्य दौड़ा आया था और उसने उस अन्धकारका विनाश भी किया था; पर चराचरकी यह भलाई करके सूर्यने उन्हें अपनी तीव्र उष्णताका स्वाद भी चखाया। संतप्त जगत्को शान्त करनेके लिये चन्द्रमाने भी अवश्य ही अपनी चाँदनीका प्रकाश किया; पर फिर भी वह कलंकयुक्त चन्द्रमा इस ग्रन्थकी बराबरी भला किस प्रकार कर सकता है? इसीलिये इस ग्रंथके साथ सन्तजनोंने मेरा जो संयोग करा दिया है, इसके विषयमें मैं फिर यही कहता हूँ कि इसकी उपमा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। किंबहुना, इस ग्रन्थरूपी धर्म-कीर्तनकी जो सुखपूर्वक समाप्ति हुई है, वह सब आप ही लोगोंकी कृपाका फल है और इस विषयमें मेरे लिये एकमात्र सेवकताका तत्त्व ही अवशिष्ट रहता है अर्थात् मैंने आपलोगोंकी सेवा सिर्फ सेवकके रूपमें ही की है।

अब विश्वात्मा वह परमेश्वर इस वाग्यज्ञसे सन्तुष्ट होकर मुझे सिर्फ इतना ही प्रसाद प्रदान करें कि खलोंकी कुटिलता छूट जाय, उनके अन्तःकरणमें

श्रीएकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरीका संशोधन करके इसके विषयमें जो कुछ लिखा था, उसका भाव इस प्रकार है—

श्रीशक संवत् १५०६ में तारण नामक संवत्सरमें श्रीजनार्दन महाराजके शिष्य एकनाथने आदरपूर्वक ज्ञानेश्वरी गीताको शुद्ध किया। आरम्भसे ही यह ग्रन्थ अत्यन्त शुद्ध है; पर पाठ भेदोंके कारण शुद्ध ग्रन्थमें भी कुछ प्रसंग-विरुद्ध बातें आ गयी थीं। ऐसे पाठोंको शुद्ध करके यह संशोधित ज्ञानेश्वरी प्रस्तुत की गयी है। मैं उन निष्कलंक ज्ञानेश्वर महाराजजीको नमन करता हूँ, जिनकी गीताकी टीकाको पढ़नेसे अत्यन्त भावुक ग्रन्थप्रिय जनोंको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। बहुत समय बाद आनेवाले इस पर्वके शुभ मुहूर्तमें भाद्रपद मासकी कपिला षष्ठीको गोदावरीके तटपर पैठण नामक नगरमें यह लेखन-कार्य सम्पन्न हुआ है। यदि कोई स्वलिखित मराठी छन्द (ओवी) इस ज्ञानेश्वरीके पाठमें सम्मिलित करे तो समझ लेना चाहिये कि उसने अमृतसे भरे थालमें मानो नारियलकी खोपड़ी ही रखी है। (१—५)

॥ श्रीसच्चिदानंदार्पणमस्तु ॥